. पूज्य गुरुदेव

श्री जोरावरमल जी महाराज

की स्मृति में आयोजित

संयोजक एवं प्रधान सम्पादक-

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र

(मूल-अनुवाद-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट-युक्त)

ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २२

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति में आयोजित]

पंचम गणधर भगवत्सुधर्म-स्वामि-प्रणीत पञ्चम अंग

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

[भगवतीसूत्र-तृतीय खण्ड, शतक ११-१९]

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, टिप्पण युक्त]

प्रेरणा ✣

उपप्रवर्त्तक शासनसेवी स्व. स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

आद्यसंयोजक तथा प्रधान सम्पादक ✣

स्व० युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक-विवेचक-सम्पादक ✣

श्री अमर मुनिजी [भण्डारी श्री पदमचन्दजी म. के सुशिष्य]

श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

प्रकाशक ✣

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २२

✦ निर्देशन
महासती श्री उमरावकुंवरजी म. सा. 'अर्चना'

✦ सम्पादक मण्डल
(स्व.) अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
(स्व.) आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

✦ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

✦ संशोधक
पं. सतीशचन्द्र शुक्ल

✦ तृतीय संस्करण
वीरनिर्वाण संवत् २५३०
विक्रम संवत् २०६०
ई. सन् २००३

✦ प्रकाशक
श्री आगम प्रकाशन समिति,
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
ब्यावर - ३०५९०१
फोन : २५००८७

✦ मुद्रक
अजन्ता पेपर कन्वर्टर्स
लक्ष्मी चौक, अजमेर
फोन : (ऑ.) २४२०१२० (नि.) २४

✦ लेजर टाईप सेटिंग
कम्प्यू टेक
लक्ष्मी चौक, अजमेर

✦ मूल्य १५५/- रुपये

युवाचार्य श्री मधुकर मुनीजी म.सा.

卐 महामंत्र 卐

णमो अरिहंताणं, णमो सिध्दाणं,
णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोएसव्व साहूणं,
एसो पंच णमोक्कारो' सव्वपावपणासणो ॥
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

Published on the Holy Remembrance occasion

of

Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Compiled by Fifth Gaṅdhar Sudharma Swami

FIHTH ANGA

VYĀKHYĀPRAJNAPTI SŪTRA

[Bhagwati Sutra—Part III, Shatak 11-19]

[Original Text, Hindi Version, Notes etc.]

Inspiring Soul ✣

Up-Pravartaka Shasansevi (Late) Swami Shri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor ✣

Yuvacharya (Late) Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator ✣

Shri Amar Muni

Shri Chand Surana 'Saras'

Publishers ✣

Shri Agam Prakashan Samiti

Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 22

- **Direction**
  Mahasati Sadhavi Shri Umaravkunwarji Maharaj 'Archana'

- **Board of Editors**
  (Late) Anuyogpravarttak Muni Shri Kanhaiya Lal Ji 'Kamal'
  (Late) Acharya Shree Devendramuni Shashtri
  Shri Ratanmuni

- **Promotor**
  Munishri Vinayakumar 'Bhima'

- **Corrections**
  Pt. Satish Chandra Shukla

- **Third Edition**
  Vir-Nirvana Samvat 2530
  Vikram Samvat 2060
  August, 2003.

- **Publishers**
  Shri Agam Prakashan Samiti,
  Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan
  Pipliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
  Pin - 305901
  Phone : 250087

- **Printer**
  Ajanta Paper Convertors
  Laxmi Chowk, Ajmer
  Phone : (O) 2420120 (R) 2431898

- **Laser Type Setting**
  Compu Tech
  Laxmi Chowk, Ajmer

- **Price : Rs. 155 /-**

समर्पण

जो जैन जगत् के जाज्वल्यमान नक्षत्र
आचार्यवर्य श्री जयमलजी महाराज के
उत्तराधिकारी—द्वितीय पट्टधर थे,

जिन्होंने जिनशासन की प्रभावना में
बहुमूल्य योगदान दिया अपनी मधुर
वाणी और आचार-व्यवहार से,

जिनकी काव्यमय ऐतिहासिक एवं
पौराणिक रचनाएँ आज भी धर्मप्रिय जनों
की रुचि को परितोष प्रदान करती हैं,

जिनका साधनामय जीवन स्वयं ही
आध्यात्मिक प्रेरणा का पावन स्त्रोत रहा,
उन महामना महर्षि

आचार्य श्री रायचन्द्रजी महाराज

की पवित्र स्मृति में
सादर सविनय सभक्ति समर्पित

प्रकाशकीय

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र का द्वादशांगी में पांचवाँ स्थान है। वर्तमान में उपलब्ध आगमों में यह विषय विवेचन और पृष्ठ संख्या की दृष्टि से विशाल है।

विशालकाय होने से व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र चार खण्डों में प्रकाशित किया गया था। दो खण्डों के तृतीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरे खण्ड का भी यह तृतीय संस्करण है। इसमें ग्यारहवें से उन्नीसवें शतक तक का प्रकाशन हुआ है। शेष रहे वीसवें से इकतालीसवें शतक चतुर्थ खण्ड में प्रकाशित हैं।

आगम प्रकाशन समिति विज्ञजनों की आभारी है कि उन्होंने आगमों के सम्पादन, अनुवाद आदि में मूल ग्रन्थ के भावों को यथातथ्य रूप से प्रस्तुत किया है। साथ ही अपने समस्त अर्थसहयोगी सज्जनों को धन्यवाद देती है कि उनके द्वारा प्रदत्त सहयोग से आगम प्रकाशन का जो कार्य प्रारम्भ हुआ था वह अबाध गति से चल रहा है। आगमों के पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन में पाठकों का सराहनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। एतदर्थ उनका अभिनन्दन करते हुए प्रसन्नता अनुभव करते हैं।

समिति ने आगम प्रकाशन का कार्य आर्थिक लाभ के लिए नहीं, किन्तु स्व. श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म० की आगम ज्ञान के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार की पावन भावना का विस्तार करने के लिए प्रारम्भ किया था। आज युवाचार्यश्री हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उन महापुरुष की भावना समिति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती रही है। उन श्रद्धेय को शत-शत वंदन-नमन करते हैं।

सागरमल बेताला	**रतनचंद मोदी**	**सरदारमल चोरड़िया**	**ज्ञानचन्द विनायकिया**
अध्यक्ष	कार्यवाहक अध्यक्ष	महामंत्री	मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१.	श्रीमान् सागरमलजी बैताला	अध्यक्ष	इन्दौर
२.	श्रीमान् रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	श्रीमान् धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
४.	श्रीमान् भंवरलालजी गोठी	उपाध्यक्ष	चैन्नई
५.	श्रीमान् हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
६.	श्रीमान् दुलीचंदजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	चैन्नई
७.	श्रीमान् जसराजजी पारख	उपाध्यक्ष	दुर्ग
८.	श्रीमान् सरदारमलजी चोरड़िया	महामन्त्री	चैन्नई
९.	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०.	श्रीमान् ज्ञानचन्दजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
११.	श्रीमान् प्रकाशचंदजी चौपडा	सहमन्त्री	ब्यावर
१२.	श्रीमान् जंवरीलालजी शिशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१३.	श्रीमान् आर. प्रसन्नचन्द्रजी चोरड़िया	कोषाध्यक्ष	चैन्नई
१४.	श्रीमान् माणकचन्दजी संचेती	परामर्शदाता	जोधपुर
१५.	श्रीमान् रिखबचंदजी जी लोढ़ा	परामर्शदाता	चैन्नई
१६.	श्रीमान् एस. सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	चैन्नई
१७.	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१८.	श्रीमान् मोतीचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	चैन्नई
१९.	श्रीमान् अमरचंदजी मोदी	सदस्य	ब्यावर
२०.	श्रीमान् किशनलालजी बैताला	सदस्य	चैन्नई
२१.	श्रीमान् जतनराजजी मेहता	सदस्य	मेड़तासिटी
२२.	श्रीमान् देवराजजी चोरड़िया	सदस्य	चैन्नई
२३.	श्रीमान् गौतमचंदजी चोरड़िया	सदस्य	चैन्नई
२४.	श्रीमान् सुमेरमलजी मेड़तिया	सदस्य	जोधपुर
२५.	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	चैन्नई
२६.	श्रीमान् प्रदीपचंदजी चोरड़िया	सदस्य	चैन्नई

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र तृतीय खण्ड : प्रथम संस्करण के प्रकाशन में अर्थ-सहयोगी

श्रीमान् सेठ एस. रिखबचन्दजी चोरड़िया

[प्रथम संस्करण से]

अकबर इलाहाबादी का एक प्रसिद्ध शेर है -

आतप को खुदापत कहो, आतप खुदा नहीं
लेकिन खुदा के नूर से, आतप जुदा नहीं।

आशय यह है कि मनुष्य ईश्वर नहीं है किन्तु उसमें ईश्वरीय गुण अवश्य हैं और यही ईश्वरीयगुण— दया, सत्यनिष्ठा, सेवा-भावना, उदारता और परोपकारवृत्ति मनुष्य को मनुष्य के रूप में, या कहें कि ईश्वर के पुत्र के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

स्वर्गीय रिखबचन्दजी चोरड़िया सच्चे मानव थे। उनका जीवन मानवीय सद्गुणों से ओतप्रोत था। सेवा और परोपकारवृत्ति उनके मन के कण-कण में रमी थी।

आपने अपने पुरुषार्थ-बल से विपुल लक्ष्मी का उपार्जन किया और पवित्र मानवीय भावना से जन-जन के हितार्थ एवं धर्म तथा समाज की सेवा के लिए उस लक्ष्मी का सदुपयोग भी किया। वे आज हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनके सद्गुणों की सुवास हमारे मन-मस्तिष्क को आज भी प्रफुल्लित कर रही है।

आपका जन्म नोखा (चांदावतों का) के प्रसिद्ध चोरड़िया परिवार में हुआ। आपके पिता श्री सिमरथमलजी सा. चोरड़िया स्थानकवासी, जैन समाज के प्रमुख श्रावक तथा प्रसिद्ध पुरुष थे। आपकी माताश्री गट्टुबाई भी बड़ी धर्मनिष्ठ, सेवाभावी और सरलात्मा श्राविका थीं। इस प्रकार माता-पिता के सुसंस्कारों में पले-पुसे श्रीमान् रिखबचन्दजी भी सेवा, सरलता, उदारता तथा मधुरता की मूर्ति थे।

श्रीमान् सिमरथमलजी सा. के चार सुपुत्र थे -

(१) श्री रतनचन्दजी सा. चोरड़िया
(२) श्री बादलचन्दजी सा. चोरड़िया
(३) श्री सायरचन्दजी सा. चोरड़िया
(४) श्री रिखबचन्दजी सा. चोरड़िया

चेन्नई में आपका फाइनेन्स का प्रमुख व्यापार था। आपने सदैव मधुरता एवं प्रामाणिकता के साथ, न्याय-नीतिपूर्वक व्यवसाय किया।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती उमरावकंवर बाई बड़ी धर्मशीला श्राविका हैं। सन्त-सतियों की सेवा में सदा तत्पर रहती हैं और इन्सानों में धार्मिक संस्कारों का बीजारोपण करने में दक्ष हैं।

श्री रिखबचन्दजी सा. के तीन सुपुत्र हैं—१. श्री शान्तिलालजी, २. श्री उत्तमचन्दजी और ३. श्री कैलाशचन्दजी। एक सुपुत्री चपलाकंबर बाई हैं।

प्रायः देखा गया है कि संसार में दुर्जनों की अपेक्षा सत्पुरुष-सज्जन अल्पजीवी होते हैं। श्री रिखबचन्दजी सा. पर भी यह नियम घटित हुआ। आप ४३ वर्ष की अल्प आयु में ही स्वर्गवासी हो गए। हृदयगति रुक जाने से आपका अवसान हो गया।

आपने अपनी अल्प आयु में भी समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा की। अनेकानेक संस्थाओं को दान दिया। जो भी आपके द्वार पर आता, निराश होकर नहीं लौटता था।

आप स्व. पूज्य स्वामीजी श्रीव्रजलालजी महाराज तथा स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज के परम निष्ठावान् भक्त थे। आगम प्रकाशन के महान् भगीरथ-कार्य में भी आपश्री का सहकार मिलता रहा। प्रस्तुत आगम के प्रकाशन में विशिष्ट सहयोग आपसे प्राप्त हुआ है।

चेन्नई का आपका पता -

एस. रिखबचन्द एण्ड सन्स,
रामानुज अय्यर स्ट्रीट, साउकार पेट,
चेन्नई-६०० ०७९

ज्ञानचन्द विनायकिया
- मंत्री
श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

विषयानुक्रम

ग्यारहवाँ शतक

पृष्ठांक

प्राथमिक—बारह उद्देशकों का परिचय ३, संग्रहणीगाथार्थ ५, बारह उद्देशकों का स्पष्टीकरण ५, एकार्थक उत्पलादि का पृथक् ग्रहण क्यों ? ५.

प्रथम उद्देशक : उत्पल (उत्पलजीव चर्चा) ६-२३

बत्तीस द्वारसंग्रह ६, उपपातद्वार ६, परिमाणद्वार ६. अपहारद्वार ७, उत्पलजीव की अपेक्षा से अपहारद्वार ८, ४. उच्चत्वदार ८, ज्ञानावरणीयादि-बन्ध-वेद-उदय-उदीरणाद्वार ८, उत्पलजीव के बन्धक-अबन्धक, वेदक-अवेदक उदयी-अनुदयी, उदीरक-अनुदीरक सम्बन्धी विचार १०, ज्ञानावरणीयादि कर्मों के बंध आदि क्यों और कैसे ? १०, एक अनेक जीव बन्धक आदि कैसे ? १०, वेदक एवं उदीरक भंग १०, ९. लेश्या द्वार १०, उत्पलजीवों में लेश्याएं ११, लेश्याओं के भंगजाल का नक्शा ११, असंयोगी ८ भंग ११, द्विकसंयोगी २४ भंग ११, त्रिकसंयोगी ३२ भंग ११, चतु:संयोगी १६ भंग १२, दृष्टि-ज्ञान-योग-उपयोगद्वार १३, उत्पलजीवों में दृष्टि, ज्ञान, योग एवं उपयोग की प्ररूपणा १३, वर्ण-रसादि-उच्छ्वासक-आहारकद्वार १४, उत्पलजीवों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श १५, उच्छ्वास-निश्वास १४, असंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी भंग १५, विरतिद्वार क्रियाद्वार और बन्धकद्वार १६, संज्ञाद्वार और कषायद्वार १६, स्त्रीवेदादिवेदक-बन्धक-संज्ञी-इन्द्रियद्वार १७, अनुबन्ध-संवेधद्वार १८, उत्पलजीव का अनुबन्ध और कायसंवेध २०, आहार-स्थिति-समुद्घात-उद्वर्त्तनाद्वार २०; उत्पलजीवों के आहार, स्थिति, समुद्घात और उद्वर्त्तन विषयक प्ररूपणा २२, नियमत: छह दिशाओं से आहार क्यों ? २२, अनन्तर उद्वर्तन कहाँ और क्यों ? समस्त संसारी जीवों का उत्पल के मूलादि में जन्म २२.

द्वितीय उद्देशक : शालूक (के जीव की चर्चा) २४

शालूक जीव सम्बन्धी वक्तव्यता २४

तृतीय उद्देशक : पलाश (के जीवसम्बन्धी चर्चा) २५

उत्पलोद्देशक के समान प्राय: सभी द्वार २५

चतुर्थ उद्देशक : कुम्भिक (के जीवसम्बन्धी) २७

तृतीय उद्देशक के अतिदेशपूर्वक कुम्भिक वर्णन २७

पंचम उद्देशक : नाडीक जीव सम्बन्धी चर्चा २८

नालिक-नाडीक वनस्पति का स्वरूप २८

षष्ठ उद्देशकः पद्म (जीवसम्बन्धी) २९

पद्म के जीव का समग्र वर्णन २९

सप्तम उद्देशक : कर्णिका-जीव वर्णन ३०

कर्णिका-एक वनस्पतिविशेष ३०

अष्टम उद्देशक : नलिन जीव सम्बन्धी ३१

प्रायः एक समान आठ उद्देशक ३१

नौवाँ उद्देशक : शिव राजर्षि ३२

शिव ३२, शिवराजा का दिक्प्रोक्षिक-तापस-प्रव्रज्या-ग्रहण ३३, दिक्-चक्रवाल तपःकर्म का लक्षण ३५, शिवकुमार का राज्याभिषेक और आशीर्वचन ३५, शिवराजर्षि का दीक्षा-ग्रहण ३७, दिशाप्रोक्षणतापसचर्या का वर्णन ३८, शिवराजर्षि द्वारा चार छट्ठखमण द्वारा दिशाप्रोक्षण ४०, विभंगज्ञान प्राप्त होने पर राजर्षि का अतिशयज्ञान का दावा और जनवितर्क ४०, भगवान् द्वारा असंख्यात द्वीप-समुद्रप्ररूपणा ४२, गौतम स्वामी द्वारा शिवराजर्षि को उत्पन्न ज्ञान का भगवान् से निर्णय ४३, द्वीप-समुद्रगत वर्णादि की परस्परसम्बद्धता ४४, भगवान् का निर्णय सुनकर जनता द्वारा सत्यप्रचार ४५, शिवराजर्षि के विभंगज्ञान के नाश का कारण ४६, शिवराजर्षि द्वारा निर्ग्रन्थप्रव्रज्याग्रहण और सिद्धिप्राप्ति ४६, सिद्ध होने वाले जीवों का संहननादिनिरूपण ४८.

दसवाँ उद्देशक : लोक ५०

लोक और उसके मुख्य प्रकार ५०, द्रव्यलोक ५०, क्षेत्रलोक ५०, काल-लोक ५०, भावलोक ५०, त्रिविध क्षेत्रलोक-प्ररूपणा ५१, लोक और अलोक के संस्थान की प्ररूपणा ५१, अधोलोकादि में जीव-अजीवादि की प्ररूपणा ५३, अधोलोकादि के एक प्रदेश में जीवादि की प्ररूपणा ५५, त्रिविध क्षेत्रलोक-अलोक में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से जीवाजीव-द्रव्य ५३, लोक की विशालता की प्ररूपणा ५८, अलोक की विशालता का निरूपण ६०, आकाशप्रदेश पर परस्पर सम्बद्ध जीवों का निराबाध अवस्थान ६१, नर्तकी के दृष्टान्त से जीवों के आत्मप्रदेशों की निराबाध सम्बद्धता ६३, बत्तीस प्रकार के नाट्य की व्याख्या ६३, एक आकाशप्रदेश में जघन्य-उत्कृष्ट जीवप्रदेशों एवं सर्वजीवों का अल्प-बहुत्व ६३.

ग्यारहवाँ उद्देशक : काल ६४

काल और उसके चार प्रकार ६५, प्रमाणकालप्ररूपणा ६५, उत्कृष्ट दिन और रात्रि कब ? ६७, समान दिवस-रात्रि ६८, जघन्य दिवस और रात्रि ६८, यथायुर्निर्वृत्तिकाल प्ररूपणा ६८, मरण-काल-प्ररूपणा ६८, अद्धाकाल-प्ररूपणा ६९, पल्योपम सागरोपम का प्रयोजन ७०, उपमाकाल: स्वरूप और प्रयोजन ७०, नैरयिक आदि समस्त संसारी जीवों की

स्थिति की प्ररूपणा ७०, पल्योपम-सागरोपम-क्षयोपचयसिद्धि हेतु दृष्टान्तपूर्वक प्ररूपणा ७०, पल्योपम-सागरोपम के क्षय-अपचय की सिद्धि के लिए सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा ७०, प्रभावती का वासगृह-शय्या-सिंह-स्वप्नदर्शन ७१, रानी द्वारा स्वप्ननिवेदन तथा स्वप्नफलकथनविनति ७४, प्रभावती द्वारा स्वप्नफल स्वीकार और स्वप्नजागरिका ७६, कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा उपस्थानशाला की सफाई और सिंहासन-स्थापन ७७, बल राजा द्वारा स्वप्नपाठक आमंत्रित ७८, स्वप्नपाठकों से स्वप्न-कथन और उनके द्वारा समाधान ८०, विमान और भवन ८२, राजा द्वारा स्वप्नपाठक सत्कृत एवं रानी को स्वप्नफल सुना कर प्रोत्साहन ८२, स्वप्नफल श्रवणान्तर प्रभावती द्वारा यत्नपूर्वक गर्भरक्षण ८३, पुत्रजन्म, दासियों द्वारा बधाई और राजा द्वारा उन्हें प्रीतिदान ८५, पुत्रजन्म-महोत्सव एवं नामकरण का वर्णन ८६, महाबल का पंच धात्रियों द्वारा पालन एवं तारुण्यभाव ८८, बल राजा द्वारा राजकुमार के लिए प्रासादनिर्माण ९०, आठ कन्याओं के साथ विवाह ८९, नववधुओं को प्रीतिदान ९१, धर्मघोष अनगार का पदार्पण, परिषद् द्वारा पर्युपासना ९३, महाबल द्वारा प्रव्रज्याग्रहण ९४, महाबल अनगार का अध्ययन, तपश्चरण, समाधिमरण एवं स्वर्गगमन ९५, पूर्वभव का रहस्य खोलकर पल्योपमादि के क्षय-उपचय की सिद्धि ९६.

बारहवाँ उद्देशक : आलभिका नगरी (में प्ररूपणा) ९९

आलभिका नगरी में श्रमणोपासकों की देवस्थितिविषयक जिज्ञासा एवं ऋषिभद्र के उत्तर के प्रति अश्रद्धा ९९, भगवान् द्वारा समाधान से सन्तुष्ट श्रमणोपासकों द्वारा ऋषिभद्र से क्षमायाचना १००, ऋषिभद्र के भविष्य के सम्बन्ध में कथन १०२.

मुद्गल परिव्राजक १०४, विभंगज्ञानी मुद्गल द्वारा अतिशय ज्ञान की घोषणा और जनप्रतिक्रिया १०४, भगवान् द्वारा सत्यासत्य का निर्णय १०५, मुद्गल परिव्राजक द्वारा निर्ग्रन्थप्रव्रज्याग्रहण एवं सिद्धिप्राप्ति १०६.

बारहवाँ शतक

प्राथमिक- उद्देशक-परिचय १०८, दश उद्देशकों के नाम ११०.

प्रथम उद्देशक : शंख (और पुष्कली श्रमणोपासक) ११०

शंख और पुष्कली का संक्षिप्त परिचय ११०, भगवान् का श्रावस्ती में पदार्पण, श्रमणोपासकों द्वारा धर्मकथाश्रवण १११, शंख श्रमणोपासक द्वारा पाक्षिक पौषधार्थ श्रमणोपासकों को भोजन तैयार कराने का निर्देश ११२, शंख श्रमणोपासक द्वारा आहारत्यागपूर्वक पौषध का अनुपालन ११३, आहार तैयार कराने के बाद शंख को बुलाने के लिए पुष्कली का गमन ११५, गृहागत पुष्कली के प्रति शंखपत्नी द्वारा स्वागत-शिष्टाचार और प्रश्नोत्तर ११६, पौषधशाला में स्थित शंख को पुष्कली द्वारा आहार करते हुए पौषध का आमंत्रण और उसके द्वारा अस्वीकार ११६, पुष्कली कथित वृतान्त सुनकर श्रावकों द्वारा खाते-पीते पौषधानुपालन ११७, शंख एवं अन्य श्रमणोपासक भगवान् की सेवा में ११८,

भगवान् का उपदेश और शंख श्रमणोपासक की निन्दादि न करने की प्रेरणा ११९, भगवान् द्वारा त्रिविध जागरिका-प्ररूपणा १२१, शंख द्वारा क्रोधादिपरिणामविषयक प्रश्न और भगवान् द्वारा उत्तर १२२, श्रमणोपासकों द्वारा शंखश्रावक से क्षमायाचना, स्वगृहगमन १२४, शंख की मुक्ति के विषय में गौतम का प्रश्न, भगवान् का उत्तर १२४.

द्वितीय उद्देशक : जयन्ती (श्रमणोपासिका) १२६

जयन्ती श्रमणोपासिका और तत्संबंधित व्यक्तियों का परिचय १२६, जयन्ती श्रमणोपासिका उदयननृप-मृगावती देवी सहित सपरिवार भगवान् की सेवा में १२७, कर्मगुरुत्व-लघुत्व सम्बन्धी जयन्तीप्रश्न और भगवत्समाधान १३१, भवसिद्धिक जीवों के विषय में परिचर्चा १३१, सुप्तत्व-जागृतत्व, सबलत्व-दुर्बलत्व एवं दक्षत्व-आलसित्व के साधुताविषयक प्रश्नोत्तर १३४, इन्द्रियवशार्त जीवों का बन्धादि दुष्परिणम १३९, जयन्ती द्वारा प्रव्रज्याग्रहण और सिद्धि गमन १३७.

तृतीय उद्देशक : पृथ्वी १३९

सात नरक-पृथ्वियाँ-नाम-गोत्रादिवर्णन १३९.

चतुर्थ उद्देशक : पुद्गल १४०

दो परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण १४०, तीन परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण १४०, चार परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभागनिरूपण १४१, पांच परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण १४१, छह परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण १४२, सात परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण १४३, आठ परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूण १४८, संख्यात परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण १५३, असंख्यात परमाणु-पुद्गलों के संयोग-विभाग-निष्पन्न भंग-निरूपण अनन्त परमाणु-पुद्गलों के संयोग-विभाग-निष्पन्न भंग-प्ररूपणा १५५, परमाणु-पुद्गलों का पुद्गलपरिवर्त्त और उसके प्रकार १५७, एकत्वदृष्टि से चौवीस दण्डकों में चौवीस दण्डकवर्ती जीवत्व के रूप में अतीतादि सप्तविध पुद्गलपरिवर्त्त प्ररूपणा १६२, सप्तविध पुद्गल परिवर्तों का निर्वर्त्तनाकाल-निरूपण १६९, सप्तविध पुद्गल परिवर्त्तों के निष्पत्तिकाल का अल्पबहुत्व १७०, सप्तविध पुद्गलपरिवर्तों का अल्पबहुत्व १७१.

पंचम उद्देशक : अतिपात १७२

प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-प्ररूपणा १७२, अठारह पापस्थान-विरमण में वर्णादि का अभाव १७५, चार बुद्धि, अवग्रहादि चार, उत्थानादि पांच के विषय में वर्णादिप्ररूपणा १७६, अवकाशान्तर, तनुवात-घनवात-घनोदधि, पृथ्वी आदि के विषय में वर्णादिप्ररूपणा १७७, चौवीस दण्डकों में वर्णादिप्ररूपणा १७९, धर्मास्तिकाय से लेकर अद्धाकाल तक में वर्णादिप्ररूपणा १८०, गर्भ में आगमन के समय

जीव में वर्णादि प्ररूपणा १८३, कर्मों से जीव का विविध रूपों में परिणमन १८३.

छठा उद्देशक : राहु १८४

राहु: स्वरूप, नाम और विमानों के वर्ण तथा उनके द्वारा चन्द्रग्रसन के भ्रम का निराकरण १८४, ध्रुवराहु और पर्वराहु का स्वरूप एवं दोनों द्वारा चन्द्र को आवृत्त-अनावृत्त करने का कार्यकाल १८७, चन्द्र को शशि-सश्री और सूर्य को आदित्य कहने का कारण १८८, चन्द्र और सूर्य की अग्रमहिषियों का वर्णन १८९, चन्द्र-सूर्य के कामभोग सुखानुभव का निरूपण १९०.

सप्तम उद्देशक : लोक का परिमाण १९३

लोक का परिमाण १९३, लोक में परमाणुमात्र प्रदेश में भी जीव के जन्म-मरण से अरिक्तता की दृष्टान्तपूर्वक प्ररूपणा १९३, चौवीस दण्डकों की आवाससंख्या का अतिदेशपूर्वक निरूपण १९५, एक जीव या सर्व जीवों के चौवीस दण्डकवर्ती आवासों में विविध रूपों में अनन्तशः उत्पन्न होने की प्ररूपणा १९५, एक जीव या सर्व जीवों के माता-पिता आदि के, शत्रु आदि के, राजादि के तथा दासादि के रूप में अनन्तशः उत्पन्न होने की प्ररूपणा २००.

आठवाँ उद्देशक : नाग २०३

महर्द्धिक देव की नाग, मणि, वृक्ष में उत्पत्ति, महिमा और सिद्धि २०३, शीलादिरहित वानरादि का नरकगामित्वनिरूपण २०५.

नवम उद्देशक : देव २०७

देवों के पांच प्रकार और स्वरूपनिरूपण—भव्यद्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भावदेव, २०७, पंचविध देवों की उत्पत्ति का सकारण निरूपण २०९, पंचविध देवों की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण २१२, पंचविध देवों की वैक्रियशक्ति का निरूपण २१४, पंचविध देवों की उद्वर्त्तना का निरूपण २१५, स्व-स्वरूप में पंचविध देवों की संस्थिति का निरूपण २१८, पंचविध देवों के अन्तरकाल की प्ररूपणा २१८, पंचविध देवों का अल्पबहुत्व २२०, भवनवासी आदि देवों का अल्पबहुत्व २२१.

दशम उद्देशक : आत्मा २२३

आत्मा के आठ प्रकार २२३, द्रव्यात्मा आदि आठों का परस्पर सहभाव-असहभाव निरूपण २२४, आत्माओं का अल्पबहुत्व २२६, आत्मा सम्बन्धी विविध प्रश्नोत्तर २२७, परमाणु द्विप्रदेशी त्रिप्रदेशी आदि पुद्गल-स्कन्ध सम्बन्धी भंग २३६.

तेरहवाँ शतक

प्राथमिक - दस उद्देशकों का परिचय २४३, दस उद्देशकों के नाम २४५

प्रथम उद्देशक : पृथ्वी २४५

नरकपृथ्वियाँ, रत्नप्रभा के नारकावासों की संख्या और उनका विस्तार २४५, रत्नप्रभा के संख्यात योजन विस्तृत नारकावासों में उद्वर्त्तना सम्बन्धी उनचालीस प्रश्नोत्तर २४६, शर्कराप्रभादि छह पृथ्वियों के नरकावासों की संख्या तथा संख्य-असंख्यात योजन-विस्तृत नरकों में उत्पत्ति, उद्वर्त्तना तथा सत्ता की संख्या का निरूपण २५४, संख्यात-असंख्यात योजन विस्तृत नरकों में सम्यग्-मिथ्या-मिश्रदृष्टि नैरयिकों के उत्पाद-उद्वर्त्तना एवं अविरहित-विरहित की प्ररूपणा २५७.

द्वितीय उद्देशक : देव २६२

चतुर्विध देवप्ररूपणा २६२, भवनपति देवों के प्रकार, असुरकुमार एवं उनके विस्तार की प्ररूपणा २६२, संख्यात-असंख्यात विस्तृत भवनपति-आवासों में विविध-विशेषण-विशिष्ट असुरकुमारादि से सम्बन्धित उनपचास प्रश्नोत्तर २६३, वाणव्यन्तर देवों की आवाससंख्या, विस्तार, उत्पाद, उद्वर्त्तना और सत्ता की प्ररूपणा २६५, ज्योतिष्कदेवों की विमानावाससंख्या, विस्तार एवं विविध-विशेषण-विशिष्ट की उत्पत्ति आदि की प्ररूपणा २६६, कल्पवासी, ग्रैवेयक एवं अनुत्तर देवों की विमानावाससंख्या, विस्तार, उत्पत्ति आदि की प्ररूपणा २६७, चतुर्विध देवों के संख्यात-असंख्यात विस्तृत आवासों में सम्यग्दृष्टि आदि के उत्पाद, उद्वर्त्तन एवं सत्ता की प्ररूपणा २७२, एक लेश्यावाले का दूसरी लेश्या वाले देवों में उत्पाद-निरूपण २७३.

तृतीय उद्देशक : अनन्तर २७४

चौवीस दण्डकों में अनन्तराहारादि यावत् परिचारणा की प्ररूपणा २७४.

चतुर्थ उद्देशक : नरकपृथ्वियाँ २७५

द्वारगाथाएं तथा सात पृथ्वियाँ, २७५, प्रथमद्वार—नैरयिक-नरकावासों की संख्यादि अनेक पदों से परस्पर तुलना २७५, द्वितीय स्पर्श द्वार—(सात पृथ्वियों के नैरयिकों की एकेन्द्रिय जीव) पृथ्वीस्पर्शानुभव प्ररूपणा २७७, तृतीय प्रणिधिद्वार—सात पृथ्वियों की मोटाई आदि की प्ररूपणा २७८, चतुर्थ निरयान्तद्वार—सात पृथ्वियों के निकटवर्त्ती एकेन्द्रियों की महाकर्म अल्पकर्मतादि प्ररूपणा २७८, पंचमद्वार—लोक-त्रिलोक का आयाम-मध्यस्थान निरूपण २७८, छठा दिशा, विदिशाप्रवादि द्वार—ऐन्द्री आदि दस दिशा-विदिशाओं का स्वरूपनिरूपण २८१, सप्तम प्रवर्त्तनद्वार—लोक-पंचास्किायनिरूपण २८३, आठवाँ अस्तिकायस्पर्शनाद्वार-पंचास्तिकायप्रदेश-अद्धासमयों का परस्पर जघन्योत्कृष्ट-प्रदेश-स्पर्शनानिरूपण २८७, नौवाँ अवगाहनाद्वार—अस्तिकाय-अद्धासमयों का परस्पर विस्तृत प्रदेशावगाहनानिरूपण ३०२, दसवाँ जीवावगाढद्वार-पाँच एकेन्द्रियों का परस्पर अवगाहन निरूपण ३१०, ग्यारहवाँ अस्ति-प्रदेश-निषीदनद्वार—धर्माधर्माकाशास्तिकायों पर बैठने आदि का दृष्टान्तपूर्वक निषेध निरूपण ३११, बारहवाँ द्वार—बहुसम, सर्वसंक्षिप्त-

विग्रह-विग्रहिक लोक का निरूपण ३१३, तेरहवाँ द्वार—लोकसंस्थान-लोकसंस्थाननिरूपण ३१४, आधोलोक-तिर्यक्लोक-ऊर्ध्वलोक के अल्पबहुत्व का निरूपण ३१५.

पंचम उद्देशक : नैरयिकों आदि का आहार ३१६

छठा उद्देशक : उपपात (आदि) ३१७

चौवीस दण्डकों में सान्तर-निरन्तर उपपात-उद्वर्त्तननिरूपण ३१७, चरमचंच का आवास का वर्णन एवं प्रयोजन ३१८.

उदायननरेश वृत्तान्त ३२०, भगवान् का राजगृहनगर से विहार, चम्पापुरी में पदार्पण ३२०, उदायननृप, राजपरिवार, वीतिभयनगर आदि का परिचय ३२०, पौषधरत उदायन नृप का भगवद्वन्दनादि-अध्यवसाय ३२२, भगवान् का वीतिभयनगर में पदार्पण, उदायन द्वारा प्रव्रज्याग्रहण का संकल्प ३२३, स्वपुत्रकल्याणकांक्षी उदायन नृप द्वारा अभीचिकुमार के बदले अपने भानजे का राज्याभिषेक ३२४, केशी राजा से अनुमत उदायन नृप के द्वारा त्याग वैराग्यपूर्वक प्रव्रज्याग्रहण, मोक्षगमन ३२७, राज्य-अप्राप्ति निमित्त से वैरानुबद्ध अभीचिकुमार का वीतिभयनगर छोड़ कर चम्पानगरी में निवास ३२९, श्रमणोपासक धर्मरत अभीचिकुमार को वैरविषयक आलोचन-प्रतिक्रमण न करने से असुरकमारत्वप्राप्ति ३३०, देवलोकच्यवनान्तर अभीचि को भविष्य में मोक्षप्राप्ति ३३१.

सातवाँ उद्देशक : भाषा ३३२

भाषा के आत्मत्व, रूपित्व, अचित्तत्व, अजीवत्व का निरूपण ३३२, भाषा जीवों की, अजीवों की नहीं ३३२, बोलते समय ही भाषा, अन्य समय में नहीं ३३२, भाषा-भेदन बोलते समय ही ३३३, चार प्रकार की भाषा ३३३, मन: आत्मा नहीं, जीव का है ३३५, मन के चार प्रकार ३३६, काय: आत्मा है या अन्य ? रूपी-अरूपी है, सचित्त-अचित्त है, जीव-अजीव है ? ३३६, जीव-अजीव दोनों कायरूप ३३७, त्रिविध जीवस्वरूप को लेकर कायनिरूपण-कायभेद-निरूपण ३३७, काया के सात भेद ३३८, मरण के पांच प्रकार ३४०, आवीचिमरण के भेद-प्रभेद और स्वरूप ३४१, अवधिमरण के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप ३४३, आत्यन्तिकमरण के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप ३४४, बालमरण के भेद और स्वरूप ३४५, पण्डितमरण के भेद और स्वरूप ३४५.

आठवाँ उद्देशक : कर्मप्रकृति ३४८

प्रज्ञापना के अतिदेशपूर्वक कर्मप्रकृतिभेदादिनिरूपण ३४८.

नवम उद्देशक : अनगार में केयाघटिका (वैक्रियशक्ति) ३४९

रस्सी बंधी घडिया, स्वर्णादिमंजूषा, बाँस आदि की चटाई, लोहादिभार लेकर चलनेवाले व्यक्तिसम भावितात्मा अनगार की वैक्रियशक्ति ३४९, चमचेड़-यज्ञोपवीत-जलौका-बीजंबीज-समुद्रवायस आदि की क्रियावत् भावितात्मा अनगार की वैक्रियशक्ति ३५०,

चक्र, छत्र, चर्म, रत्नादि लेकर चलने वाले पुरुषवत् भावितात्मा अनगार की विकुर्वणाशक्ति-निरूपण ३५३, कमलनाल तोड़ते हुए चलने वाले पुरुषवत् अनगार की विक्रियाशक्ति ३५४, मृणालिका, वनखण्ड एवं पुष्करिणी बना कर चलने की वैक्रियशक्तिनिरूपण ३५४, मायी (प्रमादी) द्वारा विकुर्वणा, अप्रमादी द्वारा नहीं ३५६.

दसवाँ उद्देशक : (छाद्मस्थिक) समुद्घात् ३५९

छाद्मस्थिक समुद्घात: स्वरूप, प्रकार आदि का निरूपण ३५९.

चौदहवाँ शतक

प्राथमिक – उद्देशक परिचय; उद्देशकों के नाम ३६२.

प्रथम उद्देशक : चरम (-परम के मध्य की गति आदि) ३६३

भावितात्मा अनगार की चरम-परम मध्य में गति, उत्पत्तिप्ररूपणा ३६३, चौवीस दण्डकों में शीघ्रगतिविषयक प्ररूपणा ३६४, चौवीस दण्डकों में अनन्तरोपपन्नकादिप्ररूपणा ३६६, अनन्तरोपपन्नकादि चौवीस दण्डकों में आयुष्यबंध-प्ररूपणा ३६७, चौवीस दण्डकों में अनन्तर-निर्गतादि-प्ररूपणा ३६८, अनन्तर निर्गतादि चौवीस दण्डकों में आयुष्यबन्ध-प्ररूपणा ३६९, चौवीस दण्डकों में अनन्तर खेदोपपन्नादि अन्तर खेदनिर्गतादि एवं आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा ३७०.

द्वितीय उद्देशक : उन्माद (प्रकार, अधिकारी) ३७२

उन्माद : प्रकार, स्वरूप और चौवीस दण्डकों में सहेतुक प्ररूपणा ३७२, स्वाभाविक वृष्टि और देवकृतवृष्टि का सहेतुक निरूपण ३७४, ईशान देवेन्द्रादि चतुर्विधदेवकृत तमस्काय का सहेतुक निरूपण ३७६.

तृतीय उद्देशक : महाशरीर द्वारा अनगार आदि का व्यतिक्रमण ३७८

भावितात्मा अनगार के मध्य में से होकर जाने का देव का सामर्थ्य-असामर्थ्य ३७८, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में सत्कारादि विनय-प्ररूपणा ३७९, अल्पर्द्धिक-समर्द्धिक देव-देवियों के मध्य में से व्यतिक्रमणनिरूपण ३८१, जीवाभिगमसूत्रातिदेशपूर्वक नैरयिकों के द्वारा वीस प्रकार के परिणामानुभव का प्रतिपादन ३८३.

चतुर्थ उद्देशक : पुद्गल (आदि के परिणाम) ३८५

त्रिकालवर्ती विविध स्पर्शादिपरिणत पुद्गल की वर्णादिपरिणाम प्ररूपणा ३८५, जीव के त्रिकालापेक्षी सुखी-दु:खी आदि विविध परिणाम ३८६, परमाणु-पुद्गल शाश्वतता-अशाश्वतता एवं चरमता-अचरमता का निरूपण ३८७, परिणाम : प्रज्ञापनातिदेशपूर्वक भेद-प्रभेद निरूपण ३८९.

पञ्चम उद्देशक : अग्नि ३९०

संग्रहणी-गाथा ३९१, चौवीस दण्डकों की अग्नि में होकर गमन-विषयक प्ररूपणा

३९१, चौवीस दण्डकों में शब्दादि दस स्थानों में इष्टानिष्ट स्थानों की प्ररूपणा ३९४, महर्द्धिक देव का तिर्यक् पर्वतादि उल्लंघन-प्रलंघनसामर्थ्य-असामर्थ्य ३९६.

छठा उद्देशक : किमिहार (आदि) **३९८**

चौवीस दण्डकों में आहारपरिणाम, योनिक-स्थितिनिरूपण ३९८, चौवीस दण्डकों में वीचिद्रव्य-अवीचिद्रव्याहार-प्ररूपणा ३९९, शक्रेन्द से अच्युतेन्द्र तक देवेन्द्रों के दिव्य भोगों की उपभोग पद्धति ३९९.

सातवाँ उद्देशक : संश्लिष्ट **४०४**

भगवान् द्वारा गौतम स्वामी को इस भव के बाद अपने समान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का आश्वासन ४०४, अनुत्तरौपपातिक देवों की जानने-देखने की शक्ति की प्ररूपणा ४०५, छह प्रकार का तुल्य ४०६, द्रव्यतुल्यनिरूपण ४०६, क्षेत्रतुल्यनिरूपण ४०७, कालतुल्य-निरूपण ४०७, भवतुल्यनिरूपण ४०२, भावतुल्यनिरूपण ४०८, संस्थानतुल्यनिरूपण ४१०.

अनशनकर्त्ता अनगार द्वारा मूढता-अमूढतापूर्वक आहाराध्यवसायप्ररूपणा ४११, लवसप्तम देव : स्वरूप और दृष्टान्तपूर्वक कारणनिरूपण ४१२, अनुत्तरौपपातिक देवः स्वरूप, कारण और उपपातहेतुक कर्म ४१४.

आठवाँ उद्देशक : (विविध पृथ्वियों का परस्पर) अन्तर **४१६**

रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी एवं अलोक पर्यन्त परस्पर अबाधान्तर की प्ररूपणा ४१६,

शालवृक्ष, शालयष्टिका और उदुम्बरयष्टिका के भावी भवों की प्ररूपणा ४१९, अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्य आराधक हुए ४२१, अम्बड परिव्राजक को दो भवों के अनन्तर मोक्षप्राप्ति की प्ररूपणा ४२१, अव्याबाध देवों की अव्याबाधता का निरूपण ४२२, सिर काट कर कमण्डलु में डालने की शक्रेन्द्र की वैक्रियशक्ति ४२३, जृंभक देवों का स्वरूप, भेद, स्थिति ४२४.

नौवाँ उद्देशक : भावितात्मा अनगार **४२७**

भावितात्मा अनगार की ज्ञान सम्बन्धी और प्रकाशपुद्गलस्कन्ध सम्बन्धी प्ररूपणा ४२७, चौवीस दण्डकों में आत्त-अनात्त, इष्टानिष्ट आदि पुद्गलों की प्ररूपणा ४२८, महर्द्धिक वैक्रियशक्ति सम्पन्न देव की भाषासहस्रभाषणशक्ति ४३०, सूर्य का अन्वर्थ तथा उनकी प्रभादि के शुभत्व की प्ररूपणा ४३०.

श्रामण्य-पर्याय-सुख की देवसुख के साथ तुलना ४३२.

दसवाँ उद्देशक : केवली **४३४**

केवली एवं सिद्ध द्वारा छद्मस्थादि को जानने-देखने का सामर्थ्यनिरूपण ४३४, केवली

और सिद्धों द्वारा भाषण, उन्मेष-निमेषादि क्रिया-अक्रिया की प्ररूपणा ४३५, केवली द्वारा नरकपृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को जानने-देखने की प्ररूपणा ४३६.

पन्द्रहवाँ शतक : गोशालकचरित

प्राथमिक - ४४०, मध्य मंगलाचरण ४४२, ४४०

श्रावस्तीनिवासी हालाहला का परिचय एवं गोशालक का निवास ४४२, गोशालक का छह दिशाचरों को अष्टांगमहानिमित्तशास्त्र का उपदेश एवं सर्वज्ञादि अपलाप ४४३, गोशालक की वास्तविकता जानने की गौतम स्वामी की जिज्ञासा, भगवान् द्वारा समाधान ४४५, गोशालक के माता-पिता का परिचय तथा भद्रा माता के गर्भ में आगमन ४४६, शरवण सन्निवेश में गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में मंखलि-भद्रा का निवास, गोशालक का जन्म और नामकरण ४४९, यौवनप्राप्त गोशालक द्वारा स्वयं मंखवृत्ति ४४८, गोशालक के साथ प्रथम समागम का वृतान्त : भगवान् के श्रीमुख से ४४९, विजय गाथापति के गृह में भगवत्पारणा, पंचद्रव्य प्रादुर्भाव, गोशालक द्वारा प्रभावित होकर भगवान् का शिष्य बनने का वृतान्त ४५१, द्वितीय से चतुर्थ मासखमण के पारणे तक का वृतान्त, भगवान् के अतिशय से पुन: प्रभावित गोशालक द्वारा शिष्यताग्रहण ४५३, तिल के पौधे को लेकर भगवान् को मिथ्यावादी सिद्ध करने की गोशालक की कुचेष्टा ४५७, वैश्यायन के साथ गोशालक की छेड़खानी, उसके द्वारा तेजोलेश्याप्रहार, गोशालकरक्षार्थ भगवान् द्वारा शीतलेश्या द्वारा प्रतिकार ४५९, भगवान् द्वारा तेजोलेश्या शमन का वृत्तान्त तथा गोशालक को तेजोलेश्याविधि का कथन ४६१, गोशालक द्वारा भगवान् के साथ मिथ्यावाद, एकान्त परिवृत्यपरिहारवाद की मान्यता और भगवान् से पृथक् विचरण ४६३, गोशालक को तेजोलेश्या की प्राप्ति, अहंकारवश जिनप्रलाप एवं भगवान् द्वारा स्ववक्तव्य का उपसंहार ४६५, भगवान् द्वारा अपने-गोशालक के-अजिनत्व का प्रकाशन सुन कर कुम्भारिन की दूकान पर कुपित गोशालक का ससंघ जमघट ४६६, गोशालक द्वारा अर्थलोलुप वणिक्-वर्ग-विनाशदृष्टान्त-कथनपूर्वक आनन्द स्थविर को भगवद्विनाशकथनचेष्टा ४६७, गोशालक के साथ हुए वार्तालाप का निवेदन, गोशालक के तप-तेज का निरूपण, श्रमणों को उसके साथ प्रतिवाद न करने का भगवत्संदेश ४७४, गोशालक के साथ धर्मचर्चा न करने का आनन्दस्थविर द्वारा भगवदादेश-निरूपण ४७८, भगवान् के समक्ष गोशालक द्वारा अपनी ऊटपटांग मान्यता का निरूपण ४७८, भगवान् द्वारा गोशालक को चोर के दृष्टान्त-पूर्वक स्वभ्रान्तिनिवारण-निर्देश ४८४, भगवान् के प्रति गोशालक द्वारा अवर्णवाद मिथ्यावाद ४८५, गोशालक को स्वकर्त्तव्य समझाने वाले सर्वानुभूति अनगार का गोशालक द्वारा भस्मीकरण ४८६, गोशालक द्वारा भगवान् के किये गए अवर्णवाद का विरोध करने वाले सुनक्षत्र अनगार का समाधिपूर्वक मरण ४८७, गोशालक को

भगवान् का उपदेश, क्रुद्ध गोशालक द्वारा भगवान् पर फेंकी हुई तेजोलेश्या से स्वयं का दहन ४८९, क्रुद्ध गोशालक की भगवान् के प्रति मरणघोषणा, भगवान् द्वारा प्रतिवादपूर्वक गोशालक के अन्धकारमय भविष्य का कथन ४९०, श्रावस्ती के नागरिकों के द्वारा गोशालक के मिथ्यावादी और भगवान् के सम्यग्वादी होने का निर्णय ४९१, निर्ग्रन्थ श्रमणों को गोशालक के साथ धर्मचर्चा करने का भगवान् का आदेश ४९२, निर्ग्रन्थों की धर्मचर्चा में गोशालक निरुत्तर पीडा देने में असमर्थ, आजीविक स्थविर भगवान् की निश्राय में ४९३, गोशालक की दुर्दशानिमित्तक विविध चेष्टाएँ ४९५, भगवत्प्ररूपित गोशालक की तेजोलेश्या की शक्ति ४९६, निजपापप्रच्छादनार्थ गोशालक द्वारा अष्टचरम एवं पानक-अपानक की कपोल-कल्पित मान्यता का निरूपण ४९७, अयंपुल का सामान्य परिचय, हल्ला के आकार की जिज्ञासा का उद्भव, गोशालक से प्रश्न पूछने का निर्णय, किन्तु गोशालक की उन्मन्तवत् दशा देख अयंपुल का वापिस लौटने का उपक्रम ५००, अयंपुल की डगमगाती श्रद्धा स्थिर हुई, गोशालक से समाधान पाकर सन्तुष्ट, गोशालक द्वारा वस्तुस्थिति का प्रलाप ५०२, प्रतिष्ठा-लिप्सावश गोशालक का शानदार मरणोत्तर क्रिया करने का शिष्यों को निर्देश ५०५, सम्यक्त्वप्राप्त गोशालक द्वारा अप्रतिष्ठापूर्वक मरणोत्तर क्रिया करने का शिष्यों को निर्देश ५०६, आजीविक स्थविरों द्वारा अप्रतिष्ठापूर्वक गुप्त मरणोत्तर क्रिया करके प्रकट में प्रतिष्ठापूर्वक मरणोत्तरक्रिया ५०८, भगवान् का मेंढिक ग्राम में पदार्पण, रोगाक्रान्त होने से लोकप्रवाद ५०९, अफवाह सुन कर सिंह अनगार को शोक, भगवान् द्वारा सन्देश पाकर सिंह अनगार का उनके पास आगमन ५११, रेवती गाथापत्नी का दान ५१४, सुनक्षत्र अनगार की भावि गति-उत्पत्ति सम्बन्धी निरूपण ५१८, गोशालक का भविष्य ५१९, गोशालक : देवभव से लेकर मनुष्यभव तक : विमलवाहन राजा के रूप में ५१९, सुमंगल अनगार की भावी गति : सर्वार्थसिद्ध विमान एवं मोक्ष ५२६, गोशालक के भावी दीर्घकालीन भवभ्रमण का दिग्दर्शन ५२७, गोशालक का अन्तिम भव—महाविदेह क्षेत्र में दृढप्रतिज्ञ केवली के रूप में मोक्षगमन ५३५.

सोलहवाँ शतक

प्राथमिक-उद्देशकपरिचय ५३७, सोलहवें शतक के उद्देशक के नाम ५४०.

प्रथम उद्देशक : अधिकरणी ५४०

अधिकरणी में वायुकाय की उत्पत्ति और विनाश सम्बन्धी निरूपण ५४०, अंगारकारिका में अग्निकाय की स्थिति का निरूपण ५४१, तप्त लोहे को पकड़ने में क्रिया-सम्बन्धी प्ररूपणा ५४१, जीव और चौवीस दण्डकों में अधिकरणी-अधिकरण, साधिकरणी-निरधिकरणी आदि तथा आत्मप्रयोगनिर्वर्तित आदि अधिकरणसम्बन्धी प्ररूपणा ५४३,

शरीर, इन्द्रिय एवं योगों को बांधते हुए जीवों के विषय में अधिकरणी-अधिकरणविषयक प्ररूपणा ५४६.

द्वितीय उद्देशक : जरा ५५०

जीवों और चौवीस दण्डकों में जरा और शोक का निरूपण ५५०, शक्रेन्द्र द्वारा भगवत्-दर्शन, प्रश्नकरण एवं अवग्रहानुज्ञाप्रदान ५५१, शक्रेन्द्र की सत्यता, सम्यग्वादिता, सत्यादिभाषिता, सावद्य-निरवद्यतभाषिता एवं भवसिद्धिकता आदि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर ५५३, जीव और चौवीस दण्डकों में चेतनकृत कर्म की प्ररूपणा ५५५.

तृतीय उद्देशक : कर्म ५५८

अष्ट कर्मप्रकृतियों के वेदावेद आदि का प्रज्ञापना के अतिदेशपूर्वक निरूपण ५५८, कायोत्सर्ग-स्थित अनगार के अर्श-छेदक को तथा अनगार को लगने वाली क्रिया ५५९.

चतुर्थ उद्देशक : यावतीय ५६२

तपस्वी श्रमणों के जितने कर्मों को खपाने में नैरयिक लाखों करोड़ों वर्षों में भी असमर्थ, ५६२.

पंचम उद्देश्यक : गंगदत्त (जीवनवृत्त) ५६६

शक्रेन्द्र के आठ प्रश्नों का भगवान् द्वारा समाधान ५६६, सम्यग्दृष्टि गंगदत्त द्वारा मिथ्यादृष्टिदेव को सिद्धान्तसम्मत तथ्य का भगवान् द्वारा समर्थन, धर्मोपदेश एवं भव्यत्वादि कथन ५६९, गंगदत्त देव की स्थिति तथा भविष्य में मोक्षप्राप्ति का निरूपण ५७५.

छठा उद्देशक : स्वप्नदर्शन ५७६

स्वप्नदर्शन के पांच प्रकार ५७६, सुप्त-जागृत अवस्था में स्वप्नदर्शन का निरूपण ५७७, जीवों तथा चौवीस दण्डकों के सुप्त, जागृत एवं सुप्त-जागृत का निरूपण ५७७, संवृत आदि में तथारूप स्वप्नदर्शन की तथा इनमें सुप्त आदि की प्ररूपणा ५७८, स्वप्नों और महास्वप्नों की संख्या का निरूपण ५७९, तीर्थंकरादि महापुरुषों की माताओं को गर्भ में तीर्थंकरादि के आने पर दिखाई देने वाले महास्वप्नों की संख्या का निरूपण ५८०, भगवान् महावीर को छद्मावस्था की अन्तिम रात्रि में दीखे १० स्वप्न और उनका फल ५८२, एक-दो भव में युक्त होने वाले व्यक्तियों को दिखाई देने वाले १४ प्रकार के स्वप्नों का संकेत ५८५, गन्ध के पुद्गल बहते हैं ५८९.

सातवाँ उद्देशक : उपयोग ५९०

प्रज्ञापनासूत्र-अतिदेशपूर्वक उपयोग के भेद-प्रभेद ५९०.

अष्टम उद्देशक : लोक ५९१

लोक के प्रमाण का तथा लोक के विविध चरमान्तों में जीवा-जीवादि का निरूपण ५९१, नरक से लेकर वैमानिक एवं ईषत्-प्राग्भार तक पूर्वादि चरमान्तों में जीवाजीवादि का

निरूपण ५९४, परमाणु की एक समय में लोक के पूर्व-पश्चिमादिचरमान्त तक गति-सामर्थ्य ५९७, वृष्टिनिर्णयार्थ करादि के संकोचन-प्रसारण में लगने वाली क्रियाएँ ५९७, महर्द्धिक देव का लोकान्त में रहकर अलोक में अवयव संकोचन-प्रसारण-असामर्थ्य ५९८.

नौवाँ उद्देशक : बलि (वैरोचनेन्द्रसभा) ६००

बलि-वेरोचनेन्द्रसभा की सुधर्मा सभा से सम्बन्धित वर्णन ६००.

दसवाँ उद्देशक : अवधिज्ञान ६०२

प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक अवधिज्ञान का वर्णन ५९२.

ग्यारहवाँ उद्देशक : द्वीपकुमार सम्बन्धी वर्णन ६०३

द्वीपकुमार देवों की आहार, श्वासोच्छ्वासादि की समानता-असमानता का वर्णन ६०३, द्वीपकुमारों में लेश्या की तथा लेश्या एवं ऋद्धि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ६०३.

बारहवाँ उद्देशक : उदधिकुमार सम्बन्धी वक्तव्यता ६०५

उदधिकुमारों में आहारादि की समानता-असमानता का निरूपण ६०५.

तेरहवाँ उद्देशक : दिशाकुमार सम्बन्धी वक्तव्यता ६०६

दिशाकुमारों में आहारादि की समानता-असमानता सम्बन्धी वक्तव्यता ६०६.

चौदहवाँ उद्देशक : स्तनितकुमार सम्बन्धी वक्तव्यता ६०७

स्तनितकुमारों में आहारादि की समानता-असमानता सम्बन्धी वक्तव्यता ६०७.

सत्तरहवाँ शतक

प्राथमिक - उद्देशकपरिचय ६०८, सत्तरहवें शतक का मंगलाचरण ६१०, उद्देशकों के नामों की प्ररूपणा ६१०.

प्रथम उद्देशक : कुंजर (आदि सम्बन्धी वक्तव्यता) ६११

उदायी और भूतानन्द हस्तिराज के पूर्व और पश्चाद्भवों के निर्देशपूर्वक सिद्धिगमन-प्ररूपणा ६११, ताड़ फल को हिलाने गिराने आदि से सम्बन्धित जीवों को लगने वाली क्रिया ६१२, वृक्ष के मूल कन्द आदि को हिलाने से संबंधित जीवों को लगने वाली क्रिया ६१४, शरीर, इन्द्रिय और योग : प्रकार तथा इनके निमित्त से लगने वाली क्रिया ६०१, षड्विध भावों का अनुयोगद्वार के अतिदेशपूर्वक निरूपण ६१७.

द्वितीय उद्देशक : संजय ३१९

संयत आदि जीवों के तथा चौवीस दण्डकों के सयुक्तिक धर्म, अधर्म एवं धर्माधर्म में स्थित होने की चर्चा-विचारणा ६१९, अन्यतीर्थिकमत के निराकरणपूर्वक श्रमणादि में, जीवों में तथा चौवीस दण्डकों में बाल, पण्डित और बाल-पण्डित की प्ररूपणा ६२१,

प्राणातिपात आदि में वर्त्तमान जीव और जीवात्मा की भिन्नता के निराकरणपूर्वक जैनसिद्धान्तसम्मत जीव और आत्मा की कथंचित् अभिन्नत्ता का प्रतिपादन ६२३, रूपी अरूपी नहीं हो सकता, न अरूपी रूपी हो सकता है ६२५.

तृतीय उद्देशक : शैलेशी ६२८

शैलेषी अवस्थापन्न अनगार में परप्रयोग के विना एजनादि-निषेध ६२८, एजना के पाँच भेद ६२८, द्रव्यैजनादि पाँच एजनओं की चारों गतियों की दृष्टि से प्ररूपणा ६२९, चलना और उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण ६३०, शरीरादि-चलना के स्वरूप का सयुक्तिक निरूपण ६३१, संवेग, निर्वेदादि उनचास पदों का अन्तिम फल—सिद्धि ६३३.

चतुर्थ उद्देशक : क्रिया (आदि से सम्बन्धित चर्चा) ३३५

जीव और चौवीस दण्डकों में प्राणातिपात आदि पाँच क्रियाओं की प्ररूपणा ६३५, समय, देश और प्रदेश की अपेक्षा से जीव और चौवीस दण्डकों में प्राणातिपातादिक्रियानिरूपण ६३७, जीव और चौवीस दण्डकों में दु:ख, दु:खवेदन, वेदना, वेदना-वेदन का आत्म-कृतत्वनिरूपण ६३८.

पंचम उद्देशक : ईशानेन्द्र (की सुधर्मा सभा) ६४०

ईशानेन्द्र की सुधर्मा सभा का स्थानादि की दृष्टि से निरूपण ६४०.

छठा उद्देशक : पृथ्वीकायिक (मरणसमुद्घात) ६४१

मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक जीवों की उत्पत्ति एवं पुद्गलग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ? ६४१.

सातवाँ उद्देशक : पृथ्वीकायिक ६४४

सौधर्मकल्पादि में मरणसमुद्घात द्वारा सप्त नरकों में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक जीव की उत्पत्ति और पुद्गलग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ? ६४४.

अष्टम उद्देशक (अधस्तन) अप्कायिकसम्बन्धी ६४५

रत्नप्रभा में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्पादि में उत्पन्न होने योग्य अप्कायिक जीव की उत्पत्ति और पुद्गलग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ? ६४५.

नौवाँ उद्देशक : (ऊर्ध्व लोकस्थ) अप्कायिक ६४६

सौधर्मकल्प में मरणसमुद्घात करके सप्त नरकादि में उत्पन्न होने योग्य अप्कायिक जीव की उत्पत्ति और पुद्गल ग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ? ६४६.

दसवाँ उद्देशक : वायुकायिक (वक्तव्यता) ६४७

रत्नप्रभा में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में उत्पन्न होने योग्य वायुकायिक जीव पहले उत्पन्न होते हैं या पहले पुद्गल ग्रहण करते हैं ? ६४७.

ग्यारहवाँ उद्देशक : (ऊर्ध्ववायुकायिक) ६४८

सौधर्मकल्प में मरणसमुद्घात करके सप्त नरकादि पृथ्वियों में उत्पन्न होने योग्य वायुकाय की उत्पत्ति और पुद्गलग्रहण में प्रथम क्या ? ६४८.

बारहवाँ उद्देशक : एकेन्द्रिय जीवों में आहारादि की समता-विषमता ६४९

एकेन्द्रियजीवों में समाहार आदि सप्तद्वार निरूपण ६४९, एकेन्द्रियों में लेश्या की तथा लेश्या एवं ऋद्धि की अपेक्षा से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ६४९.

तेरहवाँ उद्देशक : नाग (कुमार सम्बन्धी वक्तव्यता) ६५१

नागकुमारों में समाहारादि सप्त द्वारों की तथा लेश्या की अपेक्षा से अल्पबहुत्वप्ररूपणा ६५१.

चौदहवाँ उद्देशक : सुवर्ण कुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता) ६५२

सुवर्णकुमारों में समाहारादिसप्त द्वारों की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ६५२.

पन्द्रहवाँ उद्देशक : विद्युत्कुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता) ६५३

विद्युत्कुमारों में समाहार आदि की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ६५३.

सोलहवाँ उद्देशक : वायुकुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता) ६५४

वायुकुमारों में समाहारादि सप्त द्वारों की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ६५४.

सत्तरहवां उद्देशक : अग्निकुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता) ६५५

अग्निकुमारों में समाहारादि तथा लेश्या एवं अल्पबहुत्वादि-प्ररूपणा ६५५.

अठारहवाँ शतक

प्राथमिक-उद्देशकपरिचय ६५६, अठारहवें शतक के उद्देशकों का नामनिरूपण ६५८.

प्रथम उद्देशक : प्रथम ६५९

प्रथम-अप्रथम ६५९, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्ध में जीवत्व-सिद्धत्व की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व ६६०, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में आहारकत्व-अनाहारकत्व की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व का निरूपण ६६०, भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक तथा नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक के विषय में भवसिद्धिकत्वादि दृष्टि से प्रथम-अप्रथम प्ररूपणा ६६२, जीव, चौवीस दण्डक एवं सिद्धों में संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण ६६३, सलेश्यी, कृष्णादिलेश्यी एवं अलेश्यी जीव के विषय में सलेश्यादि भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण ६६४,

सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि एवं मिश्रदृष्टि जीवों के विषय में एक-बहुवचन से सम्यग्दृष्टिभावादि की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण ६६५, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकत्व-बहुत्व से संयत भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्वनिरूपण ६६६, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य सकषायादि भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्वनिरूपण ६६७, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य ज्ञानी-अज्ञानी भावी की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण ६६८, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकत्व-बहुत्व को लेकर यथायोग्य सयोगी-अयोगीभाव की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्वकथन ६६९, जीव, चौवीस दण्डक सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से साकारोपयोग-अनाकारोपयोग भाव की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्व कथन ६७०, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन और बहुवचन से सवेद-अवेद भाव की अपेक्षा से यथायोग्य प्रथमत्व-अप्रथमत्वनिरूपण ६७०, जीव चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से यथायोगय सशरीर-अशरीरभाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्वनिरूपण ६७१, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य पर्याप्तभाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्वनिरूपण ६७१, प्रथमत्व-अप्रथमत्व लक्षण निरूपण ६७२, जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में पूर्वोक्त चौदह द्वारों के माध्यम से जीवभावादि की अपेक्षा से, एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य चरमत्व-अचरमत्वनिरूपण ६७२ चरम-अचरम-लक्षण निरूपण ६७८.

द्वितीय उद्देशक : विशाख ६८०

विशाखा नगरी में भगवान् का समवसरण ६८०, शक्रेन्द्र का भगवान् के सानिध्य में आगमन और नाट्य प्रदर्शित करके पुनः प्रतिगमन ६८०, गौतम द्वारा शक्रेन्द के पूर्वभव सम्बन्धी प्रश्न, भगवान् द्वारा कार्तिक श्रेष्ठी के रूप में परिचयात्मक उत्तर ६८१, मुंनिसुव्रत स्वामी से धर्मकथा-श्रवण और कथा प्रव्रज्याग्रहण की इच्छा ६८२, एक हजार आठ व्यापारियों सहित कार्तिक श्रेष्ठी का दीक्षाग्रहण तथा संयमसाधन ६८५, कार्तिक अनगार द्वारा अध्ययन, तप, संलेखनापूर्वक समाधिमरण एवं सौधर्मेन्द्र के रूप में उत्पत्ति ६८७.

तृतीय उद्देशक : माकन्दिक ६८९

माकन्दीपुत्र द्वारा पूछे गये कापोतलेश्याी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिकों को मनुष्यभवान्तर सिद्धगति सम्बन्धी प्रश्न के भगवान् द्वारा उत्तर, माकन्दीपुत्र द्वारा तथ्यप्रकाशन पर संदिग्ध श्रमण निर्ग्रन्थों का भगवान् द्वारा समाधान, उनके द्वारा क्षमापना ६८९, चरम निर्जरा-पुद्गलों सम्बन्धी प्रश्नोत्तर ६९२, बन्ध के मुख्य दो भेदों के भेद-प्रभेदों का तथा चौवीस दण्डकों एवं ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्म की अपेक्षा भावबन्ध के प्रकार का निरूपण ६९६, जीव एवं चौवीस दण्डकों द्वारा किए गए, किए जा रहे तथा किए जाने वाले पापकर्मों के नानात्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण ६९८, चौवीस दण्डकों द्वारा आहार रूप में गृहीत पुद्गलों में से भविष्य में ग्रहण एवं त्याग का प्रमाणनिरूपण ७००.

चतुर्थ उद्देशक : प्राणातिपात ७०२

जीव और अजीव द्रव्यों में से जीवों के लिए परिभोग्य-अपरिभोग्य द्रव्यों का निरूपण ७०२, कषाय : प्रकार तथा तत्सम्बद्ध कार्यों का कषायपद से अतिदेशपूर्वकनिरूपण ७०३, युग्म : कृतयुग्मादि चार और स्वरूप ७०४, चौवीस दण्डक, सिद्ध और स्त्रियों में कृतयुग्मादिराशि प्ररूपणा ७०५, अन्धकवह्नि जीवों में अल्पबहुत्व-परिमाणनिरूपण ७०८.

पंचम उद्देशक : असुर ७०९

एक निकाय के दो देवों में दर्शनीयता-अदर्शनीयता आदि के कारणों का निरूपण ७०९, चौवीस दण्डकों में स्वदण्डकवर्ती दो जीवों में महाकर्मत्व-अल्पकर्मत्वादि के कारणों का निरूपण ७११, चौवीस दण्डकों में वर्तमानभव और आगामीभव की अपेक्षा आयुष्यवेदन का निरूपण ७१२, चतुर्विध देवनिकायों में देवों की स्वेच्छानुसार विकुर्वणाकरण-अकरण सामर्थ्य के कारणों का निरूपण ७१३.

छठा उद्देशक : गुड़ (आदि के वर्णादि) ७१५

फाणित-गुड़, भ्रमर, शुक-पिच्छ, रक्षा, मंजीठ आदि पदार्थों में व्यवहार-निश्चयनय की दृष्टि से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-प्ररूपणा ७१५, परमाणु पुद्गल एवं द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि में वर्ण-गन्ध-रस स्पर्शनिरूपण ७१६.

सप्तम उद्देशक : केवली ७२०

केवली के यथाविष्ट होने तथा दो सावद्य भाषाएँ बोलने के अन्यतीर्थिक आक्षेप का भगवान् द्वारा निराकरणपूर्वक यथार्थ समाधान ७२०, उपधि एवं परिग्रह : प्रकारत्रय तथा नैरयिकादि में उपधि एवं परिग्रह की यथार्थ प्ररूपणा ७२१, प्रणिधान : तीन प्रकार का नैरयिकादि में प्रणिधान की प्ररूपणा ७२३, दुष्प्रणिधान एवं सुप्रणिधान के तीन-तीन भेद तथा नैरयिकादि में दुष्प्रणिधान-सुप्रणिधान-प्ररूपणा ७२४, अन्यतीर्थिकों द्वारा भगवत्प्ररूपित अस्तिकाय के विषय में पारस्परिक जिज्ञासा ७२५, राजगृह में भगवत्पदार्पण सुनकर मद्रुक श्रावक का उनके दर्शन वन्दनार्थ प्रस्थान ७२६, मद्रुक को भगवद्दर्शनार्थ जाते देख अन्यतीर्थिकों की उससे पञ्चास्तिकाय सम्बन्धी चर्चा करने की तैयारी, उनके प्रश्न का मद्रुक द्वारा अकाट्य युक्तिपूर्वक उत्तर ७२६, मद्रुक द्वारा अन्यतीर्थिकों को दिये गए युक्तिसंगत उत्तर की भगवान् द्वारा प्रशंसा, मद्रुक द्वारा धर्मश्रवण करके प्रतिगमन ७३०, गौतम द्वारा पूछे गए मद्रुक की प्रवज्या एवं मुक्ति से सम्बद्ध प्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान ७३१, महर्द्धिकदेवों द्वारा संग्राम निमित्त सहस्ररूपविकुर्वणा सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान ७३२, उन छिन्नशरीरों के अन्तर्गतभाग को शस्त्रादि द्वारा पीडित करने की असमर्थता ७३३, देवासुर-संग्राम में प्रहरण-विकुर्वणा-निरूपण ७३३, महर्द्धिक देवों का लवणसमुद्रादि तक चक्कर लगाकर आने का सामर्थ्य-निरूपण ७३५, सभी देवों द्वारा अनन्त कर्मांशों को क्षय करने के काल का निरूपण ७३५.

आठवाँ उद्देशक : अनगार ७३९

भावितात्मा अनगार के पैर के नीचे दबे कुर्कुटादि के कारण ईर्यापथिक क्रिया का सकारण निरूपण ७३९, भगवान् का जनपद-विहार, राजगृह में पदार्पण और गुणशील चैत्य में निवास ७४०, अन्यतीर्थिकों द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थों पर हिंसापरायणता, असंयतता एवं एकान्तबालत्व के आक्षेप का गौतम स्वामी द्वारा समाधान, भगवान् द्वारा उक्त यथार्थ उत्तर की प्रशंसा ७४०, छद्मस्थ मनुष्य द्वारा परमाणु द्विप्रदेशिकादि को जानने और देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा ७४३, अवधिज्ञानी, परमावधिज्ञानी और केवली द्वारा परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को जानने-देखने के सामर्थ्य का निरूपण ७४४.

नवम उद्देशक : ७४७

नैरयिकादि चौवीस दण्डकों में भव्यद्रव्यसंबंधित प्रश्न का यथोचित युक्तिपूर्वक समाधान ७४७, चौवीस दण्डकों में भव्य-द्रव्यनैरयिकादि की स्थिति का निरूपण ७४८.

दशम उद्देशक : ७५१

भावितात्मा अनगार के लब्धिसामर्थ्य के असि-क्षुरधारा-अवगाहनादि का अतिदेशपूर्वक निरूपण ७५१, परमाणु, द्विप्रदेशिक आदि स्कन्ध तथा वस्ति का वायुकाय से परस्पर स्पर्शास्पर्श निरूपण ७५२, सात नरक, बारह देवलोक, पांच अनुत्तरविमान तथा ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे परस्परबद्धादि पुद्गल द्रव्यों का निरूपण ७५४, वाणिज्यग्रामनिवासी सोमिल ब्राह्मण द्वारा पूछे गये यात्रादि सम्बन्धी चार प्रश्नों का भगवान् द्वारा समाधान ७५५, सरिसव-भक्ष्याभक्ष्य विषयक सोमिलप्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान ७५८, मास एवं कुलत्था के भक्ष्याभक्ष्य-विषयक सोमिलप्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान ७५९, सोमिल द्वारा पूछे गए एक, दो अक्षय, अव्यय, अवस्थित तथा अनेकभूत-भावभविक आदि तात्त्विक प्रश्नों का समाधान ७६१, सोमिल द्वारा श्रावकधर्म का स्वीकार ७६२, सोमिल के प्रव्रजित होने आदि के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान ७६३.

उन्नीसवाँ शतक

प्राथमिक—७६४, उन्नीसवें शतक के उद्देशक के नाम ७६६.

प्रथम उद्देशक : ७६७

प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक लेश्यातत्त्व निरूपण ७६७.

द्वितीय उद्देशक : ७६९

एक लेश्यावाले मनुष्य से दूसरी लेश्यावाले गर्भ की उत्पत्ति विषयक निरूपण ७६९.

तृतीय उद्देशक : ७७०

बारह द्वारों के माध्यम से पृथ्वीकायिकजीव से संबंधित प्ररूपणा ७७०, बारह द्वारों के माध्यम से अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिकों में प्ररूपणा ७७४, एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा अल्पबहुत्व ७७६, एकेन्द्रिय जीवों में सूक्ष्म-सूक्ष्मतरनिरूपण ७७८, एकेन्द्रिय जीवों में बादर-बादरतरनिरूपण ७७९, पृथ्वीकाय की महाकायता का निरूपण ७८०, पृथ्वीशरीर की महती शरीरावगाहना ७८१, एकेन्द्रिय जीवों की अनिष्टतर वेदनानुभूति का सदृष्टान्त निरूपण ७८३.

चतुर्थ उद्देशक : महाश्रव ७८५

नारकों में महास्रवादि पदों की प्ररूपणा ७८५, असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक महास्रवादि चारों पदों की प्ररूपणा ७८८.

पंचम उद्देशक : चरम (परमवेदनादि) ७९०

चरम और अचरम आधार पर चौवीस दण्डकों में महाकर्मत्व-अल्पकर्मत्व आदि का निरूपण ७९०, वेदना : दो प्रकार तथा उसका चौवीस दण्डकों में निरूपण ७९२.

छठा उद्देशक : द्वीप (समुद्र-वक्तव्यता) ७९४

जीवाभिगमसूत्रनिर्दिष्ट द्वीप-समुद्र सम्बन्धी वक्तव्यता ७९४.

सप्तम उद्देशक : भवन (विमानावास सम्बन्धी) ७९६

चतुर्विध देवों के भवन-नगर-विमानावास-संख्यादि निरूपण ७९६.

अष्टम उद्देशक : निर्वृत्ति ७९९

जीवनिर्वृत्ति के भेदाभेद का निरूपण ७९९, कर्म, शरीर इन्द्रिय आदि १८ बोलों की निर्वृत्ति के भेदसहित चौवीस दण्डकों में निरूपण ८००.

नौवाँ उद्देशक : करण ८०८

द्रव्यादि पंचविध करण और नैरयिकादि में उनकी प्ररूपणा ८०८, शरीरादि करणों के भेद और चौवीस दण्डकों में उनकी प्ररूपणा ८०९, प्राणातिपातकरण : पांच भेद, चौवीस दण्डकों में निरूपण ८१०, पुद्गलकरण : भेद-प्रभेद-निरूपण ८११.

दसवाँ उद्देशक : वाणव्यन्तरदेव ८१२

वाणव्यन्तरों में सामाहारादि-द्वार-निरूपण ८१२

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं पंचमं अंगं

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

[भगवई]

तृतीय खण्ड

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचितं पञ्चममङ्गम्

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्

[भगवती]

एक्कारसम सयं : ग्यारहवाँ शतक

प्राथमिक

- यह भगवती सूत्र का ग्यारहवाँ शतक है। इसके १२ उद्देशक हैं।

- जीव और कर्म का प्रवाहरूप से अनादिकालीन सम्बन्ध है। जिनके कर्मों का क्षय हो जाता है, वे सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु सभी जीव कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होते। विशेषत: एकेन्द्रिय जीव, जिनकी चेतना अल्पविकसित होती है, वे कर्मबन्ध, उसके कारण और बन्ध से मुक्त होने के उपाय को नहीं जानते। उनके द्रव्यमन नहीं होता। ऐसी स्थिति में एक शंका सहज ही उठती है, जो कर्मबन्ध को जानता ही नहीं, जिनके जीवन में मनुष्य या पंचेन्द्रिय जीवों (पशु-पक्षी आदि) की तरह प्रकटरूप में शुभ-अशुभ कर्म होता दिखाई नहीं देता, फिर उन जीवों के कर्मबन्ध कैसे हो जाता है ? बहुसंख्यक जनों की इसी शंका का निवारण करने हेतु उत्पल आदि एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, बन्ध, योग, उपयोग, लेश्या, आहार आदि कर्मबन्ध से सम्बन्धित ३२ द्वारों के माध्यम से **प्रथम उत्पल से लेकर आठवें नलिन उद्देशक** तक में प्रश्नोत्तर अंकित हैं। उन्हें पढ़ने से जीव और कर्म के सम्बन्ध का स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है तथा विभिन्न जीवों में इनकी उपलब्धि का अन्तर भी स्पष्टत: समझ में आ जाता है।

- **नौवें उद्देशक** में शिव राजा का दिशाप्रोक्षक तापसजीवन अंगीकार करने का रोचक वर्णन दिया गया है। उसके पश्चात् प्रकृतिभद्रता तथा बालतप आदि के कारण उन्हें विभंगज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिसे भ्रान्तिवश वे अतिशयज्ञान समझ कर झूठा प्रचार एवं दावा करने लगते हैं। किन्तु भगवान् महावीर द्वारा उनके उक्त ज्ञान के विषय में सम्यक् निर्णय दिये जाने पर उनके मन में जिज्ञासा होती है। वे भगवान् के पास पहुँच कर समाधान पाते हैं और निर्ग्रन्थ मुनिजीवन अंगीकार कर लेते हैं। अंगशास्त्राध्ययन, तपश्चरण तथा अन्तिम समय में संलेखना-संथारा करके समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। शिवराजर्षि के जीवन में उतार-चढ़ाव से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव कर्मबन्धन को काटने का वास्तविक उपाय न जानने से, सम्यग्दर्शन न पाने से सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से वंचित रहता है। किन्तु सम्यग्दर्शन पाते ही ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं और जीव कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है।

- **दसवें उद्देशक** में लोक का स्वरूप, द्रव्यादि चार प्रकार, क्षेत्रलोक तथा उसके भेद-प्रभेद, अधोलोकादि का संस्थान तथा अधोलोकादि में जीव, जीवप्रदेश हैं, अजीव, अजीव प्रदेश हैं, इत्यादि प्रश्नोत्तर हैं तथा समुच्चय रूप से जीव-अजीव आदि के विषय में प्रश्नोत्तर हैं। फिर लोक-अलोक में जीव-अजीव द्रव्य तथा वर्णादि पुद्गलों के अस्तित्व संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। अन्त में लोक और अलोक कितना-कितना बड़ा है ? इसे रूपक द्वारा समझाया गया है। अन्त में एक आकाशप्रदेश में एकेन्द्रिय जीवादि के परस्पर

सम्बद्ध रहने की बात नर्तकी के दृष्टान्त द्वारा समझाई गई है। इस प्रकार लोक के सम्बन्ध में स्पष्ट प्ररूपणा की गई है।

- **ग्यारहवें उद्देशक** के पूर्वार्द्ध में काल और उसके चार मुख्य प्रकारों का वर्णन है। फिर इन चारों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया गया है। प्रमाणकाल में दिन और रात का विविध महीनों में विविध प्रमाण बताया गया है। उत्तरार्द्ध में पल्योपम और सागरोपम के क्षय और उपचय को सिद्ध करने के लिए भगवान् ने सुदर्शनश्रेष्ठी के पूर्वकालीन मनुष्यभव एवं फिर देवभव में पंचम ब्रह्मलोक कल्प की १० सागरोपम की स्थिति का क्षय-अपचय करके पुनः मनुष्यभव प्राप्ति का विस्तृत रूप से उदाहरण जीवनवृत्तात्मक प्रस्तुत किया है। अन्त में सुदर्शनश्रेष्ठी को जातिस्मरणज्ञान होने से उसकी श्रद्धा और संविग्नता बढ़ी और वह निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या लेकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुआ, इसका वर्णन है।

- **बारहवें उद्देशक** में दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—(१) पूर्वार्द्ध में ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक का, जिसने देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति यथार्थ रूप में बताई थी, परन्तु आलभिका के श्रमणोपासकों ने उस पर प्रतीति नहीं की, तब भगवान् ने उनका समाधान कर दिया। (२) उत्तरार्द्ध में मुद्गल पारिव्राजक का जीवन-वृतान्त है, जो लगभग शिवराजर्षि के जीवन जैसा ही है। इन्होंने भी सच्चा समाधान पाने के बाद निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या लेकर अपना कल्याण किया। वे कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो गए।

ooo

एक्कारसमं सयं : ग्यारहवाँ शतक

[१—संग्रह-गाथार्थ]

१. **उप्पल १ सालु २ पलासे ३ कुंभी ४ नालीय ५ पउम ६ कण्णीय ७।**

नलिण ८ सिव ९ लोग १० कालाऽऽलभिय ११-१२ दस दो य एक्कारे ॥ १ ॥

ग्यारहवें शतक के बारह उद्देशक इस प्रकार हैं—(१) उत्पल, (२) शालूक, (३) पलाश, (४) कुम्भी, (५) नाडीक, (६) पद्म, (७) कर्णिका, (८) नलिन, (९) शिवराजर्षि, (१०) लोक, (११) काल और (१२) आलभिक।

विवेचन—बारह उद्देशकों का स्पष्टीकरण—प्रस्तुत सूत्र १ में ग्यारहवें शतक के १२ उद्देशकों के नाम क्रमशः दिये गए हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—(१) उत्पल के जीव के सम्बन्ध में चर्चा-विचारणा, (२) शालूक के जीवों से सम्बन्धित विचार, (३) पलाश के जीवों के सम्बन्ध में चर्चा, (४) कुम्भिक के जीवों के सम्बन्ध में चर्चा, (५) नाडीकजीव-सम्बन्धी चर्चा, (६) पद्मजीव-सम्बन्धी चर्चा, (७) कर्णिकाजीव-विषयक चर्चा, (८) नलिनजीव-सम्बन्धी चर्चा, (९) शिवराजर्षि का जीवन-वृत्त, (१०) लोक के द्रव्यादि के आधार से भेद, (११) सुदर्शन के कालविषयक प्रश्नोत्तर एवं महाबलचरित्र तथा (१२) आलभिका में प्ररूपित ऋषिभद्र तथा मुद्गलपरिव्राजक की धर्मचर्चा और समर्पण।

एकार्थक उत्पलादि का पृथक् ग्रहण क्यों ?—यद्यपि उत्पल, पद्म, नलिन आदि शब्दकोश के अनुसार एकार्थक हैं, तथापि रूढिवशात् इन सब को विशिष्ट मान कर पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है।[१]

○○○

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५०६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५११

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

उप्पल : उत्पल (उत्पलजीव चर्चा)

[२-द्वार-संग्रह-गाथाएँ]

२. **उववाओ १ परिमाणं २ अवहारुच्चत्त ३-४ बंध ५ वेदे ६ य।**
उदए ७ उदीरणाए ८ लेसा ९ दिट्ठी १० य नाणे ११ य ॥ २॥
जोगुवओगे १२-१३ वण्ण-रसमाइ १४ ऊसासगे १५ य आहारे १६।
विरई १७ किरिया १८ बंधे १९ सण्ण २० कसायित्थि २१-२२ बंधे २३ य ॥ ३॥
सण्णिंदिय २४-२५ अणुबंधे २६ संवेहाऽऽहार २७-२८ ठिइ २९ सम्मुग्घाए ३०।
चयणं ३१ मूलादीसु य उववाओ सव्वजीवाणं ३२॥ ४॥

१. उपपात, २. परिमाण, ३. अपहार, ४. ऊँचाई (अवगाहना), ५. बन्धक, ६. वेद, ७. उदय, ८. उदीरणा, ९. लेश्या, १०. दृष्टि, ११. ज्ञान, १२. योग, १३. उपयोग, १४. वर्ण-रसादि, १५. उच्छ्वास, १६. आहार, १७. विरति, १८. क्रिया, १९. बन्धक, २०. संज्ञा, २१. कषाय, २२. स्त्रीवेदादि, २३. बन्ध, २४. संज्ञी, २५. इन्द्रिय, २६. अनुबन्ध, २७. संवेध, २८. आहार, २९. स्थिति, ३०. समुद्घात, ३१. च्यवन और ३२. सभी जीवों का मूलादि में उपपात।

विवेचन—बत्तीसद्वारसंग्रह—प्रस्तुत द्वितीय सूत्र में क्रमशः तीन गाथाओं में प्रथम उद्देशक में प्रतिपाद्य विषयों का नामोल्लेख किया गया है।

ये संग्रहगाथाएं अन्य प्रतियों में मूल में नहीं पाई जातीं। अभयदेवीय वृत्ति में ये वाचनान्तर कह कर उद्धृत की गई हैं।

बन्धक शब्द यहाँ दो बार प्रयुक्त किया गया है, प्रथम बंधक द्वार में एक जीव कर्म-बन्धक है या अनेक जीव कर्मबन्धक ? इसकी चर्चा है। द्वितीय बन्धक द्वार में सप्तविधबन्धक है, या अष्टविधबन्धक ? यह चर्चा है। तीसरे बन्धद्वार में स्त्रीवेदबन्धक पुरुषवेदबन्धक या नपुंसकवेदबन्धक ? इसकी चर्चा है।[१]

१. उपपातद्वार

३. तेणं कालेणं तेणं समए णं रायगिहे जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[३] उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। वहाँ पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

४. उप्पले णं भंते! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे ?

गोयमा ! एगजीवे, नो अणेगजीवे। तेण परं जे अन्ने जीवा उववज्जंति ते णं णो एगजीवा, अगेणजीवा।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५०६

[४. प्र.] भगवन् ! एक पत्र वाला उत्पल (कमल) एक जीव वाला है या अनेक जीव वाला ?

[४. उ.] गौतम ! एक पत्र वाला उत्पल एक जीव वाला है, अनेक जीव वाला नहीं। उसके उपरान्त जब उस उत्पल में दूसरे जीव (जीवाश्रित पत्र आदि अवयव) उत्पन्न होते हैं, तब वह एक जीव वाला नहीं रह कर अनेक जीव वाला बन जाता है।

विवेचन—उत्पल : एकजीवी या अनेकजीवी ?—प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र में बताया गया है कि उत्पल जब एक पत्ते वाला होता है तब उसकी वह अवस्था किसलय अवस्था से ऊपर की होती है। जब उसके एक पत्र से अधिक पत्ते उत्पन्न हो जाते हैं तब वह अनेक जीव वाला हो जाता है।[१]

५. ते णं भंते ! जीवा कतोहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो उववज्जंति, देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नो नेरतिएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति, देवेहिंतो वि उववज्जंति। एवं उववाओ भाणियव्वो जहा वक्कंतीए वणस्सतिकाइयाणं जाव ईसाणो त्ति। [दारं १]

[५. प्र.] भगवन् ! उत्पल में वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, या तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं, अथवा मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, या देवों में से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५. उ.] गौतम ! वे जीव नारकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, वे तिर्यञ्चयोनिकों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, मनुष्यों से भी और देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार वनस्पतिकायिक जीवों में यावत् ईशान-देवलोक तक के जीवों का उपपात होता है। [— प्रथम द्वार]

विवेचन—उत्पल जीवों की अपेक्षा से प्रथम उपपातद्वार—प्रस्तुत पंचम सूत्र में उत्पल जीवों की उत्पत्ति तीन गतियों से बताई गई है—तिर्यञ्च से, मनुष्य से और देव से। वे नरकगति से आकर उत्पन्न नहीं होते।[२]

२. परिमाणद्वार

६. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति। [दारं २]

[६. प्र.] भगवन् ! उत्पलपत्र में वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[६. उ.] गौतम ! वे जीव एक समय में जघन्यत: एक, दो या तीन और उत्कृष्टत: संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। [— द्वितीय द्वार]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५११-५१२

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५०७

विवेचन—उत्पल जीव की अपेक्षा से द्वितीय परिमाणद्वार—प्रस्तुत छठे सूत्र में बताया गया है कि जीव कम से कम एक समय में एक, दो या तीन, और अधिक से अधिक संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

३. अपहारद्वार

६. ते णं भंते ! जीवा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा केवतिकालेणं अवहीरंति ?

गोयमा ! ते णं असंखेज्जा समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहिं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया सिया। [दारं ३]

[७ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव एक-एक समय में एक-एक निकाले जाएँ तो कितने काल में पूरे निकाले जा सकते हैं।

[७. उ.] गौतम ! यदि वे असंख्यात जीव एक-एक समय में एक-एक निकाले जाएँ और उन्हें असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक निकाला जाय तो भी वे पूरे निकाले नहीं जा सकते। [— तृतीय द्वार]

विवेचन—उत्पल जीव की अपेक्षा से अपहारद्वार—प्रस्तुत सप्तम सूत्र में यह प्ररूपणा की गई है कि यदि उत्पल के असंख्यात जीव प्रतिसमय एक-एक के हिसाब से निकाले जाएँ और वे असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकालपर्यन्त निकाले जाते रहें तो भी पूरे नहीं निकाले जा सकते। तात्पर्य यह है कि असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में जितने समय हैं, उनसे भी अधिक संख्या उन जीवों की है।

४. उच्चत्वद्वार

८. तेसि णं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं। [दारं ४]

[८ प्र.] भगवन् ! उन (उत्पल के) जीवों की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है ?

[८ उ.] गौतम ! उन जीवों की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट कुछ अधिक एक हजार योजन होती है। [— चतुर्थ द्वार]

विवेचन—उत्पल जीवों की अवगाहना—अवगाहना का अर्थ है—ऊँचाई। उत्पलजीवों की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार योजन है। जो तथाविध समुद्र, गोतीर्थ आदि में उत्पन्न उत्पल की अपेक्षा से कही गई है।[१]

५ से ८ तक—ज्ञानावरणीयादि-बन्ध-वेद-उदय-उदीरणाद्वार

९. ते णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा, अबंधगा ?

गोयमा ! नो अबंधगा, बंधए वा बंधगा वा। एवं जाव अन्तराइयस्स। नवरं आउयस्स पुच्छा।

गोयमा ! बंधए वा १, अबंधए वा २, बंधगा वा ३, अबंधगा वा ४, अहवा बंधए य अबंधए य

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१२

५, अहवा बंधए य अबंधगा य ६, अहवा बंधगा य अबंधगे य ७, अहवा बंधगा य अबंधगा य ८, एते अट्ठ भंगा। [दारं ५]

[९. प्र.] भगवन् ! वे (उत्पल के) जीव ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धक हैं या अबन्धक हैं ?

[९. उ.] गौतम ! वे ज्ञानावरणीय कर्म के अबन्धक नहीं; किन्तु एक जीव बन्धक हैं अथवा अनेक जीव बन्धक हैं। इस प्रकार (आयुष्यकर्म को छोड़ कर) अन्तराय कर्म (के बन्धक-अबन्धक) तक समझ लेना चाहिये।

[प्र.] विशेषत: (वे जीव) आयुष्य कर्म के बन्धक हैं, या अबन्धक ?; यह प्रश्न है।

[उ.] गौतम ! (१) उत्पल का एक जीव बन्धक है, (२) अथवा एक जीव अबन्धक है, (३) अथवा अनेक जीव बन्धक हैं, (४) या अनेक जीव अबन्धक हैं, (५) अथवा एक जीव बन्धक है, और एक अबन्धक है, (६) अथवा एक जीव बन्धक और अनेक जीव अबन्धक हैं, (७) या अनेक जीव बन्धक हैं और एक जीव अबन्धक है एवं (८) अथवा अनेक जीव बन्धक हैं और अनेक जीव अबन्धक हैं। इस प्रकार ये आठ भंग होते हैं। [— पंचम द्वार]

१०. ते णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं वेदगा, अवेदगा ?

गोयमा ! नो अवेदगा, वेदए वा वेदगा वा। एवं जाव अंतराइयस्स।

[१०. प्र.] भगवन् ! वे (उत्पल के) जीव ज्ञानावरणीयकर्म के वेदक हैं या अवेदक हैं ?

[१०. उ.] गौतम ! वे जीव अवेदक नहीं, किन्तु या तो (एक जीव हो तो) एक जीव वेदक है और (अनेक जीव हों तो), अनेक जीव वेदक हैं। इसी प्रकार अन्तरायकर्म (के वेदक-अवेदक) तक जानना चाहिए।

११. ते णं भंते ! जीवा किं सातावेदगा, असातावेदगा ?

गोयमा ! सातावेदए वा, असातावेदए वा, अट्ठ भंगा। [दारं ६]

[११. प्र.] भगवन् ! वे (उत्पल के) जीव सातावेदक हैं, या असातावेदक हैं ?

[११. उ.] गौतम ! एक जीव सातावेदक है, अथवा एक जीव असातावेदक है, इत्यादि पूर्वोक्त आठ भंग जानने चाहिए। [— छठा द्वार]

१२. ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स किं उदई, अणुदई ?

गोयमा ! नो अणुदई, उदई वा उदइणो वा। एवं जाव अंतराइयस्स। [दारं ७]

[१२. प्र.] भगवन् ! वे जीव ज्ञानावरणीयकर्म के उदय वाले हैं या अनुदय वाले हैं ?

[१२. उ.] गौतम ! वे जीव अनुदय वाले नहीं हैं, किन्तु (एक जीव हो तो) एक जीव उदय वाला है, अथवा (अनेक जीव हों तो) वे (सभी) उदय वाले हैं। इसी प्रकार अन्तरायकर्म तक समझ लेना चाहिए।

[— सातवाँ द्वार]

१३. ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं उदीरगा, अणुदीरगा ?

गोयमा ! नो अणुदीरगा, उदीरए वा उदीरगा वा ? एवं जाव अंतराइयस्स। नवरं वेदणिज्जाउएसु अट्ठ भंगा। [दारं ८]

[११. प्र.] भगवन् ! वे जीव ज्ञानावरणीय कर्म के उदीरक हैं या अनुदीरक हैं ?

[११. उ.] गौतम ! वे अनुदीरक नहीं; किन्तु (यदि एक जीव हो तो) एक जीव उदीरक है, अथवा (यदि अनेक जीव हों तो) अनेक जीव उदीरक हैं। इसी प्रकार अन्तराय कर्म (के उदीरक-अनुदीरक) तक जानना चाहिए; परन्तु इतना विशेष है कि वेदनीय और आयुष्य कर्म (के उदीरक) में पूर्वोक्त आठ भंग कहने चाहिए।

[— आठवाँ द्वार]

विवेचन—उत्पलजीव के अष्टकर्म बन्धक-अबन्धक, वेदक-अवेदक, उदयी-अनुदयी, उदीरक-अनुदीरक सम्बन्धी विचार—प्रस्तुत ५ सूत्रों (९ से १३ तक) में उत्पलजीवों के ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्म के बन्धक-अबन्धक, वेदक-अवेदक, उदयी-अनुदयी एवं उदीरक-अनुदीरक होने के सम्बन्ध में भगवान् का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञानावरणीयादि कर्मों के बंध आदि क्यों और कैसे ?—जैनेतर दार्शनिक या अन्य यूथिक प्रायः यह समझते हैं कि उत्पल (कमल) का जीव एकेन्द्रिय होने से उसमें संज्ञा (समझने-सोचने की बुद्धि) नहीं होती, द्रव्यमन न होने से वह कोई विचार नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वह ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध, वेदन, उदय या उदीरणा कैसे कर सकता है ? इसी हेतु से प्रेरित होकर पहले से आठवें उद्देशक तक श्री गौतमस्वामी ने ये बंधादिविषयक प्रश्न उठाए हों और भगवान् ने इनका अनेकान्तदृष्टि से उत्तर दिया हो, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उत्तरों से ध्वनित होता है कि एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीवों में अन्तश्चेतना (भावसंज्ञा) तथा भावमन होता है, जिसके कारण वे चाहे विकसित चेतना वाले न हों, परन्तु मिथ्यात्वदशा में होने से विपरीतदिशा में सोचकर भी ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध कर लेते हैं। वे कर्मों को वेदते भी हैं, उदय वाले भी होते हैं और उदीरणा भी विपरीत दिशा में कर लेते हैं।

एक-अनेक जीव बंधक आदि कैसे ?—उत्पल के प्रारम्भ में जब उसके एक ही पत्ता होता है, तब एक जीव होने से एक जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्धक होता है, परन्तु जब उसके अनेक पत्ते होते हैं तो उसमें अनेक जीव होने से अनेक जीव बन्धक होते हैं। आयुष्यकर्म तो पूरे जीवन में एक बार ही बंधता है, उस बंध-काल के अतिरिक्त जीव आयुष्यकर्म का अबन्धक होता है। इसलिए आयुष्यकर्म के बन्धक और अबन्धक की अपेक्षा से आठ भंग होते हैं, जिनमें चार असंयोगी और चार द्विकसंयोगी होते हैं।[१]

वेदक एवं उदीरक भंग—वेदकद्वार में एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से दो भंग होते हैं, परन्तु सातावेदनीय और असातावेदनीय की अपेक्षा से पूर्वोक्त आठ भंग होते हैं। उदीरणाद्वार में छह कर्मों में प्रत्येक में दो-दो भंग होते हैं, किन्तु वेदनीय और आयुष्य कर्म के पूर्वोक्त आठ भंग होते हैं।[२]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१२

२. वही अ, वृत्ति पत्र ५१२

९. लेश्याद्वार

१४ ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा तेउलेस्सा ?

गोयमा ! कण्हलेस्से वा जाव तेउलेस्से वा, कण्हलेस्सा वा नीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा, अहवा कण्हलेस्से य नीललेस्से य, एवं एए दुयासंजोग-तियासंजोग—चउक्कसंजोगेण य असीतिं भंगा भवंति। [दारं ९]

[१४ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव, कृष्णलेश्या वाले होते हैं, नीललेश्या वाले होते हैं, या कापोतलेश्या वाले होते हैं, अथवा तेजोलेश्या वाले होते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! एक जीव कृष्णलेश्या वाला होता है, यावत् एक जीव तेजोलेश्या वाला होता है। अथवा अनेक जीव कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले, कापोतलेश्या वाले अथवा तेजोलेश्या वाले होते हैं। अथवा एक कृष्णलेश्या वाला और एक नीललेश्या वाला होता है। इस प्रकार ये द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी और चतु:संयोगी सब मिलाकर ८० भंग होते हैं। [— नौवाँ द्वार]

विवेचन—उत्पल जीवों में लेश्याएँ—उत्पल वनस्पतिकायिक होने से उसमें पहले से पाई जाने वाली चार लेश्याओं (कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या) के विविध ८० भंगों की प्ररूपणा प्रस्तुत १४वें सूत्र में की गई है।

लेश्याओं के भंगजाल का नक्शा

असंयोगी ८ भंग

१.	एक कृष्ण.	५.	एक कापोत.
२.	अनेक कृष्ण.	६.	अनेक कापोत.
३.	एक नील.	७.	एक तेजो.
४.	अनेक नील.	८.	अनेक तेजो.

द्विकसंयोगी २४ भंग

१.	एक कृष्ण, एक नील.	१३.	ए. नील, एक कापो.
२.	ए. कृ., अनेक नील.	१४.	ए. नील, अ. कापो.
३.	अनेक कृ., ए. नी.	१५.	अ. नील, ए. कापो.
४.	अ. कृ., अ. नी.	१६.	अ. नील, अ. कापो.
५.	एक.कृ., ए. कापो.	१७.	ए. नी., ए. तेजो.
६.	ए. कृ., अने. कापो.	१८.	ए. नी., अ. तेजो.
७.	अ. कृ., ए. कापो.	१९.	अ. नी., ए. तेजो.
८.	ए. कृष्ण., ए. कापो.	२०.	अ. नी., अ. तेजो.
९.	ए. कृष्ण., ए. तेजो.	२१.	ए. का., ए. तेजो
१०.	ए. कृ., अ. तेजो.	२२.	ए. का., अ. तेजो.
११.	अ. कृ., ए. तेजो	२३.	अ. का., एक तेजो.
१२.	अ. कृ., अ. तेजो.	२४.	अ. का., अ. तेजो.

त्रिकसंयोगी ३२ भंग

१.	ए. कृ., ए. नी., ए. का.	१७.	ए. कृ., ए. का., ए. ते.
२.	ए. कृ., ए. नी., अ. का.	१८.	ए. कृ., ए. का., अ. ते.
३.	ए. कृ., अ. नी., ए. का.	१९.	ए. कृ., अ. का., अ. ते.
४.	ए. कृ., अ. नी., अ. का.	२०.	ए. कृ., अ. का., अ. ते.
५.	अ. कृ., ए. नी., ए. का.	२१.	अ. कृ., ए. का., ए. ते.
६.	अ. कृ., ए. नी., अ. का.	२२.	अ. कृ., ए. का., अ. ते.
७.	अ. कृ., अ. नी. ए. का.	२३.	अ. कृ., अ. का., ए. ते.
८.	अ. कृ., अ. नी., अ. का.	२४.	अ. कृ., अ. का., अ. ते.
९.	ए. कृ., ए. नी., ए. ते.	२५.	ए. नी., ए. का., ए. ते.
१०.	ए. कृ., ए. नी., अ. ते.	२६.	ए. नी., ए. का., अ. ते.
११.	ए. कृ., अ. नी., ए. ते.	२७.	ए. नी., अ. का., ए. ते.
१२.	ए. कृ., अ. नी., अ. ते.	२८.	ए. नी., अ. का., अ. ते.
१३.	अ. कृ., ए. नी., ए. ते.	२९.	अ. नी., ए. का., ए. ते.
१४.	अ. कृ., ए. नी., अ. ते.	३०.	अ. नी., ए. का., अ. ते.
१५.	अ. कृ., अ. नी., अ. ते.	३१.	अ. नील., अ. का., ए. ते.
१६.	अ. कृ., अ. नी., ए. ते.	३२.	अ. नी., अ. का., अ. ते.

चतुःसंयोगी १६ भंग

१.	ए. कृ., ए. नी., ए. का., ए. ते.	९.	अ. कृ., ए. नी., ए. का., ए. तेजो.
२.	ए. कृ., ए. नी., ए. का., अ. ते.	१०.	अ. कृ., ए. नी., ए. का., अ. ते.
३.	ए. कृ., ए. नी., अ. का., ए. ते.	११.	अ. कृ., ए. नी., अ. का., ए. ते.
४.	ए. कृ., ए. नी., अ. का., अ. ते.	१२.	अ. कृ., ए. नी., अ. का., अ. ते.
५.	ए. कृ., अ. नी., ए. का., ए. ते.	१३.	अ. कृ., अ. नी., ए. का., ए. ते.
६.	ए. कृ., अ. नी., ए. का., अ. ते.	१४.	अ. कृ., अ. नी., ए. का., अ. ते.
७.	ए. कृ., अ. नी., अ. का., ए. ते.	१५.	अ. कृ., अ. नी., अ. का., ए. ते.
८.	ए. कृ., अ. नी., अ. का., अ. ते.	१६.	अ. कृ., अ. नी., अ. का., अ. ते.

इस प्रकार असंयोगी ८, द्विकसंयोगी २४, त्रिकसंयोगी ३२ और चतु:संयोगी १६ भंग, मिला कर कुल ८० भंग होते हैं।[1]

१० से १३—दृष्टि-ज्ञान-योग-उपयोग-द्वार

१५. ते णं भंते ! जीवा किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ?

गोयमा ! नो सम्मद्दिट्ठी, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी वा मिच्छादिट्ठिणो वा। [दारं १०]

[१५ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अथवा सम्यग्-मिथ्यादृष्टि हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! वे सम्यग्दृष्टि नहीं, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि भी नहीं, वह मात्र मिथ्यादृष्टि है, अथवा वे अनेक भी मिथ्यादृष्टि हैं। [—दशम द्वार]

१६. ते णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी वा अन्नाणिणो वा। [दारं ११]

[१६ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव ज्ञानी हैं, अथवा अज्ञानी हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी नहीं हैं, किन्तु वह एक अज्ञानी है अथवा वे अनेक भी अज्ञानी हैं।

[— ग्यारहवाँ द्वार]

१७. ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?

गोयमा ! नो मणजोगी, णो वइजोगी, कायजोगी वा कायजोगिणो वा। [दारं १२]

[१७ प्र.] भगवन् ! वे जीव मनोयोगी हैं, वचनयोगी हैं, अथवा काययोगी हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! वे मनोयोगी नहीं हैं, वचनयोगी हैं, किन्तु वह एक हो तो काययोगी है और अनेक हों तो भी काययोगी हैं। [— बारहवाँ द्वार]

१८ ते णं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ते वा अणागारोवउत्ते वा, अट्ठ भंगा। [दारं १३]

[१८ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव साकारोपयोगी हैं, अथवा अनाकारोपयोगी हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! वे साकारोपयोगी भी होते हैं और अनाकारोपयोगी भी होते हैं। इसके पूर्ववत् आठ भंग कहने चाहिए। [— तेरहवाँ द्वार]

विवेचन—उत्पलजीवों में दृष्टि, ज्ञान, योग एवं उपयोग की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (१५ से १८ तक) में उत्पलजीवों में दृष्टि आदि की प्ररूपणा की गई है।

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १८५२-१८५४

उत्पल-जीव एकान्त मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होते हैं, एकेन्द्रिय होने से उनके मन और वचन नहीं होते, इसलिए काययोग ही होता है। साकारोपयोग और अनाकारोपयोग—५ ज्ञान और ३ अज्ञान को साकारोपयोग तथा चार दर्शन को अनाकारोपयोग कहते हैं। ये दोनों सामान्यतया उत्पलजीवों में होते हैं।[1]

१४-१५-१६—वर्णरसादि-उच्छ्वासकं-आहारक द्वार

१९. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा कतिवण्णा कतिरसा कतिगंधा कतिफासा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचवण्णा, पंचरसा, दुगंधा,. अट्ठफासा पन्नत्ता। ते पुण अप्पणा अवण्णा अगंधा अरसा अफासा पन्नत्ता। [दारं १४]

[१९ प्र.] भगवन् ! उन (उत्पल के) जीवों का शरीर कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श वाला है ?

[१९ उ.] गौतम ! उनका (शरीर) पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाला है। जीव स्वयं वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-रहित है। [— चौदहवाँ द्वार]

२०. ते णं भंते ! जीवा किं उस्सासा, निस्सासा, नोउस्सासनिस्सासा ?

गोयमा ! उस्सासए वा १, निस्सासए वा २, नोउस्सासनिस्सासए वा ३, उस्सासगा वा ४, निस्सासगा वा ५, नोउस्सासनिस्सासगा वा ६, अहवा उस्सासए य निस्सासए य ४ (७-१०), अहवा उस्सासए य नोउस्सासनिस्सासए य ४ (११ से १४), अहवा निस्सासए य नोउस्सासनीसासए य ४ (१५-१८), अहवा उस्सासए य नीसासए य नोउस्सासनिस्सासए य-अट्ठ भंगा (१९-२६) एए छव्वीसं भंगा भवंति। [दारं १५]

[२० प्र.] भगवन् ! वे (उत्पल के) जीव उच्छ्वासक हैं, निश्वासक हैं, या उच्छ्वासक-निःश्वासक हैं ?

[२० उ.] गौतम ! (उनमें से) (१) कोई एक जीव उच्छ्वासक है, या (२) कोई एक जीव निःश्वासक है, अथवा (३) कोई एक जीव अनुच्छ्वासक—निःश्वासक है, या (४) अनेक जीव उच्छ्वासक हैं, (५) या अनेक जीव निःश्वासक हैं, अथवा (६) अनेक जीव अनुच्छ्वासक-निःश्वासक हैं, (७-१०) अथवा एक उच्छ्वासक है और एक निःश्वासक है; इत्यादि। (११-१४) अथवा एक उच्छ्वासक और एक अनुच्छ्वासक-निःश्वासक है; इत्यादि। (१५-१८) अथवा एक निःश्वासक और एक अनुच्छ्वासक-निःश्वासक है, इत्यादि। (१९-२६) अथवा एक उच्छ्वासक, एक निःश्वासक और एक अनुच्छ्वासक-निःश्वासक है इत्यादि आठ भंग होते हैं। ये सब मिलकर २६ भंग होते हैं। [— पन्द्रहवाँ द्वार]

२१. ते णं भंते ! जीवा किं आहारगा, अणाहारगा ?

गोयमा ![2] आहारए वा अणाहारए वा, एवं अट्ठ भंगा। [दारं १६]

[२१ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव आहारक हैं या अनाहारक हैं ?

---

१. भगवती. विवेचन भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १८५४

२. अधिक पाठ—"**नो अणाहारगा**"

[२१ उ.] गौतम ! (वे सब अनाहारक नहीं;) कोई एक जीव आहारक है अथवा कोई एक जीव अनाहारक है, इत्यादि ८ भंग कहने चाहिए। [—सोलहवाँ द्वार]

विवेचन—उत्पलजीवों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—उत्पल के शरीर वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं; किन्तु उनका आत्मा (जीव) वर्णादि से रहित है। क्योंकि वह अमूर्त है।

उच्छ्वास-निःश्वास—पर्याप्त अवस्था में सभी जीवों के उच्छ्वास और निःश्वास होते हैं, परन्तु अपर्याप्त अवस्था में जीव अनुच्छ्वासक-निःश्वासक होता है। अतः उच्छ्वासक-निःश्वासक द्वार के २६ भंग होते हैं।

असंयोगी ६ भंग

१.	एक उच्छ्वासक	४.	बहुत उच्छ्वासक
२.	एक निःश्वासक	५.	बहुत निःश्वासक
३.	एक अनुच्छ्वासक-निःश्वासक	६.	बहुत अनुच्छ्वासक-निःश्वासक

द्विकसंयागी १२ भंग

१.	ए. उ., ए. नि.	७.	ब. उ., ए. नोउ.
२.	ए. उ., ब. नि.	८.	ब. उ., ब. नोउ.
३.	ब. उ., ए. नि.	९.	ए. नि., ए. नोउ.
४.	ब. उ., ब. नि.	१०.	ए. नि., ब. नोउ.
५.	ए. उ., ए. नोउ.	११.	ब. नि., ए. नोउ.
६.	ए. उ., ब. नोउ.	१२.	ब. नि., ब नोउ.

त्रिकसंयोगी ८ भंग

१.	ए. उ., ए. नि., ए. नोउच्छ्वासक निःश्वासक	५.	ब. उ., ए. नि., ए. नोउ.
२.	ए. उ., ए. नि., ब. नोउ.	६.	ब. उ., ए. नि., ब. नोउ.
३.	ए. उ., ब. नि., ए. नोउ.	७.	ब. उ., ब. नि., ए. नोउ.
४.	ए. उ., ब. नि., ब. नोउ.	८.	ब. उ., ब. नि., ब. नोउ.

आहारक-अनाहारक—विग्रहगति में जीव अनाहारक होता है, शेष समय में आहारक। इसलिए आहारक-अनाहारक के ८ भंग कहे गये हैं। वे पूर्ववत् समझ लेने चाहिए।[१]

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ५१२-५१३

(ख) भगवती. विवेचन (प. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १८५६

१७-१८-१९—विरतिद्वार, क्रियाद्वार और बन्धकद्वार

२२. ते णं भंते ! जीवा किं विरया, अविरया, विरयाविरया ?

गोयमा ! नो विरया, नो विरयाविरया, अविरए वा अविरता वा। [दारं १७]

[२२ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल-जीव विरत (सर्वविरत) हैं, अविरत हैं या विरताविरत हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! वे उत्पल-जीव न तो सर्वविरत हैं और न विरताविरत हैं, किन्तु एक जीव अविरत है अथवा अनेक जीव भी अविरत हैं। [— सत्रहवाँ द्वार]

२३. ते णं भंते ! जीवा किं सकिरिया, अकिरिया ?

गोयमा ! नो अकिरिया, सकिरिए वा सकिरिया वा। [दारं १८]

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या वे उत्पल के जीव सक्रिय हैं या अक्रिय हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! वे अक्रिय नहीं हैं, किन्तु एक जीव भी सक्रिय है और अनेक जीव भी सक्रिय हैं। [— अठारहवाँ द्वार]

२४. ते णं भंते ! जीवा किं सत्तविहबंधगा, अट्ठविहबंधगा ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा, अट्ठ भंगा। [दारं १९]

[२४ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव सप्तविध (सात कर्मों के) बन्धक हैं या अष्टविध (आठों ही कर्मों के) बन्धक हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! वे जीव सप्तविधबन्धक हैं या अष्टविधबन्धक हैं। यहाँ पूर्वोक्त आठ भंग कहने चाहिए। [— उन्नीसवाँ द्वार]

विवेचन—विरत, अविरत, विरताविरत—विरत का अर्थ यहाँ हिंसादि ५ आश्रवों से सर्वथा विरत है। अविरत का अर्थ है—जो सर्वथा विरत न हो और विरताविरत का अर्थ है—जो हिंसादि ५ आश्रवों से कुछ अंशों में विरत हो, शेष अंशों में अविरत हो, इसे देशविरत भी कहते हैं। उत्पल के जीव सर्वथा अविरत होते हैं। वे चाहे बाहर से हिंसादि सेवन करते हुए दिखाई न देते हों, किन्तु वे हिंसादि का त्याग मन से, स्वेच्छा से, स्वरूप समझबूझ कर नहीं कर पाते, इसलिए अविरत हैं।

सक्रिय या अक्रिय ?—मुक्त जीव अक्रिय हो सकते हैं। सभी संसारी जीव सक्रिय—क्रियायुक्त होते हैं।

बन्ध : अष्टविध एवं सप्तविध का तात्पर्य—आयुष्यकर्म का बन्ध जीवन में एक ही बार होता है, इसलिए जब आयुष्यकर्म का बन्ध नहीं करता, तब सप्तविधबन्ध करता है, जब आयुकर्म का भी बन्ध करता है, तब अष्टविध बन्ध करता है। इसी दृष्टि से इसके ८ भंग पूर्ववत् होते हैं।[१]

२०-२१—संज्ञाद्वार और कषायद्वार

२५. ते णं भंते ! जीवा किं आहारसण्णोवउत्ता, भयसण्णोवउत्ता, मेहुणसन्नोवउत्ता, परिग्गह-

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५१०

सन्नोवउत्ता ?

गोयमा ! आहारसण्णोवउत्ता वा, असीती भंगा। [दारं २०]

[२५ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव आहारसंज्ञा के उपयोग वाले हैं, या भयसंज्ञा के उपयोग वाले हैं, अथवा मैथुनसंज्ञा के उपयोग वाले हैं या परिग्रहसंज्ञा के उपयोग वाले हैं ?

[२५ उ.] गौतम ! वे आहारसंज्ञा के उपयोग वाले हैं, इत्यादि (लेश्याद्वार के समान) अस्सी भंग कहना चाहिए। [—२० वाँ द्वार]

२६. ते णं भंते ! जीवा किं कोहकसायी, माणकसायी, मायाकसायी, लोभकसायी ?

गोयमा ! असीती भंगा। [दारं २१]

[२६ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव क्रोधकषायी हैं, मानकषायी हैं, मायाकषायी हैं अथवा लोभकषायी हैं ?

[२६ उ.] गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त ८० भंग कहना चाहिए। [—२१ वाँ द्वार]

विवेचन—संज्ञाद्वार और कषायद्वार—उत्पलजीवों में चार संज्ञाओं और चार कषायों के लेश्याद्वार के समान ८० भंग होते हैं।

२२ से २५—स्त्रीवेदादि-वेदक-बन्धक-संज्ञी-इन्द्रिय-द्वार

२७. ते णं भंते ! जीवा किं इत्थिवेदगा, पुरिसवेदगा, नपुंसगवेदगा ?

गोयमा ! नो इत्थिवेदगा, नो पुरिसवेदगा, नपुंसकवेदए वा नुपंसकवेदगा वा। [दारं २२]

[२७ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव स्त्रीवेदी हैं, पुरुषवेदी हैं या नपुंसकवेदी हैं ?

[२७ उ.] गौतम ! वे स्त्रीवेद वाले नहीं, पुरुषवेद वाले भी नहीं, परन्तु एक जीव भी नपुंसकवेदी है और अनेक जीव भी नपुंसकवेदी हैं।

२८. ते णं भंते ! जीवा किं इत्थिवेदबंधगा, पुरिसवेदबंधगा, नपुंसगवेदबंधगा ?

गोयमा ! इत्थिवेदबंधए वा पुरिसवेदबंधए वा नपुंसगवेदबंधए वा, छव्वीसं भंगा। [दारं २३]

[२८ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव स्त्रीवेद के बन्धक हैं, पुरुषवेद के बन्धक हैं या नपुंसकवेद के बन्धक हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! वे स्त्रीवेद के बन्धक हैं, या पुरुषवेद के बन्धक हैं अथवा नपुसंकवेद के बन्धक हैं। यहाँ उच्छ्वासद्वार के समान २६ भंग कहने चाहिये। [—२२ वाँ, २३ वाँ द्वार]

२९. ते णं भंते ! जीवा किं सण्णी, असण्णी ?

गोयमा ! नो सण्णी, असण्णी वा असण्णिणो वा। [दारं २४]

[२९ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव संज्ञी हैं या असंज्ञी ?

[२९ उ.] गौतम ! वे संज्ञी नहीं, किन्तु एक जीव भी असंज्ञी है और अनेक जीव भी असंज्ञी हैं।

३०. ते णं भंते ! जीवा किं सइंदिया, अणिंदिया ?

गोयमा ! नो अणिंदिया, सइंदिए वा सइंदिया वा। [दारं २५]

[३० प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव सेन्द्रिय हैं या अनिन्द्रिय ?

[३० उ.] गौतम ! वे अनिन्द्रिय नहीं, किन्तु एक जीव सेन्द्रिय है और अनेक जीव भी सेन्द्रिय हैं।

[— २४ वाँ, २५ वाँ द्वार]

विवेचन—उत्पल जीवों के वेद, वेदबन्धन, संज्ञी और इन्द्रिय की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (२७ से ३० तक) में इन चार द्वारों द्वारा उत्पल जीवों के नपुंसकवेदक, त्रिवेदबन्धक, असंज्ञी एवं सेन्द्रिय होने की प्ररूपणा की गई है।

२६-२७—अनुबन्ध-संवेध-द्वार

३१. से णं भंते ! 'उप्पलजीवे' त्ति कालओ केवचिरं होती ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। [दारं २६]

[३१ प्र.] भगवन् ! वह उत्पल का जीव उत्पल के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[३१ उ.] गौतम ! वह जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल तक रहता है।

[—– छव्वीसवाँ द्वार]

३२. से णं भंते ! उप्पलजीवे 'पुढविजीवे' पुणरवि 'उप्पलजीवे' त्ति केवतियं कालं से हवेज्जा ? केवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा।

गोयमा ! भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। एवतियं कालं से हवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा।

[३२ प्र.] भगवन् ! वह उत्पल का जीव, पृथ्वीकाय में जाए और पुनः उत्पल का जीव बने, इस प्रकार उसका कितना काल व्यतीत हो जाता है ? कितने काल तक गमनागमन (गति-आगति) करता रहता है ?

[३२ उ.] गौतम ! वह उत्पलजीव भवादेश (भव की अपेक्षा) से जघन्य दो भव (ग्रहण) करता है और उत्कृष्ट असंख्यात भव (ग्रहण) करता है (अर्थात्—उतने काल तक गमनागमन करता है।) कालादेश से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक (गमनागमन करता है।) (अर्थात्—इतने काल तक) वह रहता है, इतने काल तक गति-आगति करता है।

३३. से णं भंते! उप्पलजीवे आउजीवे ० ?

एवं चेव।

[३३ प्र.] भगवन् ! वह उत्पल का जीव, अप्काय के रूप में उत्पन्न होकर पुनः उत्पल में आए तो इसमें कितना काल व्यतीत हो जाता है ? कितने काल तक गमनागमन करता है ?

[३३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पृथ्वीकाय के विषय में कहा, उसी प्रकार भवादेश से और कालादेश से अप्काय के विषय में कहना चाहिए।

३४. एवं जहा पुढविजीवे भणिए तहा जाव वाउजीवे भाणियव्वे ।

[३४] इसी प्रकार जैसे—(उत्पलजीव के) पृथ्वीकाय में गमनागमन के विषय में कहा, उसी प्रकार वायुकाय जीव तक के विषय में कहना चाहिए।

३५. से णं भंते ! उप्पलजीवे से वणस्सइजीवे, से वणस्सइजीवे पुणरवि उप्पलजीवे त्ति केवतियं कालं से हवेज्जा, केवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अणंताइं भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं अणंतं कालं—तरुकालो, एवतियं कालं से हवेज्जा, एवइयं कालं गइरागइं करेज्जा।

[३५ प्र.] भगवन् ! वह उत्पल का जीव, वनस्पति के जीव में जाए और वह (वनस्पति जीव) पुनः उत्पल के जीव में आए, इस प्रकार वह कितने काल तक रहता है ? कितने काल तक गमनागमन करता है ?

[३५ उ.] गौतम ! भवादेश से वह (उत्पल का जीव) जघन्य दो भव (ग्रहण) करता है और उत्कृष्ट अनन्त भव (-ग्रहण) करता है। कालादेश से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त तक, उत्कृष्ट अनन्तकाल (तरुकाल) तक रहता है। (अर्थात्—) इतने काल तक वह उसी में रहता है, इतने काल तक वह गति-आगति करता रहता है।

३६. से णं भंते ! उप्पलजीवे बेइंदियजीवे, बेइंदियजीवे पुणरवि उप्पलजीवे त्ति केवतियं कालं से हवेज्जा ? केवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा ?

गोयमा ! भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। एवतियं कालं से हवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा।

[३६ प्र.] भगवन् ! वह उत्पल का जीव, द्वीन्द्रियजीव पर्याय में जा कर पुनः उत्पलजीव में आए (उत्पन्न हो), तो इसमें उसका कितना काल व्यतीत होता है ? कितने काल तक गमनागमन करता है ?

[३६ उ.] गौतम ! वह जीव भवादेश से जघन्य दो भव (-ग्रहण) करता है, उत्कृष्ट संख्यात भव (-ग्रहण) करता है। कालादेश से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट संख्यात काल व्यतीत हो जाता है। (अर्थात्—) इतने काल तक वह उसमें रहता है। इतने काल तक वह गति-आगति करता है।

३७. एवं तेइंदियजीवे, एवं चउरिंदियजीवे वि।

[३७] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव के विषय में भी जानना चाहिए।

३८. से णं भंते ! उप्पलजीवे पंचेंदियतिरिक्खजोणियजीवे, पंचिंदियतिरिक्खजोणियजीवे पुणरवि

उप्पलजीवे त्ति० पुच्छा० ?

गोयमा ! भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालाएसेणं जहन्नेण दो अन्तोमुहुत्ता, उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहत्तं। एवतियं कालं से हवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा।

[३८ प्र.] भगवन् ! उत्पल का वह जीव पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकजीव में जाकर पुन: उत्पल के जीव में आए तो इसमें उसका कितना काल व्यतीत होता है ? वह कितने काल तक गमनागमन करता है ?

[३८ उ.] गौतम ! भवादेश से जघन्य दो भव (-ग्रहण) करता है और उत्कृष्ट आठ भव (चार तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के और चार भव उत्पल के ग्रहण) करता है। कालादेश से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व काल तक रहता है। इतना काल वह उसमें व्यतीत करता है। इतने काल तक गति-आगति करता है।

३९. एवं मणुस्सेण वि समं जाव एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? [दारं २७]

[३९] इसी प्रकार मनुष्ययोनि के विषय में भी जानना चाहिए, यावत् इतने काल उत्पल का वह जीव गमनागमन करता है। [—सत्ताईसवाँ द्वार]

विवेचन—उत्पलजीव का अनुबन्ध और कायसंवेध—प्रस्तुत ९ सूत्रों (३१ से ३९ तक) में उत्पलजीव के अनुबन्ध और संवेध के सम्बन्ध में प्ररूपणा की गई है।

अनुबन्ध और कायसंवेध—उत्पल का जीव उत्पल के रूप में उत्पन्न होता रहे, उसे अनुबन्ध कहते हैं और उत्पल का जीव पृथ्वीकायादि दूसरे कायों में उत्पन्न होकर पुन: उत्पल रूप में उत्पन्न हो, इसे कायसंवेध कहते हैं। प्रस्तुत ८ सूत्रों (३२ से ३९ तक) में उत्पलजीव के संवेध का निरूपण दो प्रकार से भवादेश और कालादेश की अपेक्षा से किया गया है। अर्थात् उत्पल का जीव भव की अपेक्षा से कितने भव ग्रहण करता है और काल की अपेक्षा से कितने काल तक गमनागमन करता है, इसकी प्ररूपणा की गई है।[१]

२८ से ३१—आहार-स्थिति-समुद्घात-उद्वर्तना-द्वार

४०. ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणंतपदेसियाइं दव्वाइं०, एवं जहा आहारुद्देसए[२] वणस्सतिकाइयाणं आहारो तहेव जाव सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति, नवरं नियमं छद्दिसिं, सेसं तं चेव। [दारं २८]

[४० प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव किस पदार्थ का आहार करते हैं ?

[४० उ.] गौतम ! वे जीव द्रव्यत: अनन्तप्रदेशी द्रव्यों का आहार करते हैं इत्यादि, जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाईसवें पद के आहार-उद्देशक में वनस्पतिकायिक जीवों के आहार के विषय में कहा है कि वे सर्वात्मना (सर्वप्रदेशों से) आहार करते हैं, यहाँ तक सब कहना चाहिये। विशेष यह है कि वे नियमत: छह दिशा

---

१. भगवती. विवेचन भा. (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १८६३

२. देखिये प्रज्ञापनासूत्र भा. १, पद २०, उ. १, पृ. ३९५, सूत्र १८१३ (महावीर जैन विद्यालय)

से आहार करते हैं। शेष सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। [—अट्ठाईसवाँ द्वार]

४१. तेसि णं भंते ! जीवाणं केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं। [दारं २९]

[४१ प्र.] भगवन् ! उन उत्पल के जीवों की स्थिति कितने काल की है ?

[४१ उ.] गौतम ! इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की है।

[—उनतीसवाँ द्वार]

४२. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! तओ समुग्घाया[१] पन्नत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाएमारणंतिय समुग्घाए। [दारं ३०]

[४२ प्र.] भगवन् ! उन (उत्पल के) जीवों में कितने समुद्घात कहे गये हैं ?

[४२ उ.] गौतम ! उनमें तीन समुद्घात कहे गये हैं, यथा—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात और मारणान्तिकसमुद्घात।

४३. ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति, असमोहया मरंति ?

गोयमा ! समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति।

[४३ प्र.] भगवन् ! वे जीव मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा समवहत होकर मरते हैं या असमवहत होकर ?

[४३ उ.] गौतम ! (वे उत्पल के जीव मारणान्तिकसमुद्घात द्वारा) समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत होकर भी मरते हैं।

४४. ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ?, कहिं उववज्जंति ?, किं नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति० ?

एवं जहा वक्कंतीए[२] उव्वट्टणाए वणस्सइकाइयाणं तहा भाणियव्वं। [दारं ३१]

[४४ प्र.] भगवन् ! वे उत्पल के जीव मर (उद्वर्तित हो) कर तुरन्त कहाँ जाते हैं ? कहाँ उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं ? अथवा तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होते हैं ? अथवा मनुष्यों में या देवों में उत्पन्न होते हैं ?

[४४ उ.] गौतम ! (उत्पल के जीवों की अनन्तर उत्पत्ति के विषय में) प्रज्ञापना सूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिक पद के उद्वर्त्तना-प्रकरण में वनस्पतिकायिकों के वर्णन के अनुसार कहना चाहिए।

[—तीसवाँ इकतीसवाँ द्वार]

---

१. समुद्घात के लिए देखें—प्रज्ञापना. पद ३६, पत्र ५५८

२. देखिये—प्रज्ञापनासूत्र वृत्ति पद ६, पत्र २०४

विवेचन—उत्पलजीवों के आहार, स्थिति, समुद्घात और उद्वर्त्तन विषयक प्ररूपणा—प्रस्तुत ५ सूत्रों (४० से ४४ तक) में उत्पलजीवों के आहारादि के विषय में प्ररूपणा की गई है।

नियमत: छह दिशा से आहार क्यों ?—पृथ्वीकायिक आदि जीव सूक्ष्म होने से निष्कुटों (लोक के अन्तिम कोणों) में उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिए वे कदाचित् तीन, चार या पांच दिशाओं से आहार लेते हैं तथा निर्व्याघात की अपेक्षा से छहों दिशाओं से आहार लेते हैं। किन्तु उत्पल के जीव बादर होने से वे निष्कुटों में उत्पन्न नहीं होते, इसलिए वे नियमत: छहों दिशाओं से आहार करते हैं।[१]

अनन्तर उद्वर्तन कहाँ और क्यों—उत्पल के जीव वहाँ से मर कर तुरन्त मनुष्यगति या तिर्यञ्चगति में जन्म लेते हैं, देवगति या नरकगति में उत्पन्न नहीं होते।[२]

४५. अह भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया सव्वजीवा सव्वसत्ता उप्पलमूलत्ताए उप्पलकंदत्ताए उप्पलनालत्ताए उप्पलपत्तत्ताए उप्पलकेसरत्ताए उप्पलकण्णियत्ताए उप्पलथिभुगत्ताए उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो। [दारं ३२]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए पढमो उप्पलुद्देसओ समत्तो ॥ ११.१ ॥

[४५ प्र.] भगवन् ! अब प्रश्न यह है कि सभी प्राण, सभी भूत, समस्त जीव और समस्त सत्त्व; क्या उत्पल के मूलरूप में, उत्पल के कन्दरूप में, उत्पल के नालरूप में, उत्पल के पत्ररूप में, उत्पल के केसररूप में, उत्पल की कर्णिका के रूप में या उत्पल के थिभुग के रूप में इससे (उत्पलपत्र में उत्पन्न होने से) पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[४५ उ.] हाँ, गौतम ! (सभी प्राण, भूत, जीव और सत्व, इससे पूर्व) अनेक बार अथवा अनन्तबार (पूर्वोक्तरूप से उत्पन्न हुए हैं।) [—बत्तीसवाँ द्वार]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! यह इसी प्रकार है !' यों कहकर गौतमस्वामी, यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—समस्त संसारी जीवों का उत्पल के मूलादि में जन्म—प्रस्तुत सूत्र ४५ में बताया गया है कि कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है, जो वर्तमान में जिस गति-योनि में है, उसमें या उससे भिन्न ८४ लाख जीवयोनियों में इससे पूर्व अनेक या अनन्त बार उत्पन्न न हुआ हो। इसी दृष्टि से भगवन् ने कहा कि समस्त जीव उत्पल के मूल, कन्द, नाल आदि के रूप में अनेक या अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं; इसी जन्म में वे उत्पन्न हुए

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१३

२. वही, पत्र ५१३

हों ऐसी बात नहीं है।'[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—उववन्नपुव्वा—उत्पन्नपूर्व-पहले उत्पन्न हुए। **कण्णियत्ताए—**कर्णिका-बीजकोश के रूप में। **थिभुगत्ताए या थिभगत्ताए—**थिभुग वे हैं जिनमें से पत्ते निकलते हैं, पत्तों का उत्पत्तिस्थान।[२]

॥ एकादश शतक : उद्देशक प्रथम समाप्त॥

OOO

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १८

२. (क) वही, भा. ४, पृ. १८६४

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१३

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

सालु : शालूक (के जीव-सम्बन्धी)

१. सालुए णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे अणेगजीवे ?

गोयमा ! एगजीवे, एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अणंतखुत्तो। नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं धणुपुहत्तं। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति०।

॥ एक्कारसमे सए बीओ उद्देसो समत्तो ॥ ११.२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या एक पत्ते वाला शालूक (उत्पल-कन्द) एक जीव वाला है या अनेक जीव वाला है ?

[१ उ.] गौतम ! वह (एक पत्र वाला शालूक) एक जीव वाला है; यहाँ से लेकर यावत् अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं; तक उत्पल-उद्देशक की सारी वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष इतना ही है कि शालूक के शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट धनुष-पृथकत्व की है। शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए।

'भगवन् ! यह इसी प्रकार है! यह इसी प्रकार है !' यों कह कर गौतमस्वामी, यावत् विचरते हैं।

विवेचन—शालूक जीव सम्बन्धी वक्तव्यता—प्रस्तुत सूत्र में शालूक (उत्पलकन्द) के जीव के सम्बन्ध में सारी वक्तव्यता पूर्व उद्देशक के ३२ द्वारों का अतिदेश करके बताई है। केवल अवगाहना की प्ररूपणा में अन्तर है। शेष उपपात, परिमाण, अपहार, बंध, वेद, उदय, उदीरणा, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग आदि सभी द्वारों की प्ररूपणा समान है।[1]

॥ ग्यारहवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ५१३

तइओ उद्देसओ : तृतीय उद्देशक

पलासे : पलाश (के जीव-सम्बन्धी)

१. पलासे णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?

एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया अपरिसेसा भाणितव्वा। नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं। देवा एएसु न उववज्जंति। लेसासु—ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा ?

गोयमा ! कण्हलेस्सा वा, नीललेस्सा वा, काउलेस्सा वा, छव्वीसं भंगा। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति०।

॥ एक्कारसमे सए तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ११.३ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! पलाशवृक्ष (प्रारम्भ में) एक पत्ते वाला (होता है, तब वह) एक जीव वाला होता है या अनेक जीव वाला ?

[१ उ.] गौतम ! (इस विषय में भी) उत्पल-उद्देशक की सारी वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष इतना है कि पलाश के शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्ट गव्यूति-(गाऊ)-पृथक्त्व है। देव च्यव कर पलाशवृक्ष में उत्पन्न नहीं होते। लेश्याओं के विषय में—

[प्र.] भगवन् ! वे (पलाशवृक्ष के) जीव क्या कृष्णलेश्या वाले होते हैं, नीललेश्या वाले होते हैं या कापोतलेश्या वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले होते हैं। इस प्रकार यहाँ उच्छ्वासक द्वार के समान २६ भंग होते हैं। शेष सब पूर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है !, यह इसी प्रकार है !' ऐसा कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—उत्पलोद्देशक के समान प्रायः सभी द्वार—पलाशवृक्ष के जीव में अवगाहना, उत्पत्ति और लेश्या इन तीन द्वारों को छोड़ कर शेष सभी द्वार उत्पलजीव के समान हैं, इस प्रकार का अतिदेश प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

अवगाहना—पलाश की उत्कृष्ट अवगाहना गव्यूतिपृथकत्व है, यानी दो गाऊ (४ कोस) से

---

१. **गव्यूतिः क्रोशयुगम्**—अमरकोष

लेकर नौ गाऊ तक की है। गाऊ या गव्यूति दो कोस[१] को कहते हैं।

तेजोलेश्या और देवोत्पत्ति नहीं—देव तेजोलेश्यायुक्त होते हैं, इसलिए प्रशस्त वनस्पति जो तेजोलेश्यायुक्त होती है, उसी में वे उत्पन्न होते हैं। पलाश प्रशस्त वनस्पति नहीं है, इसमें तेजोलेश्या नहीं होती। तीन अप्रशस्त लेश्याएँ ही पाई जाती हैं, जिनके २६ भंग उच्छ्वासक द्वार के समान होते हैं।[१]

॥ ग्यारहवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

०००

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१४

चउत्थो उद्देसओ : चतुर्थ उद्देशक

कुंभी : कुम्भिक (के जीवसम्बन्धी)

१. कुंभिए णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?

एवं जहा पलासुद्देसए तहा भाणियव्वे, नवरं ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वासपुहत्तं। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति०।

॥ एक्कारसमे सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ११.४॥

[१ प्र.] भगवन् ! एक पत्ते वाला कुम्भिक (वनस्पतिविशेष) एक जीव वाला होता है या अनेक जीव वाला ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पलाश (जीव) के विषय में तीसरे उद्देशक में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। इतना विशेष है कि कुम्भिक की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट वर्ष-पृथकत्व (दो वर्ष से नौ वर्ष तक) की है। शेष सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है! भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' ऐसा कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—तृतीय उद्देशक के अतिदेशपूर्वक कुम्भिकवर्णन—प्रस्तुत सूत्र में केवल स्थिति को छोड़कर शेष कुम्भिक का सभी वर्णन पलाशजीव के समान बताया गया है।

॥ ग्यारहवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

पंचमो उद्देसओ : पंचम उद्देशक

नालीय : नालिक (नाडीक-जीवसम्बन्धी)

१. नालिए णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?

एवं कुंभिउद्देसगवत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए पंचमो उद्देसो समत्तो ॥ ११.५ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! एक पत्ते वाला नालिक (नाडीक), एक जीव वाला है या अनेक जीव वाला ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार कुम्भिक उद्देशक में कहा है, वही सारी वक्तव्यता यहाँ कहनी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरने लगे।

विवेचन—नालिक : नाडीक वनस्पति का स्वरूप—जिसके फल नाडी या नाली की तरह होते हैं, ऐसा वनस्पतिविशेष नाडीक या नालिक होता है।[१]

॥ ग्यारहवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती अ. वृत्ति वृत्ति, पत्र ५११—नाडीवद्यस्य फलानी स नाडीको वनस्पतिविशेषः।

छट्ठो उद्देसओ : छठा उद्देशक

पउम : पद्म (जीव सम्बन्धी)

१. पउमे णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?

एवं उप्पलुद्देसगवत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ ११.६ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! एक पत्र वाला पद्म, एक जीव वाला होता है या अनेक जीव वाला होता है ?

[१ उ.] गौतम ! उत्पल-उद्देशक के अनुसार इसकी सारी वक्तव्यता कहनी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—पद्म के जीव का समग्र वर्णन उत्पलसम्बन्धी द्वारवत्—प्रस्तुत सूत्र में उत्पलोद्देशक के अतिदेशपूर्वक पद्मजीव सम्बन्धी उल्लेख किया गया है। यद्यपि उत्पल और पद्म कमल के ही पर्यायवाची शब्द हैं, तथापि यहाँ नीलकमल-विशेष को पद्म कहा गया है।

॥ ग्यारहवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

सत्तमो उद्देसओ : सप्तम उद्देशक

कण्णीय : कर्णिका (के जीव सम्बन्धी)

१. कण्णिए णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?

एवं चेव निरवसेसं भाणियव्वं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति०।

॥ एक्कारसमे सए सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ ११.७॥

[१ प्र.] भगवन् ! एक पत्ते वाली कर्णिका (वनस्पति) एक जीव वाली है या अनेक जीव वाली है ?

[१ उ.] गौतम ! इसका समग्र वर्णन उत्पलउद्देशक के समान करना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—कर्णिका : एक वनस्पतिविशेष—वृत्तिकार के अनुसार **कर्णिका** का एक अर्थ **बीजकोश** है। कनेर का वृक्ष भी सम्भव है, जिसमें पत्ते और फूल लगते हैं।

॥ ग्यारहवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१३

अट्ठमो उद्देसओ : अष्टम उद्देशक

नलिण : नलिन (के जीव सम्बन्धी)

१. नलिणे णं भंते ! एगपत्तए किं एगजीवे, अणेगजीवे ?

एवं चेव निरवसेसं जाव अणंतखुत्तो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति०।

॥ एक्कारसमे सए अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ ११.८ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! एक पत्ते वाला नलिन (कमल-विशेष) एक जीव वाला होता है, या अनेक जीव वाला ?

[१ उ.] गौतम ! इसका समग्र वर्णन पूर्ववत् उत्पल उद्देशक के समान करना चाहिए और सभी जीव अनन्त वार उत्पन्न हो चुके हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—प्रायः एक समान आठ उद्देशक—प्रथम उद्देशक 'उत्पल' से लेकर आठवें 'नलिन' उद्देशक तक उत्पलादि आठ वनस्पतिकायिक जीवों का ३२ द्वार के माध्यम से वर्णन किया गया है। इनमें पारस्परिक अन्तर बताने वाली तीन गाथाएं वृत्तिकार ने उद्धृत की हैं। यथा—

सालंमि धणुपुहत्तं होइ पलासे य गाउयपुहत्तं।
जोयणसहस्समहियं अवसेसाणं तु छण्हंपि ॥ १ ॥
कुम्भीए नालियाए वासपुहुत्तं ठिई उ बोद्धव्वा।
दसवाससहस्साइं अवसेसाणं तु छण्हं पि ॥ २ ॥
कुंभीए नालियाए होंति पलासे य तिण्णि लेसाओ।
चत्तारि उ लेसाओ, अवसेसाणं तु पंचण्हं ॥ ३ ॥

अर्थ—शालूक की उत्कृष्ट अवगाहना धनुषपृथक्त्व और पलाश की उत्कृष्ट अवगाहना गव्यूतिपृथक्त्व होती है। शेष उत्पल, नलिन, पद्म, कुम्भिक, कर्णिका और नालिक की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है। ॥ १ ॥

कुम्भिक और नालिक की उत्कृष्ट स्थिति वर्षपृथक्त्व है। शेष ६ की उत्कृष्ट स्थिति एक हजार वर्ष की होती है। ॥ २ ॥

कुम्भिक, नालिक और पलाश में पहले की तीन लेश्याएं और शेष पांच में चार लेश्याएं होती हैं ॥ ३ ॥[1]

॥ ग्यारहवाँ शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१४
(ख) भगवती. विवेचन, भा. ४, (पं. घेवर.) पृ. १८७३

नवमो उद्देसओ : नौवाँ उद्देशक

'सिव' : शिव राजर्षि

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणापुरे नामं नगरे होत्था। वण्णओ।[१]

[१] उस काल और उस समय में हस्तिनापुर नाम का नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए।

२. तस्स णं हत्थिणापुरस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे एत्थ णं सहसंबवणे नामं उज्जाणे होत्था। सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे रम्मे णंदणवणसन्निगासे सुहसीयलच्छाए मणोरमे सादुफले अकंटए पासादीए जाव पडिरूवे।

[२] उस हस्तिनापुर नगर के बाहर उत्तरपूर्वदिशा (ईशानकोण) में सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। वह सभी ऋतुओं के पुष्पों और फलों से समृद्ध था। रम्य था, नन्दनवन के समान सुशोभित था। उसकी छाया सुखद और शीतल थी। वह मनोरम, स्वादिष्ट फलयुक्त, कण्टकरहित प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला यावत् प्रतिरूप (सुन्दर) था।

३. तत्थ णं हत्थिणापुरे नगरे सिवे नामं राया होत्था, महताहिमवंत०। वण्णओ।[२]

[३] उस हस्तिनापुर नगर में शिव नामक राजा था। वह महाहिमवान् पर्वत के समान श्रेष्ठ था, इत्यादि राजा का समस्त वर्णन कहना चाहिए।

४. तस्स णं सिवस्स रण्णो धारिणी नामं देवी होत्था, सुकुमालपाणिपाया०। वण्णओ।[३]

[४] शिव राजा की धारिणी नाम की देवी (पटरानी) थी। उसके हाथ-पैर अतिसुकुमाल थे, इत्यादि रानी का समस्त वर्णन कहना चाहिए।

५. तस्स णं सिवस्स रण्णो पुत्ते धारिणीए अत्तए सिवभद्दए नामं कुमारे होत्था, सुकुमाल० जहा सूरियकंते[४] **जाव पच्चुवेक्खमाणे पच्चुवेक्खमाणे विहरति।**

[५] शिव राजा का पुत्र और धारिणी रानी का अंगजात 'शिवभद्र' नामक कुमार था। उसके हाथ-पैर अत्यन्त सुकुमाल थे। कुमार का वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र में कथित सूर्यकान्त राजकुमार के समान समझना चाहिए, यावत् वह कुमार राज्य, राष्ट्र, बल (सैन्य), वाहन, कोष, कोठार, पुर, अन्तःपुर और जनपद का स्वयमेव निरीक्षण (देखभाल) करता हुआ रहता था।

---

१. हस्तिनापुर नगर के वर्णन के लिए देखिये—औपपातिकसूत्र

२. राजा के वर्णन के लिए देखिये—औपपातिकसूत्र, सू. ६, पत्र. ११ (आगमोदय०)

३. रानी के वर्णन के लिए देखिये—औपपातिकसूत्र, सू. ६, पत्र. १२ (आगमोदय०)

४. कुमार के वर्णन के लिए देखिये—राजप्रश्नीयसूत्र कण्डिका १४४, पृ. २७९ (गुर्जरग्रन्थ०)

विवेचन—शिव राजा से सम्बन्धित परिचय—प्रस्तुत ५ सूत्रों (१ से ५ तक) में शिवराजा से सम्बन्धित ५ बातों का अतिदेशपूर्वक परिचय दिया गया है—(१) हस्तिनापुर नगर का वर्णन, (२) सहस्राम्रवन उद्यान का वर्णन, (३) शिव राजा का वर्णन, (४) शिव राजा की पटरानी धारिणी का वर्णन और (५) राजकुमार शिवभद्र-वर्णन।

कठिन शब्दों का अर्थ—सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे—सभी ऋतुओं के पुष्पों एवं फलों से समृद्ध। **णंदणवणसन्निगासे**—नन्दनवन के समान। **सादुफले**—स्वादिष्ट फल वाला। **महयाहिमवंत**—महान् हिमवान् पर्वत के समान। **अत्तए**—आत्मज-पुत्र। **पच्चुवेक्खमाणे**—देखभाल करता हुआ।[१]

शिव राजा का दिक्प्रोक्षिक-तापस-प्रव्रज्याग्रहण-संकल्प

६. तए णं तस्स सिवस्स रण्णो अन्नया कदायि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि रज्जधुरं चिंत्तेमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—"अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं जहा तामलिस्स[२] (स. ३ उ. १ सु. ३६) जाव पुत्तेहिं वड्ढामि, पसूहिं वड्ढामि, रज्जेणं वड्ढामि, एवं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कोट्ठागारेणं पुरेणं अंतेउरेणं वड्ढामि, विपुलधण-कणग-रयण० जाव संतसारसावदेज्जेणं अतीव अतीव अभिवड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं जाव एगंतसोक्खयं उवेहमाणे विहरामि ? तं जाव ताव अहं हिरण्णेणं वड्ढामि तं चेव जाव अभिवड्ढामि, जावं च मे सामंतरायाणो वि वसे वट्टंति, तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलंते सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडयं घडावेत्ता, सिवभद्दं कुमारं रज्जे ठावित्ता, तं सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं तंबियं तावसभंडयं गहाय जे इमे गंगाकूले वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा—होत्तिया पोत्तिया जहा उववातिए जाव[३] कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा विहरंति।[४] तत्थ णं जे ते दिसापोक्खियतावसा तेसिं अंतियं मुंडे भवित्ता दिसापोक्खिततावसत्ताए पव्वइत्तए। पव्वइते वि य णं समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामिकप्पति मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालएणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय जाव विहरित्तए" त्ति कट्टु; एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं जाव जलंते सुबहुं लोहीलोह जाव घडावित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, को० स० २ एवं वदासी—खिप्पामेव

---

१. भगवती, विवेचन, भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १८७४

२. इसके लिए देखिए भगवतीसूत्र शतक ३, उ. १, सू. ३६

३. देखिये औपपातिक सूत्र ३८ पत्र ९० (आगमोदय०) में पाठ—'**कोत्तिया जन्नई सड्ढई थालई हुंबउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जगा सम्मज्जगा निमज्जगा संपक्खाला दक्खिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमगा कूलधमगा मिगलुद्धया हत्थितावसा उद्दंडगा दिसापोक्खिणो वक्कवासिणो चेलवासिणो जलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा, पुप्फाहारा फलाहारा बीयाहारा परिसडियकंद-मूल-तय-पत्त-पुप्फ-फलाहारा जलाभिसेयकढिणगाया अयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंदुसोल्लियं ति।**

४. औपपातिकसूत्र के अतिदेश वाले इस पाठ का अनुवाद [ ] कोष्ठक दे कर दे दिया गया है।—सं.

भो देवाणुप्पिया ! हत्थिणापुरं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसिय जाव तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

[६] तदनन्तर एक दिन राजा शिव को रात्रि के पिछले पहर में (पूर्वरात्रि के बाद अपर रात्रि काल में) राज्य की धुरा—कार्यभार का विचार करते हुए ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि यह मेरे पूर्व-पुण्यों का प्रभाव है, इत्यादि तीसरे शतक के प्रथम उद्देशक में वर्णित तामलि-तापस के वृतान्त के अनुसार विचार हुआ—यावत् मैं पुत्र, पशु, राज्य, राष्ट्र, बल(सैन्य), वाहन, कोष, कोष्ठागार, पुर और अन्तःपुर इत्यादि से वृद्धि को प्राप्त हो रहा हूँ। प्रचुर धन, कनक, रत्न, यावत् सारभूत द्रव्य द्वारा अतीव अभिवृद्धि पा रहा हूँ। तो क्या मैं पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप यावत् एकान्तसुख का उपयोग करता हुआ विचरण करूँ ? अतः अब मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि जब तक मैं हिरण्य आदि से वृद्धि को प्राप्त हो रहा हूँ, यावत् जब तक सामन्त राजा आदि भी मेरे वश में (अधीन) हैं तब तक कल प्रभात होते ही जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर मैं बहुत-सी लोढ़ी, लोहे की कडाही, कुड़छी और ताम्बे के बहुत से तापसोचित उपकरण (या पात्र) बनवाऊँ और शिवभद्र कुमार को राज्य पर स्थापित (राजगद्दी पर बिठा) करके और पूर्वोक्त बहुत-से लोहे एवं ताम्बे के तापसोचित भांड-उपकरण लेकर, उन तापसों के पास जाऊँ जो ये गंगातट पर वानप्रस्थ तापस हैं; जैसे कि-अग्निहोत्री, पोतिक (वस्त्रधारी) कौत्रिक (पृथ्वी पर सोने वाले) याज्ञिक, श्राद्धी (श्राद्ध कर्म करने वाले), खप्परधारी (स्थालिक), कुण्डिकाधारी श्रमण, दन्त-प्रक्षालक, उन्मज्जक, सम्मज्जक, निमज्जक, सम्प्रक्षालक, ऊर्ध्वकण्डुक, अधःकण्डुक, दक्षिणकूलक, उत्तरकूलक, शंखधमक (शंख फूंककर भोजन करने वाले), कूलधमक (किनारे पर खड़े होकर आवाज करके भोजन करने वाले), मृगलुब्धक, हस्तीतापस, जल से स्नान किये बिना भोजन नहीं करने वाले, पानी में रहने वाले, वायु में रहने वाले, पट-मण्डप में रहने वाले, बिलवासी, वृक्षमूलवासी, जलभक्षक, वायुभक्षक, शैवालभक्षक, मूलाहारी, कन्दाहारी, त्वचाहारी, पत्राहारी, पुष्पाहारी, फलाहारी, बीजाहारी, सड़ कर टूटे या गिरे हुए कन्द, मूल, छाल, पत्ते, फूल और फल खाने वाले, दण्ड ऊँचा रखकर चलने वाले, वृक्षमूलनिवासी, मांडलिक, वनवासी, दिशाप्रोक्षी, आतापना से पंचाग्नि ताप तपने वाले (अपने शरीर को अंगारों से तपा कर काष्ठ-सा बना देने वाले) इत्यादि औपपातिक सूत्र में कहे अनुसार यावत् जो अपने शरीर को काष्ठ-सा बना देते हैं। उनमें से जो तापस दिशाप्रोक्षक हैं, उनके पास मुण्डित होकर मैं दिक्प्रोक्षक-तापस-रूप प्रव्रज्या अंगीकार करूँ। प्रव्रजित होने पर इस प्रकार का अभिग्रह ग्रहण करूँ कि यावज्जीवन निरन्तर (लगातार) छठ-छठ (बेले-बेले) की तपस्या द्वारा दिक्चक्रवाल तपःकर्म करके दोनों भुजाएँ ऊँची रखकर रहना मेरे लिए कल्पनीय है, इस प्रकार का शिव राजा ने विचार किया।

और फिर दूसरे दिन प्रातः सूर्योदय होने पर अनेक प्रकार की लोढ़ियाँ, लोहे की कड़ाही आदि तापसोचित भण्डोपकरण तैयार कराके कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही हस्तिनापुर नगर के बाहर और भीतर जल का छिड़काव करके स्वच्छ, (सफाई) कराओ, इत्यादि; यावत् कौटुम्बिक पुरुषों ने राजा की आज्ञानुसार कार्य करवा कर राजा से निवेदन किया।

विवेचन—शिव राजा का तापसप्रव्रज्या लेने का संकल्प और तैयारी—प्रस्तुत छठे सूत्र में प्रतिपादित किया गया है कि शिव राजा ने धन-धान्य आदि की वृद्धि एवं अपार समृद्धि आदि देख कर अपने पूर्वकृत-

पुण्यफल का विचार किया और उसके फलाभोग की अपेक्षा नवीन पुण्योपार्जन करने हेतु दिशप्रोक्षक-तापसदीक्षा लेने और तापसोचित उपकरण जुटाने का संकल्प किया और फिर तदनुसार नगर की सफाई कराने का आदेश दिया।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—रज्जधुरं—राज्य का भार। **कडुच्छुयं**—कुड़छी। **कोत्तिया**—कौत्रिक—भूमिशायी। **थालई**—खप्परधारी। **हुंबउट्ठा**—कण्डीधारी। **दंतुक्खलिया**—फलभोजी। **उम्मज्जगा**—एक बार पानी में डुबकी लगा कर स्नान करने वाले। **संपक्खाला**—सम्प्रक्षालक—मिट्टी रगड़ कर नहाने वाले। **दक्खिणकूलगा**—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले। **संखधमगा**—शंख फूंक कर भोजन करने वाले। **कूलधमगा**—किनारे रह कर शब्द करने वाले। **हत्थितावसा**—हस्तितापस (हाथी को मार बहुत दिनों तक खाने वाले) **उद्दंडगा**—ऊपर दण्ड करके चलने वाले। **जलाभिसेयकढिणगाया**—जल से स्नान करने से कठोर शरीर वाले। **अंबुभक्खिणो**—जल भक्षण करने वाले। **वाउवासिणो**—वायु में रहने वाले। **वक्कवासिणो**—वल्कलवस्त्रधारी। **परिसडिय**—सड़े हुए। **पंचग्गितावेहिं**—पंचाग्नि—तापों से। **इंगालसोल्लियं**—अंगारों से अपने शरीर को जलाने वाले। **कंदुसोल्लियं**—भड़भूजे के भाड़ में पकाए हुए के समान। **कट्ठसोल्लियं पिव**—काष्ठ के समान शरीर को बनाने वाले। **दिसापोक्खिय**—दिशाप्रोक्षक—जल द्वारा दिशाओं का पूजन करने के पश्चात् फल-पुष्पादि ग्रहण करने वाले।[२]

दिक्चक्रवाल तपःकर्म का लक्षण—एक जगह पारणे में पूर्व दिशा में जो फल हों, उन्हें ग्रहण करके खाए जाते हैं, फिर दूसरी जगह दक्षिण दिशा में, इसी तरह क्रमशः सभी दिशाओं में जिस तपःकर्म में पारणा किया जाता है, उसे दिक्चक्रवाल तपःकर्म कहते हैं।[३]

शिवभद्रकुमार का राज्याभिषेक और राज्य-ग्रहण

७. तए णं से सिवे राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, स० २ एवं वदासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सिवभद्दस्स कुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायाभिसेयं उवट्ठवेह।

[७] उसके पश्चात् उस शिव राजा ने दूसरी बार भी कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और फिर उनसे कहा—'हे देवानुप्रियो ! शिवभद्र कुमार के महार्थ, महामूल्यवान् और महोत्सव योग्य विपुल राज्याभिषेक की शीघ्र तैयारी करो।'

८. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव उवट्ठवेंति।

[८] तदनन्तर उन कौटुम्बिक पुरुषों ने राजा के आदेशानुसार राज्याभिषेक की तैयारी की।

९. तए णं से सिवे राया अणेगगणनायग-दंडनायग जाव संधिपाल सद्धिं संपरिवुडे सिवभद्दं

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भाग. २, पृ. ५१७-५१८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५१९

३. वही, अ. वृत्ति, पत्र ५१९-५२०

कुमारं सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेति, नि० २ अट्ठसतेणं सोवण्णियाणं कलसाणं जाव[1] अट्ठसतेणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढीए जाव[2] रवेणं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचति, म० अ० २ पम्हलसुकुमालाए सुरभीए गंधकासाईए गाताइं लूहेति, पम्ह० लू० २ सरसेणं गोसीसेणं एवं जहेव जमालिस्स अलंकारो (स. ९ उ. ३३ सु. ५७)[3] तहेव जाव कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेति, क० २ करयल जाव कट्टु सिवभद्दं कुमारं जएणं विजएणं वद्धावेति, जए० व० २ ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं जहा[4] उववातिए कोणियस्स जाव परमायुं पालयाहि, इट्ठजणसंपरिवुडे हत्थिणापुरस्स नगरस्स अन्नेसिं च बहूणं गामागर-नगर जाव[5] विहराहि, त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजति।

[९] यह हो जाने पर शिव राजा ने अनेक गणनायक, दण्डनायक यावत् सन्धिपाल आदि राज्यपुरुष-परिवार से युक्त होकर शिवभद्र कुमार को पूर्वदिशा की ओर मुख करके श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन किया। फिर एक सौ आठ सोने के कलशों से, यावत् एक सौ आठ मिट्टी के कलशों से, समस्त ऋद्धि (राजचिह्नों) के साथ यावत् बाजों के महानिनाद के साथ राज्याभिषेक से अभिषिक्त किया। तदनन्तर अत्यन्त कोमल सुगन्धित गन्धकाषायवस्त्र (तौलिये) से उसके शरीर को पोंछा। फिर सरस गोशीर्षचन्दन का लेप किया; इत्यादि, जिस प्रकार (श. ९ उ. ३३। सू. ५७ में) जमाली को अलंकार से विभूषित करने का वर्णन है, उसी प्रकार शिवभद्र कुमार को भी यावत् कल्पवृक्ष के समान अलंकृत और विभूषित किया, इसके पश्चात् हाथ जोड़ कर यावत् शिवभद्र कुमार को जय-विजय शब्दों से बधाया और औपपातिक सूत्र में वर्णित कोणिक राजा के प्रकरणानुसार—(शिवभद्रकुमार को) इष्ट, कान्त एवं प्रिय शब्दों द्वारा आशीर्वाद दिया, यावत् कहा कि तुम परम आयुष्मान् (दीर्घायु) हो और इष्ट जनों से युक्त होकर हस्तिनापुर नगर तथा अन्य बहुत से ग्राम, आकर, नगर आदि के, यावत् परिवार, राज्य और राष्ट्र आदि के स्वामित्व का उपभोग करते हुए विचरो; इत्यादि (आशीर्वचन) कह कर जय-जय शब्द का प्रयोग किया।

१०. तए णं से सिवभद्दे कुमारे राया जाते महया हिमवंत० वण्णओ जाव विहरति।

[१०] अब वह शिवभद्र कुमार राजा बन गया। वह महाहिमवान् पर्वत के समान राजाओं में प्रधान होकर विचरण करने लगा। यहाँ शिवभद्रराजा का वर्णन करना चाहिए।

विवेचन—शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक और आशीर्वचन—प्रस्तुत ४ सूत्रों (७ से १० तक) में शिव राजा द्वारा शिवभद्र कुमार के राज्याभिषेक की तैयारी के लिए कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश का तथा उनके द्वारा राज्याभिषेक की समस्त तैयारी कर लेने पर शिव राजा द्वारा अपने समस्त राज्यपुरुष-परिवार के साथ

---

१. 'जाव' पद सूचित पाठ के लिए देखें-औपपातिक सूत्र ३१, पत्र ६६, आगमोदय।

२. 'जाव' पद सूचित पाठ के लिए देखें—भगवती, श. ९, उ. ३३, सू. ४९

३. जमाली के एतद्विषयक वर्णन के लिए देखें—श. ९, उ. ३३, सू. ५७

४. इसके शेष वर्णन के लिए देखें—औपपातिक. कोणिकप्रकरण

५. इसके लिए देखें—औपपातिक सू. ३२, पत्र ७४, आगमोदय

सिंहासनासीन करके शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक करने और उसे आशीर्वचन कहने का वर्णन है।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—उवट्ठवेह—उपस्थित करो। **णिसियावेत्ता**—बिठा कर। **सोवण्णियाणं**—सोने के बने हुए। **भोमेज्जाणं**—मिट्टी के बने हुए। **पम्हलसुकुमालाए**—रोंयेदार सुकुमाल—मुलायम। **परमायुं पालयाहि**—परम आयु का पालन करो—दीर्घायु होओ।[२]

शिव राजर्षि द्वारा दिशाप्रोक्षकतापस-प्रव्रज्याग्रहण

११. तए णं से सिवे राया अन्नया कयाइ सोभणंसि तिहि-करण-णक्खत्त-दिवस-मुहुत्तंसि विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेति, वि० उ० २ मित्त-णाति-नियग जाव परिजणं रायाणो य खत्तिया य आमंतेति, आ० २ ततो पच्छा ण्हाते जाव सरीरे भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासण-वरगए तेणं मित्त-नाति-नियग-सयण जाव परिजणेणं राईहि य खत्तिएहि य सद्धिं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं एवं जहा तामली (स. ३ उ. १ सु. ३६) जाव सक्कारेति सम्माणेति, सक्कारे० स० २ तं मित्त-नाति जाव परिजणं रायाणो य खत्तिए य सिवभद्दं च रायणं आपुच्छति, आपुच्छित्ता सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छु जाव भंडगं गहाय जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति तं चेव जाव तेसिं अंतियं मुण्डे भविता दिसापोक्खियतावसत्ताए पव्वइए। पव्वइए वि य णं समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति—कप्पति मे जावज्जीवाए छट्ठं० तं चे जाव (सु. ६) अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अय० अभि० २ पढमं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

[११] तदन्तर किसी समय शिव राजा (भूतपूर्व हस्तिनापुर नृप) ने प्रशस्त तिथि, करण, नक्षत्र और दिवस एवं शुभ मुहूर्त में विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार करवाया और मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन, परिजन, राजाओं एवं क्षत्रियों को आमंत्रित किया। तत्पश्चात् स्वयं ने स्नानादि किया, यावत् शरीर पर (चन्दनादि का लेप किया।) (फिर) भोजन के समय भोजनमण्डप में उत्तम सुखासन पर बैठा और उन मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, यावत् परिजन, राजाओं और क्षत्रियों के साथ विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का भोजन किया। फिर तामली तापस (श. ३, उ. १, सू. ३६ में वर्णित वर्णन) के अनुसार, यावत् उनका सत्कार-सम्मान किया। तत्पश्चात् उन मित्र, ज्ञातिजन आदि सभी की तथा शिवभद्र राजा की अनुमति लेकर लोढी—लोहकटाह, कुड़छी आदि बहुत से तापसोचित भण्डोपकरण ग्रहण किये और गंगातट निवासी जो वानप्रस्थ तापस थे, वहाँ जा कर, यावत् दिशाप्रोक्षक तापसों के पास मुण्डित होकर दिशाप्रोक्षक-तापस के रूप में प्रव्रजित हो गया। प्रव्रज्या ग्रहण करते ही शिवराजर्षि ने इस प्रकार का अभिग्रह धारण किया—आज से जीवन पर्यन्त मुझे बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ-तप) करते हुए विचरना कल्पनीय है; इत्यादि पूर्ववत् (सू. ६ के अनुसार) यावत् अभिग्रह धारण करके प्रथम छट्ठ (बेले का) तप अंगीकार करके विचरने लगा।

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ५१८-५१९

२. भगवती. विवेचन, भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १८७९

विवेचन—शिव राजा द्वारा सर्वानुमतिपूर्वक तापस-प्रव्रज्याग्रहण—प्रस्तुत ११ वें सूत्र में शिवराजर्षि की तापसदीक्षा के सन्दर्भ में पहले उसके द्वारा स्वजन-सम्बन्धियों को आमन्त्रण, भोजन, सत्कार-सम्मान, प्रव्रज्याग्रहण की अनुमति, फिर स्वयं तापसोचित उपकरण लेकर गंगातटवासी दिशाप्रोक्षक-तापसों से तापस-दीक्षा-ग्रहण एवं यावज्जीवन छट्ठतप का संकल्प आदि का वर्णन किया गया है।[1]

कठिन शब्दों का अर्थ—सोभणंसि—शुभ या प्रशस्त। **उवक्खडावेति**—तैयार कराया। **वाणपत्था**—वानप्रस्थतापस (वानप्रस्थ नामक तृतीय आश्रम को अंगीकार किये हुए)। **अभिग्गहं**—अभिग्रह—एक प्रकार का संकल्प या प्रतिज्ञा।[2]

शिवराजर्षि द्वारा दिशाप्रोक्षणतापसचर्या का वर्णन

१२. तए णं से सिवे रायरिसी पढमछट्ठक्खमणपारणगंसि आयावणभूमीओ पच्चोरुहंति, आया० प० २ वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ किढिणसंकाइयगं गिण्हइ, कि० गि० २ पुरत्थिमं दिसं पोक्खेइ। 'पुरत्थिमाए दिसाए सोमे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सिवं रायरिसिं, अभिरक्खउ सिवं रायरिसिं, जाणि य तत्थ कंदाणि य मूलाणि य तयाणि य पत्ताणि य पुप्फाणि य फलाणि य बीयाणि य हरियाणि य ताणि अणुजाणतु' त्ति कट्टु पुरत्थिमं दिसं पासति, पा० २ जाणि य तत्थ कंदाणि य जाव हरियाणि य ताइं गेण्हति। गे० २ किढिणसंकाइयगं भरेति, किढि० भ० २ दब्भे य कुसे य समिहाओ य पत्तामोडं च गेण्हइ, गे० २ जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छइ, ते उवा० २ किढिणसंकाइयगं ठवेइ, किढि० ठवेत्ता वेदिं वड्ढेति वेदिं। व० २ उवलेवणसम्मज्जणं करेति, उ० क० २ दब्भ-कलसाहत्थगए जेणेव गंगा महानदी तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ गंगामहानदिं ओगाहइ, गंगा० ओ० २ जलमज्जणं करेति, जल० क० २ जलकीडं करेति, जल० क० २ जलाभिसेयं करेति, ज० क० २ आयंते चोक्खे परमसूइभूते देवत-पितिकयकज्जे दब्भसगब्भकलसाहत्थगते गंगाओ महानदीओ पच्चुत्तरति, गंगा० प० २ जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छति, उवा० २ दब्भेहि य कुसेहि य वालुयाए य वेदिं रएति, वेदिं र० २ सरएणं अरणिं महेति, स० म० २ अग्गिं पाडेति, अग्गिं पा० २ अग्गिं संधुक्केति, अ० सं० २ समिहाकट्ठाइं पक्खिवइ, स० प० २ अग्गिं उज्जालेति, अ० उ० २—

अग्गिस्स दाहिणे पासे, सत्तंगाइं समादहे। तं जहा—

सकहं १ वक्कलं २ ठाणं ३ सेज्जाभंडं ४ कमंडलं ५।
दंडदारुं ६ तहऽप्पाणं ७ अहेताइं समादहे ॥ १॥

महुणा य घएण य तंदुलेहि य अग्गिं हुणइ, अ० हु० २ चरुं साहेइ, चरुं सा० २ बलिं वइस्सदेवं करेइ, बलि० क० २ अतिहिपूयं करेति, अ० क० २ ततो पच्छा अप्पणा आहारमाहारेति।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५१९-५२०

२. भगवती. विवेचन, भा. ४, पृ. १८८१

[१२] तत्पश्चात् वह शिवराजर्षि प्रथम छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन आतापना भूमि से नीचे उतरे, फिर उन्होंने वल्कलवस्त्र पहिने और जहाँ अपनी कुटी थी, वहाँ आए। वहाँ से किढीण (बांस का पात्र—छाबड़ी) और कावड़ को लेकर पूर्वदिशा का पूजन किया। (इस प्रकार प्रार्थना की—) हे पूर्वदिशा के (लोकपाल) सोम महाराज ! प्रस्थान (परलोक-साधना मार्ग) में प्रस्थित (प्रवृत्त)हुए मुझ शिवराजर्षि की रक्षा करें और यहाँ (पूर्वदिशा में) जो भी कन्द, मूल, छाल, पत्ते, पुष्प, फल, बीज और हरी वनस्पति (हरित) हैं, उन्हें लेने की अनुज्ञा दे; यों कर कर शिवराजर्षि ने पूर्वदिशा का अवलोकन किया और वहाँ जो भी कन्द, मूल, यावत् हरी वनस्पति मिली, उसे ग्रहण की और कावड़ में लगी हुई बांस की छबड़ी में भर ली। फिर दर्भ (डाभ), कुश, समिधा और वृक्ष की शाखा को मोड़ कर तोड़े हुए पत्ते लिए और जहाँ अपनी कुटी थी, वहाँ आए। कावड़ सहित छबड़ी नीचे रखी, फिर वेदिका का प्रमार्जन किया, उसे लीप कर शुद्ध किया। तत्पश्चात् डाभ और कलश हाथ में लेकर जहाँ गंगा महानदी थी, वहाँ आए। गंगा महानदी में अवगाहन किया और उसके जल से देह शुद्ध की। फिर जलक्रीड़ा की, पानी अपने देह पर सींचा, जल का आचमन आदि करके स्वच्छ और परम पवित्र (शुचिभूत) होकर देव और पितरों का कार्य सम्पन्न करके कलश में डाभ डालकर उसे हाथ में लिए हुए गंगा महानदी से बाहर निकले और जहाँ अपनी कुटी थी, वहाँ आए। कुटी में उन्होंने डाभ, कुश और बालू से वेदी बनाई। फिर मथनकाष्ठ से अरणि की लकड़ी घिसी (मथन किया) और आग सुलगाई। अग्नि जब धधकने लगी तो उसमें समिधा की लकड़ी डाली और आग अधिक प्रज्वलित की। फिर अग्नि के दाहिनी ओर ये सात वस्तुएँ (अंग) रखीं, यथा—(१) सकथा (उपकरण-विशेष), (२) वल्कल, (३) स्थान, (४) शय्याभाण्ड, (५) कमण्डलु, (६) लकड़ी का डंडा और (७) अपना शरीर। फिर मधु, घी और चावलों का अग्नि में हवन किया और चरु (बलिपात्र) में बलिद्रव्य लेकर बलिवैश्वदेव (अग्निदेव) को अर्पण किया और तब अतिथि की पूजा की और उसके बाद शिवराजर्षि ने स्वयं आहार किया।

१३. तए णं से सिवे रायरिसी दोच्चं छट्ठखमणं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। तए णं से सिवे रायरिसी दोच्चे छट्ठक्खमणपारणगंसि आयावणभूमीतो पच्चोरुहइ, आ० प० २ वागल० एवं जहा—पढमपारणगं, नवरं दाहिणं दिसं पोक्खेति। दाहिणाए दिसाए जमे महाराया पत्थाणे पत्थियं०, सेसं तं चेव जाव आहारमाहारेइ।

[१३] तत्पश्चात् उन शिवराजर्षि ने दूसरी बेला (छट्ठखमण) अंगीकार किया और दूसरे बेले के पारणे के दिन शिवराजर्षि आतापनाभूमि से नीचे उतरे, वल्कल के वस्त्र पहने, यावत् प्रथम पारणे की जो विधि की थी, उसी के अनुसार दूसरे पारणे में भी किया। इतना विशेष है कि दूसरे पारणे के दिन दक्षिण दिशा की पूजा की। हे दक्षिणदिशा के लोकपाल यम महाराज ! परलोक-साधना में प्रवृत्त मुझ शिवराजर्षि की रक्षा करें, इत्यादि शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए; यावत् अतिथि की पूजा करके फिर उसने स्वयं आहार किया।

१४. तए णं से सिवे रायरिसी तच्चं छट्ठक्खमणं उवसंपज्जित्ताणं विहरति। तए णं से सिवे

रायरिसी० सेसं तं चेव, नवरं पच्चत्थिमं दिसं पोक्खेति। पच्चत्थिमाए दिसाए वरुणे महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खतु सिवं० सेसं तं चेव जाव ततो पच्छा अप्पणा आहारमाहारेइ।

[१४] तदनन्तर उन शिव राजर्षि ने तृतीय बेला (छट्ठक्खमणतप) अंगीकार किया। उसके पारणे के दिन शिवराजर्षि ने पूर्वोक्त सारी विधि की। इसमें इतनी विशेषता है कि पश्चिमदिशा की पूजा की और प्रार्थना की—हे पश्चिम दिशा के लोकपाल वरुण महाराज ! परलोक-साधना-मार्ग में प्रवृत्त मुझ शिवराजर्षि की रक्षा करें, इत्यादि यावत् तब स्वयं आहार किया।

१५. तए णं से सिवे रायरिसी चउत्थं छट्ठुक्खमणं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। तए णं से सिवे रायरिसी चउत्थं छट्ठुखमणं० एवं तं चेव, नवरं उत्तरं दिसं पोक्खेइ। उत्तरा दिसाए वेसमेण महाराया पत्थाणे पत्थियं अभिरक्खउ सिवं०, सेसं तं चेव जाव ततो पच्छा अप्पणा आहारमाहारेति।

[१५] तत्पश्चात् उन शिवराजर्षि ने चतुर्थ बेला (छट्ठुक्खमण तप) अंगीकार किया। फिर इस चौथे बेले के तप के पारणे के दिन पूर्ववत् सारी विधि की। विशेष यह है कि उन्होंने (इस बार) उत्तरदिशा की पूजा की और इस प्रकार प्रार्थना की—हे उत्तरदिशा के लोकपाल वैश्रमण महाराज ! परलोक-साधना-मार्ग में प्रवृत्त इस शिवराजर्षि की रक्षा करें, इत्यादि अवशिष्ट सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् तत्पश्चात् शिवराजर्षि ने स्वयं आहार किया।

विवेचन—शिवराजर्षि द्वारा चार छट्ठुक्खमण तप द्वारा दिशाप्रोक्षण—प्रस्तुत चार सूत्रों (१२ से १५ तक) में शिवराजर्षि द्वारा क्रमशः एक-एक बेले के पारणे के दिन एक-एक दिशा के प्रोक्षण की की गई तापसचर्या का वर्णन है।

कठिन शब्दों का भावार्थ—वागलवत्थनियत्थे—वल्कलवस्त्र पहने। **उडए**—उटज—कुटी। **किढिणसंकाइयगं**—बांस का बना हुआ तापसों का पात्र-विशेष, (छबड़ी) और सांकायिक (कावड़भार ढोने का यंत्र)। **पोक्खेइ**—प्रोक्षण (पूजन) किया। **पत्थाणे**—परलोक-साधना-मार्ग में। **पत्थियं**—प्रस्थित-प्रवृत्त। **दब्भे**—मूलसहित दर्भ-डाभ को। **समिहाओ**—समिधा की लकड़ी। **पत्तामोडं**—वृक्ष की शाखा से मोड़े हुए पत्ते। **वेदिवड्ढेति**—वेदी (देवार्चनस्थान) को वर्धनि-बुहारी से साफ (परिमार्जित) किया। **उवलेवण-सम्मज्जणं**—गोबर आदि से लेपन तथा जल से सम्मार्जन (शोधनशुद्धि) किया। **दब्भ-कलसाहत्थगए**—कलश में दर्भ डाल कर हाथ में लिए हुए। **ओगाहइ**—अवगाहन (प्रवेश) किया। **आयंते**—आचमन किया। **चोक्खे**—अशुचिद्रव्य हटाकर शुद्ध हुए। **परमसुइभूए**—अत्यन्त शुद्ध हुए। **देवत-पिति-कयकज्जे**—देवता और पितरों को जलांजलिदानादि का कार्य किया। **सरएणं अरणिं महेति**—शरक—मथनकाष्ठ से अरणि की लकड़ी को मथा-घिसा। **समादहे**—सन्निधापन किये—रखे। **सकहं**—सकथा (उपकरण-विशेष)। **ठाणं**—ज्योति-स्थान (या पात्र-स्थान)- दीप। **सेज्जाभंडं**—शय्या के उपकरण। **दंडदारु**—लकड़ी का डंडा, दण्ड। **चरुं साहेइ**—चरू (बलिद्रव्य के पात्र) में बलिद्रव्य को सिझाया। **बलिं वइस्सदेवं करेइ**—बलि से अग्निदेव की पूजा की।[१]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५२०

विभंगज्ञान प्राप्त होने पर राजर्षि का अतिशय ज्ञान का दावा और जनवितर्क

१६. तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं जाव आयावेमाणस्स पगतिभद्दयाए जाव विणीययाए अन्नया कदायि तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स विब्भंगे नामं अन्नाणे समुप्पन्ने। से णं तेण विब्भंगनाणेणं समुप्पन्नेणं पासइ अस्सिं लोए सत्त दीवे सत्त समुद्दे। तेण परं न जाणइ न पासइ।

[१३] इसके बाद निरन्तर (लगातार) बेले-बेले की तपश्चर्या के दिक्‌चक्रवाल का प्रोक्षण करने से, यावत् आतापना लेने से तथा प्रकृति की भद्रता यावत् विनीतता से शिव राजर्षि को किसी दिन तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के कारण ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंगज्ञान (कुअवधिज्ञान) उत्पन्न हुआ। उस उत्पन्न हुए विभंगज्ञान से वे इस लोक में सात द्वीप और सात समुद्र देखने लगे। इससे आगे वे न जानते थे, न देखते थे।

१७. तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—अत्थि णं ममं अतिसेसे नाण-दंसणे समुप्पन्ने, एवं खलु अस्सिं लोए सत्त दीवा, सत्त समुद्दा, तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य। एवं संपेहेइ, एवं सं० २ आयावणभूमीओ पच्चोरुभति, आ० प० २ वागलवत्थनियत्थे जेणेव सए उडए तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ सुबहुं लोहीलोहकडाहकडुच्छुयं जाव भंडगं किढिणसंकाइयं च गेण्हति, गे० २ जेणेव हत्थिणापुरे नगरे जेणेव तवसावसहे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ भंडनिक्खेवं करेह, भंड० क० २ हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग-तिग जाव पहेसु बहुजणस्स एवमाइक्खति जाव एवं परूवेइ—अत्थि णं देवाणुप्पिया ! ममं अतिसेसे नाण-दंसणे समुप्पन्ने एवं खलु अस्सिं लोए जाव दीवा य समुद्दा य।

[१७] तत्पश्चात् शिवराजर्षि को इस प्रकार का विचार यावत् उत्पन्न हुआ कि "मुझे अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है। इस लोक में सात द्वीप और सात समुद्र हैं। उससे आगे द्वीप-समुद्रों का विच्छेद (अभाव) है।" ऐसा विचार कर वे आतापना-भूमि से नीचे उतरे और वल्कल-वस्त्र पहने, फिर जहाँ अपनी कुटी थी, वहाँ आए। वहाँ से अपने लोढ़ी, लोहे का कडाह, कुड़छी आदि बहुत-से भण्डोपकरण तथा छबड़ी-सहित कावड़ को लेकर वे हस्तिनापुर नगर में जहाँ तापसों का आश्रम था, वहाँ आए। वहाँ अपने तापसोचित उपकरण रखे और फिर हस्तिनापुर नगर के शृंगाटक, त्रिक यावत् राजमार्गों में बहुत-से मनुष्यों को इस प्रकार कहने और यावत् प्ररूपणा करने लगे—'हे देवानुप्रियो ! मुझे अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, जिससे मैं यह जानता और देखता हूँ कि इस लोक में सात द्वीप और सात समुद्र हैं।'

१८. तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग-तिग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया! सिवे रायरिसी एवं आइक्खइ जाव परूवेइ, 'अत्थि णं देवाणुप्पिया। ममं अतिसेसे नाण-दंसणे जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य।' से कहमेयं मन्ने एवं ?

[१८] तदनन्तर शिवराजर्षि से यह (उपर्युक्त) बात सुनकर और विचार कर हस्तिनापुर नगर के शृंगाटक, त्रिक यावत् राजमार्गों पर बहुत-से लोग एक-दूसरे से इस प्रकार कहने यावत् बतलाने लगे—हे देवानुप्रियो ! शिवराजर्षि जो इस प्रकार की बात कहते यावत् प्ररूपणा करते हैं कि 'देवानुप्रियो ! मुझे अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, यावत् इस लोक में सात द्वीप और सात समुद्र ही हैं। इससे आगे द्वीप और समुद्रों का अभाव है,' उनकी यह बात इस प्रकार कैसे मानी जाए।

विवेचन—शिवराजर्षि का अतिशय ज्ञान का दावा और लोकचर्चा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में तीन घटनाओं का उल्लेख है—(१) शिवराजर्षि को विभंगज्ञान की उत्पत्ति, (२) उनके द्वारा हस्तिनापुर में अतिशय ज्ञानप्राप्ति का दावा और (३) जनता में परस्पर चर्चा।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—अज्झत्थिए—अध्यवसाय, विचार। **अतिसेसे**—अतिशय। **वोच्छिण्णे**—विच्छेद है—अभाव है। **तावसावसहे**—तापसों के आवसथ (आश्रम) में।[२]

भगवान् द्वारा असंख्यात द्वीपसमुद्र-प्ररूपणा

१९. ते णं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा जाव पडिगया।

[१९] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। परिषद् ने धर्मोपदेश सुना, यावत् वापस लौट गई।

२०. ते णं कालेणं ते णं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतवासी जहा बितियसए नियंठुद्देसए (स. २ उ. ५ सु. २१-२४) जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेति—बहुजणो अन्नमन्नस्स एवं आइक्खति जाव एवं परूवेई 'एवं खलु देवाणुप्पिया ! सिवे रायरिसी एवं आइक्खइ जाव परूवेइ—अत्थि णं देवाणुप्पिया ! तं चेव जाव वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य। से कहमेयं मन्ने एवं ?'

[२०] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूमि अनगार ने, दूसरे शतक के निर्ग्रन्थोद्देशक (श. २ उ. ५ सू. २१-२४) में वर्णित विधि के अनुसार यावत् भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए, बहुत-से लोगों के शब्द सुने। वे परस्पर एक-दूसरे से इस प्रकार कह रहे थे, यावत् इस प्रकार बतला रहे थे—हे देवानुप्रियो ! शिवराजर्षि यह कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि 'हे देवानुप्रियो ! इस लोक में सात द्वीप और सात समुद्र हैं, इत्यादि यावत् उससे आगे द्वीप-समुद्र नहीं हैं, तो उनकी यह बात कैसे मानी जाए ?'

२१. तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जायसड्ढे जहा नियंठुद्देसए (स. २ उ. ५ सु. २५ [१]) जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य। से कहमेयं भंते ! एवं ?

'गोयमा !' दी समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वदासी—जं णं गोयमा ! से बहुजणे

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५२२-५२३

२. भगवती, विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १८८७

अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव भंडानिक्खेवं करेति, हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग० तं चेव जाव वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्मं तं चेव जाव तेण परं वोच्छिन्ना दीवा य समुद्दा य। तं णं मिच्छा। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु जंबुद्दीवादीया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा, वित्थारओ अणेगविहिविहाणा एवं जहा जीवाभिगमे[1] जाव सयंभूरमणपज्जवसाणा अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जा दीवसमुद्दा पण्णत्ता समणाउसो !

[२१] बहुत-से मनुष्यों से यह बात सुन कर और विचार कर गौतम स्वामी को संदेह, कुतूहल यावत् श्रद्धा उत्पन्न हुई। वे निर्ग्रन्थोद्देशक (शतक २ उ. ५, सू. २५-१) में वर्णित वर्णन के अनुसार भगवान् की सेवा में आए और पूर्वोक्त बात के विषय में पूछा—'शिवराजर्षि जो यह कहते हैं, यावत् उससे आगे द्वीपों और समुद्रों का सर्वथा अभाव है, भगवन् ! क्या उनका ऐसा कथन यथार्थ है ?'

[उ.] भगवान् महावीर ने गौतम आदि को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहा—'हे गौतम ! जो ये बहुत-से लोग परस्पर ऐसा कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं (इत्यादि) शिवराजर्षि को विभंगज्ञान उत्पन्न होने से लेकर यावत् उन्होंने तापस-आश्रम में भण्डोपकरण रखे। हस्तिनापुर नगर में शृंगाटक, त्रिक आदि राजमार्गों पर वे कहने लगे—यावत् सात द्वीप-समुद्रों से आगे द्वीप-समुद्रों का अभाव है, इत्यादि सब पूर्वोक्त कहना चाहिए। तदनन्तर शिवराजर्षि से यह बात सुनकर बहुत से मनुष्य ऐसा कहते हैं, यावत् उससे आगे द्वीप-समुद्रों का सर्वथा अभाव है।' (यह जो जनता में चर्चा है) वह कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि वास्तव में जम्बूद्वीपादि द्वीप एवं लवणादि समुद्र एक सरीखे वृत्त (गोल) होने से आकार (संस्थान) में एक समान हैं परन्तु विस्तार में (एक दूसरे से दुगुने-दुगुने होने से) वे अनेक प्रकार के हैं, इत्यादि सभी वर्णन जीवाभिगम में कहे अनुसार जानना चाहिए, यावत् 'हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस तिर्यक् लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं।'

विवेचन—गौतमस्वामी द्वारा शिवराजर्षि को उत्पन्न ज्ञान का भगवान् से निर्णय—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१९-२०-२१) में चार तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) भगवान् का हस्तिनापुर में पदार्पण, (२) गौतम स्वामी द्वारा जनता से शिवराजर्षि को उत्पन्न अतिशय ज्ञान की चर्चा का श्रवण, (३) अपनी शंका भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करना, (४) भगवान् द्वारा शिवराजर्षि का अतिशय ज्ञान होने का दावा मिथ्या होने का कथन।[2]

कठिन शब्दों का भावार्थ—एकविहिविहाणा—सभी गोल होने से सभी एक ही प्रकार के व्यवहार—आकार वाले। **वित्थारओ**—विस्तार से। **पज्जवसाणा**—पर्यन्त।[3]

---

१. देखिये जीवाभिगमसूत्र प्रति. ३, उ. १, सू. १२३ में—"**दुगुणादुगुणं पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणवीइया .... बहुप्पलकुमुदनलिणसुभगसोगंधिपुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तसयसहस्सपत्तपफुल्लकेसरोववेया .... पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता।**"

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५२३

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५२०

द्वीप-समुद्रगत द्रव्यों में वर्णादि की परस्परसम्बद्धता

२२. अत्थि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दव्वाइं सवण्णाइं पि अवण्णाइं पि, संगधाइं पि अगंधाइं पि, सरसाइं पि अरसाइं पि, सफासाइं पि, अफासाइं पि, अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं जाव घडत्ताए चिट्ठंति ?

हंता, अत्थि।

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या जम्बूद्वीप नामक द्वीप में वर्णसहित और वर्णरहित, गन्धसहित और गन्धरहित, सरस और अरस, सस्पर्श और अस्पर्श द्रव्य, अन्योन्यबद्ध तथा अन्योन्यस्पृष्ट यावत् अन्योन्यसम्बद्ध हैं ?

[२२ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

२३. अत्थि णं भंते ! लवणसमुद्दे दव्वाइं सवण्णाइं पि अवण्णाइं पि, संगधाइं पि अगंधाइं पि, सरसाइं पि अरसाइं पि, सफासाइं पि अफासाइं पि, अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं जाव घडत्ताए चिट्ठंति ?

हंता, अत्थि।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या लवणसमुद्र में वर्णसहित और वर्णरहित, गन्धसहित और गन्धरहित, रसयुक्त और रसरहित तथा स्पर्शयुक्त और स्पर्शरहित द्रव्य, अन्योन्यबद्ध तथा अन्योन्यस्पृष्ट यावत् अन्योन्यसम्बद्ध हैं ?

[२३ उ.] हाँ, गौतम! हैं।

२४. अत्थि णं भंते ! धातइसंडे दीवे दव्वाइं सवन्नाइं पि०।

[२४ प्र.] भगवन् ! क्या धातकीखण्डद्वीप में सवर्ण-अवर्ण आदि द्रव्य यावत् अन्योन्यसम्बद्ध हैं ?

[२४ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

२५. एवं जाव सयंभुरमणसमुद्दे जाव हंता, अत्थि।

[२५ प्र.] इसी प्रकार यावत् स्वयम्भूरमणसमुद्र में भी यावत् द्रव्य अन्योन्यसम्बद्ध हैं ?

[२५ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

२६. तए णं सा महतिमहालिया महच्चपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वं० २ जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगया।

[२६] इसके पश्चात् वह अत्यन्त-महती विशाल परिषद् श्रमण भगवान् महवीर से उपर्युक्त अर्थ (बात) सुनकर और हृदय में धारण कर हर्षित एवं सन्तुष्ट हुई और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना व नमस्कार करके जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

विवेचन—द्वीप-समुद्रगत द्रव्यों में वर्णादि की परस्परसम्बद्धता—प्रस्तुत पांच सूत्रों (२२ से २६ तक) में जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि समस्त द्वीप-समुद्रों में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि से रहित और सहित द्रव्यों

की परस्परबद्धता, गाढ शिलष्टता, स्पृष्टता एवं अन्योन्यसम्बद्धता का प्रतिपादन किया गया है।[१]

सवर्णादि एवं अवर्णादि का आशय—वर्णादि-सहित का अर्थ है—पुद्गलद्रव्य तथा वर्णादि-रहित का आशय है—धर्मास्तिकाय आदि। **अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति**—परस्पर सम्बद्ध रहते हैं।[२]

भगवान् का निर्णय सुन कर जनता द्वारा सत्यप्रचार

२७. तए णं हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेइ—''जं णं देवाणुप्पिया ! सिवे रायरिसी एवमाइक्खइ जाव परूवेइ—अत्थि णं देवाणुप्पिया! ममं अतिसेसे नाण जाव समुद्दा य, तं नो इणट्ठे समट्ठे। समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव परूवेइ 'एवं खलु एयस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठंछट्ठेणं तं चेव जाव भंडनिक्खेवं करेति, भंड० क० २ हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग जाव समुद्दा य। तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अंतियं एवमट्ठं सोच्चा निस्सम जाव समुद्दा य तं णं मिच्छा।'' समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खति—एवं खलु जंबुद्दीवाईया दीवा लवणाईया समुद्दा तं चेव जाव असंखेज्जा दीव-समुद्दा पण्णत्ता समणाउसो ! ।

[२७] (भगवान् महावीर के मुख से शिवराजर्षि के ज्ञान के विषय में सुनकर) हस्तिनापुर नगर में शृंगाटक यावत् मार्गों पर बहुत-से लोग परस्पर इस प्रकार कहने यावत् (एक दूसरे को) बतलाने लगे—हे देवानुप्रियो ! शिवराजर्षि जो यह कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि मुझे अतिशय ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है, जिससे मैं जानता-देखता हूँ कि इस लोक में सात द्वीप और सात समुद्र ही हैं, इसके आगे द्वीप-समुद्र बिल्कुल नहीं है; उनका यह कथन मिथ्या है। श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार कहते, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि निरन्तर बेले-बेले का तप करते हुए शिवराजर्षि को विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ है। विभंगज्ञान उत्पन्न होने पर वे अपनी कुटी में आए यावत् वहाँ से तापस आश्रम में आकर अपने तापसोचित उपकरण रक्खे और हस्तिानापुर के शृंगाटक यावत् राजमार्गों पर स्वयं को अतिशय ज्ञान होने का दावा करने लगे। लोग (उनके मुख से) ऐसी बात सुन परस्पर तर्कवितर्क करते हैं ''क्या शिवराजर्षि का यह कथन सत्य है ? परन्तु मैं कहता हूँ कि उनका यह कथन मिथ्या है।'' श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार कहते हैं कि वास्तव में जम्बूद्वीप आदि तथा लवणसमुद्र आदि गोल होने से एक प्रकार के लगते हैं, किन्तु वे एक दूसरे से उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण होने से अनेक प्रकार के हैं। इसलिए हे आयुष्मन् श्रमणो ! (लोक में) द्वीप और समुद्र असंख्यात हैं।

विवेचन—जनता द्वारा महावीरप्ररूपित सत्य का प्रचार—प्रस्तुत सूत्र (२७) में वर्णन है कि हस्तिनापुर की जनता ने भगवान् महावीर से शिवराजर्षि को उत्पन्न हुए विभंगज्ञान के विषय में सुना तो वह उस सत्य का प्रचार करने लगी।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५२४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५२१

२८. तए णं से सिवे रायरिसी बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने जाए यावि होत्था।

[२८] तब शिवराजर्षि बहुत-से लोगों से यह बात सुनकर तथा हृदयंगम करके शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित (फल के विषय में संदेहग्रस्त), भेद को प्राप्त, अनिश्चित एवं कलुषित भाव को प्राप्त हुए।

२९. तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स संकियस्स कंखियस्स जाव कलुससमावन्नस्स से विभंगे अन्नाणे खिप्पामेव परिवडिए।

[२९] तब शंकित, कांक्षित यावत् कालुष्ययुक्त बने हुए शिवराजर्षि का वह विभंग-अज्ञान भी शीघ्र ही पतित (नष्ट) हो गया।

विवेचन—शिवराजर्षि को प्राप्त विभंगज्ञान नष्ट होने का कारण—शिवराजर्षि को विपरीत अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) उत्पन्न हुआ था, क्योंकि वह उस समय बालतपस्वी था। अज्ञान तप के कारण जब उसे विभंगज्ञान प्राप्त हुआ, तब वह अपने को विशिष्ट ज्ञान वाला समझने लगा और सर्वज्ञवचनों में विश्वास न रखकर मिथ्याप्ररूपणा करने लगा। अर्थात् उस विभंग को ही विशिष्ट, पूर्ण ज्ञान समझ कर मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा। शिवराजर्षि के प्राप्त ज्ञान की वास्तविकता से लोगों को जब भ. महावीर ने परिचित कराया तो राजर्षि को सुनकर शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि उत्पन्न हुई। इस कारण उनका विभंगज्ञान नष्ट हो गया।[१]

शिवराजर्षि द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्याग्रहण और सिद्धिप्राप्ति

३०. तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पजित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं जाव सहसंबवणे उज्जाणे अहापडिरूवं जाव विहरति। तं महाफलं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नाम-गोयस्स जहा उववातिए जाव गहणयाए, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि। एयं णे इहभवे य परभवे य जाव भविस्सति' त्ति कट्टु एवं संपेहेति, एवं सं० २ जेणेव तावसावसहे तेणेव उवागच्छइ, ते० उ० २ तावसावसहं अणुप्पविसति, ता० अ० २ सुबहुं लोहीलोहकडाह जाव किढिणसंकातियगं च गेण्हति, गे० २ तावसावसहातो पडिनिक्खमति, ता० प० २ परिवडियविब्भंगे हत्थिणापुरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, नि० २ जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, क० २ वंदति नमंसति, वं० २ नच्चासन्ने नाइदूरे जाव पंजलिउडे पज्जुवासति।

[३०] तत्पश्चात् शिवराजर्षि को इस प्रकार का विचार यावत् उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीरस्वामी, धर्म की आदि करने वाले, तीर्थंकर यावत् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं, जिनके आगे आकाश में धर्मचक्र चलता है, यावत् वे यहाँ सहस्राम्रवन उद्यान में यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके यावत् विचर रहे हैं। तथारूप अरहन्त भगवन्तों का

१. भगवती. विवेचन, (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १८९२

नाम-गोत्र श्रवण करना भी महाफलदायक है, तो फिर उनके सम्मुख जाना, वन्दन करना, इत्यादि का तो कहना ही क्या ? इत्यादि औपपातिकसूत्र के उल्लेखानुसार विचार किया; यावत् एक भी आर्य धार्मिक सुवचन का सुनना भी महाफलदायक है, तो फिर विपुल अर्थ के ग्रहण करने का तो कहना ही क्या ! अतः मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास जाऊँ, वन्दन-नमस्कार करूँ, यावत् पर्युपासना करूँ। यह मेरे लिए इस भव में और परभव में, यावत् श्रेयस्कर होगा।''

इस प्रकार का विचार करके वे जहाँ तापसों का मठ था वहाँ आए और उसमें प्रवेश किया। फिर वहाँ से बहुत-से लोढी, लोह-कड़ाह यावत् छबड़ी-सहित कावड़ आदि उपकरण लिए और उस तापसमठ से निकले। वहाँ से विभंगज्ञान-रहित वे शिवराजर्षि हस्तिनापुर नगर के मध्य में से होते हुए, जहाँ सहस्राम्रवन उद्यान था और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए। श्रमण भगवान् महावीर के निकट आकर उन्होंने तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दना-नमस्कार किया और न अतिदूर, न अतिनिकट, यावत् हाथ जोड़ कर भगवान् की उपासना करने लगे।

३१. तए णं समणे भगवं महावीरे सिवस्स रायरिसिस्स तीसे य महतिमहालियाए जाव आणाए आराहए भवति।

[३१] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने शिवराजर्षि को और उस महती परिषद् को धर्मोपदेश दिया कि यावत्—''इस प्रकार पालन करने से जीव आज्ञा के आराधक होते हैं।''

३२. तए णं से सिवे रायरिसी समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म जहा खंदओ (स. २ उ. १ सु. ३४) जाव उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, उ० अ० २ सुबहुं लोहीलोहकडाह जाव किढिणसंकातियगं एगंते एडेइ, ए० २ सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, स० क० २ समणं भगवं महावीरं एवं जहेव उसभदत्ते (स. ९ उ. ३३ सु. १६) तहेव पव्वइओ, तहेव एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, तहेव सव्वं जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।

[३२] तदनन्तर वे शिवराजर्षि श्रमण भगवान् महावीरस्वामी से धर्मोपदेश सुनकर और अवधारण कर; (शतक २, उ. १ सू. ३४ में उल्लिखित) स्कन्दक की तरह, यावत् उत्तरपूर्वदिशा (ईशानकोण) में गए और लोढ़ी, लोह-कडाह यावत् छबड़ी सहित कावड़ आदि तापसोचित उपकरणों को एकान्त स्थान में डाल दिया। फिर स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया और श्रमण भगवान् महावीर के पास (श. ९, उ. ३३, सू. १६ में कथित) ऋषभदत्त की तरह प्रव्रज्या अंगीकार की; तथैव ग्यारह अंगशास्त्रों का अध्ययन किया और उसी प्रकार यावत् वे शिवराजर्षि समस्त दुःखों से मुक्त हुए।

विवेचन—शिवराजर्षि द्वारा निर्ग्रन्थदीक्षा और मुक्तिप्राप्ति—प्रस्तुत तीन सूत्रों (३१-३२-३३) में शिवराजर्षि से सम्बन्धित निम्नोक्त तथ्यों का निरूपण किया है—(१) भगवान् महावीर की महिमा जानकर अपने तापसोचित उपकरणों के साथ भगवान् के निकट गए। दर्शन, वन्दन-नमन और पर्युपासन किया। (२) धर्मोपदेश-श्रवण एवं आज्ञाराधक बनने का विचार। (३) तापसोचित उपकरण एक ओर डालकर पंचमुष्टिक

लोच करके भगवान् से निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्याग्रहण एवं (४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की आराधना से मुक्तिप्राप्ति।[१]

सिद्ध होने वाले जीवों का संहननादिनिरूपण

३३. भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वं० २ एवं वयासी—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि संघयणे सिज्झंति ?

गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति एवं जहेव उववातिए तहेव 'संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउयं च परिवसणा' एवं सिद्धिगंडिया निरवसेसा भाणियव्वा जाव 'अव्वाबाहं सोक्खं अणुहुंती सासयं सिद्धा।'

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए नवमो उद्देसो समत्तो ॥ ११.९ ॥

[३३ प्र.] श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके भगवान् गौतम ने इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! सिद्ध होने वाले जीव किस संहनन से सिद्ध होते हैं ?'

[३३ उ.] गौतम ! वे वज्रऋषभनाराचसंहनन से सिद्ध होते हैं; इत्यादि औपपातिकसूत्र के अनुसार संहनन, संस्थान, उच्चत्व (अवगाहना), आयुष्य, परिवसन (निवास), इस प्रकार सम्पूर्ण सिद्धिगण्डिका—'सिद्ध जीव अव्याबाध शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं', यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—सिद्धों के योग्य संहननादि निरूपण—नौंवे उद्देशक के इस अन्तिम सूत्र में सिद्ध होने वाले जीवों के योग्य संहनन का प्रतिपादन करके संस्थान, अवगाहना, आयुष्य और परिवसन आदि के लिए आपैपातिकसूत्र का अतिदेश किया गया है। सिद्धों के संहनन आदि इस प्रकार हैं—

संहनन—वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले सिद्ध होते हैं।

संस्थान—छह प्रकार के संस्थानों में से किसी एक संस्थान से सिद्ध होते हैं।

उच्चत्व—सिद्धों की (तीर्थंकरों की अपेक्षा) अवगाहना जघन्य सात रत्नि (मुंडहाथ) प्रमाण और उत्कृष्ट ५०० धनुष होती है।

आयुष्य—सिद्ध होने वाले जीव का आयुष्य जघन्य कुछ अधिक ८ वर्ष का, उत्कृष्ट पूर्वकोटिप्रमाण होता है।

परिवसना—(निवास)—सिद्ध होने वाले जीव सर्वार्थसिद्ध महाविमान के ऊपर की स्तूपिका के अग्रभाग से १२ योजन ऊपर जाने के बाद ईषत्-प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है, जो ४५ लाख योजन लम्बी-चौड़ी है,

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५२५-५२६

वर्ण से अत्यन्त श्वेत है, अतिरम्य है, उसके ऊपर वाले योजन पर लोक का अन्त होता है। उक्त योजन के ऊपर वाले एक गाऊ (गव्यूति) के उपरितन १६ भाग में सिद्ध निवास करते हैं। इसके पश्चात् सारी सिद्धगण्डिका समस्त दु:खों का छेदन करके जन्म-जरा-मरण के बन्धनों से विमुक्त, सिद्ध, शाश्वत एवं अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं; यहाँ तक कहना चाहिये।[१]

॥ ग्यारहवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ५२०-५२१
(ख) औपपातिकसूत्र, सू. ४३, पत्र ११२ (आगमोदय.)

दसमो उद्देसओ : दसवाँ उद्देशक

लोग : लोक (के भेद-प्रभेद)

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर से) यावत् इस प्रकार पूछा—

२. कतिविधे णं भंते ! लोए पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तं जहा—दव्वलोए खेत्तलोए काललोए भावलोए।

[२ प्र.] भगवन् ! लोक कितने प्रकार का है ?

[२ उ.] गौतम ! लोक चार प्रकार का कहा है। यथा—(१) द्रव्यलोक, (२) क्षेत्रलोक, (३) काललोक और (४) भावलोक।

विवेचन—लोक और उसके मुख्य प्रकार—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त सम्पूर्ण द्रव्यों के आधाररूप चौदह रज्जूपरिमित आकाशखण्ड को **लोक** कहते हैं। वह लोक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से मुख्यतया ४ प्रकार का है।

द्रव्यलोक—द्रव्यरूप लोक द्रव्यलोक है। उसके दो भेद—आगमत: नोआगमत:। जो लोक शब्द के अर्थ को जानता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है। उसे **आगमत : द्रव्यलोक** कहते हैं। **नो-आगमतः द्रव्यलोक** के तीन भेद हैं—ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त। जिस व्यक्ति ने पहले लोक शब्द का अर्थ जाना था, उसके मृत शरीर को '**ज्ञशरीर-द्रव्यलोक**' कहते हैं। जिस प्रकार भविष्य में, जिस घट में मधु रखा जाएगा, उस घट को अभी से 'मधुघट' कहा जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति भविष्य में लोक शब्द के अर्थ को जानेगा, उसके सचेतन शरीर को '**भव्यशरीर-द्रव्यलोक**' कहते हैं। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को '**ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त-द्रव्यलोक**' कहते हैं।

क्षेत्रलोक—क्षेत्ररूप लोक क्षेत्रलोक कहते हैं। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में जितने आकाशप्रदेश हैं, वे क्षेत्रलोक कहलाते हैं।

काललोक—समयादि कालरूप लोक को काललोक कहते हैं। वह समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, परावर्त्त आदि के रूप में अनेक प्रकार का है।

भावलोक—भावरूप लोक दो प्रकार का है—**आगमतः, नोआगमतः। आगमतः** भावलोक वह है, जो लोक शब्द के अर्थ का ज्ञाता और उसमें उपयोग वाला है। **नोआगमतः भावलोक**—औदयिक, औपशमिक,

क्षायिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक तथा सान्निपातिक रूप से ६ प्रकार का है।[1]

३. खेत्तलोए णं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पन्नत्ते, जहा—अहेलोयखेत्तलोए १ तिरियलोयखेत्तलोए २ उड्ढलोयखेत्तलोए ३।

[३ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रलोक कितने प्रकार का कहा गया है।

[३ उ.] गौतम ! (वह) तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—१-अधोलोक-क्षेत्रलोक, २-तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक और ३- ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक।

४. अहेलोयखेत्तलोए णं भंते! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—रयणप्पभापुढविअहेलोयखेत्तलोए जाव अहेसत्तमपुढवि-अहेलोयखेत्तलोए।

[४ प्र.] भगवन् ! अधोलोक-क्षेत्रलोक कितने प्रकार है ?

[४ उ.] गौतम ! (वह) सात प्रकार का है यथा—रत्नप्रभापृथ्वी-अधोलोक-क्षेत्रलोक, यावत् अध:सप्तमपृथ्वी-अधोलोक-क्षेत्रलोक।

५. तिरियलोयखेत्तलोए णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जतिविधे पन्नत्ते, तं जहा—जंबुद्दीवतिरियलोयखेत्तलोए जाव सयंभुरमणसमुद्द-तिरियलोयखेत्तलोए।

[५ प्र.] भगवन् ! तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[५ उ.] गौतम ! (वह) असंख्यात प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—जम्बूद्वीप-तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक, यावत् स्वयम्भूरमणसमुद्र-तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक।

६. उड्ढलोगखेत्तलोए णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पण्णरसविधे पन्नते, तं जहा—सोहम्मकप्पउड्ढलोगखेत्तलोए जाव अच्चुयउड्ढलोग० गवेज्जविमाणउड्ढलोग० अणुत्तरविमाण० इसिपब्भारपुढविउड्ढलोगखेत्तलोए।

[६ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[६ उ.] गौतम ! (वह) पन्द्रह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१-१२) सौधर्मकल्प-ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक, यावत् अच्युतकल्प-ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक (१३) ग्रैवेयक विमान-ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक, (१४) अनुत्तरविमान-ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक, और (१५) ईषत्प्राग्भारपृथ्वी-ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक।

---

१. भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ५२३

विवेचन—त्रिविध क्षेत्रलोक प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ३ से ६ तक) में ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं मध्यलोक के रूप में त्रिविध क्षेत्रलोक के अनेक प्रभेद बतलाए गए हैं।

लोक और अलोक के संस्थान की प्ररूपणा

७. अहेलोगखेत्तलोए णं भंते ! किंसंठिते पन्नत्ते ?

गोयमा ! तप्पागारसंठिए पन्नत्ते।

[७ प्र.] भगवन् ! अधोलोक-क्षेत्रलोक का किस प्रकार का संस्थान (आकार) कहा गया है ?

[७ उ.] गौतम ! वह त्रपा (तिपाई) के आकार का कहा गया है।

८. तिरियलोगखेत्तलोए णं भंते ! किंसंठिए पन्नत्ते ?

गोयमा ! झल्लरिसंठिए पन्नत्ते।

[८ प्र.] भगवन् ! तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक का संस्थान (आकार) किस प्रकार का कहा गया है ?

[८ उ.] गौतम ! वह झालर के आकार का कहा गया है।

९. उड्ढलोगखेत्तलोग पुच्छा। उड्ढमुतिंगाकारसंठिए पन्नत्ते।

[९ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक किस प्रकार के संस्थान (आकार) का है ?

[९ उ.] गौतम ! (वह) ऊर्ध्वमृदंग के आकार (संस्थान) का है।

१०. लोए णं भंते ! किंसंठिए पन्नत्ते ?

गोयमा ! सुपइट्ठगसंठिए लोए पन्नत्ते, तं जहा हेट्ठा वित्थिणे, मज्झे संखित्ते जहा सत्तमसए पढमे उद्देसए (स० ७ उ० १ सु० ५) जाव अंतं करेति।

[१० प्र.] भगवन् ! लोक का संस्थान (आकार) किस प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] गौतम ! लोक सुप्रतिष्ठक (शराव—सकोरे) के आकार का है। यथा—वह नीचे विस्तीर्ण (चौड़ा) है, मध्य में संक्षिप्त (संकीर्ण—संकड़ा) है, इत्यादि सातवें शतक के प्रथम उद्देशक में कहे अनुसार जानना चाहिए। यावत्—उस लोक को उत्पन्न ज्ञान-दर्शन-धारक केवलज्ञानी जानते हैं, इसके पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, यावत् समस्त दुःखों का अन्त करते हैं।

११. अलोए णं भंते ! किंसंठिए पन्नत्ते ?

गोयमा ! झुसिरगोलसंठिए पन्नत्ते।

[११ प्र.] भगवन् ! अलोक का संस्थान (आकार) कैसा है ?

[११ उ.] गौतम ! अलोक का संस्थान पोले गोले के समान है।

विवेचन—तीनों लोकों, एवं अलोक का आकार—प्रस्तुत ५ सूत्रों (सू. ७ से ११) में अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक, लोक एवं अलोक के आकार का निरूपण किया गया है।

ऊर्ध्वलोक का आकार—खड़ी मृदंग के समान है।

लोक का आकार—शराव (सकोरे) जैसा है। अर्थात्—नीचे एक उलटा शराव रखा जाए, उसके ऊपर का एक शराव सीधा रखा जाए, फिर उसके ऊपर एक शराव उलटा रखा जाए, इस प्रकार का जो आकार बनता है, वह लोक का आकार है।

लोक का प्रमाण—सुमेरु पर्वत के नीचे अष्टप्रदेशी रुचय है, उसके निचले प्रतर के नीचे नौ सौ योजन तक तिर्यग्लोक है, उसके आगे अध:स्थित होने से अधोलोक है, जो सात रज्जू से कुछ अधिक है तथा रुचकापेक्षया नीचे और ऊपर ९००-९०० योजन तिरछा होने से तिर्यग्लोक है। तिर्यग्लोक के ऊपर देशोन सप्तरज्जू प्रमाण ऊर्ध्वभागवर्ती होने से ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्व और अधोदिशा में कुल ऊँचाई १४ रज्जू है। ऊपर क्रमशः घटते हुए ७ रज्जू की ऊँचाई पर विस्तार १ रज्जू है। फिर क्रमशः बढ़कर ९$\frac{१}{२}$ से १०$\frac{१}{२}$ रज्जू तक की ऊँचाई पर विस्तार ५ रज्जू है। फिर क्रमशः घट कर मूल से १४ रज्जू की ऊँचाई पर विस्तार १ रज्जू का है। यों कुल ऊंचाई १४ रज्जू होती है।

तीनों लोकों के नाम, परिणामों की अपेक्षा से—क्षेत्र के प्रभाव से जिस लोक में द्रव्यों के प्राय: अशुभ (अध:) परिणाम होते हैं, इसलिए वह अधोलोक कहलाता है। मध्यम (न अतिशुभ, न अति-अशुभ) परिणाम होने से मध्य या तिर्यग्लोग कहलाता है तथा द्रव्यों का ऊर्ध्व—ऊँचे शुभ परिणामों का बाहुल्य होने से ऊर्ध्वलोक कहलाता है।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—तप्पागारसंठिए—तिपाई के आकार का। **झल्लरिसंठिए**—झालर के आकार का। **उड्ढमुइंग**—ऊर्ध्व मृदंग। **सुपइट्ठ**—सुप्रतिष्ठक—सिकोरा, **वित्थिण्णे**—विस्तीर्ण। **संखित्ते**—संक्षिप्त। **झुसिर**—पोला।

अधोलोकादि में जीव-अजीवादि की प्ररूपणा

१२. अहेलोगखेत्तलोए णं भंते ! किं जीवा, जीवादेसा, जीवपदेसा० ? एवं जहा इंदा दिसा (स० १० उ० १ सु० ८) तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव अद्धासमए।

[१२ प्र.] भगवन् ! अधोलोक-क्षेत्रलोक में क्या जीव हैं, जीव के देश हैं, जीव के प्रदेश हैं ? अजीव हैं, अजीव के प्रदेश हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार दसवें शतक के प्रथम उद्देशक (सू. ८) में ऐन्द्री दिशा के विषय में कहा,

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५२३

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १९०२

उसी प्रकार यहाँ भी समग्र वर्णन कहना चाहिए; यावत्—अद्धा-समय (काल) रूप है।

१३. तिरियलोगखेत्तलोए णं भंते ! किं जीवा ?

एवं चेव।

[१३ प्र.] भगवन् ! क्या तिर्यग्लोक में जीव हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१३ उ.] गौतम ! (इस विषय में समस्त वर्णन) पूर्ववत् जानना चाहिए।

१४. एवं उड्ढलोगखेत्तलोए वि। नवरं अरूवी छव्विहा, अद्धासमओ नत्थि।

[१४] इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक के विषय में भी जानना चाहिए; परन्तु इतना विशेष है कि ऊर्ध्वलोक में अरूपी के छह भेद ही हैं, क्योंकि वहाँ अद्धासमय नहीं है।

१५. लोए णं भंते ! किं जीवा० ?

जहा बितियसए अत्थिउद्देसए लोयागासे (स० २ उ० १० सु० ११), नवरं अरुवी सत्तविहा जाव अधम्मत्थिकायस्स पदेसा, नो आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए। सेसं तं चेव।

[१५ प्र.] भगवन् ! क्या लोक में जीव हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१५ उ.] गौतम ! जिस प्रकार दूसरे शतक के दसवें (अस्ति) उद्देशक (सू. ११) में लोकाकाश के विषय में जीवादि का कथन किया है, (उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।) विशेष इतना ही है कि यहाँ अरूपी के सात भेद कहने चाहिए; यावत् अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, आकाशास्तिकाय का देश, आकाशास्तिकाय के प्रदेश और अद्धा-समय। शेष पूर्ववत् जानना चाहिए।

१६. अलोए णं भंते ! किं जीवा० ?

एवं जहा अत्थिकायद्देसए अलोगागासे (स. २ उ. १० सु. १२) तहेव निरवसेसं जाव अणंतभागूणे।

[१६ प्र.] भगवन् ! क्या अलोक में जीव हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१६ उ.] गौतम ! दूसरे शतक के दसवें अस्तिकाय उद्देशक (सू. १२) में जिस प्रकार अलोकाकाश के विषय में कहा, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए; यावत् वह आकाश के अनन्तवें भाग न्यून है।

विवेचन—अधोलोक आदि में जीव आदि का निरूपण—प्रस्तुत ५ सूत्रों (१२ से १६ तक) में अधोलोक, तिर्यग्लोक, ऊर्ध्वलोक, लोक और अलोक में जीवादि के अस्तित्व-नास्तित्व का निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—अधोलोक और तिर्यग्लोक में जीव, जीव के देश, प्रदेश तथा अजीव, अजीव के देश, प्रदेश और अद्धा-समय, ये ७ हैं, किन्तु ऊर्ध्वलोक में सूर्य के प्रकाश से प्रकटित काल न होने अद्धा-समय को छोडकर

शेष ६ बोल हैं। लोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों अखण्ड होने से इस दोनों में देश नहीं हैं। इसलिए धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं। लोक में आकाशास्तिकाय सम्पूर्ण नहीं, किन्तु उसका एक भाग है। इसलिए कहा गया—आकाशास्तिकाय का प्रदेश तथा उसके देश हैं। लोक में काल भी है।

अलोक में एकमात्र अजीवद्रव्य का देशरूप अलोकाकाश है, वह भी अगुरुलघु है। वह अनन्त अगुरुलघु गुणों से संयुक्त आकाश के अनन्तवें भाग न्यून है। पूर्वोक्त सातों बोल अलोक में नहीं हैं।[1]

अधोलोकादि के एक प्रदेश में जीवादि की प्ररूपणा

१७. अहेलोगखेत्तलोगस्स णं भंते। एगम्मि आगासपएसे किं जीवा, जीवदेसा, जीवपदेसा, अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपएसा ?

गोयमा ! नो जीवा, जीवदेसा वि जीवपदेसा वि अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपदेसा वि। जे जीवदेसा ते नियमं एगिंदियदेसा; अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स देसे, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियाण य देसा; एवं मज्झिल्लविरहिओ जाव अणिंदिएसु जाव अहवा एगिंदियदेसा य अणिंदियाण देसा। जे जीवपदेसा ते नियमं एगिंदियपएसा, अहवा एगिंदियपएसा य बेइंदियस्स पएसा, अहवा एगिंदियपएसा य बेइंदियाण य पएसा, एवं आदिल्लविरहिओ जाव पंचिंदिएसु, अणिदिएसु तिय भंगो। जे अजीवा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—रूवी अजीवा य, अरूवी अजीवा य। रूवी तहेव। जे अरूवी अजीवा ते पंचविहा पन्नत्ता, तं जहा—नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे १, धम्मत्थिकायस्स पदेसे २, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि ३-४, अद्धासमए ५।

[१७ प्र.] भगवन् ! अधोलोक-क्षेत्रलोक के एक आकाशप्रदेश में क्या जीव हैं; जीव के देश हैं, जीव के प्रदेश हैं, अजीव हैं, अजीव के देश हैं या अजीव के प्रदेश हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! (वहाँ) जीव नहीं, किन्तु जीवों के देश हैं, जीवों के प्रदेश भी हैं, तथा अजीव हैं, अजीवों के देश हैं और अजीवों के प्रदेश भी हैं। इनमें जो जीवों के देश हैं, वे नियम से (१) एकेन्द्रिय जीवों के देश हैं, (२) अथवा एकेन्द्रियों के देश और द्वीन्द्रिय जीव का एक देश है, (३) अथवा एकेन्द्रिय जीवों के देश और द्वीन्द्रिय जीव के देश हैं; इसी प्रकार मध्यम भंग-रहित (एकेन्द्रिय जीवों के देश और द्वीन्द्रिय जीव के देश—इस मध्यम भंग से रहित), शेष भंग, यावत् अनिन्द्रिय तक जानना चाहिए; यावत् अथवा एकेन्द्रिय जीवों के देश और अनिन्द्रिय जीवों के देश हैं। इनमें जो जीवों के प्रदेश हैं, वे नियम से एकेन्द्रिय जीवों के प्रदेश हैं, अथवा एकेन्द्रिय जीवों के प्रदेश और एक द्वीन्द्रिय जीव के प्रदेश हैं, अथवा एकेन्द्रिय जीवों का प्रदेश और द्वीन्द्रिय जीवों के प्रदेश हैं। इसी प्रकार यावत् पंचेन्द्रिय तक प्रथम भंग को छोड़ कर दो-दो भंग कहने चाहिए; अनिन्द्रिय में तीनों भंग कहने चाहिए।

---

१. भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ५२४

उनमें जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के हैं यथा—रूपी अजीव और अरूपी अजीव। रूपी अजीवों का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। अरूपी अजीव पांच प्रकार—कहे गये हैं—यथा (१) धर्मास्तिकाय का देश, (२) धर्मास्तिकाय का प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकाय का देश, (४) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश और (५) अद्धा-समय।

१८. तिरियलोगखेत्तलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपदेसे किं जीवा० ?

एवं जहा अहेलोगखेत्तलोगस्स तहेव।

[१८ प्र.] भगवन् ! क्या तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक के एक आकाशप्रदेश में जीव हैं; इत्यादि प्रश्न।

[१८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार अधोलोक-क्षेत्रलोक के विषय में कहा है, उसी प्रकार तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक के विषय में समझ लेना चाहिए।

१९. एवं उड्ढलोगखेत्तलोगस्स वि, नवरं अद्धासमओ नत्थि, अरूवी चउव्विहा।

[१९] इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक के एक आकाशप्रदेश के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष इतना है कि वहाँ अद्धा-समय नहीं है, (इस कारण) वहाँ चार प्रकार के अरूपी अजीव हैं।

२०. लोगस्स जहा—अहेलोगखेत्तलोगस्स एगम्मि आगासपदेसे।

[२०] लोक के आकाशप्रदेश के विषय में भी अधोलोक-क्षेत्रलोक के आकाशप्रदेश के कथन के समान जानना चाहिए।

२१. अलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे० पुच्छा।

गोयमा ! नो जीवा, नो जीवदेसा, तं चेव जाव अणंतेहिं अगरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासस्स अणंतभागूणे।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या अलोक के एक आकाशप्रदेश में जीव हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२१ उ.] गौतम ! वहाँ जीव नहीं हैं, जीवों के देश नहीं हैं, इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिए; यावत् अलोक अनन्त अगुरुलघुगुणों से संयुक्त है और सर्वाकाश के अनन्तवें भाग न्यून है।

विवेचन—अधोलोकादि के एक आकाशप्रदेश में जीवादि की प्ररूपणा—प्रस्तुत ५ सूत्रों (१७ से २१ तक) में अधोलोक, तिर्यग्लोक, ऊर्ध्वलोक, लोक और अलोक के एक आकाशप्रदेश में जीव, जीव के देश-प्रदेश, अजीव, अजीव के देश-प्रदेश आदि के विषय में प्ररूपणा की गई है।[१]

त्रिविध क्षेत्रलोक-अलोक में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से जीवाजीवद्रव्य

२२. [१] दव्वओ णं अहेलोगखेत्तलोए अणंता जीवदव्वा, अणंता अजीवदव्वा, अणंता जीवाजीवदव्वा।

१. वियाहपण्णत्ति (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५२८-५२९

[२२-१] द्रव्य से—अधोलोक-क्षेत्रलोक में अनन्त जीवद्रव्य हैं, अनन्त अजीवद्रव्य हैं, और अनन्त जीवाजीवद्रव्य हैं।

[२] एवं तिरियलोयखेत्तलोए वि।

[२२-२] इसी प्रकार तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक में भी जानना चाहिए।

[३] एवं उड्ढलोयखेत्तलोए वि।

[२२-३] इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक में भी जानना चाहिए।

२३. दव्वओ ण अलोए णेवत्थि जीवदव्वा, नेवत्थि अजीवदव्वा, नेवत्थि जीवाजीवदव्वा, एगे अजीवदव्वस्स देसे जाव सव्वागासअणंतभागूणे।

[२३] द्रव्य से अलोक में जीवद्रव्य नहीं, अजीवद्रव्य नहीं और जीवाजीवद्रव्य भी नहीं, किन्तु अजीवद्रव्य का एक देश है, यावत् सर्वाकाश के अनन्तवें भाग न्यून है।

२४. [१] कालओ णं अहेलोयखेत्तलोए न कदायि नासि जाव निच्चे।

[२४-१] काल से—अधोलोक-क्षेत्रलोक किसी समय नहीं था—ऐसा नहीं; यावत् वह नित्य है।

[२] एवं जाव अलोगे।

[२४-२] इसी प्रकार यावत् अलोक के विषय में भी कहना चाहिए।

२५. भावओ णं अहेलोगखेत्तलोए अणंता वण्णपज्जवा जहा खंदए (स. २ उ. १ सु. २४ [१]) जाव अणंता अगरुयलहुयपज्जवा।

[२५-१] भाव से—अधोलोक-क्षेत्रलोक में 'अनन्तवर्णपर्याय' हैं, इत्यादि, द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक (सू. २४-१) में वर्णित स्कन्दक-प्रकरण के अनुसार जानना चाहिए, यावत् अनन्त अगुरुलघु-पर्याय हैं।

[२] एवं जाव लोए।

[२५-२] इसी प्रकार यावत् लोक तक जानना चाहिए।

[३] भावओ णं अलोए नेवत्थि वण्णपज्जवा जाव नेवत्थि अगरुयलहुयपज्जवा, एगे अजीवदव्वदेसे जाव अणंतभागूणे।

[२५-३] भाव से—अलोक में वर्ण-पर्याय नहीं, यावत् अगुरुलघु-पर्याय नहीं है, परन्तु एक अजीवद्रव्य का देश है, यावत् वह सर्वाकाश के अनन्तवें भाग कम है।

विवेचन—द्रव्य, काल और भाव से लोकालोक-प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२२ से २४ तक) में द्रव्य, काल और भाव की अपेक्षा से लोक और अलोक की प्ररूपणा की गई है।

लोक की विशालता की प्ररूपणा

२६. लोए णं भंते ! के महालए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीव० जाव[1] परिक्खेवेणं। तेणं कालेणं तेणं समएणं छ देवा महिड्ढीया जाव महेसक्खा जंबुद्दीवे दीवे मंदरे पव्वए मंदरचूलियं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ताणं चिट्ठेज्जा। अहे णं चत्तारि दिसाकुमारिमहत्तरियाओ चत्तारि बलिपिंडे गहाय जंबुद्दीवस्स दीवस्स चउसु वि दिसासु बहियाभिमुहीओ ठिच्चा ते चत्तारि बलिपिंडे जमगसमगं बहियाभिमुहे पक्खिवेज्जा। पभू णं गोयमा ! तओ एगमेगे देवे ते चत्तारि बलिपिंडे धरणितलसंपत्ते खिप्पामेव पडिसाहरित्तए। ते णं गोयमा! देवा ताए उक्किट्ठाए जाव[2] देवगतीए एगे देवे पुरत्थाभिमुहे पयाते, एवं दाहिणाभिमुहे, एवं पच्चत्थाभिमुहे, एवं उत्तराभिमुहे, एवं उड्ढाभिमुहे, एगे देवे अहोभिमुहे पयाते। तेण कालेणं तेणं समएणं वाससहस्साउए दारए पयाए। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पहीणा भवंति, णो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति। तए णं तस्स दारगस्स आउए पहीणे भवति, णो चेव णं जाव संपाउणंति। तए णं तस्स दारगस्स अट्ठिमिंजा पहीणा भवंति, णो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति। तए णं तस्स दारगस्स आसत्तमे वि कुलवंसे पहीणा भवति, नो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति। तए णं तस्स दारगस्स नाम-गोते वि पहीणे भवति, नो चेव णं ते देवा लोगंतं संपाउणंति।

'तेसि णं भंते ! देवाणं किं गए बहुए, अगए बहुए ?'

'गोयमा ! गए बहुए, नो अगए बहुए, गयाओ से अगए असंखेज्जइभागे, अगयाओ से गए असंखेज्जगुणे। लोए णं गोयमा ! एमहालए पन्नत्ते।'

[२३ प्र.] भगवन् ! लोक कितना बड़ा (महान्) कहा गया है।

[२३ उ.] गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप, समस्त द्वीप-समुद्रों के मध्य में है, यावत् इसकी परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाइस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

(लोक की विशालता के लिए कल्पना करो कि—) किसी काल और किसी समय महर्द्धिक यावत् महासुख-सम्पन्न छह देव, मन्दर (मेरु) पर्वत पर मन्दर की चूलिका के चारों ओर खड़े रहें और नीचे चार दिशाकुमारी देवियां (महत्तरिकाएँ) चार बलिपिण्ड लेकर जम्बूद्वीप नामक द्वीप की (जगती पर) चारों दिशाओं

---

१. 'जाव' पद सूचित पाठ—"**सव्वदीवसमुद्दाणं अब्भंतरए सव्वखुड्डए वट्टे तेल्लापूपसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्क-वालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए एक्कं जोयेणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणे तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं य धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं ति।**" —*भगवती. अ. वृ; पत्र ५२७*

२. 'जाव' पद सूचित पाठ—"**तुरियाए चवलाए चंडाए सीहाए उद्धुयाए जयणाए छेयाए दिव्वाए।**"

—*भगवती. अ. वृ; पत्र ५२७*

में बाहर की ओर मुख करके खड़ी रहें। फिर वे चारों देवियाँ एक साथ चारों बलिपिण्डों को बाहर की ओर फैंकें। हे गौतम ! उसी समय उन देवों में से एक-एक (प्रत्येक) देव, चारों बलिपिण्डों को पृथ्वीतल पर पहुँचने से पहले ही, शीघ्र ग्रहण करने में समर्थ हों ऐसे उन देवों में से एक देव, हे गौतम ! उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से पूर्व में जाए, एक देव दक्षिणदिशा की ओर जाए, इसी प्रकार एक देव पश्चिम की ओर, एक उत्तर की ओर, एक देव ऊर्ध्वदिशा में और एक देव अधोदिशा में जाए। उसी दिन और उसी समय (एक गृहस्थ के) एक हजार वर्ष की आयु वाले एक बालक ने जन्म लिया। तदनन्तर उस बालक के माता-पिता चल बसे। (उतने समय में भी) वे देव, लोक का अन्त प्राप्त नहीं कर सके। उसके बाद वह बालक भी आयुष्य पूर्ण होने पर कालधर्म को प्राप्त हो गया। उतने समय में भी वे देव-लोक का अन्त प्राप्त न कर सके। उस बालक के हड्डी, मज्जा भी नष्ट हो गई, तब भी वे देव, लोक का अन्त नहीं पा सके। फिर उस बालक की सात पीढ़ी तक का कुलवंश नष्ट हो गया तब भी वे देव, लोक का अन्त प्राप्त न कर सके। तत्पश्चात् उस बालक के नाम-गोत्र भी नष्ट हो गए, उतने समय तक (चलते रहने पर) भी वे देव, लोक का अन्त प्राप्त न कर सके।

[प्र.] भगवन् ! उन देवों का गत (गया—उल्लंघन किया हुआ) क्षेत्र अधिक है या अगत (नहीं गया, नहीं चला हुआ) क्षेत्र अधिक है ?

[उ.] हे गौतम ! (उन देवों का) गतक्षेत्र अधिक है, अगतक्षेत्र गतक्षेत्र के असंख्यातवें भाग है। अगतक्षेत्र से गतक्षेत्र असंख्यातगुणा है। हे गौतम ! लोक इतना बड़ा (महान्) है।

विवेचन—लोक की विशालता का रूपक द्वारा निरूपण—प्रस्तुत २६वें सूत्र में भगवान् ने लोक की विशालता बताने के लिए असत्कल्पना से रूपक प्रस्तुत किया है।

शंका समाधान—यह शंका हो सकती है कि मेरुपर्वत की चूलिका से चारों दिशाओं में लोक का विस्तार आधा-आधा रज्जुप्रमाण है। ऊर्ध्वलोक में किंचित् न्यून सात रज्जु और अधोलोक में सात रज्जु से कुछ अधिक है। ऐसी स्थिति में वे सभी देव छहों दिशाओं में एक समान त्वरित गति से जाते हैं, तब फिर छहों दिशाओं में गतक्षेत्र अगतक्षेत्र के असंख्यातवें भाग तथा अगत से गतक्षेत्र असंख्यात गुणा कैसे बतलाया गया है, क्योंकि चारों दिशाओं की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा में क्षेत्रपरिमाण की विषमता है। इस शंका का समाधान यह है कि यहाँ घनकृत (वर्गीकृत) लोक की विवक्षा से यह रूपक कल्पित किया गया है। इसलिए कोई आपत्ति नहीं। मेरुपर्वत को मध्य में रखने से साढ़े तीन-साढ़े तीन रज्जु रह जाता है।

[प्र.] पूर्वोक्त तीव्र दिव्य देवगति से गमन करते हुए वे देव जब उतने लम्बे समय तक में लोक का छोर नहीं प्राप्त कर सकते, तब तीर्थंकर भगवान् के जन्मकल्याणादि में ठेठ अच्युत देवलोक तक से देव यहाँ शीघ्र कैसे आ सकते हैं, क्योंकि क्षेत्र बहुत लम्बा है और अवतरण-काल बहुत ही अल्प है ?

[उ.] इसका समाधान यह है कि तीर्थंकर भगवान् के जन्मकल्याणादि में देवों के आने की गति शीघ्रतम है। इस प्रकरण में बताई हुई गति मन्दतर है।

अलोक की विशालता का निरूपण

२७ अलोए णं भंते ! केमहालय पन्नत्ते ?

गोयमा ! अयं णं समयखेत्ते पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं जहा खंदए (स० २ उ० १ सु० २४ [३]) जाव परिक्खेवेणं। तेणं कालेणं तेणं समएणं दस देवा महिड्ढीया तहेव जाव संपरिक्खित्ताणं चिट्ठेज्जा, अहे णं अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरियाओ अट्ठ बलिपिंडे गहाय माणुसुत्तर-पव्वयस्स चउसु वि दिसासु चउसु वि विदिसासु बहियाभिमुहीओ ठिच्चा बलिपिंडे जमगसमगं बहियाभिमुहीओ पक्खिवेज्जा। पभू णं गोयमा ! तओ एगमेगे देवे ते अट्ठ बलिपिंडे धरणितलमसंपत्ते खिप्पामेव पडिसाहिरित्तए। ते णं गोयमा ! देवा ताए उक्किट्ठाए जाव देवगईए लोगंते ठिच्चा असब्भावपटठ्वणाए एगे देवे पुरुत्थाभिमुहे पयाए, एगे देवे दाहिणपुरत्थाभिमुहे पयाते, एवं जाव उत्तरपुरत्थाभिमुहे, एगे देवे उड्ढाभिमुहे, एगे देवे अहोभिमुहे पयाए। तेणं कालेणं तेणं समएणं वाससयसहस्साउए दारए पयाए। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पहीणा भवंति, नो चेव णं ते देवा अलोयंत संपाउणंति। तं चेव जाव 'तेसिं णं देवाणं किं गए बहुए, अगए बहुए ?'

'गोयमा ! नो गते बहुए, अगते बहुए, गयाओ से अगए अणंतगुणे, अगयाओ से गए अणंत-भागे। अलोए णं गोयमा ! एमहालए पन्नत्ते।'

[२७ प्र.] भगवन् ! अलोक कितना बड़ा कहा गया है ?

[२७ उ.] गौतम ! यह जो समयक्षेत्र है (मनुष्यक्षेत्र) है, वह ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा है, इत्यादि सब (श. २, उ. १, सू. २४-३ वर्णित) स्कन्दक प्रकरण के अनुसार जानना चाहिए; यावत् वह (पूर्वोक्तवत्) परिधियुक्त है।

(अलोक की विशालता बताने के लिए मान लो—) किसी काल और किसी समय में, दस महर्द्धिक देव, इस मनुष्यलोक को चारों ओर से घेर कर खड़े हों। उनके नीचे आठ दिशाकुमारियाँ, आठ बलिपिण्ड लेकर मनुषोत्तर पर्वत की चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में बाह्याभिमुख होकर खड़ी रहें। तत्पश्चात् वे उन आठों बलिपिण्डों को एक साथ मनुषोत्तर पर्वत से बाहर की ओर फैंकें। तब उन खड़े हुए देवों में से प्रत्येक देव उन बलिपिण्डों को धरती पर पहुँचने से पूर्व शीघ्र ही ग्रहण करने में समर्थ हों, ऐसी शीघ्र, उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति द्वारा वे दसों देव, लोक के अन्त में खड़े रह कर उनमें से एक देव पूर्व दिशा की ओर जाए, एक देव दक्षिणपूर्व की ओर जाए, इसी प्रकार यावत् एक देव उत्तरपूर्व की ओर जाए, एक देव ऊर्ध्वदिशा की ओर जाए और एक देव अधोदिशा में जाए (यद्यपि यह असद्भूतार्थ कल्पना है, जो सम्भव नहीं)। उस काल और उसी समय में एक गृहपति के घर में एक बालक का जन्म हुआ हो, जो कि एक लाख वर्ष की आयु वाला हो। तत्पश्चात् उस बालक के माता-पिता का देहावसान हुआ, इतने समय में भी देव अलोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सके। तत्पश्चात् उस बालक का भी देहान्त हो गया। उसकी अस्थि और मज्जा भी विनष्ट हो गई और उसकी सात पीढ़ियों के बाद वह कुल-वंश भी नष्ट हो गया तथा उसके नाम-गोत्र भी समाप्त हो गए। इतने लम्बे समय तक

चलते रहने पर भी वे देव अलोक के अन्त को प्राप्त नहीं कर सकते।

[प्र.] भगवन् ! उन देवों का गतक्षेत्र अधिक है, या अगतक्षेत्र अधिक है ?

[उ.] गौतम ! वहाँ गतक्षेत्र बहुत नहीं, अगतक्षेत्र ही बहुत है। गतक्षेत्र से अगतक्षेत्र अनन्तगुणा है। अगतक्षेत्र से गतक्षेत्र अनन्तवें भाग है। हे गौतम ! अलोक इतना बड़ा है।

विवेचन—अलोक की विशालता का माप—प्रस्तुत २७वें सूत्र में अलोक की विशालता का माप एक रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

आकाशप्रदेश पर परस्पर-सम्बद्ध जीवों का निराबाध अवस्थान

२८. [१] लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे जे एगिंदियपएसा जाव पंचिंदियपदेसा अणिंदियपएसा अन्नमन्नबद्धा जाव अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति, अत्थि णं भंते। अन्नमन्नस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं का उप्पाएंति, छविच्छेदं वा करेंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[२८-१ प्र.] भगवन् ! लोक के एक आकाशप्रदेश पर एकेन्द्रिय जीवों के जो प्रदेश हैं, यावत् पंचेन्द्रिय जीवों के और अनिन्द्रिय जीवों के जो प्रदेश हैं, क्या वे सभी एक दूसरे के साथ बद्ध हैं, अन्योन्य स्पृष्ट हैं यावत् परस्पर-सम्बद्ध हैं ? भगवन् ! क्या वे परस्पर एक दूसरे को आबाधा (पीड़ा) और व्याबाधा (विशेष पीड़ा) उत्पन्न करते हैं ? या क्या वे उनके अवयवों का छेदन करते हैं ?

[२८-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ लोगस्स णं एगम्मि आगासपएसे जे एगिंदियपएसा जाव चिट्ठंति नत्थि णं ते अन्नमन्नस्स किंचि आबाहं वा जाव करेंति ?

गोयमा ! जहानामए नट्टिया सिया सिंगारागारचारुवेसा जाव[१] कलिया रंगट्ठाणंसि जणसया-उलंसि जणसयसहस्साउलंसि बत्तीसतिविधस्स नट्टस्स अन्नयरं नट्टविहिं उवदंसेज्जा। ते नूणं गोयमा ! ते पेच्छगा तं नट्टियं अणिमिसाएं दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोएंति ?

'हंता, समभिलोएंति।'

ताओ णं गोयमा ! दिट्ठीओ तंसि नट्टियंसि सव्वाओ समंता सन्निवडियाओ ?

'हंता, सन्निवडियाओ।'

अत्थि णं गोयमा ! ताओ दिट्ठीओ तीसे नट्टियाए किंचि आबाहं वा उप्पाएंति, छविच्छेदं वा करेंति ?

---

१. 'जाव' पद सूचित पाठ—"**संगयगयहसियभणियचिट्ठियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकलिय त्ति।**"

—*भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५२७*

'णो इणट्ठे समट्ठे।' सा वा नट्टिया तासिं दिट्ठीणं किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पएंति, छविच्छेदं वा करेइ ?

'णो इणट्ठे समट्ठे।'

ताओ वा दिट्ठीओ अन्नमन्नाए दिट्ठीए किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएंति, छविच्छेदं वा करेंति?

'णो इणट्ठे समट्ठे।'

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति तं चेव जाव छविच्छेदं वा न करेंति।

[२८-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा है कि लोक के एक आकाशप्रदेश में एकेन्द्रियादि जीव-प्रदेश परस्पर बद्ध यावत् सम्बद्ध हैं, फिर भी वे एक दूसरे को बाधा या व्याबाधा नहीं पहुंचाते ? अथवा अवयवों का छेदन नहीं करते ?

[२८-२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार कोई शृंगार का घर एवं उत्तम वेष वाली यावत् सुन्दर गति, हास, भाषण, चेष्टा, विलास, ललित संलाप निपुण, युक्त उपचार से कलित नर्त्तकी सैकड़ों और लाखों व्यक्तियों से परिपूर्ण रंगस्थली में बत्तीस प्रकार के नाट्यों में से कोई एक नाट्य दिखाती है, तो—

[प्र.] हे गौतम ! वे प्रेक्षकगण (दर्शक) उस नर्त्तकी को अनिमेष दृष्टि से चारों ओर से देखते हैं न ?

[उ.] हाँ भगवन् ! देखते हैं।

[प्र.] गौतम ! उन (दर्शकों) की दृष्टियाँ चारों ओर से उस नर्त्तकी पर पड़ती हैं न?

[उ.] हाँ भगवन्! पड़ती हैं।

[प्र.] हे गौतम ! क्या उन दर्शकों की दृष्टियाँ उस नर्त्तकी को किसी प्रकार की (किंचित् भी) थोड़ी या ज्यादा पीड़ा पहुंचाती हैं ? या उसके अवयव का छेदन करती हैं ?

[उ.] भगवन्! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

[प्र.] गौतम ! क्या वह नर्त्तकी दर्शकों की उन दृष्टियों को कुछ भी बाधा-पीड़ा पहुंचाती है या उनका अवयव-छेदन करती है ?

[उ.] भगवन् ! यह अर्थ भी समर्थ नहीं है।

[प्र.] गौतम ! क्या (दर्शकों की) वे दृष्टियाँ परस्पर एक दूसरे को किंचित् भी बाधा या पीड़ा उत्पन्न करती हैं ? या उनके अवयव का छेदन करती हैं ?

[उ.] भगवन् ! यह अर्थ भी समर्थ नहीं।

हे गौतम ! इसी कारण से मैं ऐसा कहता हूँ कि जीवों का आत्मप्रदेश परस्पर बद्ध, स्पृष्ट और यावत् सम्बद्ध होने पर भी अबाधा या व्याबाधा उत्पन्न नहीं करते और न ही अवयवों का छेदन करते हैं।

विवेचन—नर्त्तकी के दृष्टान्त से जीवों के आत्मप्रदेशों की निराबाध सम्बद्धता-प्ररूपणा— प्रस्तुत सूत्र (२८) में नर्त्तकी के दृष्टान्त द्वारा एक आकाशप्रदेश में एकेन्द्रियादि जीवों के आत्मप्रदेशों की

सम्बद्धता या अवयवछेदन के अभाव का निरूपण किया गया है।[1]

कठिन शब्दों का अर्थ—आबाहं—अबाधा—थोड़ी पीड़ा। **वाबाहं**—व्याबाधा—विशेष पीड़ा। **छविच्छेदं**—अवयवों का छेदन। **अन्नमन्नबद्धा**—परस्पर बद्ध। **अण्णमण्णपुट्ठा**—परस्पर स्पृष्ट। **अन्नमन्नघडत्ताए**—परस्पर सम्बद्ध। **नट्टिया**—नर्त्तकी। **सिंगारागारचारुवेसा**—शृंगार का घर और सुन्दर वेष वाली। **जणसयाउलंसि जणसयसहस्साउलंसि**—सैकड़ों मनुष्यों से आकुल (व्याप्त) तथा लाखों मनुष्यों से व्याप्त। **सन्निवडियाओ**—पड़ती हैं। **पेच्छगा**—प्रेक्षक—दर्शक। **उप्पाएंति**—उत्पन्न करती हैं।[2]

बत्तीसतिविधस्स नट्टस्स : व्याख्या—बत्तीस प्रकार के नाट्यों में से। इन बत्तीस प्रकार के नाट्यों में से ईहामृग, ऋषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर आदि के भक्तिचित्र नाम का एक नाट्य है। इसी प्रकार के अन्य इकतीस प्रकार के नाट्य राजप्रश्नीयसूत्र में किये हुए वर्णन के अनुसार जान लेने चाहिए।[3]

एक आकाशप्रदेश में जघन्य-उत्कृष्ट जीवप्रदेशों एवं सर्व जीवों का अल्पबहुत्व

२९. लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे जहन्नपदे जीवपदेसाणं, उक्कोसपदे जीवपदेसाणं सव्वजीवाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा लोगस्स एगम्मि आगासपदेसे जहन्नपदे जीवपदेसा, सव्वजीवा असंखेज्जगुणा, उक्कोसपदे जीवपदेसा विसेसाहिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ ११.१० ॥

[२९ प्र.] भगवन् ! लोक के एक आकाशप्रदेश पर जघन्यपद में रहे हुए जीवप्रदेशों, उत्कृष्ट पद में रहे हुए जीवप्रदेशों और समस्त जीवों में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[२९] गौतम ! लोक के एक आकाशप्रदेश पर जघन्यपद में रहे हुए जीवप्रदेश सबसे थोड़े हैं, उनसे सर्वजीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे (एक आकाशप्रदेश पर)उत्कृष्ट पद में रहे हुए जीवप्रदेश विशेषाधिक हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—जीवप्रदेशों और सर्वजीवों का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत २९वें सूत्र में भगवान् ने लोक के एक आकाशप्रदेश पर जघन्य एवं उत्कृष्ट पद में रहे हुए जीवप्रदेशों तथा सर्वजीवों के अल्पबहुत्व का निरूपण किया है।

॥ ग्यारहवाँ शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५३१-५३२

२. भगवती. विवेचन, भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १९१२

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५२७

एकारसमो उद्देसओ : ग्यारहवाँ उद्देशक

काल : काल (आदि से सम्बन्धित चर्चा)

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणयिग्गामे नामं नगरे होत्था, वण्णओ। दूतिपलासए चेतिए, वण्णओ जाव पुढविसिलावट्टओ।

[१] उस काल और उस समय में वाणिज्यग्राम नामक नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ द्युतिपलाश नामक उद्यान था। उसका वर्णन करना चाहिए यावत् उसमें एक पृथ्वीशिलापट्ट था।

२. तत्थ णं वाणियग्गामे नगरे सुदंसणे नाम सेट्ठी परिवसति अड्ढे जाव अपरिभूते समणोवासए अभिगयजीवाजीवे विहरइ।

[२] उस वाणिज्यग्राम नगर में सुदर्शन नामक श्रेष्ठी रहता था। वह आढ्य यावत् अपरिभूत था। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता, श्रमणोपासक होकर यावत् विचरण करता था।

६. सामी समोसढे जाव परिसा पज्जुवासति।

[३] (एक बार) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का वहाँ पदार्पण हुआ, यावत् परिषद् पर्युपासना करने लगी।

४. तए णं सुदंसणे सेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे ण्हाते कय जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए सातो गिहाओ पडिनिक्खमति, सातो गिहाओ प० २ सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं पायविहारचारेणं महया पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ते वाणियग्गामं नगर मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता जेणेव दूतिपलासए चेतिए जेणेव समाणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, ते० उ० २ समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति, तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं जहा उसभदत्तो (स. ९ उ. ३३ सु. ११) जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासति।

[४] तत्पश्चात् वह सुदर्शन श्रेष्ठी इस बात (भगवान् के पर्दापण) को सुन कर अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। उसने स्नानादि किया, यावत् प्रायश्चित करके समस्त वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर अपने घर से निकला। फिर कोरंट-पुष्प की माला से युक्त छत्र धारण करके अनेक पुरुषवर्ग से परिवृत्त होकर, पैदल चलकर वाणिज्यग्राम नगर के बीचोंबीच होकर निकला और जहाँ द्युतिपलाश नामक उद्यान था, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आया। फिर (श. ९ उ. ३३ सू. ११ में) ऋषभदत्त-प्रकरण में जैसा कहा गया है, तदनुसार सचित द्रव्यों का त्याग आदि पांच अभिगमपूर्वक वह सुदर्शन श्रेष्ठी भी, श्रमण भगवान् महावीर के सम्मुख गया, यावत् तीन प्रकार से भगवान् की पर्युपासना करने लगा।

५. तए णं समणे भगवं महावीरे सुदंसणस्स सेट्ठिस्स तीसे य महतिमहालियाए जाव आराहए भवति।

[५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने सुदर्शन श्रेष्ठी और उस विशाल परिषद् को धर्मोपदेश दिया, यावत् वह आराधक हुआ।

६. तए णं से सुदंसणे सेट्ठी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता एवं वदासी—

[६] फिर वह सुदर्शन श्रेष्ठी श्रमण भगवान् महावीर से धर्मकथा सुन कर एवं हृदय में अवधारण करके अतीव हृष्ट-तुष्ट हुआ। उसने खड़े हो कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की तीन वार प्रदक्षिणा की और वन्दना-नमस्कार करके पूछा—

विवेचन—सुदर्शन श्रमणोपासक : भगवान् की सेवा में—प्रस्तुत ६ सूत्रों (१ से ६ तक) में वाणिज्यग्राम निवासी सुदर्शन श्रेष्ठी का परिचय, भगवान् का वाणिज्यग्राम में पदार्पण, सुदर्शन श्रेष्ठी का विधिपूर्वक भगवान् की सेवा में गमन, धर्मश्रवण एवं प्रश्न पूछने की उत्सुकता आदि का वर्णन है।[१]

काल और उसके चार प्रकार

७. कतिविधे णं भंते ! काले पन्नत्ते ?

सुदंसणा ! चउव्विहे काले पन्नत्ते, तं जहा—पमाणकाले १ अहाउनिव्वत्तिकाले २ मरणकाले ३ अद्धाकाले ४।

[७ प्र.] भगवन् ! काल कितने प्रकार का कहा गया है।

[७ उ.] हे सुदर्शन ! काल चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) प्रमाणकाल, (२) यथायुर्निवृत्ति काल, (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल।

विवेचन—काल के प्रकार—प्रस्तुत सप्तम सूत्र में काल के मुख्य चार भेदों की प्ररूपणा की गई है। इनके लक्षण आगे बताए जाएँगे।

प्रमाणकालप्ररूपणा

८. से किं तं पमाणकाले ?

पमाणकाले दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—दिवसप्पमाणकाले य १ रत्तिप्पमाणकाले य २। चउपोरिसिए दिवसे, चउपोरिसिया राती भवति। उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति। जहन्निया तिमुहुत्ता दिवस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति।

[८ प्र.] भगवन् ! प्रमाणकाल क्या है ?

[८ उ.] सुदर्शन ! प्रमाणकाल दो प्रकार का कहा गया है, यथा—दिवस-प्रमाणकाल और रात्रि-प्रमाणकाल। चार पौरुषी (प्रहर) का दिवस होता है और चार पौरुषी (प्रहर) की रात्रि होती है। दिवस और रात्रि

---

१. वियाहपण्णत्तिसुतं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ५३३

की पौरुषी उत्कृष्ट साढ़े चार मुहूर्त की होती है, तथा दिवस और रात्रि की जघन्य पौरुषी तीन मुहूर्त की होती है।

९. जदा णं भंते ! उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति तदा णं कतिभागमुहुत्तभागेणं परिहायमाणी परिहायमाणी जहन्निया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति ? जदा णं जहन्निया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति तदा णं कतिभागमुहुत्तभागेणं परिवड्ढमाणी परिवड्ढमाणी उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवइ ?

सुदंसणा ! जदा णं उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति तदा णं बावीससयभागमुहुत्तभागेणं परिहायमाणी परिहायमाणी जहन्निया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति। जदा वा जहन्निया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति तदा णं बावीससयभागमुहुत्तभागेणं परिवड्ढमाणी परिवड्ढमाणी उक्कोसिया अद्धपंचमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति।

[९ प्र.] भगवन् ! जब दिवस की या रात्रि की पौरुषी उत्कृष्ट साढ़े चार मुहूर्त की होती है, तब उस मुहूर्त का कितना भाग घटते-घटते जघन्य तीन मुहूर्त की दिवस और रात्रि की पौरुषी होती है ? और जब दिवस और रात्रि की पौरुषी जघन्य तीन मुहूर्त की होती है, तब मुहूर्त का कितना भाग बढ़ते-बढ़ते साढ़े चार मुहूर्त की पौरुषी होती है ?

[९ उ.] हे सुदर्शन ! जब दिवस और रात्रि की पौरुषी उत्कृष्ट साढ़े चार मुहूर्त की होती है, तब मुहूर्त का एक सौ बाईसवाँ भाग घटते-घटते जघन्य पौरुषी तीन मुहूर्त की होती है, और जब जघन्य पौरुषी तीन मुहूर्त की होती है, तब मुहूर्त का एक सौ बाईसवाँ भाग बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट पौरुषी साढ़े चार मुहूर्त की होती है।

१०. कदा णं भंते ! उक्कोसिआ अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति ? कदा वा जहन्निया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवति ?

सुदंसणा ! जदा णं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति तदा णं उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स पोरिसी भवति, जहन्नियातिमुहुत्ता रातीय पोरिसी भवति। जदा वा उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता रातीए पोरिसी भवइ, जहन्निया तिमुहुत्ता दिवसस्स पोरिसी भवइ।

[१० प्र.] भगवन् ! दिवस और रात्रि की उत्कृष्ट साढ़े चार मुहूर्त की पौरुषी कब होती है और जघन्य तीन मुहूर्त की पौरुषी कब होती है ?

[१० उ.] हे सुदर्शन ! जब उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है तथा जघन्य बारह मुहूर्त की छोटी रात्रि होती है, तब साढ़े चार मुहूर्त की दिवस की उत्कृष्ट पौरुषी होती है और रात्रि की तीन मुहूर्त की सबसे छोटी पौरुषी होती है। जब उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त की बड़ी रात्रि होती है और जघन्य बारह मुहूर्त का छोटा दिन होता है, तब साढ़े चार मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि-पौरुषी होती है और तीन मुहूर्त की जघन्य दिवस-पौरुषी होती है।

११. कदा णं भंते ! उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती

भवति ? कदा वा उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ ?

सुदंसणा ! आसाढपुण्णिमाए उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवइ; पोसपुण्णिमाए णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति, जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति।

[११ प्र.] भगवन् ! अठारह मुहूर्त का उत्कृष्ट दिवस और बारह मुहूर्त की जघन्य रात्रि कब होती है ? तथा अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि और बारह मुहूर्त का जघन्य दिन कब होता है ?

[११ उ.] सुदर्शन ! अठारह मुहूर्त का उत्कृष्ट दिवस और बारह मुहूर्त की जघन्य रात्रि आषाढी पूर्णिमा को होती है; तथा अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि और बारह मुहूर्त का जघन्य दिवस पौषी पूर्णिमा को होता है।

१२. अत्थि णं भंते ! दिवसा य रातीओ य समा चेव भवंति ?

हंता, अत्थि।

[१२ प्र.] भगवन् ! कभी दिवस और रात्रि, दोनों समान भी होते हैं ?

[१२ उ.] हाँ, सुदर्शन ! होते हैं।

१३. कदा णं भंते ! दिवसा य रातीओ य समा चेव भवंति ?

सुदंसणा ! चेत्तसोयपुण्णिमासु णं, एत्थ णं दिवसा य रातीओ य समा चेव भवंति; पन्नरसमुहुत्ते दिवसे, पन्नरसमुहुत्ता राती भवती; चउभागमुहुत्तभागूणा चउमुहुत्ता दिवसस्स वा रातीए वा पोरिसी भवइ। से त्तं पमाणकाले।

[१३ प्र.] भगवन् ! दिवस और रात्रि, ये दोनों समान कब होते हैं ?

[१३ उ.] सुदर्शन ! चैत्र की और आश्विन की पूर्णिमा को दिवस और रात्रि दोनों समान (बराबर) होते हैं। उस दिन १५ मुहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात होती है तथा दिवस एवं रात्रि की पौने चार मुहूर्त की पौरुषी होती है।

इस प्रकार प्रमाणकाल कहा गया है।

विवेचन—प्रमाणकाल सम्बन्धी प्ररूपणा—जिससे दिवस, रात्रि, वर्ष, शतवर्ष आदि का प्रमाण जाना जाए, उसे **प्रमाणकाल** कहते हैं। यह दो प्रकार का माना गया है—दिवसप्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल। सामान्यतया दिन या रात्रि का प्रमाण चार-चार प्रहर का माना गया है। प्रहर को पौरुषी कहते हैं। जितने मुहूर्त का दिन या रात्रि होती है, उसका चौथा भाग पौरुषी कहलाता है। दिवस और रात्रि की उत्कृष्ट पौरुषी साढ़े चार मुहूर्त की होती है, और जघन्य पौरुषी तीन मुहूर्त की होती है।

उत्कृष्ट (बड़ा) दिन और रात्रि, कब ?—आषाढ़ी पूर्णिमा को १८ मुहूर्त का दिन और पौषी पूर्णिमा को १८ मुहूर्त की रात्रि होती है, यह कथन पंच-संवत्सर-परिमाण-युग के अन्तिम वर्ष की अपेक्षा से समझना चाहिए। दूसरे वर्षों में तो जब कर्कसंक्रान्ति होती है, तब ही १८ मुहूर्त का दिन और रात्रि होती है। जब १८ मुहूर्त

के दिन और रात होते हैं, तब उनकी पौरुषी ४ १/२ मुहूर्त की होती है।

समान दिवस और रात्रि—चैत्री और अश्विनी पूर्णिमा को दिन और रात्रि दोनों बराबर होते हैं, अर्थात्—इन दोनों में १५-१५ मुहूर्त का दिन और रात्रि होते हैं। यह कथन भी व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चय में तो कर्कसंक्रान्ति और मकरसंक्रान्ति से जो ९२वाँ दिन होता है, तब रात्रि और दिवस दोनों समान होते हैं।

जघन्य दिवस और रात्रि—बारह मुहूर्त की जघन्य रात्रि आषाढ़ी-पूर्णिमा को और १२ मुहूर्त का जघन्य दिन पौषी पूर्णिमा को होता है। जब १२ मुहूर्त के दिन और रात होते हैं, तब दिन एवं रात्रि की पौरुषी तीन मुहूर्त की होती है।[१]

यथायुर्निर्वृत्तिकाल-प्ररूपणा

१४. से किं तं अहाउनिव्वत्तिकाले ?

अहाउनिव्वत्तिकाले, जं णं जेणं नेरइएण वा तिरिक्खजोणिएण वा मणुस्सेण वा देवेण वा अहाउयं निव्वत्तियं से त्तं अहाउनिव्वत्तिकाले।

[१४ प्र.] भगवन् ! यह यथायुर्निर्वृत्तिकाल क्या है ?

[१४ उ.] (सुदर्शन !) जिस किसी नैरयिक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य अथवा देव ने स्वयं जो (जिस गति का) और जैसा भी आयुष्य बांधा है, उसी प्रकार उसका पालन करना—भोगना, 'यथायुर्निर्वृत्तिकाल' कहलाता है।

यह हुआ यथायुर्निर्वृत्तिकाल का लक्षण।

विवेचन—यथायुर्निर्वृत्तिकाल की परिभाषा—चारों गतियों में से जिस गति के जीव ने जिस भव की जितनी आयु बांधी है, उतना आयुष्य भोगना यथायुर्निर्वृत्तिकाल कहलाता है।[२]

मरणकाल—प्ररूपणा

१५. से किं तं मरणकाले ?

मरणकाले, जीवो वा सरीराओ, सरीरं वा जीवाओ। से त्तं मरणकाले।

[१५ प्र.] भगवन् ! मरणकाल क्या है ?

[१५ उ.] सुदर्शन ! शरीर से जीव का अथवा जीव से शरीर का (पृथक् होने का काल) मरणकाल है, यह है—मरणकाल का लक्षण।

विवेचन—मरणकाल की परिभाषा—जीवन का अन्तिम समय, जब आत्मा शरीर से पृथक् होता है,

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५३३-५३४

२. यथा = येन प्रकारेणायुषो निर्वृत्तिः=बन्धनं, तथा यः.कालः-अवस्थितिरसौ यथायुर्निर्वृत्तिकालो नारकाद्यायुष्कलक्षणः।
– *भगवती अ. वृ. पत्र ५३३*

अथवा शरीर आत्मा से पृथक् होता है, वह मरणरूप काल मरणकाल कहलाता है। मरण शब्द काल का पर्यायवाची है, अतः मरण ही काल है।[१]

अद्धाकाल-प्ररूपणा

१६. [१] से किं ते अद्धाकाले ?

अद्धाकाले अणेगविहे पन्नत्ते, से णं समयट्ठयाए आवलियट्ठयाए जाव उस्सप्पिणिअट्ठयाए।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! अद्धाकाल क्या है ?

[१६-१ उ.] सुदर्शन ! अद्धाकाल अनेक प्रकार का कहा गया है। वह समयरूप प्रयोजन के लिए है, आवलिकारूप प्रयोजन के लिए है, यावत् उत्सर्पिणीरूप प्रयोजन के लिए है।

[२] एस णं सुदंसणा ! अद्धा दोहारच्छेदेणं छिज्जमाणी जाहे विभागं नो हव्वा मागच्छति से त्तं समए समयट्ठताए।

[१६-२ प्र.] हे सुदर्शन ! दो भागों में जिसका छेदन-विभाग न हो सके, वह 'समय' है, क्योंकि वह समयरूप प्रयोजन के लिए है।

[३] असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा 'आवलिय' त्ति पवुच्चइ। संखेज्जाओ आवलियाओ जहा सालिउद्देसओ (स. ६ उ. ७ सु. ४-५) जाव तं सागरोवमस्स उ एगस्स भवे परीमाणं।

[१६-३] असंख्य समयों के समुदाय की एक आवलिका कहलाती है। संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास होता है, इत्यादि छठे शतक के शालि नामक सातवें उद्देशक (सू. ४-७) में कहे अनुसार यावत्—'यह एक सागरोपम का परिमाण होता है', यहाँ तक जान लेना चाहिए।

विवेचन—अद्धाकाल : लक्षण, प्रकार एवं प्रयोजन—समय, आवलिका आदि काल, अद्धाकाल कहलाता है। इसके समय, आवलिकादि अनेक भेद हैं। समय से लेकर उत्सर्पिणी तक जितने भी कालमान हैं, सब अद्धाकाल के अन्तर्गत आते हैं।[२]

'समय' की परिभाषा—काल के सबसे छोटे भाग को 'समय' कहते हैं, जिसके फिर दो विभाग न हो सकें।[३]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५३४

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्र ५३५ : समयरूपोऽर्थः समयार्थस्तद्भावस्तत्ता तया समयार्थतया—समयभावेनेत्यर्थ :।

३. द्वौ हारौ भागौ यत्र छेदने-द्विधा वा कारः करणं यत्र तद् द्विहारं द्विधाकारं वा तेन यदा तदा समय इति शेषः।

—*भगवती अ. वृत्ति, पृ. ५३५*

पल्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

१७. एएहि णं भंते ! पलिओवम-सागरोवमेहिं किं पयोयणं।

सुदंसणा ! एएहि णं पलिओवम-सागरोवमेहिं नेरतिय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवाणं आउयाइं-मविज्जंति।

[१७ प्र.] भगवन् ! इन पल्योपम और सागरोपमों से क्या प्रयोजन है ?

[१७ उ.] हे सुदर्शन ! इन पल्योपम और सागरोपमों से नैरयिकों, तिर्यञ्चयोनिकों, मनुष्यों तथा देवों का आयुष्य नापा जाता है।

विवेचन—उपमाकाल : स्वरूप और प्रयोजन—पल्योपम और सागरोपम उपमाकाल हैं। चारगति के जीवों की जो आयु संख्या द्वारा नहीं मापी जा सकती, वह इस उपमाकाल द्वारा मापी जाती है।

नैरयिकादि समस्त संसारी जीवों की स्थिति की प्ररूपणा

१८. नेरइयाणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? एवं ठितिपदं निरवसेसं भाणियव्वं जाव अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

[१८ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१८ उ.] सुदर्शन ! इस विषय में प्रज्ञापनासूत्र का चौथा स्थितिपद सम्पूर्ण कहना चाहिए; यावत्-सर्वार्थसिद्ध देवों की अजघन्य-अनुत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति है।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की स्थिति का अतिदेश—प्रस्तुत १८वें सूत्र में नैरयिकों से लेकर सर्वार्थसिद्ध देवों तक के जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।[१]

पल्योपम-सागरोपम क्षयोपचयसिद्धि हेतु दृष्टान्तपूर्वक प्ररूपणा

१९. [१] अत्थि णं भंते ! एतेसिं पलिओवम-सागरोवमाणं खए ति वा अवचए ति वा ?

हंता, अत्थि।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! क्या इन पल्योपम और सागरोपम का क्षय या अपचय होता है ?

[१९-१ उ.] हाँ, सुदर्शन होता है।

[२] केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'अत्थि णं एएसिं पलिओवम-सागरोवमाणं जाव अवचये ति वा ?'

---

१. (क) पण्णवण्णासुत्तं भा. १, पद ४ स्थितिपद, सू. ४३५-४३७, पृ. ११२-१३५

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण)

[१९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि इन पल्योपम और सागरोपम का क्षय या अपचय होता है ?

महाबलवृत्तान्त

२०. एवं खलु सुदंसणा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणापुरे नामं नगरे होत्था, वण्णओ। सहसंबवणे उज्जाणे, वण्णओ।

[२०] (उदाहरण द्वारा समाधान—) हे सुदर्शन ! उस काल और उस समय में हस्तिनापुर नामक नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ समस्त्राम्रवन नामक उद्यान था। उसका वर्णन करना चाहिए।

२१. तत्थ णं हत्थिनापुरे नगरे बले नामं राया होत्था, वण्णओ।

[२१] उस हस्तिनापुर में 'बल' नामक राजा था। उसका वर्णन करना चाहिए।

२२. तस्स णं बलस्स रण्णो पभावती नामं देवी होत्था सुकुमाल० वण्णओ जाव विहरति।

[२२] उस बल राजा की प्रभावती नाम की देवी (पटरानी) थी। उसके हाथ-पैर सुकुमाल थे, इत्यादि वर्णन जानना चाहिए; यावत् पंचेन्द्रिय संबंधी सुखानुभव करती हुई जीवनयापन करती थी।

विवेचन—पल्योपम-सागरोपम के क्षय-अपचय की सिद्धि के लिए सुदर्शन श्रेष्ठी की पूर्वभवकथा-प्रारम्भ—प्रस्तुत ४ सूत्रों (१९ से २२ तक) में पल्योपम-सागरोपम के क्षय और अपचय को सिद्ध करने हेतु भगवान् ने सुदर्शन श्रेष्ठी के पूर्वभव की कथा प्रारम्भ की है। इसमें हस्तिनापुर नगर, सहस्राम्रवन-उद्यान, बल राजा, प्रभावती रानी, इनका वर्णन औपपातिकसूत्र द्वारा जान लेने का अतिदेश किया गया है।[१]

क्षय और अपचय—क्षय का अर्थ है—सम्पूर्ण विनाश। अपचय का अर्थ है—देशतः अपगम—क्षय।[२]

प्रभावती का वासगृहशय्या-सिंहस्वप्न-दर्शन

२३. तए णं सा पभावती देवी अन्नया कयाइ तंसि तारिसगंसि वासघरंसि अब्भितरओ सचित्तकम्मे बाहिरतो दूमियघट्ठमट्ठे विचित्तउल्लोचिल्लियतले मणिरतणपणासियंधकारे बहुसमसुविभत्तदेसभाए पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए कालागुरु-पवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंत-गंधुद्धुताभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूते तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टीए उभयो बिब्बोयणे दुहओ उन्नए मज्झे णय-गंभीरे गंगापुलिणवालुयउद्दालसालिसए ओयवियखोमियदुगुल्लपट्ट-पलिच्छायणे सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे आइणग-रूय-बूर-नवणीय-तूलफासे सुगंधवर-कुसुमचुण्णसयणोवयारकलिए अद्धरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी अयमेयारूवं आरोलं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं सस्सिरीयं महासुविणं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धा। हार-रयय-

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५३७

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५३९-५४०

खीर-सागर-ससंककिरण-दगरय-रययमहासेलपंडुरतरोरुरमणिज्जपेच्छणिज्जं थिरलट्ठपउट्ठवट्टपीवरसु-सिलिट्ठविसिट्ठतिक्खदाढाविडंबितमुहं परिकम्मियजच्चकमलकोमल-माइयसोभंतलट्ठउट्ठं रत्तुप्पलपत्तम-उयसुकुमालतालुजीहं मूसागयपवरकणगतावितआवत्तायंतवट्टतडिविमलसरिसनयणं विसालपीव-रोरुपडिपुण्णविपुलखंधं मिउविसदसुहुमलक्खणपसत्थवित्थिण्ण-केसररूडोवसोभियं ऊसियसुनिमित-सुजातअप्फोडितणंगूलं सोमं सोमाकारं लीलायंतं जंभायंतं नहयलातो ओवयमाणं निययवदणकमल-सरमतिवयंतं सीहं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धा।

[२३] किसी दिन वह प्रभावती देवी उस प्रकार के वासगृह के भीतर, उस प्रकार की अनुपम शय्या पर (सोई हुई थी।) (वह वासगृह) भीतर से चित्रकर्म से युक्त तथा बाहर से सफेद किया हुआ, एवं घिस कर चिकना बनाया हुआ था। जिसका ऊपरी भाग विविध चित्रों से युक्त तथा अधोभाग प्रकाश से देदीप्यमान था। मणियों और रत्नों के कारण उस (वासभवन) का अन्धकार नष्ट हो गया था। उसका भूभाग बहुतसम और सुविभक्त था। (फिर वह) पांच वर्ण के सरस और सुगन्धित पुष्पपुंजों के उपचार से युक्त था। उत्तम कालागुरु (काला अगर), कुन्दरुक और तुरुष्क (शिलारस) के धूप से वह वासभवन चारों ओर से महक रहा था। उसकी सुगन्ध से वह अभिराम तथा सुगन्धित पदार्थों से सुवासित था। एक तरह से वह सुगन्धित द्रव्य की गुटिका के जैसा हो रहा था। ऐसे आवासभवन में जो शय्या थी, वह अपने आप में अद्वितीय थी तथा शरीर के स्पर्श करते हुए उदाधान (पार्श्ववर्ती तकिये) से युक्त थी। फिर उस (शय्या) के दोनों (सिराहने और पादतल की) ओर तकिये रखे हुए थे। वह (शय्या) दोनों ओर से उन्नत थी, बीच में कुछ झुकी हुई एवं गहरी थी, एवं गंगानदी की तटवर्ती बालू अवदाल (पैर रखते ही नीचे धस जाने) के समान (अत्यन्त कोमल) थी। वह परिकर्मित (मुलायम बनाए हुए) क्षौमिक (रेशमी) दुकूलपट (चादर) से आच्छादित तथा सुन्दर सुरचित रजस्त्राण से युक्त थी। रक्तांशुक (लालरंग के सूक्ष्म वस्त्र) की मच्छरदानी उस पर लगी हुई थी। वह सुरम्य आजिनक (एक प्रकार के कोमल चर्मवस्त्र), रूई, बूर, नवनीत (मक्खन) तथा अर्कतूल (आक की रूई) के समान कोमल स्पर्श वाली थी; तथा सुगन्धित श्रेष्ठपुष्प, चूर्ण एवं शयनोपचार (शयनोपकरण) से युक्त थी।

ऐसी शय्या पर सोती हुई प्रभावती रानी, जब अर्धरात्रिकाल के समय कुछ सोती-कुछ जागती अर्धनिद्रित अवस्था में थी, तब स्वप्न में इस प्रकार का उदार, कल्याणरूप, शिव, धन्य, मंगलकारक एवं शोभायुक्त (सश्रीक) महास्वप्न देखा और जागृत हुई।

प्रभावती रानी ने स्वप्न में एक सिंह देखा, जो (मोतियों के) हार, रजत (चांदी), क्षीरसमुद्र, चन्द्रकिरण, जलकण, रजतमहाशैल के समान श्वेत वर्ण वाला था, (साथ ही) वह विशाल, रमणीय और दर्शनीय था। उसके प्रकोष्ठ स्थिर और सुन्दर थे। वह अपने गोल, पुष्ट, सुश्लिष्ट, विशिष्ट और तीक्ष्ण दाढाओं से युक्त मुंह को फाड़े हुए था। उसके ओष्ठ संस्कारित जातिमान् कमल के समान कोमल, प्रमाणोपेत एवं अत्यन्त सुशोभित थे। उसका तालु और जीभ रक्तकमल के पत्ते के समान अत्यन्त कोमल थी। उसके नेत्र, मूस में रहे हुए एवं अग्नि में तपाये हुए तथा आवर्त करते हुए उत्तम स्वर्ण के समान वर्ण वाले, गोल एवं विद्युत के समान विमल (चमकीले) थे। उसकी जंघा विशाल एवं पुष्ट थी। उसके स्कन्ध (कन्धे) परिपूर्ण और विपुल थे। वह मृदु (कोमल), विशद, सूक्ष्म एवं

प्रशस्त लक्षण वाली विस्तीर्ण केसर की जटा से सुशोभित था। वह सिंह अपनी सुनिर्मित, सुन्दर एवं उन्नत पूंछ को (पृथ्वी पर) फटकारता हुआ, सौम्य आकृति वाला, लीला करता हुआ, जंभाई लेता हुआ, गगनतल से उतरता हुआ तथा अपने मुख-कमल-सरोवर में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया। स्वप्न में ऐसे सिंह को देख कर रानी जागृत हुई।

विवेचन—वासगृहस्थित शयनीय वर्णनपूर्वक प्रभावती द्वारा सिंह के स्वप्न को देखने का वर्णन—प्रस्तुत २३ वें सूत्र में तीन तथ्यों का वर्णन किया है—(१) प्रभावती रानी का वासगृह, (२) शय्या एवं (३) सिंहस्वप्न-दर्शन।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—सचित्तकम्मं—चित्रकर्म-युक्त। **दूमियघट्टमट्ठे**—सफेदी किये हुए एवं घिस कर चिकने किये हुए। **उल्लोग**—ऊपर का भाग। **चिल्लियतले**—चमकीला नीचे का भाग। **मणिरतण-पणासियंधकारे**—मणियों और रत्नों के प्रकाश से अन्धकार नष्ट कर दिया था। **सालिंगण-वट्टिए**—शरीर-प्रमाण उपधान से युक्त। **पंचवण्ण-सरस-सुरभि-मुक्क-पुप्फपुंजोवयारकलिए**—पांच वर्ण के सरस सुगन्धित पुष्पपुंज के उपचार से युक्त। **कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्कधूव-मघ-मघंतगंधधुद्धुताभिरामे**—काला अगर, श्रेष्ठ कुन्दरुक्क (चीड़ा) एवं तुरुष्क (लोभान) के धूप की महकती हुई गन्ध से उड़ती हुई वायु से अभिराम। **उभओ बिब्बोयणे**—दोनों और तकिये रखे हुए थे। **गंगापुलिण-वालुय-उद्दाल-सालिसए**—गंगा के पुलिन (तट) की बालू के फिसलन (पैर लगते ही नीचे धंस जाने) की तरह अत्यन्त कोमल। **ओयविय-खोमिय-दुगुल्ल-पट्ट-पलिच्छायणे**—सुसंस्कारित रेशमी दुकूलपट से आच्छादित। **रत्तंसुय-संवुए**—रक्तांशुक की मच्छरदानी से ढकी हुई। **हार-रयय-खीरसागर-ससंककिरण-दगरय-रययमहासेलपंडुरतरोरु-रमणिज्जपेच्छणिज्जं**—मुक्ताहार, रजत, क्षीरसागर, चन्द्रकिरण, जलकण एवं रजत-महाशैल के समान पाण्डुर (श्वेत वर्ण), अतएव विशाल, रमणीय और दर्शनीय। **थिरलट्ठ-पउट्ठ-वट्ट-पीवर-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-तिक्ख-दाढा-विडंबितमुहं**—उसका स्थिर एवं सुन्दर प्रकोष्ठ था; तथा वह गोल, पुष्ट सुश्लिष्ट, विशिष्ट और तीक्ष्ण दाढों से युक्त मुख को फाड़े हुए था। **परिकम्मिय-जच्च-कमल-कोमल-माइय-सोभंत-लट्ठ-उट्ठं**—उसका होठ सुसंस्कारित जातिमान कोमल, कमल के समान, प्रमाणोपेत, सुन्दर एवं सुशोभित था। **रत्तुप्पल-पत्त-मउय-सुकुमाल-तालु-जीहं**—उसका तालु और जिह्वा रक्तकमल-पत्र के समान कोमल (मृदु) एवं सुकुमाल थी। **मूसागय-पवरकणग-तावित-आवत्तायंत-वट्ट-तडि-विमल-सरिस-नयणं**—उसके नयन मूस में रहे हुए तथा अग्नि में तपाए हुए तथा आवर्त करते हुए उत्तम स्वर्ण के समान वर्ण वाले, गोल तथा बिजली की चमक के समान थे। **विसाल-पीवरोरु-पडिपुण्ण-विपुलखंधं**—वह विशाल एवं पुष्ट जंघाओं वाला तथा परिपूर्ण विपुल स्कन्ध (कंधों) वाला था। **मिउ-विसद-सुहुम-लक्खण-पसत्थ-वित्थिण्ण-केसरसडोवसोभियं**—वह कोमल, विशद, सूक्ष्म एवं प्रशस्तलक्षण वाली; विशाल केसर जटाओं से सुशोभित था। **ऊसिय-सुनिम्मित-सुजात-अप्फोडितणंगूलं**—अपनी सुनिर्मित, सुन्दर एवं उन्नत पूंछ को

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५३७-५३८

फटकारता हुआ। **नहयलाओ**—गगनतल से। **ओवयमाणं**—उतरता हुआ। **नियय-वदण-कमल-सरमतिवयंते**—अपने मुखकमल—सरोवर में प्रविष्ट होता हुआ।[१]

रानी द्वारा स्वप्ननिवेदन तथा स्वप्नफलकथनविनति

२४. तए णं सा प्रभावती देवी अयमेयारूवं ओरालं जाव सस्सिरीयं महासुविणं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हिदया धाराहयकलंबगं पिव समूसवियरोमकूवा तं सुविणं ओगिण्हति, ओगिण्हित्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेति, अ० २ अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबिताए रायहंससरिसीए गतीए जेणेव बलस्स रण्णो सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ बलं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं ओरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीयाहिं मियमहुरमंजुलाहिं गिराहिं संलवमाणी संलवमाणी पडिबोहेति, पडि० २ बलेणं रण्णा अब्भणुण्णाया समाणी नाणामणि-रयणभत्तिचित्तंसि भद्दासणंसि णिसीयति, णिसीयित्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया बलं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं जाव संलवमाणी संलवमाणी एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! अज्ज तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगण० तं चेव जाव नियगवयणमतिवयंतं सीहं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धा। तं णं देवाणुप्पिया ? एतस्स ओरालस्स जाव महासुविणस्स के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सति ?

[२४] तदनन्तर वह प्रभावती रानी इस प्रकार के उस उदार यावत् शोभायुक्त महास्वप्न को देखकर जागृत होते ही अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुई; यावत् मेघ की धारा से विकसित कदम्बपुष्प के समान रोमांचित होती हुई उस स्वप्न का स्मरण करने लगी। फिर वह अपनी शय्या से उठी और शीघ्रता से रहित तथा अचपल, असम्भ्रमित (हड़बड़ी से रहित) एवं अविलम्बित अतएव राजहंस सरीखी गति से चलकर जहाँ बल राज की शय्या थी, वहाँ आई और बल राजा की शय्या के पास आकर उन्हें उन इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनाम, उदार, कल्याणरूप, शिव, धन्य, मंगलमय तथा शोभायुक्त परिमित, मधुर एवं मंजुल वचनों से पुकार कर जगाने लगी। राजा जागृत हुआ। राजा की आज्ञा होने पर रानी विचित्र मणि और रत्नों की रचना से चित्रित भद्रासन पर बैठी। उत्तम सुखासन से बैठ कर आश्वस्त (स्वस्थ) और विश्वस्त (शान्त) हुई रानी प्रभावती, बल राजा से इष्ट, कान्त यावत् मधुर वचनों से इस प्रकार बोली—"हे देवानुप्रिय ! आज में पूर्वोक्त वर्णन वाली सुख-शय्या पर सो रही थी, तब मैंने यावत् अपने मुख में प्रविष्ट होते हुए सिंह को स्वप्न में देखा और मैं जाग्रत हुई हूँ। तो हे देवानुप्रिय ! मुझे इस उदार यावत् महास्वप्न का क्या कल्याणरूप फल विशेष होगा ?"

विवेचन—प्रभावती रानी द्वारा राजा से स्वप्नदर्शन-निवेदन—प्रस्तुत २४ वें सूत्र में प्रभावती रानी द्वारा राजा के समक्ष अपने स्वप्ननिवेदन का तथा उसका फल जानने की उत्सुकता का वर्णन है।[२]

कठिन शब्दों का भावार्थ—धाराहयकलंबगं पिव समूसवियरोमकूवा—मेघ की धारा से विकसित

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४०-५४१

२. वियाहपण्णत्तिसुतं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ५३९

कदम्बपुष्प के समान रोमकूप विकसित हो गए। **ओगिण्हति**—मन में धारण (ग्रहण) करती है—स्मरण करती है। **असंभंताए**—बिना किसी हड़बड़ी के। **सस्सिरीयाहिं**—श्री-शोभा से युक्त। **मिय-महुर-मंजुलाहिं गिराहिं**—परिमित, मधुर एवं मंजुल वाणी से। **आसत्था-वीसत्था**—चलने में हुए श्रम के दूर होने से आश्वस्त (शान्त) एवं संक्षोभ का अभाव होने से विश्वस्त होकर। **फलवित्तिविसेसे**—फल विशेष। **कल्लाणाहिं**—कल्याणकारक। **मंगलाहिं**—मंगल रूप। **ओरालस्स**—उदार।[१]

प्रभावती-कथित स्वप्न का राजा द्वारा फलकथन

२५. तए णं से बले रायां प्रभावतीए देवीए अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हयहियये धाराहतणीमसुरभिकुसुमं व चंचुमालइयतणू ऊसवियरोमकूवे तं सुविणं ओगिण्हइ, ओ० २ ईहं पविसति, ईहं प० २ अप्पणो साभाविएणं मतिपुव्वएणं बुद्धिविण्णाणेणं तस्स सुविणस्स अत्थोग्गहणं करेति, तस्स० क० २ पभावतिं देविं ताविं इट्ठाहिं जाव मंगल्लाहिं मियमहुरसस्सिरीयाहिं वग्गूहिं संलवमाणे संलवमाणे एवं वयासी—"आरोले णं तुमे देवी ! सुविणे दिट्ठे कल्लाणे णं तुमे जाव सस्सिरीए णं तुमे देवी ! सुविणे दिट्ठे, आरोग्ग-तुट्ठि-दीहाउ-कल्लाण-मंगलकारए णं तुमे देवी ! सुविणे दिट्ठे, अत्थलाभो देवाणुप्पिए ! भोगलाभो देवाणुप्पिए ! पुत्तलाभो देवाणुप्पिए !, रज्जलाभो देवाणुप्पिए ! एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए ! णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण य राइंदिया-णं वीतिक्कतांणं अम्हं कुलकेउं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडेंसगं कुलतिलगं कुलकित्तिकरं कुलनंदिकरं कुलजसकरं कुलाधारं कुलपायवं कुलविवड्ढकरं सुकुमालपाणिपायं अहीणपुण्णपंचिंदियसरीरं जाव[२] ससिसोमागारं कंतं पियदंसणं सुरूवं देवकुमारसप्पभं दारगं पयाहिसि। से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सूरे वीरे विक्कंते वित्थिण्णविपुलबलवाहणे रज्जवती राया भविस्सति। तं ओराले णं तुमे देवी ! सुमिणे दिट्ठे जाव आरोग्य-तुट्ठि० जाव मंगल्लकारए णं तुमे देवी ! सुविणे दिट्ठे" त्ति कट्टु पभावतिं देविं ताहि इट्ठाहिं जाव वग्गूहिं दोच्चं पि तच्चं पि अणुवूहति।

[२५] तदनन्तर वह बल राजा प्रभावती देवी से इस (पूर्वोक्त स्वप्नदर्शन की) बात को सुनकर और समझकर हर्षित और संतुष्ट हुआ यावत् उसका हृदय आकर्षित हुआ। मेघ की धारा से विकसित कदम्ब के सुगन्धित पुष्प के समान उसका शरीर पुलकित हो उठा, रोमकूप विकसित हो गए। राजा बल उस स्वप्न के विषय में अवग्रह (सामान्य-विचार) करके ईहा (विशेष विचार) में प्रविष्ट हुआ, फिर उसने अपने स्वाभाविक बुद्धिविज्ञान से उस स्वप्न के फल का निश्चय किया। उसके बाद इष्ट, कान्त यावत् मंगलमय, परिमित, मधुर एवं शोभायुक्त सुन्दर वचन बोलता हुआ राजा रानी प्रभावती से इस प्रकार बोला—"हे देवी! तुमने उदार स्वप्न देखा है। देवी! तुमने कल्याणकारक यावत् शोभायुक्त स्वप्न देखा है। हे देवी ! तुमने आरोग्य, तुष्टि, दीर्घायु, कल्याणरूप एवं मंगलकारक स्वप्न देखा है। हे देवानुप्रिये ! (तुम्हें इस स्वप्न के फलस्वरूप) अर्थलाभ, भोगलाभ, पुत्रलाभ और राज्यलाभ होगा। हे देवानुप्रिये ! नौ मास और साढ़े सात दिन (अहोरात्र) व्यतीत होने

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४१, (ख) भगवती. विवेचन (पं. घे.) भा. ४., पृ. १९२८

२. 'जाव' पद सूचित पाठ—**लक्खण-वंजण-गुणोववेयमित्यादि**। —अ. वृ. पत्र ५४१

पर तुम हमारे कुल में केतु- (ध्वज) समान, कुल के दीपक, कुल में पर्वततुल्य, कुल का यश बढ़ाने वाले, कुल के आधार, कुल में वृक्ष समान, कुल की वृद्धि करने वाले, सुकुमाल हाथ-पैर वाले, अंगहीनता रहित, परिपूर्ण पंचेन्द्रिययुक्त शरीर वाले, यावत् चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति वाले, कान्त, प्रियदर्शन, सुरूप एवं देवकुमार के समान कान्ति वाले पुत्र को जन्म दोगी।''

वह बालक भी बालभाव से मुक्त होकर विज्ञ और कलादि में परिपक्व (परिणत) होगा। यौवन प्राप्त होते ही वह शूरवीर, पराक्रमी तथा विस्तीर्ण एवं विपुल बल (सैन्य) और वाहन वाला राज्याधिपति राजा होगा। अतः देवी ! तुमने उदार (प्रधान) स्वप्न देखा है, यावत् देवी ! तुमने आरोग्य, तुष्टि यावत् मंगलकारक स्वप्न देखा है, इस प्रकार बल राजा ने प्रभावती देवी को इष्ट यावत् मधुर वचनों से वही बात दो बार और तीन बार कही।

विवेचन—प्रभावती को राजा द्वारा स्वप्नफलकथन—प्रस्तुत २५वें सूत्र में प्रभावती रानी से स्वप्नवर्णन सुनकर राजा ने उसे विस्तार से स्वप्नफल बताया है, विशेषतः तेजस्वी पुत्रलाभसूचक फल का प्रतिपादन किया है।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—चंचुमालइयतणू—उसका शरीर पुलकित हो उठा। **बुद्धिविन्नाणेण**—औत्पत्तिकी आदि बुद्धिरूप विज्ञान से। **साभाविएण**—स्वाभाविक। **अत्थोग्गहणं**—अर्थावग्रहण—फलनिश्चय। **कल्लाण**—अर्थ (प्रयोजन) की प्राप्तिरूप, **मंगल्ल**—अनर्थप्रतिघात रूप। **कुलकेउं**—कुलध्वजरूप। **कुलदीवं**—कुल में दीपक के समान प्रकाशक। **कुलपव्वयं**—कुल में पर्वत के समान स्थिर आश्रय वाला। **कुलवडेंसयं**—कुल का अवतंसक—शेखर, कुल के वृक्ष के तुल्य आश्रयदाता। **विन्नाय-परिणयमित्ते**—विज्ञ और कलादि में परिणत (परिपक्व) मात्र। **रज्जवई**—राज्यपति अर्थात्—स्वतंत्र राजा।[२]

प्रभावती द्वारा स्वप्नफल स्वीकार और जागरिका

२६. तए णं सा पभावती देवी बलस्स रण्णो अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० करयल जाव एवं वयासी—'एवमेयं देवाणुप्पिया !, तहमेयं देवाणुप्पिया !, अवितहमेयं देवाणुप्पिया !, असंदिद्धमेयं देवाणुप्पिया ! इच्छियमेयं देवाणुप्पिया !, पडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया !, इच्छियपडिच्छियमेयं देवाणुप्पिया!, से जहेयं तुब्भे वदह' त्ति कट्टु तं सुविणे सम्मं पडिच्छइ, तं पडि० २ बलेण रण्णा अब्भणुण्णाया समाणी णाणामणि-रयणभत्तिचित्ताओ भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ, अ० २ अतुरियमचवल जाव गतीए जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, ते० उ० २ सयणिज्जंसि निसीयति, नि० २ एवं वदासी—'मा मे से उत्तमे पहाणे मंगल्ले सुविणे अन्नेहिं पावसुविणेहिं पडिहम्मिस्सइ' त्ति कट्टु देव-गुरुजण-संबद्धाहिं पसत्थाहिं मंगल्लाहिं धम्मियाहिं कहाहिं सुविणजागरियं पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरति।

[२६] तदनन्तर वह प्रभावती रानी, बल राजा से इस बात (स्वप्नफल) को सुन कर, हृदय में धारण

१. वियाहपण्णत्तिसुतं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५३९

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४१

करके हर्षित और सन्तुष्ट हुई; और हाथ जोड़ कर यावत् इस प्रकार बोली—"हे देवानुप्रिय ! आपने जो कहा, वह यथार्थ है। देवानुप्रिय ! वह सत्य है, असंदिग्ध है। वह मुझे इच्छित है, स्वीकृत है, पुनः पुनः इच्छित और स्वीकृत है।" इस प्रकार स्वप्न के फल को सम्यक् रूप से स्वीकार किया और फिर बल राजा की अनुमति लेकर अनेक मणियों और रत्नों से चित्रित भद्रासन से उठी। फिर शीघ्रता और चपलता से रहित यावत् गति से जहाँ (शयनगृह में) अपनी शय्या थी, वहाँ आई और शय्या पर बैठ कर (मन ही मन) इस प्रकार कहने लगी—'मेरा यह उत्तम, प्रधान एवं मंगलमय स्वप्न दूसरे पापस्वप्नों से विनष्ट न हो जाए।' इस प्रकार विचार करके देवगुरुजन-सम्बन्धी प्रशस्त और मंगलरूप धार्मिक कथाओं (विचारणाओं) से स्वप्नजागरिका के रूप में वह जागरण करती हुई बैठी रही।

विवेचन—प्रभावती द्वारा स्वप्नफल स्वीकार और स्वप्नजागरिका—प्रस्तुत २६वें सूत्र में राजा द्वारा कथित स्वप्नफल को प्रभावती रानी द्वारा स्वीकार करने का और रानी द्वारा स्वप्नजागरिका का वर्णन है।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—तहमेयं—यह तथ्य है। **अवितहमेयं**—असत्य नहीं है। **पडिच्छियं**—स्वीकृत है। **सम्मं पडिच्छइ**—भलीभांति स्वीकार करती है। **पावसुविणेहिं**—अशुभ स्वप्नों से। **पडिहम्मिस्सइ**—प्रतिहत—नष्ट हो जाए। **सुविणजागरियं**—स्वप्न की सुरक्षा के लिए किया जाने वाला जागरण।[२]

कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा उपस्थानशाला की सफाई और सिंहासन-स्थापन

२७. तए णं से बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, को० स० २ एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अज्ज सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं गंधोदयसित्तसुइयसम्मज्जियोवलित्तं सुगंधवर-पंचवण्णपुप्फोवयारकलियं कालागरुपवरकुंदुरुक्क० जाव गंधवट्टिभूयं करेह य कारवेह य, करे० २ सीहासणं रएह, सीहा० र० ममेतं जाव पच्चप्पिणह।

[२७] तदनन्तर बल राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलाया और उनको इस प्रकार का आदेश दिया—"देवानुप्रियो ! बाहर की उपस्थानशाला को आज शीघ्र ही विशेषरूप से गन्धोदक छिड़क कर शुद्ध करो, लीप कर सम करो। सुगन्धित और उत्तम पांच वर्ण के फूलों से सुसज्जित करो, उत्तम कालागुरु और कुन्दरुष्क के धूप से यावत् सुगन्धित गुटिका के समान करो-कराओ, फिर वहाँ सिंहासन रखो। ये सब कार्य करके यावत् मुझे वापस निवेदन करो।"

२८. तए णं ते कोडुंबिय० जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं जाव पच्चप्पिणंति।

[२८] तब यह सुन कर उन कौटुम्बिक पुरुषों ने बलराजा का आदेश शिरोधार्य किया और यावत् शीघ्र ही विशेषरूप से बाहर की उपस्थानशाला को यावत् स्वच्छ, शुद्ध, सुगन्धित किया यावत् आदेशानुसार सब कार्य

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४०

२. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १९३१

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४२

करके राजा से निवेदन किया।

विवेचन—उपस्थानशाला को सुसज्जित करके सिंहासनस्थापन का आदेश—प्रस्तुत २७-२८ सूत्रों में राजा द्वारा कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर उपस्थानशाला की सफाई तथा सजावट आदि करके सिंहासन रखने को दिये गये आदेश आदि का निरूपण है।[१]

बल राजा द्वारा स्वप्नपाठक आमंत्रित

२९. तए णं से बले राया पच्चूसकालसमयंसि सयणिज्जाओ समुट्ठेति, स० स० २ पायपीढातो पच्चोरुभति, प० २ जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ अट्टणसालं अणुपविसइ जहा उववातिए तहेव अट्टणसाला तहेव मज्जणघरे जाव ससि व्व पियदंसणे नरवई मज्जणघराओ पडिनिक्खमति, म० प० २ जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसियति, नि० २ अप्पणो उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए अट्ठ भद्दासणाइं सेयवत्थपच्चत्थुयाइं सिद्धत्थगकयमंगलोवयाराइं रयावेइ, रया० अप्पणो अदूरसामंते णाणामणिरयणमंडियं अहियपेच्छणिज्जं महग्घवरपट्टणुग्गयं सण्हपट्टभत्तिसयचित्तताणं ईहामियउसभ जाव भत्तिचित्तं अब्भिंतरियं जवणियं अंछावेति, अ० २ नाणामणि-रयणभत्तिचित्तं अत्थरयमउयमसूरगोत्थगं सेयवत्थपच्चत्थुतं अंगसुहफासयं सुमउयं पभावतीए देवीय भद्दासणं रयावेइ, र० २ कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, को० स० एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अट्ठंगमहानिमित्तसुत्तत्थधारए विविहसत्थकुसले सुविणलक्खणपाढए सद्दावेह।

[२९] इसके पश्चात् बल राजा प्रातःकाल के समय अपनी शय्या से उठे और पादपीठ से नीचे उतरे। फिर वे जहाँ व्यायामशाला (अट्टनशाला) थी, वहाँ गए। व्यायामशाला में प्रवेश किया। व्यायामशाला तथा स्नानगृह के कार्य का वर्णन औपपातिकसूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए, यावत् चन्द्रमा के समान प्रिय-दर्शन बन कर वह नृप, स्नानगृह से निकले और जहाँ बाहर की उपस्थानशाला थी वहाँ आए। (वहाँ रखे हुए) सिंहासन पर पूर्वदिशा की ओर मुख करके बैठे। फिर अपने से उत्तरपूर्व दिशा (ईशानकोण) में (अपनी बायीं ओर) श्वेतवस्त्र से आच्छादित तथा सरसों आदि मांगलिक पदार्थों से उपचरित आठ भद्रासन रखवाए। तत्पश्चात् अपने से न अतिदूर और न अतिनिकट अनेक प्रकार के मणिरत्नों से सुशोभित, अत्यधिक दर्शनीय, बहुमूल्य श्रेष्ठ पट्टन में निर्मित सूक्ष्म पट पर सैकड़ों चित्रों की रचना से व्याप्त, ईहामृह, वृषभ आदि के यावत् पद्मलता के चित्र से युक्त आभ्यन्तरिक (अन्दर की) यवनिका (पर्दा) लगवाई। (उस पर्दे के अन्दर) अनेक प्रकार के मणिरत्नों से एवं चित्रों से रचित विचित्र खोली (अस्तर) वाले, कोमल वस्त्र (मसूरक) से आच्छादित, तथा श्वेत वस्त्र चढ़ाया हुआ, अंगों को सुखद स्पर्श वाला तथा सुकोमल गद्दीयुक्त एक भद्रासन रखवा दिया। फिर बल राजा ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उन्हें इस प्रकार कहा हे देवानुप्रियो ! तुम शीघ्र ही अष्टांग महानिमित्त के सूत्र और अर्थ के ज्ञाता, विविध शास्त्रों में कुशल स्वप्न-शास्त्र के पाठकों को बुला लाओ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४०-५४१

३०. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पडिसुणेत्ता बलस्स रण्णो अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडि० २ सिग्घं तुरियं चवलं चंडं वेइयं हत्थिणापुरं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव तेसिं सुविणलक्खणपाढगाणं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, ते० उ० २ ते सुविणलक्खणपाढए सद्दावेंति।

[३०] इस पर उन कौटुम्बिक पुरुषों ने यावत् राजा का आदेश स्वीकार किया और राजा के पास से निकले। फिर वे शीघ्र, चपलता युक्त, त्वरित, उग्र (चण्ड) एवं वेग वाली तीव्र गति से हस्तिनापुर नगर के मध्य में होकर जहाँ उन स्वप्नलक्षण-पाठकों के घर थे, वहाँ पहुँचे और उन्हें राजाज्ञा सुनाई। इस प्रकार स्वप्नलक्षणपाठकों को उन्होंने बुलाया।

३१. तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा बलस्स रण्णो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ० ण्हाया कय० जाव सरीरा सिद्धत्थग-हरियालियकयमंगलमुद्धाणा सएहिं सएहिं गिहेहिंतो निग्गच्छंति, स० नि० २ हत्थिणापुरं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव बलस्स रण्णो भवणवरवडेंसए तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उ० २ भवणवरवडेंसगपडिदुवारंसि एगतो मिलंति, ए० मि० २ जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव बले राया तेणेव उवागच्छंति, ते० उ० २ करयल० बलं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति। तए णं ते सुविलक्खणपाढगा बलेणं रण्णा वंदियपूइयसक्कारियसम्माणिया समाणा पत्तेयं पत्तेयं पुव्वन्नत्थेसु भद्दासणेसु निसीयंति।

[३१] वे स्वप्नलक्षण-पाठक भी बलराजा के कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बुलाए जाने पर अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए। उन्होंने स्नानादि करके यावत् शरीर को अलंकृत किया। फिर वे अपने मस्तक पर सरसों और हरी दूब से मंगल करके अपने-अपने घर से निकले, और हस्तिनापुर नगर के मध्य में होकर जहाँ बलराजा का उत्तम शिखररूप राज्य-प्रासाद था, वहाँ आए। उस उत्तम राजभवन के द्वार पर वे स्वप्नपाठक एकत्रित होकर मिले और जहाँ राजा की बाहरी उपस्थानशाला थी, वहाँ सभी मिल कर आए। बलराजा के पास आ कर, उन्होंने हाथ जोड़ कर बलराजा को 'जय हो, विजय हो' आदि शब्दों से बधाया। बलराजा द्वारा वन्दित, पूजित, सत्कारित एवं सम्मानित किये गए वे स्वप्नलक्षण-पाठक प्रत्येक के लिए पहले से बिछाए हुए उन भद्रासनों पर बैठे।

विवेचन—सिंहासनस्थ बल राजा द्वारा उपस्थानशाला में भद्रासन स्थापित करना एवं स्वप्न-पाठक आमंत्रित करना—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२८ से ३१) में निम्नोक्त वृत्तान्त प्रस्तुत किये गये हैं—(१) बलराजा का सुसज्जित होकर उपस्थानशाला में आगमन, (२) कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा वहाँ यवनिका एवं भद्रासन लगवाए गए। (३) स्वप्नलक्षण-पाठकों को बुलाने का आदेश, (४) राजा का आमंत्रण पा कर स्वप्नलक्षणपाठकों का आगमन, आशीर्वचन, राजा द्वारा सत्कारित एवं अपने-अपने भद्रासन पर स्वप्नपाठक उपविष्ट।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—पच्चूसकालसमयंसि—प्रभात काल के समय। **सयणिज्जाओ**—शय्या से। **अट्टणसाला**—व्यायामशाला। **मज्जणघरे**—स्नानगृह। **अहिय-पेच्छणिज्जं**—अधिक दर्शनीय। **महग्घवरपट्टणुगयं**—महामूल्यवान् श्रेष्ठ पट्टन में बना हुआ। **सण्हपट्टभत्तिसयचित्तताणं**—जिसके ऊपर का

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४१-५४२

पडिबुज्झंति, तं जहा—

गय वसह सीह अभिसेय दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसर सागर विमाण-भवण रयणुच्चय सिहिं च॥ १॥

वासुदेवमायरो णं वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरे सत्त महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति। बलदेवमायरो बलदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरे चत्तारि महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति। मंडलियमायरो मंडलियंसि गब्भं वक्कममाणंसि एतेसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरं एगं महासुविणं पासित्ताणं पडिबुज्झंति।"

[३३-२] "हे देवानुप्रिय ! हमारे स्वप्नशास्त्र में बयालीस सामान्य स्वप्न और तीस महास्वप्न, इस प्रकार कुल बहत्तर स्वप्न बताये हैं। तीर्थंकर की माताएं या चक्रवर्ती की माताएँ, जब तीर्थंकर या चक्रवर्ती गर्भ में आते हैं, तब इन तीस महास्वप्नों में से ये १४ महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं। जैसे कि—(१) गज, (२) वृषभ, (३) सिंह, (४) अभिषिक्त लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) ध्वजा, (९) कुम्भ (कलश), (१०) पद्म-सरोवर, (११) सागर, (१२) विमान या भवन, (१३) रत्नराशि और (१४) निर्धूम अग्नि॥ १॥

जब वासुदेव गर्भ में आते हैं, तब वासुदेव की माताएँ इन चौदह महास्वप्नों में से कोई भी सात महास्वप्न देखकर जागती हैं। जब बलदेव गर्भ में आते हैं, तब बलदेव-माताएँ इन चौदह महास्वप्नों में से कोई भी चार महास्वप्न देखकर जागती हैं। माण्डलिक जब गर्भ में आते हैं, तब माण्डलिक की माताएँ, इन में से कोई एक महास्वप्न देखकर जागती हैं।"

[३] "इमे य णं देवाणुप्पिया ! पभावतीए देवीए एगे महासुविणे दिट्ठे, तं ओराले णं देवाणुप्पिया! पभावतीए देवीए सुविणे दिट्ठे जाव आरोग्ग-तुट्ठि-जाव मंगल्लकारए णं देवाणुप्पिया ! पभावतीए देवीए सुविणे दिट्ठे। अत्थलाभो देवाणुप्पिया ! भोगलाभो० पुत्तलाभो० रज्जलाभो देवाणुप्पिया!"

[३३-३] "हे देवानुप्रिय ! प्रभावती देवी ने इस (चौदह महास्वप्नों) में से एक महास्वप्न देखा है। अत: "हे देवानुप्रिय ! प्रभावती देवी ने उदार स्वप्न देखा है, सचमुच प्रभावती देवी ने यावत् आरोग्य, तुष्टि यावत् मंगलकारक स्वप्न देखा है। (यह स्वप्न सुख-समृद्धि का सूचक है।) हे देवानुप्रिय ! इस स्वप्न के फलरूप आपको अर्थलाभ, भोगलाभ, पुत्रलाभ एवं राज्यलाभ होगा।"

[४] "एवं खलु देवाणुप्पिया ! पभावती देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव वीतिक्कंताणं तुम्हं कुलकेउं जाव पयाहिति। से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे जाव रज्जवती राया भविस्सति, अणगारे वा भावियप्पा। तं ओराले णं देवाणुप्पिया ? पभावतीए देवीए सुविणे दिट्ठे जाव आरोग्ग-तुट्ठि-दीहाउ-कल्लाण जाव दिट्ढे।"

[३३-१] अत:, हे देवानुप्रिय ! यह निश्चित है कि प्रभावती देवी नौ मास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर आपके कुल में ध्वज (केतु) के समान यावत् पुत्र को जन्म देगी। वह बालक भी बाल्यावस्था पार करने पर यावत् राज्याधिपति राजा होगा अथवा वह भावितात्मा अनगार होगा। इसलिए हे देवानुप्रिय ! प्रभावती देवी

वितान अथवा ताना सूक्ष्म (बारीक) सूत का और सैकड़ों प्रकार की कलाओं से चित्रित था। **जवणियं**—यवनिका—पर्दा। **अंछावेति**—खिंचवाता है, लगवाता है। **अत्थरय-मउय-मसूरगोत्थगं**—वह अस्तर (अन्दर के वस्त्र), एवं कोमल मसूरक (तकियों) से युक्त था। **सेयवत्थपच्चत्थुतं**—उस पर गद्दीयुक्त श्वेत वस्त्र ढका हुआ था। **वेइयं**—वेग वाली। **सिद्धत्थग**—सिद्धार्थक—सरसों। **हरियालिय**—हरी दूब। **पुवन्नत्थेसु**—पहले बिछाए हुए।[१]

स्वप्नपाठकों से स्वप्नफल और उनके द्वारा समाधान

३२. तए णं बले राया पभावतिं देविं जवणियंतरियं ठावेइ, ठा० २ पुप्फ-फलपडिपुण्णहत्थे परेणं विणएणं ते सुविणलक्खणपाढए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! पभावती देवी अज्ज तंसि तारिसगंसि वासघरंसि जाव सीहं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धा, तं णं देवाणुप्पिया ! एयस्स ओरालस्स जाव के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सति ?

[३२] तत्पश्चात् राजा बल ने प्रभावती देवी को (बुलाकर) यवनिका की आड़ में बिठाया। फिर पुष्प और फल हाथों में भर कर बल राजा ने अत्यन्त विनयपूर्वक उन स्वप्नलक्षणपाठकों से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रियो ! आज प्रभावती देवी तथारूप उस वासगृह में शयन करते हुए यावत् स्वप्न में सिंह (तथारूप) देखकर जागृत हुई है। तो हे देवानुप्रियो ! इस उदार यावत् कल्याणकारक स्वप्न का क्या फलविशेष होगा ?

३३.[१] तए णं ते सुविणलक्खणपाढगा बलस्स रण्णो अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० तं० सुविणं ओगिण्हंति, तं० ओ० २ ईहं पविसंति, ईहं पविसित्ता तस्स सुविणस्स अत्थोग्गहणं करेंति, त० क० १ अन्नमन्नेणं सद्धिं संचालेंति अ० स० २ तस्स सुविणस्स लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा बलस्स रण्णो पुरओ सुविणसत्थाइ उच्चारेमाणा एवं उच्चारेमाणा वयासी—

[३३-१] इस पर बल राजा से इस (स्वप्नफल सम्बन्धी) प्रश्न को सुनकर एवं हृदय में अवधारण कर वे स्वप्नलक्षणपाठक प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुए। उन्होंने उस स्वप्न के विषय में सामान्य विचार (अवग्रह) किया, फिर विशेष विचार (ईहा) में प्रविष्ट हुए, तत्पश्चात् उस स्वप्न के अर्थ का निश्चय किया। फिर परस्पर एक-दूसरे के साथ विचार-चर्चा की, फिर उस स्वप्न का अर्थ स्वयं जाना, दूसरे से ग्रहण किया, एक दूसरे से पूछकर शंका-समाधान किया, अर्थ का निश्चय किया और अर्थ पूर्णतया मस्तिष्क में जमाया। फिर बल राजा के समक्ष स्वप्नशास्त्रों का उच्चारण करते हुए इस प्रकार बोले—

[२] "एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सुविणसत्थंसि बायालीसं सुविणा, तीसं महासुविणा, बावत्तरिं सव्वसुविणा दिट्ठा। तत्थ णं देवाणुप्पिया ! तित्थयरमायरो वा चक्कवट्टिमायरो वा तित्थगरंसि वा चक्कवट्टिंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुविणाणं इमे चोद्दस महासुविणे पासित्ताणं

---

१. भगवती. अ. वृत्ति., पत्र ५४२

ने जो यह स्वप्न देखा है, वह उदार है, यावत् आरोग्य, तुष्टि, दीर्घायु एवं कल्याणकारक यावत् स्वप्न देखा है।

विवेचन—राजा की स्वप्नफलजिज्ञासा और स्वप्नपाठकों द्वारा समाधान—प्रस्तुत (३२-३३) दो सूत्रों में निम्नलिखित घटनाओं का प्रतिपादन किया गया है—(१) राजा के द्वारा प्रभावती रानी को देखे हुए स्वप्न के फल की जिज्ञासा, (२) स्वप्नपाठकों द्वारा सामान्य-विशेषरूप से स्वप्न के सम्बन्ध में ऊहापोह एवं परस्पर विचार-विनिमय करके फल का निश्चय, (३) स्वप्नपाठकों द्वारा स्वप्नशास्त्रानुसार स्वप्नों के प्रकार का एवं महास्वप्नों को देखने वाली विभिन्न माताओं का विश्लेषण तथा (४) प्रभावती रानी द्वारा देखे गये एक महास्वप्न के प्रकार का निर्णय, (५) उक्त महास्वप्न के फलस्वरूप प्रभावती देवी के राज्याधिपति या भावितात्मा अनगार के रूप में पुत्र होने का भविष्य-कथन।[१]

विमान और भवन : दो स्वप्न या एक—तीर्थंकर या चक्रवर्ती जब माता के गर्भ में आते हैं, तब उनकी माता १४ महास्वप्न देखती हैं। उनमें से १२वें स्वप्न में दो शब्द हैं—विमान और भवन। उसका आशय यह है कि जो जीव देवलोक से आकर तीर्थंकर के रूप में जन्म लेता है, उसकी माता स्वप्न में 'विमान' देखती है और जो जीव नरक से आकर तीर्थंकर में जन्म लेता है, उसकी माता स्वप्न में 'भवन' देखती है।[२]

राजा द्वारा स्वप्नपाठक सत्कृत एवं रानी को स्वप्नफल सुना कर प्रोत्साहन

३४. तए णं से बले राया सुविणलक्खणपाढगाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ करयल जाव कट्टु ते सुविणलक्खणपाढगे एवं वयासी—'एवमेयं देवाणुप्पिया ! जाव से जहेयं तुब्भे वदह', त्ति कट्टु तं सुविणं सम्मं पडिच्छति, तं० प० २ सुविणलक्खणपाढए विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइम-पुप्फ-वत्थ-गंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति सम्माणेति, स० २ विउलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति, वि० द० २ पडिविसज्जेति, पडि० २ सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, सी० अ० २ जेणेव पभावती देवी तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ पभावतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं जाव संलवमाणे संलवमाणे एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिए ! सुविणसत्थंसि बायालीसं सुविणा, तीसं महासुविणा, बावत्तरिं सव्वसुविणा दिट्ठा। तत्थ णं देवाणुप्पिए ! तित्थगरमायरो वा चक्कवट्टिमायरो वा, तं चेव जाव अन्नयरं एगं महासुविणं पासित्ताणं पडिबुज्झंति। इमे य णं तुमे देवाणुप्पिए ! एगे महासुविणे दिट्ठे। तं ओराले णं तुमे देवी ! सुविणे दिट्ठे जाव रज्जवती राया भविस्सति अणगारे वा भावियप्पा, तं ओराले णं तुमे देवी ! सुविणे दिट्ठे" त्ति कट्टु पभावतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं जाव दोच्चं पि तच्चं पि अणुबूहइ।

[३४] तत्पश्चात् स्वप्नलक्षणपाठकों से इस (उपर्युक्त) स्वप्नफल को सुनकर एवं हृदय में अवधारण कर बल राजा अत्यन्त प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुआ। उसने हाथ जोड़ कर यावत् उन स्वप्नलक्षणपाठकों से इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रियो ! आपने जैसा स्वप्नफल बताया, यावत् वह उसी प्रकार है।" इस प्रकार कह कर स्वप्न का अर्थ सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया। फिर उन स्वप्नलक्षणपाठकों को विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तथा पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला और अलंकारों से सत्कारित-सम्मानित किया; जीविका के योग्य प्रीतिदान दिया एवं सबको विदा किया।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४२-५४३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४३

तत्पश्चात् बल राजा अपने सिंहासन से उठा और जहाँ प्रभावती देवी बैठी थी, वहाँ आया और प्रभावती देवी को इष्ट, कान्त यावत् मधुर वचनों से वार्तालाप करता हुआ (स्वप्नपाठकों से सुने हुए स्वप्न-फल को) इस प्रकार कहने लगा—'देवानुप्रिये! स्वप्नशास्त्र में ४२ सामान्य स्वप्न और ३० महास्वप्न, इस प्रकार ७२ स्वप्न बताए हैं। देवानुप्रिये ! उनमें से तीर्थंकरों की माताएँ या चक्रवर्तियों की माताएँ किन्हीं १४ महास्वप्नों को देखकर जागती हैं; इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् माण्डलिकों की माताएं इनमें से किसी एक महास्वप्न को देखकर जागृत होती हैं। देवानुप्रिये ! तुमने भी इन चौदह महास्वप्नों में से एक महास्वप्न देखा है। हे देवी! सचमुच तुमने एक उदार स्वप्न देखा है, जिसके फलस्वरूप तुम यावत् एक पुत्र को जन्म दोगी, यावत् जो या तो राज्याधिपति राजा होगा, अथवा भावितात्मा अनगार होगा। इसलिए, देवानुप्रिये ! तुमने एक उदार यावत् मंगलकारक स्वप्न देखा है; इस प्रकार इष्ट, कान्त, प्रिय यावत् मधुर वचनों से उसी बात को दो-तीन बार कह कर उसकी प्रसन्नता में वृद्धि की।

विवेचन—राजा द्वारा स्वप्नपाठक सत्कारित-सम्मानित तथा प्रभावती देवी को स्वप्नफल-सुना कर प्रोत्साहित किया—प्रस्तुत ३४ वें सूत्र में दो घटनाक्रमों का उल्लेख है—(१) स्वप्नपाठकों से स्वप्नफल सुनकर राजा ने उनका सत्कार-सम्मान किया और (२) स्वप्नपाठकों से सुना हुआ स्वप्नफल रानी को सुनाया और उसकी प्रसन्नता बढाई।[१]

जीवियारिहं पीतिदाणं—जीवननिर्वाह हो सके, इतने धन का प्रीतिपूर्वक दान, अथवा जीवकोचित प्रीतिदान।[२]

स्वप्नफल श्रवणानन्तर प्रभावती द्वारा यत्नपूर्वक गर्भ-संरक्षण

३५. तए णं सा पभावती देवी बलस्स रण्णो अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० करयल जाव एवं वदासी—एवमेयं देवाणुप्पिया ! जाव तं सुविणं सम्मं पडिच्छति, तं० पडि० २ बलेण रण्णा अब्भणुण्णाता समाणी नाणामणि-रयणभत्ति जाव अब्भट्ठेति, अ० २ अतुरितमचवल जाव गतीए जेणेव सए भवणे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ भवणमणुपविट्ठा।

[३५] तब बल राजा से उपर्युक्त (स्वप्न-फलरूप) अर्थ सुन कर एवं उस पर विचार करके प्रभावती देवी हर्षित एवं सन्तुष्ट हुई। यावत् हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोली—देवानुप्रिय ! जैसा आप कहते हैं, वैसा ही यह (स्वप्नफल) है। यावत् इस प्रकार कह कर उसने स्वप्न के अर्थ को भलीभांति स्वीकार किया और बल राजा की अनुमति प्राप्त होने पर वह अनेक प्रकार के मणिरत्नों की कारीगरी से निर्मित उस भद्रासन से यावत् उठी; शीघ्रता तथा चपलता से रहित यावत् हंसगति से जहाँ अपना (वास) भवन था, वहाँ आ कर अपने भवन में प्रविष्ट हुई।

३६. तए णं सा पभावती देवी ण्हाया कयबलिकम्मा जाव सव्वालंकारविभूसिया तं गब्भं णातिसीतेहिं नातिउण्हेहिं नातितित्तेहिं नातिकडुएहिं नातिकसाएहिं नातिअंबिलेहिं नातिमहुरेहिं उउभयमाणसुहेहिं भोयण-ऽच्छायण-गंध-मल्लेहिं जं तस्स गब्भस्स हियं मितं पत्थं गब्भपोसणं तं देसे य काले यह आहारमाहारेमाणी विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं पतिरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २, (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ५४४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४३

पसत्थदोहला संपुण्णदोहला सम्माणियदोहला अविमाणियदोहला वोच्छिन्नदोहला विणीयदोहला ववगयरोग-सोग-मोह-भय परित्तासा तं गब्भं सुहंसुहेणं[१] परिवहइ।

[३६] तदनन्तर प्रभावती देवी ने स्नान किया, शान्तिकर्म किया और फिर समस्त अलंकारों से विभूषित हुई। तत्पश्चात् वह अपने गर्भ का पालन करने लगी। अब गर्भ का पालन करने के लिए वह न तो अत्यन्त शीतल (ठण्डे) और न अत्यन्त उष्ण, न अत्यन्त तिक्त (तीखे) और न अत्यन्त कड़ुए, न अत्यन्त कसैले, न अत्यन्त खट्टे और न अत्यन्त मीठे पदार्थ खाती थी परन्तु ऋतु के योग्य सुखकारक भोजन आच्छादन (आवास या वस्त्र), गन्ध एवं माला का सेवन करके गर्भ का पालन करती थी। वह गर्भ के लिए जो भी हित, परिमित, पथ्य तथा गर्भपोषक पदार्थ होता, उसे ग्रहण करती तथा उस देश और काल के अनुसार आहार करती रहती थी तथा जब वह दोषों से रहित (वियुक्त) मृदु शय्या एवं आसनों से एकान्त शुभ या सुखद मनोनुकूल विहारभूमि में थी, तब प्रशस्त दोहद उत्पन्न हुए, वे पूर्ण हुए। उन दोहदों को सम्मानित किया गया।

किसी ने उन दोहदों की आवमानना नहीं की। इस कारण वे दोहद समाप्त हुए, सम्पन्न हुए। वह रोग, शोक, मोह, भय, परित्रास आदि से रहित होकर उस गर्भ को सुखपूर्वक वहन करने लगी।

विवेचन—प्रभावती रानी द्वारा गर्भ का परिपालन—प्रस्तुत ३५-३६ सूत्र में दो तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) प्रभावती रानी द्वारा स्वप्न का शुभ फल जान कर हर्षाभिव्यक्ति एवं (२) गर्भ का भलीभांति पालन।[२]

'पसत्थदोहला' आदि शब्दों का भावार्थ—पसत्थदोहला—उसके दोहद अनिन्द्य थे। **संपुण्णदोहला**—दोहद पूर्ण किये गये। **सम्माणियदोहला**—अभिलाषा के अनुसार उसके दोहद सम्मानित किये गये। **अविमाणियदोहला**—क्षणभर भी लेशमात्र भी दोहद अपूर्ण न रहे। **वोच्छिन्नदोहला**—गर्भवती की मनोवाँछाएँ समाप्त हो गईं। **विणीयदोहला**—सब दोहले सम्पन्न हो गए। **हियं मियं पत्थं गब्भपोसणं**—गर्भ के लिए हितकर, परिमित, पथ्यकर एवं पोषक। **उउभयमाणसुहेहिं**—प्रत्येक ऋतु में उपभोग्य सुखकारक। **विवित्तमउएहिं**-विविक्त—दोषरहित एवं कोमल।[३]

पुत्रजन्म, दासियों द्वारा बधाई और उन्हें राजा द्वारा प्रीतिदान

३७. तए णं सा पभावती देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं वीतिक्कंताणं सुकुमालपाणि-पायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं लक्खण-वंजण-गुणोववेयं जाव ससिसोमागारं कंतं पियदंसण सुरूवं दारयं पयाता।

---

१. **पाठान्तर—"सुहंसुहेणं आसयइ सुयइ चिट्ठइ निसीयइ तुयट्टइ।"** अर्थात्—गर्भवती प्रभावती देवी सुखपूर्वक आश्रय लेती है, सोती है, खड़ी होती है, बैठती है, करवट बदलती है। —*भगवती अ. वृत्ति, पत्र ५४३*

२. वियाहपण्णत्तिसुतं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४४-५४५

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४३

[३७] इसके पश्चात् नौ महीने और साढ़े सात दिन परिपूर्ण होने पर प्रभावती देवी ने, सुकुमाल हाथ और पैर वाले, हीन अंगों से रहित, पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर वाले तथा लक्षण-व्यञ्जन और गुणों से युक्त यावत् चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति वाले, कान्त, प्रियदर्शन एवं सुरूप पुत्र को जन्म दिया।

३८. तए णं तीसे पभावतीए देवीए अंगपडियारियाओ पभावतिं देविं पसूयं जाणेत्ता जेणेव बले राया तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ करयल जाव बलं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति, ज० व० २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! पभावती देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव दारयं पयाता, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पियट्ठताए पियं निवेदेमो, पियं ते भवउ।

[३८] पुत्र जन्म होने पर प्रभावती देवी की अंगपरिचारिकाएँ (सेवा करने वाली दासियाँ) प्रभावती देवी को प्रसूता (पुत्रजन्मवती) जान कर बल राजा के पास आईं, और हाथ जोड़कर उन्हें जय-विजय शब्दों से बधाया। फिर उन्होंने राजा से इस प्रकार निवेदन किया—हे देवानुप्रिय ! प्रभावती देवी ने नौ महीने और साढ़े सात दिन पूर्ण होने पर यावत् सुरूप बालक को जन्म दिया है। अत: देवानुप्रिय की प्रीति के लिए हम यह प्रिय समाचार निवेदन करती हैं। यह आपके लिए प्रिय हो।

३९. तए णं से बले राया अंगपडियारियाणं अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव धाराहयणीव जाव रोमकूवे तासिं अंगपडियारियाणं मउडवज्जं जहामालियं ओमोयं दलयति, ओ० द० २ सेतं रययमयं विमलसलिलपुण्णं भिंगारं पगिण्हति, भिं० प० २ मत्थए धोवति, म० धो० २ विउलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति, वि० द० २ सक्कारेइ सम्माणेइ, स० २ पडिविसज्जेति।

[३९] अंगपरिचारिकाओं (दासियों) से यह (पुत्रजन्मरूप) प्रिय समाचार सुन कर एवं हृदय में धारण कर बल राजा हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ; यावत् मेघ की धारा से सिंचित कदम्बपुष्प के समान उसके रोमकूप विकसित हो गए। बल राजा ने अपने मुकुट को छोड़ कर धारण किये हुए शेष सभी आभरण उन अंगपरिचारिकाओं को (पारितोषिकरूप में) दे दिये। फिर सफेद चांदी का निर्मल जल से भरा हुआ कलश लेकर उन दासियों का मस्तक धोया अर्थात् उन्हें दासीपन से मुक्त-स्वतंत्र कर दिया। उनका सत्कार-सम्मान किया और विदा किया।

विवेचन—पुत्रजन्म, बधाई, राजा द्वारा प्रीतिदान—प्रस्तुत तीन सूत्रों (३७ से ३९ तक) में तीन घटनाओं का निरूपण किया गया है—(१) प्रभावती रानी के पुत्र का जन्म, (२) अंगपरिचारिकाओं द्वारा बल राजा को बधाई और (३) बल राजा द्वारा दासियों का मस्तक-प्रक्षालन अर्थात् पुत्रजन्म के हर्ष में उन्हें दासत्व से मुक्त करना, जीविकायोग्य प्रीतिदान देना और सत्कार-सम्मानपूर्वक विसर्जन।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—अद्धट्ठमाण य राइंदियाण—साढ़े सात रात्रिदिन। **अंगपडियारियाओ**—अंगपरिचारिकाएँ—दासियाँ, सेविकाएँ। **पियट्ठताए**—प्रीति के लिए। **मउडवज्जं**—मुकुट के सिवाय। **जहामालियं**—जिस प्रकार (जो) धारण किये हुए (पहने हुए) थे। **ओमोयं**—आभूषण। **दलयति**—दे देता है।[२]

१. वियाहपण्णत्तिसुतं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४५

२. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १९४३ (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४३

अंग-परिचारिकाओं का मस्तक धोने की क्रिया, उनको दासत्व से मुक्त करने की प्रतीक है। जिस दासी का मस्तक धो दिया जाता था, उसे उस युग में दासत्व से मुक्त समझा जाता था।[1]

पुत्रजन्म-महोत्सव एवं नामकरण का वर्णन

४०. तए णं से बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, को० स० एवं वदासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हत्थिणापुरे नगरे चारगसोहणं करेह, चा० क० २ माणुम्मावणड्ढणं करेह, मा० क० २ हत्थिणापुरं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जियोवलित्तं जाव करेह व कारवेह य, करेत्ता य कारवेत्ता य, जूवसहस्सं वा, चक्कसहस्सं वा, पूयामहामहिमसक्कारं वा ऊसवेह, ऊ० २ ममेतमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

[४०] इसके पश्चात् बल राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उन्हें इस प्रकार कहा 'देवानुप्रियो ! हस्तिनापुर नगर में शीघ्र ही चारक-शोधन अर्थात्—बन्दियों का विमोचन करो, और मान (नाप) तथा उन्मान (तौल) में वृद्धि करो। फिर हस्तिनापुर नगर के बाहर और भीतर छिड़काव करो, सफाई करो और लीप-पोत कर शुद्धि (यावत्) करो-कराओ। तत्पश्चात् यूप (जूवा) सहस्र और चक्रसहस्र की पूजा, महामहिमा और सत्कारपूर्वक उत्सव करो। मेरे इस आदेशानुसार कार्य करके मुझे पुनः निवेदन करो।'

४१. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा बलेण रण्णा एवं वुत्ता जाव पच्चपिणंति।

[४१] तदनन्तर बल राजा के उपर्युक्त आदेशानुसार यावत् कार्य करके उन कौटुम्बिक पुरुषों ने आज्ञानुसार कार्य हो जाने का निवेदन किया।

४२. तए णं से बले राया जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ तं चेव जाव मज्जणघराओ पडिनिक्खमति, प० २ उस्सुंकं उक्करं उक्किट्ठं अदेज्जं अमेज्जं अभडप्पवेसं अदंडको दंडिमं अधरिमं गणियावरनाडइज्जकलियं अणेगतालाचराणुचरियं अणुद्धुयमुइंगं अमिलायमल्लादामं पमुइयपक्कीलियं सपुरजणजाणवयं दसदिवसे ठितिवडियं करेति।

[४२] तत्पश्चात् बल राजा व्यायामशाला में गये। वहाँ जाकर व्यायाम किया और स्नानादि किया, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए; यावत् बल राजा स्नानगृह से निकले। (नरेश ने दस दिन के लिए) प्रजा से शुल्क तथा कर लेना बन्द कर दिया, भूमि के कर्षण—जोतने का निषेध कर दिया, क्रय, विक्रय का निषेध कर देने से किसी को कुछ मूल्य देना, या नाप-तौल करना न रहा। कुटुम्बिकों (प्रजा) के घरों में सुभटों का प्रवेश बन्द कर दिया। राजदण्ड से प्राप्य दण्ड द्रव्य तथा अपराधियों को दिये गये कुदण्ड से प्राप्य द्रव्य लेने का निषेध कर दिया। किसी को ऋणी न रहने दिया जाए। इसके अतिरिक्त (वह उत्सव) प्रधान गणिकाओं तथा नाटक सम्बन्धी पात्रों से युक्त था। अनेक प्रकार के तालानुचरों द्वारा निरन्तर करताल आदि तथा वादकों द्वारा मृदंग उन्मुक्त रूप से बजाए जा रहे थे। बिना कुम्हलाई हुई पुष्पमालाओं (से यत्रतत्र सजावट की गई थी।) उसमें आमोद-प्रमोद और खेलकूद करने वाले अनेक लोग भी थे। सारे ही नगरजन एवं जनपद के निवासी (इस उत्सव

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४३

में सम्मिलित थे।) इस प्रकार दस दिनों तक राजा द्वारा पुत्रजन्म महोत्सव प्रक्रिया (स्थितिपतिता—कुलमर्यादागत प्रक्रिया) होती रही।

४३. तए णं से बले राया दसाहियाए ठितिवडियाए वट्टमाणीए सतिए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य जाए य दाए य भाए य दलमाणे य दवावेमाणे य सतिए य साहस्सिए य सयसाहस्सिए य लाभे पडिच्छेमाणे य पडिच्छावेमाणे य एवं विहरति।

[४३] इन दस दिनों की पुत्रजन्म सम्बन्धी महोत्सव-प्रक्रिया (स्थितिपतिता) जब प्रवृत्त हो (चल) रही थी, तब बल राजा सैकड़ों, हजारों और लाखों रुपयों के खर्च वाले याग-कार्य करता रहा तथा दान और भाग देता और दिलवाता हुआ एवं सैकड़ों, हजारों और लाखों रुपयों के लाभ (उपहार) देता और स्वीकारता रहा।

४४. तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठितिवडियं करेंति, ततिए दिवसे चंद-सूरदंसावणियं करेंति, छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति। एक्कारसमे दिवसे वीतिक्कंते, निव्वत्ते असुइजायकम्मकरणे, संपत्ते बारसाहदिवसे विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेंति, उ० २ जहा सिवो (स. ११ उ. ९ सु. ११) जाव खत्तिए य आमंतेंति, आ० २ ततो पच्छा ण्हाता कत० तं चेव जाव सक्कारेंति सम्माणेंति, स० २ तस्सेव मित्त-णाति जाव राईण य खत्तियाण य पुरितो अज्जयपज्जयपिउपज्जयागयं बहुपुरिसपरंपरप्परूढं कुलाणुरूवं कुलसरिसं कुलसंताणतंतुवद्धणकरं अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति—जम्हा णं अम्हं इमे दारए बलस्स रण्णो पुत्ते पभावतीए देवीय अत्तए तं होउ णं अम्हं इमस्स दारयस्स नामधेज्जं महब्बले। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करेंति 'महब्बले' त्ति।

[४४] तदनन्तर उस बालक के माता-पिता ने पहले दिन कुलमर्यादा के अनुसार प्रक्रिया (स्थितिपतिता) की। तीसरे दिन (बालक को) चन्द्र-सूर्य-दर्शन की क्रिया की। छठे दिन जागरिका (जागरणरूप उत्सव क्रिया) की। ग्यारह दिन व्यतीत होने पर अशुचि जातककर्म से निवृत्ति की। बारहवाँ दिन आने पर विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम (चतुर्विध आहार) तैयार कराया। फिर (श. ११, उद्देशक ९, सू. ११ में कथित) शिव राजा के समान यावत् समस्त क्षत्रियों यावत् ज्ञातिजनों को आमंत्रित किया और भोजन कराया।

इसके पश्चात् स्नान एवं बलिकर्म किए हुए राजा ने उन सब मित्र, ज्ञातिजन आदि का सत्कार-सम्मान किया और फिर उन्हीं मित्र, ज्ञातिजन यावत् राजा और क्षत्रियों के समक्ष अपने पितामह, प्रपितामह एवं पिता के प्रपितामह आदि से चले आते हुए, अनेक पुरुषों की परम्परा से रूढ़, कुल के अनुरूप, कुल के सदृश (योग्य) कुलरूप सन्तान-तन्तु की वृद्धि करने वाला, गुणयुक्त एवं गुणनिष्पन्न ऐसा नामकरण करते हुए कहा—चूंकि हमारा यह बालक बल राजा का पुत्र और प्रभावती देवी का आत्मज है, इसलिए (हम चाहते हैं कि) हमारे इस बालक का 'महाबल' नाम हो। अतएव उस बालक के माता-पिता ने उसका नाम 'महाबल' रखा।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (४० से ४४ तक) में निम्नोक्त घटनाक्रम का वर्णन किया गया है—(१) बल राजा द्वारा कौटुम्बिक पुरुषों को नगर-स्वच्छता, कैदियों को मुक्ति, नापतौल में वृद्धि, पूजा आदि से पुत्र-जन्मोत्सव की तैयारी का आदेश, (२) दस दिनों के पुत्र-जन्ममहोत्सव में अनेक प्रकार के आयोजन राजा द्वारा

कराए गए, (३) माता-पिता द्वारा प्रथम, तृतीय, छठे, ग्यारहवें एवं बारहवें दिवस तक के पुत्रजन्म उत्सव से सम्बन्धित विविध कार्यक्रम सम्पन्न कराए, (४) मित्र, ज्ञातिजन आदि सबको आमंत्रित कराया, भोजन तैयार कराया, भोजन कराया। (५) तदनन्तर कुलपरम्परानुसार बालक का गुणनिष्पन्न नाम महाबल रखा।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—चारगसोहणं—कारागार खाली करना—कैदियों को छोड़ना। **उस्सुक्कं**—शुल्करहित, **उक्करं**—कर रहित। **उक्किट्ठं**—भूमिकर्षण-रहित। **अभडप्पवेसं**—प्रजा के घर में सुभट-प्रवेश निषिद्ध। **अदिज्जं**—नहीं देने योग्य, अदेय। **अमिज्जं**—नापने-तौलने योग्य नहीं। **अदंड-कोदंडिमं**—दण्डयोग्य द्रव्य तथा कुदण्डयोग्य द्रव्य के ग्रहण से रहित। **अधरिमं**—ऋण लेने-देने में होने वाले झगड़ों को रोकने में धारणीय द्रव्य में रहित। **गणिया-वर-णाडइज्ज-कलियं**—प्रधानगणिकाओं तथा नाटक करने वालों से युक्त। **अणेयतालाचराणुचरियं**—अनेक तालचरों के द्वारा ताल आदि बजाने की सेवाओं से युक्त। **अणुद्धय-मुइंग**—मृदंगों को निरन्तर उन्मुक्तरूप से बजाने वाले वादकों से युक्त। **ठितिवडियं**—स्थितिपतित—पुत्रजन्ममहोत्सव। **जाए**—याग-पूजा। **दाए**—दान। **भाए**—भाग। **असुइजायकम्मकरणं**—अशुचिनिवारण-रूप जातक करना। **अज्जय-पज्जय-पिउपज्जयागयं**—पितामह, प्रपितामह एवं पिता के प्रपितामह द्वारा आया हुआ। **बहुपुरिसपरंपरप्परूढं**—अनेक पूर्वपुरुषों की परम्परा—पीढ़ियों से रूढ़। **गोण्णं**—गुणानुसार।[२]

महाबल का पंच धात्रियों द्वारा पालन एवं तारुण्यभाव

४५. तए णं से महब्बले दारए पंचधातीपरिग्गहिते, तं जहा—खीरधातीए एवं जहा दढप्पतिण्णे[३] जाव निवातनिव्वाघातंसि सुहंसुहेणं परिवड्ढइ।

[४५] तदनन्तर उस बालक महाबल कुमार का—१. क्षीरधात्री, २. मज्जनधात्री, ३. मण्डनधात्री, ४. क्रीडनधात्री और ५. अंकधात्री, इन पांच धात्रियों द्वारा राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित दृढप्रतिज्ञ कुमार के समान लालन-पालन होने लगा यावत् वह महाबल कुमार वायु और व्याघात से रहित स्थान में रही हुई चम्पकलता के समान अत्यन्त सुखपूर्वक बढ़ने लगा।

४६. तए णं तस्स महब्बलस्स दारगस्स अम्मा-पियरो अणुपुव्वेणं ठितिवडियं वा चंद-सूर-दंसावणियं वा जागरियं वा नामकरणं वा परंगामणं वा पयचंकमावणं वा जेमावणं वा पिंडवद्धणं वा पजंपामणं वा कण्णवेहणं वा संवच्छरपडिलेहणं वा चोलोयणगं वा उवणयणं वा अन्नाणि य बहूणि गब्भाधाणजम्मणमादियाइं कोतुयाइं करेंति।

[४६] साथ ही, महाबल कुमार के माता-पिता ने अपनी कुलमर्यादा की परम्परा के अनुसार (जन्मदिन से लेकर) क्रमशः चन्द्र-सूर्य-दर्शन, जागरण, नामकरण, घुटनों के बल चलना (परंगामन), पैरों से चलना (पाद-चक्रमापन), अन्नप्राशन (अन्न-भोजन का प्रारम्भ करना), ग्रासवर्द्धन (कौर बढ़ाना), संभाषण (बोलना

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५४६-५४७

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४४-५४५

३. औपपातिक सूत्र में सूचित पाठ—'**मज्जणधाईए मंडणधाईए कीलावणधाईए, अंकधाईए इत्यादि।**'

— औप. सू. ४०, पत्र ९८

सिखाना), कर्णवेधन (कान बिंधाना), संवत्सरप्रतिलेखन (वर्षगांठ-मनाना), नक्खत्त: शिखा (चोटी) रखवाना और उपनयन संस्कार करना, इत्यादि तथा अन्य बहुत से गर्भाधान, जन्म-महोत्सव आदि कौतुक किये।

४७. तए णं तं महब्बलं कुमारं अम्मा-पियरो सातिरेगऽट्ठवासगं जाणित्ता सोभणंसि तिहि-करणनक्खत्तमुहुत्तंसि एवं जहा दढप्पतिण्णो जाव[१] अलंभोगसमत्थे जाए यावि होत्था।

[४७] फिर उस महाबल कुमार के माता-पिता ने उसे आठ वर्ष से कुछ अधिक वय का जान कर शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त में कलाचार्य के यहाँ पढ़ने के लिए भेजा, इत्यादि समस्त वर्णन दृढप्रतिज्ञ कुमार के अनुसार करना चाहिए यावत् महाबल कुमार भोगों का उपभोग करने में समर्थ (तरुण) हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (४५ से ४७ तक) में चार तथ्यों का अतिदेशपूर्वक संक्षिप्त वर्णन किया है—(१) पांच धात्रियों द्वारा महाबल का सुखपूर्वक पालन, (२) क्रमश: चन्द्र-सूर्यदर्शन आदि सभी संस्कारों (कौतुक) का निरूपण और (३) पढ़ने के लिए कलाचार्य के पास भेजना, (४) महाबल का भोगसमर्थ अर्थात् तरुण हो जाना।[२]

बल राजा द्वारा राजकुमार के लिए प्रासादनिर्माण

४८. तए णं तं महब्बलं कुमारं उम्मुक्कबालभावं जाव अलंभोगसमत्थं विजाणित्ता अम्मापियरो अट्ठ पासायवडेंसए कारेंति। अब्भुग्गयमूसिय पहसिते इव वण्णओ जहा रायप्पसेणइज्जे जाव पडिरूवे। तेसि णं पासायवडेंसगाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगं भवणं कारेंति अणेगखंभसयसन्निविट्ठं, वण्णओ जहा रायप्पसेणइज्जे पेच्छाघरमंडवंसि जाव पडिरूवं।

[४८] महाबल कुमार को बालभाव से उन्मुक्त यावत् पूरी तरह भोग-समर्थ जानकर माता-पिता ने उसके लिए आठ सर्वोत्कृष्ट प्रासाद बनवाए। वे प्रासाद राजप्रश्नीयसूत्र (में वर्णित प्रासाद-वर्णन) के अनुसार अत्यन्त ऊँचे यावत् सुन्दर (प्रतिरूप) थे। उन आठ श्रेष्ठ प्रासादों के ठीक मध्य में एक महाभवन तैयार करवाया, जो अनेक सैकड़ों स्तंभों पर टिका हुआ था। उसका वर्णन भी राजप्रश्नीयसूत्र के प्रेक्षागृहमण्डप के वर्णन के अनुसार जान लेना चाहिए यावत् वह अतीव सुन्दर था।

विवेचन—प्रस्तुत ४८ वें सूत्र में महाबल कुमार के माता-पिता द्वारा उसके लिए आठ श्रेष्ठ प्रासाद और मध्य में एक महाभवन बनवाने का उल्लेख है।

अब्भुग्गयमूसिय—अत्यन्त उच्चता को प्राप्त।[३]

पहसिते इव—मानो हँस रहा हो, इस प्रकार का प्रबल श्वेतप्रभापटल था।

---

१. "एवं जहा दढप्पतिण्णो" इत्यादि से सूचित पाठ — "**सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्तं-मुहुत्तंसि ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउय-मंगल-पायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं कलायरियस्स उवणयंति इत्यादीति**" —अ.वृ.

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ५४७

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४४

आठ कन्याओं के साथ विवाह

४९. तए णं तं महब्बलं कुमारं अम्मा-पियरो अन्नया कयाइ सोभणंसि तिहि-करण-दिवस-नक्खत-मुहुत्तंसि ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउय-मंगल-पायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं पमक्खणगण्हाय-गीय-वाइय-पसाहणट्ठंगतिलग-कंकणअविहववहुउणीयं मंगल-सुजंपितेहि य वरकोउय-मंगलोवयारकयसंतिकम्मं सरिसियाणं सरित्तयाणं सरिव्वयाणं सरिसलावण्ण-रूव-जोव्वण-गुणोववेयाणं विणीयाणं कयकोउय-मंगलोवयारकतसंतिकम्माणं सरिसएहिं रायकुलेहिंतो आणितेल्लियाणं अट्ठण्हं रायवरकन्नाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हाविंसु।

[४९] तत्पश्चात् किसी समय शुभ तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र और मुहूर्त में महाबल कुमार ने स्नान किया, न्योछावर करने की क्रिया (बलिकर्म) की, कौतुक-मंगल प्रायश्चित किया। उसे समस्त अलंकारों से विभूषित किया गया। फिर सौभाग्यवती (सधवा) स्त्रियों के द्वारा अभ्यंगन, स्नान, गीत, वादित, मण्डन (प्रसाधन), आठ अंगों पर तिलक (करना), लाल डोरे के रूप में कंकण (बांधना) तथा दही, अक्षत आदि मंगल अथवा मंगलगीत—विशेष-रूप में आशीर्वचनों से मांगलिक कार्य किये गए तथा उत्तम कौतुक एवं मंगलोपचार के रूप में शान्तिकर्म किये गए। तत्पश्चात् महाबल कुमार के माता-पिता ने समान जोड़ी वाली, समान त्वचा वाली, समान उम्र की, समान रूप, लावण्य, यौवन एवं गुणों से युक्त विनीत एवं कौतुक तथा मंगलोपचार की हुई तथा शान्तिकर्म की हुई और समान राजकुलों से लाई हुई आठ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ एक ही दिन में (महाबल कुमार का) पाणिग्रहण करवाया।

विवेचन—महाबल कुमार का पाणिग्रहण—उस युग के रीति-रिवाज एवं मंगलकार्य करने की प्रथा के अनुसार शुभ मुहूर्त्त में माता-पिता ने समान जोड़ी की आठ राजकन्याओं के साथ विवाह कराया, जिसका वर्णन ४८वें सूत्र में है।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—पमक्खणग—प्रमक्षणक—अभ्यंगन। **पसाहण**—मंडन। **अट्ठंगतिलग**—आठ अंगों पर तिलक-छापे। **कंकण**—लाल डोरे (मौली) को हाथ में बांधना। **अविहव-वहु**—सधवा वधुओं द्वारा। **उवणीयं**—नेगचार किये गये या रीति-रिवाज पूरे किये गए। **मंगल-सुजंपितेहिं**—मंगल अर्थात्—दही-अक्षत आदि अथवा मंगलगीतविशेष से सौभाग्यवती नारियों द्वारा उच्चारण किये गए आशीर्वचन। **वरकोउय-मंगलोवयारकयसंतिकम्म**—श्रेष्ठ कौतुक एवं मंगलोपचारों से शान्तिकर्म (पापोपशमनक्रिया) किया।[२]

बल राजा तथा महाबल कुमार की ओर से नववधुओं को प्रीतिदान

५०. तए णं तस्स महब्बलस्स कुमारस्स अम्मा-पियरो अयमेयारूवं पीतिदाणं दलयंति, तं जहा—अट्ठ-हिरण्णकोडीओ, अट्ठ सुवण्णकोडीओ, अट्ठ मउडे मउडप्पवरे, अट्ठकुंडलजोए

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ५४८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४७

कुंडलजोयप्पवरे, अट्ठ हारे हारप्पवरे, अट्ठ अद्धहारे अद्धहारप्पवरे, अट्ठ एगावलीओ एगवलिप्पवराओ, एवं मुत्तावलीओ, एवं कणगावलीओ, एवं रयणावलीओ, अट्ठ कडगजोए कडगजोयप्पवरे, एवं तुडियजोए, अट्ठ खोमजुयलाइं खोमजुयलप्पवराइं, एवं वडगजुयलाइं एवं पट्टजुयलाइं, एवं दुगुल्लजुयलाइं, अट्ठ सिरीओ अट्ठ हिरीओ, एवं धितीओ, कित्तीओ, बुद्धीओ, लच्छीओ; अट्ठ नंदाइं, अट्ठ भद्दाइं, अट्ठ तले ज़लप्पवरे सव्वरयणामए णियगवरभवणकेऊ, अट्ठ झए झयप्पवरे, अट्ठ वए वयप्पवरे दसगोसाहस्सिएणं वएणं, अट्ठ नाडगाइं नाडगप्पवराइं बत्तीसइबद्धेणं नाडएणं, अट्ठ आसे आसप्पवरे सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवए, अट्ठ हत्थी हत्थिपवरे, सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवए, अट्ठ जाणाइं जाणप्पवराइं, अट्ठ जुंगाइं जुंगप्पनराइं, एवं सिबियाओ, एवं संदमाणियाओ, एवं गिल्लीओ थिल्लीओ, अट्ठ वियडजाणाइं वियडजाणप्पवराइं, अट्ठ रहे पारिजाणिए, अट्ठ रहे संगामिए, अट्ठ आसे आसप्पवरे, अट्ठ हत्थी हत्थिप्पवरे, अट्ठ गामे गामप्पवरे, दसकुलसाहस्सिएणं गामेणं, अट्ठ दासे दासवप्पवरे, एवं दासीओ, एवं किंकरे, एवं कंचुइज्जे, एवं वरिसधरे, एवं महत्तरए, अट्ठ सोवण्णिए ओलंबणदीवे अट्ठ रुप्पामए ओलंबणदीवे, अट्ठ सुवण्णरुप्पामए ओलंबणदीवे, अट्ठ सोवण्णिए उक्कंपणदीवे, एवं चेव तिण्णि वि; अट्ठसोवण्णिए पंजरदीवे, एवं चेव तिण्णि वि; अट्ठ सोवण्णिए थाले, अट्ठरुप्पामए थाले, अट्ठ सुवण्ण-रुप्पामए थाले, अट्ठ सोवण्णियाओ पत्तीओ, अट्ठ रुप्पामयाओ पत्तीओ, अट्ठ सुवण्ण-रुप्पामयाओ पत्तीओ; अट्ठ सोवण्णियाइं थासगाइं ३, अट्ठ सोवण्णियाइं मल्लगाइं ३, अट्ठ सोवण्णियाओ तलियाओ ३, अट्ठ सोवण्णियाओ कविचिआओ ३, अट्ठ सोवण्णिए अवएडए ३, अट्ठ सोवण्णियाओ अवयक्काओ ३, अट्ठ सोवण्णिए पायपीढए ३, अट्ठ सोवण्णियाओ भिसियाओ ३, अट्ठ सोवण्णियाओ करोडियाओ ३, अट्ठ सोवण्णिए पल्लंके ३, अट्ठ सोवण्णियाओ पडिसेज्जाओ ३, अट्ठ० हंसासणाइं ३, अट्ठ० कोंचासणाइं ३, एवं गरुलासणाइं उन्नतासणाइं पणतासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं, अट्ठ० पउमासणाइं, अट्ठ० उसभासणाइं, अट्ठ० दिसासोवत्थियासणाइं, अट्ठ०[1] तेल्लसमुग्गे, जहा रायप्पसेणइज्जे जाव अट्ठ० सरिसवसमुग्गे, अट्ठ खुज्जाओ जहा उववातिए जाव अट्ठ पारसीओ, अट्ठ छत्ते, अट्ठ छत्तधारीओ चेडीओ, अट्ठ चामराओ, अट्ठ चामरधारीओ चेडीओ, अट्ठ तालियंटे, अट्ठ तालियंटधारीओ चेडीओ, अट्ठ करोडियाओ, अट्ठ करोडियाधारीओ चेडीओ, अट्ठ खीरधातीओ, जाव अट्ठ अंकधातीओ, अट्ठ अंगमद्दियाओ, अट्ठ उम्मद्दियाओ, अट्ठ ण्हावियाओ, अट्ठ पसाधियाओ, अट्ठ वण्णगपेसीओ, अट्ठ चुण्णगपेसीओ, अट्ठ कोडा (? ड्डा) कारीओ, अट्ठ दवकारीओ, अट्ठ उवत्थाणियाओ, अट्ठ नाडइज्जाओ, अट्ठ कोडुंबिणीओ, अट्ठ महाणसिणीओ, अट्ठ भंडागारिणीओ, अट्ठ अब्भाधारिणीओ, अट्ठ पुप्फधारिणीओ, अट्ठ पाणिधारिणीओ, अट्ठ बलिकारियाओ, अट्ठ सेज्जाकारीओ, अट्ठ अब्भितरियाओ पडिहारीओ अट्ठ बाहिरियाओ पडिहारीओ, अट्ठ मालाकारीओ, अट्ठ पेसणकारीओ, अन्नं वा सुबहुं हिरण्णं वा, सुवण्णं वा, कंसं वा दूसं वा, विउलघणकणग जाव सतसावदेज्जं अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं परिभोत्तुं पकामं परियाभाएउं।

---

१. देखिय राजप्रश्नीयसूत्र में-अट्ठ कुट्ठसमुग्गे, एवं पत्त-चोय-तगर-एल-हरियाल-हिंगुलय-मणोसिल-अंजणसमुग्गे।

—राजप्रश्नीय पृ. १८१, कण्डिका १०७ (गुर्जर ग्रन्थ)

[५०] विवाहोपरान्त महाबल कुमार के माता-पिता ने (अपनी आठों पुत्रवधुओं के लिए) इस प्रकार का प्रीतिदान दिया। यथा—आठ कोटि हिरण्य (चांदी के सिक्के), आठ कोटी स्वर्ण मुद्राएँ (सौनैया) आठ श्रेष्ठ मुकुट, आठ श्रेष्ठ कुण्डलयुगल, आठ उत्तम हार, आठ उत्तम अर्द्धहार, आठ उत्तम एकावली हार, आठ मुक्तावली हार, आठ कनकावली हार, आठ रत्नावली हार, आठ श्रेष्ठ कड़ों की जोड़ी, आठ बाजूबन्दों की जोड़ी, आठ श्रेष्ठ रेशमी वस्त्रयुगल, आठ टसर के वस्त्रयुगल, आठ पट्टयुगल, आठ दुकूलयुगल, आठ श्री, आठ ह्री, आठ धी, आठ कीर्ति, आठ बुद्धि एवं आठ लक्ष्मी देवियाँ, आठ नन्द, आठ भद्र, आठ उत्तम तल (ताड़) वृक्ष, ये सब रत्नमय जानने चाहिए। अपने भवन में केतु (चिह्न) रूप आठ उत्तम ध्वज, दस-दस हजार गायों के प्रत्येक वज्र वाले आठ उत्तम वज्र (गोकुल), बत्तीस मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला एक नाटक होता है, ऐसे आठ उत्तम नाटक, श्रीगृहरूप आठ उत्तम अश्व, ये सब रत्नमय जानने चाहिए। भाण्डागार (श्रीगृह) के समान आठ रत्नमय उत्तमोत्तम हाथी, आठ उत्तम यान, आठ उत्तम युग्म (एक प्रकार का वाहन), आठ शिविकाएं, आठ स्यन्दमानिका (पुरुषप्रमाण-म्याना, या पालकी) इसी प्रकार आठ गिल्ली (हाथी की अम्बाड़ी), आठ थिल्ली (घोड़े का पलाण—काठी), आठ श्रेष्ठ विकट (खुले) यान, आठ पारियानिक (क्रीडा करने के) रथ, आठ संग्रामिक (युद्ध के समय उपयोगी) रथ, आठ उत्तम अश्व, आठ उत्तम हाथी, दस हजार कुलों-परिवारों का एक ग्राम होता है, ऐसे आठ उत्तम ग्राम; आठ उत्तम दास, एवं आठ उत्तम दासियाँ, आठ, उत्तम किंकर, आठ उत्तम कंचुकी (द्वाररक्षक), आठ वर्षधर (अन्तःपुर रक्षक, खोजा), आठ महत्तरक (अन्तःपुर के कार्य का विचार करने वाले), आठ सोने के, आठ चांदी के और आठ सोने-चांदी के अवलम्बन दीपक (लटकने वाले दीपक—हंडे), आठ सोने के, आठ चांदी के और आठ सोना-चांदी के उत्कंचन दीपक (दण्डयुक्त दीपक-मशाल), इसी प्रकार सोना, चांदी और सोना-चांदी, इन तीनों प्रकार के आठ पंजरदीपक, सोना, चांदी और सोने-चांदी के आठ थाल, आठ थालियाँ, आठ स्थासक (तश्तरियाँ), आठ मल्लक (कटोरे), आठ तलिका (रकाबियां), आठ कलाचिका (चम्मच) आठ तापिकाहस्तक (संडासियाँ), आठ तवे, आठ पादपीठ (बाजोट), आठ भीषिका (आसन-विशेष), आठ करोटिका (लोटा), आठ पलंग, आठ प्रतिशय्याएँ (छोटे पलंग), आठ हंसासन, आठ क्रौंचासन, आठ गरुड़ासन, आठ उन्नतासन, आठ अवनतासन, आठ दीर्घासन, आठ भद्रासन, आठ पक्षासन, आठ मकरासन, आठ पद्मासन, आठ दिक्स्वस्तिकासन, आठ तेल के डिब्बे, इत्यादि सब राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार जानना चाहिए; यावत् आठ सर्षप के डिब्बे, आठ कुब्जा दासियाँ आदि सभी औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए; यावत् आठ पारस देश की दासियाँ, आठ छत्र, आठ छत्रधारिणी दासियाँ, आठ चामर, आठ चामरधारिणी दासियाँ, आठ पंखे, आठ पंखाधारिणी दासियाँ, आठ करोटिका (ताम्बूल के करण्डिए), आठ करोटिकाधारिणी दासियाँ,आठ क्षीरधात्रियाँ, यावत् आठ अंकधात्रियाँ, आठ अंगमर्दिका (हल्की मालिश करने वाली दासियाँ), आठ उन्मर्दिका (अधिक मर्दन करने वाली दासियाँ), आठ स्नान कराने वाली दासियाँ, आठ अलंकार पहनाने वाली दासियाँ, आठ चन्दन घिसने वाली दासियाँ, आठ ताम्बूल चूर्ण पीसने वाली, आठ कोष्ठागार की रक्षा करने वाली, आठ परिहास करने वाली, आठ सभा में पास रहने वाली, आठ नाटक करने वाली, आठ कौटुम्बिक (साथ रहने वाली सेविकाएँ), आठ रसोई बनाने वाली, आठ भण्डार की रक्षा करने वाली, आठ तरुणियाँ, आठ

पुष्प धारण करने वाली (मालिन), आठ पानी भरने वाली, आठ बलि करने वाली, आठ शय्या बिछाने वाली, आठ आभ्यन्तर और बाह्य प्रतिहारियाँ, आठ माला बनाने वाली और आठ-आठ आटा आदि पीसने वाली दासियाँ दीं। इसके अतिरिक्त बहुत-सा हिरण्य, सुवर्ण, कांस्य, वस्त्र एवं विपुल धन, कनक, यावत् सारभूत द्रव्य दिया। जो सात कुल-वंशों (पीढ़ियों) तक इच्छापूर्वक दान देने, उपभोग करने और बांटने के लिए पर्याप्त था।

५१. तए णं से महब्बले कुमारे एगमेगाए भज्जाए एगमेगं हिरण्णकोडिं दलयति, एगमेगं सुवण्णकोडिं दलयति, एगमेगं मउडं मउडप्पवरं दलयति, एवं तं चेव सव्वं जाव एगमेगं पेसणकारिं दलयति, अन्नं वा सुबहुं हिरण्णं वा जाव परियाभाएउं।

[५१] इसी प्रकार महाबल कुमार ने भी प्रत्येक भार्या (पत्नी) को एक-एक हिरण्यकोटी, एक-एक स्वर्णकोटी, एक-एक उत्तम मुकुट, इत्यादि पूर्वोक्त सभी वस्तुएँ दी यावत् सभी को एक-एक पेषणकारी (पीसने वाली) दासी दी तथा बहुत-सा हिरण्य, सुवर्ण आदि दिया, जो यावत् विभाजन करने के लिए पर्याप्त था।

५२ तए णं से महब्बले कुमारे उप्पिं पासायवरगए जहा जमाली (स० ९ उ० ३३ सु० २२) जाव विहरति।

[५२] तत्पश्चात् वह महाबल कुमार (श. ९ उ. ३३, सू. २२ में कथित) जमालि कुमार के वर्णन के अनुसार उन्नत श्रेष्ठ प्रासाद में अपूर्व (इन्द्रियसुख) भोग भोगता हुआ जीवनयापन करने लगा।

विवेचन—आठ नववधुओं को बल राजा तथा महाबल कुमार की ओर से प्रीतिदान—प्रस्तुत दो सूत्रों—(५१-५२) में ८ नववधुओं को बल राजा तथा महाबल कुमार की ओर से दिए गये प्रचुर प्रीतिदान का वर्णन है। ५२ वें सूत्र में महाबल कुमार का अपने प्रासाद में सुखभोगपूर्वक निवास का वर्णन है।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—कडगजोए—कड़ों की जोड़ी। **किंकरे**—अनुचर। **सिरिघरपडिरूवए**—श्रीघर—भण्डार के समान। **भीसियाओ**—आसनविशेष। **वण्णगपेसीओ**—सुगन्धित चूर्ण (पाउडर) बनाने वाली। **पसाहियाओ**—प्रसाधन (शृंगार) करने वाली। **तेल्लसमुग्गे**—तेल के डिब्बे। **दवकारीओ**—परिहास करने वाली।[२]

धर्मघोष अनगार का पदार्पण, परिषद् द्वारा पर्युपासना

५३. तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पओप्पए धम्मघोसे नामं अणगारे जातिसंपन्ने वण्णओ जहा केसिसामिस्स जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणगामं दूतिज्जमाणे जेणेव हत्थिणापुरे नगरे जेणेव सहासंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हति, ओ० २ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विरहति।

[५३] उस काल और उस समय में तेरहवें तीर्थंकर अर्हन्त विमलनाथ के प्रपौत्रक (प्रशिष्य—

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं भा. २, पृ. ५५०-५११

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४७-५४८

शिष्यानुशिष्य) धर्मघोष नामक अनगार थे। वे जातिसम्पन्न इत्यादि (राजप्रश्नीयसूत्रोक्त) केशी स्वामी के समान थे, यावत् पांच सौ अनगारों के परिवार के साथ अनुक्रम से एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे और यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

५४. तए णं हत्थिणापुरे नगरे सिंघाडग-तिय जाव परिसा पज्जुवासति।

[५४] हस्तिनापुर नगर के शृंगाटक, त्रिक यावत् राजमार्गों पर बहुत से लोग मुनि-आगमन की परस्पर चर्चा करने लगे यावत् जनता पर्युपासना करने लगी।

विवेचन—धर्मघोष अनगार का पदार्पण और हस्तिनापुरवासियों द्वारा उपासना—प्रस्तुत दो (५३-५४) सूत्रों में धर्मघोष अनगार का पाँच सौ शिष्यों सहित हस्तिनापुर में पदार्पण का तथा जनता द्वारा दर्शन—वन्दना एवं उपासना का वर्णन है।

पओप्पए—प्रपौत्रशिष्य-शिष्यानुशिष्य।[१]

महाबलकुमार द्वारा प्रव्रज्याग्रहण

५५. तए णं तस्स महबलस्स कुमारस्स तं महया जणसद्दं वा जणवूहं वा एवं जहा जमालि (स० ९ उ० ३३ सु० २४-२५) तहेव चिंता, तहेव कंचुइज्जपुरिसं सद्दावेइ, कंचुइज्जपुरिसे वि तहेव अक्खाति, नवरं धम्मघोसस्स अणगारस्स आगमणगहियविणिच्छए करयल जाव निग्गच्छति। एवं खलु देवाणुप्पिया ! विमलस्स अरहतो पउप्पए धम्मघोसे नामं अणगारे सेसं तं चेव जाव सो वि तहेव रहवरेणं निग्गच्छति। धम्मकहा जहा केसिसामिस्स। सो वि तहेव (स० ९ उ० ३३ सु० ३३) अम्मापियरं आपुच्छति, नवरं धम्मघोसस्स अणगारस्स अंतियं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए तहेव वुत्तपडिवुत्तिया (स० ९ उ० ३३ सु० ३५-४५) नवरं इमाओ य ते जाया! विउलरायकुलबालियाओ कला० सेसं तं चेव जाव ताहे अकामाइं चेव महब्बलकुमारं एवं वदासी—तं इच्छामो ते जाया ! एगदिवसमवि रज्जसिरिं पासित्तए।

[५५] (धर्मघोषमुनि के दर्शनार्थ जाते हुए) बहुत से मनुष्यों का कोलाहल एवं चर्चा सुनकर (श. ९ उ. ३३ सू. २४-२५ में उल्लिखित) जमालिकुमार के समान महाबल कुमार को भी विचार हुआ। उसने अपने कंचुकी पुरुष को बुलाकर (उसी प्रकार इसका) कारण पूछा। कंचुकी पुरुष ने भी (पूर्ववत्) हाथ जोड़कर महाबल कुमार से निवेदन किया—देवानुप्रिय ! विमलनाथ तीर्थंकर के प्रपौत्र शिष्य श्री धर्मघोष अनगार यहाँ पधारे हैं। इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए यावत् महाबल कुमार भी जमालिकुमार की तरह (पूर्ववत्) उत्तम रथ पर बैठकर उन्हें वन्दना करने गया। धर्मघोष अनगार ने भी केशीस्वामी के समान धर्मोपदेश (धर्मकथा) दिया। सुनकर महाबल कुमार को भी (श. ९, उ. ३३, सू. ३५-४५ में कथित वर्णन के अनुसार) जमालि कुमार के समान वैराग्य उत्पन्न हुआ। घर आकर उसी प्रकार (जमालि कुमार की तरह) माता-पिता से अनगार धर्म में

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५४८

प्रव्रजित होने की अनुमति मांगी। विशेष यह है कि (हे माता-पिता!) धर्मघोष अनगार से मैं मुण्डित होकर आगारवास (गृहवास) से अनगार धर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ। (श. ९, उ. ३३, सू. ३५-४५ में लिखित) जमालि कुमार के समान महाबल कुमार और उसके माता-पिता में उत्तर-प्रत्युत्तर हुए। विशेष यह है कि माता-पिता ने महाबल कुमार से कहा—हे पुत्र ! यह विपुल धर्म और उत्तम राजकुल में उत्पन्न हुई कलाकुशल आठ कुलबालाएं छोड़कर तुम क्यों दीक्षा ले रहे हो ? इत्यादि शेष वर्णन पूर्ववत् है यावत् माता-पिता ने अनिच्छापूर्वक महाबल कुमार से इस प्रकार कहा—"हे पुत्र ! हम एक दिन के लिए भी तुम्हारी राज्यश्री (राजा के रूप में तुम्हें) देखना चाहते हैं।"

५६. तए णं महब्बले कुमारे अम्मा-पिउवयणमणुयत्तमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ।

[५६] माता-पिता की बात को सुनकर महाबल कुमार चुप रहे।

५७. तए णं से बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, एवं जहा सिवभद्दस्स (स० ११ उ० ९ सु० ७-९) तहेव रायाभिसेओ भाणितव्वो जाव अभिसिंचंति, अभिसिंचित्ता करतलपरि० महब्बलं कुमार जएणं विजएणं वद्धावेंति, जएणं विजएणं वद्धावित्ता एवं वयासी—भण जाया ! किं देमो ? किं पयच्छामो ? सेसं जहा जमालिस्स तहेव, जाव (स० ९ उ० ३३ सु० ४९-५२)—

[५७] इसके पश्चात् बल राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और जिस प्रकार (श. ११, उ. ७, सू. ७-९ में) शिवभद्र के राज्याभिषेक का वर्णन है, उसी प्रकार यहाँ भी महाबल कुमार के राज्याभिषेक का वर्णन समझ लेना चाहिए, यावत् महाबल का राज्याभिषेक किया, फिर हाथ जोड़ कर महाबल कुमार को जय-विजय शब्दों से बधाया; तथा इस प्रकार कहा—हे पुत्र! कहो, हम तुम्हें क्यो देवें ? तुम्हारे लिए हम क्या करें ? इत्यादि वर्णन (श. ९, उ. ३३, सू. ४९-५२ में कथित) जमालि के समान जानना चाहिए; यावत् महाबल कुमार ने धर्मघोष अनगार से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (५५-५७) में निम्नलिखित तथ्यों का अतिदेशपूर्वक वर्णन किया गया है—(१) धर्मघोष अनगार का हस्तिनापुर में पदार्पण, (२) महाबल कुमार को धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य होना, (३) माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगने पर परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर और अन्त में निरुत्तर-निरुपाय होकर अनिच्छा से अनुमति प्रदान करना, (४) एक दिन के राज्य ग्रहण करने की माता-पिता की इच्छा को स्वीकार करना, (५) दीक्षा महोत्सव एवं (६) धर्मघोष अनगार से विधिवत् भगवती दीक्षा ग्रहण करना।

महाबल अनगार का अध्ययन, तत्पश्चरण समाधिमरण एवं स्वर्गलोकप्राप्ति

५८. तए णं से महब्बले अणगारे धम्मघोसस्स अणगारस्स अंतियं सामाइयमाइयाइं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं दुवालस वासाइं सामण्णपरियागं पाउणति, बहु० पा० २ मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए० आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चदिमसूरिय जहा अम्मडो जाव[1] बंभलोए

---

१. जाव पद-सूचित पाठ—**गहगण-नक्खत्त-तारारूवाणं बहुइं-जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुईओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंदे कप्पे वीईवइत्त त्ति।** —*औप. सू. ४०, प. ९० (आगमो.)*

कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता तत्थ णं महब्बलस्स वि देवस्स दस सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता।

[५८] दीक्षाग्रहण के पश्चात् महाबल अनगार ने धर्मघोष अनगार के पास सामायिक आदि चौदह पूर्वों का अध्ययन किया तथा उपवास (चतुर्थभक्त), बेला (छट्ठ), तेला (अट्ठम) आदि बहुत से विचित्र तपःकर्मों से आत्मा को भावित करते हुए पूरे बारह वर्ष तक श्रमणपर्याय का पालन किया और अन्त में मासिक संलेखना से साठ भक्त अनशन द्वारा छेदन कर आलोचना-प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्वक काल के अवसर पर काल करके ऊर्ध्वलोक में चन्द्र और सूर्य से भी ऊपर बहुत दूर, अम्बड़ के समान यावत् ब्रह्मलोककल्प में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ कितने ही देवों की दस सागरोपम की स्थिति कही गई है। तदनुसार महाबलदेव की भी दस सागरोपम की स्थिति कही गई है।

विवेचन—दीक्षाग्रहण से समाधिमरण एवं ब्रह्मलोककल्प में उत्पत्ति—प्रस्तुत ५८ वें सूत्र में महाबल अनगार के जीवन का संकेत किया गया है। दीक्षाग्रहण के बाद चौदह पूर्वों का अध्ययन, विविध तपश्चर्या से कर्मक्षय, अन्त में यहाँ से मासिक संलेखना, तथा अनशन करके समाधिपूर्वक मरण और ब्रह्मदेवलोक की प्राप्ति, यह क्रम अनगार धर्म की आराधना के उज्ज्वल भविष्य को सूचित करता है।[१]

पूर्वभव का रहस्य खोलकर पल्योपमादि के क्षय-उपचय की सिद्धि

५९. से णं तुमं सुदंसणा ! बंभलोए कप्पे दस सागरोवमाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्ता तओ चेव देवलोगाओ आउक्खएणं ठितिक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव वाणियग्गामे नगरे सेट्ठिकुलंसि पुमत्ताए पच्चायाए। तए णं तुमे सुदंसणा ! उम्मुक्कबालभावेणं विण्णयपरिणयमेत्तेणं जोव्वणगमणुप्पत्तेणं तहारूवाणं थेराणं अंतियं केवलिपण्णत्ते धम्मे निसंत्ते, से वि य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइते, तं सुट्ठु णं तुमं सुदंसणा ! इदाणिं पि करेसि। से तेणट्ठेणं सुदंसणा ! एवं वुच्चति 'अत्थि णं एतेसिं पलिओवमसागरोवमाणं खए ति वा, अवचए ति वा।'

[५९] हे सुदर्शन ! वही महाबल का जीव तुम (सुदर्शन) हो। तुम वहाँ ब्रह्मलोक कल्प में दस सागरोपम तक दिव्य भोगों को भोगते हुए रह करके, वहाँ दस सागरोपम की स्थिति पूर्ण करके, वहाँ के आयुष्य का, स्थिति का और भव का क्षय होने पर वहाँ से च्यव कर सीधे इस भरतक्षेत्र में वाणिज्यग्राम-नगर में, श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न हुए हो।

तत्पश्चात् हे सुदर्शन ! बालभाव से मुक्त होकर तुम विज्ञ और परिणतवय वाले हुए, यौवन अवस्था प्राप्त होने पर तुमने तथारूप स्थविरों से केवलि-प्ररूपित धर्म सुना। वह धर्म तुम्हें इच्छित प्रतीच्छित (स्वीकृत) और रुचिकर हुआ। हे सुदर्शन ! इस समय भी तुम जो कर रहे हो, अच्छा कर रहे हो।

इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि इन पल्योपम और सागरोपम का क्षय और अपचय होता है।

विवेचन—सागरोपम की स्थिति का क्षयापचय और पूर्वभव का रहस्योद्घाटन—प्रस्तुत सूत्र

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५३

५९ में भगवान् महावीर ने सुदर्शन के पूर्वभव की कथा का उपसंहार करते हुए बताया है कि महाबल का जीव ही तू सुदर्शन है, जो दस सागरोपम की स्थिति का क्षय तथा अपचय होने पर वाणिज्यग्राम में श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ है। अन्त में, सुदर्शन श्रमणोपासक के वर्तमान धर्ममय जीवन की प्रशंसा की है। यह प्रस्तुत उद्देशक के सू० १९-२ का निगमन है।[१]

६०. तए णं तस्स सुदंसणस्स सेट्ठिस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म सुभेणं अज्झवसाणेणं, सोहणेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सण्णीपुव्वजातीसरणे समुप्पन्ने, एतमट्ठं सम्मं अभिसमेति।

[६०] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर से यह बात (धर्मफल-सूचक) सुनकर और हृदय में धारण कर सुदर्शन श्रमणोपासक (श्रेष्ठी) को शुभ अध्यवसाय से, शुभ परिणाम से और विशुद्ध होती हुई लेश्याओं से तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से और ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए संज्ञापूर्व जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे (भगवान् द्वारा कहे गए) इस अर्थ (अपने पूर्वभव की बात) को सम्यक् रूप में जानने लगा।

६१. तए णं से सुदंसणे सेट्ठी समणेणं भयवया महावीरेणं संभारियपुव्वभवे दुगुणाणीयसड्ढसंवेगे आणंदंसुपुण्णनयणे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, आ० क० वंदति नमंसति, वं० २ एवं वयासी—एवमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुब्भे वदह त्ति कट्टु उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमति सेसं जहा उसभदत्तस्स (स० ९ उ० ३३ सू० १६) जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, नवरं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जति, बहुपडिपुण्णाणं दुवालस वासाइं सामण्णपरियागं पाउणति। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए एक्कारसमो उद्देसो समत्तो॥

[६१] (जातिस्मरणज्ञान होने पर) श्रमण भगवान् महावीर द्वारा पूर्वभव का स्मरण करा देने से सुदर्शन श्रेष्ठी के हृदय में दुगुनी श्रद्धा और संवेग उत्पन्न हुए। उसके नेत्र आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण हो गए। तत्पश्चात् वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा एवं वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—भगवन् ! यावत् आप जैसा कहते हैं, वैसा ही है, सत्य है, यथार्थ है। इस प्रकार कहकर सुदर्शन सेठ उत्तरपूर्व दिशा में गया, इत्यादि अवशिष्ट सारा वर्णन (श. ९, उ. ३३, सू. १६ में वर्णित) ऋषभदत्त की तरह जानना चाहिए, यावत् सुदर्शन श्रेष्ठी ने प्रव्रज्या अंगीकार की। विशेष यह है कि चौदह पूर्वों का अध्ययन किया, पूरे बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन किया; यावत् सर्व दुःखों से रहित हुए। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५२

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (६०-६१) में मुख्यतया दो घटनाओं का निरूपण किया गया है—(१) अपने पूर्वभव की कथा सुनकर सुदर्शन श्रेष्ठी को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे भगवान् द्वारा कथित पूर्वजन्म-वृत्तान्त को हूबहू स्पष्ट रूप से जानने लगा और (२) उसी श्रद्धा और संवेग में द्विगुणित वृद्धि हुई। भगवान् को वन्दन नमस्कार करके प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। ऋषभदत्त की तरह भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण की, १४ पूर्वों का अध्ययन किया, तत्पश्चात् तपश्चर्या की, पूरे बारह वर्ष तक श्रमणत्व का पालन किया, अन्तिम समय में संल्लेखना संथारा किया। सर्वकर्मों से मुक्त-सिद्ध-बुद्ध हुआ।[१]

सण्णीपुव्वजातीसरणे—ऐसा ज्ञान जिससे संज्ञीरूप से किये हुए अपने निरन्तर संलग्न पूर्वभव जाने-देखे जा सकें।

दुगुणाणीयसड्ढसंवेगे—श्रद्धा और संवेग दुगुने हो गए।[२]

॥ ग्यारहवाँ शतक : ग्यारहवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५४

२. (क) संज्ञिरूपा या पूर्वा जातिस्तस्याः स्मरणं यत्तत्तथा।

(ख) पूर्वकालापेक्षया द्विगुणावानीतौ श्रद्धासंवेगौ यस्य स तथा।

श्रद्धा—तत्त्वार्थश्रद्धानं सदनुष्ठानचिकीर्षा वा।

संवेगो—भवभयं मोक्षाभिलाषो वा। — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र. ५४९

बारसमो उद्देसओ : बारहवाँ उद्देशक

आलभिया : आलभिका (नगरी में प्ररूपणा)

आलभिका नगरी के श्रमणोपासकों की देवस्थितिविषयक जिज्ञासा एवं ऋषिभद्र के उत्तर के प्रति अश्रद्धा

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नगरी होत्था। वण्णओ। संखवणे चेतिए। वण्णओ।

[१] उस काल और उस समय में आलभिका नाम की नगरी थी। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ शंखवन नामक उद्यान था। उसका वर्णन भी करना चाहिए।

२. तत्थ णं आलभियाए नगरीए बहवे इसिभद्दपुत्तपामोक्खा समणोवासया परिवसंति अड्ढा जाव अपरिभूता अभिगयजीवाजीवा जाव विहरंति।

[२] इस आलभिका नगरी में ऋषिभद्रपुत्र वगैरह बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। वे आढ्य यावत् अपरिभूत थे, जीव और अजीव (आदि तत्त्वों) के ज्ञाता थे, यावत् विचरण (जीवनयापन) करते थे।

३. तए णं तेसिं समणोवासयाणं अन्नया कयाइ एगयओ समुवागयाणं सहियाणं समुपविट्ठाणं सन्निसन्नाणं अयमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—देवलोगेसु णं अज्जो ! देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

[३] उस समय एक दिन एक स्थान पर आकर एक साथ एकत्रित होकर बैठे हुए उन श्रमणोपासकों में परस्पर इस प्रकार का वार्त्तालाप (धर्मचर्चा) हुआ—[प्र.] हे आर्यो ! देवलोकों में देवों की स्थिति, कितने काल की कही गई है ?

४. तए णं से इसिभद्दपुत्ते समणोवासाए देवट्ठितिगहियट्ठे ते समणोवासए एवं वयासी—देवलोगेसु णं अज्जो ! देवाणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता, तेणं परं समयाहिया दुसमयाहिया तिसमयाहिया जाव दससमयाहिया संखेज्जसमयाहिया असंखेज्जसमाहिया; उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता। तेण परं वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य।

[४] (उ.) इस प्रश्न को सुनने के पश्चात् देवों की स्थिति के विषय में ज्ञाता (गृहीतार्थ) ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक, उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार बोला—आर्यो! देवलोकों में देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तक कही गई है, उसके उपरान्त एक समय अधिक, दो समय अधिक, यावत् दस समय अधिक, संख्यात समय अधिक और असंख्यात समय अधिक, (इस प्रकार बढ़ते हुए) उत्कृष्ट तेतीस सागरोपरम की स्थिति कही गई है। इसके उपरान्त अधिक स्थिति वाले देव और देवलोक नहीं हैं।

५. तए णं ते समणोवासगा इसिभद्दपुत्तस्स समणोवासगस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव एवं

परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति नो पत्तियंति नो रोएंति, एयमट्ठं असद्दहमाणा अपत्तियमाण अरोएमाणा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया।

[५] तदनन्तर उन श्रमणोपासकों ने ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक के द्वारा इस प्रकार की हुई यावत् प्ररूपित की हुई इस बात पर न श्रद्धा की, न प्रतीति की और न रुचि ही की; उपर्युक्त कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि न करते हुए वे श्रमणोपासक जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में चले गए।

विवेचन—ऋषिभद्रपुत्र द्वारा देवस्थिति सम्बन्धी प्ररूपणा पर अश्रद्धालु श्रमणोपासक—प्रस्तुत ५ सूत्रों में (१-५) में वर्णन है कि ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक द्वारा प्ररूपित देवस्थिति पर अन्य श्रमणोपासकों ने विश्वास नहीं किया।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—एगयओ समुवागयाणं—एकत्र, आए हुए। **सहियाणं समुपविट्ठाणं**—एक साथ समुपस्थित या समुपविष्ट—एक जगह आसन जमाए हुए। **सन्निसन्नाणं**—पास-पास बैठे हुए। **मिहो कहासमुल्लावे**—परस्पर वार्तालाप। **देवट्ठितिगहियट्ठे**—देवों की स्थिति के विषय में परमार्थ—रहस्य का ज्ञाता।[२]

भगवान् द्वारा समाधान से सन्तुष्ट श्रमणोपासकों द्वारा ऋषिभद्रपुत्र से क्षमायाचना

६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे जाव परिसा पज्जुवासइ।

[६] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यावत् (आलभिका नगरी में) पधारे, यावत् परिषद् ने उनकी पर्युपासना की।

७. तए णं ते समणोवासगा इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा एवं जहा तुंगिउद्देसए (स० २ उ० ५ सु० १४) जाव पज्जुवासंति।

[७] (श. २, उ. ५, सू. १४ में वर्णित) तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों के समान आलंभिका नगरी के वे (ऋषिभद्रपुत्र के समाधान के प्रति अश्रद्धालु) श्रमणोपासक इस बात (भगवान् के पदार्पण) को सुन (जान) कर हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए, यावत् भगवान् की पर्युपासना करने लगे।)

८. तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य महति० धम्मकहा जाव आणाए आराहए भवति।

[८] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने उन श्रमणोपासकों को तथा उस बड़ी परिषद् को धर्मकथा कही, यावत् वे आज्ञा के आराधक हुए।

विवेचन—आलभिका में भगवत्पदार्पण एवं असंतुष्ट श्रमणोपासक सन्तुष्ट—प्रस्तुत तीन सूत्रों

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५५२

(६-७-८) में तीन घटनाओं का उल्लेख किया गया है—(१) आलभिका नगरी में भगवान् का पदार्पण, (२) पदार्पण सुन कर असन्तुष्ट श्रमणोपासकों द्वारा भगवदुपासना एवं (३) भगवान् द्वारा धर्मोपदेश प्रदान से वे सन्तुष्ट, श्रद्धावान् एवं आज्ञाराधक।[1]

९. तए णं ते समणोवासया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठेंति, उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ वदासी—एवं खलु भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए अम्हं एवं आइक्खति जाव परूवेति—देवलोएसु णं अज्जो ! देवाणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं ठिती पन्नत्ता, तेण परं समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिन्ना देवा ये देवलोगा य। से कहमेतं भंते ! एवं ?

[९] तत्पश्चात् वे श्रमणोपासक श्रमण भगवान् महावीर के पास से धर्म-(धर्मोपदेश) श्रवण कर एवं अवधारण करके हृष्ट-तुष्ट हुए। फिर वे स्वयं उठे और खड़े होकर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार पूछा—

[प्र.] भगवन् ! ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक ने हमें इस प्रकार कहा, यावत् प्ररूपणा की—हे आर्यो ! देवलोकों में देवों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष कही गई है। उसके आगे एक-एक समय अधिक यावत् (पूर्ववत् उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की कही गई है,) इसके बाद देव और देवलोक विच्छिन्न हैं, नहीं हैं। तो क्या भगवन् ! यह बात ऐसी ही है ?

१०. 'अज्जो !' त्ति समणे भगवं महावीरे ते समणोवासए एवं वयासी—जं णं अज्जो ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तुब्भं एवं आइक्खइ जाव परूवेइ—देवलोगेसु णं अज्जो ! देवाणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य। सच्चे णं एसमट्ठे। अहं पि णं अज्जो! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—देवलोगेसु णं अज्जो ! देवाणं जहन्नेण दस वाससहस्साइं० तं चेव जाव वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य। सच्चे णं एसमट्ठे।

[१०. उ.] आर्यो ! इस प्रकार का सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने उन श्रमणोपासकों को तथा उस बड़ी (विशाल) परिषद् को इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक ने जो तुमसे इस प्रकार (पूर्वोक्त) कहा था, यावत् प्ररूपणा की थी कि देवलोकों में देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, उसके आगे एक समय अधिक, यावत् (उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है) इसके आगे देव और देवलोक विच्छिन्न हैं—यह अर्थ (बात) सत्य है। हे आर्यो ! मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि देवलोकों में देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, यावत् उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है, यावत् इससे आगे देव और देवलोक विच्छिन्न हो जाते हैं। आर्यो ! यह बात सर्वथा सत्य है।

११. तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५५

समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ इसिभद्दपुत्तं समणोवासगं वंदंति नमंसंति, वं० २ एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति।

[११] तदनन्तर उन श्रमणोपासकों ने श्रमण भगवान् महावीर से यह समाधान सुनकर और हृदय में अवधारण कर उन्हें वन्दन-नमस्कार किया; फिर जहाँ ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक था, वे वहाँ आए। ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक के पास आकर उन्होंने उसे वन्दन-नमस्कार किया और उसकी (पूर्वोक्त) बात को सत्य न मानने के लिए विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना की।

१२. तए णं ते समणोवासया पसिणाइं पुच्छंति, प० पु० २ अट्ठाइं परियादियंति, अ० प० २ समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगया।

[१२] फिर उन श्रमणोपासकों ने भगवान् से कई प्रश्न पूछे तथा उनके अर्थ ग्रहण किए और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में (अपने-अपने स्थान पर) चले गए।

विवेचन—असंतुष्ट श्रमणोपासकों का समाधान और ऋषिभद्रपुत्र से क्षमायाचना—प्रस्तुत चार सूत्रों में चार तथ्यों का उल्लेख किया गया है—(१) भ. महावीर का धर्मोपदेश सुनकर उनके सामने ऋषिभद्रपुत्र के द्वारा प्राप्त समाधान की सत्यता की जिज्ञासा, (२) भगवान् द्वारा ऋषिभद्रपुत्र के कथन की सत्यता का कथन, (३) क्षमणोपासकों द्वारा ऋषिभद्रपुत्र से वन्दन-नमन-विनयपूर्वक क्षमायाचना और (४) अन्य प्रश्नों का प्रस्तुतीकरण एवं अर्थग्रहण।[1]

कठिन शब्दों का अर्थ—समयाहिया—एक समय अधिक। **भुज्जो भुज्जो**—बार-बार। **खामेंति**—क्षमायाचना करते हैं। **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से। **अट्ठाइं परियादियंति**—अर्थों का ग्रहण करते हैं। **पसिणाइं**—प्रश्न।[2]

प्रस्तुत प्रकरण में असंतुष्ट श्रमणोपासकों द्वारा ऋषिभद्रपुत्र जैसे बराबरी के श्रमणोपासक से वन्दन-नमन करके क्षमायाचना करने में, उनकी सरलता, सत्यग्राहिता एवं विनम्रता परिलक्षित होती है।

ऋषिभद्रपुत्र के भविष्य के सम्बन्ध में कथन

१३. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसति, व० २ एवं वयासी—पभू णं भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतियं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! इसिभद्दपुत्ते णं समणोवासए बहूहिं सीलव्वत-गुणव्वत-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहितेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणो-

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५६

२. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १९६३-६४

वासगपरियागं पाउणिहिति, ब० पा० २ मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेहिति, मा० झू० २ सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेहिति स० छे० २ आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। तत्थ णं इसिभद्दपुत्तस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिती भविस्सति।

[१३ प्र.] तदनन्तर भगवन् ! इस प्रकार सम्बोधित करते हुए भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—भगवन् ! क्या ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक आप देवानुप्रिय के समीप मुण्डित होकर आगारवास से अनगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है ?

[१३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं किन्तु यह ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक बहुत-से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवासों से तथा यथोचित गृहीत तपःकर्मों द्वारा अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करेगा। फिर मासिक संलेखना द्वारा साठ भक्त का अनशन द्वारा छेदन कर, (आहार छोड़कर), आलोचना और प्रतिक्रमण कर तथा समाधि प्राप्त कर, काल के अवसर पर काल करके सौधर्मकल्प के अरुणाभ नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न होगा। वहाँ कितने ही देवों की चार पल्योपम की स्थिति कही गई है। ऋषिभद्रपुत्र-देव की भी चार पल्योपम की स्थिति होगी।

१४. से णं भंते ! इसिभद्दपुत्ते देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[१४ प्र.] भगवन् ! वह ऋषिभद्रपुत्र-देव उस देवलोक से आयुक्षय, स्थितिक्षय और भवक्षय करके यावत् कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१४ उ.] गौतम ! वह महाविदेहक्षेत्र में सिद्ध होगा, यावत् सभी दुःखों का अन्त करेगा।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !, यों कह कर भगवान् गौतम, यावत् अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

१५. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ आलभियाओ नगरीओ संखवणाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति, प० २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

[१५] पश्चात् किसी समय श्रमण भगवान् महावीर भी आलभिका नगरी के शंखवन उद्यान से निकल कर बाहर जनपदों में विहार करने लगे।

विवेचन—ऋषिभद्रपुत्र के विषय में भविष्यकथन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१३ से १५ तक) में भगवान् महावीर द्वारा ऋषिभद्रपुत्र के भविष्य के सम्बन्ध में प्रतिपादित तथ्य का निरूपण किया है। भगवान् ने दो तथ्यों की ओर इंगित किया है—(१) ऋषिभद्रपुत्र महाव्रती श्रमण न बन कर श्रमणोपासकव्रतों का पालन करेगा और अन्त में संलेखना-अनशन पूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके प्रथम देवलोक में देव बनेगा, (२) फिर वह महाविदेहक्षेत्र में सिद्ध होगा।[१]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५७

मुद्‌गल परिव्राजक

मुद्‌गल परिव्राजक : परिचय और समुत्पन्नविभंगज्ञान

१६. तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं संखवणे णामं चेइए होत्था। वण्णओ। तस्स णं संखवणस्स चेइयस्स अदूरसामंते मोग्गले[१] नामं परिव्वायए परिवसति रिजुव्वेद-यजुव्वेद जाव नयेसु सुपरिनिट्ठिए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ जाव आयावेमाणे विहरति।

[१६] उस काल और उस समय में आलभिका नाम की नगरी थी। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ शंखवन नामक उद्यान था। उसका भी वर्णन करना चाहिए। उस शंखवन उद्यान के न अतिदूर और न अतिनिकट (कुछ दूर) मुद्‌गल (पुद्‌गल) नामक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि शास्त्रों यावत् ब्रहुत से ब्राह्मण विषयक नयों में सम्यक् निष्णात था। वह लगातार बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ) का तपःकर्म करता हुआ तथा आतापनाभूमि में दोनों भुजाएँ ऊँची करके यावत् आतापना लेता हुआ विचरण करता था।

१७. तए णं तस्स मोग्गलस्स परिव्वायगस्स छट्ठंछट्ठेणं जाव आयावेमाणस्स पगतिभद्दयाए जहा सिवस्स (स० ११ उ० ९ सु० १६) जाव विब्भंगे नामं णाणे समुप्पन्ने। से णं तेणं विब्भंगेणं नाणेणं समुप्पन्नेणं बंभलोए कप्पे देवाणं ठितिं जाणति पासति।

[१७] तत्पश्चात् इस प्रकार से बेले-बेले का तपश्चरण करते हुए मुद्‌गल परिव्राजक को प्रकृति की भद्रता आदि के कारण (श. ११, उ. ९ सू. १६ में वर्णित) शिवराजर्षि के समान विभंगज्ञान (कु-अवधिज्ञान) उत्पन्न हुआ। वह उस समुत्पन्न विभंगज्ञान के कारण पंचम ब्रह्मलोक कल्प में रहे हुए देवों की स्थिति तक जानने-देखने लगा।

विवेचन—मुद्‌गल परिव्राजक और उसे उत्पन्न विभंगज्ञान—प्रस्तुत दो सूत्रों (१६-१७) में मुद्‌गल परिव्राजक का परिचय और उसे उक्त तपश्चर्या, आतापना तथा प्रकृतिभद्रता आदि के कारण विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ, जिसमें वह पंचम देवलोक के देवों की स्थिति जान-देख सकता था।[२]

विभंगज्ञानी मुद्‌गल द्वारा अतिशय ज्ञान की घोषणा और जनप्रतिक्रिया

१८. तए णं तस्स मोग्गलस्स परिव्वायगस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'अत्थि णं ममं अतिसेसे नाण-दंसणे समुप्पन्ने, देवलोएसु णं देवाणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं ठिती पन्नत्ता, तेण परं वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य।' एवं संपेहेति, एवं सं० २ आयावणभूमीओ पच्चोरुभति, आ०

---

१. किसी-किसी प्रति में '**मोग्गले**' (मुद्‌गल) के बदले **पोग्गले** (पुद्‌गल) पाठ है। वैदिकसंस्कृति की दृष्टि से "मुद्‌गल" शब्द उचित प्रतीत होता है।

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५७

प० २ तिदंड-कुंडियं जाव धाउरत्ताओ य गेण्हति, गे० २ जेणेव आलभिया णगरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ भंडनिक्खेवं करेति, भं० क० २ आलभियाए नगरीए सिंघाडग जाव पहेसु अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव परूवेति—अत्थि णं देवाणुप्पिया ! ममं अतिसेसे नाण-दंसणे समुप्पन्ने, देवलोएसु णं देवाणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं० तं चेव जाव वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य।

[१८] तत्पश्चात् उस मुद्गल परिव्राजक को इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि—"मुझे अतिशय-ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, जिससे मैं जानता हूँ कि देवलोकों में देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, उसके उपरान्त एक समय अधिक, दो समय अधिक, यावत् असंख्यात समय अधिक, इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है। उससे आगे देव और देवलोक विच्छिन्न हैं, नहीं हैं।" इस प्रकार उसने ऐसा निश्चय कर लिया। फिर वह आतापनाभूमि से नीचे उतरा और त्रिदण्ड, कुण्डिका, यावत् गैरिक (धातुरक्त) वस्त्रों को लेकर आलभिका नगरी में जहाँ तापसों का मठ (आवसथ) था, वहाँ आया। वहाँ उसने अपने भण्डोपकरण रखे और आलभिका नगरी के शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क यावत् राजमार्ग पर एक-दूसरे से इस प्रकार कहने और प्ररूपणा करने लगा—"हे देवानुप्रियो ! मुझे अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ है, जिससे मैं यह जानता-देखता हूँ कि देवलोकों में देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है और उत्कृष्ट स्थिति यावत् (दस सागरोपम की है।) इससे आगे देवों और देवलोकों का अभाव है।"

१९. तए णं आलभियाए नगरीय एवं एएणं अभिलावेणं जहा सिवस्स (स० ११ उ० ९ सु० १८) जाव से कहमेयं मन्ने एवं ?

[१९] इस बात को सुनकर आलभिका नगरी के लोग परस्पर (श. ११, उ. ९, सू. १८ के अनुसार) शिव राजर्षि के अभिलाप के समान कहने लगे यावत्—"हे देवानुप्रियो ! उनकी यह बात कैसे मानी जाए ?"

विवेचन—मुद्गल का अतिशय ज्ञानोत्पत्ति का मिथ्या दावा और घोषणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (१८-१९) में से प्रथम मुद्गल परिव्राजक द्वारा स्वयं को अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने की मिथ्या धारणा तथा घोषणा का और द्वितीय सूत्र में आलभिका नगरी के लोगों की प्रतिक्रिया का वर्णन है।[१]

भगवान् द्वारा सत्यासत्य का निर्णय

२०. सामी समोसढे जाव परिसा पडिगया भगवं गोयमे तहेव भिक्खायरियाए तहेत बहुजणसद्दं निसामेति (स० ११ उ० ९ सु० २०), तहेव सव्वं भाणियव्वं जाव (स० ११ उ० ९ सु० २१) अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि एवं भासामि जाव परूवेमि—देवलोएसु णं देवाणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं ठिती पन्नत्ता, तेण परं समयाहिया दुसमयाहिया जाव उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता; तेण परं वोच्छिन्ना देवा य देवलोगा य।

[२०] (उन्हीं दिनों में आलभिका नगरी में) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ, यावत् परिषद् (धर्मोपदेश सुनकर) वापस लौटी। भगवान् गौतमस्वामी उसी प्रकार (पूर्ववत्) नगरी में भिक्षाचर्या के

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५८

लिए पधारे तथा बहुत से लोगों में परस्पर (मुद्गल परिव्राजक को अतिशय ज्ञान-दर्शनोत्पत्ति की उपर्युक्त) चर्चा होती हुई सुनी। शेष सब वर्णन पूर्ववत् (श. ११, उ. ७, सू. १२ के अनुसार) कहना चाहिए, यावत् (भगवान् से गौतमस्वामी द्वारा पूछने पर उन्होंने इस प्रकार कहा—) गौतम ! मुद्गल परिव्राजक का कथन असत्य है। मैं इस प्रकार प्ररूपणा करता हूँ, इस प्रकार प्रतिपादन करता हूँ यावत् इस प्रकार कथन करता हूँ—"देवलोकों में देवों की जघन्य स्थिति तो दस हजार वर्ष की है; किन्तु इसके उपरान्त एक समय अधिक, दो समय अधिक, यावत् उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है। इससे आगे देव और देवलोक विच्छिन्न हो गए हैं।"

विवेचन—मुद्गल परिव्राजक के कथन की सत्यासत्यता का निर्णय—प्रस्तुत २० वें सूत्र में गौतमस्वामी द्वारा मुद्गल परिव्राजक के कथन की सत्यता-असत्यता के विषय में पूछे जाने पर भगवान् द्वारा दिये निर्णय का निरूपण है।[१]

२१. अत्थि णं भंते ! सोहम्मे कप्पे दव्वाइं सव्वण्णाइं पि अवण्णाइं पि तहेव (स० ११ उ० ९ सु० २२) जाव हंता, अत्थि।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या सौधर्म-देवलोक में वर्णसहित और वर्णरहित द्रव्य अन्योऽन्यबद्ध यावत् सम्बद्ध हैं ? इत्यादि पूर्ववत् (श० ११, उ० ९, सू० २२ के अनुसार) प्रश्न।

[२१ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

२२. एवं ईसाणे वि। एवं जाव अच्चुए एवं गेविज्जविमाणेसु, अणुत्तरविमाणेसु वि, ईसिपब्भाराए वि जाव हंता, अत्थि।

[२२ प्र.] इसी प्रकार क्या ईशान देवलोक में यावत् अच्युत देवलोक में तथा ग्रैवेयक विमानों में और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में भी वर्णादिसहित और वर्णादिरहित द्रव्य हैं ?

[२२ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

२३. तए णं सा महतिमहालिया जाव पडिगया।

[२३] तदनन्तर वह महती परिषद् (धर्मोपदेश सुन कर) यावत् वापस लौट गई।

विवेचन—समस्त वैमानिक देवलोकों में वर्णादि से सहित एवं रहित द्रव्यसंबंधी प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (२१-२२) में सौधर्म देवलोक से लेकर अनुत्तरविमानों तक तथा ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में वर्णादिसहित एवं वर्णादिरहित द्रव्यों की सम्बद्धता की प्ररूपणा की गई है तथा २३वें सूत्र में महती परिषद् के लौटने का वर्णन है।

मुद्गल परिव्राजक द्वारा निर्ग्रन्थप्रव्रज्याग्रहण एवं सिद्धिप्राप्ति

२४. तए णं आलभियाए नगरीए सिंघाडग-तिय० अवेससं जहा सिवस्स (स० ११ उ० ९ सु० २७-३२) जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, णवरं तिदंड-कुंडियं जाव धाउरत्तवत्थपरिहिए परिवडियविब्भंगे आलभियं नगरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति जाव उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमति, उत्तर० अ० २

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५८

तिदंड-कुंडियं च जहा खंदओ (स० २ उ० १ सु० ३४) जाव पव्वइओ। सेसं जहा सिवस्स जाव अव्वाबाहं सोक्खं अणुहुंति सासतं सिद्धा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एक्कारसमे सए बारसमो उद्देसो समत्तो॥ ११-१२॥

॥ एक्कारसमं सयं समत्तं॥ ११॥

[२४] तत्पश्चात् आलभिका नगरी में शृंगाटक, त्रिक यावत् राजमार्गों पर बहुत-से लोगों से यावत् मुद्गल परिव्राजक ने भगवान् द्वारा दिया अपनी मान्यता के मिथ्या होने का निर्णय सुनकर इत्यादि सब वर्णन (श. ११, उ. ९, सू. २७-३२ के अनुसार) शिवराजर्षि के समान कहना चाहिए।

[मुद्गल परिव्राजक भी शिवराजर्षि के समान शंकित, कांक्षित यावत् कालुष्ययुक्त हुए, जिससे उनका विभंगज्ञान नष्ट हो गया।]

[भगवान् आदिकर, तीर्थंकर, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी] यावत् सर्वदुखों से रहित [होकर विचरते] हैं; [उनके पास जाऊँ और यावत् पर्युपासना करूं। इस प्रकार विचार कर] विभंगज्ञानरहित मुद्गल परिव्राजक ने भी अपने त्रिदण्ड, कुण्डिका आदि उपकरण लिये, भगवा वस्त्र पहने और वे आलभिका नगरी के मध्य में हो कर निकले [जहाँ भगवान् विराजमान थे, वहाँ आए,] यावत् उनकी पर्युपासना की। [भगवान् ने मुद्गल परिव्राजक तथा उस महापरिषद् को धर्मोपदेश दिया, यावत् इसका पालन करने से जीव आज्ञा के आराधक होते हैं।]

भगवान् द्वारा अपनी शंका का समाधान हो जाने पर मुद्गल परिव्राजक भी यावत् उत्तर-पूर्वदिशा में गए और स्कन्दक की तरह (श. २, उ. १, सू. ३४ के अनुसार) त्रिदंड, कुण्डिका एवं भगवा वस्त्र एकान्त में छोड़ कर यावत् प्रव्रजित हो गए। इसके बाद का वर्णन शिवराजर्षि की तरह जानना चाहिए; [यावत् मुद्गलमुनि भी आराधक हो कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।] यावत् वे सिद्ध अव्याबाध शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', ऐसा कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे।

विवेचन—मुद्गल परिव्राजक : विभंगज्ञानरहित, शंकारहित, प्रव्रजित और सिद्धिप्राप्त—प्रस्तुत २४ वें सूत्र में मुद्गल परिव्राजक का अपनी मान्यता भ्रान्त ज्ञात होने पर उनके शंकित आदि होने, उनका विभंगज्ञान नष्ट होने, भगवन् की सेवा में पहुँचने और शंकानिवारण होने पर प्रव्रजित होने तथा रत्नत्रयाराधना करने तथा अन्तिम संलेखना-संथारा करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने तक का वर्णन है।[1]

॥ ग्यारहवाँ शतक : बारहवाँ उद्देशक समाप्त॥

॥ ग्यारहवां शतक सम्पूर्ण॥

○○○

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५५९

बारसमं सयं : बारहवाँ शतक

प्राथमिक

- भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र के इस बारहवें शतक में दस उद्देशक हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) शंख, (२) जयंती, (३) पृथ्वी, (४) पुद्गल, (५) अतिपात, (६) राहु, (७) लोक, (८) नाग, (९) देव और (१०) आत्मा।

- **प्रथम उद्देशक** में वर्णन है कि श्रावस्ती निवासी शंख और पुष्कली आदि श्रमणोपासकों ने भगवान् महावीर का प्रवचन सुन कर आहारसहित पौषध करने का विचार किया, और शंख ने अन्य सब साथी श्रमणोपासकों को आहार तैयार करने का निर्देश दिया। परन्तु शंख श्रमणोपासक ने बाद में निराहार पौषध का पालन किया। जब प्रतीक्षा करने के बाद भी शंख न आया तो अन्य श्रमणोपासकों ने आहार किया। दूसरे दिन जब शंख मिला तो अन्य श्रमणोपासकों ने उसे उपालम्भ दिया, किन्तु भगवान् ने उन्हें ऐसा करते हुए रोका। उन्होंने शंख की प्रशंसा की। इससे श्रमणोपासकों ने शंख से अविनय के लिए क्षमा मांगी। अंत में तीन प्रकार की जागरिका का वर्णन किया गया है।

- **द्वितीय उद्देशक** में भगवान् महावीर की प्रथम शय्यातरा जयंती श्रमणोपासिका का वर्णन है, जिसने भगवान् से क्रमशः जीव को गुरुत्व-लघुत्व-प्राप्ति, भव्य-अभव्य, सुप्त-जाग्रत, दुर्बलता-सबलता, दक्षत्व-अनुद्यमित्व आदि के विषय में प्रश्न पूछ कर समाधान प्राप्त किया। अंत में पंचेन्द्रिय विषयवशार्त के परिणाम के विषय में समाधान पूछकर वह संसारविरक्त होकर प्रव्रजित हुई।

- **तृतीय उद्देशक** में सात नरकपृथ्वियों के नाम-गोत्र आदि का वर्णन है।

- **चतुर्थ उद्देशक** में दो परमाणुओं से लेकर दस परमाणुओं, यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणपुद्गलों के एकत्वरूप एकत्र होने पर बनने वाले स्कन्ध के पृथक्-पृथक् विकल्पों का प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् इन परमाणुपुद्गलों के संघात और भेद से विभिन्न पुद्गल परिवर्तों का निरूपण किया गया है।

- **पंचम उद्देशक** में प्रणातिपात आदि अठारह पापस्थानों के पर्यायवाची पदों के उल्लेखपूर्वक उनके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का निरूपण है। तत्पश्चात् औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों, अवग्रहादि चार, उत्थानादि पांच तथा सप्तम अवकाशान्तर से वैमानिकावास तक, एवं पंचास्तिकाय, अष्ट कर्म, षट् लेश्या, पंच शरीर, त्रियोग, अतीतादिकाल एवं गर्भागत जीव में वर्णादि की प्ररूपणा की गई है। अन्त में बताया गया है कि कर्मों से ही जीव मनुष्य तिर्यञ्चादि नाना रूपों को प्राप्त होता है।

- **छठे उद्देशक** में 'राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है,' इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण करते हुए भगवान् ने राहु की विभूतिमत्ता, शक्तिमत्ता, उसके नाम, एवं वर्ण का प्रतिपादन किया है, तथा इस तथ्य को उजागर

किया है कि राहु आता-जाता, विक्रिया करता या कामक्रीडा करता हुआ जब पूर्वादि दिशाओं में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को आच्छादित कर देता है तब इसी को लोग राहु द्वारा चन्द्र का ग्रसन, ग्रहण भेदण, वमन या भक्षण करना कह देते हैं। तत्पश्चात् ध्रुवराहु और पर्वराहु के स्वरूप और कार्य का, चन्द्र को शशि और सूर्य को आदित्य कहने के कारण का तथा चन्द्र और सूर्य के कामभोगजनित सुखों का प्रतिपादन किया गया है।

- **सप्तम उद्देशक** में समस्त दिशाओं से असंख्येय कोटा-कोटि योजनप्रमाण लोक में परमाणु पुद्गल जितने आकाशप्रदेश के भी जन्म-मरण से अस्पृष्ट न रहने का तथ्य अजा-व्रज के दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध किया गया है। तत्पश्चात् रत्नप्रभा पृथ्वी से लेकर अनुत्तर विमान के आवासों में अनेक या अनन्त बार उत्पत्ति की तथा एक जीव और सर्व जीवों की अपेक्षा से माता आदि के रूप में, शत्रु आदि के रूप में, राजादि के रूप में एवं दासादि के रूप में अनेक या अनन्त बार उत्पन्न होने की प्ररूपणा की गई है।

- **अष्टम उद्देशक** में महर्द्धिक देव की नाग, मणि एवं वृक्षादि से उत्पत्ति एवं प्रभाव की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् निःशील, व्रतादिरहित महान् वानर, कुक्कुट एवं मण्डूक, सिंह, व्याघ्रादि तथा ढंक कंकादि पक्षी आदि के प्रथम नरक के नैरयिक रूप से उत्पत्ति की प्ररूपणा की गई है।

- **नौवें उद्देशक** में भव्यद्रव्यदेव आदि पंचविध देव, उनके स्वरूप तथा उनकी आगति, जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति, विक्रियाशक्ति, मरणानन्तरगति-उत्पत्ति, उद्वर्तना, संस्थितिकाल, अन्तर, पंचविध देवों के अल्पबहुत्व एवं भाव-देवों के अल्पबहुत्व का प्रतिपादन किया गया है।

- **दसवें उद्देशक** में आठ प्रकार की आत्मा तथा उनमें परस्पर सम्बन्धों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् आत्मा की ज्ञान-दर्शन से भिन्नता-अभिन्नता, तथा रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर अच्युतकल्प तक के आत्मा, नो-आत्मा के रूप में कथन किया गया है। तदनन्तर परमाणुपुद्गल से लेकर द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक, चतुष्प्रदेशिक यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक में सकलादेश-विकलादेश की अपेक्षा से विविध भंगों का प्रतिपादन किया गया है।

- कुल मिला कर आत्मा का विविध पहलुओं से, विविध रूप में कथन, साधना द्वारा जीव और कर्म का पृथक्करण, परमाणुपुद्गलों से सम्बन्ध आदि का रोचक वर्णन प्रस्तुत शतक में किया गया है।[१]

OOO

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ५३० से ६१४ तक

बारसमं सयं : बारहवाँ शतक

बारहवें शतक के दश उद्देशकों के नाम

बारहवें शतक के दस उद्देशक

१. संखे १ जयंति २ पुढवी ३ पोग्गल ४ आइवाय ५ राहु ६ लोगे य ७।

नागे य ८ देव ९ आया १० बारसमसए दसुद्देसा ॥ १ ॥

[सू. १ गाथार्थ] बारहवें शतक में दस उद्देशक हैं। (उनके नाम इस प्रकार हैं)—(१) शंख, (२) जयंती, (३) पृथ्वी, (४) पुद्गल, (५) अतिपात, (६) राहु, (७) लोक, (८) नाग, (९) देव और (१०) आत्मा ॥ १ ॥

विवेचन—दश उद्देशक—(१) शंख—श्रमणोपासक शंख और पुष्कली के साहार पौषधोपवास का वर्णन, **(२) जयंती**—जयंती श्रमणोपासिका के भगवान् से प्रश्नोत्तर, **(३) पृथ्वी**—सात नरक-भूमियों का वर्णन, **(४) पुद्गल**—परमाणु और स्कन्ध के विभागों का वर्णन, **(५) अतिपात**—प्राणातिपात आदि पापों के वर्ण-गन्धादि का निरूपण, **(६) राहु**—राहु द्वारा चन्द्रमा के ग्रसन आदि की भ्रान्त मान्यता का निराकरण, **(७) लोक**—लोक के परिमाण आदि का वर्णन, **(८) नाग**—नाग (सर्प या गज) की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में प्रश्न, **(९) देव**—देवों के प्रकार तथा उत्पत्ति के कारण आदि का वर्णन, **(१०) आत्मा**—आत्मा के आठ प्रकार और उनके परस्पर सम्बन्ध, अल्पबहुत्व आदि का वर्णन।[1]

पढमो उद्देसओ : 'संखे'

प्रथम उद्देशक : शंख (और पुष्कली श्रमणोपासक)

शंख और पुष्कली का संक्षिप्त परिचय

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नामं नयरी होत्था। वण्णओ। कोट्ठए चेतिए। वण्णओ।

[२] उस काल और उस समय में श्रावस्ती नामक नगरी थी। उसका वर्णन (औपपातिक आदि सूत्रों से समझ लेना)। (वहाँ) कोष्ठक नामक उद्यान था, उसका वर्णन भी (औपपातिक सूत्र के उद्यान-वर्णन के अनुसार समझ लें)।

३. तत्थ णं सावत्थीए नगरीए बहवे संखापामोक्खा समणोवासगा परिवसंति अड्ढा जाव अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा जाव विहरंति।

---

१. भगवतीसूत्र, वृत्ति, पत्र ५५५

[३] उस श्रावस्ती नगरी में शंख आदि बहुत-से श्रमणोपासक रहते थे। (वे) आढ्य यावत् अपरिभूत थे; तथा जीव, अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता थे, यावत् विचरते थे।

४. तस्स णं संखस्स समणोवासगस्स उप्पला नामं भारिया होत्था, सुकुमाल जाव सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा जाव विहरति।

[४] उस 'शंख' श्रमणोपासक की भार्या (पत्नी) का नाम 'उत्पला' था। उसके हाथ-पैर अत्यन्त कोमल थे, यावत् वह रूपवती एवं श्रमणोपासिका थी, तथा जीव-अजीव आदि तत्त्वों की जानने वाली यावत् विचरती थी।

५. तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पोक्खली नामं समणोवासाए परिवसति अड्ढे अभिगय जाव विहरति।

[५] उसी श्रावस्ती नगरी में पुष्कली नाम का (एक अन्य) श्रमणोपासक रहता था। वह भी आढ्य यावत् जीव-अजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता था यावत् विचरता था।

विवेचन—श्रावस्ती नगरी के दो प्रमुख श्रमणोपासक—प्रस्तुत ४ सूत्रों (२ से ५ तक) में श्रावस्ती नगरी में बसे हुए अनेक श्रमणोपासकों में से दो विशिष्ट श्रमणोपासकों का संक्षिप्त परिचय इसलिए दिया गया है कि इन्हीं दोनों से सम्बन्धित वर्णन इस उद्देशक में किया जाने वाला है।

श्रावस्ती नगरी—प्राचीन काल में भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के युग में बहुत ही समृद्ध नगरी थी। उसका कोष्ठक उद्यान प्रसिद्ध था, जहाँ केशी-गौतम-संवाद हुआ था। वर्तमान में श्रावस्ती का नाम 'सेहट-मेहट' है। अब यह वैसी समृद्ध नगरी नहीं रही।

भगवान् का श्रावस्ती में पदार्पण, श्रमणोपासकों द्वारा धर्मकथा-श्रवण

६. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ।

[६] उस काल और उस समय में (श्रमण भगवान् महावीर) स्वामी श्रावस्ती पधारे। उनका समवसरण (धर्मसभा) लगा। परिषद् वन्दन के लिए गई, यावत् पर्युपासना करने लगी।

७. तए णं समणोवासगा इमीसे जहा आलभियाए (स. ११ उ. १२ सु. ७) जाव पज्जुवासंति।

[७] तत्पश्चात् (श्रमण भगवान् महावीर के आगमन को जान कर) वे (श्रावस्ती के) श्रमणोपासक भी, आलभिका नगरी के (श. ११ उ. १२ सू. ७ में उक्त श्रमणोपासक के समान) उनके वन्दन एवं धर्मकथा श्रवण आदि के लिए गए यावत् पर्युपासना करने लगे।

८. तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य महतिमहालियाए० धम्मकहा जाव परिसा पडिगया।

[८] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने उन श्रमणोपासकों को और उस महती महापरिषद् को धर्मकथा कही (धर्मोपदेश दिया)। यावत् परिषद् (धर्मोपदेश सुन कर अत्यन्त हर्षित हो कर) वापिस चली गई।

९. तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ

समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ पसिणाइं पुच्छंति, प० पु० अट्ठाइं परियादियंति, अ० प० २ उट्ठाए उट्ठेंति, उ० २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ कोट्ठगाओ चेतियाओ पडिनिक्खमंति, प० २ जेणेव सावत्थी नयरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[९] तत्पश्चात् वे (श्रावस्ती के) श्रमणोपासक भगवान् महावीर के पास धर्मोपदेश सुन कर और अवधारण करके हर्षित और सन्तुष्ट हुए। उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, (और उनसे कतिपय) प्रश्न पूछे, तथा उनका अर्थ (उत्तर) ग्रहण किया। फिर उन्होंने खड़े हो कर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और कोष्ठक उद्यान से निकल कर श्रावस्ती नगरी की ओर जाने का विचार किया।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (६ से ९ तक) में निम्नोक्त बातों का प्रतिपादन किया गया है—

१. भगवान् महावीर का श्रावस्ती में पदार्पण और परिषद् का वंदनादि के लिए निर्गमन।

२. श्रावस्ती के उन विशिष्ट श्रमणोपासकों द्वारा भी भगवान् के वन्दन-प्रवचनश्रवणादि के लिए पहुँचना।

३. भगवान् द्वारा सबको धर्मोपदेश करना।

४. धर्मोपदेश सुन उक्त श्रमणोपासकों द्वारा भगवान् से अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर श्रावस्ती की ओर प्रत्यागमन।

कठिन शब्दार्थ—पहारेत्थ गमणाए—गमन के लिए निर्धारण किया।

शंख श्रमणोपासक द्वारा पाक्षिक पौषधार्थ श्रमणोपासकों को भोजन तैयार कराने का निर्देश

१०. तए णं से संखे समणोवासए ते समणोवासए एवं वदासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेह। तए णं अम्हे तं विपुलं असण पाण-खाइम-साइमं आसाएमाणा विस्साएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाण पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो।

[१०] तदनन्तर उस शंख श्रमणोपासक ने दूसरे (उन साथी) श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! तुम विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम (भोजन) तैयार कराओ। फिर (भोजन तैयार हो जाने पर) हम उस प्रचुर अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (भोजन) का आस्वादन करते हुए, विशेष प्रकार से आस्वादन करते हुए, एक दूसरे को देते हुए, भोजन करते हुए पाक्षिक पौषध (पक्खी के पोसह) का अनुपालन करते हुए अहोरात्र-यापन करेंगे।

११. तए णं ते समणोवासगा संखस्स समणोवासगस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति।

[११] इस पर उन (अन्य सभी) श्रमणोपासकों ने शंख श्रमणोपासक की इस बात को विनयपूर्वक स्वीकार किया।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (१०-११) में तीन बातों का विशेषरूप से निरूपण किया गया है—(१) शंख श्रमणोपासक द्वारा साथी श्रमणोपासकों को विपुल भोजन तैयार कराने का निर्देश, (२) परस्पर भोजन देते और करते हुए पाक्षिक पौषध करने का प्रस्ताव, तथा (३) साथी श्रमणोपासकों द्वारा उक्त प्रस्ताव का स्वीकार।

कठिन शब्दार्थ—उवक्खडावेह—तैयार कराओ। **आसाएमाणा**—आस्वादन करते हुए; भावार्थ है—गन्ने के टुकड़ों की तरह थोड़ा खाते हुए और छिलके आदि बहुत सा भाग फैंकते हुए। **विस्साएमाणा**—विशेष प्रकार से आस्वादन करते हुए, भावार्थ है—खजूर आदि की तरह बहुत कम छोड़ते हुए। **परिभाएमाणा**—परस्पर एक दूसरे को परोसते—देते हुए। **परिभुंजेमाणा**—सारा (थाली में लिया हुआ) ही खाते हुए, जरा भी जूठा न छोड़ते हुए। इन चारों में वर्तमान में चालू क्रिया का निर्देशक 'शानच्' प्रत्यय है, परन्तु ये वार्तमानिक प्रत्ययान्त शब्द भूतकालिक प्रत्ययान्तद्योतक समझना चाहिए। **पक्खियं**—पाक्षिक, पन्द्रह दिनों में होने वाला। **पोसहं**—अव्यापाररूप पौषध, आहार-प्रत्याख्यान के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य सेवन, रत्नादि आभूषण, माला-विलेपनादि शस्त्रमूसलादिक सावद्य व्यापार तथा स्नान शृंगार एवं व्यवसाय के त्याग को ही यहाँ अव्यापारपौषध समझना चाहिए। **पडिजागरमाणा**—अनुपालन करते हुए, अर्थात्—पौषध करके धर्मजागरणा करते हुए। **विहरिस्सामो**—एक अहोरात्र यापन करेंगे। **पडिसुणंति**—सुन कर स्वीकृति रूप में प्रत्युत्तर देते हैं, स्वीकार करते हैं।[१]

पौषध के मुख्य दो प्रकार—प्रस्तुत पाठ से यह फलितार्थ निकलता है कि पौषध दो प्रकार का है—(१) चतुर्विध आहारत्याग-पौषध और (२) आहार-सेवनयुक्त पौषध। प्रस्तुत में शंख श्रमणोपासक ने आहार-सेवनपूर्वक पौषध करने का विचार प्रस्तुत किया है, जिसे वर्तमान में देश पौषध, देशावकाशिकव्रत-रूप पौषध, अथवा दयाव्रत, या छकाया (षट्कायारम्भ-त्याग) कहते हैं।[२]

शंख श्रमणोपासक द्वारा आहारत्यागपूर्वक पौषध का अनुपालन

१२. तए णं तस्स संखस्स समणोवासगस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'नो खलु मे सेयं तं विउलं असणं जाव साइमं आसाएमाणस्स विस्साएमाणस्स परिभाएमाणस्स परिभुंजेमाणस्स पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणस्स विहरित्तए। सेयं खलु मे पोसहसालाए पोसहियस्स बंभयारिस्स उम्मुक्कमणि-सुवणस्स ववगयमाला-वण्णग-विलेवणस्स निक्खित्तसत्थ-मुसलस्स एगस्स अविइयस्स दब्भसंथारोवगयस्स पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणस्स विहरित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेति, ए० सं० २ जेणेव सावत्थी नयरी जेणेव सए गिहे जेणेव उप्पला समणोवासिया तेणेव उवागच्छति, उवा० २ उप्पलं समणोवासियं आपुच्छति, उ० आ० २ जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छति, उवा० २ पोसहसालं अणुपविसति, पो० अ० २ पोसहसालं पमज्जति, पो० प० २ उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेति, उ० प० २ दब्भसंथारगं संथरति, द० स० २ दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभचारी जाव पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणे विहरति।

[१२] तदनन्तर उस शंख श्रमणोपासक को एक ऐसा अध्यवसाय (विचार एवं अभीष्ट मनोगत संकल्प)

---

१. भगवतीसूत्र, अभय. वृत्ति, पत्र ५५५

२. (क) भगवतीसूत्र, विवेचन, (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १९७५

(ख) अभिधानराजेन्द्र कोष, 'पोसह' शब्द

यावत् उत्पन्न हुआ —"उस विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का आस्वादन, विस्वादन, परिभाग और परिभोग करते हुए पाक्षिक पौषध (करके) धर्मजागरणा करना मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं प्रस्तुत अपनी पौषधशाला में, ब्रह्मचर्यपूर्वक, मणि, सुवर्ण आदि के त्यागरूप तथा माला, वर्णक एवं विलेपन से रहित और शस्त्र-मूसल आदि के त्यागरूप पौषध का ग्रहण करके दर्भ (डाभ) के संस्तारक (बिछौने) पर बैठ कर दूसरे किसी को साथ लिए बिना अकेले को ही पाक्षिक पौषध के रूप में (अहोरात्र) धर्मजागरणा करते हुए विचरण करना श्रेयस्कर है।" इस प्रकार विचार करके वह श्रावस्ती नगरी में जहाँ अपना घर था, वहाँ आया, (और अपनी धर्मपत्नी) उत्पला श्रमणोपासिका से (इस विषय में) पूछा (परामर्श किया)। फिर जहाँ अपनी पौषधशाला थी, वहाँ आया, पौषधशाला में प्रवेश किया। फिर उसने पौषधशाला का प्रमार्जन किया (सफाई की); उच्चारण-प्रस्रवण (मलमूत्रविर्सजन) की भूमि का प्रतिलेखन (भलीभांति निरीक्षण) किया। तब उसमें डाभ का संस्तारक (बिछौना) बिछाया और उस पर बैठा। फिर (उसी) पौषधशाला में उसने ब्रह्मचर्य पूर्वक यावत् (पूर्वोक्तवत्) पाक्षिक पौषध (रूप धर्मजागरणा) पालन करते हुए, (अहोरात्र) यापन किया।

विवेचन—शंख श्रावक द्वारा निराहर पौषध का संकल्प और अनुपालन—प्रस्तुत सूत्र में शंख श्रमणोपासक द्वारा किये गये संवेगयुक्त एक नये अध्यवसाय और तदनुसार पौषधशाला में निराहार पौषध के अनुपालन का वर्णन है।

आहारत्यागपौषध : एकाकी या सामूहिक भी ?—भगवान् के दर्शन करके वापिस लौटते समय शंख श्रावक को साहारपौषध सामूहिक रूप से करने का विचार सूझा और तदनुसार उसने अपने साथी श्रमणोपासकों को चतुर्विध आहार तैयार कराने का निर्देश दिया था, किन्तु बाद में शंख के मन में अतिशयसंवेगभाव एवं उत्कृष्ट त्यागभाव के कारण निराहार रह कर एकाकी ही अपनी पौषधशाला में पाक्षिक पौषध के अनुपालन करने का विचार स्फुरित हुआ और तदनुसार उसने पत्नी से परामर्श करके पौषधशाला में जा कर अकेले ही निराहार पौषध अंगीकार करके धर्मजागरणा की। यहाँ प्रश्न होता है कि आहारसहित पौषध जैसे सामूहिकरूप से किया जाता है, वैसे क्या निराहारपौषध सामूहिक रूप से नहीं हो सकता ? वृत्तिकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'एगस्स अविइयस्स' इस मूलपाठ पर से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि निराहार पौषध पौषधशाला में अकेले ही करना कल्पनीय है। यह तो चरितानुवादरूप है, दूसरे शास्त्रों एवं ग्रन्थों में, पौषधशाला में बहुत से श्रावकों द्वारा मिल कर सामूहिकरूप से पौषध करने का वर्णन है। ऐसा करने में कोई दोष भी नहीं है, बल्कि सामूहिकरूप से पौषध करने से सामूहिकरूप से स्वाध्याय करने, बोल-थोकड़े आदि का स्मरण करने में सुविधा होती है, इससे विशेष लाभ ही है। इसलिए सामूहिक पौषध में विशिष्ट गुणों की सम्भावना है।[१]

दूसरी बात—'एगस्स अविइयस्स' का स्पष्ट आशय यह है कि बाह्य सहायता की अपेक्षा के बिना केवल एकाकी ही, अथवा दूसरी किसी तथाविध सहायता की अपेक्षा के बिना केवल आत्मनिर्भर हो कर।[२]

कठिन शब्दार्थ—अब्भत्थिए—अध्यवसाय। **उम्मुक्कमणिसुवण्णस्स**—मणि, सुवर्ण आदि बहुमूल्य

---

१. भगवतीसूत्र, अभय. वृत्ति, पत्र ५५५

२. वही, पत्र ५५५

वस्तुओं को छोड़ कर। **ववगयमाला-वण्णग-विलेवणस्स**—माला, वर्णक (सुगन्धितचूर्ण—पाउडर) एवं विलेपन से रहित हो कर।[१]

आहार तैयार करने के बाद शंख को बुलाने के लिए पुष्कली का गमन

१३. तए णं ते समणोवासगा जेणेव सावत्थी नगरी जेणेव साइं साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, ते० उ० २ विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेंति, उ० २ अन्नमन्ने सद्दावेंति, अन्न० स० २ एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेहिं से विउले असण-पाण-खाइम-साइमे उवक्खडाविते, संखे य णं समणोवासए नो हव्वमागच्छइ। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं संखं समणोवासगं सद्दावेत्तए।'

[१३] तत्पश्चात् वे श्रमणोपासक श्रावस्ती नगरी में अपने-अपने घर पहुँचे और उन्होंने पुष्कल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (चतुर्विध आहार) तैयार करवाया। फिर उन्होंने एक दूसरे को बुलाया और परस्पर इस प्रकार कहने लगे—देवानुप्रियो ! हमने तो (शंख श्रमणोपासक के कहे अनुसार) पुष्कल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (आहार) तैयार करवा लिया; परन्तु शंख श्रमणोपासक जल्दी (अभी तक) नहीं आए, इसलिए देवानुप्रियो! हमें शंख श्रमणोपासक को बुला लाना **श्रेयस्कर (अच्छा) है।**

१४. तए णं से पोक्खली समणोवासए ते समणोवासए एवं वयासी—'अच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सुनिव्वुया वीसत्था, अहं णं संखं समणोवासगं सद्दावेमि' त्ति कट्टु तेसिं समणोवासगाणं अंतियाओ पडिनिक्खमति, प० २ सावत्थीनगरीमज्झंमज्झेणं जेणेव संखस्स समणोवासयस्स गिहे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ संखस्स समणोवासगस्स गिहं अणुपविट्ठे।

[१४] इसके बाद उस पुष्कली नामक श्रमणोपासक ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—"देवानुप्रियो ! तुम सब अच्छी तरह स्वस्थ (निश्चिंत) और विश्वस्त होकर बैठो, (विश्राम लो), मैं शंख श्रमणोपासक को बुलाकर लाता हूँ।" यों कह कर वह उन श्रमणोपासकों के पास से निकल कर श्रावस्ती नगरी के मध्य में होकर जहाँ शंख श्रमणोपासक का घर था, वहाँ आकर उसने शंख श्रमणोपासक के घर में प्रवेश किया।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (१३-१४) में, उक्त श्रमणोपासकों द्वारा भोजन तैयार कराने के बाद जब शंख श्रमणोपासक नहीं आया तो उसे बुलाने के लिए पुष्कली श्रमणोपासक का उसके घर पहुंचने का वर्णन है।

कठिन शब्दार्थ—नो हव्व-मागच्छइ—जल्दी नहीं आया अथवा अभी तक नहीं आया। **अच्छह**—बैठो। **सुनिव्वुया**—अच्छी तरह शान्त, या स्वस्थ अथवा निश्चिंत। **वीसत्था**—विश्वस्त होकर।[२]

---

१. भगवतीसूत्र, (विवेचन, पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १९७४

२. पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. ९४३, २०, ४१२, ८१४

गृहागत पुष्कली के प्रति शंखपत्नी द्वारा स्वागत-शिष्टाचार और प्रश्नोत्तर

१५. तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासगं एज्जमाणं पासति, पा० २ हट्ठतुट्ठ आसणातो अब्भुट्ठेती, आ० २ अ० सत्तट्ठ पदाइं अणुगच्छति, स० अ० २ पोक्खलिं समणोवासगं वंदति नमंसति, वं० आसणेणं उवनिमंतेति, आ० उ० २ एवं वयासी—संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पयोयणं ? तए णं से पोक्खली समणोवासए उप्पलं समाणोवासियं एवं वयासी—'कहिं णं देवाणुप्पिए ! संखे समणोवासए ?' तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासगं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! संखे समाणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी जाव विहरति।

[१५] तत्पश्चात् पुष्कली श्रमणोपासक को (अपने घर की ओर) आते देख कर, वह उत्पला श्रमणोपासिका (शंख श्रमणोपासक की धर्मपत्नी) हर्षित और सन्तुष्ट हुई। वह (तुरन्त) अपने आसन से उठी और सात-आठ कदम (चरण) सामने गई। फिर उसने पुष्कली श्रमणोपासक को वन्दन-नमस्कार किया, और आसन पर बैठने को कहा। फिर इस प्रकार पूछा—'कहिये, देवानुप्रिय ! आपके (यहाँ) आने का क्या प्रयोजन है ?' इस पर उस पुष्कली श्रमणोपासक ने, उत्पला श्रमणोपासिका से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिये ! शंख श्रमणोपासक कहाँ हैं ?' (यह सुन कर) उस उत्पला श्रमणोपासिका ने पुष्कली श्रमणोपासक को इस प्रकार उत्तर दिया—'देवानुप्रिय ! बात ऐसी है कि वह (शंख श्रमणोपासक तो आज) पौषधशाला में पौषध ग्रहण करके ब्रह्मचर्ययुक्त होकर यावत् (धर्मजागरणा कर) रहे हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (१५) में पुष्कली द्वारा शंख की पत्नी से पूछने पर उसके द्वारा शंख के पौषधग्रहण करके धर्मजागरिका करने का वृत्तान्त प्रतिपादित है।

उत्पला द्वारा पुष्कली श्रमणोपासक का स्वागत और शिष्टाचार—प्रस्तुत मूल पाठ में अपने घर पर आए हुए शिष्ट जन के स्वागत-सत्कार की उस युग की परम्परा का वर्णन है। इसमें शिष्टाचार सम्बन्धी पांच बातें गर्भित हैं-(१) घर की ओर आते देख हर्षित और सन्तुष्ट होना, (२) आसन से उठ कर स्वागत के लिए सात-आठ कदम सामने जाना, (३) वन्दन-नमस्कार करना, (४) बैठने के लिए आसन देना, और (५) आदरपूर्वक आगमन का प्रयोजन पूछना।[१]

संदिसंतु : दो अर्थ—(१) आज्ञा दीजिए, (२) बताइए या कहिए।[२]

पौषधशाला में स्थित शंख को पुष्कली द्वारा आहारादि करते हुए पौषध का आमन्त्रण और उसके द्वारा अस्वीकार

१६. तए णं पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छति, उवा० २ गमणागमणाए पडिक्कमति, ग० प० २ संखं समणोवासगं वंदति नमंसति, वं० २ एवं

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणसहित), पृ. ५६३

२. पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. ८४२

वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेहिं से विउले असण जाव साइमे उवक्खडाविते, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! तं विउलं असणं जाव साइमं आसाएमाणा जाव पडिजागरमाणा विहरामो।

[१६] तब वह पुष्कली श्रमणोपासक, जिस पौषधशाला में शंख श्रमणोपासक था, वहाँ उसके पास आया और उसने गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। फिर शंख श्रमणोपासक को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—'देवानुप्रिय ! हमने वह विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार तैयार करा लिया है। अत: देवानुप्रिय! अपन चलें और वह विपुल अशनादि आहार एक दूसरे को देते और उपभोगादि करते हुए पौषध करके रहें।

१७. तए णं से संखे समणोवासए पोक्खलिं समणोवासगं एवं वयासी—'णो खलु कप्पति देवाणुप्पिया ! तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणस्स जाव पडिजागरमाणस्स विहरित्तए। कप्पति मे पोसहसालाए पोसहियस्स जाव विहरित्तए। तं छंदेणं देवाणुप्पिया ! तुब्भे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा जाव विहरह।'

[१७] यह सुन कर शंख श्रमणोपासक ने पुष्कली श्रमणोपासक से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! मेरे लिए (अब) उस विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का उपभोग आदि करते हुए पौषध करना कल्पनीय (योग्य) नहीं है। मेरे लिए पौषधशाला में पौषध (निराहार पौषध) अंगीकार करके यावत् धर्मजागरणा करते हुए रहना कल्पनीय (उचित) है। अत: हे देवानुप्रिय ! तुम सब अपनी इच्छानुसार उस विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार का उपभोग आदि करते हुए यावत् पौषध का अनुपालन करो।'

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (१६-१७) में निरूपण हैं कि पुष्कली श्रमणोपासक द्वारा शंख श्रावक को आहार करके पौषध करने हेतु चलने का आमंत्रण देने पर शंख ने अपने लिए निराहार पौषधपूर्वक धर्मजागरणा करने के औचित्य का प्रतिपादन करके पुष्कली आदि को स्वेच्छानुसार आहार करके पौषध करने की सम्मति दी।

छंदेणं—स्वेच्छानुसार। **गमणागमणाए पडिक्कमति**—ईर्यापथिकी क्रिया (मार्ग में चलने से कदाचित् होने वाली जीवविराधना) का प्रतिक्रमण करता है।[१]

पुष्कलीकथित वृत्तान्त सुनकर श्रावकों द्वारा खाते-पीते पौषधानुपालन

१८. तए णं से पोक्खली समणोवासगे संखस्स समाणोवासगस्स अंतियाओ पोसहसालाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव ते समणोवासगा तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ ते समणोवासए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! संखे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए जाव विहरति। तं छंदेणं देवाणुप्पिया ! तुब्भे विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं जाव विहरह। संखे णं समणोवासए नो हव्वमागच्छति।

---

१. (क) भगवतीसूत्र भा. ४ (हिन्दी विवेचन)
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ५५५

[१८] तदनन्तर वह पुष्कली श्रमणोपासक, शंख श्रमणोपासक की पौषधशाला से लौटा और श्रावस्ती नगरी के मध्य में से होकर, जहाँ वे (साथी) श्रमणोपासक थे, वहाँ आया। फिर उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार बोला—'देवानुप्रियो ! शंख श्रमणोपासक निराहार-पौषधव्रत अंगीकार करके पौषधशाला में स्थित है। (उसने कह दिया कि "देवानुप्रियो ! तुम सब स्वेच्छानुसार उस विपुल अशनादि आहार को परस्पर देते हुए यावत् उपभोग करते हुए पौषध का अनुपालन कर लो। शंख श्रमणोपासक अब नहीं आएगा।"

१९. तए णं ते समणोवासगा तं विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं आसाएमाणा जाव विहरंति।

[१९] यह सुन कर उन श्रमणोपासकों ने उस विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यरूप आहार को खाते-पीते हुए यावत् पौषध करके धर्मजागरणा की।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (१८-१९) में वर्णन है कि पुष्कली द्वारा शंख श्रमणोपासक के निराहार पौषध करने और हमें स्वेच्छा से आहार करते हुए पौषध करने की सम्मति देने का वृत्तान्त सुनाने पर सबने मिलकर आहारपूर्वक पौषध का अनुपालन किया।

शंख एवं अन्य श्रमणोपासक भगवान् की सेवा में

२०. तए णं तस्स संखस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—'सेयं खलु मे कल्लं पादु० जाव जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता तओ पडिनियत्तस्स पक्खियं पोसहं पारित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेति, एवं सं० २ कल्लं जाव जलंते पोसहसालाओ पडिनिक्खति, पो० प० २ सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवर परिहिते सयातो गिहातो पडिनिक्खमति, स० प० २ पायविहारचारेणं सावत्थिं णगरिं मज्झंमज्झेणं जाव पज्जुवासति। अभिगमो नत्थि।

[२०] इधर उस शंख श्रमणोपासक को पूर्वरात्रि व्यतीत होने पर, पिछली रात्रि के समय में धर्म-जागरिकापूर्वक जागरणा करते हुए इस प्रकार अध्यवसाय यावत् (संकल्प) उत्पन्न हुआ—'कल प्रातःकाल यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके यावत् उनकी पर्युपासना करके वहाँ से लौट कर पाक्षिक पौषध पारित करूँ। उसने इस प्रकार का पर्यालोचन किया और फिर (तदनुसार) प्रातःकाल सूर्योदय होने पर अपनी पौषधशाला से बाहर निकला। शुद्ध (स्वच्छ) एवं सभा में प्रवेश करने योग्य मंगल (मांगलिक) वस्त्र ठीक तरह से पहने, और अपने घर से चला। वह पैदल (पादविहारपूर्वक) चलता हुआ श्रावस्ती नगरी के मध्य में होकर भगवान् की सेवा में पहुँचा, यावत् उनकी पर्युपासना करने लगा। वहाँ अभिगम नहीं (कहना चाहिए।)

२१. तए णं ते समणोवासगा कल्लं पादु० जाव जलंते ण्हाया कयबलिकम्मा जाव सरीरा सएहिं सएहिं गिहेहिंतो पडिनिक्खमंति, स० प० २ एगयओ मिलायंति, एगयओ मिलाइत्ता सेसं जहा पढमं जाव पज्जुवासंति।

[२१] तदनन्तर (आहारसहित पौषध पारित करने के बाद) वे सब श्रमणोपासक, (दूसरे दिन) प्रात:काल यावत् सूर्योदय होने पर स्नानादि (नित्यकृत्य) करके यावत् शरीर को अंलकृत करके अपने-अपने घरों से निकले और एक स्थान पर मिले। फिर सब मिल कर पूर्ववत् भगवान् की सेवा में पहुँचे, यावत् पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (२०-२१) में शंख का और श्रमणोपासकों का भगवान् की सेवा में पहुँचने का वर्णन है।

अभिगमो नत्थि : आशय—मूलपाठ में अंकित 'अभिगम कथन नहीं' का तात्पर्य यह है, कि शंख श्रमणोपासक अपने शुभ संकल्पानुसार पौषधव्रत में ही भगवान् की सेवा में पहुँचा था, इसलिए उसके पास सचित्त द्रव्य, छत्रादि राजसी ठाठबाट, उपानह, शस्त्र आदि अभिगम करने योग्य कोई पदार्थ नहीं थे, और शेष दो अभिगम (देखते ही प्रणाम करना, और मन को एकाग्र करना) तो उसके संकल्प के अन्तर्गत थे ही, इसलिए शंख के लिए अभिगम करने का प्रश्न ही नहीं था।[१]

'एगयओ मिलाइत्ता' : तात्पर्य—एक स्थान पर सभी श्रमणोपासकों के मिलने के पीछे ५ मुख्य रहस्य निहित हैं—(१) सबमें एकरूपता रहे, (२) सबमें एकवाक्यता रहे, (३) सहभोजन की तरह सहधर्मिता रहे, (४) परस्पर सहधर्मी-वात्सल्य बढ़े और (५) धर्माचरण में एक दूसरे का स्नेह-सहयोग होने से आत्मशक्ति बढ़े। उपनिषद् में भी इस प्रकार का एक श्लोक मिलता है।[२]

'जहा पढमं'—इस वाक्य का भावार्थ यह है कि जैसे उन श्रमणोपासकों का भगवान् की सेवा में पहुँचने का सू. ७ में प्रथम निर्गम कहा था, वैसे ही यहाँ (द्वितीय निर्गम) भी कहना चाहिए।[३]

कठिन शब्दार्थ—पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि—रात्रि का पूर्व भाग व्यतीत होने पर पिछली रात्रि का काल प्रारम्भ होने के समय में। **धम्मजागरियं**—धर्म के लिए अथवा धर्मचिन्तन की दृष्टि से जागरणा। **संपेहेइ**—पर्यालोचन करता है, विचार करता है।[४]

भगवान् का उपदेश और शंख श्रमणोपासक की निन्दादि न करने की प्रेरणा

२२. तए णं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणोवासगाणं तीसे य० धम्मकहा जाव आणाए आराहए भवति।

[२२] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने उन श्रमणोपासकों और उस महती महापरिषद् को धर्मकथा

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्र ५५५

(ख) भगवती. भा. ४ (हिन्दी विवेचन), पृ. १९७८

(ग) पांच अभिगमों के सम्बन्ध में देखें—भगवती. श. २, उ. ५, खण्ड १, पृ. २१६

२. **'सहनाववतु सह नौ भुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै।**
तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥' — उपनिषद्

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५५५

४. वही, पत्र ५५५

कही, यावत्—धर्मदेशना दी। वे आज्ञा के आराधक हुए (यहाँ तक कथन करना)

२३. तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेंति, उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ संखं समणोवासयं एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! विउलं असणं जाव विहरिस्सामो।' तए णं तुमं पोसहसालाए जाव विहरिए तं सुट्ठु णं तुमं देवाणुप्पिया ! अम्हं हीलसि।"

[२३] इसके बाद वे सभी श्रमणोपासक श्रमण भगवान् महावीर से धर्म (धर्मोपदेश) श्रवण कर और हृदय में अवधारणा करके हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए। फिर उन्होंने खड़े होकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया।

तदनन्तर वे शंख श्रमणोपासक के पास आए और शंख श्रमणोपासक से इस प्रकार कहने लगे—देवानुप्रिय! कल आपने ही हमें इस प्रकार कहा था कि "देवानुप्रियो ! तुम प्रचुर अशनादि आहार तैयार करवाओ, हम आहार देते हुए यावत् उपभोग करते हुए पौषध का अनुपालन करेंगे। किन्तु फिर आप आए नहीं और आपने अकेले ही पौषधशाला में यावत् निराहार पौषध कर लिया। अत: देवानुप्रिय ! आपने हमारी अच्छी अवहेलना (तौहीन) की ! "

२४. 'अज्जो !' त्ति समणे भगवं महावीरे ते समणोवासए एवं वयासी—मा णं अज्जो ! तुब्भे संखं समणोवासगं हीलेह, निंदह, खिंसह, गरहह, अवमन्नह। संखे णं समणोवासए पियधम्मे चेव, दढधम्मे चेव, सुदक्खुजागरियं जागरिते।

[२४] (उन श्रमणोपासकों की इस बात को सुन कर) आर्यो ! इस प्रकार (सम्बोधित करते हुए) श्रमण भगवान् महावीर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—"आर्यो ! तुम श्रमणोपासक शंख की हीलना (अवज्ञा), निन्दा, कोसना (खिंसना), गर्हा और अवमानना (अपमान) मत करो। क्योंकि शंख श्रमणोपासक (स्वयं) प्रियधर्मा और दृढधर्मा है। इसने (प्रमाद और निद्रा का त्याग करके) सुदर्शन (सुरक्षा या सुदृश्या) नामक जागरिका जागृत की है।"

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२२-२३-२४) में चार बातें शास्त्रकार ने प्रस्तुत की हैं—(१) भगवान् द्वारा उन श्रावकों और परिषद् को धर्मोपदेश, (२) धर्म श्रमण-मनन कर हृष्ट-तुष्ट श्रमणोपासकों द्वारा भगवान् को वन्दन-नमन कर प्रस्थान, (३) श्रमणोपासकों द्वारा शंख श्रावक को उपालम्भ, (४) भगवान् द्वारा शंख श्रावक की निन्दादि न करने का श्रावकों को निर्देश।

श्रावकों के मन में शंख श्रमणोपासक के प्रति आक्रोश और भगवान् द्वारा समाधान—शंख श्रावक ने कहा था खा-पी कर सामूहिक रूप से पौषध करने का और वे बिना खाये-पीये ही निराहार पौषध में अकेले पौषधशाला में बैठ गये, यह बात श्रावकों को बड़ी अटपटी लगी है। उन्होंने अपना अपमान समझा, परन्तु भगवान् महावीर ने उन्हें शंख की अवज्ञा या निन्दादि करने से रोका। भगवान् के इस प्रकार कहने का आशय यह था कि कोई व्यक्ति पहले अल्पत्याग करने की सोचता है, किन्तु बाद में उसके परिणाम उससे अधिक और उच्च

त्याग के हो जाते हैं, तो वह व्यक्ति निन्दनीय, गर्हणीय एवं तिरस्करणीय तथा अवमान्य नहीं होता, बल्कि वह प्रशंसनीय है।[1]

पौषध के चार प्रकार—(१) आहारत्याग पौषध, (२) शरीरसत्कारत्याग पौषध, (३) ब्रह्मचर्य-पौषध और (४) अव्यापार पौषध।

आहारत्याग पौषध—वह है जिसमें श्रावक ८ प्रहर के लिए चतुर्विध आहार का त्याग करके धर्म का पोषण (धर्मध्यानादि से) करता है। **शरीरसत्कारत्याग पौषध**—वह है, जिसमें शरीर के विविध प्रकार से (स्नान, उबटन, गन्ध, विलेपन, तेल, इत्र, पुष्प, वस्त्र, आभरण आदि के द्वारा) संस्कारित, सत्कारित करने का त्याग किया जाता है। **ब्रह्मचर्य-पौषध**—अब्रह्मचर्य (मैथुन) का सर्वथा त्याग करके कुशल अनुष्ठानों द्वारा धर्मवृद्धि करना। **अव्यापार-पौषध**—वह है, जिससे शस्त्र-अस्त्र आदि का एवं सर्व सावद्य व्यापारों का त्याग किया जाता है और शुद्ध धर्मध्यान एवं आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन में काल व्यतीत किया जाता है।[2] शंख श्रमणोपासक ने इन चारों का त्याग करके पौषध किया था।

कठिन शब्दार्थ—**हिज्जो**—कल, गत दिवस। **हीलसि**—निन्दा, अवज्ञा, अवहेलना। **खिंसह**—तुच्छकारना निन्दा करना। **'सुदक्खु जागरियं जागरिए'**—जिसका दर्शन (दृष्टि) शुभ या सुष्ठु है, वह सुदक्खु कहलाता है, उसकी जागरिका अर्थात् प्रमाद और निद्रा के त्यागपूर्वक जो जागरणा है, वह सुदक्खुजागरिका है। ऐसी जागरिका उसने जागृत की।[3]

भगवान् द्वारा त्रिविध जागरिका-प्ररूपणा

२५. [१] 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वयासी—कइविधा णं भंते ! जागरिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिविहा जागरिया पन्नत्ता, तं जहा—बुद्धजागरिया १ अबुद्धजागरिया २ सुदक्खुजागरिया ३।

[२५-१ प्र.] 'हे भगवन्' ! इस प्रकार सम्बोधित करते हुए भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार पूछा—भगवन् ! जागरिका कितने प्रकार की कही गई है ?

[२५-१ उ.] गौतम ! जागरिका तीन प्रकार की कही गई हैं, यथा—(१) बुद्ध-जागरिका, (२) अबुद्ध-जागरिका और (३) सुदर्शन-जागरिका।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'तिविहा जागरिया पन्नत्ता, तं जहा—बुद्धजागरिया १

---

१. भगवतीसूत्र (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ५६५

२. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. १९८१

३. ''सुट्ठु दरिसणं जस्स सो सुदक्खु तस्स जागरिया—प्रमादनिद्राव्यपोहेन जागरणं सुदक्खुजागरिया, तां जागरितः कृतवान्।''
—*भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५५५*

अबुद्धजागरिया २ सुदक्खुजागरिया ३' ?

गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पन्ननाण-दंसणधरा जहा खंदए (स० २ उ० १ सु० ११) जाव सव्वणू सव्वदरिसो,[१] एए णं बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति। जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिता भासासमिता जाव गुत्तबंभचारी, एए णं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति। जे इमे समणोवासगा अभिगयजीवाजीवा जाव विहरंति एते णं सुदक्खुजागरियं जागरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति 'तिविहा जागरिया जाव सुदक्खुजागरिया।'

[२५-२ प्र.] भगवन् ! किस हेतु से कहा जाता है कि जागरिका तीन प्रकार की है, जैसे कि—बुद्ध-जागरिका, अबुद्ध-जागरिका और सुदर्शन-जागरिका ?

[२५-२ उ.] हे गौतम ! जो उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक अरिहन्त भगवान् हैं, इत्यादि (शतक २ उ. १ सू. ११ में उक्त) स्कन्दक-प्रकरण के अनुसार जो यावत् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, वे बुद्ध हैं, वे बुद्ध-जागरिका (जागृत) करते हैं, जो ये अनगार भगवन्त ईर्यासमिति, भाषासमिति आदि पांच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त यावत् गुप्त ब्रह्मचारी हैं, वे अबुद्ध (अल्पज्ञ-छद्मस्थ) हैं। वे अबुद्ध-जागरिका (जागृत) करते हैं। जो ये श्रमणोपासक, जीव-अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता यावत् पौषधादि करते हैं, वे सुदर्शन-जागरिका (जागृत) करते हैं। इसी कारण से, हे गौतम ! तीन प्रकार की जागरिका यावत् सुदर्शन-जागरिका कही गई है।

विवेचन—त्रिविध जागरिका—प्रस्तुत सूत्र (२५) में गौतम स्वामी और भगवान् महावीर स्वामी के प्रश्नोत्तर के रूप में त्रिविध जागरिका का स्वरूप बताया गया है।

बुद्ध-जागरिका—केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप अवबोध के कारण जो बुद्ध हैं, उन अज्ञान-निद्रा आदि प्रमाद से रहित बुद्धों की जागरिका अर्थात्—प्रबोध, बुद्ध-जागरिका कहलाती है।

अबुद्ध-जागरिका—जो केवलज्ञान के अभाव में बुद्ध तो नहीं हैं किन्तु यथासम्भव शेष ज्ञानों के सद्भाव के कारण बुद्ध सदृश-अबुद्ध हैं, उन छद्मस्थ ज्ञानवान् अबुद्धों की जागरणा अबुद्ध-जागरिका कहलाती है।

सुदर्शन-जागरिका—जीवाजीवादितत्त्वज्ञ जो सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासक पौषध आदि में प्रमाद, निद्रा आदि से रहित होकर धर्मजागरणा करते हैं, उनकी वह जागरणा सुदर्शन-जागरिका कहलाती है।[२]

शंख द्वारा क्रोधादि-परिणामविषयक प्रश्न और भगवान् द्वारा उत्तर

२६. तए णं से संखे समणोवासए समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता २ एवं वयासी—कोहवसट्टे णं भंते ! जीवे किं बंधति ? किं पकरेति ? किं चिणाति ? किं उवचिणाति ?

संखा ! कोहवसट्टे णं जीवे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ एवं जहा

---

१. जाव शब्द यहाँ '.......... अरहा जिणे केवली' आदि पाठ का सूचक है। —*भगवती. (जि. प्र. स. ब्यावर) खण्ड १*

२. भगवती. अभय. वृत्ति, पत्र ५५५-५५६

पढमसते असंवुडस्स अणगारस्स[1] (स० १ उ० १ सु० १९) जाव अणुपरियट्टइ।

[२६ प्र.] इसके बाद उस शंख श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार पूछा—''भगवन् ! क्रोध के वश-आर्त्त बना हुआ जीव क्या (कौनसे कर्म) बांधता है ? क्या करता है ? किसका चय करता है और किसका उपचय करता है ?''

[२६ उ.] शंख ! क्रोधवश-आर्त्त बना हुआ जीव आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धन से बंधी हुई (कर्म-) प्रकृतियों को गाढ (दृढ) बन्धन वाली करता है, इत्यादि प्रथम शतक (प्रथम उद्देशक सू. ११) में (उक्त) असंवृत्त अनगार के वर्णन के समान यावत् वह संसार में परिभ्रमण करता है, यहाँ तक जान लेना चाहिए।

२७. माणवसट्टे ण भंते ! जीवे० ?

एवं चेव।

[२७ प्र.] भगवन् ! मान-वश आर्त्त बना हुआ जीव क्या बाँधता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२७ उ.] इसी प्रकार (क्रोधवशार्त्त जीवविषयक कथन के अनुसार) जान लेना चाहिए।

२८. एवं मायावसट्टे वि। एवं लोभवसट्टे वि जाव अणुपरियट्टइ।

[२८] इसी प्रकार माया वशार्त्त जीव के विषय में भी, तथा लोभवशार्त्त जीव के विषय में भी, यावत्—संसार में परिभ्रमण करता है, यहाँ तक जानना चाहिए।

विवेचन—क्रोधादि कषाय : परिणाम-पृच्छा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में क्रोधादि कषाय का फल शंख श्रावक ने भगवान् से पूछा। उसका रहस्य यह है कि पुष्कली आदि श्रावकों को शंख के प्रति थोड़ा सा क्रोध उत्पन्न हो गया था, उसे उपशान्त करना था। भगवान् ने क्रोधादि चारों कषायों का कटु फल इस प्रकार बताया—क्रोधादिवशार्त्त जीव शिथिल बन्धन से बद्ध ७ कर्मप्रकृतियों को गाढ-बन्धनबद्ध करता है, अल्पकालीन स्थिति वाली कर्मप्रकृतियों को दीर्घकालीन स्थिति वाली करता है, मन्द अनुभाग वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है, अल्पप्रदेश वाली प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली करता है और आयुष्यकर्म को कदाचित् बाँधता है, कदाचित् नहीं बाँधता, असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपार्जन करता है। अनादि-अनवदग्र-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चातुर्गतिक संसाररूपी अरण्य में बार-बार पर्यटन—परिभ्रण करता है।[2]

श्रमणोपासकों द्वारा शंख श्रावक से क्षमायाचना, स्वगृहगमन

२९. तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म

---

१. देखिये यह पाठ—'........... **घणियबंधणबद्धाओ पकरेति, हस्सकालट्ठितीयाओ दीहकालट्ठितीयाओ पकरेति, मंदाणुभागाओ तिव्वाणुभागाओ पकरेति, अप्पदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गओ पकरेति, आउगं च णं कम्मं सिय बंधति, सिय नो बंधति, असातावेदणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाति, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ।''** —भगवती. श. १ उ. १, सू. ११ खण्ड-१, पृ. ३७

२. (क) भगवती. अभय. वृत्ति, पत्र ५५६

(ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) खण्ड १, पृ. ३७

भीता तत्था तसिया संसारभउव्विग्गा समणं भगवं महावीरं वंदंति, नमंसंति, वं० २ जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ संखं समणोवासगं वंदंति नमंसंति, वं० २ एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति।

[२९] श्रमण भगवान् महावीर से यह (क्रोधादि कषाय का तीव्र और कटु) फल सुन कर और अवधारण करके वे श्रमणोपासक उसी समय (कर्मबन्ध से) भयभीत, त्रस्त, दुःखित एवं संसारभय से उद्विग्न हुए। उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और जहाँ शंख श्रमणोपासक था, वहाँ उसके पास आए। शंख श्रमणोपासक को उन्होंने वन्दन-नमस्कार किया और फिर अपने उस अविनयरूप अपराध के लिए विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना करने लगे।

३०. तए णं समणोवासगा सेसं जहा आलभियाए (स. ११ उ. १२ सु. १२) जाव[1] पडिगता।

[३०] इसके पश्चात् उन सभी श्रमणोपासकों ने भगवान् से कई प्रश्न पूछे, इत्यादि सब वर्णन (श. ११ उ. १२ सू. १२ में उक्त) आलभिका (नगरी) के (श्रमणोपासकों के) समान जानना चाहिए, यावत् वे अपने-अपने स्थान पर लौट गये; (यहाँ तक कहना चाहिए।)

विवेचन—श्रवण का फल : सविनय क्षमापना—भगवान् के मुख से सुन कर जब उन श्रावकों ने क्रोधादि कषायों का कटुफल जाना तो वे कर्मबन्ध से भयभीत हो गये और संसारभय से उद्विग्न होकर पश्चात्तापपूर्वक शंख श्रावक के पास गए। उससे सविनय क्षमायाचना की। शंख भी सबसे सौहार्दपूर्वक मिले और सबको आश्वस्त किया।

शंख की मुक्ति के विषय में गौतम स्वामी का प्रश्न, भगवान् का उत्तर

३१. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—पभू णं भंते ! संखे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतियं सेसं जहा इसिभद्दपुत्तस्स (स० ११ उ० १२ सु० १३-१४) जाव[2] अंतं काहिति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ बारसमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-१ ॥

[३१ प्र.] 'हे भगवन् !,' यों कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—

---

१. 'जाव' शब्द सूचक पाठ—'.......... पसिणाइं पुच्छंति, पं. अट्ठाइं परियाइयंति. अ. समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति, वं. न. जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिसं.......... ।' —भगवती. श. ११ उ. १२

२. 'जाव' शब्द सूचक पाठ—'.......... मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। इसिभद्दपुत्ते समणोवासए बहूहिं सीलव्वय .... अप्पाणं भावेमाणे .... बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणिहिइ .... सोहम्मे कप्पे .... उववज्जिहिइ। .... चत्तारि पलिओवमाइं ठिई भविस्सइ .... महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव .... ।' —भगवती. श. ११ उ. १२ सू. १३-१४

भगवन् ! क्या शंख श्रमणोपासक आप देवानुप्रिय के पास प्रव्रजित होने में समर्थ है ?

[३१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है; इत्यादि समस्त वर्णन (श. ११ उ. १२ सू. १३-१४ में उक्त) ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासकविषयक कथन के समान, यावत् सर्वदु:खों का अन्त करेगा; (यहाँ तक कहना चाहिए)।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर श्री गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—शंख श्रावक का उज्ज्वल भविष्य—भगवन् महावीर ने बताया कि शंख मेरे पास प्रव्रजित तो नहीं हो सकेगा; किन्तु वह बहुत वर्षों तक श्रमणोपासकपर्याय का पालन कर सौधर्मकल्प देवालोक में चार पल्योपम की स्थिति का देव होगा। वहाँ से च्यव कर महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा, यावत् सर्वदु:खों का अन्त करेगा।

॥ बारहवां शतक : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

OOO

बीओ उद्देसओ : जयंती

द्वितीय उद्देशक : जयंती [श्रमणोपासिका]

जयंती श्रमणोपासिका और तत्सम्बन्धित व्यक्तियों का परिचय

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबी नामं नयरी होत्था। वण्णओ। चंदोवतरणे चेतिए। वण्णओ।[1]

[१] उस काल और उस समय में कौशाम्बी नाम की नगरी थी। (उसका वर्णन जान लेना चाहिए।) (वहाँ) चन्द्रोपतरण (चन्द्रावतरण) नामक उद्यान था। (उसका वर्णन भी औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए।)

२. तत्थ णं कोसंबीए नयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो पोत्ते, सयाणीयस्स रण्णो पुत्ते, चेडगस्स रण्णो नत्तुए, मिगावतीए देवी अत्तए, जयंतीए समणोवासियाए भत्तिज्जए उदयणे नामं राया होत्था। वण्णओ।

[२] उस कौशाम्बी नगरी में सहस्रानीक राजा का पौत्र, शतानीक राजा का पुत्र, चेटक राजा का दोहित्र, मृगावती देवी (रानी) का आत्मज और जयंती श्रमणोपासिका का भतीजा 'उदयन' नामक राजा था। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के राजवर्णन के अनुसार जान लेना चाहिए।)

३. तत्थ णं कोसंबीए नगरीय सहस्साणीयस्स रण्णो सुण्हा, सयाणीयस्स रण्णो भज्जा, चेडगस्स रण्णो धूया, उदयणस्स रण्णो माया, जयंतीए समणोवासियाए भाउज्जा मिगावती नामं देवी होत्था। सुकुमाल० जाव सुरूवा समणोवासिया जाव विहरइ।

[३] उसी कौशाम्बी नगरी में सहस्रानीक राजा की पुत्रवधू, शतानीक राजा की पत्नी, चेटक राजा की पुत्री, उदयन राजा की माता, जयंती श्रमणोपासिका की भौजाई, मृगावती नामक देवी (रानी) थी। वह सुकुमाल हाथ-पैर वाली, यावत् सुरूपा श्रमणोपासिका (जीवाजीवतत्त्वज्ञा) यावत् विचरण करती थी।

४. तत्थ णं कोसंबीए नयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो धूता, सताणीयस्स रण्णो भगिणी, उदयणस्स रण्णो पितुच्छा, मिगावतीए देवीए नणंदा, वेसालीसावगाणं अरहंताणं पुव्वसेज्जायरी जयंती नामं समणोवासिया होत्था। सुकुमाल० जाव सुरूवा अभिगत जाव विहरइ।

[४] उसी कौशाम्बी नगरी में सहस्रानीक राजा की पुत्री, शतानीक राजा की भगिनी, उदयन राजा की बुआ, मृगावती देवी की ननद और वैशालिक (भगवान् महावीर) के श्रावक (वचन-श्रवणरसिक) आर्हतों (आर्हन्त-तीर्थंकर के साधुओं) की पूर्व (प्रथम) शय्यातरा (स्थानदात्री) 'जयंती' नाम की श्रमणोपासिका थी। वह सुकुमाल यावत् सुरूपा और जीवाजीवादि तत्त्वों की ज्ञाता यावत् विचरती थी।

---

१. '**वण्णओ**' शब्द से सूचित पाठ सर्वत्र औपपातिकसूत्र से जान लेना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (१ से ४ तक) में जयंती श्रमणोपासिका से सम्बन्धित क्षेत्र एवं व्यक्तियों का परिचय दिया गया है।

जैन ऐतिहासिक तथ्य—इस मूलपाठ से भगवान् महावीर के युग की नगरी एवं उस नगरी के तत्कालीन, सहस्रानीक राजा के पौत्र तथा शतानीक राजा एवं मृगावती रानी के पुत्र उदयन नृप की बुआ एवं मृगावती रानी की ननद जयंती श्रमणोपासिका का परिचय ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश डालता है।

'जयंती' की प्रसिद्धि—जयंती श्रमणोपासिका भगवान् महावीर के साधुओं को स्थान (मकान) देने में प्रसिद्ध थी। इसलिए जो साधु पहली बार कौशाम्बी में आते थे, वे उसी से वसति (ठहरने के लिए स्थान) की याचना करते थे और वह अत्यन्त भक्तिभाव से उन्हें ठहरने के लिए स्थान देती थी। इस कारण वह 'पूर्वशय्यातरा' (पूर्वसेज्जायरी) के नाम से प्रसिद्ध थी।[१]

कौशाम्बी—यह उस युग में वत्सदेश की राजधानी एवं मुख्य नगरी थी। इसकी आधुनिक पहचान इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'कोसम' गाँव से की है।[२]

कठिन शब्दार्थ—चेडगस्स—वैशालीराज चेटक का। **नत्तुए**—नप्ता-नाती, दौहित्र। **भाउज्जा**—भौजाई, भाभी। **अत्तए**—आत्मज, पुत्र। **भत्तिज्जए**—भतीजा, भाई का पुत्र। **धूया**—पुत्री। **पिउच्छा**—पिता की बहन—बुआ, फूफी। **सुण्हा**—पुत्रवधू। **णणंदा**—ननद।[३]

वेसालीसावगाणं अरहंताणं—भावार्थ—वैशालिक—विशाला (त्रिशला) का अपत्य—पुत्र, अर्थात् भगवान् महावीर। उनके श्रावक अर्थात् भगवद्वचन को जो सुनते और सुनाते हैं—श्रवण रसिक हैं, उन आर्हत—अर्थात् अर्हद्देवों—साधुओं की।[४]

जयंती श्रमणोपासिका : उदयन नृप-मृगावती देवी सहित सपरिवार भगवान् की सेवा में

५. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे जाव परिसा पज्जुवासति।

[५] उस काल (और) उस समय में (भगवान् महावीर) स्वामी (कौशाम्बी) पधारे, (उनका समवसरण लगा) यावत् परिषद् पर्युपासना करने लगी।

६. तए णं उदयणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, को० स० २ एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कोसंबिं नगरिं सब्भिंतरबाहिरियं एवं जहा कूणिओ[५] तहेव सव्वं जाव पज्जुवासइ।

---

१. भगवतीसूत्र, अभय. वृत्ति. पत्र ५५८

२. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ३७९-३८०

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५५८

४. वही, पत्र ५५८

५. देखिये कूणिकनृप का भगवान् की सेवा में पहुंचने का वर्णन—औपपातिक सूत्र २९-३२, पत्र ६१-७५ (आगमोदय.)

[६] उस समय उदयन राजा को जब यह (भगवान् के कौशाम्बी में पदार्पण का) पता लगा तो वह हर्षित और सन्तुष्ट हुआ। उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! कौशाम्बी नगरी को भीतर और बाहर से शीघ्र ही साफ करवाओ; इत्यादि सब वर्णन (औपपातिक सूत्र सू. २९-३२, पत्र ६१-७५ में वर्णित) कोणिक राजा के समान; यावत् पर्युपासना करने लगा; (यहाँ तक जानना चाहिए।)

७. तए णं सा जयंती समणोवासिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठतुट्ठा जेणेव मियावती देवी तेणेव उवागच्छति, उवा० २ मियावतिं देविं एवं वयासी—एवं जहा नवमसए उसभदत्तो (स० ९ उ० ३३ सु० ५) जाव[1] भविस्सति।

[७] तदनन्तर वह जयंती श्रमणोपासिका भी इस (भगवान् के आगमन के) समाचार को सुन कर हर्षित एवं संतुष्ट हुई और मृगावती के पास आकर इस प्रकार बोली—(इत्यादि आगे का सब कथन,) नौवें शतक (उ. ३३ सू. ५) में (उक्त) ऋषभदत्त ब्राह्मण के प्रकरण के समान, यावत्—(हमारे लिए इहभव, परभव और दोनों भवों के लिए कल्याणप्रद और श्रेयस्कर) होगा; यहाँ तक जानना चाहिए।

८. तए णं सा मियावती देवी जयंतीए समणोवासियाए जहा देवाणंदा (स० ९ उ० ३३ सु० ६)[2] जाव पडिसुणेति।

[८] तत्पश्चात् (उस मृगावती देवी ने भी जयंती श्रमणोपासिका के वचन उसी प्रकार स्वीकार किये, जिस प्रकार (शतक ९, उ. ३३, सू. ६ में उक्त वृत्तान्त के अनुसार) देवानन्दा (ब्राह्मणी) ने (ऋषभदत्त के वचन) यावत् स्वीकार किये थे।

९. तए णं सा मियावती देवी कोडंबियपुरिसे सद्दावेति, को०स० २ एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तजोइय०[3] जाव (स० ९ उ० ३३ सु० ७) धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह जाव उवट्ठवेंति जाव पच्चप्पिणंति।

[९] तत्पश्चात् उस मृगावती देवी ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—

---

१. जाव शब्द से यहाँ-(एवं) खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे ..... अहापडिरूवं जाव विहरइ। तं महाफलं खलु देवाणुप्पिए ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-णमंसणं-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए, एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो, एवं णं अहभवे य, परभवे य हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए (भविस्सइ)—तक का पाठ समझना। —*श. ९ उ. ३३ सू. ५*

२. 'जाव' शब्द से यहाँ—'हट्ठ जाव हियय करयल जाव कट्टु ...... एयमट्ठं' पाठ सूचित है। —*श. ९ उ. ३३ सू. ७*

३. 'जाव' शब्द से यहाँ—'...... समखुरवालिहाण-समलिहियसिंगेहिं ...... पवरलक्खणोववेयं' इत्यादि पाठ सूचित है। —*श. ९ उ. ३३ सू. ७*

'देवानुप्रियो! जिसमें वेगवान् घोड़े जुते हों, ऐसा यावत् श्रेष्ठ धार्मिक रथ जोत कर शीघ्र ही उपस्थित करो। कौटुम्बिक पुरुषों ने यावत् रथ लाकर उपस्थित किया और यावत् उनकी आज्ञा वापिस सौंपी।

१०. तए णं सा मियावती देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं ण्हाया कयबलिकम्मा जाव सरीरा बहूहिं खुज्जाहिं[1] जाव (स० ९ उ० ३३ सु० १०) अंतेउराओ निग्गच्छति, अं० नि० २ जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ जाव[2] (स० ९ उ० ३३ सु० १०) रूढा।

[१०] इसके बाद उस मृगावती देवी और जयंती श्रमणोपासिका ने स्नानादि किया यावत् शरीर को अलंकृत किया। फिर कुब्जा (आदि) दासियों के साथ वे दोनों अन्तःपुर से निकलीं। (यह वर्णन भी यावत् अन्तःपुर से निकलीं, यहाँ तक श. ९ उ. ३३ सू. १० के अनुसार जानना।) फिर वे दोनों बाहरी उपस्थानशाला में आईं और जहाँ धार्मिक श्रेष्ठ यान था, उसके पास आकर (श. ९ उ. ३३ सू. १० के अनुसार) यावत् रथारूढ हुईं। यहाँ तक कहना।

११. तए णं सा मियावती देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं रूढा समाणी णियगपरियाल० जहा उसभदत्तो (स० ९ उ० ३३ सु० ११) जाव[3] धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहति।

[११] तब जयंती श्रमणोपासिका के साथ श्रेष्ठ धार्मिक यान पर आरूढ मृगावती देवी अपने परिवारसहित, (इत्यादि सब वर्णन श. ९ उ. ३३ सू. ११ में उक्त ऋषभदत्त के समान) यावत् धार्मिक श्रेष्ठ यान से नीचे उतरी, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

१२. तए णं सा मियावती देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं बहूहिं खुज्जाहिं जहा देवाणंदा (स० ९ उ० ३३ सु० १२)[4] जाव वंदति नमंसति, वं० २ उदयणं रायं पुरओ कट्टु ठिया चेव जाव (स० ९ उ० ३३ सु० १२) पज्जुवासइ।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द—चिलाइयाहिं णाणादेस-विदेसपरिपिंडियाहिं सदेस-णेवत्थ-गहियवेसाहिं इंगिय-चिंतिय पत्थियवियाणियाहिं कुसलाहिं विणीयाहिं, चेडिया-चक्कवाल-वरिसधर-थेर-कंचुइज्ज-महत्तरगवंद-परिक्खित्ता ....', इत्यादि पाठ का सूचक है। —श. ९ उ. ३३ सू. १०

२. यहाँ 'जाव' शब्द—''उवागच्छित्ता धम्मियं जाणपवरं ....'' पाठ का सूचक है। —श. ९ उ. ३३ सू. १०

३. यहाँ 'जाव' शब्द—''संपरिवुडे .... मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णि. जेणेव .... चेइए ते. उवा. २, छत्ताइए तित्थगराइसए पासइ पा.'' इत्यादि पाठ का सूचक है।

४. यहाँ 'जाव' शब्द—''जाव महत्तरगवंदपरिक्खित्ता स. भ. महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तं जहा—...... जेणेव समणे भ. महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उ. समणं भ. महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ करित्ता'' इत्यादि पाठ का सूचक है। —श. ९ उ. ३३ सू. १२

[१२] तत्पश्चात् जयंती श्रमणोपासिका एवं बहुत-सी कुब्जा (आदि) दासियों सहित मृगावती देवी श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में (श. ९, उ. ३३ सू. १२ उक्त) देवानन्दा के समान पहुँची, यावत् भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और उदयन राजा को आगे करके समवसरण में बैठी और उसके पीछे स्थित होकर पर्युपासना करने लगी (इत्यादि सब वर्णन श. ९ उ. ३३ सू. १२ के समान) कहना।

१३. तए णं समणे भगवं महावीरे उदयणस्स रण्णो मियावतीए देवीए जयंतीए समणोवासियाए तीसे य महतिमहा० जाव धम्मं परिकहेति जाव परिसा पडिगता, उदयणे पडिगए, मियावती वि पडिगया।

[१३] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने उदयन राजा, मृगावती देवी, जयंती श्रमणोपासिका और उस महती महापरिषद् को यावत् धर्मोपदेश दिया, (धर्मोपदेश सुन कर) यावत् परिषद् लौट गई, उदयन राजा और मृगावती रानी भी चले गए।

विवेचन—जयंती श्रमणोपासिका : भगवान् महावीर की सेवा में—प्रस्तुत नौ सूत्रों में (सू. ५ से १३ तक) भगवान् महावीर के कौशाम्बी में पदार्पण से लेकर जयंती श्रमणोपासिका आदि के द्वारा उनकी पर्युपासना करने तथा भगवान् के धर्मोपदेश को सुन कर जयंती श्रमणोपासिका के सिवाय सबके वापिस लौट जाने तक का वर्णन है।

सात तथ्यों का उद्घाटन—इस समग्र वर्णन पर से सात तथ्यों का उद्घाटन होता है—(१) कौशाम्बी को श्रमणोपासक-श्रमणोपासिकाओं की धर्मनगरी जान कर भगवान् का विशेषरूप से पदार्पण, (२) भगवान् का आगमन सुन कर परिषद् का उमड़ना, (३) तत्कालीन धर्मप्रिय कौशाम्बी-नरेश उदयन द्वारा स्वकर्तव्यपालन—नगर की सफाई एवं सजावट का आदेश, भगवान् के पदार्पण की घोषणा और कोणिक नृप के समान ठाटबाट से स्वयं भगवान् की सेवा में पहुँच कर पर्युपासना में लीन हो जाना आदि। (४) जयंती श्रमणोपासिका द्वारा भगवान् के दर्शन, वन्दन, प्रवचन-श्रवण और पर्युपासना के लिए रानी मृगावती को तैयार करना, (५) मृगावती देवी द्वारा भी जयंती श्रमणोपासिका को साथ लेकर धार्मिक रथ पर चढ़कर देवानन्दा के समान भगवान् की सेवा में पहुँचना। (६) समवसरण में उदयन नृप को आगे करके बैठना और पर्युपासना करना, (७) भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर जयंती श्रमणोपासिका के अतिरिक्त सबका वापिस लौट जाना।[१]

'कौटुम्बिक' शब्द का रहस्यार्थ—देशीशब्दसंग्रह के द्वितीय वर्ग की द्वितीय गाथा में कोडुंब (कौटुम्ब) शब्द को कार्यवाचक बताया है, इस दृष्टि से 'कोडुंबिया' का अर्थ इस प्रकार होता है—जो कोडुंब अर्थात् कार्य को करते हैं, वे कोडुम्बिय (कौटुम्बिक-कार्यकर) पुरुष कहलाते हैं। आगमों में यत्र-तत्र प्रयुक्त 'कोडुंबियपुरिस' का यही अर्थ समझना चाहिए।[२]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ५६७-५६८

२. 'कोडुंबं-कार्यं कुर्वन्तीति कोडुंबिया कोडुंबियपुरिसे—कार्यकरपुरुषान्।' —वियाह. (मू. पा. टि.) पृ. ५६८

कठिन शब्दार्थ—उवट्ठाणसाला—आस्थानमण्डप, सभास्थान। **पडिसुणेति**—स्वीकार किया। **णियग-परियाल**—अपने सगे सम्बन्धी तथा राजपरिवार (की महिलाएँ)। **'लहुकरण-जुत-जोइय०'**[१]—फुर्तीले वेगवान् घोड़ों से जुता हुआ।

कर्मगुरुत्व-लघुत्व सम्बन्धी जयंती-प्रश्न और भगवत्समाधान

१४. तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वं० २ एवं वयासी—कहं णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ?

जयंती ! पाणातिवातेणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति। एवं जहा पढमसते (स० १ उ० ९ सु० १-३)[२] जाव वीतीवयंति।

[१४ प्र.] तदनन्तर वह जयंती श्रमणोपासिका श्रमण भगवान् महावीर से धर्मोपदेश श्रवण कर एवं अवधारण करके हर्षित एवं सन्तुष्ट हुई। फिर भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—भगवन् ! जीव किस कारण से शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं ?

[१४ उ.] जयंती ! जीव प्राणतिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापस्थानों के सेवन से शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं, (उ. ९, सू. १-३ में कहे) अनुसार, यावत् संसारसमुद्र से पार हो जाते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए)।

विवेचन—जीव को गुरुत्व और लघुत्व प्राप्त होने के कारण—जयंती श्रमणोपासिका ने साक्षात् भगवान् से यह प्रश्न किया कि जीव किस कारण से गुरुत्व या लघुत्व को प्राप्त होते हैं ? भगवान् ने अर्थगम्भीर सीमित शब्दों में उत्तर दिया—अठारह पापस्थानों के सेवन और उनसे निवृत्त होने से जीव क्रमशः गुरुत्व और लघुत्व को प्राप्त होते हैं। गुरुत्व और लघुत्व यहाँ कर्म की अपेक्षा से समझना चाहिए।

भवसिद्धिक जीवों के विषय में परिचर्चा

१५. भवसिद्धियत्तणं भंत्ते ! जीवाणं किं सभावओ, परिणामओ ?

जयंती ! सभावओ, नो परिणामओ।

[१५ प्र.] भगवन् ! जीवों का भवसिद्धिकत्व स्वाभाविक है या पारिणामिक है ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. १९८८-१९८९

(ख) पाइअसद्दमहण्णवो पृ. १७५, ५६२

(ग) भगवती. तृतीय खण्ड (गुजरात विद्यापीठ) पृ. २५८

२. यहाँ 'जाव' शब्द—'(एवं) आकुलीकरेंति, एवं परित्तीकरेंति, एवं दीहीकरेंति, एवं हस्सीकरेंति एवं अणुपरियट्टंति ....॥' इत्यादि पाठ का सूचक है। —भग. श. १, उ. ९ सू. १, ३

[१५ उ.] जयंती ! वह स्वाभाविक है, पारिणामिक नहीं।

१६ सव्वे वि णं भंते ! भवसिद्धीया जीवा सिज्झस्संति ?

हंता, जयंती ! सव्वे वि णं भवसिद्धीया जीवा सिज्झिस्संति।

[१६ प्र.] भगवन् ! क्या सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जाएँगे ?

[१६ उ.] हाँ, जयंती ! सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जाएँगे।

१७. [१] जइ णं भंते ! सव्वे भवसिद्धीया जीवा सिज्झिस्संति तम्हा णं भवसिद्धीयविरहिए लोए भविस्सइ ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[१७-१ प्र.] भगवन् ! यदि सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जाएँगे, तो क्या लोक भवसिद्धिक जीवों से रहित हो जाएगा ?

[१७-१ उ.] जयंती ! यह अर्थ शक्य नहीं है।

[२] से केणं खाइएणं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सव्वे वि णं भवसिद्धीया जीवा सिज्झिस्संति, नो चेव णं भवसिद्धीयविरहिते लोए भविस्सति ?

जयंती ! से जहानामए सव्वागाससेढी सिया अणादीया अणवदग्गा परित्ता परिवुडा, सा णं परमाणुपोग्गलमेत्तेहिं खंडेहिं समए समए अवहीरमाणी अवहीरमाणी अणंताहिं ओसप्पिणिउस्सप्पिणीहिं अवहीरंति नो चेव णं अवहिया सिया, से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं[1] जाव भविस्सति।

[१७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जाएँगे, फिर भी लोक भवसिद्धिक जीवों से रहित नहीं होगा ?

[१७-२ उ.] जयंती ! जिस प्रकार कोई सर्वाकाश की श्रेणी हो, जो अनादि, अनन्त हो, (एकप्रदेशी होने से) परित्त (परिमित) और (अन्य श्रेणियों द्वारा) परिवृत्त हो, उसमें से प्रतिसमय एक-एक परमाणु-पुद्गल जितना खण्ड निकालते-निकालते अनन्त उत्सर्पिणी और असर्पिणी तक निकाला जाए तो भी वह श्रेणी खाली नहीं होती। इसी प्रकार, हे जयंती ! ऐसा कहा जाता है कि सब भवसिद्धिक जीव सिद्ध होंगे, किन्तु लोक भवसिद्धिक जीवों से रहित नहीं होगा।

विवेचन—भवसिद्धिक जीव-विषयक तीन प्रश्न—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१५ से १७ तक) में जयंती श्रमणोपासिका द्वारा पूछे गये तीन प्रश्न और भगवान् द्वारा प्रदत्त उनका उत्तर प्रतिपादित है।

---

१. **अधिक पाठ**—''णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति, नो चेव ण भवसिद्धिअविरहिए लोए भविस्सइ।'' यह पंक्ति यहाँ 'जाव' शब्द से सूचित है।

भवसिद्धिक-स्वरूप—जिनकी सिद्धि भावी (भविष्य) में होने वाली है, वे भवसिद्धिक हैं। अथवा जो भव्य हैं, मुक्ति के योग्य हैं, अर्थात्—जिनमें मुक्ति जाने की योग्यता है, वे भवसिद्धिक कहलाते हैं। समस्त भवसिद्धिक जीव एक न एक दिन अवश्य सिद्धि प्राप्त करेंगे, अन्यथा उनमें भवसिद्धिकता ही घटित नहीं हो सकती।

इसीलिए यहाँ भगवान् ने बताया है कि भवसिद्धिक जीवों की भवसिद्धिकता स्वाभाविक है, पारिणामिक नहीं। ऐसा नहीं होता कि वे पहले अभवसिद्धिक थे किन्तु बाद में पर्याय-परिवर्तन होने के कारण भवसिद्धिक हो गए। जैसे पुद्गल में मूर्तत्व धर्म स्वाभाविक है, वैसे ही भवसिद्धिक जीवों में भवसिद्धिकता स्वाभाविक है।[१]

लोक भवसिद्धिक जीवों से शून्य नहीं होगा—जयंती श्रमणोपासिका का प्रश्न है—'यदि सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जाएँगे तो संसार भवसिद्धिक जीवों से शून्य नहीं हो जाएगा ? इसका एक समाधान यह है कि जितना भी भविष्यत्काल है, वह सब कभी न कभी वर्तमान हो जाएगा, तो क्या कभी ऐसा समय आ सकता है जब संसार भविष्यत्काल से शून्य हो जाएगा ? ऐसा होना जैसे असम्भव है, वैसे ही समझना चाहिए कि लोक का भवसिद्धिक जीवों से शून्य होना असम्भव है।

इसी प्रश्न का एक पहलू यह भी है—जितने जीव सिद्ध होंगे, वे सभी भवसिद्धिक होंगे, अभवसिद्धिक एक भी सिद्ध नहीं होगा, ऐसा मानने पर भी वही प्रश्न उपस्थित रहता है कि सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध हो जाएंगे, तो क्या लोक भवसिद्धिकजीव-शून्य नहीं हो जाएगा ? भगवान् ने आकाशश्रेणी का दृष्टान्त देकर समाधान किया है—जैसे समग्र आकाश की श्रेणी अनादि-अनन्त है, उसमें से एक-एक परमाणु जितना खण्ड प्रतिसमय निकाला जाए तो अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल व्यतीत हो जाने पर भी आकाशश्रेणी खाली नहीं होगी, इसी प्रकार भवसिद्धिक जीवों के मोक्ष चले जाते रहने पर भी यह लोक भवसिद्धिक जीवों से खाली नहीं होगा।

एक अन्य समाधान—दो प्रकार के पाषाण हैं, एक में मूर्ति बनने की योग्यता है, दूसरे ऐसे पाषाण हैं, जिनमें मूर्ति बनने की योग्यता नहीं है। किन्तु जिन पाषाणों में मूर्ति बनने की योग्यता है, वे सभी पाषाण मूर्ति नहीं बन जाते। जिन पाषाणों को मूर्तिकार आदि का संयोग मिल जाता है, वे मूर्तिपन की सम्प्राप्ति कर लेते हैं, किन्तु जिन पाषाणों की मूर्तिपन की सम्प्राप्ति नहीं होती, उनमें मूर्तिपन की अयोग्यता नहीं होती, किन्तु तथाविध संयोग न मिलने से वे मूर्तिपन की सम्प्राप्ति नहीं कर पाते। यही बात भवसिद्धिक जीवों के विषय में भी समझनी चाहिए।[२]

---

१. (क) 'भवा-भाविनी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः।'—भगवती. अ. वृ. पत्र ५५८

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४ पृ. १९९४

१. (क) "सर्व एवानागतकालसमया वर्तमानतां लप्स्यन्ते, इत्यभ्युपगमात्, न चानागतकालसमयविरहितो लोको भविष्यति, इत्येवं न भवसिद्धिकशून्यता लोकस्य स्यात्।" —*भगवती. अ. वृ. पत्र ५५९*

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५५९-५६०

सुप्तत्व-जागृतत्व, सबलत्व-दुर्बलत्व एवं दक्षत्व-आलसित्व के साधुता विषयक प्रश्नोत्तर

१८. [१] सुत्तत्तं भंते ! साहू, जागरियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

[१८-१ प्र.] भगवन् ! जीवों का सुप्त रहना अच्छा है या जागृत रहना अच्छा ?

[१८-१ उ.] जयंती ! कुछ जीवों का सुप्त रहना अच्छा है और कुछ जीवों का जागृत रहना अच्छा है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'अत्थेगतियाणं जाव साहू ?'

जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपलज्जण अहम्मसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं जीवाणं सुत्तत्तं साहू। एए णं जीवा सुत्ता समाणा नो बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए वट्टंति। एए णं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा नो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति। एएसिं णं जीवाणं सुत्तत्तं साहू। जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू। एए णं जीवा जागरा समाणा बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए जाव अपरियावणयाए वट्टंति। एते णं जीवा जागरमाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति। एए णं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति। एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू। से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ—'अत्थेगतियाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

[१८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण कहते हैं कि कुछ जीवों का सुप्त रहना और कुछ जीवों का जागृत रहना अच्छा है ?

[१८-२ उ.] जयंती ! जो ये अधार्मिक, अधर्मानुसरणकर्त्ता, अधर्मिष्ठ, अधर्म का कथन करने वाले अधर्मावलोकनकर्त्ता, अधर्म में आसक्त, अधर्माचरणकर्त्ता और अधर्म से ही आजीविका करने वाले जीव हैं, उन जीवों का सुप्त रहना अच्छा है; क्योंकि ये जीव सुप्त रहते हैं, तो अनेक प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख, शोक और परिताप देने में प्रवृत्त नहीं होते। ये जीव सोए रहते हैं तो अपने को, दूसरे को और स्व-पर को अनेक अधार्मिक संयोजनाओं (प्रपंचों) में नहीं फंसाते। इसलिए इन जीवों का सुप्त रहना अच्छा है।

'जयंती ! जो ये धार्मिक हैं, धर्मानुसारी, धर्मप्रिय, धर्म का कथन करने वाले, धर्म के अवलोनकर्त्ता, धर्मासक्त, धर्माचरणी, और धर्म से ही अपनी आजीविका करने वाले जीव हैं, उन जीवों का जाग्रत रहना अच्छा है, क्योंकि ये जीव जाग्रत हों तो बहुत से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख, शोक और परिताप देने में प्रवृत्त नहीं होते (अर्थात् ये अनेक जीवों के दुःख, शोक और परिताप को दूर करने में प्रवृत्त होते हैं)। ऐसे (धर्मनिष्ठ) जीव जाग्रत रहते हुए स्वयं को, दूसरे को और स्व-पर को अनेक धार्मिक संयोजनाओं में संयोजित करते रहते हैं।

इसलिए इन जीवों का जाग्रत रहना अच्छा है।

इसी कारण से, हे जयंती !, ऐसा कहा जाता है कि कई जीवों का सुप्त रहना अच्छा है और कई जीवों का ाग्रत रहना अच्छा है।

१९. [१] बलियत्तं भंते ! साहू, दुब्बलियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं बलियत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! जीवों की सबलता अच्छी है या दुर्बलता ?

[१९-१ उ.] जयंती ! कई जीवों की सबलता अच्छी है और कई जीवों की दुर्बलता अच्छी है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'जाव साहू' ?

जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया जाव विहरंति एएसि णं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू। एए णं जीवा० एवं जहा सुत्तस्स (सु. १८ [२]) तहा दुब्बलियस्स वत्तव्वया भाणियव्वा। बलियस्स जहा जागरस्स (सु० १८ [२]) तहा भाणियव्वं जाव संजोएत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं बलियत्तं साहू। से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव साहू।

[१८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि कई जीवों की सबलता अच्छी है और कई जीवों की दुर्बलता अच्छी है ?

[१८-२ उ.] जयंती ! जो जीव अधार्मिक यावत् अधर्म से ही आजीविका करते हैं, उन जीवों की दुर्बलता अच्छी है। क्योंकि ये जीव दुर्बल होने से किसी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को दुःख आदि नहीं पहुँचा सकते, इत्यादि (१८-२ सू. में उक्त) सुप्त के समान दुर्बलता का भी कथन करना चाहिए। और 'जाग्रत' के समान सबलता का कथन करना चाहिए। यावत् धार्मिक संयोजनाओं में संयोजित करते हैं, इसलिए इन (धार्मिक) जीवों की सबलता अच्छी है।

हे जयंती ! इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि कई जीवों की सबलता अच्छी है और कई जीवों की निर्बलता।

२०. [१] दक्खत्तं भंते ! साहू, आलसियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! जीवों का दक्षत्व (उद्यमीपन) अच्छा है, या आलसीपन ?

[२०-१ उ.] जयंती ! कुछ जीवों का दक्षत्व अच्छा है और कुछ जीवों का आलसीपन अच्छा है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति तं चेव जाव साहू ?

जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू। एए णं

जीवा अलसा समाणा नो बहूणं जहा सुत्ता (सु. १८ [२]) तला अलसा भाणियव्वा। जहा जागरा (सु. १८ [२]) तहा दक्खा भाणियव्वा जाव संजाएत्तारो भवंति। एए णं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं, उवज्झायवेयावच्चेहिं, थेरवेयावच्चेहिं, तवस्सिवेयावच्चेहिं, गिलाणवेयावच्चेहिं, सेहवेयावच्चेहिं, कुलवेयावच्चेहिं, गणवेयावच्चेहिं, संघवेयावच्चेहिं, साहम्मियवेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएत्तारो भवंति। एतेसि ण जीवाणं दक्खत्तं साहू। से तेणट्ठेणं तं चेव जाव साहू।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि यावत् कुछ जीवों का आलसीपन अच्छा है।

[२०-२ उ.] जयंती ! जो जीव अधार्मिक यावत् अधर्म द्वारा आजीविका करते हैं, उन जीवों का आलसीपन अच्छा है। यदि वे आलसी होंगे तो प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दु:ख, शोक और परिताप उत्पन्न करने में प्रवृत्त नहीं होंगे, इत्यादि सब सुप्त के समान कहना चाहिए तथा दक्षता (उद्यमीपन) का कथन जाग्रत के समान कहना चाहिए, यावत् वे (दक्ष जीव) स्व, पर और उभय को धर्म के साथ संयोजित करने वाले होते हैं। ये जीव दक्ष हों तो आचार्य की वैयावृत्य, उपाध्याय की वैयावृत्य, स्थविरों की वैयावृत्य, तपस्वियों की वैयावृत्य, ग्लान (रुग्ण) की वैयावृत्य शैक्ष (नवदीक्षित) की वैयावृत्य, कुलवैयावृत्य, गणवैयावृत्य, संघवैयावृत्य और साधर्मिक वैयावृत्य (सेवा) से अपने आपको संयोजित (संलग्न) करने वाले होते हैं। इसलिए इन जीवों की दक्षता अच्छी है।

हे जयंती ! इसी कारण से ऐसा कहा जाता है, कि कुछ जीवों का दक्षत्व (उद्यमीपन) अच्छा है और कुछ जीवों का आलसीपन अच्छा है।

विवेचन—कौन श्रेष्ठ—सुप्त या जागृत, सबल या दुर्बल ? दक्ष या आलसी ?—प्रस्तुत सूत्रत्रय (१८-१९-२०) में अपेक्षा-भेद से सुप्त आदि के अच्छे होने, न होने का सकारण प्रतिपादन किया गया है।

कुछ शब्दों के निर्वचनपूर्वक अर्थ—अहम्मिया—अधार्मिक—श्रुत-चारित्र-रूप धर्म का जो आचरण करते हैं, वे धार्मिक हैं, जो धार्मिक नहीं है, वे अधार्मिक है। **अहम्माणुया अधर्मानुग**—श्रुतरूप धर्म का जो अनुसर करते हैं, धर्मानुसार चलते हैं, वे धर्मानुग और जो धर्मानुग नहीं हैं, वे अधर्मानुग हैं। **अहम्मिट्ठा—अधर्मिष्ठ**—श्रुतरूप धर्म ही जिन्हें इष्ट बल्लभ (प्रिय) या जिनके द्वारा पूजित (आदृत) है, वे धर्मिष्ठ हैं, अथवा धर्मीजनों को जो इष्ट (प्रिय) हैं वे धर्मिष्ठ हैं, या अतिशय धर्मी-धर्मिष्ठ हैं, जो धर्मेष्ट, धर्मीष्ट या धर्मिष्ठ नहीं हैं, वे अधर्मेष्ट, अधर्मीष्ट या अधर्मिष्ट हैं। **अहम्मक्खाई**—जो धर्म का आख्यान-कथन (बात) नहीं करते वे अधर्माख्यायी हैं, अथवा अधर्मरूप में जिनकी ख्याति-प्रसिद्धि है, वे अधर्मख्याति। **अहम्मपलोई**—जो धर्म को उपादेयरूप से नहीं देखते अथवा जो अधर्म का ही अहर्निश चिन्तन-निरीक्षण करते हैं, वे अधर्मप्रलोकी हैं। **अहम्मपलज्जणा—अधर्मप्ररंजना**—अधर्म में जो रंगे हुए हैं, अधर्म में आरक्त-आसक्त हैं, वे। **अहम्मसमुदाचारा—अधर्मसमुदाचार**—जिनमें चारित्रात्मक धर्माचार नहीं है, अथवा जिनका धर्माचार सप्रमोद (प्रसन्नता युक्त) नहीं है, **अहम्मेण**—श्रुत-चारित्ररूप धर्म से विरुद्ध। **विंति कप्पेमाण**—वृत्ति-जीविका करने वाले।[१]

---

१. भगवती. अभय. वृत्ति, पत्र ५६०

कठिन शब्दार्थ—बलियत्तं—बलबत्ता, बलवान होना या रहना। **दुब्बलियत्तं**—दुर्बलवत्ता, दुर्बल होना या रहना। **दक्खत्तं**—दक्षत्व-उद्यमीपन। **आलसियत्तं**—आलसीपन।[१]

दक्ष व्यक्तियों को विशेष धर्मलाभ—जो धार्मिक व्यक्ति दक्ष होते हैं, वे आचार्य से लेकर साधर्मिक व्यक्तियों की वैयावृत्य-सेवा में अपने आपको जुटा देते हैं और निर्जरारूप परम धर्मलाभ प्राप्त करते हैं।[२]

इन्द्रियवशार्त्त जीवों का बन्धादि दुष्परिणाम

२१. [१] सोइंदियवसट्टे ण भंते ! जीवे किं बंधति ?

एवं जहा कोहवसट्टे (स० १२ उ० १ सु० २६) तहेव जाव अणुपरियट्टइ।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय के वश-आर्त्त (पीडित) बना हुआ जीव क्या बाँधता है ? इत्यादि प्रश्न।

[२१-१ उ.] जयंती ! जिस प्रकार क्रोध के वश-आर्त्त बने हुए जीव के विषय में (श. १२, उ. १, सू. २६ में कहा गया) है, उसी प्रकार (यहाँ भी,) यावत् वह संसार में बार-बार पर्यटन करता है, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

[२] एवं चक्खिदियवसट्टे वि। एवं जाव फासिंदियवसट्टे जाव अणुपरियट्टइ।

[२१-२ प्र.] इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय-वशार्त्त बने हुए जीव के विषय में भी कहना चाहिए। इसी प्रकार यावत् स्पर्शेन्द्रियवशार्त्त बने हुए जीव के विषय में यावत् वह बार-बार संसार में पर्यटन करता है, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

विवेचन—पंचेन्द्रियवशार्त्त जीवों के दुष्कर्मबन्धादि परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में क्रोधादिवशार्त्त के बन्धादि परिणाम के अतिदेशपूर्वक श्रोत्रादिइन्द्रियवशार्त्त के परिणाम का प्रतिपादन किया गया है।

जयंती द्वारा प्रव्रज्याग्रहण और सिद्धिगमन

२२. तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ सेसं तहा देवाणंदाए (स० ९ उ० ३३ सु० १७-२०) तहेव पव्वइया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

बारसमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो ॥ १२-२॥

---

१. (क) भगवती. अभय. वृत्ति, पत्र ५६०

(ख) भगवती सूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. १९९७

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ५७१

[२२] तदनन्तर वह जयंती श्रमणोपासिका, श्रमण भगवान् महावीर से यह (पूर्वोक्त) अर्थ (समाधान) सुन कर एवं हृदय में अवधारण करके हर्षित और सन्तुष्ट हुई, इत्यादि शेष समस्त वर्णन (श. ९, उ. ३३, सू. १७-२० में कथित) देवानन्दा के समान है यावत् जयंती श्रमणोपासिका प्रव्रजित हुई यावत् सर्व दुःखों से रहित हुई, (यहाँ तक कहना चाहिए)।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है—यों कहकर श्री गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—जयंती श्रमणोपासिका पर समाधान की प्रतिक्रिया—प्रस्तुत सूत्र में इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने जयंती श्रमणोपासिका के मन पर अपनी शंकाओं के समीचीन समाधान की प्रतिक्रिया का वर्णन किया है। तीन मुख्य प्रतिक्रियाएँ प्रतिफलित होती हैं—

(१) जयंती हर्षित, संतुष्ट होकर देवानन्दा के समान भगवान् को वन्दन-नमस्कारान्तर श्रद्धापूर्वक प्रव्रज्या ग्रहण करती है। (२) भगवान् द्वारा प्रव्रजित साध्वी जयंती ने आर्या चन्दनबाला की शिष्या बन कर अंग शास्त्रों का अध्ययन किया, गुरुणी की आज्ञानुसार संयमपालन किया। (३) तपश्चरण द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त एवं सर्व दुःखरहित हुई।[१]

॥ बारहवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

१. (क) भगवती. शतक ९, उ. ३३, सू. १७-२० तक का देवानन्दावर्णन

(ख) भगवती. (वियाहपण्णत्ति) (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ५७२

ततिओ उद्देसओ : 'पुढवी'

तृतीय उद्देशक : पृथ्वियाँ

सात नरक पृथ्वियाँ—नाम-गोत्रादि वर्णन

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (श्रमण भगवन् महावीर पधारे,) यावत् (गौतम स्वामी ने वन्दन नमस्कार करके) इस प्रकार पूछा—

२. कति णं भंते पुढवीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पढमा दोच्चा जाव सत्तमा।

[२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वियाँ (नरक-भूमियाँ) कितनी कही गई हैं ?

[२ उ.] गौतम ! पृथ्वियाँ सात कही गई हैं, वे इस प्रकार हैं—प्रथमा, द्वितीया यावत् सप्तमी।

३. पढमा णं भंते ! पुढवी किंनामा ? किंगोत्ता पन्नत्ता ?

गोयमा ! घम्मा नामेणं, रयणप्पभा गोत्तेणं, एवं जहा जीवाभिगमे पढमो नेरइयउद्देसओ सो निरवसेसो भाणियव्वो जाव अप्पाबहुगं ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

[३ प्र.] भगवन् ! प्रथमा पृथ्वी किस नाम और किस गोत्र वाली है ?

[३ उ.] गौतम ! प्रथमा पृथ्वी का नाम 'घम्मा' है, और गोत्र 'रत्नप्रभा' है। शेष (छह पृथ्वियों का) सब वर्णन जीवाभिगम सूत्र (की तृतीय प्रतिपत्ति) के प्रथम नैरयिक उद्देशक (में प्रतिपादित वर्णन) के समान यावत् अल्पबहुत्व तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—सात नरक भूमियाँ : नाम और गोत्र आदि—प्रस्तुत त्रिसूत्री में जीवाभिगमसूत्र के अतिदेश-पूर्वक सात नरक पृथ्वियों के नाम, गोत्र आदि का वर्णन किया गया है।[१]

नाम और गोत्र—अपनी इच्छानुसार किसी पदार्थ को सार्थक या निरर्थक जो भी संज्ञा प्रदान की जाती है, उसे '**नाम**' कहते हैं तथा सार्थक एवं तदनुकूल गुणों के अनुसार जो नाम रखा जाता है उसे '**गोत्र**' कहते हैं।

सात नरकों के नाम—घम्मा, बंसा, शीला, अंजना, रिट्ठा, मघा और माघवई। **सात नरकों के गोत्र**—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा (महातमःप्रभा)। इसका विस्तृत वर्णन जीवाभिगमसूत्र की तृतीय प्रतिपत्ति में है।

॥ बारसमे सए : ततिओ उद्देसओ समत्तो ॥

॥ बारहवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. (क) भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्र ५६१

(ख) जीवाभिगम. प्रतिपत्ति ३, उद्देशक १ नैरयिक वर्णन। सू. ६७-८४, पृ. ८८-१०८

चउत्थो उद्देसओ : पोग्गले

चतुर्थ उद्देशक : पुद्गल

दो परमाणु पुद्गलों का संयोग-विभाग निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ।) यावत् गौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—

२. दो भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, एगयओ साहण्णित्ता किं भवति ? गोयमा ! दुपदेसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा कज्जति। एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ परमाणुपोग्गले भवति।

[२ प्र.] भगवान् ! दो परमाणु जब संयुक्त होकर एकत्र होते हैं, तब उनका क्या होता है ?

[२ उ.] गौतम ! (एकत्र संहत उन दो परमाणु-पुद्गलों का) द्विप्रदेशिक स्कन्ध बन जाता है। यदि उसका भेदन हो तो दो विभाग होने पर एक ओर एक परमाणुपुद्गल और दूसरी ओर भी एक परमाणु-पुद्गल हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में दो परमाणु एकत्रित होने पर एक द्विप्रदेशिक स्कन्ध बनने तथा विभाजित होने पर दो परमाणु अलग-अलग (एक विकल्प—१-१) होने का निरूपण किया गया है। इसका सिर्फ एक ही विकल्प है (१-१)।

कठिन-शब्दार्थ—साहण्णंति—एक (संयुक्त) रूप से इकट्ठे होते हैं।[1]

तीन परमाणुपुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

३. तिन्नि भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, एगयओ साहण्णित्ता किं भवति ? गोयमा ! तिपदेसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि, तिहा वि कज्जति। दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दुपदेसिए खंधे भवति। तिहा कज्जमाणे तिन्नि परमाणुपोग्गला भवंति।

[३ प्र.] भगवन् ! जब तीन परमाणु एकरूप में इकट्ठे होते हैं, तब उन (एकत्र संहत तीन परमाणुओं) का क्या होता है ?

[३ उ.] गौतम ! उनका त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। उसका भेदन होने पर दो या तीन विभाग होते हैं। दो विभाग हों तो एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और दूसरी ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध हो जाता है। उसके तीन विभाग हों तो तीन परमाणु-पुद्गल पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६६

विवेचन—तीन परमाणुपुद्गलों का संयोग और विभाग—प्रस्तुत सूत्र में तीन परमाणुओं के संयुक्त *होने पर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध हो जाने तथा विभक्त होने पर यदि दो हिस्सों में विभक्त हो तो एक ओर एक परमाणु और दूसरी ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होने तथा तीन हिस्सों में विभक्त हो तो पृथक्-पृथक् तीन परमाणु होने का* निरूपण है। त्रिप्रदेशीस्कन्ध के दो विकल्प, यथा, १-२। १-१-१।

चार परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

४. चत्तारि भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति पुच्छा। गोयमा ! चउप्पएसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि, तिहा वि, चउहा वि कज्जइ। दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति; अहवा दो दुपदेसिया खंधा भवंति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ दुपदेसिए खंधे भवति। चउहा कज्जमाणे चत्तारि परमाणुपोग्गला भवंति।

[४ प्र.] भगवन् ! चार परमाणुपुद्गल इकट्ठे होते हैं, तब उनका क्या होता है ?

[४ उ.] गौतम ! उन (एकत्र संहत चार परमाणुओं) का (एक) चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध बन जाता है। उनका भेदन होने पर दो तीन अथवा चार विभाग होते हैं। दो विभाग होने पर एक ओर (एक) परमाणुपुद्गल और दूसरी ओर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है, अथवा पृथक्-पृथक् दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध हो जाते हैं। तीन विभाग होने पर एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणुपुद्गल और एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध रहता है। चार विभाग होने पर चार परमाणुपुद्गल पृथक्-पृथक् होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में चार परमाणुओं के संयुक्त होने पर एक चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध होने तथा उन्हें २-३-४ भागों में विभक्त किये जाने पर क्रमशः १ परमाणुपुद्गल १ त्रिप्रदेशिकस्कन्ध, अथवा पृथक्-पृथक् दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध; पृथक्-पृथक् दो परमाणु और १ द्विप्रदेशिक स्कन्ध तथा पृथक्-पृथक् ४ परमाणुपुद्गल हो जाने का निरूपण किया गया है। चतुष्प्रदेशीस्कन्ध के चार विकल्प—१-३। २-२। १-१-२। १-१-१-१।

परमाणुपुद्गल परस्पर स्वाभाविक रूप से ही मिलते और अलग होते हैं, किसी के प्रयत्न से नहीं, तथापि यहाँ और आगे सर्वत्र 'किए जाएँ' शब्दों का जो प्रयोग हुआ है वह केवल बुद्धि द्वारा ही समझना चाहिए।

पांच परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

५. पंच भंते ! परमाणुपोग्गला० पुच्छा। गोयमा ! पंचपदेसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि, तिहा वि, चउहा वि, पंचहा वि कज्जइ। दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ चउपदेसिए खंधे भवति, अहवा एगयओ दुपदेसिए खंधे, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दो दुपएसिया खंधा भवंति। चउहा कज्जमाणे एगयओ तिण्णि परमाणुपोग्गला, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति। पंचहा कज्जमाणे पंच परमाणुपोग्गला भवंति।

[५ प्र.] भगवन् ! पांच परमाणुपुद्गल एकत्र संहत होने पर क्या स्थिति होती है ?

[५ उ.] गौतम ! उनका पंचप्रदेशिक स्कन्ध बन जाता है। उसका भेदन होने पर दो, तीन, चार अथवा पांच विभाग हो जाते हैं। यदि दो विभाग किए जाएँ तो एक ओर एक परमाणुपुद्गल और दूसरी ओर एक चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध होजाता है। अथवा एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध और दूसरी ओर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध हो जाता है। तीन विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणुपुद्गल और एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध रहता है; अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और दूसरी ओर पृथक्-पृथक् दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध रहते हैं। चार विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणुपुद्गल और दूसरी ओर एक द्विप्रदेशीस्कन्ध रहता है। पांच विभाग किये जाने पर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु होते हैं।

विवेचन—पंचप्रदेशीस्कन्ध के ६ विकल्प—यथा—१-४। २-३। १-१-३। १-२-२। १-१-१-२। १-१-१-१-१।

छह परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग निरूपण

६. छब्भंते ! परमाणुपोग्गला० पुच्छा। गोयमा ! छप्पदेसिए खंधे भवइ। से भिज्जमाणे दुहा वि, तिहा वि, जाव छहा वि कज्जइ। दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ पंच पएसिए खंधे भवति, अहवा एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ चउपदेसिए खंधे भवति; अहवा दो तिपदेसिया खंधा भवंति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति; अहवा तिण्णि दुपदेसिया खंधा भवंति। चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवंति। पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति। छहा कज्जमाणे छ परमाणुपोग्गला भवंति।

[६ प्र.] भगवन् ! छह परमाणु-पुद्गल जब संयुक्त होकर इकट्ठे होते हैं, तब क्या बनता है ?

[६ उ.] गौतम ! उनका षट्प्रदेशिक स्कन्ध बनता है। उसका भेदन होने पर दो, तीन, चार, पांच अथवा छह विभाग हो जाते हैं। दो विभाग किये जाने पर एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर पंचप्रदेशिक स्कन्ध होता है; अथवा एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध रहता है। अथवा दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। तीन विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल और एक ओर चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध रहता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है, अथवा तीन पृथक्-पृथक् द्विप्रदेशिक होते हैं। चार विभाग किये जाने पर एक ओर तीन पृथक् परमाणुपुद्गल, एक ओर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु पुद्गल, एक ओर पृथक्-पृथक् दो द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं; पांच विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु पुद्गल और एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है; और छह विभाग किये जाने पर पृथक्-पृथक् छह परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—षट्प्रदेशिक स्कन्ध के दस विकल्प—यथा—१-५। २-४। ३-३। १-१-४। १-२-३। २-२-२। १-१-१-३। १-१-२-२। १-१-१-१-२। और १-१-१-१-१-१।

सात परमाणु-पुद्‌गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

७. सत्त भंते ! परमाणुपोग्गला० पुच्छा। गोयमा ! सत्तपदेसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि जाव सत्तहा वि कज्जइ। दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दुप्पएसिए खंधे, एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिप्पएसिए, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणु०, एगयओ दो तिपएसिया खंधे भवंति; अहवा एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति। चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुओ०, एगयओ तिन्नि दुपएसिया खंधा भवंति। पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा भवंति। छहा कज्जमाणे एगयओ पंच परमाणुपोग्गला, एगयओ दुपदेसिए खंधे भवति। सत्तहा कज्जमाणे सत्त परमाणुपोग्गला भवंति।

[७ प्र.] भगवन् ! जब सात परमाणु पुद्‌गल संयुक्त रूप से इकट्ठे होते हैं, तब उनका क्या होता है ?

[७ उ.] गौतम ! उनका सप्त-प्रदेशिक स्कन्ध होता है। उसका भेदन किये जाने पर दो, तीन यावत् सात विभाग भी हो जाते हैं। यदि दो विभाग किये जाएँ तो—एक ओर एक परमाणु-पुद्‌गल और दूसरी ओर षट्प्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है, एक ओर पंचप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है और दूसरी ओर चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। तीन विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्‌गल और दूसरी ओर पंचप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणुपुद्‌गल, एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध, और एक ओर चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्‌गल एक ओर पृथक्-पृथक् दो त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं और दूसरी ओर एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। चार विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्‌गल, एक ओर चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर दो परमाणु-पुद्‌गल पृथक्-पृथक्, एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध तथा एक ओर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्‌गल और दूसरी ओर तीन द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं। पांच विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु पुद्‌गल और एक और त्रिप्रदेशिक स्कन्ध रहता है। अथवा एक ओर तीन पृथक्-पृथक् परमाणु-पुद्‌गल और एक ओर पृथक्-पृथक् दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं। छह विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु-पुद्‌गल और दूसरी ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है। सात विभाग किये जाने पर

पृथक्-पृथक् सात परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—सप्तप्रदेशिक स्कन्ध के चौदह विकल्प, यथा—

दो विभाग—१-६। २-५। ३-४।

तीन विभाग—१-१-५। १-२-४। १-३-३। २-२-३।

चार विभाग—१-१-१-४। १-१-२-३। १-२-२-२।

पांच विभाग—१-१-१-१-३। १-१-१-२-२।

छह विभाग—१-१-१-१-१-२।

सात विभाग—१-१-१-१-१-१-१। इस प्रकार कुल ३+४+३+२+१+१=१४ विकल्प हुए।

आठ परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

८. अट्ठ भंते ! परमाणुपोग्गला० पुच्छा। गोयमा ! अट्ठपएसिए खंधे भवइ, जाव दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणु०, एगयओ सत्तपएसिए खंधे भवइ; अहवा एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ छप्पदेसिए खंधे भवइ; अहवा एगयओ तिपएसिए०, एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवइ; अहवा दो चउप्पदेसिया खंधा भवंति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणु०, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवइ; अहवा एगयओ परमाणु०, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ पंचप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणु० तिपएसिए खंधे, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ दो तिपएसिया खंधा भवंति। चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दोण्णि परमाणुपोग्गला०, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ दो तिपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा चत्तारि दुपएसिया खंधा भवंति। पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो० एगयओ तिन्न दुपएसिया खंधा भवंति। छहा कज्जमाणे एगयओ पंच परमाणुपो०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ चत्तारि परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा भवंति। सत्तहा कज्जमाणे एगयओ छ परमाणुपोग्गला, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति। अट्ठहा कज्जमाणे अट्ठ परमाणुपोग्गला भवंति।

[८ प्र.] भगवन् ! आठ परमाणु-पुद्गल संयुक्तरूप से इकट्ठे होने पर क्या बनता है ?

[८ उ.] गौतम ! उनका अष्टप्रदेशिक स्कन्ध बन जाता है। यदि उसके विभाग किये जाएँ तो दो, तीन, चार यावत् आठ विभाग होते हैं। दो विभाग किये जाने पर एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर सप्तप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशिक स्कन्ध और दूसरी ओर एक षट्प्रदेशी स्कन्ध

होता है। अथवा एक ओर एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा पृथक्-पृथक् दो चुतष्प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। उसके तीन विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल और एक ओर षट्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है, और एक ओर दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध पृथक्-पृथक् होते हैं। जब उसके चार विभाग किये जाएँ तो एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणुपुद्गल और एक ओर एक पंचप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता हैं। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर पृथक्-पृथक् दो त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर द्विप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं। अथवा पृथक्-पृथक् चार द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। पांच विभाग किये जाने पर एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर द्विप्रदेशी स्कन्ध तथा एक ओर एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल और एक ओर तीन द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं अथवा उसके छह विभाग किये जाएँ तो एक ओर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक त्रिप्रदेशीस्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं। यदि उसके सात विभाग किये जाएँ तो एक ओर पृथक्-पृथक् छह परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है। यदि उसके आठ विभाग किये जाएँ तो पृथक्-पृथक् आठ परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—अष्टप्रदेशी स्कन्ध के विभागीय इक्कीस विकल्प—

दो विभाग—१-७। २-६। ३-५। ४-४।

तीन विभाग—१-१-६। १-२-५। १-३-४। २-२-४। २-३-३।

चार विभाग—१-१-१-५। १-१-२-४। १-१-३-३। १-२-२-३। २-२-२-२।

पांच विभाग—१-१-१-१-४। १-१-१-२-३। १-१-२-२-२।

छह विभाग—१-१-१-१-१-३। १-१-१-१-२-२।

सात विभाग—१-१-१-१-१-१-२।

आठ विभाग—१-१-१-१-१-१-१-१।

इस प्रकार कुल ४+५+५+३+२+१+१=२१ विकल्प होते हैं।

नौ परमाणु-पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

९. नव भंते ! परमाणुपोग्गला० पुच्छा। गोयमा ! जाव नवविहा कज्जंति। दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपो०, एगयओ अट्ठपएसिए खंधे भवति; एवं एक्केक्कं संचारेंतेहिं जाव अहवा एगयओ

चउप्पएसिए खंधे, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ सत्तपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो० एगयओ तिपएसिए खंधे, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दो चउप्पएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ दुपदेसिए खंधे, एगयओ तिपएसिए खंधे, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा तिण्ण तिपएसिया खंधा भवंति। चउहा भिज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो० एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो० एगयओ तिपएसिए खंधे, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दुपदेसिए खंधे, एगयओ दो तिपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ तिन्नि दुप्पएसिया खंधा, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति। पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपो०, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिण्णि परमाणुपो०, एगयओ दो तिपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ दो परमाणुपोग्गला, एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ तिपएसिए खंधे भवइ; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ चत्तारि दुपएसिया खंधा भवंति। छहा कज्जमाणे एगयओ पंच परमाणुपोग्गला, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ चत्तारि परमाणुपो०, एगयओ दुप्पएसिए खंधे, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ तिन्नि दुप्पएसिया खंधा भवंति। सत्तहा कज्जमाणे एगयओ छ परमाणुपो०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ पंच परमाणुपो० एगयओ दो दुपएसिया खंधा भवंति। अट्ठहा कज्जमाणे एगयओ सत्त परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति। नवहा कज्जमाणे नव परमाणुपोग्गला भवंति।

[९ प्र.] भगवन् ! नौ परमाणु-पुद्गलों के संयुक्तरूप से इकट्ठे होने पर क्या बनता है ?

[९ उ.] गौतम ! उनका नवप्रदेशी स्कन्ध बनता है। उसके विभाग हों तो दो, तीन यावत् नौ विभाग होते हैं। यदि उसके दो विभाग किये जाएँ तो एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक अष्टप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक का संचार (वृद्धि) करना चाहिए, यावत् अथवा एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है। यदि उसके तीन विभाग किये जाए तो एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक सप्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक षट्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रेदशी स्कन्ध और एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, और एक ओर दो चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा तीन त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

चार भाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक षट्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक

ओर एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर तीन द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध होता है।

पांच भाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक पंचप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी-स्कन्ध और एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु पुद्गल, एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर चार द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

छह भाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक चतु:प्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर चार परमाणु-पुद्गल पृथक्-पृथक्, एक ओर एक द्विप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर तीन द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं।

सात विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् छह परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं।

आठ विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् सात परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है।

नव विभाग किये जाने पर—पृथक्-पृथक् नौ परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—नवप्रदेशी स्कन्ध के विभक्त होने पर २८ विकल्प—

दो विभाग—१-८। २-७। ३-६। ४-५।

तीन विभाग—१-१-७। १-२-६। १-३-५। १-४-४। [२-२-५] २-३-४। ३-३-३।

चार विभाग—१-१-१-६। १-१-२-५। १-१-३-४। १-२-२-४। १-२-३-३। २-२-२-३।

पांच विभाग—१-१-१-१-५। १-१-१-२-४। १-१-१-३-३। १-१-२-२-३। १-२-२-२-२।

छह विभाग—१-१-१-१-१-४। १-१-१-१-२-३। १-१-१-२-२-२।

सात विभाग—१-१-१-१-१-१-३। १-१-१-१-१-२-२।

आठ विभाग—१-१-१-१-१-१-१-२।

नौ विभाग—१-१-१-१-१-१-१-१-१।

इस प्रकार नौ प्रदेशी स्कन्ध के कुल ४+६+६+५+३+२+१+१=२८ विकल्प हुए। ब्रैकेट वाला विकल्प [२-२-५] शून्य है।

दस परमाणु पुद्गलों का संयोग-विभाग-निरूपण

१०. दस भंते ! परमाणुपोग्गला जाव दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ नवपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ अट्ठ पएसिए खंधे भवति; एवं एक्केक्कं संचारेयव्वंति जाव अहवा दो पंचपएसिया खंधा भवंति। तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ अट्ठपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ सत्तपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ तिपएसिए खंधे, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ चउप्पएसिए०, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति। ❈ अहवा एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दुपएसिए०, एगयओ तिपएसिए०, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; ❈ अहवा एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ दो चउप्पएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ दो तिपएसिया खंधा, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवइ। चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ सत्तपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ तिपएसिए खंधे, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओं दो चउप्पएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दुपदेसिए०, एगयओ तिपएसिए०, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ तिन्नि तिपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ तिन्नि दुपएसिया खंधा, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ दो तिपएसिया खंधा भवंति। पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०; एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति, एगयओ चउपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा, एगयओ चउप्पएसिया खंधे भवति अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ दो तिपएसिए खंधा भवंति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ तिन्नि दुपएसिया०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा पंचदुपएसिया खंधा भवंति। छहा कज्जमाणे एगयओ पंच परमाणुपो०, एगयओ पंचपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ चत्तारि परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ चत्तारि परमाणुपो०, एगयओ दो तिपएसिया खंधा भवंति;

अधिकपाठ—❈ इन चिह्नों के अन्तर्गत मुद्रित पाठ अन्य प्रतियों में नहीं है।

अहवा एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ चत्तारि दुपएसिया खंधा भवंति। सत्तहा कज्जमाणे एगयओ छ परमाणुपो०, एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ पंच परमाणुपो०, एगयओ दुप्पएसिए०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ चत्तारि परमाणुपो०, एगयओ तिन्नि दुपएसिया खंधा भवंति। अट्ठहा कज्जमाणे एगयओ सत्त परमाणुपो०, एगयओ तिपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ छप्परमाणुपो०, एगयओ दो दुपएसिया खंधा भवंति। नवहा कज्जमाणे एगयओ अट्ठ परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए खंधे भवति। दसहा कज्जमाणे दस परमाणुपोग्गला भवंति।

[१० प्र.] भगवन् ! दस परमाणु-पुद्गल संयुक्त होकर इकट्ठे हों तो क्या बनता है ?

[१० उ.] गौतम ! उनका एक प्रदेशी स्कन्ध बनता है। उसके विभाग किये जाने पर दो, तीन यावत् दश विभाग होते हैं।

दो विभाग होने पर—एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, और एक ओर एक नवप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक अष्टप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार एक-एक का संचार (वृद्धि) करना चाहिए, यावत् दो पञ्चप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

तीन विभाग होने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, और एक ओर एक अष्टप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक सप्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक षट्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है। [**अथवा एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर षटप्रदेशी स्कन्ध होता है।** अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है।] अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता है।

चार विभाग होने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक सप्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक षट्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, और एक ओर दो चतुष्प्रदेशीस्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध, एक ओर एक त्रिप्रदेशीस्कन्ध और एक ओर एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर तीन त्रिप्रदेशीस्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर तीन द्विप्रदेशीस्कन्ध और एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

पांच विभाग हों तो—एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल और एक ओर षट्प्रदेशिक स्कन्ध

होता है। अथवा एक ओर तीन परमाणु-पुद्गल (पृथक्-पृथक्) तथा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक पञ्चप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतु:प्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर दो पृथक्-पृथक् परमाणु-पुद्गल, एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर दो परमाणु-पुद्गल (पृथक्-पृथक्), एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर तीन द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा पांच द्विप्रदेशिक स्कन्ध होते हैं।

छह विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु-पुद्गल, एक ओर पंचप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो त्रिप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् तीन पुद्गल-परमाणु, एक ओर दो द्विप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल तथा एक ओर चार द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

सात विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् छह परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक चतु:प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् पांच परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् चार परमाणु-पुद्गल और एक ओर तीन द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

आठ विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् सात परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् छह परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

नौ विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् आठ परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है।

दस विभाग किये जाने पर—पृथक्-पृथक् दस परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—दशप्रदेशीस्कन्ध के विभागीय ३९ विकल्प—

दो विभाग—१-९। २-८। ३-७। ४-६। ५-५।

तीन विभाग—१-१-८। १-२-७। १-३-६। १-४-५। २-३-५। २-४-४। ३-३-४। [कोष्ठक में एक विकल्प—२-२-६]

चार विभाग—१-१-१-७। १-१-२-६। १-१-३-५। १-१-४-४। १-२-३-४। १-३-३-३। २-२-२-४। २-२-३-३। [१-२-२-५ में शून्य विकल्प]

पांच विभाग- १-१-१-१-६ । १-१-१-२-५ । १-१-१-३-४ । १-१-२-२-४ । १-१-२-३-३ । १-२-२-२-३ । २-२-२-२-२ ।

छह विभाग—१-१-१-१-१-५ । १-१-१-१-२-४ । १-१-१-१-३-३ । १-१-१-२-२-३ । १-१-२-२-२-२ ।

सात विभाग—१-१-१-१-१-१-४ । १-१-१-१-१-२-३ । १-१-१-१-२-२-२ ।

आठ विभाग—१-१-१-१-१-१-१-३ । १-१-१-१-१-१-२-२ ।

नौ विभाग—१-१-१-१-१-१-१-१-२ ।

दस विभाग—१-१-१-१-१-१-१-१-१-१ ।

इस प्रकार दशप्रदेशी स्कन्ध के विभाग किये जाने पर कुल ५+७+८+७+५+३+२+१+१=३९ विकल्प हुए।

द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर दशप्रदेशी स्कन्ध तक के विभागीय विकल्प कुल १२५ इस प्रकार होते हैं—१+२+४+६+१०+१४+२१+२८+३९=१२५ । इसमें जो दो जगह कोष्ठक के अन्तर्गत तीन विकल्प—२-३-५ । २-२-६ एवं १-२-२-५ हैं, वे शून्यभंग हैं, उन्हें यहाँ नहीं गिना गया है।[1]

संख्यात परमाणु पुद्गलों के संयोग-विभाग से निष्पन्न भंग निरूपण

११. संखेज्जा भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, एगयओ साहण्णित्ता किं भवति ? गोयमा ! संखेज्जपएसिए संखे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि जाव दसहा वि संखेज्जहा वि कज्जति। दुआ कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति, एवं अहवा एगयओ तिपएसिए०, एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति, जाव अहवा एगयतो दसपएसिए खंधे एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति। तिहा कज्जमाणे एगयतो दो परमाणुपो०, एगयतो संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयतो परमाणुपो० एगयतो दुपएसिए खंधे, एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयतो परमाणुपो०, एगयतो तिपएसिए खंधे० एगयतो संखेज्जपएसिए खंधे भवति; एवं जाव अहवा एगयतो परमाणुपो०, एगयतो दसपएसिए खंधे, एगयतो संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयतो परमाणुपो०, एगयतो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयतो दुपएसिए खंधे, एगयतो दो संखेज्जपदेसिया खंधा भवंति; एवं जाव अहवा एगयओ दसपएसिए खंधे, एगयतो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवति; अहवा तिण्णि संखेज्जपएसिया खंधा भवंति। चउहा कज्जमाणे एगयतो तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयतो दो परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयतो

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६६

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०१९

संखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयतो दो परमाणुपो०, एगयतो तिपएसिए०, एगयतो संखेज्जपएसिए खंधे भवति; एवं जाव अहवा एगयओ दो परमाणुपो० एगयतो दसपएसिए०, एगयतो संखेज्जपएसिएं० भवति; अहवा एगयतो दो परमाणुपो०, एगयओ दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयतो परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए खंधे, एगयओ दो संखेज्जपदेसिया खंधा भवंति; जाव अहवा एगयतो परमाणुपो०; एगयतो दसपएसिए०, एगयतो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयतो परमाणुपो०, एगयतो तिन्नि संखेज्जपएसिया खंधा भवंति; जाव अहवा एगयओ दुपएसिए०, एगयतो तिन्नि संखेज्जपएसिया०, भवंति; जाव अहवा एगयओ दसपएसिए०, एगयओ तिन्नि संखेज्जपदेसिया० भवंति; अहवा चत्तारि संखेज्जपएसिया० भवंति।

एवं एएणं कमेणं पंचगसंजोगो वि भाणियव्वो जाव नवसंजोगो।

दसहा कज्जमाणे एगयतो नव परमाणुपोग्गला, एगयतो संखेज्जपएसिए०, भवति; अहवा एगयओ अट्ठ परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे भवति; एवं एएणं कमेणं एक्केक्को पूरेयव्वो जाव अहवा एगयओ दसपएसिए०, एगयओ नव संखेज्जपएसिया० भवंति; अहवा दस संखेज्जपएसिया खंधा भवंति। संखेज्जहा कज्जमाणे संखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति।

[११ प्र.] भगवन् ! संख्यात परमाणु-पुद्गलों के संयुक्त होने पर क्या बनता है?

[११ उ.] गौतम ! वह संख्यातप्रदेशी स्कन्ध बनता है। यदि उसके विभाग किये जाएँ तो दो तीन यावत् दस और संख्यात विभाग होते हैं।

दो विभाग किये जाने पर—एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक संख्येयप्रदेशिक स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। इसी प्रकार यावत् एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा दो संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

तीन विभाग किये जाने पर—एक ओर दो पृथक्-पृथक् परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशीस्कन्ध और एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार यावत्—अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। इस प्रकार यावत्—अथवा एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा तीन संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

चार विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी

स्कन्ध और एक ओर एक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार यावत्—अथवा एक ओर दो पृथक्-पृथक् परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। यावत् अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर तीन संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। इस प्रकार यावत्—एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध होता है और एक ओर तीन संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा चारों संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

इसी प्रकार इस क्रम से पंचसंयोगी विकल्प भी कहने चाहिए, यावत् नव-संयोगी विकल्प तक कहना चाहिए।

उसके दश विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् नौ परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर पृथक्-पृथक् आठ परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। इसी क्रम से एक-एक की संख्या उत्तरोतर बढ़ाते जाना चाहिए, यावत् एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर नौ संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं, अथवा दस संख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

यदि उसके संख्यात विभाग किये जाएँ तो पृथक्-पृथक् संख्यात परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—संख्यातप्रदेशी स्कन्ध के विभागीय विकल्प—संख्यात प्रदेश के विभाग किये जाने पर कुल ४६० भंग होते हैं। यथा—दो विभाग के द्विक संयोगी ११ भंग, तीन विभाग के त्रिकसंयोगी २१ भंग, चार विभाग के चतुष्कसंयोगी ३१ भंग, पांच विभाग के पंचसंयोगी ४१ भंग, छह विभाग के षट्-संयोगी ५१ भंग, सात विभाग के सप्तयोगी ६१ भंग, आठ विभाग के अष्टसंयोगी ७१ भंग, नौ विभाग के नव-संयोगी ८१ भंग, दस विभाग के दशसंयोगी ९१ भंग और संख्यात परमाणु-विभाग के संख्यात संयोगी एक भंग, इस प्रकार कुल ४६० भंग हुए।[१]

असंख्यात परमाणु पुद्गलों के संयोग-विभाग से निष्पन्न भंग

१२. असंखेज्जा भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंत्ति एगयओ साहण्णित्ता किं भवति ? गोयमा ! असंखेज्जपएसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि, जाव दसहा वि, संखेज्जहा वि, असंखेज्जहा वि कज्जति।

दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपो०, एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति; जाव अहवा

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६६

एगयओ दसपदेसिए०, एगयओ असंखिज्जपएसिए० भवति; अहवा एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा दो असंखेज्जपएसिए खंधा भवंति।

तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ असंखेज्जपएसिए० भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो० एगयओ दुपएसिए०, एगेयओ असंखेज्जपएसिए० भवति; जाव अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दसपदेसिए०, एगयओ असंखेज्जपएसिए० भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ संखेज्जपएसिए० एगयओ असंखेज्जपएसिए० भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दो असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगेयओ दुपएसिए०, एगयओ दो असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति; एवं जाव अहवा एगयओ संखेज्जपएसिए०, एगयओ दो असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति; अहवा तिन्नि असंखेज्जपएसिया० भवंति।

चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयओ असंखेज्जपएसिए० भवति। एवं चउक्कगसंजोगो जाव दसगसंजोगो। एए जहेव संखेज्जपएसियस्स, नवरं असंखेज्जगं एगं अहिगं भाणियव्वं जाव अहवा दस असंखेज्जपदेसिया खंधा भवंति।

संखेज्जहा कज्जमाणे एगयओ संखेज्जा परमाणुपोग्गला, एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ संखेज्जा दुपएसिया खंधा, एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति एवं जाव अहवा एगयओ संखेज्जा दसपएसिया खंधा, एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ संखेज्जा संखेज्जपएसिए खंधा, एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति; अहवा संखेज्जा असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति।

असंखेज्जहा कज्जमाणे असंखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति।

[१२ प्र.] भगवन् ! असंख्यात परमाणु-पुद्गल संयुक्तरूप से इकट्ठे होने पर (उनका) क्या होता है ?

[१२ उ.] गौतम ! उनका एक असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध होता है। उसके विभाग किये जाने पर दो, तीन यावत् दस विभाग भी होते हैं, संख्यात विभाग भी होते हैं, असंख्यात विभाग भी।

दो विभाग किये जाने पर—एक ओर एक परमाणु पुद्गल और एक ओर एक असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। यावत् (पूर्ववत्)—अथवा एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा दो असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

तीन विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्गल, एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध होता है, यावत्—अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर दश-प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर एक

असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और एक ओर दो असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। इस प्रकार यावत्—अथवा एक ओर एक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा तीन असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

चार विभाग किये जाने पर—एक ओर तीन पृथक्-पृथक् परमाणु-पुद्गल और एक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार चतुःसंयोगी से यावत् दस संयोगी तक जानना चाहिए। इन सबका कथन संख्यात-प्रदेशों के (विकल्पों के) समान करना चाहिए। विशेष (अन्तर) इतना है कि एक असंख्यात शब्द अधिक कहना चाहिए, यावत्—अथवा दश असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

संख्यात विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् संख्यात परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक संख्यात प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर संख्यात द्विप्रदेशिक स्कन्ध और एक ओर असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार यावत्—एक ओर संख्यात दश-प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यात-प्रदेश स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होता है, अथवा संख्यात असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

उसके असंख्यात विभाग किये जाने पर पृथक्-पृथक् असंख्यात परमाणु-पुद्गल होते हैं।

विवेचन—असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध के विभागीय विकल्प—असंख्यात प्रदेशी स्कस्ध में पहले बारह कह कर फिर ग्यारह-ग्यारह बढ़ाने से कुल ५१७ भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—द्विकसंयोगी १२, त्रिकसयांगी २३, चतुष्कसंयोगी ३४, पंचसंयोगी ४५, षट्संयोगी ५६, सप्तसंयोगी ६७, अष्टसंयोगी ७८, नवसंयोगी ८९, दशसंयोगी १००, संख्यात-संयोगी १२ और असंख्यात-संयोगी एक। ये सब मिलकर ५१७ भंग हुए।[१]

अंनन्त परमाणु-पुद्गलों के संयोग-विभाग निष्पन्न भंग प्ररूपणा

१३. अणंता णं भंते ! परमाणुपोग्गला जाव किं भवति ?

गोयमा ! अणंतपएसिए खंधे भवति। से भिज्जमाणे दुहा वि, तिहा वि जाव दसहा वि, संखिज्ज-असंखिज्ज-अणंतहा वि कज्जइ।

दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपो०, एगयतो अणंतपएसिए० खंधे जाव अहवा दो अणंतपएसिया खंधा भवंति।

तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपो०, एगयओ अणंतपएसिए० भवति, अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दुपएसिए०, एगयओ अणंतपएसिए० भवति; जाव अहवा एगयओ परमाणुपो० एगयओ असंखेज्जपएसिए०, एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवति; अहवा एगयओ परमाणुपो०, एगयओ दो अणंतपएसिया० भवंति; अहवा एगयओ दुपएसिए०, एगयओ दो अणंतपएसिया भवंति; एवं जाव

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६६

अहवा एगयतो दसपएसिए एगयतो दो अणंतपएसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे, एगयओ दो अणंतपदेसिया खंधा भवंति; अहवा एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे, एगयओ दो अणंतपएसिया खंधा भवंति; अहवा, तिन्नि अणंतपएसिया खंधा भवंति। चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपो०, एगयतो अणंतपएसिए०, भवति; एवं चउक्कसंजोगो जाव असंखेज्जगसंजोगा। एए सव्वे जहेव असंखेज्जाणं भणिया तहेव अणंताण वि भाणियव्वा, नवरं एक्कं अणंतगं अब्भहियं भाणियव्वं जाव अहवा एगयतो संखेज्जा संखिज्जपएसिया खंधा, एगयओ अणंतपएसिए०, भवति; अहवा एगयओ संखेज्जा असंखेज्जपदेसिया खंधा, एगयओ अणंतपएसिए खंधे भवति; अहवा संखिज्जा अणंतपएसिया खंधा भवंति। असंखेज्जहा कज्जमाणे एगयतो असंखेज्जा परमाणुपोग्गला, एगयओ अणंतपएसिए खंधे भवति; अहवा एगयतो असंखिज्जा दुपएसिया खंधा, एगयओ अणंतपएसिए० भवति; जाव अहवा एगयओ असंखेज्जा संखिज्जपएसिया०, एगयओ अणंतपएसिए० भवति; अहवा एगयओ असंखेज्जा असंखेज्जपएसिया खंधा, एगयओ खंधा, एगयओ अणंतपएसिए० भवति; अहवा असंखेज्जा अणंतपएसिया खंधा भवंति।

अणंतहा कज्जमाणे अणंता परमाणुपोग्गला भवंति।

[१३ प्र.] भगवन् ! अनन्त परमाणु-पुद्गल संयुक्त होकर एकत्रित हों तो (उनका) क्या होता है ?

[१३ उ.] गौतम ! उनका एक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध बन जाता है। यदि उसके विभाग किये जाएँ तो दो, तीन यावत् दस, संख्यात, असंख्यात और अनन्त विभाग होते हैं।

दो विभाग किये जाने पर—एक ओर एक परमाणु-पुद्गल और दूसरी ओर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होता है। यावत् दो अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

तीन विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् दो परमाणु पुद्गल और एक ओर एक अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु-पुद्गल, एक ओर द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। यावत् अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्गल, एक ओर एक असंख्यातप्रदेशी और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर एक परमाणु पुद्गल, एक ओर दो अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। इस प्रकार यावत्—अथवा एक ओर एक दशप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा एक ओर एक असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर दो अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अथवा तीन अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

चार विभाग किये जाने पर—एक ओर पृथक्-पृथक् तीन परमाणु-पुद्गल और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। इस प्रकार चतुष्कसंयोगी (से लेकर) यावत् असंख्यात-संयोगी तक कहना

चाहिए। जिस प्रकार असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध के भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ ये सब अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के भंग कहने चाहिए। विशेष यह है कि एक 'अनन्त' शब्द अधिक कहना चाहिए। यावत्—अथवा एक ओर संख्यात संख्यातप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर संख्यात असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा संख्यात अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

जब उसके **असंख्यात भाग किये जाते हैं** तो एक ओर पृथक्-पृथक् असंख्यात परमाणु पुद्गल और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर असख्यांत द्विप्रदेशी स्कन्ध होते हैं, और एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है, यावत्—एक ओर असंख्यात संख्यातप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा एक ओर असंख्यात असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध और एक ओर एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अथवा असंख्यात अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं।

अनन्त विभाग किये जाने पर पृथक्-पृथक् अनन्त-परमाणु पुद्गल होते हैं।

विवेचन—अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विभागीय विकल्प—अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विभाग के पहले तेरह विकल्प (भंग) कह कर फिर उत्तरोत्तर १२-१२ विकल्प बढ़ाते जाना चाहिए। यथा—द्विसंयोगी १३, त्रिकसंयोगी २५, चतुष्कसंयोगी ३७, पंचसंयोगी ४९, षट्संयोगी ६१, सप्तसंयोगी ७३, अष्टसंयोगी ८५, नवसंयोगी ९७, दशसंयोगी १०९, संख्यात-संयोगी १३, असंख्यात-संयोगी १३ और अनन्त संयोगी १, यों कुल मिला कर ५७६ भंग हुए।[1]

परमाणुपुद्गलों का पुद्गलपरिवर्त्त और उसके प्रकार

१४. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं साहणणाभेदाणुवाएणं अणंताणंता पोग्गलपरियट्टा समणुगंतव्वा भवंतीति मक्खाया ?

हंता, गोयमा ! एतेसि णं परमाणुपोग्गलाणं साहणणा जाव मक्खाया।

[१४ प्र.] भगवन् ! इन परमाणु-पुद्गलों के संघात (संयोगी) और भेद (वियोग) के सम्बन्ध से होने वाले अनन्तानन्त पुद्गलपरिवर्त्त जानने योग्य हैं, (क्या) इसीलिए (आपने) इनका कथन किया है ?

[१४ उ.] हाँ, गौतम ! संघात और भेद के सम्बन्ध से होने वाले अनन्तानन्त-पुद्गल-परिवर्त्त जानने योग्य हैं, इसीलिए ये कहे गये हैं।

१५. कतिविधे णं भंते ! पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते ?

गोयमा ! सत्तविहे पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते, तं जहा—ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपोग्गल-परियट्टे तेयापोग्गलपरियट्टे कम्मापोग्गलपरियट्टे मणपोग्गलपरियट्टे वइपोग्गलपरियट्टे आणपाणु-पोग्गलपरियट्टे ।

[१५ प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिवर्त्त कितने प्रकार का कहा गया है ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६६-५६७

[१५ उ.] गौतम ! वह सात प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त, (२) वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त, (३) तैजस-पुद्गलपरिवर्त्त (४) कार्मण-पुद्गलपरिवर्त्त, (५) मनः-पुद्गलपरिवर्त्त, (६) वचन-पुद्गलपरिवर्त्त और (७) आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त।

१६. नेरइयाणं भंते! कतिविधे पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते ?

गोयमा ! सत्तविधे पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते, तं जहा—ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपोग्गल-परियट्टे जाव आणपाणुपोग्गलपरियट्टे।

[१६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के पुद्गलपरिवर्त्त कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! (नैरयिक जीवों के भी) सात प्रकार के पुद्गलपरिवर्त्त कहे गये हैं, यथा—औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त, वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त यावत् आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त।

१७. एवं जाव वेमाणियाणं।

[१७] इसी प्रकार (असुरकुमार से लेकर) यावत् वैमानिक (दण्डक) तक कहना चाहिए।

विवेचन—पुद्गलपरिवर्त्त : क्या, कैसे और कितने प्रकार के ?—पुद्गल द्रव्यों के साथ परमाणुओं का मिलन पुद्गलपरिवर्त्त है। ये पुद्गलपरिवर्त्त संघात (संयोग) और भेद (विभाग) के योग से अनन्तानन्त होते हैं। अनन्त को अनन्त से गुणा करने पर जितने होते हैं, वे अनन्तानन्त कहलाते हैं। एक ही परमाणु अनन्ताणुकान्त द्व्यणुकादि द्रव्यों के साथ संयुक्त होने पर अनन्त परिवर्त्तों को प्राप्त करता है। प्रत्येक परमाणु रूप द्रव्य में परिवर्त्त होता है और परमाणु अनन्त हैं। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु में अनन्तपरिवर्त्त होते हैं। इसलिए परमाणु-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तानन्त हो जाते हैं। साथ ही, ये पुद्गलपरिवर्त्त कैसे होते हैं ? यह भी भलीभाँति जानना चाहिए। यहाँ मूलपाठ में बताया गया है कि पुद्गल द्रव्यों के साथ परमाणुओं के संघात (संहनन-संयोग) और भेद (वियोग-विभाग) के अनुपात—योग से पुद्गलपरिवर्त्त होते हैं।

सामान्यतया पुद्गलपरिवर्त्तों के ७ प्रकार हैं—औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण, मन, वचन और आन-प्राण पुद्गल परावर्त्त। **औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त**—औदारिकशरीर में विद्यमान जीव के द्वारा लोकवर्ती औदारिकशरीरयोग्य द्रव्यों का औदारिकशरीर के रूप में समग्रतया ग्रहण किया जाता है, तब उसे औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कहते हैं। इसी प्रकार वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त आदि का अर्थ समझ लेना चाहिए। आशय यह है कि पूर्वोक्त पुद्गलपरिवर्त्त औदारिक आदि सात माध्यमों से होता है।[१]

नैरयिक पुद्गलपरिवर्त्त—अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए नैरयिक जीवों के सात प्रकार के पुद्गलपरिवर्त्त कहे गए हैं।[२]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६८

(ख) भगवती (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०३६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६८

कठिन शब्दार्थ—साहणणा—संहनन अर्थात् संघात, संयोग। **भेद**—वियोग या विभाग। **समथुगंतव्वा भवंतीतिमक्खया**—सम्यक् प्रकार से जानने योग्य हैं, या जानने चाहिए, इस हेतु से भगवान् द्वारा कहे गये हैं। **आण-पाणु**—आन-प्राण श्वासोच्छ्वास।[१]

एकत्व-बहुत्व दृष्टि से चौवीस दण्डकों में औदारिकादि सप्त-पुद्गलपरिवर्त्त-प्ररूपणा

१८. [१] एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता ?

अणंता।

[१८-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक (प्रत्येक) जीव के अतीत औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[१८-1 उ.] गौतम ! अनन्त हुए हैं।

[२] केवइया पुरेक्खड़ा।

कस्सति अत्थि, कस्सति णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एगो वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[१८-२ प्र.] (भगवन् ! प्रत्येक जीव के) भविष्यत्कालीन पुद्गलपरिवर्त्त कितने होंगे ?

[१८-२ उ.] गौतम ! (भविष्यत्काल में) किसी के (पुद्गलपरिवर्त्त) होंगे और किसी के नहीं होंगे। जिसके होंगे, उसके जघन्य एक, दो, तीन होंगे तथा उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होंगे।

१९. एवं सत्त दंडगा जाव आणपाणु त्ति।

[१९] इसी प्रकार (वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त से लेकर) यावत्—आन-प्राण, (श्वासोच्छ्वास-पुद्गलपरिवर्त्त तक) सात आलापक (दण्डक) कहने चाहिए।

२०. [१] एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीया ?

अणंता।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक के अतीत औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हैं ?

[२०-१ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ?

कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि। जस्सऽत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! (प्रत्येक नैरयिक के) भविष्यत्कालीन (पुद्गलपरिवर्त्त) कितने होंगे ?

---

१. (क) भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ५६८

(ख) 'आणपाणु' शब्द के लिए 'पाइयसद्दमहण्णवो', पृ. ११०

[२०-२ उ.] गौतम ! (भविष्यत्कालिक पुद्गल परिवर्त्त) किसी (नैरयिक) के होंगे, किसी के नहीं होंगे। जिस (नैरयिक) के होंगे, उसके जघन्य एक, दो (या) तीन होंगे और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होंगे।

२१. एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा० ?

एवं चेव।

[२१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक असुरकुमार के अतीतकालिक कितने औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त हुए हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्वोक्तवत्) जानना चाहिए।

२२. एवं जाव वेमाणियस्स।

[२२] इसी प्रकार (नागकुमार से लेकर) यावत् वैमानिक (के अतीत पुद्गलपरिवर्त्त) तक (पूर्ववत् कथन करना चाहिए।)

२३. [१] एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवतिया वेउव्वियपुग्गलपरियट्टा अतीया ?

अणंता।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नारक के भूतकालीन वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[२३-१ उ.] गौतम ! (वे भी) अनन्त हुए हैं।

[२] एवं जहेव ओरालियपोग्गलपरियट्टा तहेव वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा वि भाणियव्वा।

[२३-२ प्र.] जिस प्रकार औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त के विषय में कहा, उसी प्रकार वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त के विषय में कहना चाहिए।

२४. एवं जाव वेमाणियस्स आणापाणुपोग्गलपरियट्टा। एए एगत्तिया सत्त दंडगा भवंति।

[२४] इसी प्रकार (प्रत्येक नैरयिक से लेकर) यावत् प्रत्येक वैमानिक के (अतीत-कालिक तैजसपुद्गलपरिवर्त्त से लेकर) आन-प्राण-श्वासोच्छ्वास पुद्गलपरिवर्त्त तक (की वक्तव्यता कहनी चाहिए।) इस प्रकार प्रत्येक नैरयिक से वैमानिक तक प्रत्येक जीव की अपेक्षा से ये सात दण्डक होते हैं।

२५ [१] नेरइयाणं भंते ! केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता ?

अणंता।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! (समुच्चय) नैरयिकों के अतीतकालीन औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[२५-१ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हुए हैं।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ?

अणंता।

अणंता।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! (समुच्चय) नैरयिक जीवों के भविष्यत्कालीन पुद्गलपरिवर्त्त कितने होंगे ?

[२५-२ उ.] गौतम ! (वे भी) अनन्त होंगे।

२६. एवं जाव वेमाणियाणं।

[२३] इसी प्रकार (समुच्चय असुरकुमारों से लेकर समुच्चय) वैमानिकों तक (के अतीतकालीन एवं भविष्यत्कालीन पुद्गलपरिवर्त्त) के विषय में (कथन करना चाहिए।)

२७. एवं वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा वि। एवं जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टा वेमाणियाणं। एवं एए पोहत्तिया सत्त चउवीसतिदंडगा।

[२७] इसी प्रकार (समुच्चय नैरयिकों से ले कर समुच्चय वैमानिकों तक के) वैक्रियपुद्गलपरिवर्त्त के विषय में कहना चाहिए। इसी प्रकार (तैजस-पुद्गलपरिवर्त्त से लेकर) यावत् आन-प्राण-पुद्गलपरिवर्त्त तक की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

इस प्रकार पृथक्-पृथक् सातों पुद्गलपरिवर्त्तों के विषय में सात आलापक तथा समुच्चय रूप से चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के विषय में चौवीस आलापक कहने चाहिए।

विवेचन—पुद्गलपरिवर्त्त के सम्बन्ध में प्ररूपणा—प्रस्तुत १० सूत्रों (सू. १८ से २७ तक) में जीवों के सप्तविधपुद्गल परिवर्त्त के समबन्ध में चर्चा की गई है।

तीन पहलुओं से पुद्गलपरिवर्त्त की चर्चा—प्रस्तुत में तीन पहलुओं से पुद्गलपरिवर्त्तसम्बन्धी प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है—(१) प्रत्येक जीव की दृष्टि से, प्रत्येक नैरयिक आदि से वैमानिक जीव तक की दृष्टि से और समुच्चय नैरयिकों से वैमानिकों तक की दृष्टि से, (२) अतीतकालीन एवं अनागतकालीन, (३) औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त से लेकर आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त तक।[१]

अतीत पुद्गलपरिवर्त्त अनन्त कैसे ?—प्रत्येक जीव या प्रत्येक नैरयिकादि जीव के अतीतकालसम्बन्धी औदारिक आदि पुद्गलपरिवर्त्त अनन्त हैं, क्योंकि अतीतकाल अनादि है और जीव भी अनादि है तथा भिन्न-भिन्न पुद्गलों को ग्रहण करने का उनका स्वभाव भी अनादि है।[२]

अनागत पुद्गलपरिवर्त्त—भविष्यत्कालिक पुद्गलपरिवर्त्त दूरभव्य या अभव्य जीव के तो होते ही रहेंगे, किन्तु जो जीव नरकादि गति से निकल कर मनुष्य भव पा कर सिद्धि प्राप्त कर लेगा, अथवा जो संख्यात या असंख्यात भवों में सिद्धि को प्राप्त करेगा, उसके पुद्गलपरिवर्त्त नहीं होगा। जिसका संसारपरिभ्रमण अधिक होगा, वह एक या अनेक पुद्गलपरिवर्त्त करेगा, परन्तु वह एक पुद्गलपरिवर्त्त भी अनेक काल में पूरा होगा।[३]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), ५८२, ५८३
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ५६८
३. वही, पत्र ५६८

भविष्यत्कालीन। **एकत्तिया**—एक जीवसम्बन्धी या एकवचन सम्बन्धी। **पुहुत्तिया**—बहुवचनसम्बन्धी।[१]

एकत्व और बहुत्व सम्बन्धी दण्डक—एकवचन सम्बन्धी औदारिकादि सात प्रकार के पुद्गल-परिवर्त्त होने से, सात दण्डक (विकल्प) होते हैं। इन सात दण्डकों को नैरयिकादि चौवीस दण्डकों में कहना चाहिए और इसी प्रकार बहुवचन से भी कहना चाहिए। एकवचन और बहुवचन-सम्बन्धी दण्डकों में अन्तर यह है कि एक-वचन सम्बन्धी दण्डकों में भविष्यत्कालीन पुद्गलपरिवर्त्त किसी जीव के होते हैं और किसी जीव के नहीं होते। बहुवचनसम्बन्धी दण्डकों में तो होते ही हैं, क्योंकि उनमें जीवसामान्य का ग्रहण है।[२]

एकत्व दृष्टि से चौवीस दण्डकों में चौवीस दण्डकवर्ती जीवत्व के रूप में अतीतादि सप्तविध पुद्गलपरिवर्त्त-प्ररूपणा

२८. [१] एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीया ?

नत्थि एक्को वि।

[२८-१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक जीव के, नैरयिक अवस्था में अतीत (भूतकालीन) औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[२८-१ उ.] गौतम ! एक भी नहीं हुआ।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ?

नत्थि एक्को वि।

[२८-२ प्र.] भगवन् ! भविष्यत्कालीन (औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त) कितने होंगे ?

[२८-२ उ.] गौतम ! एक भी नहीं होगा।

२९. [१] एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा० ?

एवं चेव।

[२९-१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक जीव के, असुरकुमाररूप में अतीत औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[२९-१ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववक्तव्यतानुसार) जानना चाहिए।

[१] एवं जाव थणियकुमारत्ते।

[२९-२] इसी प्रकार (नागकुमार से लेकर) स्तनितकुमार तक कहना चाहिए।

३०. [१] एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स पुढविकाइयत्ते केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६८

२. वही, पत्र ५६८

अतीया ?

अणंता।

[३०-१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक जीव के पृथ्वीकाय के रूप में अतीत में औदारिकपुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए ?

[३०-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ?

कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि। जस्सऽत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[३०-२ प्र.] भगवन् ! भविष्य में कितने होंगे ?

[३०-२ उ.] किसी के होंगे, और किसी के नहीं होंगे। जिसके होंगे, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होंगे।

३१. एवं जाव मणुस्सत्ते।

[३१] इसी प्रकार (अप्कायत्व से लेकर) यावत् मनुष्य भव तक कहना चाहिए।

३२. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियत्ते जहा असुरकुमारत्ते।

[३२] जिस प्रकार असुकुमारपन के विषय में कहा, उसी प्रकार वाणव्यन्तरपन, ज्योतिष्कपन तथा वैमानिकपन के विषय में कहना चाहिए।

३३. एगमेगस्स णं भंते ? असुरकुमारस्स नेरइयत्ते केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीया ?

एवं जहा नेरइयस्स वत्तव्वया भणिया तहा असुरकुमारस्स वि भाणियव्वा जाव वेमाणियत्ते।

[३३ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक असुरकुमार के नैरयिक भव में अतीत औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[३३ उ.] गौतम! जिस प्रकार (प्रत्येक) नैरयिक जीव की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार (प्रत्येक) असुरकुमार के विषय में यावत् वैमानिक भव-पर्यन्त कहना चाहिए।

३४. एवं जाव थणियकुमारस्स। एवं पुढविकाइयस्स वि। एवं जाव वेमाणियस्स। सव्वेसिं एक्को गमो।

[३४] इसी प्रकार (प्रत्येक असुरकुमार के समान नागकुमार से लेकर प्रत्येक) स्तनितकुमार तक कहना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक पृथ्वीकाय के विषय में भी (पृथ्वीकाय से लेकर) यावत् वैमानिक पर्यन्त सबका एक (समान) आलापक (गम) कहना चाहिए।

३५. [१] एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवतिया वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा अतीया ?

अणंता।

[३५-१ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक जीव के नैरयिक भव में अतीतकालीन वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[२५-१ उ.] गौतम ! (ऐसे वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त) अनन्त हुए हैं।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ?

एक्कुत्तरिया जाव अणंता वा।

[३५-२ प्र.] भगवन् ! भविष्यकालीन (वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त) कितने होंगे ?

[३५-२ उ.] गौतम ! (किसी के होंगे और किसी के नहीं होंगे। जिनके होंगे उनके) एक से लेकर (१, २, ३) उत्तरोत्तर उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा यावत् अनन्त होंगे।

३६. एवं जाव थणियकुमारत्ते।

[३६] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार भव तक कहना चाहिए।

३७. [१] पुढविकाइयत्ते पुच्छा। नत्थि एक्को वि।

[३७-१ प्र.] (भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक जीव के) पृथ्वीकायिक भव में (अतीत में वैक्रिय पुद्गलपरिवर्त्त) कितने हुए ?

[३७-१ उ.] (गौतम !) एक भी नहीं हुआ।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ? नत्थि एक्को वि।

[३७-२ प्र.] (भगवन् !) भविष्यत्काल में (ये) कितने होंगे ?

[३७-२ उ.] गौतम ! एक भी नहीं होगा।

३८. एवं जत्थ वेउव्वियसरीरं तत्थ एगुत्तरिओ, जत्थ नत्थि तत्थ जहा पुढविकाइयत्ते तहा भाणियव्वं जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते।

[३८] इस प्रकार जहाँ वैक्रियशरीर है, वहाँ एक से लेकर उत्तरोत्तर (अनन्त तक), (वैक्रिय पुद्गलपरिवर्त्त जानना चाहिए।) जहाँ वैक्रियशरीर नहीं है वहाँ (प्रत्येक नैरयिक के) पृथ्वीकायभव में (वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त के विषय में) कहा, उसी प्रकार यावत् (प्रत्येक) वैमानिक जीव के वैमानिक भव पर्यन्त कहना चाहिए।

३९. तेयापोग्गलपरियट्टा कम्मापोग्गलपरियट्टा य सव्वत्थ एक्कुत्तरिया भाणियव्वा। मणपोग्गलपरियट्टा सव्वेसु पंचेंदिएसु एगुत्तरिया। विमलिंदिएसु नत्थि। वइपोग्गलपरियट्टा एवं चेव, नवरं एगिंदिएसु 'नत्थि' भाणियव्वा। आणापाणुपोग्गलपरियट्टा सव्वत्थ एकुत्तरिया जाव वेमाणियस्स

वेमाणियत्ते।

[३९] तैजस-पुद्गलपरिवर्त्त और कार्मण-पुद्गलपरिवर्त्त सर्वत्र (चौवीस ही दण्डकवर्ती जीवों में) एक से लेकर उत्तरोत्तर अनन्त तक कहने चाहिए। मन:पुद्गलपरिवर्त्त समस्त पंचेन्द्रिय जीवों में एक से लेकर उत्तरोत्तर यावत् अनन्त तक कहने चाहिए। किन्तु विकलेन्द्रियों (द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय वाले जीवों) में मनः-पुद्गलपरिवर्त्त नहीं होता। इसी प्रकार (मनः-पुद्गलपरिवर्त्त के समान) वचन-पुद्गलपरिवर्त्त के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए। विशेष (अन्तर) इतना ही है कि वह (वचन-पुद्गलपरिवर्त्त) एकेन्द्रिय जीवों में नहीं होता। आन-प्राण (श्वासोच्छ्वास)-पुद्गलपरिवर्त्त भी सर्वत्र (सभी जीवों में) एक से लेकर अनन्त तक जानना चाहिए। (ऐसा ही कथन) यावत् वैमानिक के वैमानिक भव तक कहना चहिए।

विवेचन—प्रस्तुत बारह सूत्रों (सू. २८ से ३९ तक) में प्रत्येक वर्तमानकालिक नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के अतीत-अनागत नैरयिकत्वादि रूप के सप्तविध पुद्गलपरिवर्त्तों की संख्या का निरूपण किया गया है।

वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त—एक-एक नैरयिक जीव के नैरयिक भव में रहते हुए अनन्त वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त अतीत में हुए हैं, तथा भविष्यत्काल में किसी के होंगे किसी के नहीं। जिसके होंगे, उसके जघन्य एक, दो, तीन औरं उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होंगे।

इसके अतिरिक्त वायुकाय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और व्यन्तरादि में से जिन-जिन में वैक्रिय-शरीर है उन-उनके वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त एकोत्तरिक (अर्थात् एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त तक) कहना चाहिए। जहाँ अप्कायिक आदि प्रत्येक जीवों में वैक्रियशरीर नहीं है, वहाँ वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त भी नहीं होता।[१]

तैजस-कार्मण-परिवर्त्त—तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं। इसलिए नारकादि चौवीस दण्डकवर्ती सभी जीवों में तैजस-कार्मण-पुद्गलपरिवर्त्त अतीत और भविष्यत्काल में एक से लेकर उत्तरोत्तर अनन्त तक कहने चाहिए।[२]

मनः-पुद्गलपरिवर्त्त कहाँ और कहाँ नहीं ?—मन संज्ञी पंचेन्द्रियों के होता है, इसलिए पंचेन्द्रिय जीवों में एक से लेकर अनन्त तक मन:पुद्गलपरिवर्त्त होते हैं, हुए हैं, होंगे। किन्तु जिनमें इन्द्रियों की परिपूर्णता नहीं है, उन विकलेन्द्रिय (एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के) जीवों में मन का अभाव है, इसलिए उनमें मन:पुद्गल-परिवर्त्त नहीं होता। विकलेन्द्रिय शब्द से यहाँ एकेन्द्रिय का भी ग्रहण होता है।

वचन-पुद्गलपरिवर्त्त—एकेन्द्रिय जीवों के वचन नहीं होता, इसलिए उन्हें छोड़ कर शेष समस्त संसारी जीवों के (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव) के वचन पुद्गलपरिवर्त्त पूर्ववत्

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६९

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०४१

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६९

होते हैं।[१]

आण-प्राण-पुद्गलपरिवर्त्त—श्वासोच्छ्वास एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी जीवों के होता है, इसलिए आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त सभी जीवों में एक से लेकर अनन्त तक होता है।[२]

बहुत्व की अपेक्षा से नैरयिकादि जीवों के नैरयिकत्वादिरूप में अतीत-अनागत सप्तविध पुद्गल-परिवर्त्त निरूपण

४०. [१] नेरइयाणं भंते ! नेरइयत्ते केवतिया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीया ?

नत्थेक्को वि।

[४०-१ प्र.] भगवन् ! अनेक नैरयिक जीवों के नैरयिक भव में अतीतकालिक औदारिकपुद्गलपरिवर्त्त कितने हुए हैं ?

[४०-१ उ.] गौतम ! एक भी नहीं हुआ।

[२] केवइया पुरेक्खडा ?

नत्थेक्को वि।

[४०-२ प्र.] भगवन् ! (अनेक नैरयिक जीवों के नैरयिक भव में) भविष्य में कितने (औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त) होंगे ?

[४०-२ उ.] गौतम ! भविष्य में एक भी नहीं होगा।

४१. एवं जाव थणियकुमारत्ते।

[४१] इसी प्रकार (अनेक नैरयिक जीवों के असुरकुमार भव से लेकर) यावत् स्तनितकुमार भव तक (कहना चाहिए।)

४२. [१] पुढविकाइयत्ते पुच्छा ?

अणंता।

[४२-१ प्र.] भगवन् ! अनेक नैरयिक जीवों के पृथ्वीकायिकपन में (अतीतकालिक औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त) कितने हुए हैं।

[४२-१ उ.] गौतम ! अनन्त हुए हैं।

[२] केवतिया पुरेक्खडा ?

अणंता।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६९

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ५८५

[४२-२ प्र.] भगवन् ! (अनेक नैरयिकों के पृथ्वीकायिकपन में) भविष्य में (औदारिक-पुद्गल-परिवर्त्त) कितने होंगे ?

[४२-२ उ.] गौतम ! अनन्त होंगे।

४३. एवं जाव मणुस्सत्ते।

[४३] जिस प्रकार अनेक नैरयिकों के पृथ्वीकायिकपन में अतीत-अनागत औदारिक-पुद्गल परिवर्त्त के विषय में कहा है, उसी प्रकार यावत् मनुष्यभव तक कहना चाहिए।

४४. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियत्ते जहा नेरइयत्ते।

[४४] जिस प्रकार अनेक नैरयिकों के नैरयिकभव में अतीत-अनागत औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त के विषय में कहा है, उसी प्रकार उनके वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव के भव में भी कहना चाहिए।

४५. एवं जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते ।

[४५] (अनेक नैरयिकों के वैमानिक भव तक का औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त-विषयक कथन किया) उसी प्रकार यावत् अनेक वैमानिकों के वैमानिक भव तक (कथन करना चाहिए)।

४६. एवं सत्त वि पोग्गलपरियट्टा भाणियव्वा। जत्थ अत्थि तत्थ अतीता वि, पुरेक्खडा वि अणंता भाणियव्वा। जत्थ नत्थि तत्थ दो वि 'नत्थि' भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं वेमाणयित्ते केवतिया आणापाणुपोग्गलपरियट्टा अतीया ? अणंता। केवतिया पुरेक्खडा ? अणंता।

[४६] जिस प्रकार औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त के विषय में कहा, उसी प्रकार शेष सातों पुद्गलपरिवर्त्तों का कथन कहना चाहिए। जहाँ जो पुद्गलपरिवर्त्त हो, वहाँ उसके अतीत (भूतकालिक) और पुरस्कृत (भविष्यकालीन) पुद्गलपरिवर्त्त अनन्त-अनन्त कहने चाहिए। जहाँ नहीं हों, वहाँ अतीत और पुरस्कृत (अनागत) दोनों नहीं कहने चाहिए। यावत्—(प्रश्न) 'भगवन् ! अनेक वैमानिकों के वैमानिक भव में कितने आन-प्राण-पुद्गलपरिवर्त्त (अतीत में) हुए ? (उत्तर—) गौतम ! अनन्त हुए हैं। (प्रश्न—) 'भगवन् ! आगे (भविष्य में) कितने होंगे ?' (उत्तर—) 'गौतम ! अनन्त होंगे।'—यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सात सूत्रों में (सू. ४० से ४६ तक) अनेक नैरयिकों से लेकर अनेक वैमानिकों (चौवीस दण्डकों) तक नैरयिकभव से लेकर वैमानिकभव तक में अतीत-अनागत सप्तविधपुद्गल-परिवर्त्तों की संख्या का निरूपण किया गया है। पूर्वसूत्रों में एकत्व की अपेक्षा से प्रतिपादन था, इन सूत्रों में बहुत्व की अपेक्षा से कथन है। शेष सब का अतिदेशपूर्वक कथन किया गया है।

कठिन शब्दार्थ—एगुत्तरिया—एक से लेकर उत्तरोत्तर संख्यात, असंख्यात या अनन्त तक। **नेरइयत्ते**—नैरयिक के रूप में अर्थात् नारक के भव में—नैरयिक पर्याय में।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६९

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०३८

४७. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई 'ओरालियपोग्गलपरियट्टे, ओरालियपोग्गलपरियट्टे ?'

गोयमा ! जं णं जीवेणं ओरालियसरीरे वट्टमाणेणं ओरालियसरीरपायोग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गहियाइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं परियाइयाइं परिणामियाइं निज्जिण्णाइं निसिरियाइं निसिट्ठाइं भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ 'ओरालियपोग्गलपरियट्टे, ओरालियपोग्गलपरियट्टे।'

[४७ प्र.] भगवन् ! यह औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त, औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त किसलिए कहा जाता है ?

[४७ उ.] गौतम ! औदारिकशरीर में रहते हुए जीव ने औदारिकशरीर योग्य द्रव्यों को औदारिकशरीर के रूप में ग्रहण किये हैं, बद्ध किये हैं (अर्थात्—जीव प्रदेश के साथ एकमेक किये हैं) (शरीर पर रेणु के समान) स्पृष्ट किये हैं; (अथवा अपर-अपर ग्रहण करके उन्हें) पोषित किये हैं; उन्हें (पूर्वपरिणामापेक्षया परिणामान्तर) किया है; उन्हें प्रस्थापित (स्थिर) किया है; (स्वयं जीव ने) निविष्ट (स्थापित) किये हैं, अभिनिविष्ट (जीव के साथ सर्वथा संलग्न) किये हैं; अभिसमन्वागत (जीव ने रसानुभूति का आश्रय लेकर सबको समाप्त) किया है। (जीव ने रसग्रहण द्वारा सभी अवयवों से उन्हें) पर्याप्त कर लिये हैं। परिणामित (रसानुभूति से ही परिणामान्तर प्राप्त) कराये हैं, निर्जीर्ण (क्षीण रस वाले) किये हैं, (जीव प्रदेशों से उन्हें) निःसृत (पृथक्) किये हैं, (जीव के द्वारा) निःसृष्ट (अपने प्रदेशों से परित्यक्त) किये हैं।

हे गौतम ! इसी कारण से औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कहलाता है।

४८. एवं वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे वि, नवरं वेउव्वियसरीरे वट्टमाणेणं वेउव्वियसरीरपायोग्गाइं दव्वाइं वेउव्वियसरीरत्ताए०। सेसं तं चेव सव्वं।

[४८] इसी प्रकार (पूर्वोक्तवत्) वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त के विषय में भी कहना चाहिए। परन्तु इतना विशेष है कि जीव ने वैक्रियशरीर में रहते हुए वैक्रियशरीर योग्य द्रव्यों को वैक्रियशरीर के रूप में ग्रहण किये हैं, इत्यादि शेष सब कथन पूर्ववत् कहना चाहिए।

४९. एवं जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टे, नवरं आणापाणुपायोग्गाइं सव्वदव्वाइं आणापाणुत्ताए०। सेसं तं चेव।

[४९] इसी प्रकार (तैजस, कार्मण से लेकर) यावत् आन-प्राण-पुद्गलपरिवर्त्त तक कहना चाहिए। विशेष यह है कि आन-प्राण-योग्य समस्त द्रव्यों को आन-प्राण रूप से जीव ने ग्रहण किये हैं, इत्यादि (सब कथन करना चाहिए। शेष सब कथन भी पूर्ववत् जानना चाहिए)।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (४७) में औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कहलाने के १३ कारणों पर प्रकाश डालते हुए १३ प्रक्रियाएँ बताई गई हैं—(१) गृहीत, (२) बद्ध, (३) स्पृष्ट या पुष्ट, (४) कृत, (५) प्रस्थापित, (६) निविष्ट, (७) अभिनिविष्ट, (८) अभिसमन्वागत, (९) पर्याप्त, (१०) परिणामित, (११) निर्जीण, (१२) निःसृत और (१३) निःसृष्ट। इन तेरह प्रक्रियाओं में से औदारिक शरीर योग्य द्रव्यों के गुजरने के कारण ही वह

औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कहलाता है। इन सब का भावार्थ कोष्ठक में दे दिया है। इनमें से प्रथम (गहियाइं बद्धाइं आदि) चार, क्रियापद औदारिक पुद्गलों के ग्रहणविषयक हैं, तदनन्तर पांच क्रियापद (पट्ठवियाइं आदि) स्थितिविषयक हैं। इनसे आगे के 'परिणामियाइं' आदि चार पद औदारिक पुद्गलों के आत्मप्रदेशों से पृथक् करने के विषय में हैं।

औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त के समान ही अन्य सभी पुद्गलपरिवर्त्तों की प्रक्रियाएं हैं, वहाँ केवल 'नाम' बदल जाता है, शेष सब कथन समान है।[१]

सप्तविध पुद्गलपरिवर्त्तों का निर्वर्त्तनाकालनिरूपण

५०. ओरालियपोग्गलपरियट्टे णं भंते ! केवतिकालस्स निव्वत्तिज्जति ?

गोयमा ! अणंताहिं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहिं, एवतिकालस्स निव्वत्तिज्जइ।

[५० प्र.] भगवन् ! औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त कितने काल में निर्वर्त्तित—निष्पन्न होता है ?

[५० उ.] गौतम ! (औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त) अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल में निष्पन्न होता है।

५१. एवं वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे वि।

[५१] इसी प्रकार (पूर्ववत्) वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त का निष्पत्तिकाल जानना चाहिए।

५२. एवं जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टे।

[५२] इसी प्रकार (औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल के समान ही शेष पांच पुद्गलपरिवर्त्त) यावत् आन-प्राण-पुद्गलपरिवर्त्त (का निष्पत्तिकाल जानना चाहिए।)

विवेचन—सप्तविध पुद्गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल इतना क्यों ?—औदारिक आदि सातों ही पुद्गलपरिवर्त्तों में से प्रत्येक पुद्गलपरिवर्त्त अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल में निष्पन्न होता है, उसका कारण यह है कि पुद्गल अनन्त हैं और उसका ग्राहक एक ही जीव होता है तथा किसी भी पुद्गलपरिवर्त्त में पूर्वगृहीत पुद्गलों की गणना नहीं की जाती है।[२]

निव्वत्तिज्जइ : अर्थ—निवर्तित-निष्पन्न-परिपूर्ण होता है।[३]

सप्तविध पुद्गल-परिवर्तों के निष्पत्तिकाल का अल्प-बहुत्व

५३. एतस्स णं भंते ! ओरालियपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणाकालस्स, वेउव्वियपोग्गलपरियट्ट-निव्वत्तणाकालस्स, जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणाकालस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५६९-५७०

(ख) भगवती सूत्र (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २०४२

(ग) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ५८६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७०

३. भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २०४३

गोयमा ! सव्वत्थोवे कम्मगपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणकाले, तेयपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, ओरालियपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, आणापाणुपोग्गलपरियट्ट-निव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, मणपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, वइपोग्गलपरियट्ट-निव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, वेउव्वियपोग्गलपरियट्टनिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे।

[५३. प्र.] भगवन् ! औदारिक-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तना (निष्पत्ति) काल, वैक्रिय-पुद्‌गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तना-काल यावत् आन-प्राण-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तनाकाल, इन (सातों) में से कौन सा (निष्पत्ति—) काल, किस काल से अल्प यावत् विशेषाधिक है ?

[५३ उ.] गौतम ! सबसे थोड़ा कार्मण-पुद्‌गलपरिवर्त्त का निर्वर्त्तना (-निष्पत्ति) काल है। उससे तैजस-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तनाकाल अनन्तगुणा (अधिक) है। उससे औदारिक-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तनाकाल अनन्तगुणा है और उससे आन-प्राण-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तनाकाल अनन्तगुणा है। उससे मनः-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तनाकाल अनन्तगुणा है। उससे वचन-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निर्वर्त्तनाकाल अनन्तगुणा है और उससे वैक्रिय-पुद्‌गलपरिवर्त्त का निर्वर्त्तनाकाल अनन्तगुणा है।

विवेचन—सप्तविध पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल में अन्तर का कारण—कार्मण-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल सबसे थोड़ा इसलिए है कि कार्मणपुद्‌गल सूक्ष्म होते हैं और बहुत से परमाणुओं से निष्पन्न होते हैं। इसलिए वे एक ही बार में बहुत-से ग्रहण किये जाते हैं तथा नारक आदि सभी गतियों में वर्तमान जीव प्रति समय उन्हें ग्रहण करता रहता है। इसलिए स्वल्प-काल में ही उन सभी पुद्‌गलों का ग्रहण हो जाता है। उससे तैजस-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है, क्योंकि तैजसपुद्‌गल स्थूल होने के कारण एक बार में अल्प पुद्‌गलों का ग्रहण होता है। अल्पप्रदेशों से निष्पन्न होने के कारण उनके अल्प अणुओं का ग्रहण होता है। इसलिए कार्मण से तैजस-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है। उससे औदारिक-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है क्योंकि औदारिकपुद्‌गल अत्यन्त स्थूल होते हैं। इसलिए उनमें से एक बार में अल्प का ही ग्रहण होता है। और फिर उनके प्रदेश भी अल्पतर हैं। अतः उनके ग्रहण करने में, एक समय में अल्प अणु ही गृहीत होते हैं तथा वे कार्मण और तैजस पुद्‌गलों की तरह सर्व संसारी जीवों द्वारा निरन्तर गृहीत नहीं होते, किन्तु केवल औदारिकशरीरधारियों द्वारा ही उनका ग्रहण होता है । इसलिए बहुत लम्बे काल में उनका ग्रहण होता है। उससे आन-प्राण-पुद्‌गल-परिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है। यद्यपि औदारिकपुद्‌गलों से आन-प्राणपुद्‌गल सूक्ष्म और बहुप्रदेशी होते हैं, इसलिए उनका ग्रहण अल्पकाल में हो सकता है, तथापि अपर्याप्त-अवस्था में उनका ग्रहण न होने से तथा पर्याप्त-अवस्था में भी औदारिकशरीर-पुद्‌गलों की अपेक्षा अल्प-परिमाण में उनका ग्रहण होने से, उनका शीघ्र ग्रहण नहीं होता। इसलिए औदारिक-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल से आन-प्राण-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है। उससे मनःपुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है। यद्यपि आनप्राणपुद्‌गलों की अपेक्षा मनःपुद्‌गल सूक्ष्म और बहुप्रदेशी होते हैं, इस कारण अल्पकाल में ही उनका ग्रहण सम्भव है, तथापि एकेन्द्रियादि की कायस्थिति बहुत दीर्घकालीन है। उनमें चले जाने पर मन की प्राप्ति चिरकाल के बाद होती है, इसलिए मनःपुद्‌गल-परिवर्त्त दीर्घकाल साध्य होने से मनः-पुद्‌गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल उससे अनन्तगुणा कहा गया है।

उससे वचन-पुद्गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा हैं। यद्यपि मन की अपेक्षा वचन शीघ्र प्राप्त होता है तथा द्वीन्द्रियादि अवस्था में भी वचन होता है। तथापि मनोद्रव्यों की अपेक्षा भाषाद्रव्य अत्यन्त स्थूल होते हैं, इसलिए एक बार उनका अल्पपरिमाण में ही ग्रहण होता है। अतः मनःपुद्गल-परिवर्त्त-निष्पत्तिकाल से वाक्-पुद्गलपरिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है। इससे वैक्रिय-पुद्गल-परिवर्त्त-निष्पत्तिकाल अनन्तगुणा है, क्योंकि वैक्रियशरीर बहुत दीर्घकाल में प्राप्त होता है।[१]

सप्तविध पुद्गलपरिवर्तों का अल्पबहुत्व

५४. एएसि णं भंते ! ओरालियपोग्गलपरियट्टाणं जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा, वइपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, मणपोग्गल-परियट्टा अणंतगुणा, आणापाणुपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, औरालियपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, तेयापोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, कम्मगपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं जाव विहरइ ।

॥ बारसमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-४॥

[५४ प्र.] भगवन् ! औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त (से लेकर), आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त में कौन पुद्गलपरिवर्त्त किससे अल्प यावत् विशेषाधिक है ?

[५४ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त हैं। उनसे वचन-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे होते हैं, उनसे मनःपुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे हैं, उनसे आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे हैं, उनसे औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे हैं, उनसे तैजस-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे हैं, और उनसे भी कार्मण-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर भगवान् गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—पुद्गलपरिवर्त्तों के अल्पबहुत्व का कारण—इन सप्तविध पुद्गलपरिवर्त्तों में सबसे थोड़े वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त हैं, क्योंकि वे बहुत दीर्घकाल में निष्पन्न होते हैं। उनसे वचन-पुद्गलपरिवर्त्त अनन्तगुणे हैं, क्योंकि वे अल्पतर काल में ही निष्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार पूर्वोक्त युक्ति से बहुत, बहुतर आदि क्रम से आगे-आगे के पुद्गलपरिवर्त्तों का अल्पबहुत्व कह देना चाहिए।[२]

॥ बारहवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७०

पंचमो उद्देसओ : अतिवात

पंचम उद्देशक : अतिपात

प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-प्ररूपणा

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

२. अह भंते ! पाणातिवाए मुसावाए आदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे, एस णं कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे चउफासे पन्नत्ते।

[२ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह; ये (सब) कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श वाले कहे हैं ?

[२ उ.] गौतम ! (ये) पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और चार स्पर्श वाले कहे हैं।

३. अह भंते ! कोहे कोवे रोसे दोसे अखमा संजलणे कलहे चंडिक्के भंडणे विवादे, एस णं कतिवण्णे जाव कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे चउफासे पन्नत्ते ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्रोध, कोप, रोष, दोष (द्वेष), अक्षमा, संज्वलन, कलह, चाण्डिक्य, भण्डन और विवाद—ये (सभी) कितने वर्ण गन्ध रस और स्पर्श वाले कहे हैं ?

[३ उ.] गौतम ! ये (सब) पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाले कहे हैं।

४. अह भंते ! माणे मदे दप्पे थंभे गव्वे अत्तुक्कोसे परपरिवाए उक्कासे अवक्कासे उन्नए उन्नामे दुन्नामे, एस णं कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचवण्णे जहा कोहे तहेव।

[४ प्र.] भगवन् ! मान, मद, दर्प, स्तम्भ, गर्व, अत्युत्क्रोश, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत, उन्नाम और दुर्नाम—ये (सब) कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श वाले कहे हैं ?

[४ उ.] गौतम ! ये (सब) पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस एवं चार स्पर्श वाले (पूर्ववत्) कहे हैं।

५. अह भंते ! माया उवही नियडी वलये गहणे णूमे कक्के कुरूए जिम्हे किब्बिसे आयरणता गूहणया वंचणया पलिउंचणया सातिजोगे, एस णं कतिवण्णे कतिगंधे कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचवण्णे जहेव कोहे।

[५ प्र.] भगवन् ! माया, उपधि, निकृति, वलय, गहन, नूम, कल्क, कुरूपा, जिह्मता, किल्विष आदरण

(आचरणता), गूहनता, वञ्चनता, प्रतिकुञ्चनता, और सातियोग—इन (सब) में कितने वर्ण गन्ध रस और स्पर्श हैं ?

[५ उ.] गोयमा ! ये सब क्रोध के समान पांच वर्ण आदि वाले हैं।

६. अह भंते ! लोभे इच्छा मुच्छा कंखा गेही तण्हा भिज्झा अभिज्झा आसासणता पत्थणता लालप्पणता कामासा भोगासा जीवियासा मरणासा नंदिरागे, एस णं कतिवण्णे ?

जहेव कोहे ।

[६ प्र.] भगवन् ! लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, काँक्षा, गृद्धि, तृष्णा भिध्या, अभिध्या, आशंसनता, प्रार्थनता, लालपनता, कामाशा, भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा और नन्दिराग,—ये (सब) कितने वर्ण गन्ध रस और स्पर्श वाले कहे हैं ?

[६ उ.] गौतम ! (इन सभी का कथन) क्रोध के समान (जानना चाहिए।)

७. अह भंते ! पेज्जे दोसे कलहे जाव[1] मिच्छादंसणसल्ले, एस णं कतिवण्णे० ?

जहेव कोहे तहेव जाव चउफासे।

[७ प्र.] भगवन् ! प्रेम-राग, द्वेष, कलह, यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य, इन (सब पापस्थानों) में कितने वर्ण आदि हैं ?

[७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार क्रोध के लिए कथन किया था उसी प्रकार इनमें भी चार स्पर्श हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—अठारह पापस्थानों में वर्णादि—प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (१ से ७ तक) में प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापस्थानों में वर्ण गन्ध रस और स्पर्श की प्ररूपणा की गई है।

प्राणातिपात आदि की व्याख्या—प्राणातिपात—जीव हिंसा से जनित कर्म अथवा जीवहिंसा का जनक चारित्रमोहनीय कर्म भी उपचार से प्राणातिपात कहलाता है। **मृषावाद**—क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश असत्य, अप्रिय, अहितकर विघातक वचन कहना है। **अदत्तादान**—स्वामी की अनुमति, इच्छा या सम्मति के बिना कुछ भी लेना अदत्तादान (चौर्य) है। विषयवासना से प्रेरित स्त्री-पुरुष के संयोग को मैथुन कहते हैं। धन, कांचन, मकान आदि बाह्य परिग्रह है और ममता-मूर्च्छा आदि आभ्यन्तर परिग्रहण। ये पांचों पाप पुद्गल रूप हैं, इसलिए इनमें पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, और चार स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष,, शीत और उष्ण) होते हैं।

क्रोध और उसके पर्यायवाची शब्दों के विशेषार्थ—क्रोध रूप परिणाम को उत्पन्न करने वाले कर्म को क्रोध कहते हैं। यहाँ क्रोध एक सामान्य नाम है, उसके दस पर्यायवाची शब्द हैं। उनके विशेषार्थ इस प्रकार हैं—(२) **कोप**—क्रोध के उदय से अपने स्वभाव से चलित होना। (३) **रोष**—क्रोध की परम्परा। (४) **दोष**—अपने आपको और दूसरों को दोष देना, अथवा द्वेष—अप्रीति करना। (५) **अक्षमा**—दूसरे के द्वारा

---

१. 'जाव' पद यहाँ 'अब्भक्खाणे पेसुन्ने अरइरई परपरिवारए मायामोसे' आदि पदों का सूचक है।

किये हुए अपराध को सहन नहीं करना। (६) **संज्वलन**—बार बार क्रोध से प्रज्वलित होना। (७) **कलह**—वाक्-युद्ध करना, परस्पर अनुचित शब्द बोलना। (७) **चाण्डिक्य**—रौद्ररूप धारण करना। (९) **भण्डन**—दण्ड आदि से परस्पर लड़ाई करना। (१०) **विवाद**—परस्पर विरोधी बात कहकर झगड़ा या विवाद करना। क्रोधादि में पूर्ववत् वर्णादि पाए जाते हैं।

मान और उसके समानार्थक बारह नामों के विशेषार्थ—(१) **मान**—अपने आपको दूसरों से उत्कृष्ट समझना अथवा अभिमान के परिणाम का जनक कषाय मान कहलाता है। (२) **मद**—जाति आदि का दर्प या अहंकार करना, हर्षावेश में उन्मत्त होना। (३) **दर्प**- (दृप्तता) घमण्ड में चूर होना। (४) **स्तम्भ**—नम्र न होना, स्तम्भवत् कठोर बने रहना। (५) **गर्व**—अहंकार। (६) **अत्युत्क्रोश**—स्वयं को दूसरे से उत्कृष्ट मानना या बताना। (७) **परपरिवाद**—परनिन्दा करके अपनी ऊँचाई की डींगें हाँकना, अथवा **परपरिपात**—दूसरों को लोगों की दृष्टि में गिराना या उच्चगुणों से पतित करना। (८) **उत्कर्ष**—क्रिया से अपने आपको उत्कृष्ट मानना; अथवा अभिमानपूर्वक अपनी समृद्धि, शक्ति, क्षमता, विभूति आदि प्रकट करना। (९) **अपकर्ष**—अपने से दूसरे को तुच्छ बताना, अभिमान से अपना या दूसरों का अपकर्ष करना, (१०) **उन्नत**—नमन से दूर रहना, अभिमानपूर्वक तने रहना—अक्खड़ रहना। अथवा **उन्नय**—अभिमान से नीति-न्याय का त्याग करना। (११) **उन्नाय**—वन्दनयोग्य पुरुष को भी वन्दन न करना, अथवा अपने को नमन करने वाले पुरुष के प्रति मदवश उपेक्षा करना—सद्भाव न रखना। और (१२) **दुर्नाम**—वन्द्य पुरुष को अभिमानवश बुरे ढंग से वन्दन-नमन करना। स्तम्भादि सभी मान के कार्य हैं अथवा मानवाचक शब्द हैं।

माया और उसके एकार्थक शब्दों का विशेषार्थ—(१) **माया**—छल-कपट करना, (२) **उपधि**—किसी को ठगने के लिए उसके समीप जाने का दुर्भाव करना, (३) **निकृति**—किसी के प्रति आदर-सम्मान बताकर फिर उसे ठगना; अथवा पूर्वकृत मायाचार को छिपाने के लिए दूसरी माया करना। (४) **वलय**—वलय की तरह गोल-गोल (वक्र) वचन कहना या अपने चक्कर में फंसाना, वाग्जाल में फंसाना। (५) **गहन**—दूसरे को मूढ़ बनाने के लिए गूढ (गहन) वचन का जाल रचना। अथवा दूसरे की समझ में न आए, ऐसे गहन (गूढ) अर्थ वाले शब्द-प्रयोग करना। (६) **नूम**—दूसरों को ठगने के लिए नीचता का या निम्नस्थान का आश्रय लेना। (७) **क़ल्क**—कल्क अर्थात् हिंसारूप पाप, उस पाप के निमित्त से वंचना करने का अभिप्राय भी कल्क है। (८) **कुरूपा**—कुत्सित रूप से मोह उत्पन्न करके ठगने की प्रवृत्ति। (९) **जिह्मता**—कुटिलता, दूसरे को ठगने की नीयत से क्रियामन्दता या वक्रता अपनाना। (१०) **किल्विष**—मायाविशेषपूर्वक किल्विषिता अपनाना, किल्विषी जैसी प्रवृत्ति करना। (११) **आदरणता**—(आचरणता) मायाचार से किसी का आदर करना, अथवा किसी वस्तु या वेष को अपनाना, अथवा दूसरों को ठगने के लिए विविध क्रियाओं का आचरण करना। (१२) **गूहनता**—अपने स्वरूप को गूहन करना—छिपाना। (१३) **वंचनता**—दूसरों को ठगना। (१४) **प्रतिकुञ्चनता**—सरलभाव से कहे हुए वाक्य का खण्डन करना या विपरीत अर्थ लगाना और (१५) **सातियोग**—अविश्वासपूर्ण सम्बन्ध अथवा उत्कृष्ट द्रव्य के साथ निकृष्ट द्रव्य का संयोग कर देना। ये सभी माया के पर्यायवाचक शब्द हैं।

लोभ और उसके समानार्थक शब्दों का विशेषार्थ—(१) **लोभ**—यह लोभ कषाय का वाचक

सामान्य नाम है, ममत्व को लोभ कहते हैं। इच्छा आदि उसके विशेष प्रकार हैं। (२) **इच्छा**—वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा। (३) **मूर्च्छा**—प्राप्त वस्तु की रक्षा की निरन्तर चिन्ता करना। (४) **कांक्षा**—अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की लालसा। (५) **गृद्धि**—प्राप्त वस्तु के लिए आसक्ति। (६) **तृष्णा**—प्राप्त पदार्थ का व्यय या वियोग न हो, ऐसी इच्छा। (७) **भिध्या**—विषयों का ध्यान (चित्त को एकाग्र) करना। (८) **अभिध्या**—चित्त की व्यग्रता-चंचलता। (९) **आशंसना**—अपने पुत्र या शिष्य को यह ऐसा हो जाए, इत्यादि प्रकार का आशीर्वाद या अभीष्ट पदार्थ की अभिलाषा। (१०) **प्रार्थना**—दूसरों से इष्ट पदार्थ की याचना करना, (११) **लालपनता**—विशेष रूप से बोल-बोल कर प्रार्थना करना, (१२) **कामाशा**—इष्ट शब्द और इष्ट रूप को पाने की आशा। (१३) **भोगाशा**—इष्ट गन्ध आदि को पाने की वाञ्छा। (१४) **जीविताशा**—जीन की लालसा। (१५) **मरणाशा**—विपत्ति या अत्यन्त दु:ख आ पड़ने पर मरने की इच्छा करना और (१६) **नन्दिराग**—विद्यमान अभीष्ट वस्तु या समृद्धि होने पर रागभाव यानी हर्ष या ममत्व भाव करना। अथवा—नन्दी अर्थात्—वांछित अर्थ की प्राप्ति के प्रति राग अर्थात्—ममत्व होना।

प्रेय आदि शेष पापस्थानों के विशेषार्थ—प्रेय—पुत्रादिविषयक स्नेह—राग। **द्वेष**—अप्रीति। **कलह**—राग या हास्यादिवश उत्पन्न हुआ क्लेश या वाग्युद्ध। **अभ्याख्यान**—मिथ्या दोषारोपण करना, झूठा कलंक लगाना, अविद्यमान दोषों का प्रकट रूप से आरोपण करना। **पैशुन्य**—पीठ पीछे किसी की निन्दा-चुगली करना। **परपरिवाद**—दूसरों को बदनाम करना या दूसरे की बुराई करना। **अरति-रति**—मोहनीयकर्मोदयवश प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर चित्त में अरुचि, घृणा या उद्वेग होना अरति है और अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर चित्त में हर्ष रूप परिणाम उत्पन्न होना रति है। **मायामृषा**—कपटसहित झूठ बोलना, दम्भ करना। **मिथ्यादर्शनशल्य**—शल्य—तीखे कांटे की तरह सदा चुभने—कष्ट देने वाला मिथ्यादर्शन-शल्य अर्थात्—श्रद्धा की विपरीतता। शरीर में चुभे हुए शल्य की तरह, आत्मा में चुभा हुआ मिथ्यादर्शनशल्य भी कष्ट देता है।

प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के अठारह पाप-स्थान पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और चार स्पर्श वाले हैं।[१]

अठारह पापस्थान-विरमण में वर्णादि का अभाव

८. अह भंते ! पाणातिवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे, कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, एस णं कतिवण्णे जाव कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे पन्नत्ते।

[८ प्र.] भगवन्! प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह-विरमण तथा क्रोधविवेक यावत् मिथ्यादर्शन-शल्यविवेक, इन सबमें कितने वर्ण, कितने गन्ध कितने रस और कितने स्पर्श कहे हैं ?

[८ उ.] गौतम ! (ये सभी) वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित और स्पर्शरहित कहे हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७२, ५७३

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २०४९-२०५०

विवेचन—प्राणातिपातादि-विरमण और क्रोधादिविवेक वर्णादिरहित क्यों—प्राणातिपातादि-विरमण और क्रोधादि-विवेक, ये सभी जीव के उपयोग-स्वरूप हैं; और जीवोपयोग अमूर्त्त है। जीव और जीवोपयोग के अमूर्त्त होने से अठारह पापस्थानों से विरमण भी अमूर्त्त है। इसलिए वह वर्णादि-रहित है।[1]

चार बुद्धि, अवग्रहादि चार, उत्थानादि पांच के विषय में वर्णादि-प्ररूपणा

९. अह भंते ! उप्पत्तिया वेणइया कम्मया पारिणामिया, एस णं कतिवण्णा० ?

तं चेव जाव अफासा पन्नत्ता ।

[९ प्र.] भगवन् ! औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी बुद्धि कितने वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श वाली हैं ?

[७ उ.] गौतम ! (ये चारों) वर्ण गन्ध रस और स्पर्श से रहित हैं।

१०. अह भंते ! उग्गहे ईहा अवाये धारणा, एस णं कतिवण्णा० ?

एवं चेव जाव अफासा पन्नत्ता।

[१० प्र.] भगवन् ! अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श कहे हैं ?

[१० उ.] गौतम ! (ये चारों) वर्ण यावत् स्पर्श से रहित कहे हैं।

११. अह भंते ! उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे, एस णं कतिवण्णे० ?

तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते।

[११ प्र.] भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम, इन सबमें कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हैं ?

[११ उ.] गौतम ! ये सभ पूर्ववत् वर्णादि यावत् स्पर्श से रहित कहे हैं।

विवेचन—औत्पत्तिकी बुद्धि आदि वर्णादिरहित क्यों—औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियाँ, अवग्रहादि चार (मतिज्ञान के प्रकार) एवं उत्थानादि पांच, ये सभी जीव के उपयोगविशेष हैं, इस कारण अमूर्त होने से वर्ण गन्ध, रस और स्पर्श से रहित हैं।[2]

औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों का स्वरूप—औत्पत्तिकी—शास्त्र, सत्कर्म एवं अभ्यास के बिना, अथवा पदार्थों को पहले देखे, सुने और सोचे बिना ही उन्हें ग्रहण करके जो स्वत: सहसा उत्पन्न होती है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है। यद्यपि औत्पत्तिकी बुद्धि में क्षयोपशम कारण है, किन्तु वह अन्तरंग होने से सभी बुद्धियों में सामान्यरूप से कारण है, इसलिए इनमें उसकी विवक्षा नहीं की गई है। **वैनयिकी**—विनय—(गुरुभक्ति-शुश्रुषा आदि) से प्राप्त होने वाली बुद्धि। **कार्मिकी**—कर्म अर्थात्—सतत अभ्यास और विवेक से विस्तृत होने वाली बुद्धि। **पारिणाामिक**—अतिदीर्घकाल तक पदार्थों को देखने आदि से, दीर्घकालिक अनुभव से, परिपक्क

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७३

वय होने से उत्पन्न होने वाला आत्मा का धर्म परिणाम कहलाता है। उस परिणाम के निमित्त से होने वाली बुद्धि पारिणामिकी है। अर्थात्—वयोवृद्ध व्यक्ति को अतिदीर्घकाल तक संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धिविशेष परिणामिकी है।[१]

अवग्रहादि चारों का स्वरूप—अवग्रह—इन्द्रिय और पदार्थ के योग्यस्थान में रहने पर सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन (निराकार ज्ञान) के पश्चात् होने वाले तथा अवान्तर सत्ता सहित वस्तु के सर्वप्रथम ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। **ईहा**—अवग्रह से जाने हुए पदार्थ के विषय में उत्पन्न हुए संशय को दूर करते हुए विशेष की जिज्ञासा को ईहा कहते हैं। **अवाय**—ईहा से जाने हुए पदार्थों में निश्चयात्मक ज्ञान होना अवाय है। **धारणा**—अवाय से जाने हुए पदार्थों का ज्ञान इतना सुदृढ हो जाए कि कालान्तर में भी उसकी विस्मृति न हो तो उसे धारणा कहते हैं।[२]

उत्थानादि पांच का विशेषार्थ—उत्थानादि—पांच वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जीव के परिणामविशेषों को उत्थानादि कहते हैं। ये सभी जीव के पराक्रमविशेष हैं। **उत्थान**—प्रारम्भिक पराक्रम विशेष। **कर्म**—भ्रमणादि क्रिया, जीव का पराक्रमविशेष। **बल**—शारीरिक पराक्रम या सामर्थ्य। **वीर्य**—शक्ति, जीवप्रभाव अर्थात्—आत्मिक शक्ति। **पुरुषकार पराक्रम**—प्रबल पुरुषार्थ, स्वाभिमानपूर्वक किया हुआ पराक्रम।[३]

अवकाशान्तर, तनुवात-घनवात-घनोदधि, पृथ्वी आदि के विषय में वर्णादिप्ररूपणा

१२. सत्तमे णं भंते ! ओवासंतेरे कतिवण्णे०?

एवं चेव जाव अफासे पन्नत्ते।

[१२ प्र.] भगवन् ! सप्तम अवकाशान्तर कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला है ?

[१२ उ.] गौतम ! वह वर्ण यावत् स्पर्श से रहित है।

१३. सत्तमे णं भंते ! तणुवाए कतिवण्णे० ?

जहा पाणातिवाए (सु. २) नवरं अट्ठफासे पन्नत्ते।

[१३ प्र.] भगवन् ! सप्तम तनुवात कितने वर्णादि वाला है ?

[१३ उ.] गौतम ! इसका कथन (सू. २ में उक्त) प्राणातिपात के समान करना चाहिए। विशेष यह है कि यह आठ स्पर्श वाला है।

१४. एवं जहा सत्तमे तणुवाए तहा सत्तमे घणवाए घणोदधी, पुढवी।

[१४] जिस प्रकार सप्तम तनुवात के विषय में कहा है, उसी प्रकार सप्तम घनवात, घनोदधि एवं सप्तम

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७४

२. प्रमाणनयतत्त्वालोक।

३. (क) पाइअसद्दमहण्णवो (ख) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. १०, पृ. १७६

पृथ्वी के विषय में कहना चाहिए।

१५. छट्ठे ओवासंतरे अव्वणे।

[१५] छठा अवकाशान्तर वर्णादि रहित है।

१६. तणुवाय जाव छट्ठा पुढवी, एयाइं अट्ठ फासाइं।

[१६] छठा तनुवात, घनवात, घनोदधि और छठी पृथ्वी, ये सब आठ स्पर्श वाले हैं।

१७. एवं जहा सत्तमाए पुढवीए वत्तव्वया भणिया तहा जाव पढमाए पुढवीए भाणियव्वं।

[१७] जिस प्रकार सातवीं पृथ्वी की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार प्रथम पृथ्वी तक जानना चाहिए।

१८. जंबुद्दीवे जाव[1] सयंभुरमणे समुद्दे सोहम्मे कप्पे जाव[2] ईसिपब्भारा पुढवी, नेरइयावास जाव[3] वेमाणियावास, एयाणि सव्वाणि अट्ठफासाणि।

[१८] जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक, सौधर्मकल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक, नैरयिकावास से लेकर वैमानिकवास तक सब आठ स्पर्श वाले हैं।

विवेचन—सप्तम अवकाशान्तर से वैमानिकवास तक में वर्णादिप्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. १२ से १८ तक) में सप्तम अवकाशान्तर, सप्तम तनुवात, सप्तम घनवात, सप्तम घनोदधि, सप्तम पृथ्वी, छठा अवकाशान्तर, छठा तनुवात-घनवात-घनोदधि, छठी पृथ्वी, तथा पंचम-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीय-प्रथम नरकपृथ्वी एवं जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक, सौधर्म देवलोक से लेकर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक और नैरयिकावास से लेकर वैमानिक वास तक में वर्णादि की प्ररूपणा की गई है।[4]

'अवकाशान्तर' आदि पारिभाषिक शब्दों का स्वरूप—प्रथम और द्वितीय नरकपृथ्वी के अन्तराल (बीच) में जो आकाशखण्ड है, वह 'प्रथम अवकाशान्तर' कहलाता है। इस अपेक्षा से सप्तम नरक-पृथ्वी से नीचे का 'आकाशखण्ड' सप्तम अवकाशान्तर है। उसके ऊपर सप्तम तनुवात है, उसके ऊपर सातवाँ घनवात है और उसके ऊपर सातवाँ घनोदधि है और सातवें घनोदधि से ऊपर सप्तम नरकपृथ्वी है। इसी क्रम से प्रथम नरकपृथ्वी तक जानना चाहिए।[5]

अवकाशान्तर जितने भी हैं, वे आकाश रूप हैं और आकाश अमूर्त होने से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित है। तनुवात, घनवात, घनोदधि एवं नरकपृथ्वी आदि पौद्गलिक होने से मूर्त हैं। अतएव वे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं और बादरपरिणाम वाले होने से इनमें शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-कठिन,

---

१. 'जाव' पद लवणमसुद्र आदि पदों का सूचक है।

२. यहाँ 'जाव' पद असुरकुमारवास आदि तथा भवन, नगर, विमान तथा तिर्यग्लोक में स्थित नगरियों का सूचक है।

३. 'जाव' पद से ईशान सनत्कुमार, ब्रह्मलोक, माहेन्द्र, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्रानत, आरण और अच्युत, नव ग्रैवेयक, पांच अनुत्तर विमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी समझना चाहिए।

४. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ५८९

५. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७४

हल्का-भारी, ये आठों ही स्पर्श पाए जाते हैं।[1]

'उवासंतरे' : **अर्थ**—अवकाशान्तर।[2]

चौवीस दण्डकों में वर्णादि प्ररूपणा

१९. नेरइया णं भंते ! कतिवण्णा जाव कतिफासा पन्नत्ता।

गोयमा ! वेउव्विय-तेयाइं पडुच्च पंचवण्णा पंचरसा दुगंधा अट्ठफासा पन्नत्ता। कम्मगं पडुच्च पंचवण्णा पंचरसा दुगंधा चउफासा पन्नत्ता। जीवं पडुच्च अवण्णा जाव अफासा पन्नत्ता।

[१९ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों में कितने वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श कहे हैं ?

[१९ उ.] गौतम ! वैक्रिय और तैजस पुद्गलों की अपेक्षा से उनमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श कहे हैं। कार्मणपुद्गलों की अपेक्षा से पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श कहे हैं। जीव की अपेक्षा से वे वर्णरहित यावत् स्पर्शरहित कहे हैं।

२०. एवं जाव थणियकुमारा।

[२०] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

२१. पुढविकाइया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओरालिय-तेयगाइं पडुच्च पंचवण्णा जाव अट्ठफासा पन्नत्ता, कम्मगं पडुच्च जहा नेरइयाणं, जीवं पडुच्च तहेव।

[२१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं?

[२१ उ.] गौतम ! औदारिक और तैजस पुद्गलों की अपेक्षा पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले कहे हैं। कार्मण की अपेक्षा और जीव की अपेक्षा, पूर्ववत् (नैरयिकों के कथन के समान) जानना चाहिए।

२२. एवं जाव चउरिंदिया, नवरं वाउकाइया ओरालिए-वेउव्वियतेयगाइं पडुच्च पंचवण्णा जाव अट्ठफासा पन्नत्ता। सेसं जहा नेरइयाणं।

[२२] इसी प्रकार (अप्काय, से लेकर) चतुरिन्द्रिय तक जानना चाहिए। परन्तु इतनी विशेषता है कि वायुकायिक, औदारिक, वैक्रिय और तैजस पुद्गलों की अपेक्षा पांच वर्ण पांच रस दो गन्ध और आठ स्पर्श वाले कहे हैं। शेष (के विषय में) नैरयिकों के समान जानना चाहिए।

२३. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा वाउकाइया।

[२३] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों का कथन भी वायुकायिकों के समान जानना चाहिए।

२४. मणुस्सा णं० पुच्छा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७४

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०५४

ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेयगाइं पडुच्च पंचवण्णा जाव अट्ठफासा पन्नत्ता। कम्मगं जीवं च पडुच्च जहा नेरइयाणं।

[२४ प्र.] भगवन् ! मनुष्य कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस पुद्गलों की अपेक्षा (मनुष्य) पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाले कहे हैं। कार्मणपुद्गल और जीव की अपेक्षा से नैरयिकों के समान (कथन करना चाहिए)

२५. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरइया।

[२५] वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिकों के विषय में भी नैरयिकों के समान कथन करना चाहिए।

विवेचन—नारक आदि अष्टस्पर्श, चतुःस्पर्श और वर्णादि से रहित क्यों ?—नारक आदि तथा मनुष्य, पंचेन्द्रियतिर्यंच, जो भी औदारिक, वैक्रिय, तैजस या आहारकशरीर वाले हैं, वे पांच वर्ण, दो गन्ध तथा पांच रस वाले हैं, तथा अष्टस्पर्शी हैं, क्योंकि ये चारों शरीर बादर-परिणाम वाले पुद्गल हैं अतः बादर होने से ये अष्टस्पर्शी होते हैं तथा कार्मण सूक्ष्म परिणाम-पुद्गल रूप होने से चतुःस्पर्शी हैं। जीव (आत्मा) में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है।[१] अतएव वह वर्णादिशून्य है।

धर्मास्तिकाय से लेकर अद्धाकाल तक में वर्णादिप्ररूपणा

२६. धम्मत्थिकाए जाव[२] पोग्गलत्थिकाए, एए सव्वे अवण्णा, नवरं पोग्गलत्थिकाए पंचवण्णे पंचरसे, दुगंधे अट्ठफासे पन्नत्ते।

[२६] धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय आदि सब (अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और काल) वर्णादि से रहित हैं। विशेष यह है कि पुद्गलास्तिकाय में पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श कहे हैं।

२७. नाणावरणिज्जे जाव अंतराइए, एयाणि चउफासाणि।

[२७] ज्ञानावरणीय (से लेकर) अन्तराय कर्म तक आठों कर्म, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और चार स्पर्श वाले कहे हैं।

२८. कण्हलेसा णं भंते ! कइवण्णा० पुच्छा ?

दव्वलेसं पडुच्च पंचवण्णा जाव अट्ठफासा पन्नत्ता। भावलेसं पडुच्च अवण्णा अरसा अगंधा अफासा।

[२८ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या में कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श कहे हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से उसमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श कहे हैं और भावलेश्या की अपेक्षा से वह वर्णादि रहित है।

२९. एवं जाव सुक्कलेस्सा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७४

२. जाव पद से अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए इत्यादि पाठ समझना चाहिए।

[२९.] इसी प्रकार (नील, कपोत, पीत और पद्मलेश्या) शुक्ललेश्या तक जानना चाहिए।

३०. सम्मद्दिट्ठि-मिच्छादिट्ठि-सम्मामिच्छादिट्ठी, चक्खुदंसणे अचक्खुदंसणे ओहिदंसणे केवलदंसणे आभिनिबोहियनाणे जाव विभंगनाणे, अहारसण्णा जाव, परिग्गहसण्णा, एयाणि अवण्णाणि अरसाणि अंगधाणि अफासाणि।

[३०] सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि, तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, आभिनिबोधिकज्ञान (से लेकर श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और) विभंगज्ञान (तक एवं) आहारसंज्ञा (भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा) यावत् परिग्रहसंज्ञा, ये सब वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित और स्पर्शरहित हैं।

३१. ओरालियसरीरे जाव तेयगसरीरे, एयाणि अट्ठफासाणि। कम्मगसरीरे चउफासे। मणजोगे वइजोगे य चउफासे। कायजोगे अट्ठफासे।

[३१] औदारिक शरीर (वैक्रियशरीर, आहारकशरीर) यावत् तैजसशरीर, ये अष्टस्पर्श वाले हैं। कार्मणशरीर, मनोयोग और वचनयोग, ये चार स्पर्श वाले हैं। काययोग अष्टस्पर्श वाला है।

३२. सागारोवयोगे य अणागारोवयोगे य अवण्णा०।

[३२] साकार-उपयोग और अनाकारोपयोग, ये दोनों वर्णादि से रहित हैं।

३३. सव्वदव्वा णं भंते ! कतिवण्णा० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिया सव्वदव्वा पंचवण्णा जाव अट्ठफासा पन्नत्ता। अत्थेगतिया सव्वदव्वा पंचवण्णा जाव चउफासा पन्नत्ता। अत्थेगतिया सव्वदव्वा एगवण्णा एगगंधा एगरसा दुफासा पन्नत्ता। अत्थेगतिया सव्वदव्वा अवण्णा जाव अफासा पन्नत्ता।

[३३. प्र.] भगवन् ! सभी द्रव्य कितने वर्णादि वाले हैं ?

[३३ उ.] गौतम ! सर्वद्रव्यों में से कितने ही पांच वर्ण यावत् (पांच रस, दो गन्ध और) आठ स्पर्श वाले हैं। सर्वद्रव्यों में से कितने ही पांच वर्ण यावत् (पांच रस, दो गन्ध और) चार स्पर्श वाले हैं। सर्वद्रव्यों में से कुछ (द्रव्य) एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श वाले हैं। सर्वद्रव्यों में से कई वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित हैं।

३४. एवं सव्वपएसा वि, सव्वपज्जवा वि।

[३४] इसी प्रकार (सर्वद्रव्य के समान) सभी प्रदेश और समस्त पर्यायों के विषय में भी उपर्युक्त विकल्पों का कथन करना चाहिए।

३५. तीयद्धा अवण्णा जाव अफासा पन्नत्ता। एवं अणागयद्धा वि। एवं सव्वद्धा वि।

[३५] अतीतकाल (अद्धा) वर्ण रहित यावत् स्पर्शरहित कहा गया है। इसी प्रकार अनागत-काल भी और समस्त काल (अद्धा) भी वर्णादिरहित हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, भावलेश्याएँ तथा सम्यग्दृष्टि

से लेकर परिग्रहसंज्ञा तक, साकार-निराकार उपयोग एवं अतीत-अनागत आदि सब काल, सर्वद्रव्यों में कितने ही (धर्मास्तिकायादि) द्रव्य, उनके (अमूर्त्तद्रव्य के) प्रदेश तथा पर्याय वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित समझना चाहिए, क्योंकि ये सब अमूर्त तथा जीवपरिणाम हैं।[1]

पुद्गलास्तिकाय में वर्णादिप्ररूपणा—पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—बादर और सूक्ष्म। पुद्गल मूर्त हैं। बादर पुद्गल पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले होते हैं। सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और चार स्पर्श वाले होते हैं। परमाणु-पुद्गल एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्शवाला होता है। दो स्पर्श इस प्रकार हैं—स्निग्ध और उष्ण, या स्निग्ध और शीत अथवा रूक्ष और उष्ण, या रूक्ष और शीत।[2]

लेश्या में वर्णादि की प्ररूपणा—लेश्या दो प्रकार की हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या बादर पुद्गल-परिणाम रूप होने से पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाली होती है। भावलेश्या जीव के आन्तरिक परिणाम रूप होती है। जीव के परिणाम अमूर्त होते हैं। इसलिए वह वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श रहित होती है।[3]

प्रदेश और पर्याय : परिभाषा—द्रव्य के निर्विभाग अंश को 'प्रदेश' कहते हैं और द्रव्य के धर्म को 'पर्याय' कहते हैं मूर्त द्रव्यों के प्रदेश और परमाणु उन्हीं के समान वर्ण, गन्ध रस और स्पर्शयुक्त होते हैं, जबकि अमूर्त द्रव्यों के प्रदेश और परमाणु उन्हीं द्रव्यों के समान वर्णादिरहित होते हैं।[4]

कालः वर्णादिरहित—अतीत और अनागत तथा सर्वकाल ये अमूर्त होने से वर्णादिरहित होते हैं।

चतुःस्पर्शी, अष्टस्पर्शी और अरूपी—सर्वत्र चतुःस्पर्शी होने में सूक्ष्म-परिणाम पुद्गलद्रव्य कारण है, और अष्टस्पर्शी होने में बादर-परिणाम पुद्गल द्रव्य कारण है, तथा अमूर्त (अरूपी) वस्तु वर्णादि से रहित होती है। यथा **चतुःस्पर्शी**—१८ पापस्थानक, ८ कर्म, कार्मणशरीर, मनोयोग, वचनयोग और सूक्ष्म पुद्गलास्तिकाय का स्कन्ध, ये ३० प्रकार के स्कन्ध, वर्णादि से यावत् शीत उष्ण स्निग्ध और रूक्ष इन चार स्पर्शों से युक्त होते हैं। अष्टस्पर्शी—६ द्रव्यलेश्या, ४ शरीर, घनोदधि घनवात, तनुवात, काययोग और बादर पुद्गलास्तिकाय का स्कन्ध, इन १५ प्रकार के स्कन्धों में वर्णादि यावत् आठों ही स्पर्श होते हैं। **वर्णादिरहित**—अठारह पापों से विरति, १२ उपयोग, षट् भावलेश्या, धर्मास्तिकायादि ५ द्रव्य, ४ बुद्धि, ४ अवग्रहादि, तीन दृष्टि, उत्थानादि ५ शक्ति और चार संज्ञा, इन ६१ में वर्णादि नहीं पाये जाते, क्योंकि ये सभी अमूर्त एवं अरूपी होते हैं।[5]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ५८९-५९०
२. (क) कारणमेव तदंत्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरस-वर्ण-गन्धो द्विस्पर्श : कार्यालिंगश्च॥
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७४
(ग) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २०५८
३ (क) भगवती. वृत्ति, पत्र ५७४
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०५८
४. 'द्रव्यस्य निर्विभागा अंशाः प्रदेशाः, पर्यायस्तु धर्माः।' —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७४
५. भगवती (हिन्दी विवेचन) भा. ४ पृ. २०५८

गर्भ में आगमन के समय जीव में वर्णादिप्ररूपणा

३६. जीवे ण भंते ! गब्भं वक्कममाणे कतिवण्णं कतिगंधं कतिरसं कतिफासं परिणामं परिणमति ?

गोयमा ! पंचवण्णं दुगंधं पंचरसं अट्ठफासं परिणामं परिणमति।

[३६ प्र.] भगवन् ! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव, पांच वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला होता है ?

[३६ उ.] गौतम ! (गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव) पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ-स्पर्श वाले परिणाम से परिणत होता है।

विवेचन—गर्भ में प्रवेश करता हुआ जीव—शरीरयुक्त होता है। इसलिए वह अन्य शरीरवत् पंचवर्णादि वाला होता है।

कर्मों से जीव का विविध रूपों में परिणमन

३७. कम्मतो णं भंते ! जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मतो णं जए, नो अकम्मतो विभत्तिभावं परिणमइ ?

हंता, गोयमा ! कम्मतो णं० तं चेव जाव परिणमइ, नो अकम्मतो विभत्तिभावं परिणमइ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ बारसमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-५ ॥

[३७ प्र.] भगवन् ! क्या जीव कर्मों से ही मनुष्य-तिर्यञ्च आदि विविध रूपों को प्राप्त होता है, कर्मों के विना नहीं ? तथा क्या जगत् कर्मों से विविध रूपों को प्राप्त होता है, बिना कर्मों के प्राप्त नहीं होता है।

[३७ उ.] गौतम ! कर्म से जीव और जगत् (जीवों का समूह) विविध रूपों को प्राप्त होता है, किन्तु, कर्म के विना ये विविध रूपों को प्राप्त नहीं होते।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवान् ! यह इसी प्रकार है' यों कहकर गौतम स्वामी, यावत् विचरते हैं।

विवेचन—कर्म के विना जीव नाना परिणाम वाला नहीं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव भवों में जीव जो विभक्तिभाव (विभाग रूप नानारूप) भाव (परिणाम) को प्राप्त होता है, वह कर्म के विना नहीं हो सकता। कर्मों के उदय से ही जीव विविध रूपों को प्राप्त होता है। सुख-दुःख, सम्पन्नता-विपन्नता, जन्म-मरण, रोग-शोक, संयोग-वियोग आदि परिणामों को जीव स्वकृत कर्मों के उदय से ही भोगता है।[१]

जगत् का अर्थ है जीवसमूह या जंगम।[२]

॥ बारहवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

○○○

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७५

२. "जगत्-जीवसमूहो, जीवद्रव्यस्यैव वा विशेषो जंगमाभिधानो,जगन्ति जंगमान्यहुरिति वचनात्।" —वही, पत्र ५६५

छट्ठो उद्देसओ : राहू

छठा उद्देशक : राहू द्वारा चन्द्र का ग्रहण (ग्रसन)

राहु : स्वरूप, नाम और विमानों के वर्ण तथा उनके द्वारा चन्द्रग्रसन के भ्रम का निराकरण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् गौतम स्वामी ने (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार प्रश्न किया —

२. बहुजणे णं भंते ! अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव एवं परूवेइ 'एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ, एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ' से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं से बहुजणे अन्नमन्नस्स जाव मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव एवं परूवेमि—

''एवं खलु राहू देवे महिड्डीए जाव महेसक्खे वरवत्थधरे वरमल्लधरे वरगंधधरे वराभरणधारी।

''राहुस्स णं देवस्स नव नामधेज्जा पन्नत्ता, तं तहा—सिंघाडए १ जडिलए २ खत्तए ३ खरए ४ दद्दुरे ५ मगरे ६ मच्छे कच्छभे ८ कण्हसप्पे ९।

''राहुस्स णं देवस्स विमाणा पंचवण्णा पण्णत्ता, तं जहा—किण्हा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किला। अत्थि कालए राहुविमाणे खंजणवण्णाभे, अत्थि नीलए राहुविमाणे लाउयवण्णाभे, अत्थि लोहिए राहुविमाणे मंजिट्ठवण्णाभे, अत्थि पीतए राहुविमाणे हालिद्दवण्णाभे पण्णत्ते, अत्थि सुक्किलए राहुविमाणे भासरासिवण्णाभे पण्णत्ते।

जदा णं राहु आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेसं पुरत्थिमेणं आवरेत्ताणं पच्चत्थिमेणं वीतीवयति तदा णं पुरत्थिमेणं चंदे उवदंसेति, उच्चत्थिमेणं राहू। जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदस्सलेसं पच्चत्थिमेणं आवरेत्ताणं पुरत्थिमेणं वीतीवयति तदा णं पच्चत्थिमेणं चंदे उवदंसेति, पुरत्थिमेणं राहू। एवं जहा पुरत्थिमेणं पच्चत्थिमेणं य दो आलावगा भणिया एवं दाहिणेण उत्तरेण य दो आलावगा भाणियव्वा। एवं उत्तर-पुत्थिमेणं दाहिणपच्चत्थिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा, दाहिणपुरत्थिमेणं उत्तरपच्चत्थिमेणं य दो आलावगा भाणियवा। एवं चेव जाव तदा णं उत्तरपच्चत्थिमेणं चंदे उवदंसेति, दाहिणपुरत्थिमेणं राहू।

जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं आवरेमाणे आवरेमाणे चिट्ठति तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति—एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ, एवं खलु राहू चंदं गेण्हइ।

जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदस्स लेस्सं आवरेत्ताणं पासेणं वीईवयइ तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति—एवं खलु चंदेणं राहुस्स कुच्छी भिन्ना, एवं खलु चंदेणं राहुस्स कुच्छी भिन्ना।

जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदस्स लेस्सं आवरेत्ताणं पच्चोसक्कइ तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति—एवं खलु राहुणा चंदे वंते, एवं खलु राहुणा चंदे वंते।

जया णं राहू आगच्छमाणे वा ४ चंदलेस्सं आवरेत्ताणं मज्झंमज्झेणं वीतीवयति तदा णं मणुस्सा वदंति—राहुणा चंदे वतिचरिए, राहुणा चंदे वतिचरिए।

जदा णं राहू आगच्छमाणे वा जाव परियारेमाणे वा चंदेलेस्सं अहे सपक्खिं सपडिदिसिं आवरेत्ताणं चिट्ठति तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति—एवं खलु राहुणा चन्दे घत्थे, एवं खलु राहुणा चंदे घत्थे।

[२ प्र.] भगवन् ! बहुत से मनुष्य परस्पर इस प्रकार कहते हैं, यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि निश्चित ही राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है, तो हे भगवन् ! क्या यह ऐसा ही है ?

[२ उ.] गौतम ! यह जो बहुत-से लोग परस्पर इस प्रकार कहते हैं, यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि राहु चन्द्रमा को ग्रसता है, वे मिथ्या कहते हैं। मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ—

''यह निश्चय है कि राहु महर्द्धिक यावत् महासौख्यसम्पन्न उत्तम वस्त्रधारी, श्रेष्ठ माला का धारक, उत्कृष्ट सुगन्ध-धर और उत्तम आभूषणधारी देव है।''

राहु देव के नौ नाम कहे हैं—(१) शृंगाटक, (२) जटिलक, (३) क्षत्रक, (४) खर, (५) दर्दुर, (६) मकर, (७) मत्स्य, (८) कच्छप और (९) कृष्णसर्प।

राहुदेव के विमान पांच वर्ण (रंग) के कहे हैं—(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला और (५) श्वेत। इनमें से राहु का जो काला विमान है, वह खंजन (काजल) के समान कान्ति (आभा) वाला है। राहुदेव का जो नीला (हरा) विमान है, वह हरी तुम्बी के समान कान्ति वाला है। राहु का जो लोहित (लाल) विमान है, वह मजीठ के समान प्रभा वाला है। राहु का जो पीला विमान है, वह हल्दी के समान वर्ण वाला है और राहु का जो शुक्ल (श्वेत) विमान है, वह भस्मराशि (राख के ढेर) के समान कान्ति वाला है।

जब गमन-आगमन कर हुआ, विकुर्वणा (विक्रिया) करता हुआ तथा कामक्रीडा करता हुआ राहुदेव, पूर्व में स्थित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (लेश्या) को ढक (आवृत) कर पश्चिम की ओर चला जाता है; तब चन्द्रमा पूर्व में दिखाई देता है और पश्चिम में राहु दिखाई देता है। जब आता हुआ या जाता हुआ, अथवा विक्रिया करता हुआ या कामक्रीडा करता हुआ राहु, चन्द्रमा की दीप्ति को पश्चिमदिशा में आच्छादित करके पूर्वदिशा की ओर चला जाता है; तब चन्द्रमा पश्चिम में दिखाई देता है और राहु पूर्व में दिखाई देता है।

जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम के दो आलापक कहे हैं, उसी प्रकार दक्षिण और उत्तर के दो आलापक

कहने चाहिये।

इसी प्रकार उत्तर-पूर्व (ईशानकोण) और दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्यकोण) के दो आलापक कहने चाहिए, और इसी प्रकार दक्षिण-पूर्व (आग्नेयकोण) एवं उत्तर-पश्चिम (वायव्यकोण) के दो आलापक कहने चाहिए।

इसी प्रकार जब आता हुआ या जाता हुआ, अथवा विक्रिया करता हुआ या कामक्रीडा (परिचारणा) करता हुआ राहु, बार-बार चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को आवृत करता रहता है, तब मनुष्य लोक में मनुष्य कहते हैं—'राहु ने चन्द्रमा को ऐसे ग्रस लिया, राहु इस प्रकार चन्द्रमा को ग्रस रहा है।'

जब आता हुआ या जाता हुआ, अथवा विक्रिया करता हुआ या कामक्रीडा करता हुआ राहु चन्द्रद्युति को आच्छादित करके पास से होकर निकलता है, तब मनुष्यलोक में मनुष्य कहते हैं—'चन्द्रमा ने राहु की कुक्षि का भेदन कर डाला, इस प्रकार चन्द्रमा ने राहु की कुक्षि का भेदन कर डाला।'

जब आता हुआ या जाता हुआ, अथवा विक्रिया करता हुआ या कामक्रीडा करता हुआ राहु, चन्द्रमा की प्रभा (लेश्या) को आवृत करके वापस लौटता है, तब मनुष्यलोक में मनुष्य कहते हैं—'राहु ने चन्द्रमा का वमन कर दिया, राहु ने चन्द्रमा का वमन कर दिया।'

[जब आता हुआ या जाता हुआ, अथवा विकुर्वणा करता हुआ या परिचारणा करता हुआ राहु, चन्द्रमा के प्रकाश को ढँक कर मध्य-मध्य में से होकर निकलता है, तब मनुष्य कहने लगते हैं—राहु ने चन्द्रमा का अतिभक्षण (या अतिक्रमण) कर लिया, राहु ने चन्द्रमा का अतिभक्षण (अतिक्रमण) कर लिया।]

जब आता हुआ या जाता हुआ, अथवा विकुर्वणा करता हुआ या कामक्रीडा करता हुआ राहु, चन्द्रमा की दीप्ति (लेश्या) को नीचे से, (चारों) दिशाओं एवं (चारों) विदिशाओं से ढँक कर रहता है, तब मनुष्यलोक में मनुष्य कहते हैं—'राहु ने इसी प्रकार चन्द्रमा को ग्रसित कर लिया है, राहु ने यों चन्द्रमा को ग्रसित कर लिया है।'

विवेचन—राहु : स्वरूप, नाम और वर्ण—प्रस्तुत दो सूत्रों में राहु के स्वरूप का, उसके नौ नामों और उसके विमान के पांच वर्णों का प्रतिपादन किया गया है।

राहु द्वारा चन्द्रग्रसन की लोकभ्रान्तियों का निराकरण—(१) जब राहु पूर्वादि दिशाओं अथवा उत्तर-पूर्वादि विदिशाओं में से किसी एक दिशा अथवा विदिशा से होकर आता-जाता है, या विक्रिया अथवा परिचारणा करता है, तब राहु पूर्वादि में या ईशानादि दिग्विदिग् विभाग में चन्द्र के प्रकाश को आच्छादित कर देता है, उसी को लोग चन्द्रग्रहण (राहु द्वारा चन्द्र का ग्रसन) कहते हैं। (२) जब राहु चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के पास से होकर निकलता है तो लोग कहने लगते हैं—'चन्द्रमा ने राहु की कुक्षि का भेदन कर दिया है,' अर्थात्—चन्द्रमा राहु की कुक्षि में प्रविष्ट हो गया है। (३) जब राहु चन्द्रमा की ज्योति को आवृत करके लौटता है या दूर हो जाता है, तब मनुष्य कहते हैं—'राहु ने चन्द्रमा को उगल दिया।' (४) जब राहु चन्द्रमा को आच्छादित करके बीच-बीच में से होकर निकलता है, तब लोग कहने लगते हैं—'राहु ने चन्द्रमा को डस लिया'। (५) इसी प्रकार जब राहु चन्द्रमा की कान्ति के नीचे से या दिशा-विदिशाओं को आवृत करके रहता है, तब लोग कहते हैं—'राहु ने चन्द्रमा को ग्रसित कर लिया है।' भगवान् महावीर का कथन यह है कि राहु ने चन्द्रमा को

ग्रस लिया है, ऐसा उनका कथन केवल औपचारिक है, वास्तविक नहीं। राहु की छाया चन्द्र पर पड़ती है। अतः राहु के द्वारा चन्द्र का ग्रसन कार्य एक तरह से आवरण (आच्छादन) मात्र है, जो कि वैस्त्रासिक—स्वाभाविक है, कर्मकृत नहीं।

'वास्तव में ग्रहण राहु और चन्द्रमा के विमानन की अपेक्षा से है, किन्तु दोनों विमानों में ग्रासक और ग्रसनीय भाव कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों परस्पर आश्रयमात्र हैं। अतः यहाँ आच्छाद्य-आच्छादक भाव है, और इसी को विवक्षावश ग्रास कहा जाता है। यहाँ राहु और चन्द्रमा के विमान की अपेक्षा से 'ग्रहण' कहलाता है।[१]

'जया णं राहू .... वीईवयइ' : भावार्थ, आशय—जब राहु अपनी स्वाभाविक, अत्यन्त तीव्र गति से कृष्णादि-विमान द्वारा चल कर बाद में जब उसी विमान से वापिस लौटता है। आना-जाना, ये दोनों क्रियाएँ स्वाभाविक गति हैं। तथा विक्रिया या परिचारणा, ये दोनों क्रियाएँ अस्वाभाविक विमानगति हैं। अतः इन दोनों अवस्थाओं में अति त्वरा से प्रवृत्ति करता है, इसलिए विसंस्थुल चेष्टा वाला होने के कारण वह अपने विमान को ठीक तरह से नहीं चलाता। राहु चन्द्र की दीप्ति को पूर्व दिशा में आच्छादित करके पश्चिम में चला जाता है। इस प्रकार राहु अपने विमान द्वारा चन्द्र के विमान को आवृत करता है तो चन्द्र की द्युति भी आवृत हो जाती है। इसी को आम लोग चन्द्रग्रसन या ग्रहण कहते हैं।[२]

खंजन आदि पदों के अर्थ—खंजन—दीपक का कज्जल। **लाउअं**—अलख अथवा तुम्बिका (अपक्व)। **भासरासि**—भस्मराशि, राख का पुंज। **परियारेमाणे**—कामक्रीडा करता हुआ।[३]

ध्रुवराहु और पर्वराहु का स्वरूप एवं दोनों द्वारा चन्द्र को आवृत-अनावृत्त करने का कार्यकलाप

३. कतिविधे णं भंते ! राहू पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविहे राहू पन्नत्ते, तं जहा—धुवराहु य पव्वराहू य। तत्थ णं जे से धुवराहु से णं बहुलपक्खस्स पाडिवए पन्नरसतिभागेणं पन्नरसतिभागं, चंदस्स लेस्सं आवरेमाणे आवरेमाणे चिट्ठति, तं जहा—पढमाए पढमं भागं, बितियाए बितियं भागं जाव पन्नरसेसु पन्नरसमं भागं। चरिमसमये चंदे रत्ते भवति, अवसेसे समये चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवति। तमेव सुक्कपक्खस्स उवदंसेमाणे २ चिट्ठइ—पढमाए पढमं भागं जाव पन्नरसेसु पन्नरसमं भागं चरिमसमये चंदे विरत्ते भवइ, अवसेसे समये चंदे रत्ते य विरत्ते य भवइ। तत्थ णं जे से पव्वराहू से जहन्नेणं छण्हं मासणं; उक्कोसेणं बायालीसाए मासाणं चंदस्स, अडयालीसाए संवच्छराणं सूरस्स।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) पृ. ५९२ से ५९४ तक

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका व्याख्या) भा. १०, पृ. २११ से २१८ तक

(ग) भगवती. अ., वृत्ति, पत्र ५७६

२. भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका व्याख्या) भा. १०, पृ. २१०

३. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्र ५७६

[३ प्र.] भगवन् ! राहु कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! राहु दो प्रकार का कहा गया है, यथा—ध्रुवराहु और पर्वराहु। उनमें से जो ध्रुवराहु है, वह कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से लेकर प्रतिदिन अपने पन्द्रहवें भाग से, चन्द्रबिम्ब के पन्द्रहवें भाग को बार-बार ढँकता रहता है, यथा—प्रथमा (प्रतिपदा की रात्रि) को चन्द्रमा के प्रथम भाग को ढँकता है, द्वितीया को (चन्द्र के) दूसरे भाग को ढँकता है, इसी प्रकार यावत् अमावस्या को (चन्द्रमा के) पन्द्रहवें भाग को ढँकता है। कृष्णपक्ष के अन्तिम समय में चन्द्रमा रक्त (सर्वथा आवृत) हो जाता है, और शेष (अन्य) समय में चन्द्रमा रक्त (अंशतः आच्छादित) और विरक्त (अंशतः अनाच्छादित) रहता है। इसी कारण शुक्लपक्ष का (प्रथम दिन) प्रतिपदा से लेकर यावत् पूर्णिमा (पन्द्रहवें दिन) तक प्रतिदिन पन्द्रहवाँ भाग दिखाई देता रहता है, (अर्थात्—प्रतिपदा से प्रतिदिन पन्द्रहवाँ भाग खुला होता जाता है, यावत् पूर्णिमा तक पन्द्रहवाँ भाग खुला हो जाता है।) शुक्लपक्ष के अन्तिम समय में चन्द्रमा पूर्णतः अनाच्छादित हो जाता है, और शेष समय में वह (चन्द्रमा) रक्त (अंशतः आच्छादित) और विरक्त (अंशतः अनाच्छादित) रहता है।

इनमें से जो पर्वराहु है, वह जघन्यतः छह मास में चन्द्र और सूर्य को आवृत करता है और उत्कृष्ट बयालीस मास में चन्द्र को और अड़तालीस वर्ष में सूर्य को ढँकता है।

विवेचन—नित्यराहु और पर्वराहु : स्वरूप और कार्यकलाप—राहु दो प्रकार का है—ध्रुवराहु और पर्वराहु। काला राहु-विमान जो चन्द्रमा से चार अंगुल ठीक नीचे सन्निहित होकर नित्य संचरण करता है, वह **ध्रुवराहु** है। चन्द्रमा की १६ कलाएं (अंश) हैं, जिन्हें १६ भाग कहते हैं। कृष्णपक्ष में राहु प्रतिपदा (पहली तिथि) से लेकर पन्द्रह भागों में से चन्द्रबिम्ब के एक-एक भाग को प्रतिदिन आच्छादित करता जाता है। पन्द्रहवें अर्थात् अमावस्या के दिन वह चन्द्रमा के पन्द्रह भागों को आवृत कर देता है। पन्द्रह भाग से युक्त कृष्णपक्ष के अन्तिम समय में चन्द्रमा राहु से सर्वथा आच्छादित (उपरक्त) हो जाता है और शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक एक-एक भाग को अनाच्छादित (खुला) करता रहता है। अर्थात् शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से पूर्णिमा तक एक भाग आच्छादित और एक भाग अनाच्छादित रहता है। अन्तिम (पूर्णिमा के) दिन चन्द्रमा सर्वथा अनाच्छादित होने से शुक्ल हो जाता है। पूर्णमासी या अमावस्या के (पर्व) में सूर्य या चन्द्रमा को जब राहु आवृत करता है, उसे **पर्वराहु** कहते हैं। पर्वराहु जघन्य ६ मास में चन्द्रमा और सूर्य को आवृत करता है और उत्कृष्ट ४२ मास में चन्द्रमा को और ४८ वर्ष में सूर्य को आवृत करता है। यही चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण कहलाता है।[1]

चन्द्र को शशी—सश्री और सूर्य को आदित्य कहने का कारण

४. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'चंदे ससी, चंदे ससी' ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र. ५७७

(अ) किण्हं राहुविमाणं निच्चं चंदेण होइ अविरहियं।
चउरंगुलमप्पत्तं हेट्ठा चंदस्स तं चरइ॥

(आ) यस्तु पर्वणि-पौर्णमास्यामावस्ययोश्चन्द्रादित्ययोगयोरुपरागं करोति स पर्वराहुरिति।

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २०६६

गोयमा ! चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो मियंके विमाणे, कंता देवा, कंताओ देवीओ, कंताइं आसण-सयण-खंभ-भंडमत्तोवगरणाइं, अप्पणा वि य णं चन्दे जोतिसिंदे जोतिसराया सोमे कंते सुभए पियदंसणे सुरूवे, से तेणट्ठेणं जाव ससी।

[४ प्र.] भगवन् ! चन्द्रमा को 'चन्द्र शशी (सश्री) है,' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

[४ उ.] गौतम ! ज्योतिषियों के इन्द्र, ज्योतिषियों के राजा चन्द्र का विमान मृगांक (मृग चिह्न वाला) है, उसमें कान्त देव तथा कान्ता देवियाँ हैं और आसन, शयन, स्तम्भ, भाण्ड, पात्र आदि उपकरण (भी) कान्त हैं। स्वयं ज्योतिष्कों का इन्द्र, ज्योतिष्कों का राजा चन्द्र भी सौम्य, कान्त, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप है, इसलिए ही, हे गौतम ! चन्द्रमा को शशी (सश्री—शोभायुक्त) कहा जाता है।

५. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'सूरे आदिच्चे, सूरे आदिच्चे' ?

गोयमा ! सूरादिया णं समया इ वा आवलिया इ वा जाव ओसप्पिणी ई वा, उस्सप्पिणी इ वा। से तेण ट्ठेणं जाव आदिच्चे।

[५ प्र.] भगवन् ! सूर्य को—'सूर्य आदित्य है,' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

[५ उ.] गौतम ! समय अथवा आवलिका यावत् अथवा अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी (इत्यादि काल) की आदि सूर्य से होती है, इसलिए इसे आदित्य कहते हैं।

विवेचन—शशी और सश्री : अभिधान का कारण—शश का अर्थ है मृग। शश (मृग) का चिह्न होने से इसे शशी, शशांक—मृगांक कहते हैं। शशी का रूपान्तर 'सश्री' भी होता है। सश्री का अर्थ है—शोभासहित। चन्द्र-विमान के देव, देवी तथा समस्त उपकरण कान्त-कमनीय अर्थात्—शोभनीय होते हैं, इस कारण इसे सश्री भी कहते हैं।[१]

सूर्य को 'आदित्य' कहने का कारण—चूंकि समय, आवलिका, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास वर्ष, यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि समस्त कालों का आदिभूत (प्रथम कारण) सूर्य है। सूर्य को लेकर ही सर्वप्रथम यह सब काल विभाग होता है। इसलिए इसे आदित्य कहा गया है।[२]

चन्द्रमा और सूर्य की अग्रमहिषियों का वर्णन

६. चंदस्स ण भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ ?

जहा दसमसए (स० १० उ० ५ सु० २७) जाव णो चेव णं मेहुणवत्तियं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ५७८
   (ख) भगवती (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २०६६

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ५७८
   (ख) सूर्यप्रज्ञप्ति प्राभृत २०, पत्र २७२, आगमोदय.

[६ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्को के इन्द्र, ज्योतिष्कों के राजा चन्द्र की कितने अग्रमहिषियाँ हैं ?

[६ उ.] गौतम ! जिस प्रकार दसवें शतक (के उद्देशक ५ सू. २७) में कहा है, तदनुसार अपनी राजधानी में सिंहासन पर मैथुन-निमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं है, यहाँ तक कहना चाहिए।

७. सूरस्सं वि तहेव (स० १० उ० ५ सु० २८)।

[७] सूर्य के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार (शतक १०, उ. ५ सूत्र २८ के अनुसार) कहना चाहिए।

विवेचन—ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र एवं सूर्य की पट्टरानियाँ—चन्द्र की पट्टरानियाँ चार हैं—(१) चन्द्रप्रभा, (२) ज्योत्स्नाभा, (३) आर्चिमाली और (४) प्रभंकरा। इसी प्रकार ज्योतिष्केन्द्र सूर्य की भी चार पट्टरानियाँ हैं—(१) सूर्यप्रभा, (२) आतपाभा, (३) अर्चिमाली और (४) प्रभंकरा। जीवाभिगमसूत्र प्र. ३ ज्योतिष्क उद्देशक के अनुसार सारा वर्णन जानना चाहिए।[१]

चन्द्र-सूर्य के कामभोग सुखानुभव का निरूपण

८. चंदिम-सूरिया णं भंते ! जोतिसिंदा जोतिसरायाणो केरिसए कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे पढमजोव्वणुट्ठाण-बलत्थे पढमजोव्वणुट्ठाणबलत्थाए भारियाए सद्धिं अचिरवत्तविवाहकज्जे अत्थगवेसणाए सोलसवासविप्पवासिए, से णं तओ लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे पुणरवि नियगं गिहं हव्वमागते ण्हाते कायबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए मणुण्णं थालिपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाकुलं भोयणं भुत्ते समाणे तंसि तारिसगंसि वासघरंसि; वण्णओ० महब्बले (स० ११ उ० ११ सु० २३) जाव सयणोवयारकलिए ताए तारिसियाए भारियए सिंगारागारचारुवेसाए जाव कलिआए अणुरत्ताए अविरत्ताए मणाणुकूलाए सद्धिं इट्ठे सद्दे फरिसे जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणे विहरेज्जा।

से णं गोयमा ! पुरिसे विओसमणकाल समयंसि केरिसयं सातासोक्ख पच्चणुभवमाणे विहरति ?

ओरालं समणाउसो !

तस्स णं गोयमा ! पुरिस्स कामभोएहिंतो वाणमंतराणं देवाणं एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव कामभोगा। वाणमंतराणं देवाणं कामभोगेहिंतो असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव कामभोगा। असुरिंदवज्जियाणं भवणवासियाणं देवाणं कामभोगेहिंतो असुर-कुमाराणं [इंदभूयाणं] देवाणं एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव कामभोगा। असुरकुमाराणं० देवाणं कामभोगेहिंतो गहगणनक्खत्त-तारारूवाणं जोतिसियाणं देवाणं एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव काम-

---

१. (क) भगवती. शतक १०, उ. ५, सू. २७-२८

(ख) जीवाभिगम-प्रतिपत्ति ३, उ. २, पत्र ३८३

भोगा। गहगण-नक्खत्त जाव कामभोगेहिंतो चंदिम-सूरियाणं जोतिसिंदाणं जोतिसराईणं एत्तो अणंत-गुणविसिट्ठतरा चेव कामभोगा। चंदिम-सूरिया णं गोतमा ! जोतिसिंदा जोतिसरायाणो एरिसे कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं जाव विहरति।

॥ बारसमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-६ ॥

[८ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्कों के इन्द्र, ज्योतिष्कों के राजा चन्द्र और सूर्य किस प्रकार के कामभोगों का उपभोग करते हुए विचरते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम यौवन वय में किसी बलिष्ठ पुरुष ने, किसी यौवन-अवस्था में प्रविष्ट होती हुई किसी बलिष्ठ भार्या (कन्या) के साथ नया (थोड़े दिन पहले) ही विवाह किया, और (इसके पश्चात् वह पुरुष) अर्थोपार्जन करने की खोज में सोलह वर्ष तक विदेश में रहा। वहाँ से धन प्राप्त करके अपना कार्य सम्पन्न कर वह निर्विघ्नरूप से पुनः लौट कर शीघ्र अपने घर आया। वहाँ उसने स्नान किया, बलिकर्म (भेंट-न्यौछावर) किया, (विघ्ननिवारणार्थ) कौतुक और मंगलरूप प्रायश्चित किया। तत्पश्चात् सभी आभूषणों से विभूषित होकर मनोज्ञ स्थालीपाक—विशुद्ध अठारह प्रकार के व्यंजनों से युक्त भोजन करे। फिर महाबल के प्रकरण में (श. ११, उ. ११, सू. २३ में) वर्णित वासगृह के समान शयनगृह में शृंगारगृहरूप सुन्दर वेषवाली, यावत् ललितकलायुक्त, अनुरक्त, अत्यन्त रागयुक्त और मनोऽनुकूल पत्नी (देवांगना) के साथ वह इष्ट शब्द रूप, यावत् स्पर्श (आदि), पांच प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी कामभोग का उपभोग करता हुआ विचरता है।

[प्र.] हे गौतम ! वह पुरुष वेदोपशमन (कामविकार-शान्ति) के समय किस प्रकार के साता—सौख्य का अनुभव करता है ?

[उ.] (गौतम स्वामी द्वारा) आयुष्मन् श्रमण भगवन् ! वह पुरुष उदार (सुख का अनुभव करता है।)

[भगवान् ने कहा—] हे गौतम ! उस पुरुष के इन कामभोगों से वाणव्यन्तरदेवों के कामभोग अनन्तगुण-विशिष्टतर होते हैं। वाणव्यन्तरदेवों के कामभोगें से असुरेन्द्र के सिवाय शेष भवनवासी देवों के कामभोग अनन्तगुण-विशिष्टतर होते हैं। असुरेन्द्र को छोड़कर (शेष) भवनवासी देवों के कामभोगों से (इन्द्रभूत) असुरकुमारदेवों के कामभोग अनन्तगुण-विशिष्टतर होते हैं। असुरकुमार देवों के कामभोगों से ग्रहगण-नक्षत्र-तारा-रूप ज्योतिष्कदेवों के कामभोग अनन्तगुण-विशिष्टतर होते हैं। ग्रहगण-नक्षत्र-तारा-रूप ज्योतिष्कदेवों के कामभोगों से ज्योतिष्कों के इन्द्र, ज्योतिष्कों के राजा चन्द्रमा और सूर्य के कामभोग अनन्तगुण विशिष्टतर होते हैं।

हे गौतम ! ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्रमा और सूर्य इस प्रकार के कामभोगों का अनुभव करते हुए विचरते हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है—यों कह कर भगवान् गौतमस्वामी श्रमण भगवान् महावीर को (वन्दन-नमस्कार करके) यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—देवों के कामभोगों का सुख—यहाँ चन्द्रमा और सूर्य के कामभोगों को दूसरे देवों से अनन्तगुण-विशिष्टतर बताने के लिए तारतम्य बताया गया है।

उपमा और कामसुखों का तारतम्य—ज्योतिष्केन्द्र चन्द्रमा और सूर्य के कामभोगों को उस नवविवाहित से उपमित किया गया है, जो सोलह वर्ष तक प्रवासी रह कर धनसम्पन्न होकर घर लौट आया हो, सर्वथा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो, षड्रस-व्यंजन युक्त भोजन करके शयनगृह में मनोज्ञ कान्त कामिनी के साथ मानवीय शब्दादि कामभोगों का सेवन करता हो।

देवों के कामभोग-सुखों का तारतम्य बताते हुए कहा गया है—(१) पूर्वोक्त नवविवाहित के कामसुखों से वाणव्यन्तर देवों के कामसुख अनन्तगुण-विशिष्ट हैं। (२) उनसें असुरेन्द्र को छोड़ कर भवनपतिदेवों के कामसुख अनन्तगुण-विशिष्टतर हैं, (३) असुरेन्द्र के सिवाय शेष भवनपतिदेवों के कामसुखों से असुरकुमार देवों के कामसुख अनन्तगुण-विशिष्टतर हैं, (४) उनके कामसुखों से ग्रह-नक्षत्रतारारूप ज्योतिष्कदेवों के कामसुख अनन्तगुण-विशिष्टतर हैं और (५) उन सबसे ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र सूर्य के कामभोग अनन्तगुण-विशिष्टतम होते हैं।[1]

कामसुख उदारसुख क्यों ?—यहाँ कामभोगों के सुख को उदारसुख कहा गया है, वह मोक्षसुख या आत्मिकसुख की अपेक्षा से नहीं, किन्तु सामान्य सांसारिक जनों के वैषयिक सुखों की अपेक्षा से कहा गया है। वास्तव में कामभोग सम्बन्धी सुख, सुख नहीं, सुखाभास है, क्षणिक है, तुच्छ है, एक तरह से दुःख का कारण है।[2]

कठिन शब्दों के अर्थ—पढमजोव्वणुट्ठाणबलत्थाए—प्रथम यौवन के उत्थान—उद्गम में जो बलिष्ठ (प्राणवान्) है। **अणुरत्ताए**—अनुरागवती, **अविरत्ताए**—अप्रिय करने पर भी जो पति से विरक्त न हो। **विउसमण-कालसमयंसि**—पुरुषवेद (काम) विकार के उपशमन के समय में अर्थात्—रतावसान में। **पच्चणुब्भवमाणा**—अनुभव करते हुए। **ओरालं**—उदार, विशाल।[3]

॥ बारहवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ५९५-५९६

२. भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २०७०

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५७९

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) आ. ४, पृ. २०६८

सत्तमो उद्देसओ : लोगे

सप्तम उद्देशक : लोक का परिमाण

लोक का परिमाण

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी—

[१] उस काल और उस समय में यावत् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार प्रश्न किया—

२. केमहालए णं भंते ! लोए पन्नत्ते ?

गोयमा ! महतिमहालए लोए पन्नत्ते; पुरत्थिमेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ, दाहिणेणं असंखज्जाओ एवं चेव, एवं पच्चत्थिमेणं वि, एवं उत्तरेण वि, एवं उड्ढं पि, अहे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम-विक्खंभेणं।

[२ प्र.] भगवन् ! लोक कितना बड़ा है ?

[२ उ.] गौतम ! लोक महातिमहान् है। वह पूर्वदिशा में असंख्येय कोटाकोटि योजन है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में भी असंख्येय कोटा-कोटि योजन है। पश्चिम, उत्तर एवं ऊर्ध्व तथा अधोदिशा में भी असंख्येय कोटाकोटि योजन आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) वाला है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में लोक की लम्बाई-चौड़ाई पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधोदिशा में असंख्येय-असंख्येय कोटाकोटि योजन-प्रमाण बता कर महातिमहानता सिद्ध की गई है।

लोक में परमाणुमात्र प्रदेश में भी जीव के जन्ममरण से अरिक्तता की दृष्टान्तपूर्वक प्ररूपणा

३.[१] एयंसि णं भंते ! एमहालयंसि लोगंसि अत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

[३-१ प्र.] भगवन् ! इतने बड़े लोक में क्या कोई प्ररमाणु-पुद्गल जितना भी आकाशप्रदेश ऐसा है, जहाँ पर इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ?

[३-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'एयंसि णं एमहालयंसि लोगंसि नत्थि केइ परमाणु-पोग्गलमेत्ते वि पएसे जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा न मए वावि ?'

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे अयासयस्स एगं महं अयावयं करेज्जा; से णं तत्थ जहन्नेणं

एक्कं वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्जा; ताओ णं तत्थ पउरगोयराओ पउरपाणियाओ जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे परिवसेज्जा, अत्थि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केयि परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे जे णं तासिं अयाणं उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणएण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा चम्मेहि सा रोमेहि वा सिंगेहि वा खुरेहिं वो नहेहिं वा अणोक्कंतपुव्वे भवति ? 'णो इणट्ठे समट्ठे।' होज्जा वि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केयि परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे जे णं तासिं अयाणं उच्चारेण वा जाव नहेहिं वा अणोक्कंतपुव्वे नो चेव णं एयंसि एमहालयंसि लोगंसि लोगस्स य सासयभावं, संसारस्स य अणादिभावं, जीवस्स च निच्चभावं कम्मबहुत्तं जम्मण-मरणाबाहुल्लं च पडुच्च नत्थि केयि परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे जत्थ ण अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि। से तेणट्ठेणं तं चेव जाव न मए वा वि।

[३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि इतने बड़े लोक में परमाणुपुद्गल जितना कोई भी आकाशप्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ?

[३-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष सौ बकरियों के लिए एक बड़ा अजाव्रज (बकरियों का बाड़ा) बनाए। उसमें वह एक, दो या तीन और अधिक से अधिक एक हजार बकरियों को रखे। वहाँ उनके लिए घास-चारा चरने की प्रचुर भूमि और प्रचुर पानी हो। यदि वे बकरियाँ वहाँ कम से कम एक, दो या तीन दिन और अधिक से अधिक छह महिने तक रहें तो हे गौतम ! क्या उस अजाव्रज (बाड़े) का कोई भी परमाणु-पुद्गलमात्र प्रदेश ऐसा रह सकता है, जो उन बकरियों के मल, मूत्र, श्लेष्म (कफ), नाक के मैल (लींट), वमन, पित्त, शुक्र, रुधिर, चर्म, रोम, सींग, खुर और नखों से (पूर्व में अनाक्रान्त) अस्पृष्ट न रहा हो ? (गौतम—) (भगवन् !) यह अर्थ समर्थ नहीं है। (भगवान् ने कहा—) हे गौतम ! कदाचित् उस बाड़े में कोई एक परमाणु-पुद्गलमात्र प्रदेश ऐसा भी रह सकता है, जो उन बकरियों के मल-मूत्र यावत् नखों से स्पृष्ट न हुआ हो, किन्तु इतने बडे इस लोक में, लोक के शाश्वतभाव की दृष्टि से, संसार के अनादि होने के कारण, जीव की नित्यता, कर्मबहुलता तथा जन्म-मरण की बहुलता की अपेक्षा से कोई परमाणु-पुद्गल-मात्र प्रदेश भी ऐसा नहीं है जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो। हे गौतम ! इसी कारण उपर्युक्त कथन किया गया है कि यावत् जन्म-मरण न किया हो।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (स. ३) में बकरियों के बाड़े में उनके मल-मूत्रादि से एक परमाणु-पुद्गलमात्र प्रदेश भी अछूता न रहने का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि लोक में ऐसा कोई परमाणुपुद्गलमात्र प्रदेश अछूता नहीं है जहाँ जीव ने जन्ममरण न किया हो।

परमाणुपुद्गलमात्र प्रदेश अस्पृष्ट न रहने के कारण—(१) लोक शाश्वत है—यदि लोक विनाशी होता तो यह बात घटित नहीं हो सकती थी। लोक के शाश्वत होने पर भी यदि वह सादि (आदिसहित) हो तो भी उपर्युक्त बात घटित नहीं हो सकती, इसलिए कहा गया—**(२) लोक अनादि है**—अनन्त जीवों की अपेक्षा से प्रवाहरूप से संसार अनादि हो, किन्तु विवक्षित जीव अनित्य हो तो भी उपर्युक्त अर्थ घटित नहीं हो

सकता, इसलिए कहा गया—**(३) जीव (आत्मा) नित्य है।** जीव नित्य होने पर भी यदि कर्म अल्प हों तो भी तथाविध संसारपरिभ्रमण नहीं हो सकता, और वैसी स्थिति में उपर्युक्त कथन घटित नहीं हो सकता, इसलिए कहा गया—**(४) कर्मों की बहुलता है**—कर्मों की बहुलता होने पर भी यदि जन्म-मरण की अल्पता हो तो पूर्वोक्त अर्थ घटित नहीं सकता, इसलिए बतलाया गया—**(५) जन्म-मरण की बहुलता है**—इन पांच कारणों से लोक में एक परमाणुमात्र भी आकाश-प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ जीव न जन्मा हो, और न मरा हो।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—अयावयं—अजाव्रज—बकरियों का बाड़ा। यहाँ सौ बकरियों के रहने योग्य बाड़े में हजार बकरियों को रखने का कथन किया है, वह उनके अत्यन्त सट कर ठसाठस भर कर रखने की दृष्टि से है। **पउरगोयराओ**—जहाँ घास-चारा चरने की प्रचुर भूमि हो। **पउरपाणीयाओ**—जहाँ प्रचुर पानी हो। इन दोनों पदों से उन बकरियों के प्रचुर मलमूत्र की संभावना, एवं क्षुधा-पिपासानिराकरण के कारण चिरंजीविता सूचित की गई है।[२]

चौवीस दण्डकों की आवास संख्या का अतिदेशपूर्वक निरूपण

४. कति णं भंते ! पुढवीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पन्नत्ताओ, जहा पढमसए पंचमउद्देसए (स० १ उ० ५ सु० १-५) तहेव आवासा ठावेयव्वा जाव अणुत्तरविमाणे त्ति जाव अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे।

[४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वियाँ (नरक-भूमियाँ) कितनी कही गई हैं ?

[४ उ.] गौतम ! पृथ्वियाँ सात कही गई हैं। जिस प्रकार प्रथम शतक के पञ्चम उद्देशक (सूत्र १-५) में कहा गया है, उसी प्रकार (यहाँ भी) नरकादि के आवासों का कथन करना चाहिए। यावत् अनुत्तर-विमान यावत् अपराजित और सर्वार्थसिद्ध तक इसी प्रकार कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (सं. ४) में सात नरकों के आवासों से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक के विमानावासों तक का प्रथमशतक के पंचम उद्देशक के वर्णन के अनुसार अतिदेशपूर्वक निरूपण है।[३]

एकजीव या सर्वजीवों के चौवीस दण्डकवर्ती आवासों में विविधरूपों में अनन्तशः उत्पन्न होने की प्ररूपणा

५. [१] अयं ण भंते ! जीवे इमीसे रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि पुढविकाइयत्ताए जाव वणस्सइकाइयत्ताए नरगत्ताए नेरइयत्ताए उववन्नपुव्वे ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८०

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०७३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८०

३. देखिये, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (आगम प्रकाशन समिति) प्रथम खण्ड, पृ ९०-९१

हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव, इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में पृथ्वीकायिक रूप से यावत् वनस्पतिकायिक रूप से, नरक रूप में (नरकवासरूप पृथ्वीकायिकतया), पहले उत्पन्न हुआ है ?

[५-१ उ.] हाँ, गौतम ! (यह जीव पहले पूर्वोक्तरूप में) अनेक बार अथवा अनन्त बार (उत्पन्न हो चुका है)।

[२] सव्वजीवा वि णं भंते ! इमीसे रसणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरया० ?

त चेव जाव अणंतखुत्तो।

[५-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी जीव, इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में पृथ्वीकायिक रूप में यावत् वनस्पतिकायिक रूप में, नरकपने और नैरयिकपने, पहले उत्पन्न हो चुके हैं ?

[५-२ उ.] (हाँ गौतम !) उसी प्रकार (पूर्ववत्) अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हुए हैं।

६. अयं णं भंते ! जीवे सक्करप्पभाए पुढवीए पणवीसाए० ?

एवं जहा रयणप्पभाए तहेव दो आलावगा भाणियव्वा। एवं धूमप्पभाए।

[६. प्र.] भगवन् ! यह जीव शर्कराप्रभापृथ्वी के पच्चीस लाख (नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में, पृथ्वीकायिक रूप में यावत् वनस्पतिकायिक रूप में, यावत् पहले उत्पन्न हो चुका है ?)

[६ उ.] गौतम ! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी-विषयक दो आलापक कहे हैं, उसी प्रकार (शर्कराप्रभापृथ्वी के विषय में) दो आलापक कहने चाहिए। इसी प्रकार यावत् धूमप्रभापृथ्वी तक (के आलापक कहने चाहिए।)

७. अयं णं भंते ! जीवे तमाए पुढवीए पंचूणे निरयावाससयसहस्से एगमेगंसि० ?

सेसं तं चेव।

[७ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव तमःप्रभापृथ्वी के पांच कम एक लाख नरकावासों में से प्रत्येक नरकावास में पूर्ववत् उत्पन्न हो चुका है ?

[७ उ.] (हां, गौतम!) पूर्ववत् ही शेष सर्व कथन करना चाहिए।

८. अयं णं भंते ! जीवे अहेसत्तमाए पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महतिमहालएसु महानिरएसु एगमेगंसि निरयावासंसि० ?

सेसं जहा रयणप्पभाए।

[८ प्र.] भगवन् ! यह जीव अधःसप्तमपृथ्वी के पांच अनुत्तर और महातिमहान् महानरकावासों में क्या

पूर्ववत् उत्पन्न हो चुके हैं ?

[८ उ.] (हाँ गौतम !) शेष सर्वकथन रत्नप्रभापृथ्वी के समान समझना चाहिए।

९. [१] अयं णं भंते ! जीवे चोयट्ठीए असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि पुढविकाइयत्ताए जाव वणस्सतिकाइयत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसण-सयण-भंडमत्तोवगरणत्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो।

[९-१ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव, असुरकुमारों के चौसठ लाख असुरकुमारावासों में से प्रत्येक असुरकुमारावास में पृथ्वीकायिकरूप में यावत् वनस्पतिकायिकरूप में, देवरूप में या देवीरूप में अथवा आसन, शयन, भांड, पात्र आदि उपकरणरूप में पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[९-१ उ.] हाँ गौतम ! (वह पूर्वोक्तरूप में) अनेक बार या अनन्त बार (उत्पन्न हो चुका है।)

[२] सव्वजीवा वि णं भंते ! ०

एवं चेव ।

[९-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी जीव (पूर्वोक्तरूप में उत्पन्न हो चुके हैं) ?

[९-२ उ.] हाँ, गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत् कहना चाहिए)।

१०. एवं जाव थणियकुमारेसु नाणत्तं आवासेसु आवासा पुव्वभणिया।

[१०] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए। किन्तु उनके आवासों की संख्या में अन्तर है। आवाससंख्या (भगवती. श. १, उ. ५, सू. १-५ में) पहले बताई जा चुकी है।

११. [१] अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयत्ताए जाव वणस्सतिकाइयत्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता, गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो।

[११-१ प्र.] भंते ! क्या यह जीव असंख्यात लाख पृथ्वीकायिक-आवासों में से प्रत्येक पृथ्वीकायिक-आवास में पृथ्वीकायिकरूप में यावत् वनस्पतिकायिकरूप में पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[११-१ उ.] हाँ गौतम ! (वह उक्तरूप में) अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हो चुका है।

[२] एवं सव्वजीवा वि।

[११-२] इसी प्रकार (का आलापक) सर्वजीवों के (विषय में कहना चाहिए)।

१२. एवं जाव वणस्सतिकाइएसु।

[१२] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिकों के आवासों के (विषय में भी पूर्वोक्त कथन करना चाहिए)।

१३. [२] अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जेसु बेंदियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि बेंदियावासंसि पुढविकाइयत्ताए जाव वणस्सतिकाइयत्ताए बेंदियत्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता, गोयमा ! जाव खुत्तो।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव असंख्यात लाख द्वीन्द्रिय-आवासों में से प्रत्येक द्वीन्द्रियावास में पृथ्वीकायिकरूप में यावत् वनस्पतिकायिकरूप में और द्वीन्द्रियरूप में पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[१३-१ उ.] हाँ, गौतम ! (वह पूर्वोक्तरूप में) यावत् अनेक बार अथवा अनन्त बार (उत्पन्न हो चुका है)।

[२] सव्वजीवा वि णं० एवं चेव ।

[१३-२] इसी प्रकार सभी जीवों के विषय में (कहना चाहिए)।

१४. एवं जाव मणुस्सेसु। नवरं तेंदिएसु जाव वणस्सतिकाइयत्ताए तेंदियत्ताए, चउरिंदिएसु चउरिंदियत्ताए, पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ताए, मणुस्सेसु मणुस्सत्ताए० सेसं जहा बेंदियाणं।

[२४] इसी प्रकार (त्रीन्द्रिय से लेकर) यावत् मनुष्यों तक (अपने-अपने आवासों में उत्पन्न होने के विषय में कहना चाहिए)। विशेषता यह है कि त्रीन्द्रियों में यावत् वनस्पतिकायिकरूप में, यावत् त्रीन्द्रियरूप में, चतुरिन्द्रियों में यावत् चतुरिन्द्रियरूप में, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में यावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चरूप में तथा मनुष्य रूप में उत्पत्ति जाननी चाहिए। शेष समस्त कथन द्वीन्द्रियों के समान जानना चाहिए।

१५. वाणमंतर-जोतिसिय-सोहम्मीसाणेसु य जहा असुरकुमाराणं।

[२४] जिस प्रकार असुरकुमारों (की उत्पत्ति) के विषय में कहा है; उसी प्रकार वाणव्यन्तर; ज्योतिष्क तथा सौधर्म एवं ईशान देवलोक तक कहना चाहिए।

१६. [१] अयं णं भंते ! जीवे सणंकुमारे कप्पे बारससु विमाणावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि पुढविकाइयत्ताए० ?

सेसं जहा असुरकुमाराणं जाव अणंतखुत्तो। नो चेव णं देवित्ताए।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव सनत्कुमार देवलोक के बारह लाख विमानावासों में से प्रत्येक बिमानावास में पृथ्वीकायिक रूप में यावत् पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[१६-१ उ.] (हाँ, गौतम ! इस सम्बन्ध में) सब कथन असुरकुमारों के समान, यावत् अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं; यहाँ तक कहना चाहिए। किन्तु वहाँ वे देवीरूप में उत्पन्न नहीं हुए।

[२] एवं सव्वजीवा वि।

[१६-२ उ.] (जैसे एक जीव के विषय में कहा,) इसी प्रकार सर्व जीवों के विषय में कहना चाहिए।

१७. एवं जाव आणय-पाणएसु। एवं आरणच्चुएसु वि।

[१७] इसी प्रकार यावत् आनत और प्राणत तक जानना चाहिए। आरण और अच्युत तक भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

१८. अयं णं भंते ! जीवे तिसु वि अट्ठारसुत्तरेसु गेवेज्जविमाणावाससएसु० ?

एवं चेव।

[१८ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव तीन सौ अठारह ग्रैवेयक विमानावासों में से प्रत्येक विमानावास में पृथ्वीकायिक के रूप में यावत् उत्पन्न हो चुका है ?

[१८ उ.] हाँ गौतम ! (वह अनेक बार या अनन्त बार) पूर्ववत् उत्पन्न हो चुका है।

१९. [१] अयं णं भंते ! जीवे पंचसु अणुत्तरविमाणेसु एगमेगंसि अणुत्तरविमाणंसि पुढवि० तहेव जाव अणंतखुत्तो, नो चेव णं देवत्ताए वा, देवित्ताए वा।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव पांच अनुत्तरविमानों में से प्रत्येक अनुत्तर विमान में, पृथ्वीकायिक रूप में, यावत् उत्पन्न हो चुका है ? हाँ, किन्तु वहाँ (अनन्त बार) देव रूप में, वा देवी रूप में उत्पन्न नहीं हुआ।

[२] एवं सव्वजीवा वि।

[१९-२] इसी प्रकार सभी जीवों के (पूर्वोक्त रूप में उत्पत्ति के) विषय में जानना चाहिए।

विवेचन—रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर अनुत्तर बिमान के आवासों में जीव की उत्पत्ति की प्ररूपणा— प्रस्तुत १५ सूत्रों (सू. ५ से १९ तक) में एक जीव एवं सर्वजीवों की अपेक्षा से रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों से लेकर अनुत्तरविमान के विमानावासों तक में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के समग्र रूपों में उत्पत्ति की प्ररूपणा की गई है।

'नरगत्ताए' आदि शब्दों के भावार्थ—नरगत्ताए—नरकावास में पृथ्वीकायिक रूप में। **असइं**—अनेक बार। **अणंतखुत्तो**—अनन्त बार। **असंखेज्जु पुढविकाइयावास-सयसहस्सेसु**—असंख्यात लाख पृथ्वीकायिकावासों में। पृथ्वीकायिकावास असंख्यात हैं, किन्तु उनकी बहुलता बतलाने के लिए शतसहस्र (लाख) शब्द प्रयुक्त किया गया है। **'नो चेव णं देवित्ताए'**—ईशान देवलोक तक ही देवियाँ उत्पन्न होती हैं, सनत्कुमार आदि देवलोकों में नहीं, इस दृष्टि से कहा गया है कि सनत्कुमार आदि देवलोकों में, देवीरूप में उत्पन्न नहीं होता।

'नो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए वा'—अनुत्तरविमानों में कोई भी जीव देवरूप से अनन्त बार उत्पन्न नहीं होता, और देवियों की उत्पत्ति तो वहाँ सर्वथा है ही नहीं, इसलिए कहा गया है कि अनुत्तर विमानों में न तो अनन्त बार देवरूप में कोई जीव उत्पन्न होता है और न देवी रूप में।[१]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८१ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०७९

एक जीव या सर्वजीवों का माता आदि के, शत्रु आदि के, राजादि के तथा दासादि के रूप में अनन्तशः उत्पन्न होने की प्ररूपणा

२० [१] अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पितित्ताए भाइत्ताए भगिणित्ताए भज्जत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता, गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! यह जीव, क्या सभी जीवों के माता-रूप में, पिता-रूप में, भाई के रूप में, भगिनी के रूप में, पत्नी के रूप में, पुत्र के रूप में, पुत्री के रूप में, तथा पुत्रवधू के रूप में पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[२०-१ उ.] हाँ गौतम ! (यह जीव पूर्वोक्त रूपों में) अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुका है।

[२] सव्वजीवा णं भंते ! इमस्स जीवस्स माइत्ताए जाव उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! सभी जीव क्या इस जीव के माता के रूप में यावत् पुत्रवधू के रूप में पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[२०-२ उ.] हाँ, गौतम ! सब जीव, इस जीव के माता आदि के रूप में यावत् अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हुए हैं।

२१. [१] अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं अरित्ताए वेरियत्ताए घायगत्ताए वहगत्ताए पडिणीयत्ताए पच्चामित्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता, गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो ।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! यह जीव क्या सब जीवों के शत्रु के रूप में, वैरी रूप में, घातक रूप में, वधक रूप में, प्रत्यनीक रूप में तथा प्रत्यामित्र (शत्रु-सहायक) के रूप में पहले उत्पन्न हुआ है ?

[२१-१ उ.] हाँ गौतम ! (यह जीव, सब जीवों के पूर्वोक्त शत्रु आदि रूपों में) अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुका है।

[२] सव्वजीवा वि णं भंते !०

एवं चेव।

[२१-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी जीव (इस जीव के पूर्वोक्त शत्रु आदि रूपों में) पहले उत्पन्न हो चुके हैं ?

[२१-२ उ.] हाँ गौतम ! (सभी कथन) पूर्ववत् (समझना चाहिए।)

२२. [१] अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं रायत्ताए जुवरायत्ताए जाव सत्थवाहत्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता, गोयमा ! असइं जव अणंतखुत्तो।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! यह जीव, क्या सब जीवों के राजा के रूप में, युवराज के रूप में, यावत् सार्थवाह के रूप में पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[२२-१ उ.] हाँ गौतम ! (यह जीव पूर्वोक्त रूपों में) अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुका है।

[२] सव्वजीवा णं० एवं चेव।

[२२-२] इस जीव के राजा आदि के रूप में सभी जीवों की उत्पत्ति का कथन भी पूर्ववत् कहना चाहिए।

२३. [१] अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं दासत्ताए पेसत्ताए भयगत्ताए भाइल्लत्ताए भोगपुरिसत्ताए सीसत्ताए वेसत्ताए उववन्नपुव्वे ?

हंता, गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव, सभी जीवों के दास रूप में, प्रेष्य (नौकर) के रूप में, भृतक रूप में, भागीदार के रूप में, भोगपुरुष के रूप में, शिष्य के रूप में और द्वेष्य (द्वेषी—ईर्ष्यालु) के रूप में पहले उत्पन्न हो चुका है ?

[२३-१ उ.] हाँ गौतम ! (यह जीव, सब जीवों के दास आदि के रूप में) यावत् अनेक बार या अनन्त बार (पहले उत्पन्न हो चुका है।)

[२] एवं सव्वजीवा वि अणंतखुत्तो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ बारसमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-७॥

[२३-२] इसी प्रकार सभी जीव भी, (इस जीव के दास आदि के रूप में) यावत् अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुके हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. २० से २३ तक) में एक जीव एवं सर्वजीवों की अपेक्षा से माता आदि के रूप में, शत्रु आदि के रूप में, राजा आदि के रूप में दासादि के रूप में अनेक बार या अनन्त बार उत्पन्न होने की प्ररूपणा की गई है।

कठिन शब्दों के अर्थ—अरित्ताए—सामान्यत: शत्रु के रूप में, **वेरियत्ताए**—जिसके साथ परम्परा से शत्रुभाव हो, उस वैरी के रूप में, **घायगत्ताए**—जान से मार डालने वाले हत्यारे के रूप में, **वहगत्ताए**—मारपीट.

(वध) करने वाले के रूप में, **पडिणीयत्ताए**—प्रत्यनीक अर्थात्—प्रत्येक कार्य में विघ्न डालने वाले, कार्यविघातक के रूप में। **पच्चामिताए**—अमित्र—शत्रु के सहायक के रूप में। **दासत्ताए**—घर की दासी के पुत्र के रूप में। **पेसत्ताए**—प्रेष्य—आज्ञापालक नौकर के रूप में। **भयगत्ताए**—भृतक—दुष्काल आदि में पोषित के रूप में। **भाइल्लगत्ताए**—भागीदार-हिस्सेदार के रूप में। **भोगपुरिसत्ताए**—दूसरों के द्वारा उपार्जित अर्थ का उपभोग करने वाले के रूप में। **भज्जत्ताए**—भार्या—पत्नी के रूप में। **धूयत्ताए**—दुहिता—पुत्री के रूप में। **सुण्हत्ताए**—स्नुषा—पुत्रवधू के रूप में।[१]

॥ बारहवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८१

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०८१

अट्ठमो उद्देसओ : 'नागे'

अष्टम उद्देशक : 'नाग'

महर्द्धिक देव की नाग, मणि, वृक्ष में उत्पत्ति, महिमा और सिद्धि

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी—

[१] उस काल और उस समय में यावत् गौतम स्वामी ने यावत् (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार प्रश्न किया—

२. [१] देवे णं भंते ! महड्ढीए जाव महेसक्खे अणंतरं चयं चइत्ता बिसरीरेसु नागेसु उववज्जेज्जा ?

हंता, उववज्जेज्जा।

[२-१ प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक यावत् महासुख वाला देव च्यव (मर) कर क्या द्विशरीरी (दो जन्म धारण करके सिद्ध होने वाले) नागों (सर्पों अथवा हाथियों) में उत्पन्न होता है ?

[२-१ उ.] हाँ गौतम ! (वह) उत्पन्न होता है।

[२] से णं तत्थ अच्चियवंदियपूइयसक्कारियसम्माणिए दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सन्निहियपाडिहेरे यावि भवेज्जा ?

हंता, भवेज्जा।

[२-२ प्र.] भगवन् ! वह वहाँ नाग के भव में अर्चित, वन्दित, पूजित, सत्कारित, सम्मानित, दिव्य, प्रधान, सत्यसत्यावपातरूप अथवा सन्निहित प्रतिहारिक भी होता है ?

[२-२ उ.] हाँ गौतम ! (वह ऐसा) होता है।

[३] से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा ?

हंता, सिज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा।

[२-३ प्र.] भगवन् ! क्या वह वहाँ से अन्तररहित च्यव कर (मनुष्य भव में उत्पन्न होकर) सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, यावत् संसार का अन्त करता है ?

[२-३ उ.] हाँ, (गौतम ! वह वहाँ से सीधा मनुष्य होकर) सिद्ध होता है, यावत् संसार का अन्त करता है।

३. देवे णं भंते ! महड्ढीए एवं जाव बिसरीरेसु मणीसु उववज्जेज्जा ?

एवं चेव जहा नागाणं।

[३ प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक यावत् महासुख वाला देव च्यव कर द्विशरीरी मणियों में उत्पन्न होता है ?

[३ उ.] (हाँ, गौतम !) जैसे नागों के विषय में (कहा, उसी प्रकार इनके विषय में भी कहना चाहिए)।

४. देवे णं भंते ! महड्डीए जाव बिसरीरेसु रुक्खेसु उववज्जेज्जा ? हंता, उववज्जेज्जा। एवं चेव। नवरं इमं नाणत्तं—जाव सन्निहियपाडिहेरे लाउल्लोइयमहिते यावि भवेज्जा? हंता, भवेज्जा। सेसं तं चेव जाव अंतं करेज्जा।

[४ प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक यावत् महासुखवाला देव (च्यव कर क्या) द्विशरीरी वृक्षों में उत्पन्न होता है ?

[४ उ.] हाँ, गौतम ! उत्पन्न होता है। उसी प्रकार (पूर्ववत् सारा कथन करना); विशेषता इतनी ही है कि (जिस वृक्ष में वह उत्पन्न होता है, वह अर्चित आदि के अतिरिक्त) यावत् सन्निहित प्रातिहारिक होता है, तथा उस वृक्ष की पीठिका (चबूतरा आदि) गोबर आदि से लीपी हुई और खड़िया मिट्टी आदि द्वारा उसकी दीवार आदि पोती (सफेदी की) हुई होने से वह पूजित (महित) होता है। शेष समस्त कथन पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत् वह (मनुष्य-भव धारण करके) संसार का अन्त करता है।

विवेचन—महर्द्धिक देव की नाग-मणि-वृक्षादि में उत्पत्ति एवं प्रभाव-सम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत चार सूत्रों में महर्द्धिक देवों की नाग आदि भव में उत्पत्ति, महिमा एवं सिद्धि आदि विषय में चर्चा की गई है।

बिसरीरेसु............. उववज्जेज्जा : आशय—जो दो शरीरों में, अर्थात्—एक शरीर (नाग आदि का भव) छोड़कर तदनन्तर दूसरे शरीर अर्थात्—मनुष्य शरीर को पाकर सिद्ध हों, ऐसे दो शरीरों में उत्पन्न होते हैं। निष्कर्ष यह है कि ऐसे द्विशरीरी नाग, मणि या वृक्ष अपना एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर मनुष्य का ही पाते हैं, जिससे वे सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाते हैं।[१]

महिमा—नाग, मणि या वृक्ष के भव में भी वे देवाधिष्ठित होते हैं। इस कारण नागादि के भव में जिस क्षेत्र में वे उत्पन्न होते हैं, वहाँ उनकी अर्चा, वन्दना, पूजा, सत्कार और सम्मान होता है। वे दिव्य (देवाधिष्ठित), प्रधान (अपनी जाति में प्रधानता पाने वाले), सत्य स्वप्नादि द्वारा सच्चा भविष्यकथन करने वाले होते हैं, उनकी सेवा सत्य—सफल होती है, क्योंकि वे पूर्वसंगतिक प्रातिहारिक (प्रतिक्षण पहरेदार की तरह रक्षक) होकर उनके सन्निहित—अत्यन्त निकट रहते हैं। जो वृक्ष होता है, वह भी देवाधिष्ठित, विशिष्ट और बद्धपीठ होता है, जनता उसकी महिमा, पूजा आदि करती है और वह उसकी पीठिका (चबूतरे) को लीप-पोत कर स्वच्छ रखती है।[२]

सन्निहियपाडिहेरे—जिसके निकटवर्ती प्रातिहार्य—पूर्व संगतिक आदि देवों द्वारा कृत प्रतिहारकर्म रक्षणादि कर्म होता है।[३]

लाउल्लोइयमहिए—लाइयं—अर्थात् गोबर आदि से पीठिका की भूमि लीपने, तथा उल्लोइयखड़िया मिट्टी आदि से दीवारों को पोतकर सफेदी करने से जो महित—पूजित होता है।[४] **नाग**—सर्प या हाथी, **मणि**—पृथ्वीकायिक जीव विशेष।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८२
२. वही, पत्र ५८२
३. वही, पत्र ५८२
४. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८२

शीलादि-रहित वानरादि का नरकगामित्त्व निरूपण

५. अह भंते ! गोलंगूलवसभे कुक्कुडवसभे मंडुक्कवसभे, एए णं निस्सीला निव्वया निग्गुणा निम्मेरा निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए, पुढवीए उक्कोसणं सागरोवमट्ठितीयंसि नरगंसि नेरतियत्ताए उववज्जेज्जा ?

समणे भगवं महावीरे वागरेति—'उववज्जमाणे उववन्ने' त्ति वत्तव्वं सिया।

[५ प्र.] भगवन् ! यदि वानरवृषभ (वानरो में महान् और चतुर), कुर्कुटवृषभ (बड़ा मुर्गा) एवं मण्डूकवृषभ (बड़ा मेंढक) ये सभी नि:शील, व्रतरहित, गुणरहित, मर्यादा-रहित तथा प्रत्याख्यान-पौषधोपवासरहित हों, तो मरण के समय मृत्यु को प्राप्त हो (क्या) इस रत्नप्रभापृथ्वी में उत्कृष्ट सागरोपम की स्थिति वाले नरक में नैरयिक के रूप में उत्पन्न होते हैं ?

[५ उ.] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—(हाँ, गौतम ! ये नैरयिक रूप से उत्पन्न होते हैं;) क्योंकि उत्पन्न होता हुआ उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा जा सकता है।

६. अह भंते ! सीहे वग्घे जहा ओसप्पिणिउद्देसए (स० ७ उ० ६ सु० ३६) जाव परस्सरे एए णं निस्सीला० ?

एवं चेव जाव वत्तव्वं सिया।

[६ प्र.] भगवन् ! यदि सिंह, व्याघ्र यावत् पाराशर (जो कि) सातवें शतक के अवसर्पिणी उद्देशक में (उ. ६ सू. ३६ में) कथित हैं—ये सभी शीलरहित इत्यादि पूर्वोक्तवत् क्या (नैरयिकरूप में) उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] हाँ गौतम ! उत्पन्न होते हैं, यावत् उत्पन्न होता हुआ 'उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा जा सकता है।

७. अह भंते ! ढंके कंके विलए मद्दुए सिखी, एते णं निस्सीला० ?

सेसं तं चेव जाव वत्तव्वं सिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ बारसमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-८ ॥

[७ प्र.] भगवन् ! (जो) ढंक (कौआ) कंक (गिद्ध) बिलक, मेंढक और मोर—ये सभी शीलरहित, इत्यादि हों तो पूर्वोक्तवत् (नैरयिकरूप से) उत्पन्न होते हैं ?

[७ उ.] हाँ, गौतम ! उत्पन्न होते हैं। शेष सब कथन यावत् कहा जा सकता है, (यहाँ तक) पूर्ववत् समझना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—वानरादि-अवस्था में नारक कैसे ?—प्रश्न होता है, मूलपाठ में बताया गया है कि वानर आदि जिस समय वानरादि हैं, उस समय वे नारकरूप नहीं हैं, फिर नारकरूप से कैसे उत्पन्न हुए ? इसका समाधान मूल पाठ में ही किया गया है कि ऐसा भगवान् महावीर कहते हैं, भ. महावीर के सिद्धान्तानुसार जो उत्पन्न हो रहा है, वह उत्पन्न हुआ कहलाता है। क्रियाकाल और निष्ठाकाल में अभेद दृष्टि से यह कथन है। अतः यह ठीक ही कहा है कि जो वानरादि नारकरूप से उत्पन्न होने वाले हैं, वे उत्पन्न हुए हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—गोलांगूलवसभे—गोलांगूलवृषभे—महान् या श्रेष्ठ अथवा विदग्ध (चतुर बुद्धिमान्) वानर। वृषभ शब्द यहाँ विदग्ध या महान् अर्थ में है। **ढंके**—कौआ। **कंके**—गिद्ध। **सिखी**—मोर) **मग्गुए**—मेंढक। **णिस्सा**—शील-शिक्षाव्रतरहित। **णिव्वया**—व्रतरहित। **णिग्गुणा**—गुणव्रतरहित। **णिम्मेरा**—मर्यादारहित। **णिपच्चक्खाणपोसहोववासा**—प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से रहित।[२]

॥ बारहवाँ शतक : अष्टम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

OOO

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८२

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८२

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०८३

नवमो उद्देसओ : 'देव'

नौवाँ उद्देशक : 'देव'

देवों के पांच प्रकार और स्वरूपनिरूपण

१. कतिविहा णं भंते ! देवा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा देवा पन्नत्ता, तं जहा—भवियदव्वदेवा १ नरदेवा २ धम्मदेवा ३ देवाहिदेवा ४ भावदेवा ५।

[१ प्र.] भगवन् ! देव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! देव पांच प्रकार के कहे गए हैं, यथा—(१) भव्यद्रव्यदेव, (२) नरदेव, (३) धर्मदेव, (४) देवाधिदेव, (५) भावदेव।

२. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'भवियदव्वदेवा, भवियदव्वदेवा' ?

गोयमा ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवेसु उववज्जित्तए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ 'भवियदव्वदेवा, भवियदव्वदेवा।'

[२ प्र.] भगवन् ! भव्यद्रव्यदेव, 'भव्यद्रव्यदेव' किस कारण से कहलाते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! जो पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक अथवा मनुष्य, देवों में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे भविष्य में भावी देव होने के कारण भव्यद्रव्यदेव कहलाते हैं।

३. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नरदेवा, नरदेवा' ?

गोयमा ! जे इमे रायाणो चाउरंतचक्कवट्टी उप्पन्नसमत्तचक्करयणप्पहाणा नवनिहिपतिणो समिद्धकोसा बत्तीसं रायवरसहस्साणुयातमग्गा सागरवरमेहलाहिपतिणो मणुस्सिंदा, से तेणट्ठेणं जाव 'नरदेवा, नरदेवा'।

[३ प्र.] भगवन् ! नरदेव 'नरदेव' क्यों कहलाते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! जो ये राजा, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र तथा उत्तर में हिमवान् पर्वत पर्यन्त षट्खण्डपृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती हैं, जिनके यहाँ समस्त रत्नों में प्रधान चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है, जो नौ निधियों के अधिपति हैं, जिनके कोष समृद्ध हैं, बत्तीस हजार राजा जिनके मार्गानुसारी हैं, ऐसे महासागररूप श्रेष्ठ मेखला पर्यन्त पृथ्वी के अधिपति और मनुष्यों में इन्द्र सम हैं, इस कारण नरदेव 'नरदेव' कहलाते हैं।

४. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'धम्मदेवा, धम्मदेवा' ?

गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो ईरियासमिया जाव गुत्तबंभचारी, से तेणट्ठेणं जाव 'धम्मदेवा, धम्मदेवा'।

[४ प्र.] भगवन् ! धर्मदेव 'धर्मदेव' किस कारण से कहे जाते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! जो ये अनगार भगवान् ईर्यासमिति आदि समितियों से युक्त, यावत् गुप्त-ब्रह्मचारी होते हैं; इस कारण से ये धर्म के देव 'धर्मदेव' कहलाते हैं।

५. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'देवाहिदेवा,[१] देवाहिदेवा' ?

गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंता उप्पन्ननाण-दंसणधरा जाव सव्वदरिसी, से तेणट्ठेणं जाव 'देवाहिदेवा, देवाहिदेवा'।

[५ प्र.] भगवन् ! देवाधिदेव 'देवाधिदेव' क्यों कहलाते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! जो ये अरिहन्त भगवान् हैं, वे उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक हैं, यावत् सर्वदर्शी हैं, इस कारण वे यावत् देवाधिदेव, देवाधिदेव कहे जाते हैं।

६. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'भावदेवा, भावदेवा' ?

गोयमा ! जे इमे भवणवति-वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया देवा देवगतिनाम-गोयाइं कम्माइं वेदेंति, से तेणट्ठेणं जाव 'भावदेवा, भावदेवा'।

[६ प्र.] भगवन् ! किस कारण से भावदेव को 'भावदेव' कहा जाता है ?

[६ उ.] गौतम ! जो ये भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क ओर वैमानिक देव हैं, जो देवगति (सम्बन्धी) नाम गोत्रकर्म का वेदन कर रहे हैं, इस कारण से देवभव का वेदन करने वाले, वे 'भावदेव' कहलाते हैं।

विवेचन—भव्यद्रव्यदेव आदि पंचविध देव : अर्थ और स्वरूप—जो क्रीड़ा-स्वभाव वाले हैं, अथवा जिनकी आराध्यरूप से स्तुति की जाती है, वे देव हैं।

(१) भव्यद्रव्यदेव—भव्यद्रव्यदेव में द्रव्य शब्द अप्राधान्यवाचक है। भूतकाल में देव पर्याय को प्राप्त हुए अथवा भविष्यत्काल में देवत्व को प्राप्त करने वाले, किन्तु वर्तमान में देव के गुणों से शून्य होने के कारण वे अप्रधान हैं। भूतकाल पक्ष में—भूतकाल में देवत्व पर्याय को प्राप्त (प्रतिपन्न), भावदेवत्व से च्युत द्रव्यदेव हैं, तथा भाविभाव पक्ष में—भविष्य में देवत्व पर्याय के योग्य—जो देवरूप से उत्पन्न होने वाले हैं, वे भी द्रव्यदेव हैं। प्रस्तुत में भाविभाव पक्ष की दृष्टि से यहाँ 'भव्य एवं द्रव्य देव' का कथन किया गया है।

(२) नरदेव—मनुष्यों में जो देवतुल्य-आराध्य हैं, अथवा क्रीडा-कान्ति आदि विशेषताओं ये युक्त मनुष्येन्द्र-चक्रवर्ती हैं, वे नरदेव कहलाते हैं।

(३) धर्मदेव—श्रुत-चारित्रादि धर्म से जो देवतुल्य हैं, अथवा जो धर्मप्रधान देव हैं, वे धर्मदेव हैं।

(४) देवातिदेव—देवाधिदेव—पारमार्थिक देवत्व के कारण जो शेष (पूर्वोक्त सभी) देवों को अतिक्रान्त कर गए हैं, वे देवातिदेव हैं, अथवा पारमार्थिक देवत्व होने से जो देवों से अधिक श्रेष्ठ हैं, वे देवाधिदेव कहलाते हैं।

---

१. देवातिदेवा, देवाधिदेवा

(५) भावदेव—देवगति आदि कर्मों के उदय से जो देवों में उत्पन्न हैं, देवपर्याय से देव हैं, और देवत्व का वेदन करते हैं, वे भावदेव हैं।[1]

कठिन शब्दार्थ—भविए—भव्य—योग्य। **चाउरंतचक्कवट्टी**—चतुरन्त के स्वामी, चक्र से वर्तनशील। चतुरन्त शब्द के ग्रहण करने से वासुदेव आदि सामान्य नरपतियों का निराकरण हो गया। **सागरवर-मेखलाहिवइणो**—सागर ही जिसकी श्रेष्ठ मेखला (करधनी) है, ऐसी षट्खण्डात्मक पृथ्वी के अधिपति।[2] **णवनिहिपतिणो**—नौ निधियों के स्वामी।[3]

पंचविध देवों की उत्पत्ति का सकारण निरूपण

७. भवियदव्वदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति? कि नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खमणुस्स-देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरि-मणु-देवेहिंतो वि उववज्जंति। भेदो जहा[3] वक्कंतीए। सव्वेसु उववातेयव्वा जाव अणुत्तरोववातिय त्ति। नवरं असंखेज्जवासाउय-अकम्मभूमग-अंतरदीवग-सव्वट्ठसिद्धवज्जं जाव अपराजियदेवेहिंतो वि उववज्जंति, णो सव्वट्ठसिद्धदेवेहिंतो उववज्जंति।

[७ प्र.] भगवन् ! भव्यद्रव्यदेव किन में (किन जीवों या किन गतियों में) से (आकर) उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों में से (आकर) उत्पन्न होते हैं, या तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देवों में से (आकर) उत्पन्न होते हैं?

[७ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों में से (आकर) उत्पन्न होते हैं, तथा तिर्यञ्च, मनुष्य या देवों में से भी उत्पन्न होते हैं। (यहाँ प्रज्ञापना सूत्र के छठे) व्युत्क्रान्ति पद (में कहे) अनुसार भेद (विशेषता) कहना चाहिए। इन सभी की उत्पत्ति के विषय में यावत् अनुत्तरोपपातिक तक कहना चाहिए। विशेष बात यह है कि असंख्यातवर्ष की आयु वाले अकर्मभूमिक तथ अन्तर्द्वीपक एवं सर्वार्थसिद्ध के जीवों को छोड़कर यावत् अपराजित देवों (भवनपति से लेकर अपराजित नामक चतुर्थ अनुत्तरविमानवासी देवों) तक से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु सर्वार्थसिद्ध के देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते।

८. [१] नरदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरतिय० पुच्छा।

गोयमा ! नेरतिएहिंतो उववज्जंति, नो तिरि०, नो मणु०, देवेहिंतो वि उववज्जंति।

[८-१ प्र.] भगवन् ! नरदेव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिक, तिर्यञ्च मनुष्य या देवों में से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[८-१ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, देवों से भी उत्पन्न होते हैं, किन्तु न तो मनुष्य से

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८५

२. (क) वही, पत्र ५८५. (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०८७

३. देखिए—पण्णवणासुत्तं भा. १ छठा व्युत्क्रान्तिपद, सू. ६३९-६५. (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. १६९-७५

और न तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं।

[२] जदि नेरतिएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविनेरतिएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमापुढविनेरतिएहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! रयणप्पभापुढविनेरतिएहिंतो उववज्जंति, नो सक्कर, जाव अहेसत्तमपुढविनेरतिएहिंतो उववज्जंति।

[८-२ प्र.] भगवन् ! यदि वे (नरदेव) नैरयिकों से (आकर) उत्पन्न होते हैं, तो क्या रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों से उत्पन्न होते हैं, (अथवा) यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[८-२ उ.] गौतम ! वे रत्नप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकों में से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु शर्कराप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकों से यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिकों से (आकर) उत्पन्न नहीं होते।

[३] जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति, वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति, वाणमंतर०, एवं सव्वदेवेसु उववाएयव्वा वक्कतीभेदेणं जाव सव्वट्ठसिद्ध त्ति।

[८-३ प्र.] भगवन् ! यदि वे देवों से (आकर) उत्पन्न होते हैं, तो क्या भवनवासी देवों से उत्पन्न होते हैं ? अथवा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क या वैमानिक देवों से (आकर) उत्पन्न होते हैं ?

[८-३ उ.] गौतम ! भवनवासी देवों से भी वाणव्यन्तर देवों से भी। इस प्रकार सभी देवों से उत्पत्ति (उपपात) के विषय में यावत् सर्वार्थसिद्ध तक, (प्रज्ञापनासूत्र के छठे) व्युत्क्रान्ति-पद में कथित भेद (विशेषता) के अनुसार कहना चाहिए।

९. धम्मदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरतिएहिंतो० ?

एवं वक्कंतोभेदेणं सव्वेसु उववाएयव्वा जाव सव्वट्ठसिद्ध त्ति। नवरं तमा-अहेसत्तमातेउ-वाउ-असंखेज्जवासाउय-अकम्मभूमग-अंतरदीवगवज्जेसु।

[९ प्र.] भगवन् ! धर्मदेव कहाँ से (आकर) उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[९ उ.] गौतम ! यह सभी उपपात व्युत्क्रान्ति-पद में उक्त भेद सहित यावत्-सर्वार्थसिद्ध तक कहना चाहिए परन्तु इतना विशेष है कि तमःप्रभा, अधःसप्तम पृथ्वी तथा तेजस्काय, वायुकाय, असंख्यात वर्ष की आयुवाले अकर्मभूमिक तथा अन्तरद्वीपक जीवों को छोड़कर उत्पन्न होते हैं।

१०. [१] देवाहिदेवा णं भंते ! कतोहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति० ? पुच्छा ?

गोयमा ! नेरइएहिंतो उववज्जंति, नो तिरि०, नो मणु०, देवेहिंतो वि उववज्जंति।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! देवाधिदेव कहाँ से (आकर) उत्पन्न होते हैं ?

[१०-१ उ.] गौतम ! वै नैरयिकों से (आकर) उत्पन्न होते हैं, किन्तु तिर्यञ्चों से या मनुष्यों से उत्पन्न नहीं होते। देवों से भी (आकर) उत्पन्न होते हैं।

[२] जति नेरतिएहिंतो० ?

एवं तिसु पुढवीसु उववज्जंति, सेसाओ खोडेयव्वाओ ।

[१०-२ प्र.] (भगवन् !) यदि नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिकों में से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१०-२ उ.] गौतम ! (वे आदि की) तीन नरकपृथ्वियों में से आ कर उत्पन्न होते हैं। शेष चार (नरकपृथ्वियों) से (उत्पत्ति का) निषेध करना चाहिए।

[३] जदि देवेहिंतो० ?

वेमाणिएसु सव्वेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्ध त्ति। सेसा खोडेयव्वा।

[१०-३ प्र.] भगवन् ! यदि वे देवों से (आ कर) उत्पन्न होते हैं, तो क्या भवनपति आदि से (आ कर) उत्पन्न होते हैं ?

[१०-३ उ.] गौतम ! वे समस्त वैमानिक देवों से यावत् सर्वार्थसिद्ध (के देवों) से (आ कर) उत्पन्न होते हैं। शेष (देवों से उत्पत्ति) का निषेध (करना चाहिए।)

११. भावदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति० ?

एवं जहा वक्कंतीए[१] भवणवासीणं उववातो तहा भाणियव्वं।

[११ प्र.] भगवन् ! भावदेव किस गति से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[११ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्ति पद में जिस प्रकार भवनवासियों के उपपात का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ भी करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पाँच सूत्रों (७ से ११ तक) में पूर्वोक्त पंचविध देवों की उत्पत्ति के स्थानों का वर्णन किया गया है।

भव्यद्रव्यदेवों की उत्पत्ति—असंख्यातवर्ष की आयु वाले, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज जीवों एवं सर्वार्थसिद्ध के देवों से आकर भव्यद्रव्यदेवों की उत्पत्ति के निषेध का कारण यह है कि असंख्यातवर्ष की आयु वाले, अकर्मभूमिज एवं अन्तरद्वीपज तो सीधे भावदेवों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु भव्यद्रव्यदेवों (मनुष्य, तिर्यञ्चों) में उत्पन्न नहीं होते हैं और सर्वार्थसिद्ध के देव तो भव्यद्रव्यसिद्ध होते हैं, अर्थात्—वे तो मनुष्यभव प्राप्त करके

---

१. देखिये—पण्णवणासुत्तं भा. १ (महावीर जै. वि.), सू. ६४८-४९, पृ. १७४

सिद्ध हो जाते हैं इसलिए वे सर्वार्थसिद्ध देवलोक से न तो किसी भी देवलोक में उत्पन्न होते हैं और न ही मनुष्यभव में उत्पन्न होकर पुनः भव्यद्रव्यदेवों में उत्पन्न होते हैं।[१]

धर्मदेवों की उत्पत्ति—कोई धर्मदेव तभी बन सकते हैं, जब वे चारित्र (सर्वविरति) ग्रहण करें। छठी नरकपृथ्वी से निकले हुए जीव मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते तथा सप्तम नरकपृथ्वी, तेजस्काय, वायुकाय, असंख्यातवर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तरद्वीपज मनुष्य, तिर्यञ्चों से निकले हुए जीव तो मनुष्यभव भी प्राप्त नहीं कर सकते, तब धर्मदेव (चारित्रयुक्त साधक) कैसे हो सकते हैं ?[२] इसलिए इनसे धर्मदेवों की उत्पत्ति का निषेध किया गया है। **देवाधिदेव की उत्पत्ति**—प्रथम तीन पृथ्वियों से निकले हुए जीव देवाधिदेव (तीर्थंकर) पद प्राप्त कर सकते हैं, आगे की चार पृथ्वियों से नहीं।[३]

भवनपति-सम्बन्धी उपपात का अतिदेश क्यों ?—बहुत से स्थानों से आकर जीव भवनवासी देव के रूप में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उसमें असंज्ञी जीव भी आकर उत्पन्न होते हैं। इसलिए यहाँ भवनपति-सम्बन्धी उपपात का अतिदेश किया है।[४]

कठिन शब्दार्थ—वक्कंतीए—व्युत्क्रान्तिपद में। **खोडेयव्वा**—निषेध करना चाहिए।[५]

पंचविध देवों की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण

१२. भवियदव्वदेवाणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं।

[१२. प्र.] भगवन् ! भव्यद्रव्यदेवों की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१२ उ.] गौतम ! (उनकी स्थिति) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है।

१३. नरदेवाणं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं सत्त वाससयाइं, उक्कोसेणं चउरासीतिं पुव्वसयसहस्साइं।

[१३ प्र.] भगवन् ! नरदेवों की स्थिति कितने काल की है ?

[१३ उ.] गौतम ! (उनकी स्थिति) जघन्य सात सौ वर्ष की और उत्कृष्ट चौरासी लाख पूर्व की है।

१४. धम्मदेवाणं भंते ! पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८५-५८६
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र, ५८६
३. वही, पत्र ५८६
४. वही, पत्र ५८६
५. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०९०

[१४ प्र.] भगवन् ! धर्मदेवों की स्थिति कितने काल की है ?

[१४ उ.] गौतम ! (उनकी स्थिति) जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि की है।

१५. देवाहिदेवाणं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं बावत्तरिं वासाइं, उक्कोसेणं चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं।

[१५ प्र.] भगवन् ! देवाधिदेवों की स्थिति सम्बन्धी पृच्छा है।

[१५ उ.] गौतम ! (उनकी स्थिति) जघन्य बहत्तर वर्ष की और उत्कृष्ट चौरासी लाख पूर्व की है।

१६. भावदेवाणं० पुच्छा।

गोयमा! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीस सागरोवमाइं।

[१६ प्र.] भगवन् ! भावदेवों की स्थिति कितने काल की है ?

[१६ उ.] गौतम ! (भावदेवों की) जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।

विवेचन—प्रस्तुत पंचसूत्रों (१२ से १६ तक) में पूर्वोक्त पांच प्रकार के देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया गया है।

भव्यद्रव्यदेवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त क्यों ?—अन्तर्मुहूर्त आयुष्य वाले पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च, देवरूप में उत्पन्न होते हैं, इसलिए भव्यद्रव्यदेव की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई गई है। तीन पल्योपम की स्थितिवाले देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्य और तिर्यञ्च भी देवों में उत्पन्न होते हैं, और वे भव्यद्रव्यदेव होते हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है।[१]

नरदेव (चक्रवर्ती) की स्थिति—नरदेव (चक्रवर्ती) की जघन्य स्थिति ७०० वर्ष की होती है, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु इतनी ही थी। उत्कृष्ट स्थिति ८४ लाख पूर्व की होती है, जैसे—भरत-चक्रवर्ती की उत्कृष्ट आयु ८४ लाख वर्ष की थी।[२]

धर्मदेव की जघन्य उत्कृष्ट स्थिति—जो मनुष्य अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहते चारित्र (महाव्रत) स्वीकार करता है, उसकी अपेक्षा से धर्मदेव (चारित्री साधु-साध्वी) की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कही गई है। कोई पूर्वकोटि वर्ष की आयुवाला मानव अष्ट वर्ष की आयु में प्रव्रज्या योग्य होने से पूर्वकोटि में आठ वर्ष कम की आयु में चारित्र ग्रहण करे तो उसकी अपेक्षा से धर्मदेव की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि वर्ष की कही गई है। अतिमुक्तक मुनि या वज्रस्वामी, जो क्रमशः ६ वर्ष की एवं ३ वर्ष की आयु में प्रव्रजित हो गए थे, वह कादाचित्क

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

२. वही, पत्र ५८६

है, अत: उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है।[१]

देवाधिदेवों की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति—चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की आयु ७२ वर्ष की थी, इस अपेक्षा से देवाधिदेव की जघन्य स्थिति ७२ वर्ष की कही है, तथा भगवान् ऋषभदेव की उत्कृष्ट आयु ८४ लाख पूर्व की थी, इस अपेक्षा से देवाधिदेव की उत्कृष्ट स्थिति ८४ लाख पूर्व की कही है।[२]

भावदेवों की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति—व्यन्तरदेवों की आयु १० हजार वर्ष की है, इसलिए देवों की जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष की ही है। देवों की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की है, यथा—सर्वार्थसिद्ध देवों की स्थिति ३३ सागगरोपम की है।[३]

पंचविध देवों की वैक्रियशक्ति का निरूपण

१७. भवियदव्वदेवा णं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए, पुहत्तं पि पभू विउव्वित्तए ?

गोयमा ! एगत्तं पि पभू विउव्वित्तए, पुहत्तं पि पभू विउव्वत्तए। एगत्तं विउव्वमाणे एगिंदियरूवं वा जाव पंचिंदियरूवं वा, पुहत्तं विउव्वमाणे एंगिदियरूवाणि वा जाव पंचिंदियरूवाणि वा। ताइं संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा, संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा, सरिसाणि वा असरिसाणि वा विउव्वंति, विउव्वित्ता तओ पच्छा जहिच्छियाइं करेंति।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्या भव्यदेव एक रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ है अथवा अनेक रूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[१७ उ.] गौतम ! वह एक रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ है और अनेक रूपों की विकुर्वणा करने में भी। एक रूप की विकुर्वणा करता हुआ वह एकेन्द्रिय रूप यावत् अथवा एक पंचेन्द्रिय रूप की विकुर्वणा करता है। अनेक रूपों की विकुर्वणा करता हुआ अनेक एकेन्द्रिय रूपों यावत् अथवा अनेक पंचेन्द्रिय रूपों की विकुर्वणा करता है। वे रूप संख्येय या असंख्येय, सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध अथवा सदृश या असदृश विकुर्वित किये जाते हैं। विकुर्वणा करने के बाद वे अपना यथेष्ट कार्य करते हैं।

१८. एवं नरदेवा वि, धम्मदेवा वि।

[१८] इसी प्रकार नरदेव और धर्मदेव के द्वारा विकुर्वणा के विषय में भी (समझना चाहिए)।

१९. देवाहिदेवा णं० पुच्छा।

गोयमा ! एगत्तं पि पभू विउव्वित्तए, पुहत्तं पि पभू विउव्वित्तए, नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

२. वही, पत्र ५८६

३. वही, पत्र ५८६

वा, विउव्वंति वा, विउव्विसंति वा।

[१९ प्र.] भगवन् ! देवाधिदेव (के विकुर्वणा-सामर्थ्य) के विषय में प्रश्न—(क्या वे एक रूप या अनेक रूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं) ?

[१९ उ.] गौतम ! (वे) एक रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं, और अनेक रूपों की विकुर्वणा करने में भी समर्थ हैं। किन्तु शक्ति होते हुए भी उत्सुकता के अभाव में उन्होंने क्रियान्विति रूप में कभी विकुर्वणा नहीं की, नहीं करते हैं और न करेंगे।

२०. भावदेवा जहा भवियदव्वदेवा।

[२०] जिस प्रकार भव्य-द्रव्यदेव (के विकुर्वणा-सामर्थ्य) का (कथन किया) है, उसी प्रकार भावदेव (के विकुर्वणा-सामर्थ्य) का (कथन करना चाहिए)।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (१७ से २० तक) में पूर्वोक्त पंचविध देवों की विक्रियासामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है।

विकुर्वणा-समर्थ भव्यद्रव्यदेव—वे ही भव्यद्रव्यदेव मनुष्य और तिर्यंच एक या अनेक रूपों की विकुर्वणा कर सकते हैं, जो वैक्रियलब्धिसम्पन्न हों ।[१]

देवाधिदेव की वैक्रियशक्ति—देवाधिदेव एक रूप या अनेक रूपों की विकुर्वणा कर सकते हैं। किन्तु वैक्रियशक्ति होते हुए भी वे सर्वथा उत्सुकतारहित होने से विकुर्वणा नहीं करते। निष्कर्ष यह है कि वैक्रियसम्प्राप्ति होते हुए भी उनके द्वारा शक्ति-स्फोट, कदापि (तीन काल में भी) नहीं किया जाता है। विक्रिया उनमें लब्धिमात्र रहती है।[२]

कठिन शब्दार्थ—एगत्तं—एकत्व-एकरूप, **पहुत्तं**—पृथक्त्व अथवा नानारूप ।[३]

पंचविधदेवों की उद्वर्त्तना-प्ररूपणा

२१. [१] भवियदव्वदेवा णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ? किं नरइएसु उववज्जंति, जाव देवेसु उवज्जंति ?

गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति, ? नो तिरि०, नो मणु, देवेसु उववज्जंति।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! भव्यद्रव्यदेव मर कर तुरन्त (बिना अन्तर के) कहाँ (किस गति में) जाते हैं, कहाँ उत्पन्न होते हैं ? क्या वे (मर कर तुरन्त) नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, यावत् अथवा देवों में उत्पन्न होते हैं?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

२. वही, पत्र ५८६

३. वही, पत्र ५८६

[२१-१ उ.] गौतम ! (वे मर कर तुरन्त) न तो नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, न तिर्यञ्चों में और न मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु (एकमात्र) देवों में उत्पन्न होते हैं।

[२] जइ देवेसु उववज्जंति० ?

सव्वदेवेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्ध त्ति।

[२१-२ प्र.] यदि (वे) देवों में उत्पन्न होते हैं (तो भवनपति आदि किन देवों में उत्पन्न होते हैं) ?

[२१-२ उ.] (गौतम !) वे सर्वदेवों में उत्पन्न होते हैं, अर्थात्—असुरकुमार आदि से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक (उत्पन्न होते हैं।)

२२. [१] नरदेवा णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता० पुच्छा।

गोयमा! नेरइएसु उववज्जंति, नो तिरि०, नो मणु०, नो देवेसु उववज्जंति।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! नरदेव मर कर तुरन्त (बिना अन्तर के) कहाँ (किस गति में) (जाते हैं, कहाँ) उत्पन्न होते हैं ?

[२२-१ उ.] गौतम ! (वे) नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, (किन्तु) न तो तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं, न मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और न ही देवों में उत्पन्न होते हैं।

[२] जइ नेरइएसु उववज्जंति, सत्तसु वि पुढवीसु उववज्जंति।

[२२-२ प्र.] भगवन् ! यदि नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं (तो वे पहले से सातवीं नरकपृथ्वी में से किसमें उत्पन्न होते हैं ?)

[२२-२ उ.] गौतम ! (नैरयिकों में भी) वे सातों (नरक) पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं।

२३. [१] धम्मदेवा णं भंते ! अणंतरं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति, नो तिरि०, नो मणु० देवेसु उववज्जंति।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! धर्मदेव आयुष्य पूर्ण कर तत्काल (बिना अन्तर के) कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[२३-१ उ.] गौतम ! (धर्मदेव मर कर तत्काल) न तो नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, न तिर्यञ्चों में और न मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु देवों में उत्पन्न होते हैं।

[२] जइ देवेसु उववज्जंति किं भवणवासि० पुच्छा।

गोयमा ! नो भवणवासिदेवेसु उववज्जंति, नो वाणमंतर०, नो जोतिसिय०, वेमाणियदेवेसु उववज्जंति-सव्वेसु वेमाणिएसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धअणु० जाव उववज्जंति। अत्थेगइया सिज्झंति जाव अंतं करेंति।

[२३-२ प्र.] (भगवन् !) यदि वे देवों में उत्पन्न होते हैं, तो क्या भवनवासिदेवों में उत्पन्न होते हैं, अथवा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क या वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं ?

[२३-२ उ.] गौतम ! वे न तो भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं, न वाणव्यन्तर देवों में और न ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु वैमानिक देवों में—(यहाँ तक कि) सभी वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। (अर्थात्—प्रथम सौधर्मदेव से लेकर) यावत् सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक देवों में उत्पन्न होते हैं। उनमें से कोई-कोई धर्मदेव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त कर देते हैं।

२४. देवाहिदेवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ?

गोयमा ! सिज्झंति जाव अंतं करेंति।

[२४ प्र.] भगवन् ! देवाधिदेव आयुष्य पूर्ण कर दूसरे ही क्षण कहाँ जाते हैं, कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! वे सिद्ध होते हैं, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

२५. भावदेवा णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता० पुच्छा।

जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वा।

[२५ प्र.] भगवन् ! भावदेव, आयु पूर्ण कर तत्काल कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[२५ उ.] गौतम ! (प्रज्ञापनासूत्र के छठे) व्युत्क्रान्तिपद में जिस प्रकार असुरकुमारों की उद्वर्त्तना कही है, उसी प्रकार यहाँ भावदेवों की भी उद्वर्त्तना कहनी चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. २१ से २५ तक) में पूर्वोक्त पंचविध देवों की उद्वर्त्तना (आयुष्य पूर्ण होने) के तत्काल बाद उनकी गति-उत्पत्ति का निरूपण किया गया है।

भव्यद्रव्यदेवों के लिए नरकादिगतित्रयनिषेध—भव्यद्रव्यदेव भाविदेवभव का स्वभाव होने से नारक आदि तीन भवों में जाने और उत्पन्न होने का निषेध किया गया है।[१]

नरदेवों की उद्वर्त्तनानन्तर उत्पत्ति—कामभोगों में आसक्त नरदेव (चक्रवर्ती) उनका त्याग न कर सकने के कारण नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, इसलिए शेष तीन भवों में उनकी उत्पति का निषेध किया गया है। यद्यपि कई चक्रवर्ती देवों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे देवों में या सिद्धों में तभी उत्पन्न होते हैं, जब नरदेवरूप को त्याग कर धर्मदेवत्व प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात्—जब चक्रवर्ती चक्रवर्तित्व छोड़कर चारित्र अंगीकार करके धर्मदेव (साधु) बन जाते हैं।[२]

कठिन शब्दार्थ—उव्वट्टित्ता—उद्वर्त्तना करके—मरकर, शरीर से जीव निकल कर। **अणंतरं**—बिना किसी अन्तर (व्यवधान) के तत्काल, तुरन्त।[३]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

३. पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. १८४-२९

स्व-स्वरूप में पंचविध देवों की संस्थितिप्ररूपणा

२६. भवियदव्वदेवे णं भंते ! 'भवियदव्वदेवे' त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। एवं जच्चेव ठिई सच्चेव संचिट्ठणा वि जाव भावदेवस्स। नवरं धम्मदेवस्स जहन्नेणं एक्कं समय, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी।

[२६ प्र.] भगवन् ! भव्यद्रव्यदेव, भव्यद्रव्यदेवरूप से कितने काल तक रहता है ?

[२६ प्र.] गौतम ! (भव्यद्रव्यदेव) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम तक (भव्यद्रव्यदेवरूप से) रहता है। इसी प्रकार जिसकी जो (भव—) स्थिति कही है, उसी प्रकार उसकी संस्थिति भी यावत् भावदेव तक कहनी चाहिए। विशेष यह है कि धर्मदेव की (संस्थिति) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि वर्ष तक है।

विवेचन—प्रश्न का आशय—भव्यद्रव्यदेव, भव्यद्रव्यदेव-पर्याय को नहीं छोड़ता हुआ, कितने काल तक रहता है ? यानी उसका संस्थिति (संचिट्ठणा) काल कितना है ?[१]

जिसकी जो भवस्थिति पहले कही गई है, वही उनकी संस्थिति (संचिट्ठणा) अर्थात्—उस पर्याय का अनुबन्ध है।[२]

धर्मदेव का जघन्य संचिट्ठणाकाल—कोई धर्मदेव, अशुभभाव को प्राप्त करके, उससे निवृत्त होकर शुभभाव को प्राप्त होने के एक समय बाद मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसलिए धर्मदेव का जघन्य संचिट्ठणा (संस्थिति) काल परिणामों की अपेक्षा से एक समय का कहा गया है।[३]

पंचविध देवों के अन्तरकाल की प्ररूपणा

२७. भवियदव्वदेवस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होती ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सतिकालो।

[२७ प्र.] भगवन् ! भव्यद्रव्यदेव का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! (भव्यद्रव्यदेव का अन्तर) जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल-वनस्पतिकाल पर्यन्त होता है।

२८. नरदेवाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं सागरोवमं, उक्कोसेणं अणंतंकालं अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

२. वही, पत्र ५८६

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८६

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २१०१

[२८ प्र.] भगवन् ! नरदेवों का कितने काल का अन्तर होता है ?

[२८ उ.] गौतम ! (नरदेव का अन्तर) जघन्य सागरोपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट अनन्तकाल, देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्त-काल पर्यन्त होता है।

२९. धम्मदेवस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेण पलिओवमपुहत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढ पोग्गलपरियट्टं देसूणं।

[२९ प्र.] भगवन् ! धर्मदेव का अन्तर कितने काल तक का होता है ?

[२९ उ.] गौतम ! (धर्मदेव का अन्तर) जघन्य पल्योपम-पृथक्त्व (दो से नौ पल्योपम) तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्त्त तक होता है।

३०. देवाहिदेवाणं पुच्छा।

गोयमा ! नत्थि अंतरं।

[३० प्र.] भगवन् ! देवाधिदेवों का अन्तर कितने काल तक का होता है ?

[३० उ.] गौतम ! देवाधिदेवों का अन्तर नहीं होता।

३१. भावदेवस्स णं पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं-वणस्सतिकालो।

[३१ प्र.] भगवन् ! भावदेव का अन्तर कितने काल का होता है ?

[३१ उ.] गौतम ! (भावदेव का अन्तर) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल-वनस्पतिकाल पर्यन्त अन्तर होता है।

विवेचन—अन्तर : आशय—यहाँ पंचविध देवों के अन्तर से शास्त्रकार का यह आशय है कि एक देव को अपना एक भव पूर्ण करके पुन: उसी भव में उत्पन्न होने में जितने काल का जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर (व्यवधान) होता है, वह अन्तर है।

भव्यद्रव्यदेव के जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तर का कारण—कोई भव्यद्रव्यदेव दस हजार वर्ष की स्थिति वाले व्यन्तरादि देवों में उत्पन्न हुआ और वहाँ से च्यव कर शुभ पृथ्वीकायादि में चला गया। वहाँ अन्तर्मुहूर्त तक रहा, फिर तुरन्त भव्यद्रव्यदेव में उत्पन्न हो गया। इस दृष्टि से भव्यद्रव्यदेव का अन्तर अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष होता है। कई लोग यह शंका प्रस्तुत करते हैं कि दस हजार वर्ष का आयुष्य तो समझ में आता है, किन्तु वह जब आयुष्य पूर्ण होने के तुरन्त बाद ही उत्पन्न हो जाता है, शुभ पृथ्वी आदि में फिर अन्तर्मुहूर्त अधिक कैसे लग जाता है, यह समझ में नहीं आता। इसका समाधान करते हुए कोई आचार्य कहते हैं—जिसने देव का आयुष्य बांध लिया है, उसको यहाँ 'भव्यद्रव्यदेव' रूप से समझना चाहिए। इससे दस हजार वर्ष की स्थिति वाला देव, देवलोक से च्यव कर भव्यद्रव्यदेव रूप से उत्पन्न होता है और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् आयुष्य का बन्ध करता है। इसलिए अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष का अन्तर होता है तथा अपर्याप्त जीव देवगति में उत्पन्न नहीं हो सकता है, अत: पर्याप्त होने के बाद ही उसे भव्यद्रव्यदेव मानना चाहिए। ऐसा मानने से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त

अधिक दस हजार वर्ष का होता है।

भव्यद्रव्यदेव मर कर देव होता है और वहाँ से च्यव कर वनस्पति आदि में अनन्तकाल तक रह सकता है, फिर भव्यद्रव्यदेव होता है। इस दृष्टि से उसका उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का होता है।[१]

नरदेव का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर—जिन नरदेवों (चक्रवर्तियों) ने कामभोगों की आसक्ति को नहीं छोड़ा, वे यहाँ से मर कर पहले नरक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ एक सागरोपम की उत्कृष्ट आयु भोग कर पुनः नरदेव हों और जब तक चक्ररत्न उत्पन्न न हो, तब तक उनका जघन्य अन्तर एक सागरोपम से कुछ अधिक होता है। कोई सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती पद प्राप्त करे, फिर वह देशोन अपार्द्ध पुद्‌गलपरावर्त्त काल तक संसार में परिभ्रमण करे, इसके बाद सम्यकत्व प्राप्त कर चक्रवर्तीपद प्राप्त करे और संयम पालन कर मोक्ष जाए, इस अपेक्षा से नरदेव का उत्कृष्ट अन्तर देशोन अपार्द्ध पुद्‌गलपरावर्त्त कहा गया है।[२]

धर्मदेव का जघन्य अन्तर—कोई धर्मदेव (चारित्रवान साधु) सौधर्म देवलोक में पल्योपम-पृथक्त्व आयुष्य वाला देव हो और वह वहाँ से च्यव कर पुनः मनुष्यभव प्राप्त करे। वहाँ वह साधिक आठ वर्ष की आयु में चारित्र ग्रहण करे, इस अपेक्षा से धर्मदेव का जघन्य अन्तर पल्योपमपृथक्त्व कहा गया है।[३]

देवाधिदेव का अन्तर—नहीं होता, क्योंकि वे (तीर्थंकर भगवान्) आयुष्यकर्म पूर्ण होने पर सीधे मोक्ष में जाते हैं।[४]

पंचविध देवों का अल्पबहुत्व

३२. एएसि णं भंते ! भवियदव्वदेवाणं नरदेवाणं जाव भावदेवाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा नरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा संखेज्जगुणा, भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणा भावदेवा असंखेज्जगुणा।

[३२ प्र.] भगवन् ! इन भव्यद्रव्यदेव, नरदेव यावत् भावदेव में से कौन (देव) किन (देवों) से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक होते हैं ?

[३२ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े नरदेव होते हैं, उनसे देवाधिदेव संख्यात-गुणा (अधिक) होते हैं, उनसे धर्मदेव संख्यातगुण (अधिक) होते हैं, उनसे भव्यद्रव्यदेव असंख्यातगुणे होते हैं और उनसे भी भावदेव असंख्यात गुणे होते हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २१०२

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ५८७

३. वही, पत्र ५८७

४. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २१०२

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पंचविधदेवों के अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है ।

नरदेव सबसे थोड़े क्यों हैं—इसका कारण यह कि प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में भरत और ऐरवत क्षेत्र, में प्रत्येक में बारह-बारह चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं तथा महाविदेहक्षेत्रीय विजयों में वासुदेवों के होने से, सभी विजयों में वे एक साथ उत्पन्न नहीं होते।

नरदेवों में देवाधिदेव संख्यातगुणे हैं—इसका कारण यह है कि भरतादि क्षेत्रों में वे चक्रवर्तियों से दुगुने-दुगुने होते हैं और महाविदेहक्षेत्र में भी वे वासुदेवों के विद्यमान रहते भी उत्पन्न होते हैं।

देवाधिदेवों से धर्मदेव संख्यातगुणे क्यों ?—इसका कारण यह है कि साधु एक समय में कोटीसहस्रपृथक्त्व (दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ तक) हो सकते हैं।

धर्मदेवों से भव्यद्रव्यदेव असंख्यातगुणे क्यों ?—देवगतिगामी देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि (मनुष्य तथा तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) धर्मदेवों से असंख्यातगुणे अधिक होते हैं, इस कारण धर्मदेवों से भव्यद्रव्यदेव असंख्यातगुणे कहे गये हैं।

भावदेव उनसे भी असंख्यातगुणे—इसलिए बताए गए हैं कि स्वरूप से ही वे भव्यद्रव्यदेवों से बहुत अधिक हैं।[1]

भवनवासी आदि भावदेवों का अल्पबहुत्व

३३. एएसि णं भंते ! भावदेवाणं—भवणवासीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं, वेमाणियाणं सोहम्मगाणं जाव अच्चुतगाणं, गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववातिया भावदेवा, उवरिमगेवेज्जा भावदेवा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्चुए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, जाव आणते कप्पे देवा संखेज्जगुणा एवं जहा जीवाभिगमे तिविहे देवपुरिसे अप्पाबहुयं जाव जोतिसिया भावदेवा असंखेज्जगुणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ बारसमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-९ ॥

[३३ प्र.] भगवन् ! भवनवासी, वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक, तथा वैमानिकों में भी सौधर्म, ईशान, यावत् अच्युत, ग्रैवेयक एवं अनुत्तरोपपातिक विमानों तक के भावदेवों में कौन (देव) किस (देव) से अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८७

[३३ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े अनुत्तरोपपातिक भावदेव हैं, उनसे उपरिम ग्रैवेयक के भावदेव संख्यातगुणे अधिक हैं, उनसे मध्यम ग्रैवेयक के भावदेव संख्यातगुणे हैं, उनसे नीचे के ग्रैवेयक भावदेव संख्यातगुणे हैं। उनसे अच्युतकल्प के देव संख्यातगुणे हैं, यावत् आनतकल्प के देव संख्यातगुणे हैं। इससे आगे जिस प्रकार जीवाभिगमसूत्र की दूसरी प्रतिपत्ति के त्रिविध (जीवाधिकार) में देवपुरुषों का अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी ज्योतिषी भावदेव असंख्यात गुणे (अधिक) हैं तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर श्री गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में विविध भावदेवों के अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

भावदेवों के अल्पबहुत्व में त्रिविध जीवाधिकार का अतिदेश—प्रस्तुत अल्पबहुत्व में जीवाभिगम सूत्रोक्त त्रिविध जीवाधिकार का अतिदेश किया गया है। वहाँ अल्पबहुत्व इस प्रकार वर्णित है—आरणकल्प से सहस्रारकल्प में भावदेव असंख्यातगुणे हैं, उनसे महाशुक्र में असंख्यातगुणे, उनसे लान्तक में असंख्यातगुणे, उनसे ब्रह्मलोक के देव असंख्यातगुणे हैं। उनसे माहेन्द्रकल्प के देव असंख्यातगुणे हैं। उनसे सनत्कुमार कल्प के देव असंख्यातगुणे, उनसे ईशान के देव असंख्यातगुणे हैं, और ईशान देवों के सौधर्म कल्प से देव संख्यातगुणा हैं। उनसे भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं। उनसे वाणव्यन्तर देव असंख्यातगुणा हैं और वाणव्यन्तर से ज्योतिष्क भावदेव असंख्यातगुणा हैं।[१]

॥ बारहवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त॥

○○○

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८७

(ख) जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति २, त्रिविध जीवाधिकार, (आगमोदयसमिति) वृत्ति, पत्र ७१

दसमो उद्देसओ : आया

दसवाँ उद्देशक : आत्मा

आत्मा के आठ प्रकार

१. कतिविहा णं भंते ! आया पन्नत्ता ?

गोयमा ! अट्ठविहा आया पन्नत्ता, तं जहा—दवियाया कसायाया जोगाया उवयोगाया णाणाया दंसणाया चरित्ताया वीरियाया।

[१ प्र.] भगवन् ! आत्मा कितने प्रकार की कही गई है ?

[१ उ.] गौतम ! आत्मा आठ प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—(१) द्रव्यात्मा, (२) कषायात्मा, (३) योग-आत्मा, (४) उपयोग-आत्मा, (५) ज्ञान-आत्मा, (६) दर्शन-आत्मा, (७) चारित्र-आत्मा और वीर्यात्मा।

विवेचन—आत्मा का स्वरूप—जिसमें सदा उपयोग, अर्थात्—बोध रूप व्यापार पाया जाए, वह आत्मा है।[१] उपयोग रूप लक्षण सामान्यतया सभी आत्माओं में पाया जाता है, किन्तु विशिष्ट गुण अथवा उपाधि को प्रधान मान कर आत्मा के आठ प्रकार बताए हैं।[२]

(१) द्रव्यात्मा—त्रिकालानुमागी देव, मनुष्य आदि विविध पर्यायों से युक्त द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है। यह सभी जीवों के होती है।

(२) कषायात्मा—क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषाय और हास्यादिरूप छह नोकषाय से युक्त आत्मा कषायात्मा कहलाती है। यह आत्मा उपशान्तकषाय एवं क्षीणकषाय आत्माओं के सिवाय सभी संसारी जीवों के होती है।

(३) योग-आत्मा—मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं, तीनों योगों से युक्त आत्मा योग-आत्मा कहलाती है। अयोगी केवली और सिद्धों के अतिरिक्त सभी सयोगी जीवों के यह आत्मा होती है।

(४) उपयोग-आत्मा—ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग-प्रधान आत्मा उपयोग-आत्मा है। अथवा विवक्षित वस्तु के प्रति उपयोग की अपेक्षा से जिसमें वैसा उपयोग हो, वह भी उपयोगात्मा है। यह सिद्ध और संसारी सभी जीवों के होती है।

(५) ज्ञान-आत्मा—विशेष अवबोध रूप सम्यग्ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है।

---

१. 'अतधातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वाद् अतति-सततमवगच्छति उपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा।'—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८९

२. वही, पत्र ५८९

(६) दर्शन-आत्मा—सामान्य-अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा दर्शनात्मा है। दर्शनात्मा सभी जीवों के होती है।

(७) चारित्रात्मा—चारित्रविशिष्ट गुण से युक्त आत्मा को चारित्रात्मा कहते हैं, जो विरति वाले साधु-श्रावकों के होती है।

(८) वीर्यात्मा—उत्थानादिरूप कारणों से युक्त सकरण वीर्य विशिष्ट आत्मा को वीर्यात्मा कहते हैं, जो सभी संसारी जीवों के होती है। सिद्धों में सकरण वीर्य न होने से उनमें वीर्यात्मा नहीं मानी जाती है।

द्रव्यात्मा आदि आठों का परस्पर सहभाव-असहभाव-निरूपण

२ [१] जस्स णं भंते ! दवियाया तस्स कसायाया, जस्स कसायाया तस्स दवियाया ?

गोयमा ! जस्स दवियाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण कसायाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि।

[२-१ प्र.] भगवन् ! जिसके द्रव्यात्मा होती है, क्या उसके कषायात्मा होती है और जिसके कषायात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा होती है ?

[२-१ उ.] गौतम ! जिसके द्रव्यात्मा होती है, उसके कषायात्मा कदाचित् होती है और कदाचित् नहीं भी होती। किन्तु जिसके कषायात्मा होती है, उसक द्रव्यात्मा अवश्य होती है।

[२] जस्स णं भंते ! दवियाया तस्स जोगाया० ?

एवं जहा दवियाया य कसायाया य भणिया तहा दवियाया य जोगाया य भाणियव्वा।

[२-२ प्र.] भगवन् ! जिसके द्रव्यात्मा होती है, क्या उसके योग-आत्मा होती है और जिसके योग-आत्मा होती हे, उसके द्रव्यात्मा होती है ?

[२-२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार द्रव्यात्मा और कषायात्मा का सम्बन्ध कहा है, उसी प्रकार द्रव्यात्मा और योग-आत्मा का सम्बन्ध कहना चाहिए।

[३] जस्स णं भंते ! दवियाया तस्स उवयोगाया० ? एवं सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा।

जस्स दवियाया तस्स उवयोगाया नियमं अत्थि, जस्स वि उवयोगाया तस्स वि दवियाया नियमं अत्थि। जस्स दवियाया तस्स नाणया भयणाए, जस्स पुण नाणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि। जस्स दवियाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि, जस्स वि दंसणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि। जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए, जस्स पुण चरित्ताया तस्स दवियाया नियमं अत्थि। एवं वीरियायाए वि समं।

[२-३ प्र.] भगवन् ! जिसके द्रव्यात्मा होती है क्या उसके उपयोगात्मा होती है और जिसके उपयोगात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा होती है ? इसी प्रकार शेष सभी आत्माओं के द्रव्यात्मा से सम्बन्ध के विषय में पृच्छा करनी चाहिए।

[२-३ उ.] गौतम ! जिसके द्रव्यात्मा होती है, उसके उपयोगात्मा अवश्य होती है और जिसके उपयोगात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा अवश्यमेव होती है। जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा भजना (वैकल्पिक रूप) से होती है (अर्थात्—कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं भी होती।) और जिसके ज्ञानात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा अवश्य होती है। जिसके द्रव्यात्मा होती है, उसके दशर्नात्मा अवश्यमेव होती है तथा जिसके दर्शनात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा भी अवश्य होती है। जिसके द्रव्यात्मा होती है, उसके चरित्रात्मा भजना से होती है, किन्तु जिसके चरित्रात्मा होती है, उसे द्रव्यात्मा अवश्य होती है। जिसे द्रव्यात्मा होती है, उसके वीर्य-आत्मा भजना से होती है, किन्तु जिसके वीर्य-आत्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा अवश्यमेव होती है।

३. [१] जस्स णं भंते ! कसायाया तस्स जोगाया० पुच्छा।

गोयमा ! जस्स कसाया या तस्स जोगाया नियमं अत्थि, जस्स पुण जोगाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नत्थि।

[३-१ प्र.] भगवन् ! जिसके कषायात्मा होती है, क्या उसके योगात्मा होती है ? (इत्यादि) प्रश्न हैं।

[३-१ उ.] गौतम ! जिसके कषायात्मा होती है, उसके योग-आत्मा अवश्य होती है, किन्तु जिसके योग-आत्मा होती है, उसके कषायात्मा कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती।

[२] एवं उवयोगायाए वि समं कसायाता नेयव्वा।

[३-२ प्र.] इसी प्रकार उपयोगात्मा के साथ भी कषायात्मा का परस्पर सम्बन्ध समझ लेना चाहिए।

[३] कसायाया य नाणाया य परोप्परं दो वि भइयव्वाओ।

[३-३ प्र.] कषायात्मा और ज्ञानात्मा इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध भजना से (कादाचित्क) कहना चाहिए।

[४] जहा कसायाया व उवयोगाया य तहा कसायाया य दंसणाया य।

[३-४ प्र.] कषायात्मा और उपयोगात्मा (के परस्पर सम्बन्ध) के समान ही कषायात्मा और दर्शनात्मा (के पारस्परिक सम्बन्ध) का कथन करना चाहिए।

[५] कसायाया य चरित्ताया य दो वि परोप्परं भइयव्वाओ।

[३-५] कषायात्मा और चारित्रात्मा का (परस्पर सम्बन्ध) भजना से कहना चाहिए।

[६] जहा कसायाया य जोगाया य तहा कसायाया य वीरियाया य भाणियव्वाओ।

[३-६] कषायात्मा और योगात्मा के परस्पर सम्बन्ध के समान ही कषायात्मा और वीर्यात्मा के सम्बन्ध का कथन करना चाहिए।

४. एवं जहा कसायायाए वत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्वा।[१]

[४] जिस प्रकार कषायात्मा के साथ अन्य छह आत्माओं के पारस्परिक सम्बन्ध की व्यक्तव्यता कही, उसी प्रकार योगात्मा के साथ भी आगे की पांच आत्माओं के परस्पर सम्बन्ध की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

५. जहा दवियायाए वत्तव्वया भणिया तहा उवयोगायाए वि उवरिल्लहिं समं भाणियव्वा।

[५] जिस प्रकार द्रव्यात्मा की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार उपयोगात्मा की व्यक्तव्यता भी आगे की चार आत्माओं के साथ कहनी चाहिए।

६. [१] जस्स नाणाया तस्स दंसणायां नियमं अत्थि, जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणया भयणाए।

[६-१ प्र.] जिसके ज्ञानात्मा होती है, उसे दर्शनात्मा अवश्य होती है और जिसके दर्शनात्मा होती है, उसके ज्ञानात्मा भजना से होती है।

[२] जस्स नाणाया चरित्ताया सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि।

[६-२] जिसके ज्ञानात्मा होती है, उसे चारित्रात्मा भजना से होती है और जिसके चारित्रात्मा होती है, उसके ज्ञानात्मा अवश्य होती है।

[३] णाणाया य वीरियाया य दो वि परोप्परं भयणाए।

[६-३] ज्ञानात्मा और वीर्यात्मा इन दोनों का परस्पर-सम्बन्ध भजना से कहना चाहिए।

७. जस्स दंसणाया तस्स उवरिमाओ दो वि भयणाए, जस्स पुण ताओ तस्स दंसणाया नियमं अत्थि।

[७] जिसके दर्शनात्मा होती है, उसके चारित्रात्मा और वीर्यात्मा, ये दोनों भजना से होती हैं; किन्तु जिसके चारित्रात्मा और वीर्यात्मा होती है, उसके दर्शनात्मा अवश्य होती है।

८. जस्स चरित्ताया तस्स वीरियाया नियमं अत्थि, जस्स पुण वीरियाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय नत्थि।

[८] जिसके चारित्रात्मा होती है, उसके वीर्यात्मा अवश्य होती है, किन्तु जिसके वीर्यात्मा होती है,उसके चारित्रात्मा होती है, और कदाचित् नहीं भी होती है।

विवेचन—प्रस्तुत सात सूत्रों में अष्टविध आत्माओं के परस्पर सम्बन्ध की अर्थात् एक प्रकार में दूसरा

---

१. **वाचनान्तर**—मूलपाठ इस प्रकार है—जोगाया य चरित्ताया य दोवि परोप्परं भइयव्वाओ। किन्तु वाचनान्तर इस प्रकार है—जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया नियमं ति। तत्र च चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादिव्यापाररूपस्य विवक्षिततत्त्वात् तस्य च योगाविनाभावित्वात्, यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमात् इत्युच्यते। —*भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५११*

प्रकार रहता है या नहीं ? इसकी प्ररूपणा की गई है।

द्रव्यात्मा के साथ शेष आत्माओं का सम्बन्ध—जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है, उसके कषायात्मा, सकषाय अवस्था में होती है, किन्तु उपशान्तकषाय या क्षीणकषाय अवस्था में नहीं होती हैं। किन्तु जिस जीव के कषायात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम से होती है, क्योंकि द्रव्यात्मत्व-जीवत्व के बिना कषायों का होना सम्भव नहीं है।

जिसके द्रव्यात्मा होती है, उसके योगात्मा सयोगी अवस्था में होती है, किन्तु अयोगी अवस्था में द्रव्यात्मा के साथ योगात्मा नहीं होती। इसके विपरीत जिस जीव के योगात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम से होती है, क्योंकि द्रव्यात्मा जीवरूप है, बिना जीव के योगों का होना सम्भव नहीं है।

द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा का परस्पर नित्य अविनाभावी सम्बन्ध होने के कारण द्रव्यात्मा के साथ उपयोगात्मा एवं उपयोगात्मा के साथ द्रव्यात्मा अवश्य होती है, क्योंकि द्रव्यात्मा जीव रूप है और उपयोग उसका लक्षण है, इसलिए दोनों एक दूसरे के साथ नियम से पाई जाती हैं।

जिसके द्रव्यात्मा होती है, उसके ज्ञानात्मा की भजना है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि द्रव्यात्मा के ज्ञानात्मा होती है, मिथ्यादृष्टि के सम्यग्ज्ञान-रूप ज्ञानात्मा नहीं होती; किन्तु ज्ञानात्मा के साथ द्रव्यात्मा अवश्य होती है, क्योंकि द्रव्यात्मा के बिना ज्ञानात्मा संभव नहीं है।

द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा के समान द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा में भी नित्य सम्बन्ध है; क्योंकि सामान्य अवबोधरूप दर्शन तो प्रत्येक जीव के होता है, सिद्ध भगवान् के भी केवलदर्शन होता है। जिसके दर्शनात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम से होती है, जैसे चक्षुदर्शनादि वाले के द्रव्यात्मा होती है। विरतिवाले द्रव्यात्मा के साथ ही चारित्रात्मा पाई जाती है, विरतिरहित संसारी और सिद्ध जीवों में द्रव्यात्मा होने पर भी चारित्रात्मा नहीं पाई जाती है। किन्तु चारित्रात्मा होती है, वहाँ द्रव्यात्मा अवश्य होती है, क्योंकि द्रव्यात्मा के बिना चारित्र सम्भव नहीं है।

द्रव्यात्मा के साथ वीर्यात्मा के सम्बन्ध की भजना है; क्योंकि सकरण वीर्ययुक्त प्रत्येक संसारी जीव (द्रव्यात्मा) के वीर्यात्मा रहती है, किन्तु सिद्धों में सकरण वीर्य न होने से उनकी द्रव्यात्मा के साथ वीर्यात्मा नहीं होती। जहाँ वीर्यात्मा है, वहाँ द्रव्यात्मा अवश्य होती है; क्योंकि वीर्यात्मा वाले समस्त संसारी जीवों में द्रव्यात्मा होती है।

कषायात्मा के साथ आगे की छह आत्माओं का सम्बन्ध : क्यों है, क्यों नहीं ?—जिसके कषायात्मा होती है, उसके योगात्मा अवश्य होती है, क्योंकि सकषायी आत्मा अयोगी नहीं होती। जिसके योगात्मा होती है, उसके कषायात्मा की भजना है, क्योंकि सयोगी आत्मा सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार की होती है।

जिस जीव में कषायात्मा होती है, उसे उपयोगात्मा अवश्य होती है, क्योंकि कोई भी जीव उपयोग से रहित

है ही नहीं। उपयोगात्मा में कषायात्मा की भजना है, क्योंकि ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में तथा सिद्ध जीवों में उपयोगात्मा तो है, किन्तु कषाय का अभाव है।

जिस जीव के कषायात्मा होती है, उसके ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि के कषायात्मा तो होती है, किन्तु ज्ञानात्मा (सम्यग्ज्ञानरूपा) नहीं। सकषायी सम्यग्दृष्टि के ज्ञानात्मा होती है। जिस जीव के ज्ञानात्मा होती है, उसके कषायात्मा की भी भजना है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी कषायसहित भी होते हैं और कषायरहित भी।

जिस जीव के कषायात्मा होती है, उसे दर्शनात्मा अवश्य होती है, दर्शनरहित घटादि जड़ पदार्थों में कषायों का सर्वथा अभाव है। जिसके दर्शनात्मा होती है, उसके कषायात्मा की भजना है, क्योंकि दर्शनात्मा वाले सकषायी और अकषायी दोनों होते हैं।

जिसके कषायात्मा होती है, उसे चारित्रात्मा की भजना है और चारित्रात्मा वालों के भी कषायात्मा की भजना है, क्योंकि कषायवाले जीव विरत और अविरत दोनों प्रकार के होते हैं। अथवा सामायिकादि चारित्र वाले साधकों के कषाय रहती है, जबकि यथाख्यातचारित्र वाले कषायरहित होते हैं।

जिस जीव के कषायात्मा है, उसके वीर्यात्मा अवश्य होती है, जो सकरण वीर्य रहित सिद्ध जीव हैं, उनमें कषायों का अभाव पाया जाता है। वीर्यात्मा वाले जीवों के कषायात्मा की भजना है, क्योंकि वीर्यात्मा वाले जीव सकषायी और अकषायी दोनों प्रकार के होते हैं।

योगात्मा के साथ आगे की पांच आत्माओं का सम्बन्ध : क्यों है, क्यों नहीं ?—जिस जीव के योगात्मा होती है, उसके उपयोगात्मा अवश्य होती है, क्योंकि सभी सयोगी जीवों में उपयोग होता ही है, किन्तु जिसके उपयोगात्मा होती है, उसके योगात्मा होती भी है और नहीं भी होती। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगीकेवली और सिद्ध भगवान् में उपयोगात्मा होते हुए भी योगात्मा नहीं हैं।

जिस जीव के योगात्मा होती है, उसके ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों में योगात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानात्मा वाले जीव के भी योगात्मा की भजना है, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी-केवली और सिद्ध जीवों में ज्ञानात्मा होते हुए भी योगात्मा नहीं होती है।

जिस जीव के योगात्मा होती है, उसे दर्शनात्मा अवश्य होती है, क्योंकि समस्त जीवों में सामान्य अवबोधरूप दर्शन रहता ही है। किन्तु जिस जीव के दर्शनात्मा होती है, उसके योगात्मा की भजना है। दर्शन वाले जीव योगसहित भी होते हैं, योगरहित भी।

जिस जीव के योगात्मा होती है, उसके चारित्रात्मा की भजना है, योगात्मा होते हुए भी अविरत जीवों में चारित्रात्मा नहीं होती। इसी तरह चारित्रात्मा वाले जीवों के भी योगात्मा की भजना है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जीवों के चारित्रात्मा तो है, परन्तु योगात्मा नहीं है। दूसरी वाचना के अनुसार जिसके चारित्रात्मा होती है, उसके योगात्मा अवश्य होती है, क्योंकि प्रत्युपेक्षणादि व्यापाररूप चारित्र योगपूर्वक ही होता है।

जिसके योगात्मा होती है, उसके वीर्यात्मा अवश्य होती है, क्योंकि योग होने पर वीर्य अवश्य होता ही है। किन्तु जिसके वीर्यात्मा होती है, उसके योगात्मा की भजना है, क्योंकि अयोगीकेवली में वीर्यात्मा तो है, किन्तु योगात्मा नहीं है। यह बात करण और लब्धि दोनों वीर्यात्माओं को लेकर कही गई है। जहाँ करणवीर्यात्मा है, वहाँ योगात्मा अवश्यम्भावी है, किन्तु जहा लब्धिविर्यात्मा है, वहाँ योगात्मा की भजना है।

उपयोगात्मा के साथ ऊपर की चार आत्माओं का सम्बन्ध : क्यों है, क्यों नहीं ?—जिस जीव के उपयोगात्मा है, उसमें ज्ञानात्मा की भजना है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवों में उपयोगात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। जिस जीव के ज्ञानात्मा है, उसके उपयोगात्मा तो अवश्य ही होती है। इसी तरह जिस जीव के उपयोगात्मा होती है, उसके दर्शनात्मा और जिसके दर्शनात्मा है, उसके उपयोगात्मा अवश्य ही होती है। जिस जीव के उपयोगात्मा है, उसमें चारित्रात्मा की भजना है, क्योंकि असंयती जीवों के उपयोगात्मा तो होती है, परन्तु चारित्रात्मा नहीं होती। जिस जीव के चारित्रात्मा है, उसके उपयोगात्मा अवश्य ही होती है। जिस जीव में उपयोगात्मा होती है, उसमें वीर्यात्मा की भजना है, क्योंकि सिद्धों में उपयोगात्मा होते हुए भी वीर्यात्मा नहीं पाई जाती।

ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा में उपयोगात्मा अवश्य ही रहती है, क्योंकि जीव का रक्षण ही उपयोग है। उपयोग लक्षण वाला जीव ही ज्ञान दर्शन चारित्र और वीर्य का कारण होता है। उपयोगशून्य घटादि जड़ पदार्थ होते हैं, जिनमें ज्ञानादि नहीं पाये जाते।

ज्ञानात्मा के ऊपर की तीन आत्माओं का सम्बन्ध : क्यों है और क्यों नहीं ?—जिस जीव में ज्ञानात्मा है, उसके दर्शनात्मा अवश्य ही होती है, क्योंकि ज्ञान (समग्ज्ञान) सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है और वह दर्शनपूर्वक ही होता है। जिस जीव के दर्शनात्मा है, उसके ज्ञानात्मा की भजना है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवों के दर्शनात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। जिस जीव के ज्ञानात्मा है, उसके चारित्रात्मा की भजना होती है, अविरति सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञानात्मा होते हुए भी चारित्रात्मा नहीं होती। जिस जीव के चारित्रात्मा है, उसके ज्ञानात्मा अवश्य ही होती है। ज्ञान के बिना चारित्र का अभाव है। जिस जीव में ज्ञानात्मा होती है, उसके वीर्यात्मा की भजना है, क्योंकि सिद्धजीवों में ज्ञानात्मा के होते हुए भी वीर्यात्मा नहीं होती। जिस जीव के वीर्यात्मा है, उसके ज्ञानात्मा की भजना है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवों के वीर्यात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती।

दर्शनात्मा के साथ चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का सम्बन्ध : क्यों और क्यों नहीं ?—जिस जीव के दर्शनात्मा होती है, उसके चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है। क्योंकि दर्शनात्मा के होते हुए भी असंयती जीवों के चारित्रात्मा नहीं होती और सिद्धों के वीर्यात्मा नहीं होती, जबकि उनमें दर्शनात्मा अवश्य होती है। सामान्यावबोधरूप दर्शन तो सभी जीवों में होता है।

चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का सम्बन्ध—जिस जीव के चारित्रात्मा होती है, उसके वीर्यात्मा अवश्य होती है, क्योंकि वीर्य के बिना चारित्र का अभाव है, किन्तु जिस जीव में वीर्यात्मा होती है, उसमें चारित्रात्मा की

भजना है, क्योंकि असंयत जीवों में वीर्यात्मा होते हुए भी चारित्रात्मा नहीं होती।[1]

९ एयासि णं भंते ! दवियायाणं कसायायाणं जाव वीरियायाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ चरित्तायाओ, नाणायाओ अणंतगुणाओ, कसायायाओ अणंतगुणाओ, जोगायाओ विसेसाहियाओ, वीरियायाओ विसेसाहियाओ, उवयोग-दविय-दंसणयाओ तिण्णि वि तुल्लाओ विसेसाहियाओ।

[९ प्र.] भगवन् ! द्रव्यात्मा, कषायात्मा यावत् वीर्यात्मा—इनमें से कौन-सी आत्मा, किससे अल्प, बहुत, यावत् विशेषाधिक है ?

[९ उ.] गौतम ! सबसे थोड़ी चारित्रात्माएँ हैं, उनसे ज्ञानात्माएँ अनन्तगुणी हैं, उनसे कषायात्माएँ अनन्तगुण हैं, उनसे योगात्माएँ विशेषाधिक हैं, उनसे वीर्यात्माएँ विशेषाधिक हैं, उनसे उपयोगात्मा, द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा, ये तीनों विशेषाधिक हैं और तीनों तुल्य हैं।

विवेचन—अल्पबहुत्व : क्यों और कैसे ?—अष्टविध आत्माओं का अल्पबहुत्व मूलपाठ में बताया है। उसका कारण यह है—सबसे कम चारित्रात्माएँ हैं, क्योंकि चारित्रवान् जीव संख्यात ही होते हैं। चारित्रात्मा से ज्ञानात्मा अनन्तगुणी हैं, क्योंकि सिद्ध और सम्यग्दृष्टि जीव चारित्री जीवों से अनन्तगुणे हैं। ज्ञानात्मा से कषायात्मा अनन्तगुणी हैं, क्योंकि सिद्ध जीवों की अपेक्षा सकषायी जीव अनन्तगुणे हैं। कषायात्मा से योगात्मा विशेषाधिक हैं, क्योंकि योगात्मा में कषायात्मा जीव तो सम्मिलित हैं ही और कषायरहित योग वाले जीवों का भी इसमें समावेश हो जाता है। योगात्मा से वीर्यात्मा विशेषाधिक हैं, क्योंकि वीर्यात्मा में अयोगी आत्माओं का भी समावेश हो जाता है। उपयोगात्मा, द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा, ये तीनों परस्पर तुल्य हैं, क्योंकि तीनों विशिष्ट आत्माएँ सभी जीवों में सामान्यरूप से पाई जाती हैं, किन्तु वीर्यात्मा से ये तीनों विशेषाधिक हैं, क्योंकि इन तीनों आत्माओं में वीर्यात्मा वाले संसारी जीवों के अतिरिक्त सिद्ध जीवों का भी समावेश होता है।[2]

१०. आया भंते ! नाणे[3], अन्नाणे ?

गोयमा ! आया सिय नाणे, सिय अन्नाणे, णाणे पुण नियमं आया।

[१० प्र.] भगवन् ! आत्मा ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानस्वरूप है ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५८९-५९०-५९१

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २११० से २११५

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९१

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २११५

३. **पाठान्तर**—'........ नाणे ? अन्ने नाणे ?' (अर्थात्—आत्मा ज्ञानरूप है या अन्य ज्ञानरूप है ?)

[१० उ.] गौतम ! आत्मा कदाचित् ज्ञानरूप है, कदाचित् अज्ञानरूप है। (किन्तु) ज्ञान तो नियम से (अवश्य ही) आत्मस्वरूप है।

विवेचन—प्रश्न का आशय—आचारांगसूत्र में बताया गया है, '**जे आया से विन्नाणे जे विन्नाणे से आया**' (जो आत्मा है, वह विज्ञान रूप है, जो विज्ञान है, वह आत्मरूप है), किन्तु यहाँ पूछा गया है कि 'आत्मा ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप ?' और उसके उत्तर में भगवान् ने आत्मा को कदाचित् ज्ञानरूप कहने के साथ-साथ कदाचित् अज्ञानरूप भी बता दिया है, इसका क्या रहस्य है ? क्या ज्ञान आत्मा से भिन्न है ? इसका उत्तर यह है कि वैसे तो आत्मा ज्ञान से अभिन्न है, वह त्रिकाल में भी ज्ञानरहित नहीं हो सकता, परन्तु यहाँ ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है और अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, अपितु मिथ्याज्ञान है। सम्यक्त्व होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मति-श्रुतादिरूप हो जाता है और मिथ्याज्ञान होने पर ज्ञान, अज्ञान यानी मति-अज्ञानादि रूप हो जाता है। वैसे सामान्यतया ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है क्योंकि वह आत्मा का धर्म है। धर्म धर्मी से कदापि भिन्न नहीं हो सकता। इस अभेददृष्टि से 'ज्ञान को नियम से आत्मा' (आत्मस्वरूप) कहा गया है। अज्ञान भी है तो ज्ञान का ही विकृत रूप, किन्तु वह मिथ्यात्व के कारण विपरीत (मिथ्याज्ञान) हो जाता है। इसलिए यहाँ आत्मा को कथञ्चित् अज्ञान रूप कहा गया है।[१]

११. आया भंते ! नेरइयाणं नाणे, अन्ने नेरइयाणं नाणे ?

गोयमा! आया नेरइयाणं सिय नाणे सिय अन्नाणे, नाणे पुण से नियमं आया।

[११ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की आत्मा ज्ञानरूप है अथवा अज्ञानरूप है ?

[११ उ.] गौतम ! नैरयिकों की आत्मा कथञ्चित् ज्ञानरूप है और कथञ्चित् अज्ञानरूप है। किन्तु उनका ज्ञान नियमत: (अवश्य ही) आत्मरूप है।

१२. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[१२] इसी प्रकार (का प्रश्नोत्तर) 'स्तनितकुमार' (भवनपति देव के अन्तिम प्रकार) तक कहना चाहिए।

१३. आया भंते ! पुढविकाइयाणं अन्नाणे, अन्ने पुढविकाइयाणं अन्नाणे ?

गोयमा ! आया पुढविकाइयाणं नियमं अन्नाणे, अण्णाणे वि नियमं आया।

[१३ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा क्या अज्ञानरूप (मिथ्याज्ञानरूप ही) है ? क्या पृथ्वीकायिकों का अज्ञान अन्य (आत्मरूप नहीं) है ?

[१३ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिकों की आत्मा नियम से अज्ञानरूप है, परन्तु उनका अज्ञान अवश्य ही आत्मरूप है।

---

१. भगवती. अभय. वृत्ति, पत्र ५९२

१४. एवं जाव वणस्सइकाइयाणं।

[१४] इसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों तक कहना चाहिए।

१५. बेइंदिय-तेइंदिय० जाव वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं।

[१५] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि से लेकर यावत् वैमानिक तक के जीवों तक का कथन नैरयिकों के समान (सू. ११ में उक्त के अनुसार) जानना चाहिए।

विवेचन—प्रश्न और उनके आशय—प्रस्तुत ५ सूत्रों (११ से १५ तक) में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डकों में ज्ञान को लेकर प्रश्न किया गया है। प्रश्न का आशय यह है कि नारकों की आत्मा सम्यग्दर्शन होने से ज्ञानरूप (सम्यग्ज्ञान रूप) है अथवा मिथ्यादर्शन होने से अज्ञानरूप है ? भगवान् ने उत्तर में नैरयिकों की आत्मा को कथंचित् ज्ञानरूप और कथंचित् अज्ञानरूप बताया है, उसका आशय भी वही है। किन्तु उनका ज्ञान (सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान) अवश्य ही आत्मरूप है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों के विषय में [उनमें नियमितः अज्ञान (मिथ्याज्ञान) होने से] सीधा ही पूछा गया है कि पृथ्वीकायिक आदि (पांच स्थावरों) की आत्मा अज्ञान रूप है, अथवा अज्ञान पृथ्वीकायिकादि से भिन्न है ? उत्तर में भी यही कहा गया है कि उनकी आत्मा अज्ञानरूप है और अज्ञान उनकी आत्मा से भिन्न (अन्य) नहीं है।[1]

द्वीन्द्रिय से लेकर आगे वैमानिक देवों तक ज्ञान के विषय में प्रश्नोत्तर नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

१६. आया भंते ! दंसणे, अन्ने दंसणे ?

गोयमा ! आया नियमं दंसणे, दंसणे वि नियमं आया।

[१६ प्र.] भगवन् ! आत्मा दर्शनरूप है, या दर्शन उससे भिन्न है ?

[१६ उ.] गौतम ! आत्मा अवश्य (नियमतः) दर्शनरूप है और दर्शन भी नियमतः आत्मरूप है।

१७. आया भंते ! नेरइयाणं दंसणे अन्ने नेरइयाणं दंसणे ?

गोयमा ! आया नेरइयाणं नियमं दंसणे, दंसणे वि से नियमं आया।

[१७ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की आत्मा दर्शनरूप है, अथवा नैरयिक जीवों का दर्शन उनसे भिन्न है ?

[१७ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों की आत्मा नियमतः दर्शनरूप है, उनका दर्शन भी नियमतः आत्मरूप है।

१८. एवं जाव वेमाणियाणं निरंतरं दंडओ।

[२८] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक चौवीस दण्डकों (के दर्शन) के विषय में (कहना चाहिए)।

विवेचन—'आत्मा दर्शन है, दर्शन आत्मा है'—इसी नियम के अनुसार यहाँ दर्शन के विषय में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के लिए कथन किया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों में दर्शन सामान्यरूप से अवश्य रहता है।[2]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९२

१९ [१] आया भंते ! रयणप्पभा पुढवी, अन्ना रयणप्पभा पुढवी ?

गोयमा ! रयणप्पभा पुढवी सिय आया, सिए नो आया, सिय अवत्तव्वं—आया ति य, नो आया ति य।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी आत्मरूप है या वह (रत्नप्रभापृथ्वी) अन्यरूप है ?

[१९-१ उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी कथंचित् आत्मरूप (सद्रूप) है और कथञ्चित् नो-आत्मरूप (असद्रूप) है तथा (आत्मरूप भी है एवं नो-आत्मरूप भी है, इसलिए) कथञ्चित् अवक्तव्य है।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'रयणप्पभा पुढवी सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वं—आया ति य, नो आया ति य ?'

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे नो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं— रयणप्पभा पुढवी आया ति य, नो आया ति य। से तेणट्ठेणं तं चेव जाव नो आया ति य।

[१९-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि रत्नप्रभापृथ्वी कथंचित् आत्मरूप, कथंचित् नो-आत्मरूप और कथंचित् आत्मरूप एवं नो-आत्मरूप (उभयरूप) होने से अवक्तव्य है ?

[१९-२ उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी अपने स्वरूप से व्यपदिष्ट होने पर आत्मरूप (सद्रूप) है, पररूप से आदिष्ट (कथित) होने पर नो-आत्मरूप (असद्रूप) है और उभयरूप की विवक्षा से कथन करने पर सद्-असद्रूप होने से अवक्तव्य है। इसी कारण से हे गौतम ! पूर्वोक्त रूप से यावत् उसे अवक्तव्य कहा गया है।

२०. आया भंते ! सक्करप्पभा पुढवी ?०

जहा रयणप्पभा पुढवी तहा सक्करप्पभा वि।

[२० प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी आत्म(सद्)रूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[२० उ.] गौतम ! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के विषय में कथन किया गया है, वैसे ही शर्कराप्रभा के विषय में भी कहना चाहिए।

२१. एवं जाव अहेसत्तमा।

[२१] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी (सप्तम नरक) तक कहना चाहिए।

२२. [१] आया भंते ! सोहम्मे कप्पे ? ० पुच्छा।

गोयमा ! सोहम्मे कप्पे सिय आया, सिय नो आया, जाव नो आया ति य।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प (प्रथम देवलोक) आत्मरूप (सद्रूप) है? इत्यादि प्रश्न है।

[२२-१ उ.] गौतम ! सौधर्मकल्प कथंचित् आत्मरूप है, कथञ्चित् नो-आत्मरूप है तथा कथञ्चित् आत्मरूप-नो-आत्मरूप (सद-असद्रूप) होने से अवक्तव्य है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव नो आया ति य ?

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे नो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्व आया ति य, नो आया ति य। से तेणट्ठेणं तं चेव जाव नो आया ति य।

[२२-२ प्र.] भगवन् ! इस कथन का क्या कारण है ?

[२२-२ उ.] गौतम ! स्व-स्वरूप की दृष्टि से कथन किये जाने पर आत्मरूप है, पर-रूप की दृष्टि से कहे जाने पर नो-आत्मरूप है और उभयरूप की अपेक्षा से अवक्तव्य है। इसी कारण उपर्युक्त रूप से कहा गया है।

२३. एवं जाव अच्चुए कप्पे।

[२३] इसी प्रकार अच्युतकल्प (बारहवें देवलोक) तक (के पूर्वोक्त स्वरूप के विषय में) जानना चाहिये।

२४. आया भंते ! गेवेज्जविमाणे, अन्ने गेविज्जविमाणे ?

एवं जहा रयणप्पभा तहेव।

[२४ प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयकविमान आत्म(सद्)रूप है ? अथवा वह उससे भिन्न (नो-आत्मरूप) है ?

[२४ उ.] गौतम ! इसका कथन रत्नप्रभापृथ्वी के समान करना चाहिए।

२५. एवं अणुत्तरविमाणा वि।

[२५] इसी प्रकार अनुत्तरविमान तक कहना चाहिए।

२६. एवं ईसिपब्भारा वि।

[२६] इसी प्रकार ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक कहना चाहिए।

विवेचन—रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारा तक के आत्म-अनात्म विषयक प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. १९ से २६ तक) में रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक के आत्मरूप और अनात्मरूप के सम्बन्ध चर्चा की गई है।

आत्मा-अनात्मा : भावार्थ—प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों में आत्मा का अर्थ है- सद्रूप और अनात्मा (अन्य) का अर्थ है—असद्रूप। किसी भी वस्तु को एक साथ सद्रूप और असद्रूप नहीं कहा जा सकता, वैसी स्थिति में वस्तु 'अवक्तव्य' कहलाती है।[१]

रत्नप्रभा आदि पृथ्वी : तीनों रूपों में—रत्नप्रभापृथ्वी से ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक स्व-स्वरूप की अपेक्षा से अर्थात्—अपने वर्णादि पर्यायों से—सद् (आत्म) रूप है। पररूप की अर्थात्—परवस्तु की पर्यायों की अपेक्षा से असद् (अनात्म) रूप है, और उभय रूप—स्व-पर-पर्यायों की अपेक्षा से, आत्म (सद्) रूप, और

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९४

असद अनात्म (असद) रूप इन दोनों द्वारा एक साथ कहना अशक्य होने से अवक्तव्य है। इस दृष्टि से यहाँ प्रत्येक पृथ्वी के सद्‌रूप, असद्‌रूप और अवक्तव्य, ये तीन भंग होते हैं।[1]

आदिट्ठे—आदिष्ट : भावार्थ—(उसकी अपेक्षा से) कथन किये जाने पर।[2]

२७. आया भंते ! परमाणुपोग्गले, अन्ने परमाणुपोग्गले ?

एवं जहा सोहम्मे तहा परमाणुपोग्गले वि भाणियव्वे।

[२७ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्‌गल आत्मरूप (सद्‌रूप) अथवा वह (परमाणु-पुद्‌गल) अन्य (अनात्म—असद्‌रूप) है ?

[२७ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार सौधर्मकल्प (देवलोक) के विषय में कहा है, उसी प्रकार परमाणु-पुद्‌गल के विषय में कहना चाहिए।

२८. [१] आया भंते ! दुपदेसिए खंधे, अन्ने दुपएसिए खंधे ?

गोयमा ! दुपएसिए खंधे सिय आया १, सिया नो आया २, सिय अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ३, सिय आया य नो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ५, सिय नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ६।

[२८-१ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मरूप (सद्‌रूप) है, (अथवा) वह अन्य (असद्‌रूप) है ?

[२८-१ उ.] गौतम ! १-द्विप्रदेशी स्कन्ध कथंचित् सद्‌रूप है, २-कथंचित् असद्‌रूप है, और ३-सद्-असद्‌रूप होने से कथंचित् अवक्तव्य है। ४-कथंचित् सद्‌रूप है और कथंचित् असद्‌रूप है, ५-कथंचित् स्वरूप है और सद्-असद्-उभयरूप होने से अवक्तव्य है और ६-कथंचित् असद्‌रूप है और सद्-असद्-उभयरूप होने से अवक्तव्य है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं० तं चेव जाव नो आया य, अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ?

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १; परस्स आदिट्ठे नो आया २; तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं-दुपएसिए खंधे आया ति य, नो आया ति य ३; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य नो आया य ४: देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपएसिए खंधे आया , अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ५; देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९४

२. (क) वही, पत्र ५९४

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २११८

तदुभयपज्जवे दुपएसिए खंधे नो आया य, अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ६। से तेणट्ठेणं तं चेव ज़ाव नो आया ति य।

[२८-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा (कहा जाता है कि द्विप्रदेशी स्कन्ध कथंचित् सद्रूप है, इत्यादि।) यावत् कथंचित् असद्रूप है और सद्-असद् उभयरूप होने से अवक्तव्य है ?

[२८-२ उ.] गौतम ! (द्विप्रदेशी स्कन्ध) १-अपने स्वरूप की अपेक्षा से कथन किये जाने पर सद्रूप है, २-पररूप की अपेक्षा से कहे जाने पर असद्रूप है और ३-उभयरूप की अपेक्षा से अवक्तव्य है तथा ४-सद्भावपर्याय वाले अपने एक देश की अपेक्षा से व्यपदिष्ट होने पर (उस देश की वर्णादि रूप पर्यायों से युक्त होने के कारण) सद्रूप है तथा असद्भाव पर्याय वाले द्वितीय देश से आदिष्ट होने पर, (उसकी वर्णादि पर्यायों से युक्त न होने के कारण) असद्रूप है। (इस दृष्टि से) कथंचित् सद्रूप और कथंचित् असद्रूप है। ५-सद्भाव पर्याय वाले एक देश की अपेक्षा से आदिष्ट होने पर (सद्भाव पर्याय वाले अपने देश की सद्भाव पर्यायों से) सद्रूप और सद्भाव-असद्भाव वाले दूसरे देश की अपेक्षा से द्विप्रदेशी स्कन्ध सद्रूप-असद्रूप उभयरूप होने से अवक्तव्य है। ६-एक देश की अपेक्षा से असद्भाव पर्याय की विवक्षा से तथा द्वितीय देश के सद्भाव-असद्भावरूप उभय-पर्याय की अपेक्षा से द्विप्रदेशी स्कन्ध असद्रूप और अवक्तव्यरूप है। इसी कारण (हे गौतम !) द्विप्रदेशी स्कन्ध को (पूर्वोक्त प्रकार से) यावत् कथंचित् असद्रूप और सद्-असद्-उभयरूप होने से अवक्तव्य कहा गया है।

विवेचन—परमाणु पुद्गल और द्विप्रदेशी स्कन्ध के सद्-असद्रूप भंग—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. २७-२८) में परमाणु-पुद्गल एवं द्विप्रदेशी स्कन्ध के सद्-असद्रूप सम्बन्धी भंगों का निरूपण किया गया हैं।

परमाणु-पुद्गल सम्बन्धी तीन भंग—इसके असंयोगी तीन भंग होते हैं-(१) सद्रूप, (२) असद्रूप एवं (३) अवक्तव्य।[१]

द्विप्रदेशी स्कन्ध सम्बन्धी छह भंग—तीन असंयोगी भंग पूर्ववत् सकल स्कन्ध की अपेक्षा से—(१) सद्रूप, (२) असद्रूप और (३) अवक्तव्य। तीन **द्विकसंयोगी** भंग देश की अपेक्षा से—(४) द्विप्रदेशी स्कन्ध होने से उसके एक देश की स्वपर्यायों द्वारा सद्रूप की विवक्षा की जाए और दूसरे देश की पर-पर्यायों द्वारा असद्रूप से विवक्षा की जाए तो द्विप्रदेशी स्कन्ध अनुक्रम से कथंचित् सद्रूप और कथंचित् असद्रूप होता है। (५) उसके एकदेश की स्वपर्यायों द्वारा सद्रूप से विवक्षा की जाए और दूसरे देश से सद्-असद्-उभयरूप से विवक्षा की जाए तो कथंचित् सद्रूप और कथंचित् अवक्तव्य कहलाता है। (६) जब द्विप्रदेशी स्कन्ध के एक देश की पर्यायों द्वारा असद्रूप से विवक्षा की जाए और दूसरे देश कीं उभयरूप से विवक्षा की जाए तो असद्रूप और अवक्तव्य कहलाता है।

कथंचित् सद्रूप, कथंचित् असद्रूप और कथंचित् अवक्तव्यरूप, इस प्रकार सातवाँ भंग द्विप्रदेशी स्कन्ध

---

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्र ५९५

में नहीं बनता है। क्योंकि उसके केवल दो ही अंश हैं।[1]

२९. [१] आया भंते ! तिपएसिए खंधे, अन्ने तिपएसिए खंधे ?

गोयमा ! तिपएसिए खंधे सिए आया १, सिय नो आया २, सिय अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ३, सि आया य नो आया य ४, सिय आया य नो आयाओ य ५, सिय आयाओ य नो आया य ६, सिय आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ७, सिय आया य अवत्तव्वाइं—आयाओ य नो आयाओ य ८, सिय आयाओ य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ९, सिय नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १०, सिय नो आया य अवत्तव्वाइं—आयाओ य नो आयाओ य ११, सिय नो आयाओ य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १२, सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १३।

[२९-१ प्र.] भगवन् ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा (सद्रूप) अथवा उससे अन्य (असद्रूप) है ?

[२९-१ उ.] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध १- कथंचित् सद्रूप (आत्मा) है। २-कथंचित् असद्रूप (नो-आत्मा) है। ३- सद्-असद्-उभयरूप होने से कथंचित् अवक्तव्य है। ४-कथंचित् आत्मा (सद्रूप) और कथंचित् नो आत्मा (असद्रूप) है। ५-कथंचित् सद्रूप (आत्मा) और अनेक असद्रूप (नो आत्माएँ) हैं। ६-कथंचित् अनेक असद्रूप (आत्माएँ) तथा असद्रूप (नो आत्मा) है। ७-कथंचित् सद्रूप (आत्मा) और सद्-असद्-उभयरूप होने से अवक्तव्य है। ८-कथंचित् आत्मा (सद्रूप) तथा अनेक सद्-असद्रूप (आत्माएँ तथा नो आत्माएँ) होने से अवक्तव्य है। ९-कथंचित् आत्माएँ (अनेक असद्रूप) तथा आत्मा-नो आत्मा (सद्-असद्) उभयरूप से—अवक्तव्य है। १०-कथंचित् नो आत्मा (असद्रूप) तथा आत्मा-नो-आत्मा (सद्-असद्) उभयरूप होने से अवक्तव्य है। ११-कथंचित् नो आत्मा (असद्रूप), तथा आत्माएँ-नो आत्माएँ (अनेक सद्-असद्रूप)—उभयरूप होने से अवक्तव्य हैं। १२-कथंचित् नो आत्माएँ (अनेक असद्रूप) तथा आत्माएँ-नो-आत्माएँ (अनेक सद्-असद्रूप) उभयरूप होने से—अवक्तव्य हैं, और १३-कथंचित् आत्मा (सद्रूप), नो-आत्मा (असद्रूप) और आत्मा-नो-आत्मा (सद्-असद्) उभयरूप होने से अवक्तव्य है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'तिपएसिए खंधे सिय आया य० एवं चेव उच्चारेयव्वं जाव सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ?

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १; परस्स आदिट्ठे नो आया २; तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आया ति य नो आया ति य ३; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य नो आया य ४; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसा आइट्ठा असब्भावपज्जवा तिपएसिए खंधे आया य नो आयाओ य ५; देसा आदिट्ठे सब्भावपज्जवा, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपएसिए खंधे आयाओ य नो आया य ६; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे

---

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्र ५९५

आया य अवत्तव्वं—आया इ य नो आया ति य ७; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपएसिए खंधे आया य अवत्तव्वाइं—आयाओ य नो आयाओ य ८; देसा आदिट्ठे सब्भावपज्जवा, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे आयाओ य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ९; एए तिण्णि भंगा। देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १०; देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपएसिए खंधे नो आया य अवत्तव्वाइं—आयाओ य नो आयाओ य ११; देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे नो आयाओ य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १२; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे आया य नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १३; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ तिपएसिए खंधे सिय आया० तं चेव जाव नो आया ति य।

[२९-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि त्रिप्रदेशी स्कन्ध कथंचित् आत्मा है, इत्यादि सब पूर्ववत्, कथंचित् आत्मा है, नो आत्मा है, और आत्मा-नो आत्म उभयरूप होने से अवक्तव्य है ? तक उच्चारण करना चाहिए।

[२९-२ उ.] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध १-अपने आदेश (अपेक्षा) से आत्मा (सद्रूप) है; २-पर के आदेश से नो आत्मा (असद्रूप) है, ३-उभय के आदेश से आत्मा और नो आत्मा इस प्रकार उभयरूप होने से अवक्तव्य है। ४-एक देश के आदेश से सद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से असद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से वह त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा और नो-आत्मारूप है। ५-एक देश के आदेश के सद्भाब पर्याय की अपेक्षा से और बहुत देशों के आदेश से असद्भाव पर्याय की अपेक्षा से, वह त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा और नो-आत्माएँ हैं। ६- बहुत देशों के आदेश से सद्भाव पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से असद्भाव पर्याय की अपेक्षा से त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्माएं और नो आत्मा है। ७-एक देश के आदेश से सद्भाव पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से उभय-(सद्भाव और असद्भाव) पर्याय की अपेक्षा से त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा और आत्मा तथा नो आत्मा—उभयरूप से अवक्तव्य है। ८-एक देश के आदेश से, सद्भावपर्याय की अपेक्षा से और बहुत देशों के आदेश से, उभयपर्याय की विवक्षा से त्रिप्रदेशी स्कन्ध, आत्मा और आत्माएँ तथा नो आत्माएं, इस प्रकार उभयरूप से अवक्तव्य है। ९-बहुत देशों के आदेश से सद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से उभयपर्याय की अपेक्षा से त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्माएँ और आत्मा-नो-आत्मा-उभयरूप से अवक्तव्य है। ये तीन भंग जानने चाहिए। १०-एकदेश के आदेश से असद्भाव पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से उभयपर्याय की अपेक्षा से त्रिप्रदेशी स्कन्ध नो आत्मा और आत्मा नो-आत्मा-उभयरूप से अवक्तव्य है। ११-एक देश के आदेश से असद्भाव पर्याय की अपेक्षा से और बहुत देशों के आदेश से और तदुभय-पर्याय की अपेक्षा से, त्रिप्रदेशी स्कन्ध नो-आत्मा और आत्माएँ तथा नो आत्मा इस उभयरूप से अवक्तव्य है। १२-बहुत देशों के आदेश से असद्भाव पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से तदुभय

पर्याय की अपेक्षा से, त्रिप्रदेशी स्कन्ध नो-आत्माएँ और आत्मा तथा नो-आत्मा इस उभयरूप से अवक्तव्य है। १३-एक देश के आदेश से सद्भाव पर्याय की अपेक्षा से, एक देश के आदेश से असद्भाव पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से तदुभय पर्याय की अपेक्षा से, त्रिप्रदेशी स्कन्ध कथञ्चित् आत्मा, नो आत्मा और आत्मा-नो आत्मा-उभयरूप से अवक्तव्य है। इसलिए हे गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध को कथंचित् आत्मा, यावत्-आत्मा-नो आत्मा उभयरूप से अवक्तव्य कहा गया है।

विवेचन—त्रिप्रदेशी स्कन्ध के आत्मा-नो-आत्मा-सम्बन्धी तेरह भंग—प्रस्तुत विषय में त्रिप्रदेशी स्कन्ध के तेरह भंग होते हैं—उनमें से पूर्वोक्त सप्त भंगों में से सकलादेश से सम्पूर्ण स्कन्ध की अपेक्षा से तीन भंग असंयोगी हैं, तत्पश्चात् नौ भंग द्विकसंयोगी हैं तथा एक भंग (तेरहवाँ) त्रिकसंयोगी है।[1]

३०. [१] आया भंते ! चउप्पएसिए खंधे, अन्ने० पुच्छा।

गोयमा ! चउप्पएसिए खंधे सिय आया १, सिय नो आया २, सिय अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ३, सिय आया य नो आया य ४-७, सिय आया य अवत्तव्वं ८-११, सिय नो आया य अवत्तव्वं १२-१५, सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १६, सिय आया य नो आया य अवत्तव्वाइं—आयाओ य नो आयाओ य १७, सिय आया य नो आयाओ य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १८, सि आयाओ य नो आया य अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १९।

[३०-१ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा (सद्रूप) है, अथवा उससे अन्य (असद्रूप) है ?

[३०-१ उ.] गौतम ! चतुष्प्रदेशी स्कन्ध—(१) कथंचित् आत्मा है, (२) कथंचित् नो आत्मा है। (३) आत्मा-नो-आत्मा उभयरूप होने से—अवक्तव्य है। (४-७) कथंचित् आत्मा और नो आत्मा है (एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से चार भंग); (८-११) कथंचित् आत्मा और अवक्तव्य है (एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से चार भंग); (१२-१५) कथञ्चित् नो आत्मा और अवक्तव्य; (एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से चार भंग); (१६) कथंचित् आत्मा और नो आत्मा तथा आत्मा-नो आत्मा उभयरूप से अवक्तव्य है। (१७) कथंचित् आत्मा और नो आत्मा तथा आत्माएं और नो-आत्माएँ उभय होने से अवक्तव्य है। (१८) कथंचित् आत्मा और नो-आत्माएँ तथा आत्मा-नो आत्मा-उभयरूप होने से—(कथंचित्) अवक्तव्य है और (१९) कथंचित् आत्माएँ, नो-आत्मा तथा आत्मा-नो आत्मा-उभयरूप होने से (कथंचित्) अवक्तव्य हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—चउप्पएसिए खंधे सिय आया य, नो आया य, अवत्तव्वं० तं चेव अट्ठे पडिउच्चारेयव्वं।

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे नो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं०

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९५

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २१२६

३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे चउभंगो, सब्भावपज्जवेणं तदुभयेण य चउभंगो, असब्भावेणं तदुभयेण य चउभंगो; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पएसिए खंधे आया य, नो आया य, अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य; देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा चउप्पएसिए खंधे आया य, नो आया य, अवत्तव्वाइं—आयाओ य नो आया य, १७, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा, देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पएसिए खंधे आया य, नो आयाओ य, अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य १८, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवा, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे तदुभयज्जवे चउप्पएसिए खंधे आताओ य, नो आया य, अवत्तव्वे—आया ति य नो आया ति य १९। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ चउप्पएसिए खंधे सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वं। निक्खेवे ते चेव भंगा उच्चारेयव्वा जाव नो आया ति य।

[३०-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि चतुष्प्रदेशी स्कन्ध कथंचित् आत्मा (सद्रूप) आदि होता है ?

[३०-२ उ.] गौतम ! (१) अपने आदेश (अपेक्षा) से (चतुष्प्रदेशी स्कन्ध) आत्मा (सद्रूप) है, (२) पर के आदेश से (वह) नो आत्मा है; (३) तदुभय (आत्मा और नो-आत्मा, इस उभयरूप) के आदेश से अवक्तव्य है। (४-७) एक देश के आदेश से सद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से और एक देश के आदेश से असद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से (एकवचन और बहुवचन के आश्रयी) चार भंग होते हैं। (८-११) सद्भावपर्याय और तदुभयपर्याय की अपेक्षा से (एकवचन बहुवचन आश्रयी) चार भंग होते हैं। (१२-१५) असद्भावपर्याय और तदुभयपर्याय की अपेक्षा से (एकवचन-बहुवचन-आश्रयी) चार भंग होते हैं। (१६) एक देश के आदेश से सद्भावपर्याय की अपेक्षा से, एक देश के आदेश से असद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से और बहुत देशों के ओदश से तदुभय-पर्याय की अपेक्षा से चतुष्प्रदेशी स्कन्ध, आत्मा, नो आत्मा और आत्मा-नो-आत्मा-उभयरूप होने से अवक्तव्य है। (१७) एक देश के आदेश से सद्भाव पर्याय की अपेक्षा से, एक देश के आदेश से असद्भावपर्याय की अपेक्षा से और बहुत देशों के आदेश से तदुभय-पर्याय की अपेक्षा से चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा नो आत्मा, और आत्माएँ-नो-आत्माएँ इस उभयरूप से अवक्तव्य है। (१८) एक देश के आदेश से सद्भावपर्याय की अपेक्षा से बहुत देशों के आदेश से असद्भावपर्यायों की अपेक्षा से और एकदेश के आदेश से तदुभयपर्याय की अपेक्षा से चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा, नो-आत्माएँ और आत्मा-नो-आत्मा उभयरूप से अवक्तव्य है। (१९) बहुत देशों के आदेश से सद्भाव-पर्यायों की अपेक्षा से, एक देश के आदेश से असद्भावपर्याय की अपेक्षा से तथा एक देश के आदेश से तदुभयपर्याय की अपेक्षा से चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्माएँ नो आत्मा और आत्मा-नो आत्मा उभयरूप से अवक्तव्य है। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि चतुष्प्रदेशी स्कन्ध कथंचित् आत्मा है, कथंचित् नो-आत्मा है और कथंचित् अवक्तव्य है। इस निक्षेप में पूर्वोक्त सभी भंग 'नो आत्मा है' तक कहना चाहिए।

विवेचन—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के उन्नीस भंग—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध में भी त्रिप्रदेशी स्कन्ध के समान जानना चाहिए। अन्तर यही है कि चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के १९ भंग बनते हैं। सप्तभंगी में से तीन भंग तो सकलादेश की विवक्षा एवं सम्पूर्ण स्कन्ध की अपेक्षा से असंयोगी होते हैं। शेष सप्तभंगी के चार भंगों में प्रत्येक के चार-चार विकल्प होते हैं। उनमें बारह भंग तो द्विसंयोगी होते हैं। शेष चार भंग त्रिसंयोगी होते हैं।[१]

<table>
<tr><td></td><td colspan="3">३</td><td>१२</td><td>४</td><td>—</td></tr>
<tr><td rowspan="2">रेखाचित्र इस प्रकार है—</td><td>आ.</td><td>नो</td><td>अवक्तव्य</td><td rowspan="2">१ २ १ २
१ १ २ २</td><td rowspan="2">१ २ १ १
१ १ २ १
१ १ १ २</td><td rowspan="2">= १९ भंग</td></tr>
<tr><td>१</td><td>१</td><td>१</td></tr>
</table>

३१. [१] आया भंते ! पंचपएसिए खंधे, अन्ने पंचपएसिए खंधे ?

गोयमा ! पंचपएसिए खंधे सिय आया १, सिय नो आया २, सिय अवत्तव्वं—आया ति य नो आया ति य ३, सिय आया य नो आया य ४-७, सिय आया य अवत्तव्वं ८-११, नो आया य आया-अवत्तव्वेण य १२-१५, तियगसंजोगे एक्को ण पडइ १६-२२।

[३१ प्र.] भगवन् ! पंचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, अथवा अन्य (नो आत्मा) है ?

[३१ उ.] गौतम ! पंचप्रदेशी स्कन्ध (१) कथंचित् आत्मा है, (२) कथंचित् नो आत्मा है, (३) आत्मा-नो-आत्मा-उभयरूप होने से कथंचित् अवक्तव्य है। (४-७) कथंचित् आत्मा और नो आत्मा (के चार भंग) (८-११) कथंचित् आत्मा और अवक्तव्य (के चार भंग), (१२-१५) (कथंचित्) नो आत्मा और अवक्तव्य (के चार भंग) (१६-२२) तथा त्रिकसंयोगी आठ भंगों में एक (आठवाँ) भंग घटित नहीं होता, अर्थात् सात भंग होते हैं। कुल मिला कर बावीस भंग होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते !० तं चेव पडिउच्चारेयव्वं ।

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे नो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं० ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे, एवं दुयगसंजोगे सव्वे पडंति। तियगसंजोगे एक्कोण पडइ।

[३१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा गया है कि पंचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, इत्यादि प्रश्न, यहाँ सब पूर्ववत् उच्चारण करना चाहिए।

[३१-२ उ.] गौतम ! पंचप्रदेशी स्कन्ध, (१) अपने आदेश से आत्मा है; (२) पर के आदेश से नो-आत्मा है, (३) तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है। (४-१५) एक देश के आदेश से, सद्भाव-पर्याय की अपेक्षा

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९५

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ४, पृ. २१२९

से तथा एक देश के आदेश से असद्भाव-पर्याय की अपेक्षा से कथंचित् आत्मा है, कथंचित् नो-आत्मा है। इसी प्रकार द्विकसंयोगी सभी (बारह) भंग बनते हैं। (१६-२२) त्रिकसंयोगी (आठ भंग होते हैं, उनमें से एक आठवां भंग नहीं बनता है)।

३२. छप्पएसियस्स सव्वे पडंति।

[३२] षट्प्रदेशी स्कन्ध के विषय में ये सभी भंग बनते हैं।

३३. जहा छप्पएसिए एवं जाव अणंतपएसिए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ बारसमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ १२-१० ॥

॥ बारसमं सयं समत्तं ॥ १२ ॥

[३३] जैसे षट्प्रदेशी स्कन्ध के विषय में भंग कहे हैं, उसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—पंचप्रदेशी से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के भंग—पंचप्रदेशी स्कन्ध के २२ भंग बनते हैं। इनमें से पहले के तीन भंग पूर्ववत् सकलादेशरूप हैं। इसके पश्चात् द्विसंयोगी बारह भंग होते हैं तथा त्रिकसंयोगी आठ भंग होते हैं। आठवाँ भंग यहाँ असम्भव होने से घटित नहीं होता। षट्प्रदेशी स्कन्ध में और इससे आगे यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक २३-२३ भंग होते हैं। उनका विवरण पूर्ववत् समझाना चाहिए।[१]

॥ बारहवाँ शतक : दशवाँ उद्देशक समाप्त ॥

॥ बारहवाँ शतक सम्पूर्ण ॥

OOO

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९५-५९६

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ४, पृ. २१३१

तेरसमं सयं : तेरहवाँ शतक

प्राथमिक

- व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के इस तेरहवें शतक में नरकभूमियों, चतुर्विध देवों, नारकों के अनन्तराहारादि, पृथ्वी, नारकादि के आहार, उपपात, भाषा, कर्मप्रकृति, भावितात्मा अनगार के लब्धिसामर्थ्य एवं समुद्घात आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

- इस शतक में दश उद्देशक हैं, जिनके नामों का उल्लेख शास्त्रकार ने प्रारम्भ में किया है।

- **प्रथम उद्देशक** में सात नरकपृथ्वियों, रत्नप्रभादि के नरकावासों की संख्या, उनके विस्तार, उनकी लेश्या, संज्ञा, भव्याभव्यता, ज्ञान, दर्शन, वेद, कषाय, इन्द्रिय, मन, योग, उपयोग आदि के सम्बन्ध में ३९ प्रश्नोत्तर, उत्पत्ति, उद्वर्तना, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, विरहित-अविरहित, लेश्या-परिवर्तन आदि का विशद् निरूपण किया गया है।

- **द्वितीय उद्देशक** में चतुर्विध देवों के नाम, उनके आवासों की संख्या, उनके विस्तार, लेश्या, दर्शन, ज्ञान, उत्पत्ति, संज्ञा, कषाय, उद्वर्तना, वेद, उपपन्नता, आहार, लेश्याओं तथा आवासों की संख्या में परस्पर अन्तर, चरम-अचरम, दृष्टि, विविध लेश्या वालों में उत्पत्ति तथा परिवर्तन आदि का सरस वर्णन किया गया है।

- **तृतीय उद्देशक** में प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक नैरयिकों के उत्पाद-समय में आहार, शरीरोत्पत्ति, लोमाहारादि द्वारा पुद्गलग्रहण, इन्द्रिय आदि के रूप में परिणमन, शब्दादि विषयों के उपयोग द्वारा परिचारणा एवं नाना रूपों की विकुर्वणा आदि का निरूपण है।

- **चतुर्थ उद्देशक** में पुनः सात नरकपृथ्वियों का उल्लेख करके उनके नारकावासों की संख्या, विशालता, विस्तार, अवकाश, स्थानरिक्तता, प्रवेश, संकीर्णता-व्यापकता, अल्पकर्मता-महाकर्मता, अल्पक्रिया-महाक्रिया, अल्पाश्रव-महाश्रव, अल्पवेदना-महावेदना, अल्पऋद्धि-महाऋद्धि, अल्पद्युति-महाद्युति इत्यादि विषयों के तारतम्य का प्रतिपादन किया गया है। इसी सन्दर्भ में तेरह द्वारों की अपेक्षा से वर्णन किया है। अन्त में तीनों लोकों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

- **पंचम उद्देशक** में नैरयिकों के सचित्त-अचित्त-मिश्राहार-सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

- **छठे उद्देशक** में चौवीस दण्डकों की सान्तर-निरन्तर, उत्पत्ति-उद्वर्तना सम्बन्धी निरूपण, चमरचंच आवास का स्वरूप, स्थानदूरी निर्देश एवं चमरेन्द्र के आवास का निर्णय एवं तदनन्तर उदायन नरेश, राजपरिवार, वीतिभयनगर आदि का परिचय, भगवान् का पदार्पण, उदायन नृप द्वारा प्रव्रज्याग्रहण विचार, स्वपुत्र अभीचिकुमार के बदले भानजे केशीकुमार के राज्याभिषेक, प्रव्रज्याग्रहण, रत्नत्रयाराधना,

मोक्षप्राप्ति आदि का वर्णन है। अभीचिकुमार का उदायन राजर्षि के प्रति वैरानुबन्ध, चम्पानिवास, अनाराधक होने से असुरकुमार देव के रूप में उपपात, तदनन्तर महाविदेहक्षेत्र में जन्म एवं मोक्षप्राप्ति तक का वर्णन है।

- **सातवें उद्देशक** में भाषा, मन, काय, आदि के प्रकार, स्वरूप तथा इनके अधिकारी तथा आत्मा से भिन्नता-अभिन्नता आदि का वर्णन है। अन्त में, मरण के भेद-प्रभेद, स्वरूप आदि की प्ररूपणा है।
- **आठवें उद्देशक** में प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक आठ मूल कर्मप्रकृतियों, उनके स्वरूप, बन्ध, स्थिति आदि का वर्णन है।
- **नौवें उद्देशक** में विविध दृष्टान्तों द्वारा भावितात्मा अनगार की लब्धिसामर्थ्य एवं वैक्रियशक्ति का प्रतिपादन किया गया है। उपसंहार में, इस प्रकार वैक्रियलब्धि का प्रयोग करने वाले अनगार को मायी (प्रमादी) कह कर आलोचना किये बिना कालधर्म पाने पर अनाराधक बताया गया है।
- **दशवें उद्देशक** में प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक छद्मस्थों के छह समुद्घातों का स्वरूप तथा प्रयोजन बताया गया है।
- कुल मिलाकर विविध रूपों को प्राप्त आत्माओं के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से चर्चा विचारणा की गई है।

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ६१५ से ६५८

तेरसमं सयं : तेरहवाँ शतक

तेरहवें शतक के दस उद्देशकों के नाम

१. पुढवी १ देव २ मणंतर ३ पुढवी ४ आहारमेव ५ उववाए ६।

भासा ७ कम्म ८ ऽणगारे केयाघडिया ९ समुग्घाए १०॥

[१] [गाथार्थ—] तेरहवें शतक के दस उद्देशक इस प्रकार हैं—(१) पृथ्वी, (२) देव, (३) अनन्तर, (४) पृथ्वी, (५) आहार, (६) उपपात, (७) भाषा, (८) कर्म, (९) अनगार में केयाघटिका और (१०) समुद्घात।

विवेचन—दश उद्देशकों के अर्थाधिकार—(१) प्रथम उद्देशक में नरक-पृथ्वियों का वर्णन है। (२) द्वितीय उद्देशक में देवों सम्बन्धी प्ररूपणा है। (३) तृतीय उद्देशक में नारक जीव सम्बन्धी अनन्तराहार आदि की प्ररूपणा है। (४) चतुर्थ उद्देशक में पृथ्वीगत वक्तव्यता है। (५) पंचम उद्देशक में नैरयिक आदि के आहार की प्ररूपणा की गई है। (६) छठे उद्देशक में नारक आदि के उपपात का वर्णन है। (७) सप्तम उद्देशक में भाषा आदि का कथन किया गया है। (८) अष्टम उद्देशक में कर्मप्रकृतियों की प्ररूपणा की गई है। (९) नौवें. उद्देशक में भावितात्मा अनगार द्वारा लब्धि-सामर्थ्य से रस्सी से बंधी घड़िया को हाथ में लेकर आकाशगमन का वर्णन है और (१०) दसवें उद्देशक में समुद्घात का प्रतिपादन किया गया है।[1]

केयायघडिया : अर्थ—केया अर्थात् रस्सी में बंधी हुई घटिका—छोटी घड़िया।[2]

पढमो उद्देसओ : पुढवी

प्रथम उद्देशक : नरकपृथ्वियों सम्बन्धी वर्णन

नरकपृथ्वियाँ, रत्नप्रभा के नारकावासों की संख्या और उनका विस्तार

२. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[२] राजगृह नगर में (श्री गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) वन्दना करके यावत् इस प्रकार पूछा—

३. कति णं भंते ! पुढवीओ पन्नत्ताओ ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९९ (ख) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१३५ .

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९९

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रयणप्पभा जाव अहेसत्तमा।

[३ प्र.] भगवन् ! (नरक-) पृथ्वियाँ कितनी कही गई हैं ?

[३ उ.] गौतम ! (नरक-) पृथ्वियाँ सात कही गई हैं यथा—रत्नप्रभा यावत् अधःसप्तम पृथ्वी।

४. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीय केवतिया निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[४ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में कितने लाख नारकावास कहे गए हैं ?

[४ उ.] गौतम ! (रत्नप्रभापृथ्वी में) तीस लाख नारकावास कहे हैं।

५. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा, असंखेज्जवित्थडा ?

गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि, असंखेज्जवित्थडा वि।

[५ प्र.] भगवन् ! वे नारकावास संख्येय (योजन) विस्तृत हैं या असंख्येय (योजन) विस्तृत हैं ?

[५ उ.] गौतम ! वे संख्येय (योजन) विस्तृत भी हैं और असंख्येय (योजन) विस्तृत भी हैं।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. २ से ५ तक) में नरकपृथ्वियों की संख्या, रत्नप्रभापृथ्वी के नारकावासों की संख्या एवं उनके विस्तार का प्रतिपादन किया गया है।

कठिन शब्दों के अर्थ—संखेज्जवित्थडा—संख्यात योजन विस्तार वाले। **असंखेज्जवित्थडा**—असंख्यात योजन विस्तार वाले।

रत्नप्रभा के संख्यात विस्तृत नारकावासों में विविध विशेषण-विशिष्ट नारकों की उत्पत्ति-सम्बन्धी उनचालीस प्रश्नोत्तर

६. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं केवतिया नेरइया उववज्जंति ? १, केवतिया काउलेस्सा उववज्जंति ? २, केवतिया कण्हपंक्खिया उववज्जंति ? ३, केवतिया सुक्कपक्खिया उववज्जंति ? ४, केवतिया सन्नी उववज्जंति ? ५, केवतिया असन्नी उववज्जंति ? ६, केवतिया भवसिद्धिया उववज्जंति ? ७, केवतिया अभवसिद्धिया उववज्जंति ? ८, केवतिया आभिणिबोहियनाणी उववज्जंति ? ९, केवतिया सुयनाणी उववज्जंति ? १०, केवतिया ओहिनाणी उववज्जंति ? ११, केवतिया मतिअन्नाणी उववज्जंति ? १२, केवतिया सुयअन्नाणी उववज्जंति ? १३, केवतिया विभंगनाणी उववज्जंति ? १४, केवतिया चक्खुदंसणी उववज्जंति ? १५, केवतिया अचक्खुदंसणी उववज्जंति ? १६, केवतिया ओहिदंसणी उववज्जंति ? १७, केवतिया आहारसण्णोवउत्ता उववज्जंति ? १८, केवइया भयसण्णोवउत्ता उववज्जंति ? १९, केवतिया मेहुणसण्णोवउत्ता उववज्जंति ? २०, केवतिया परिग्गहसण्णोवउत्ता उववज्जंति ? २१, केवतिया इत्थिवेदगा उववज्जंति ? २२, केवतिया पुरिसवेदगा उववज्जंति ? २३, केवतिया नपुंसगवेदगा उववज्जंति? २४, केवतिया कोहकसाई

उववज्जंति ? २५, जाव केवतिया लोभकसायी उववज्जंति ? २६-२८, केवतिया सोतिदियोवउत्ता उववज्जंति ? २९, जाव केवतिया फासिंदियावउत्ता उववज्जंति ? ३०-३३, केवतिया नोइंदियोवउत्ता उववज्जंति ? ३४, केवतिया मणजोगी उववज्जंति ? ३५, केवतिया वइजोगी उववज्जंति ? ३६, केवतिया कायजोगी उववज्जंति ? ३७, केवतिया सागरोवउत्ता उववज्जंति ? ३८, केवतिया अणगारोवउत्ता उववज्जंति ? ३९।

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेण संखेज्जा नेरइया उववज्जंति १। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उववज्जंति २। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा कण्हपक्खिया उववज्जंति ३। एवं सुक्कपक्खिया वि ४। एवं सन्नी ५। एवं असण्णी ६। एवं भवसिद्धिया ७। एवं अभवसिद्धिया ८, आभिणिबोहियनाणी ९, सुयनाणी १०, ओहिनाणी ११, मतिअन्नाणी १२, सुयअन्नाणी १३, विभंगनाणी १४। चक्खुदंसणी न उववज्जंति १५। जहन्नेणं इक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उववज्जंति १६। एवं ओहिदंसणी वि १७, आहारसण्णोवउत्ता वि १८, जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता वि १९-२०-२१। इत्थिवेदगा न उववज्जंति २२। पुरिसवेदगा वि न उववज्जंति २३। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा नपुंसगवेदगा उववज्जंति २४। एवं कोहकसायी जाव लोभकसायी २५-२८। सोतिंयोवउत्ता न उववज्जंति २९। एवं जाव फासिंदियोवउत्ता न उववज्जंति ३०-३३। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा नोइंदियोवउत्ता उववज्जंति ३४। मणजोगी ण उववज्जंति ३५। एवं वइजोगी वि ३६। जहन्नेणं एक्को वा दो वा, तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उववज्जंति ३७। एवं सागारोवउत्ता वि ३८। अणागारोवउत्ता वि ३९।

[६ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संखेयविस्तृत नरकों में एक समय में (१) कितने नैरयिक जीव उत्पन्न होते हैं? (२) कितने कापोतलेश्या वाले नैरयिक जीव उत्पन्न होते हैं ? (३) कितने कृष्णपाक्षिक जीव उत्पन्न होते हैं ? (४) कितने शुक्लपाक्षिक जीव उत्पन्न होते हैं ? (५) कितने संज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं ? (६) कितने असंज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं ? (७) कितने भवसिद्धिक जीव उत्पन्न होते हैं ? (८) कितने अभवसिद्धिक जीव उत्पन्न होते हैं ? (९) कितने आभिनिबोधिकज्ञानी उत्पन्न होते हैं? (१०) कितने श्रुतज्ञानी उत्पन्न होते हैं ? (११) कितने अवधिज्ञानी उत्पन्न होते हैं ? (१२) कितने मति-अज्ञानी उत्पन्न होते हैं? (१३) कितने श्रुत-अज्ञानी उत्पन्न होते हैं ? (१४) कितने विभंगज्ञानी उत्पन्न होते हैं ? (१५) कितने चक्षुदर्शनी उत्पन्न होते हैं ? (१६) कितने अचक्षुदर्शनी उत्पन्न होते हैं ? (१७) कितने अवधिदर्शनी उत्पन्न होते हैं ? (१८) कितने आहार-संज्ञा के उपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? (१९) कितने भय-संज्ञा के उपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? (२०) कितने मैथुन-संज्ञा के उपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? (२१) कितने परिग्रह-संज्ञा के उपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? (२२) कितने स्त्रीवेदक जीव उत्पन्न होते हैं ? (२३) कितने पुरुषवेदक जीव उत्पन्न होते हैं ? (२४) कितने नपुंसकवेदक जीव उत्पन्न होते हैं ? (२५) कितने

क्रोधकषायी जीव उत्पन्न होते हैं ? (२६-२८) यावत् कितने लोभकषायी उत्पन्न होते हैं ? (२९) कितने श्रोत्रेन्द्रिय के उपयोग वाले उत्पन्न होते हैं ? (३०-३३) यावत् कितने स्पर्शेन्द्रिय के उपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? (३४) कितने नो-इन्द्रिय (मन) के उपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? (३५) कितने मनोयोगी जीव उत्पन्न होते हैं ? (३६) कितने वचनयोगी जीव उत्पन्न होते हैं ? (३७) कितने काययोगी उत्पन्न होते हैं ? (३८) कितने साकारोपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ? और (३९) कितने अनाकारोपयोग वाले जीव उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्येयविस्तृत नरकों में एक समय में (१) जघन्य एक दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात नैरयिक उत्पन्न होते हैं। (२) जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात कापोतलेश्यी जीव उत्पन्न होते हैं। (३) जघन्य एक दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात कृष्णपाक्षिक उत्पन्न होते हैं। (४) इसी प्रकार शुक्लपाक्षिक (५) संज्ञी (६) असंज्ञी (७) भवसिद्धिक (८) अभवसिद्धिक (९) आभिनिबोधिकज्ञानी (१०) श्रुत-ज्ञानी (११) अवधिज्ञानी (१२) मति-अज्ञानी (१३) श्रुत-अज्ञानी (१४) विभंगज्ञानी जीवों के विषय में भी जानना चाहिए। (१५) चक्षुदर्शनी जीव उत्पन्न नहीं होते। (१६) अचक्षुदर्शनी जीव जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। (१७-२१) इसी प्रकार अवधिदर्शनी, आहारसंज्ञोपयुक्त, यावत् परिग्रहसंज्ञोपयुक्त के विषय में भी (जानना चाहिए।) (२२-२३) स्त्रीवेदी जीव उत्पन्न नहीं होते, न पुरुषवेदी जीव उत्पन्न होते हैं। (२४) नपुंसकवेदी जीव जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार (२५-२८) क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी जीवों (की उत्पत्ति) के विषय में जानना चाहिए। (२९-३३) श्रोत्रेन्द्रियोपयुक्त (से लेकर) यावत् स्पर्शेन्द्रियोपयुक्त जीव वहाँ उत्पन्न नहीं होते हैं। (३४) नो-इन्द्रियोपयुक्त जीव जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। (३५-३६) मनोयोगी जीव वहाँ उत्पन्न नहीं होते, इसी प्रकार वचनयोगी भी (समझना चाहिये।) (३७) काययोगी जीव जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। (३८-३९) इसी प्रकार साकारोपयोग वाले एवं अनाकारोपयोग वाले जीवों के विषय में भी (कहना चाहिए)।

विवेचन—रत्नप्रभा नारकवासों में—विविध जीवों के उत्पत्ति सम्बन्धी ३९ प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत छठे सूत्र में रत्नप्रभा नरकभूमि के नारकावासों मे विविध विशेषण-विशिष्ट जीवों की उत्पत्ति के विषय में प्रतिपादन किया गया है।

कापोतलेश्या सम्बन्धी प्रश्न ही क्यों ?—रत्नप्रभापृथ्वी में केवल कापोतलेश्या वाले जीव ही उत्पन्न होते हैं, शेष कृष्णादि लेश्या वाले नहीं। इसलिए यहाँ कापोतलेश्या के विषय में ही प्रश्न किया गया है।

कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक : परिभाषा—जिन जीवों का संसार-परिभ्रमणकाल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन में कुछ कम शेष रह गया है, वे शुक्लपाक्षिक कहलाते हैं। इससे अधिक काल तक जिन जीवों का संसार-परिभ्रमण करना शेष रहता है, वे कृष्णपाक्षिक कहलाते हैं।

चक्षुदर्शनी की उत्पत्ति का निषेध क्यों?—इन्द्रिय और मन के सिवाय सामान्य उपयोग मात्र को

अचक्षुदर्शन कहते हैं। ऐसा अचक्षुदर्शन उत्पत्ति के समय भी होता है, किन्तु चक्षुदर्शनी की उत्पत्ति के निषेध का कारण यह है कि इन्द्रियों का त्याग होने पर ही वहाँ उत्पत्ति होती है।

स्त्रीवेदी आदि जीवों की उत्पत्तिनिषेध का कारण—नरक में स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी उत्पन्न नहीं होते है, क्योंकि उनके भवप्रत्यय नपुंसकवेद होता है। उत्पत्ति के समय नारक श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपयोग वाले नहीं होते, क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ होती ही नहीं। सामान्य (चेतनारूप) उपयोग इन्द्रियों के अभाव में भी रह सकता है। इसलिए कहा गया है—'नो-इन्द्रियोपयुक्त' उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति-समय में अपर्याप्त होने से मन और वचन दोनों का अभाव होता है। इसलिए कहा गया है—रत्नप्रभानारकावास में मनोयोगी और वचनयोगी जीव उत्पन्न नहीं होते। जीवों के काययोग तो सदैव रहता है।[1]

रत्नप्रभा के संख्यातविस्तृत नारकावासों से उद्वर्त्तना सम्बन्धी उनचालीस प्रश्नोत्तर

७. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं केवतिया नेरइया उव्वट्टंति ? १, केवतिया काउलेस्सा उव्वट्टंति ? २, जाव केवतिया अणागारोवउत्ता उव्वट्टंति ? ३९।

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमयेणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा नेरइया उव्वट्टंति १। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उव्वट्टंति २। एवं जाव सण्णी ३-४-५। असण्णी ण उव्वट्टंति ६। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा भवसिद्धीया उव्वट्टंति ७। एवं जाव सुयअन्नाणी ८-१३। विभंगनाणी न उव्वट्टंति १४। चक्खुदंसणी ण उव्वट्टंति १५। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उव्वट्टंति १६। एवं जाव लोभकसायी १७-२८। सोतिंदियोवउत्ता ण उव्वट्टंति २९। एवं जाव फासिंदियोवउत्ता न उव्वट्टंति ३०-३३। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा नोइंदियोवउत्ता उव्वट्टंति ३४। मणजोगी न उव्वट्टंति ३५। एवं वइजोगी वि ३६। जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उव्वट्टंति ३७। एवं सागरोवउत्ता ३८, अणागारोवउत्ता ३९।

[७ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले नरकों में से एक समय में (१) कितने नैरयिक उद्वर्त्तते (मरते-निकलते) हैं ? (२) कितने कापोतलेश्यी नैरयिक उद्वर्त्तते हैं ? यावत् (३९) कितने अनाकारोपयुक्त (दर्शनोपयोग वाले) नैरयिक उद्वर्त्तते हैं ?

[७ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले नरकों

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९९

(ख) जेसिमवड्ढो पोग्गलपरियट्टो सेसओ उ संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु अहिगे पुण कण्हपक्खीया॥

(ग) भगवती, (हिन्दी-विवेचन) भा. ५, पृ. २१४१

में (१) एक समय में जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट संख्यात नैरयिक उद्वर्त्तते हैं। (२) कापोतलेश्यी नैरयिक जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उद्वर्त्तते हैं। (३-४-५) इसी प्रकार यावत् संज्ञी जीव तक नैरयिक—उद्वर्त्तना कहनी चाहिए। (६) असंज्ञी जीव नहीं उद्वर्त्तते। (७) भवसिद्धिक नैरयिक जीव जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उद्वर्त्तते हैं। इसी प्रकार (८-१३) यावत् श्रुत-अज्ञानी तक उद्वर्त्तना कहनी चाहिए। (१४) विभंगज्ञानी नहीं उद्वर्त्तते। (१५) चक्षुदर्शनी भी नहीं उद्वर्त्तते। (१६) अचक्षुदर्शनी जीव जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उद्वर्त्तते हैं। (१७-२८) इसी प्रकार यावत् लोभकषायी नैरयिक जीवों तक की उद्वर्त्तना कहनी चाहिए। (२९) श्रोत्रेन्द्रिय उपयोग वाले जीव नही उद्वर्त्तते। (३०-३३) इसी प्रकार यावत् स्पर्शेन्द्रिय के उपयोग वाले भी नहीं उद्वर्त्तते। (३४) नोइन्द्रियोपयोगयुक्त नैरयिक जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उद्वर्त्तते हैं। (३५-३६) मनोयोगी और वचनयोगी भी नहीं उद्वर्त्तते। (३७) काययोगी जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उद्वर्त्तते हैं। इसी प्रकार (३८-३९) साकारोपयोग वाले और अनाकारोपयोग वाले नैरयिक जीवों की उद्वर्त्तना कहनी चाहिए।

विवेचन—उद्वर्त्तना सम्बन्धी ३९ प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र में रत्नप्रभानारकावासों के संख्यात योजन वाले नरकों से विविध विशेषण विशिष्ट ३९ प्रकार के नैरयिकों की उद्वर्त्तना की प्ररूपणा की गई है।

उद्वर्त्तना : परिभाषा—शरीर से जीव का निकलना—मरना उद्वर्त्तना कहलाती है।

संख्यात नारकों की ही उद्वर्त्तना क्यों ?—संख्यात योजन विस्तृत नरकावासों में संख्यात नैरयिक ही समा सकते हैं, इसीलिए तथाकथित नैरयिक उत्कृष्टत: संख्यात ही उद्वर्त्तते हैं।

असंज्ञी की उद्वर्त्तना क्यों नहीं ?—उद्वर्त्तना परभव के प्रथम समय में ही होती है। नैरयिक जीव असंज्ञी जीवों में उत्पन्न नहीं होते, इस कारण वे असंज्ञी नहीं उद्वर्त्तते।

नरक से इनकी उद्वर्त्तना नहीं होती—चूर्णिकार ने एक गाथा द्वारा नरक से जिनकी उद्वर्त्तना नहीं होती, उन जीवों का उल्लेख किया है—

असण्णिणो य विब्भंगिणो य, उव्वट्टणाइ वज्जेज्जा।
दोसु वि य चक्खुदंसणी, मण-वइ तह इंदियाइं वा ॥ १ ॥

अर्थात्—असंज्ञी, विभंगज्ञानी, चक्षुदर्शनी, मनोयोगी, वचनयोगी तथा श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों के उपयोग वाले जीव उद्वर्त्तना नहीं करते। अत: नरक से इनकी उद्वर्त्तना का निषेध किया गया है।[१]

रत्नप्रभापृथ्वी के संख्यातविस्तृत नारकावासों में नैरयिकों की संख्या से लेकर चरम-अचरमों की संख्या से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर

८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५९९

(ख) भगवती, (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१४४

केवतिया नेरइया पण्णता ? १, केवइया काउलेस्सा जाव केवइया अणागारोवउत्ता पण्णत्ता ? २-३९, केवइया अणंतरोववन्नगा पन्नत्ता ? ४०, केवइया परंपरोववन्नगा पन्नता ? ४१, केवइया अणंतरोगाढा पन्नत्ता ? ४२, केवइया परंपरोगाढा पन्नत्ता ? ४३, केवइया अणंतराहारा पन्नत्ता ? ४४, केवइया परंपराहारा पन्नत्ता ! ४५, केवइया अणंतरपज्जत्ता पन्नत्ता ? ४३, केवइया परंपरपज्जत्ता पन्नत्ता ? ४७, केवइया चरिमा पन्नत्ता ? ४८, केवइया अचरिमा पन्नत्ता ? ४९।

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु संखेज्जा नेरइया पन्नत्ता १। संखेज्जा काउलेस्सा पन्नत्ता २। एवं जाव संखेज्जा सन्नी पन्नत्ता ३-५। असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थि; जदि अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा पन्नत्ता ६। संखेज्जा भवसिद्धिया पन्नत्ता ७। एवं जाव संखेज्जा परिग्गहसन्नोवउत्ता पन्नत्ता ८-२१। इत्थिवेदगा नत्थि २२। पुरिसवेदगा नत्थि २३। संखेज्जा नपुंसगवेदगा पण्णत्ता २४। एवं कोहकसायी वि २५। माणकसाई जहा असण्णी २६। एवं जाव लोभकसायी २७-२८। संखेज्जा सोतिंदियोवउत्ता पन्नत्ता २९। एवं जाव फासिंदियोवउत्ता ३०-३३। नोइंदियोवउत्ता जहा असण्णी ३४। संखेज्जा मणजोगी पन्नत्ता ३५। एवं जाव अणागारोवउत्ता ३६-३९। अणंतरोववन्नगा सिय अत्थि सिय नत्थि; जदि अत्थि जहा असण्णी ४०। संखेज्जा परंपरोववन्नगा ४१। एवं जहा अणंतरोववन्नगा तहा अणंतरोगाढ़गा ४२, अणंतराहारगा ४४, अणंतरपज्जत्तगा ४६। परंपरोगाढगा जाव अचरिमा जहा परंपरोववन्नगा ४३, ४५, ४७, ४८, ४९।

[८ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले नरकों में (१) कितने नारक कहे गये हैं ? (२-२९) कितने कापोतलेश्यी नारक कहे गए हैं ? यावत् कितने अनाकारोपयोग वाले नैरयिक कहे गए हैं? (४०) कितने अनन्तरोपपन्नक कहे गए हैं, (४१) कितने परम्परोपपन्नक कहे गए हैं?, (४२) कितने अनन्तरावगाढ कहे गए हैं?, (४३) कितने परम्परावगाढ कहे गए हैं ? (४४) कितने अनन्तराहारक कहे गए हैं ?, (४५) कितने परम्पराहारक कहे गए हैं ? (४६) कितने अनन्तरपर्याप्तक कहे गए हैं ?, (४७) कितने परम्परपर्याप्तक कहे गए हैं ? (४८) कितने चरम कहे गए हैं ? और (४९) कितने अचरम कहे गए हैं ?

[८ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से (१) संख्यात योजन विस्तार वाले नरकों में संख्यात नैरयिक कहे गए हैं। (२) संख्यात कापोतलेश्यी जीव कहे गए हैं। (३-५) इसी प्रकार यावत् संख्यात संज्ञी जीव कहे गए हैं। (६) असंज्ञी जीव कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं। (७) भवसिद्धिक जीव संख्यात कहे गए हैं। (८-२१) इसी प्रकार यावत् परिग्रहसंज्ञा के उपयोग वाले नैरयिक संख्यात कहे गए हैं। (२२) (वहाँ) स्त्रीवेदक नहीं होते, (२३) पुरुषवेदक भी नहीं होते। (२४) (वहाँ) नपुंसकवेदी संख्यात कहे गए हैं। (२५) इसी प्रकार क्रोधकषायी भी संख्यात होते हैं। (२६) मानकषायी नैरयिक असंज्ञी नैरयिकों के समान (कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते, होते हैं तो उत्कृष्ट संख्यात होते हैं।) (२७-२८) इसी प्रकार यावत् (मायाकषायी और) लोभकषायी नैरयिकों के विषय में भी कहना चाहिए। (२९-३३) श्रोत्रेन्द्रिय-उपयोग वाले नैरयिकों से लेकर यावत्

स्पर्शेन्द्रियोपयोगयुक्त नैरयिक संख्यात कहे गए हैं। (३४) नो-इन्द्रियोपयोगयुक्त नारक, असंज्ञी नारक जीवों के समान (कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते)। (३५-३९) मनोयोगी यावत् अनाकारोपयोग वाले नैरयिक संख्यात कहे गए हैं। (४०) अनन्तरोपपन्नक नैरयिक कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते ; यदि होते हैं तो असंज्ञी जीवों के समान (जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं।) (४१) परम्परोपपन्नक नैरयिक संख्यात होते हैं। जिस प्रकार अनन्तरोपन्नक के विषय में कहा गया, उसी प्रकार (४२) अनन्तरावगाढ, (४४) अनन्ताहारक और (४६) अनन्तरपर्याप्तक के विषय में कहना चाहिए। (४३, ४५, ४७, ४८, ४९) जिस प्रकार परम्परोपपन्नक का कथन किया गया है, उसी प्रकार परम्परावगाढ, परम्पराहारक, परम्परपर्याप्तक, चरम और अचरम (का कथन करना चाहिए।)

विवेचन—पूर्वोक्त दो सूत्रों में बताया गया था कि रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले नरकों में विविध विशेषणविशिष्ट नैरयिक एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं और कितने उद्वर्त्तते हैं ?, इस सूत्र में बताया गया है कि वहाँ सत्ता में कितने नैरयिक विद्यमान रहते हैं ?

अनन्तरोपपन्नक—परम्परोपन्नक आदि शब्दों के अर्थ—जिन नारकों को उत्पन्न हुए अभी एक समय ही हुआ है, उन्हें '**अनन्तरोपपन्नक**' और जिन्हें उत्पन्न हुए दो, तीन आदि 'समय' हो चुके हैं, उन्हें **परम्परोपपन्नक** कहते हैं। किसी एक विवक्षित क्षेत्र में प्रथम समय में रहे हुए (अवगाहन करके स्थित) जीवों को **अनन्तरावगाढ** और विवक्षित क्षेत्र में द्वितीय आदि समय में रहे हुए जीवों को **परम्परावगाढ** कहते हैं। आहार ग्रहण किये हुए जिन्हें प्रथम समय हुआ है, वे **अनन्तराहारक** और जिन्हें द्वितीय आदि समय हो गये हैं, उन्हें **परम्पराहारक** कहते हैं। जिन जीवों को पर्याप्त हुए प्रथम समय ही है, वे **अनन्तरपर्याप्तक** और जिन्हें पर्याप्त हुए द्वितीयादि समय हो चुके हैं, वे **परम्परपर्याप्तक** कहलाते हैं। जिन जीवों का नारकभव अन्तिम है, अथवा जो नारकभव के अन्तिम समय में वर्तमान हैं, वे **चरम नैरयिक** और इनसे विपरीत को **अचरम नैरयिक** कहते हैं।[१]

असंज्ञी आदि नैरयिक कदाचित् क्यों ?—जो असंज्ञी तिर्यञ्च या मनुष्य मर कर नरक में नैरयिक रूप से उत्पन्न होते हैं, वे अपर्याप्त-अवस्था में कुछ काल तक असंज्ञी होते हैं, (फिर संज्ञी हो जाते हैं) ऐसे नैरयिक अल्प होते हैं। इसलिए कहा गया है कि रत्नप्रभापृथ्वी में असंज्ञी कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते। इसी प्रकार मानकषायोपयुक्त, मायाकषायोपयुक्त, लोभकषायोपयुक्त और नो-इन्द्रियोपयुक्त तथा अनन्तरोपपन्नक अनन्तरावगाढ, अनन्तराहारक और अनन्तरपर्याप्तक नैरयिक कदाचित् होते हैं; इसलिए कहा गया है कि ये नैरयिक कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते।[२]

'शेष' जीव बहुत होते हैं—उपर्युक्त नैरयिकों के अतिरिक्त शेष नैरयिक जीव सदा प्रभूत संख्या में रहते हैं, इसलिए उन्हें 'संख्यात' कहना चाहिए।[३]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१४७

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

रत्नप्रभा के असंख्यातविस्तृत नरकावासों में नारकों की उत्पत्ति, उद्वर्त्तना और सत्ता की संख्या से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर

९. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं केवइया नेरतिया उववज्जंति ? १, जाव केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति ? २-३९।

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु नरएसु एगसमएणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसणं असंखेज्जा नेरइया उववज्जंति १। एवं जहेव संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमगा [सु० ६-७-८] तहा असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमगा भाणियव्वा। नवरं असंखेज्जा, भाणियव्वा, सेसं तं चेव जाव असंखेज्जा अचरिमा पन्नत्ता ४९। "नाणत्तं लेस्सासु", लेस्साओ जहा पढमसए (स० १ उ० ५ सु० २८)। नवरं संखेज्जवित्थडेसु वि असंखेज्जवित्थडेसु वि ओहिनाणी ओहिदंसणी य संखेज्जा उव्वट्टावेयव्वा, सेसं तं चेव।

[९ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से असंख्यात योजन विस्तार वाले नरकों में (१) एक समय में कितने नैरयिक उत्पन्न होते हैं; (२-३९) यावत् कितने अनाकारोपयोग वाले नैरयिक उत्पन्न होते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से असंख्यात योजन विस्तार वाले नरकों में एक समय में जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट असंख्यात नैरयिक उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार संख्यात योजन विस्तार वाले नरकों के विषय में (सू. ६-७-८ में उत्पाद, उद्वर्त्तना और सत्ता) ये तीन आलापक (गमक) कहे गए हैं, उसी प्रकार असंख्यात योजन वाले नरकों के विषय में भी तीन आलापक कहने चाहिए। इनमें विशेषता यह है कि 'संख्यात' के बदले 'असंख्यात' कहना चाहिए। शेष सब यावत् 'असंख्यात अचरम कहे गए हैं', यहाँ तक पूर्ववत् कहना चाहिए। इनमें लेश्याओं में नानात्व (विभिन्नता) है। लेश्यासम्बन्धी कथन प्रथम शतक (उ. ५ सू. २८) के अनुसार कहना चाहिए तथा विशेष इतना ही है कि संख्यात योजन और असंख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों में से अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी संख्यात ही उद्वर्त्तन करते हैं, ऐसा कहना चाहिए। शेष सब कथन पूर्ववत् करना चाहिए।

विवेचन—असंख्यातयोजन विस्तृत नारकावासों में उत्पादन, उद्वर्त्तन और सत्ता की प्ररूपणा— संख्यात योजन विस्तारवाले नारकावासों में नारकों की उत्पत्ति, उद्वर्त्तना और सत्ता (विद्यमानता), इन तीनों आलापकों की वक्तव्यता कही गई है, उसी प्रकार असंख्यात योजन विस्तृत नरकों के नारकों की उत्पत्ति आदि तीनों का कथन करना चाहिए। संख्यात के बदले यहाँ 'असंख्यात' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।[1]

अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी की संख्यात उद्वर्त्तना—क्योंकि अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी तीर्थंकर आदि ही उद्वर्त्तन करते हैं और वे स्वल्प होते हैं, इसलिए इन दोनों के उद्वर्त्तन के विषय में 'संख्यात' ही कहना चाहिए। शेष सब कथन पूर्ववत् समझना चाहिए, जो सुगम है।[2]

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१४१
(ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ६००
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

लेश्यासम्बन्धी कथन—इस विषय में प्रारम्भ की दो नरकपृथ्वियों की अपेक्षा से, तृतीय आदि नरकपृथ्वियों की लेश्याओं में नानात्व होता है, अत: यहाँ कहा गया है कि लेश्याओं का कथन जिस प्रकार प्रथम शतक के पंचम उद्देशक, सू. २८ में है, उसी प्रकार यहाँ कहना चाहिए।[१]

शर्कराप्रभादि छह नरकपृथ्वियों के नारकावासों की संख्या तथा संख्यात-असंख्यातविस्तृत नरकों में उत्पत्ति, उद्वर्त्तना तथा सत्ता की संख्या का निरूपण

१०. सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए केवइया निरयावास० पुच्छा।

गोयमा ! पणुवीसं निरयावाससयसहस्सा पन्नता।

[१० प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी में कितने नारकावास कहे हैं? इत्यादि प्रश्न।

[१० उ.] गौतम ! (उसमें) पच्चीस लाख नारकावास कहे गए हैं।

११. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा, असंखेज्जवित्थडा ?

एवं जहा रयणप्पभाए तहा सक्करप्पभाए वि। नवरं असण्णी तिसु वि गमएसु न भण्णइ, सेसं तं चेव।

[११ प्र.] भगवन् ! वे नारकावास क्या संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, अथवा असंख्यात योजन विस्तार वाले ?

[११ उ.] गौतम ! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार शर्कराप्रभा के विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि उत्पाद, उद्वर्त्तना और सत्ता, इन तीनों ही आलापकों में 'असंज्ञी' नहीं कहना चाहिए। शेष सभी (वक्तव्यता) पूर्ववत् (कहनी चाहिए)।

१२. वालुयप्पभाए णं० पुच्छा।

गोयमा ! पन्नरस निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता। सेसं जहा सक्करप्पभाए। "णाणत्तं लेसासु", लेसाओ जहा पढमसए (स० १ उ० ५ सु० २८)।

[१२ प्र.] भगवन् ! बालुकाप्रभापृथ्वी में कितने नारकावास कहे गए हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! बालुकाप्रभा में पन्द्रह लाख नारकावास कहे गए हैं। शेष सब कथन शर्कराप्रभा के समान करना चाहिए। यहाँ लेश्याओं के विषय में विशेषता है। लेश्या का कथन प्रथम शतक के पंचम उद्देशक के समान कहना चाहिए।

१३. पंकप्पभाए० पुच्छा।

गोयमा ! दस निरयावाससयसहस्सा०। एवं जहा सक्करप्पभाए। नवरं ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंति, सेसं तं चेव।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

[१३ प्र.] भगवन् ! पंकप्रभापृथ्वी में कितने नारकावास कहे गए हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१३ उ.] गौतम ! (पंकप्रभापृथ्वी में) दस लाख नारकावास कहे गए हैं। जिस प्रकार शर्कराप्रभा के विषय में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि (इस पृथ्वी से) अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी उद्वर्तन नहीं करते। शेष कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

१४. धूमप्पभाए णं० पुच्छा।

गोयमा ! तिण्णि निरयावाससयसहस्सा० एवं जहा पंकप्पभाए।

[१४ प्र.] भगवन् ! धूमप्रभापृथ्वी में कितने नारकावास कहे गए हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१४ उ.] गौतम ! (इसमें) तीन लाख नारकावास कहे गए हैं। जिस प्रकार पंकप्रभापृथ्वी के विषय में कहा, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।

१५. तमाए णं भंते ! पुढवीए केवइया निरयावास० पुच्छा।

गोयमा ! एगे पंचूणे निरयावाससयसहस्से पन्नत्ते। सेसं जहा पंकप्पभाए।

[१५ प्र.] भगवन् ! तम:प्रभापृथ्वी में कितने नारकावास कहे गए हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१५ उ.] गौतम ! (उसमें) पांच कम एक लाख नारकावास कहे गये हैं। शेष (सभी कथन) पंकप्रभा के समान जानना चाहिए।

१६. अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए कति अणुत्तरा महतिमहालया निरया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच अणुत्तरा जाव अप्पत्तिट्ठाणे।

[१६ प्र.] भगवन् ! अध:सप्तमपृथ्वी में अनुत्तर और बहुत बड़े कितने महानारकावास कहे गए हैं, इत्यादि पृच्छा।

[१६ उ.] गौतम ! (उसमें) पांच अनुत्तर और बहुत बड़े नारकावास कहे गए है, यथा—यावत् (काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और) अप्रतिष्ठान।

१७. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ?

गोयमा ! संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडा य।

[१७ प्र.] भगवन् ! वे नारकावास क्या संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, या असंख्यात योजन विस्तार वाले ?

[१७ उ.] गौतम ! एक (मध्य का अप्रतिष्ठान) नारकावास संख्यात योजन विस्तार वाला है, और शेष (चार नारकावास) असंख्यातयोजन विस्तार वाले हैं।

१८. अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महतिमहा० जाव महानिरएसु संखेज्जवित्थडे

नरए एगसमएणं केवति०।

एवं जहा पंकप्पभाए। नवरं तिसु नाणेसु न उववज्जंति न उव्वट्टंति। पन्नत्तएसु तहेव अत्थि। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि। नवरं असंखेज्जा भाणियव्वा।

[१८ प्र.] भगवन् ! अध:सप्तमपृथ्वी के पांच अनुत्तर और बहुत बड़े यावत् महानरकों में से संख्यात योजन विस्तार वाले अप्रतिष्ठान नारकावास में एक समय में कितने नैरयिक उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पंकप्रभा के विषय में कहा, (उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।) विशेष यह है कि यहाँ तीन ज्ञान वाले न तो उत्पन्न होते हैं, न ही उद्वर्त्तन करते हैं। परन्तु इन पाँचों नारकावासों में रत्नप्रभापृथ्वी आदि के समान तीनों ज्ञान वाले पाये जाते हैं। जिस प्रकार संख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों के विषय में कहा उसी प्रकार असंख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों के विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ 'संख्यात' के स्थान पर 'असंख्यात' पाठ कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत नौ सूत्रों (१० से १८ तक) में रत्नप्रभापृथ्वी के सिवाय शेष छह नरकपृथ्वियों के नारकावास तथा उनके विस्तार उनमें उत्पत्ति, उद्वर्त्तना और सत्ता (विद्यमानता), इन आलापकत्रय के विषय में विविध अवान्तर प्रश्न और इनके समाधानों का संकेत किया गया है।[१]

असंज्ञी जीवों के उत्पादादि प्रथम नरक में ही क्यों ?—चूंकि असंज्ञी जीव प्रथम नरकपृथ्वी में ही उत्पन्न होते हैं, उससे आगे की पृथ्वियों में नहीं, इसलिए द्वितीय नरकपृथ्वी से लेकर सप्तम नरकपृथ्वी तक में उनकी उत्पत्ति, उद्वर्त्तना और सत्ता, ये तीनों बातें नहीं करनी चाहिए।[२]

लेश्याओं के विषय में सातों नरक में विभिन्नत्ता—लेश्याओं के विषय में जो विशेषता (नानात्व) कही गई है, वह प्रथम शतक पंचम उद्देशक के २८ वें सूत्र के अनुसार जाननी चाहिए। वहाँ की संग्रहगाथा इस प्रकार है—

काऊ दोसु तइयाइ मीसिया नीलिया चउत्थीए।
पंचमियाए मीसा कण्हा, तत्तो परमकण्हा॥

अर्थात्—पहली और दूसरी नरक में कापोतलेश्या, तीसरी नरक में कापोत और नील दोनों (मिश्र) लेश्याएँ, चौथी नरक में नील लेश्या, पंचम नरक में नील और कृष्ण मिश्र तथा छठी नरक में कृष्णलेश्या और सातवीं नरक में परम कृष्णलेश्या होती है।[३]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुकत) पृ. ६१९-६२०

२. **'असन्नी खलु पढमं'** इति वचनात् —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

३. (क) भगवती. श. १, उ. ५, सू. २८, पृ. १०२ (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) खण्ड १

(ख) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ६००

पंकप्रभापृथ्वी में अवधिज्ञानी-अवधिदर्शनी क्यों नहीं ?—चौथी पंकप्रभा नरकपृथ्वी में से अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी उद्वर्त्तन नहीं करते; क्योंकि नरक में अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी प्रायः तीर्थंकर ही होते हैं; जो कि तृतीय नरकभूमि तक ही होते हैं। चौथी नरक से सातवीं नरक तक से निकलते हुए जीव तीर्थंकर नहीं हो सकते और वहाँ से निकलने वाले (उद्वर्त्तन करने वाले) जीव भी अवधिज्ञान-अवधिदर्शन लेकर नहीं निकलते।[1]

सप्तम नरकपृथ्वी में सब मिथ्यात्वी ही क्यों ?—सातवीं नरक में मिथ्यात्वी या सम्यक्त्व-भ्रष्ट जीव ही उत्पन्न होते हैं; इस कारण इस नरक में मति-श्रुत-अवधिज्ञानी उत्पन्न नहीं होते तथा इनकी उद्वर्त्तना भी नहीं होती; क्योंकि वहाँ से निकले हुए जीव इन तीनों ज्ञानों में उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि सातवीं नरक में प्रायः मिथ्यात्वी जीव ही उत्पन्न होते हैं, तथापि वहाँ उत्पन्न होने के पश्चात् जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर वहाँ मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी पाये जा सकते हैं। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि सातवीं नरक में तीन ज्ञान वाले जीवों का उत्पाद और उद्वर्त्तना तो नहीं है किन्तु सत्ता है।[2]

संख्यात-असंख्यात-विस्तृत नरकों में सम्यग्-मिथ्या-मिश्रदृष्टि नैरयिकों के उत्पाद-उद्वर्त्तना एवं अविरहित-विरहित की प्ररूपणा

१९. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु किं सम्मद्दिट्ठी नेरइया उववज्जंति, मिच्छद्दिट्ठी नेरइया उववज्जंति, सम्मामिच्छद्दिट्ठी नेरइया उववज्जंति ?

गोयमा ! सम्मदिट्ठी वि नेरइया उववज्जंति, मिच्छद्दिट्ठी वि नेरइया उववज्जंति, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी नेरइया उववज्जंति।

[१९ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों में क्या सम्यग्दृष्टि नैरयिक उत्पन्न होते हैं, मिथ्यादृष्टि नैरयिक उत्पन्न होते हैं, अथवा सम्यग्मिथ्या (मिश्र) दृष्टि नैरयिक उत्पन्न होते हैं ?

[१९ उ.] गौतम ! (पूर्वोक्त नारकावासों में) सम्यग्दृष्टि नैरयिक भी उत्पन्न होते हैं, मिथ्यादृष्टि नैरयिक भी उत्पन्न होते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि नैरयिक उत्पन्न नहीं होते।

२०. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु नरएसु किं सम्मद्दिट्ठी नेरतिया उव्वट्टंति ?

एवं चेव।

[२० प्र.] इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन-विस्तृत नारकावासों से

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

क्या सम्यग्दृष्टि नैरयिक उद्वर्त्तन करते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२० उ.] हे गौतम ! उसी तरह (पूर्ववत्) समझना चाहिए। (अर्थात्-पूर्वोक्त नारकावासों से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नैरयिक उद्वर्त्तन करते हैं, परन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि नैरयिक उद्वर्त्तन नहीं करते।)

२१. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडा नरगा किं सम्मद्दिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिया, मिच्छादिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छादिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिया ?

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठीहिं वि नेरइएहिं अविरहिया, मिच्छादिट्ठीहिं वि नेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छा-दिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिया विरहिया वा।

[२१ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से संख्यात योजन विस्तृत नारकावास क्या सम्यग्दृष्टि नैरयिकों से अविरहित (सहित) हैं, मिथ्यादृष्टि नैरयिकों से अविरहित हैं अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि नैरयिकों से अविरहित हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! (पूर्वोक्त नारकावास) सम्यग्दृष्टि नैरयिकों से भी अविरहित होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि नैरयिकों से भी अविरहित होते हैं और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नैरयिकों से (कदाचित्) अविरहित होते हैं और (कदाचित्) विरहित होते हैं।

२२. एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमगा भाणियव्वा।

[२२] इसी प्रकार असंख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों के विषय में भी तीनों आलापक कहने चाहिए।

२३. एवं सक्करप्पभाए वि। एवं जाव तमाए।

[२३] इसी प्रकार शर्कराप्रभा से लेकर यावत् तमःप्रभापृथ्वी तक के (संख्यात, असंख्यात योजन-विस्तृत नारकावासों के सम्यग्दृष्टि आदि नैरयिकों के) विषय में (तीनों आलापक कहने चाहिए।)

२४. अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु जाव संखेज्जवित्थडे नरए किं सम्मदिट्ठी नेरइया० पुच्छा।

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी नेरइया न उववज्जंति, मिच्छद्दिट्ठी नेरइया उववज्जंति, सम्मामिच्छद्दिट्ठी नेरइया न उववज्जंति।

[२४ प्र.] भगवन् ! अधःसप्तमपृथ्वी के पांच अनुत्तर यावत् संख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों में क्या सम्यग्दृष्टि नैरयिक उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२४ उ.] गौतम ! (वहाँ) सम्यग्दृष्टि नैरयिक उत्पन्न नहीं होते, मिथ्यादृष्टि नैरयिक उत्पन्न होते हैं और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि नैरयिक उत्पन्न नहीं होते।

२५. एवं उव्वट्टंति वि।

[२५] इसी प्रकार (उत्पाद के समान) उद्वर्त्तना के विषय में भी कहना चाहिए।

२६. अविरहिए जहेव रयणप्पभाए।

[२६] रत्नप्रभा में सत्ता के समान यहाँ भी मिथ्यादृष्टि द्वारा अविरहित आदि के विषय में कहना चाहिए।

२७. एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमगा।

[२७] इसी प्रकार असंख्यात योजन विस्तार वाले नारकावासों के विषय में (पूर्वोक्त) तीनों आलापक कहने चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत नौ सूत्रों (सू. १९ से २७ तक) में रत्नप्रभा से लेकर अधःसप्तमपृथ्वी के संख्यात योजन एवं असंख्यात योजन विस्तृत नारकावासों में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि इन तीनों प्रकार के नैरयिकों की उत्पत्ति, उद्वर्त्तना एवं अविरहितता-विरहितता के विषय में प्रश्नों का समाधान किया गया है।[१]

सम्यग्मिथ्यादृष्टि नैरयिकों का कदाचित् विरह क्यों ?—सम्यग्मिथ्यादृष्टि नारक कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं भी होते, इसलिए उनका विरह हो सकता है।

मिश्रदृष्टि नैरयिक उत्पन्न नहीं होते—क्योंकि **'न सम्मामिच्छो कुणई कालं।'** अर्थात्—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि अवस्था में काल नहीं करता, ऐसा सिद्धान्तवचन है। अतः न तो मिश्रदृष्टि उक्त अवस्था में मरता है और न तद्भवप्रत्यय अवधिज्ञान उसे होता है, जिससे कि मिश्रदृष्टि अवस्था में वह उत्पन्न हो।[२]

लेश्याओं का परस्पर परिणमन एवं तदनुसार नरक में उत्पत्ति का निरूपण

२८. [१] से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ?

हंता, गोयमा ! कण्हलेस्से जाव उववज्जंति।

[२८-१] भगवन् ! क्या वास्तव में कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, यावत् शुक्ललेश्यी (कृष्णलेश्यायोग्य) बन कर (जीव पुनः) कृष्णलेश्यी नैरयिकों में उत्पन्न हो जाता है ?

[२८-१ उ.] गौतम ! (वह) कृष्णलेश्यी यावत् (बनकर पुनः) कृष्णलेश्यी नैरयिकों में उत्पन्न हो जाता है।

[२] से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ 'कण्हलेस्से जाव उववज्जंति' ?

गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु संकिलिस्समाणेसु कण्हलेसं परिणमइ, कण्हलेसं

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६२०-६२१

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००

परिणमित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति।

[२८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि (वह कृष्णलेश्यी आदि हो कर (पुनः) कृष्णलेश्यी नारकों में उत्पन्न हो जाता है ?

[२८-२ उ.] गौतम ! उसके लेश्यास्थान संक्लेश को प्राप्त होते-होते (क्रमशः) कृष्णलेश्या के रूप में परिणत हो जाते हैं और कृष्णलेश्या के रूप में परिणत हो जाने पर वह जीव कृष्णलेश्या वाले नारकों में उत्पन्न हो जाता है। इसलिए, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्यी आदि होकर जीव कृष्णलेश्या वाले नारकों में उत्पन्न हो जाता है।

२९. [१] से नूण भंते ! कण्हलेसे जाव सुक्कलेस्से भवित्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ?

हंता, गोयमा ! जाव उववज्जंति।

[२९-१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्यी यावत् शुक्ललेश्यी होकर जीव (पुनः) नीललेश्या वाले नारकों में उत्पन्न हो जाते हैं ?

[२९-१ उ.] हाँ, गौतम ! यावत् उत्पन्न हो जाते हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ?

गोयमा ! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसु वा नीललेस्सं परिणमति, नीललेस्सं परिणमित्ता नीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति, से तेणेट्ठेणं गोयमा ! जाव उववज्जंति।

[२१-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि यावत् नीललेश्या वाले नारकों में उत्पन्न हो जाते हैं ?

[२१-२ उ.] गौतम ! लेश्या के स्थान उत्तरोत्तर संक्लेश को प्राप्त होते-होते तथा विशुद्ध होते-होते (अन्त में) नीललेश्या के रूप में परिणत हो जाते हैं। नीललेश्या के रूप में परिणत होने पर वह नीललेश्या वाले नैरयिकों में उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा कहा गया है।

३०. से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नील० जाव भवित्ता काउलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ?

एवं जहा नीललेस्साए तहा काउलेस्सा वि भाणियव्वा जाव से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेरसमे सए पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ १३-१ ॥

[३० प्र.] भगवन् ! क्या वस्तुतः कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी यावत् शुक्ललेश्यी होकर (जीव पुनः) कापोतलेश्या वाले नैरयिकों में उत्पन्न हो जाते हैं ?

[३० उ.] जिस प्रकार नीललेश्या के विषय में कहा गया, उसी प्रकार कापोतलेश्या के विषय में भी,

यावत्—इस कारण से हे गौतम ! उत्पन्न हो जाते हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों (२८ से ३० तक) में एक लेश्या वाले जीव का प्रशस्त या अप्रशस्त दूसरी लेश्या के रूप में परिणत होकर उस लेश्या वाले नारकों में उत्पत्ति का सकारण प्रतिपादन किया गया है।

अप्रशस्त-प्रशस्त लेश्या-परिवर्त्तना में कारण : संक्लिश्यमानता-विशुद्ध्यमानता—ही है। जब प्रशस्त लेश्यास्थान अविशुद्धि को प्राप्त होते हैं, तब वे संक्लिश्यमान तथा अप्रशस्त लेश्यास्थान जब विशुद्धि को प्राप्त होते हैं, तब वे विशुद्ध्यमान कहलाते हैं। इसलिए प्रशस्त-अप्रशस्त लेश्याओं की प्राप्ति में संक्लिश्यमानता-विशुद्ध्यमानता कारण समझनी चाहिए।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : प्रथम उद्देशक-समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६००-६०१

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पत्र २१५८

बीओ उद्देसओ : देव

द्वितीय उद्देशक : देव (भेद-प्रभेद, आवाससंख्या, विस्तार आदि)

चतुर्विधदेव प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! देवा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउब्विहा देवा पन्नत्ता, तं जहा—भवणवासी वाणमंतरा जोतिसिया वेमाणिया।

[१ प्र.] भगवन् ! देव कितने प्रकार के कहे गए हैं।

[१ उ.] गौतम ! देव चार प्रकार के कहे गए हैं, यथा—(१) भवनवासी, (२) वाणव्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

विवेचन—देवों के चार निकाय (समूह या वर्ग) हैं। चार जाति के देवों के ये नाम अन्वर्थक हैं। भवनों में (अधोलोकवर्ती भवनों में) निवास करने के कारण ये **भवनवासी** कहलाते हैं। वनों में तथा वृक्ष, गुफा आदि विभिन्न अन्तरालों आदि में रहने के कारण **वाणव्यन्तर** कहलाते हैं। ज्योतिर्मान तथा ज्योति (प्रकाश) फैलाने वाले होने के कारण **ज्योतिष्क** कहलाते हैं तथा विमानों में निवास करने के कारण **वैमानिक** या **विमानवासी** कहलाते हैं।[१]

भवनपति देवों के प्रकार, असुरकुमारावास एवं उनके विस्तार की प्ररूपणा

२. भवणवासी णं भंते ! देवा कतिविधा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दसविधा पण्णता, तं जहा—असुरकुमारा० एवं भेदो जहा बितियसए देवुद्देसए (स० २ उ० ७) जाव अपराजिया सव्वट्ठसिद्धगा।

[२ प्र.] भगवन् ! भवनवासी देव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[२ उ.] गौतम ! (भवनवासी देव) दस प्रकार के कहे गये हैं। यथा—असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार। इस प्रकार भवनवासी आदि देवों के भेदों का वर्णन द्वितीय शतक के सप्तम देवोद्देशक के अनुसार यावत् अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध तक जानना चाहिए।

३. केवतिया णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चोसट्ठिं असुरकुमारावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[३ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवों के कितने लाख आवास कहे गए हैं ?

[३ उ.] गौतम ! असुरकुमार देवों के चौसठ लाख आवास कहे गए हैं।

---

१. तत्त्वार्थभाष्य, अ. ४, सू. १ : 'देवाश्चतुर्निकायाः।'

४. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ?

गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि।

[४ प्र.] भगवन्! असुरकुमार देवों के आवास संख्यात योजन विस्तार वाले हैं या असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ?

[४ उ.] गौतम ! (वे) संख्यात योजन विस्तार वाले भी हैं और असंख्यात योजन विस्तार वाले भी हैं।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२ से ४ तक) में भवनपति देवों के भेद, आवास एवं उनके विस्तार का प्रतिपादन किया गया है।

संख्यात-असंख्यात-विस्तृत भवनपति-आवासों में विविध-विशेषण-विशिष्ट असुरकुमारादि से सम्बन्धित उनपचास प्रश्नोत्तर

५. [१] चोयट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु असुरकुमारावासेसु एगसमयेणं केवतिया असुरकुमारा उववज्जंति ? जाव केवतिया तेउलेस्सा उववज्जंति ? केवतिया कण्हपक्खिया उववज्जंति ?

एवं जहा रयणप्पभाए तहेव पुच्छा, तहेव वागरणं, नवरं दोहिं वेदेहिं उववज्जंति, नपुंसगवेयगा न उववज्जंति। सेसं तं चेव।

[५-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के चौसठ लाख आवासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले असुरकुमारावासों में एक समय में कितने असुरकुमार उत्पन्न होते हैं, यावत् तेजोलेश्यी उत्पन्न होते हैं ?

[५-१ उ.] (गौतम !) रत्नप्रभापृथ्वी के विषय में किए गए प्रश्नों के समान (यहाँ भी) प्रश्न करना चाहिए और उसका उत्तर भी उसी प्रकार समझ लेना चाहिए। **विशेष यह है कि यहाँ** दो वेदों (स्त्रीवेद और पुरुषवेद) सहित उत्पन्न होते हैं। नपुंसकवेदी उत्पन्न नहीं होते। **शेष सब कथन पूर्ववत्** समझना चाहिए।

[२] उव्वट्टंतगा वि तहेव, नवरं असण्णी उव्वट्टंति ओहिनाणी ओहिदंसणी य ण उव्वट्टंति, सेसं तं चेव। पन्नत्तएसु तहेव, नवरं संखेज्जगा इत्थिवेदगा पन्नत्ता। एवं पुरिसवेदगा वि। नपुंसगवेदगा नत्थि। कोहकसायी, सिय अत्थि, सिय नत्थि; जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा पन्नत्ता। एवं माण० माय०। संखेज्जा लोभकसायी पन्नत्ता। सेसं तं चेव तिसु वि गमएसु चत्तारि लेस्साओ भाणियव्वाओ।

[५-२] उद्वर्त्तना के विषय में भी उसी प्रकार जानना चाहिए। विशेषता यह है कि (यहाँ से) असंज्ञी भी उद्वर्त्तना करते हैं। अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी (यहाँ से) उद्वर्त्तना नहीं करते। शेष सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिए। सत्ता के विषय में जिस प्रकार पहले (प्रथमोद्देशक में) बताया गया है, उसी प्रकार कहना चाहिए। किन्तु विशेष यह है कि वहाँ संख्यात स्त्रीवेदक हैं और संख्यात पुरुषवेदक हैं, नपुंसकवेदक (बिल्कुल) नहीं हैं। क्रोधकषायी कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं। इसी प्रकार मानकषायी और मायाकषायी के विषय में कहना चाहिए। लोभकषायी संख्यात कहे

गए हैं। शेष कथन पूर्ववत् जानना चाहिए। (संख्यात विस्तृत आवासों में) उत्पाद, उद्वर्त्तना और सत्ता, इन तीनों के आलापकों में चार लेश्याएँ कहनी चाहिए।

[३] एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि, नवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा जाव असंखेज्जा अचरिमा पन्नत्ता।

[५-३] असंख्यात योजन विस्तार वाले असुरकुमारावासों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि पूर्वोक्त तीनों आलापकों में (संख्यात के बदले) 'असंख्यात' कहना चाहिए तथा 'असंख्यात अचरम कहे गए हैं' यहाँ तक कहना चाहिए।

६. केवतिया णं भंते ! नागकुमारावास० ?

एवं जाव थणियकुमारा, नवरं जत्थ जत्तिया भवणा।

[६ प्र.] नागकुमार (इत्यादि भवनवासी) देवों के कितने लाख आवास कहे गए हैं ?

[६ उ.] (गौतम !) पूर्वोक्त रूप से (नागकुमार से लेकर) स्तनितकुमार तक (उसी प्रकार) कहना चाहिए। विशेष इतना है कि जहाँ जितने लाख भवन हों, वहाँ उतने लाख भवन कहने चाहिए।

विवेचन—भवनवासी देवों के आवास, विस्तार आदि की प्ररूपणा—भवनवासी देवों के भवनों की संख्या—असुरकुमारों के ६४ लाख, नागकुमारों के ८४ लाख, सुपर्णकुमारों के ७२ लाख, वायुकुमारों के ९६ लाख तथा द्वीपकुमार, दिशाकुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार और स्तनितकुमार, इन प्रत्येक युगल के ७६-७६ लाख भवन होते हैं।[1]

भवनवासी देवों के आवास (भवन) भी संख्येय विस्तृत और असंख्येय विस्तृत होते हैं। उनके तीन प्रकार के आवासों का परिमाण इस प्रकार कहा गया है—

जंबूदीवसमा खलु भवणा, जे हुंति सव्वखुड्डागा।
संखेज्जवित्थडा मज्झिमा उ सेसा असंखेज्जा॥

अर्थात्—भवनपति देवों के जो सबसे छोटे आवास (भवन) होते हैं, वे जम्बूद्वीप के बराबर होते हैं। मध्यम आवास संख्यात योजन-विस्तृत होते हैं; और शेष अर्थात्—बड़े आवास असंख्यात योजन-विस्तृत होते हैं।[2]

---

१. चउसट्ठी असुराणं नागकुमाराण होई चुलसीई।
बावत्तरि कणगाणं, वाउकुमाराण छण्णउई॥
दीवदिसाउदहीणं बिज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं।
जुयलाणं पत्तेयं छावत्तरिमो सयसहस्सा॥ —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

२. वही, पत्र ६०३

वेद आदि की विशेषता : दो ही वेद—वेदों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये दो ही वेद होते हैं, नपुंसकवेद नहीं होता। इसलिए कहा गया है—'दो वेद वाले उत्पन्न होते हैं।' असंज्ञी भी उद्वर्त्तते हैं—ऐसा कथन इसलिए किया गया है कि असुरकुमार से लेकर ईशान देवलोक तक के देव पृथ्वीकायादि असंज्ञी जीवों में भी उत्पन्न होते हैं।

अवधिज्ञानी-दर्शनी नहीं उद्वर्तते—असुरकुमार आदि देवों से च्यवकर निकले (उद्वृत्त) हुए जीव तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त नहीं करते और न तीर्थंकरादि की तरह अवधिज्ञान, अवधिदर्शन लेकर उद्वृत्त होते (निकलते) हैं। **क्रोधादि कषाय**—असुरकुमार आदि देवों में क्रोध, मान और माया कषाय के उदय वाले जीव तो कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते, किन्तु लोभकषाय के उदय वाले जीव तो सदैव होते हैं। इसलिए कहा गया है कि लोभकषायी संख्यात कहे गये हैं। **चार लेश्याएँ**—असुरकुमारादि भवनवासी देवों में चार लेश्याएँ (कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या) होती हैं, इसलिए इनके तीनों (उत्पादन, उद्वर्त्तन और सत्ता) आलापकों में प्रत्येक चार-चार लेश्याएँ कहनी चाहिए।[१]

वाणव्यन्तर देवों की आवाससंख्या, विस्तार, उत्पाद, उद्वर्त्तना और सत्ता की प्ररूपणा

७. केवतिया णं भंते ! वाणमंतरावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[७ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तर देवों के कितने लाख आवास कहे गये हैं ?

[७ उ.] गौतम ! वाणव्यन्तर देवों के असंख्यात लाख आवास कहे गए हैं।

८. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा, असंखेज्जवित्थडा ?

गोयमा ! संखेज्जवित्थडा, नो असंखेज्जवित्थडा।

[८ प्र.] भगवन् ! वे (वाणव्यन्तरावास) संख्येय विस्तृत हैं अथवा असंख्येय विस्तृत हैं ?

[८ उ.] गौतम ! वे संख्येय विस्तृत हैं, असंख्येयविस्तृत नहीं हैं।

९. संखेज्जेसु णं भंते ! वाणमंतरावाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवतिया वाणमंतरा उववज्जंति ?

एवं जहा असुरकुमाराणं संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमा तहेव भाणियव्वा वाणमंतराण वि तिण्णि गमा।

[९ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तरदेवों के संख्येय विस्तृत (असंख्यात लाख) आवासों में एक समय में कितने वाणव्यन्तर देव उत्पन्न होते हैं।

[९ उ.] गौतम ! जिस प्रकार असुरकुमार देवों के संख्येय विस्तृत आवासों के विषय में तीन आलापक

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

(उत्पाद, उद्वर्त्तन और सत्ता) कहे, उसी प्रकार वाणव्यन्तर देवों के विषय में भी तीनों आलापक कहने चाहिए।

विवेचन—व्यन्तरों के आवास संख्येय विस्तृत ही—वाणव्यन्तरदेवों के आवास असंख्यात योजन विस्तार वाले नहीं होते, वे संख्यात योजन विस्तार वाले ही होते हैं। उनका परिमाण इस प्रकार बताया गया है—

वाणव्यन्तर देवों के सबसे छोटे नगर (आवास) भरतक्षेत्र के बराबर होते हैं, मध्यम आवास महाविदेह के समान होते हैं और सबसे बड़े (उत्कृष्ट) आवास जम्बूद्वीप के समान होते हैं।[१]

ज्योतिष्कदेवों की विमानावास-संख्या, विस्तार एवं विविधविशेषणविशिष्ट की उत्पत्ति आदि की प्ररूपणा

१०. केवइया णं भंते ! जोतिसियविमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा जोतिसिया विमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[१० प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्कदेवों के कितने लाख विमानावास कहे गए हैं ?

[१० उ.] गौतम ! ज्योतिष्कदेवों के विमानावास असंख्यात लाख कहे गये हैं।

११. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा० ?

एवं जहा वाणमंतराणं तहा जोतिसियाण वि तिन्नि गमा भाणियव्वा, नवरं एगा तेउलेस्सा। उववज्जंतेसु पन्नत्तेसु य असन्नी नत्थि। सेसं तं चेव।

[११ प्र.] भगवन् ! वे (ज्योतिष्क विमानावास) संख्येय विस्तृत हैं या असंख्येय विस्तृत ?

[११ उ.] गौतम ! (वाणव्यन्तरदेवों के समान वे भी संख्येय विस्तृत होते हैं।) तथा वाणव्यन्तरदेवों के विषय में जिस प्रकार कहा, उसी प्रकार ज्योतिष्कदेवों के विषय में तीन आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि इनमें केवल एक तेजोलेश्या ही होती है। व्यन्तरदेवों में असंज्ञी उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा गया था, किन्तु इनमें असंज्ञी उत्पन्न नहीं होते (न ही उद्वर्त्तते हैं और न च्यवते हैं)। शेष सभी कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

विवेचन-ज्योतिष्कदेवों में वाणव्यन्तरदेवों से विशेषता—वाणव्यन्तरदेवों से ज्योतिष्कदेवों में अन्तर इतना ही है कि केवल एक तेजोलेश्या होती है। इनके विमान संख्यात योजन विस्तार वाले तो होते हैं, किन्तु वे होते हैं—एक योजन से भी कम विस्तृत, यानी योजन का $\frac{१}{६१}$ भाग होता है तथा इनमें असंज्ञी जीवों का उत्पाद, उद्वर्त्तन नहीं होता, न वे सत्ता में होते हैं।[२]

अन्य सब बातें वाणव्यन्तरदेवों के समान होती हैं।

---

१. जंबूद्दीवसमा खलु उक्कोसेणं हवंति ते नगरा।

खुड्डा खेत्तसमा खलु, विदेहसमगा उ मज्झिमगा॥ — भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २०५४

२. (क) **'एगसट्ठिभागं काऊण जोयणं'** — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

कल्पवासी, ग्रैवेयक एवं अनुत्तर देवों की विमानावास-संख्या, विस्तार एवं उत्पत्ति आदि की प्ररूपणा

१२. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे केवइया विमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[१२ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प (प्रथम देवलोक) में कितने लाख विमानावास कहे गए हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! (इसमें) बत्तीस लाख विमानावास कहे हैं।

१३. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा, असंखेज्जवित्थडा ?

गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि, असंखेज्जवित्थडा वि।

[१३ प्र.] भगवन् ! वे विमानावास संख्येय विस्तृत हैं या असंख्येय विस्तृत ?

[१३ उ.] गौतम ! वे संख्येय विस्तृत भी हैं और असंख्येय विस्तृत भी हैं।

१४. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु विमाणेसु एगसमएणं केवतिया सोहम्मा देवा उववज्जंति ? केवतिया तेउलेस्सा उववज्जंति ?

एवं जहा जोतिसियाणं तिन्नि गमा तहेव भाणियव्वा, नवरं तिसु वि संखेज्जा भाणियव्वा ओहिनाणी ओहिदंसणी य चयावेयव्वा। सेसं तं चेव। असंखेज्जवित्थडेसु एवं चेव तिन्नि गमा, नवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा। ओहिनाणी ओहिदंसणी य संखेज्जा चयंति। सेसं तं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प के बत्तीस लाख विमानावासों में से संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों में एक समय में कितने सौधर्मदेव उत्पन्न होते हैं ? और तेजोलेश्या वाले सौधर्मदेव कितने उत्पन्न होते हैं ?

[१४ उ.] जिस प्रकार ज्योतिष्कदेवों के विषय में तीन (उत्पाद, उद्वर्त्तन और सत्ता) आलापक कहे, उसी प्रकार यहाँ भी तीन आलापक कहने चाहिए। विशेष इतना है कि तीनों आलापकों में 'संख्यात' पाठ कहना चाहिए तथा अवधिज्ञानी-अवधिदर्शनी का च्यवन भी कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त शेष सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिए।

असंख्यात योजन विस्तृत सौधर्म-विमानावासों के विषय में भी इसी प्रकार तीनों आलापक कहने चाहिए। विशेष इतना है कि इसमें ('संख्यात' के बदले) 'असंख्यात' कहना चाहिए। किन्तु असंख्येय-योजन-विस्तृत विमानावासों में से अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी तो 'संख्यात' ही च्यवते हैं। शेष सभी कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

१५. एवं जहा सोहम्मे वत्तव्वया भणिया तहा ईसाणे वि छ गमगा भाणियव्वा।

[१५] जिस प्रकार सौधर्म देवलोक के विषय में छह आलापक कहे, उसी प्रकार ईशान देवलोक के

विषय में भी छह (तीन संख्येय-विस्तृत विमान-सम्बन्धी और तीन असंख्येय-विस्तृत विमान-सम्बन्धी) आलापक कहने चाहिए।

१६. सणंकुमारे एवं चेव, नवरं इत्थिवेदगा उववज्जंतेसु पन्नत्तेसु य न भण्णंति, असण्णी तिसु वि गमएसु न भण्णंति। सेस तं चेव।

[१६] सनत्कुमार देवलोक के विषय में इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि सनत्कुमार देवों में स्त्रीवेदक उत्पन्न नहीं होते, सत्ताविषयक गमकों में भी स्त्रीवेदी नहीं कहे जाते। यहाँ तीनों आलापकों में असंज्ञी पाठ नहीं कहना चाहिए। शेष सभी कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

१७. एवं जाव सहस्सारे, नाणत्तं विमाणेसु, लेस्सासु य। सेसं तं चेव।

[१७] इसी प्रकार (माहेन्द्र देवलोक से लेकर) यावत् सहस्रार देवलोक तक कहना चाहिए। यहाँ अन्तर विमानों की संख्या और लेश्या के विषय में है। शेष सब कथन पूर्वोक्तवत् है।

१८. आणय-पाणएसु णं भंते ! कप्पेसु केवइया विमाणावाससया पन्नत्ता ?

[१८ प्र.] भगवन् ! आनत और प्राणत देवलोकों में कितने सौ विमानावास कहे गए हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! (आनत-प्राणतकल्पों में) चार सौ विमानावास कहे गए हैं।

१९. ते णं भंते ! किं संखेज्ज० पुच्छा।

गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि, असंखेज्जवित्थडा वि। एवं संखेज्जवित्थडेसु तिन्नि गमगा जहा सहस्सारे। असंखेज्जवित्थडेसु उववज्जंतेसु य चयंतेसु य एवं चेव संखेज्जा भाणियव्वा। पन्नत्तेसु असंखेज्जा, नवरं नोइंदियोवउत्ता, अणंत्तरोववन्नगा, अणंतरोगाढगा, अणंतराहारगा, अणंतरपज्जत्तगा य, एएसिं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा पन्नत्ता। सेसा असंखेज्जा भाणियव्वा।

[१९ प्र.] भगवन् ! वे (विमानावास) संख्यात योजन विस्तृत हैं या असंख्यात योजन विस्तृत ?

[१९ उ.] गौतम ! वे संख्यात योजन विस्तृत भी हैं और असंख्यात योजन विस्तृत भी हैं। संख्यात योजन विस्तार वाले विमानावासों के विषय में सहस्रार देवलोक के समान तीन आलापक कहने चाहिए। असंख्यात योजन विस्तार वाले विमानों के उत्पाद और च्यवन के विषय में 'संख्यात' कहना चाहिए एवं 'सत्ता' में असंख्यात कहना चाहिए। इतना विशेष है कि नोइन्द्रियोपयुक्त (मन के उपयोग वाले) अनन्तरोपपन्नक, अनन्तरावगाढ, अनन्तराहारक और अनन्तर-पर्याप्तक, ये पांच जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात कहे गए हैं। शेष (इनके अतिरिक्त अन्य सब) असंख्यात कहने चाहिए।

२०. आरणऽच्चुएसु एवं चेव जहा आणय-पाणतेसु नाणत्तं विमाणेसु।

[२०] जिस प्रकार आनत और प्राणत के विषय में कहा, उसी प्रकार आरण और अच्युत कल्प के विषय में भी कहना चाहिए। विमानों की संख्या में विभिन्नता है।

२१. एवं गेवेज्जगा वि।

[२१] इसी प्रकार नो ग्रैवेयक देवलोकों के विषय में भी कहना चाहिए।

२२. कति णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पन्नत्ता।

[२२ प्र.] भगवन् ! अनुत्तर विमान कितने कहे गये हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! अनुत्तर विमान पांच कहे गये हैं।

२३. ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा, असंखेज्जवित्थडा ?

गोयमा ! संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडा य।

[२३ प्र.] भगवन् ! वे (अनुत्तरविमान) संख्यात योजन विस्तृत हैं या असंख्यात योजन विस्तृत हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! (उनमें से एक) संख्यात योजन विस्तृत हैं और (चार) असंख्यात योजन विस्तृत हैं।

२४. पंचसु णं भंते ! अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे विमाणे एगसमएणं केवतिया अणुत्तरोवातिया देवा उववज्जंति ? केवतिया सुक्कलेस्सा उववज्जंति ?० पुच्छा तहेव।

गोयमा ! पंचसु णं अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे अणुत्तरविमाणे एगसमएणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा अणुत्तरोववातिया देवा उववज्जंति। एवं जहा गेवेज्जविमाणेसु संखेज्जवित्थडेसु, नवरं कण्हपक्खिया, अभवसिद्धिया तिसु अन्नाणेसु एए न उववज्जंति, न चयंति, न वि पन्नत्तएसु भाणियव्वा, अचरिमा वि खोडिज्जंति जाव संखेज्जा चरिमा पन्नत्ता। सेसं तं चेव। असंखेज्जवित्थडेसु ति एते न भण्णंति, नवरं अचरिमा अत्थि। सेसं जहा गेवेज्जएसु असंखेज्जवित्थडेसु जाव असंखेज्जा अचरिमा पन्नत्ता।

[२४ प्र.] भगवन् ! पांच अनुत्तरविमानों में से संख्यात योजन विस्तार वाले विमान में एक समय में कितने अनुत्तरौपपातिक देव उत्पन्न होते हैं, (उनमें से) कितने शुक्ललेश्यी उत्पन्न होते हैं, इत्यादि प्रश्न।

[२४ उ.] गौतम ! पांच अनुत्तरविमानों में से संख्यात योजन विस्तृत ('सर्वार्थसिद्ध' नामक) अनुत्तरविमान में एक समय में, जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात अनुत्तरौपपातिक देव उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार संख्यात योजन विस्तृत ग्रैवेयक विमानों के विषय में कहा, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि कृष्णपाक्षिक अभव्यसिद्धिक तथा तीन अज्ञान वाले जीव, यहाँ उत्पन्न नहीं होते, न ही च्यवते हैं और सत्ता में भी इनका कथन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार (तीनों आलापकों में) 'अचरम' का निषेध करना चाहिए, यावत् संख्यात चरम कहे गए हैं। शेष समस्त वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। असंख्यात योजन विस्तार वाले चार अनुत्तरविमानों में ये (पूर्वोक्त कृष्णपाक्षिक आदि जीव पूर्वोक्त तीनों आलापकों में) नहीं कहे गए हैं। विशेषता इतनी ही है कि (इन असंख्यात योजन वाले अनुत्तर विमानों में) अचरम जीव भी होते हैं। जिस प्रकार असंख्यात योजन विस्तृत ग्रैवेयक विमानों के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी अवशिष्ट सब कथन यावत् असंख्यात अचरम जीव कहे गये हैं, यहाँ तक करना चाहिए।

विवेचन—वैमानिक देवलोकों में विमानावास-संख्या, विस्तार तथा उत्पाद आदि—प्रस्तुत तेरह सूत्रों (सू. १२ से २४ तक) में सौधर्मादि कल्प, ग्रैवेयक एवं अनुत्तर देवों के विमानावासों की संख्या, उनका विस्तार, उनमें उत्पादादि विषयक प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

सौधर्म और ईशान कल्प में विशेषता—इन दोनों देवलोक से तीर्थंकर तथा कई अन्य भी च्यवते हैं, वे अवधिज्ञान-अवधिदर्शन-युक्त होते हैं, इसलिए उद्वर्त्तन (च्यवन) में अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी भी कहने चाहिए।

भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों से वैमानिक देवों में यह विशेषता है कि असंख्यात योजन विस्तार वाले विमानों से भी अवधिज्ञानी-अवधिदर्शनी तो संख्यात ही च्यवते हैं, क्योंकि अवधिज्ञानी-दर्शन युक्त च्यवने वाली वैसी आत्माएँ (तीर्थंकर एवं कुछ अन्य के सिवाय) सदैव नहीं होतीं।[1]

सनत्कुमारादि देवलोकों में स्त्रीवेदी नहीं—सौधर्म और ईशान देवलोक तक ही स्त्रीवेदी देवियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके आगे सनत्कुमारादि देवलोकों में स्त्रीवेदी उत्पन्न नहीं होते। जब इनका उत्पाद ही वहाँ नहीं होता, तब सत्ता में भी उनका अभाव ही कहना चाहिए। सनत्कुमारादि में जो देवियाँ आती हैं, वे नीचे के देवलोक से आती हैं।[2]

सनत्कुमारादि कल्पों में संज्ञी की ही उत्पत्ति आदि—इनमें संज्ञी जीव ही उत्पन्न होते हैं, असंज्ञी नहीं। असंज्ञी में उत्पत्ति दूसरे देवलोक तक के देवों की होती है। जब ये यहाँ से च्यवते हैं, तब भी संज्ञी जीवों में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन देवलोकों में उत्पाद, च्यवन और सत्ता, इन तीन आलापकों में असंज्ञी का कथन नहीं करना चाहिए।

सहस्रारपर्यन्त असंख्यात पद की घटना—माहेन्द्र कल्प से लेकर सहस्रार तक के कल्पों में असंख्यात तिर्यञ्चयोनिक जीवों का उत्पाद होने से असंख्यात योजन विस्तृत इन विमानावासों के तीनों आलापकों (उत्पाद, उद्वर्त्तन और सत्ता) में 'असंख्यात' पद घटित हो जाता है।[3]

इनके विमानावासों तथा लेश्याओं में अन्तर—सौधर्म से लेकर सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान तक के विमानावासों की संख्या इस प्रकार है—सौधर्मकल्प में ३२ लाख, ईशानकल्प में २८ लाख, सनत्कुमारकल्प में १२ लाख, माहेन्द्रकल्प में ८ लाख, ब्रह्मलोक में ४ लाख, लान्तककल्प में ५० हजार, महाशुक्र में ४० हजार

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१६७

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

(ख) भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १०, पृ. ५४२-५४३

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

(ख) भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १०, पृ. ५४४

सहस्रार में ६ हजार विमानावास हैं। आनत और प्राणत कल्प में ४०० विमान हैं तथा आरण और अच्युत कल्प में ३०० विमानावास हैं। नौ ग्रैवेयक के प्रथम त्रिक में १११, द्वितीय त्रिक में १०७ और तृतीय त्रिक में १०० विमान है एवं पांच अनुत्तर विमानों में ५ विमान हैं, इस प्रकार सौधर्म से अनुत्तर विमानों तक कुल विमानों की संख्या ८४,९७,०२३ होती है।

लेश्या में विभिन्नता इस प्रकार है—प्रथम और द्वितीय कल्प में तेजोलेश्या है; तृतीय, चतुर्थ और पंचम कल्प में पद्मलेश्या अर्थात्—तीसरे में तेजो-पद्म, चौथे में पद्म-शुक्ल लेश्या होती है तथा इनसे आगे के समस्त कल्पों, नौ ग्रैवेयकों एवं पांच अनुत्तर विमानों में केवल एक शुक्ललेश्या है। सातवें महाशुक्र से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक परमशुक्ल लेश्या मानी जाती है।[१]

आनतादि देवलोकों में उत्पादादि का अन्तर—आनत आदि देवलोकों में से संख्यात योजन विस्तृत विमानावासों में उत्पाद, च्यवन और सत्ता में संख्यात देव होते हैं। असंख्यात योजन विस्तृत आनतादि विमानों में उत्पाद और च्यवन में संख्यात तथा सत्ता में असंख्यात देव होते हैं; क्योंकि गर्भज मनुष्य ही मरकर आनतादि देवों में उत्पन्न होते हैं और वे देव भी, वहाँ से च्यव कर गर्भज मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं तथा गर्भज मनुष्य संख्यात ही होते हैं। इसलिए एक समय में उत्पाद भी संख्यात का और च्यवन भी संख्यात का हो सकता है। उन देवों का आयुष्य असंख्यात वर्ष का होता है, इसलिए उनके जीवनकाल में असंख्यात देव उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनकी अवस्थिति (सत्ता) में असंख्यात की प्ररूपणा की गई है। किन्तु नो-इन्द्रियोपयुक्त आदि पाँच पदों में उत्कृष्ट संख्यात की प्ररूपणा की गई है, क्योंकि इनका सद्भाव उत्पत्ति के समय ही रहता है और उत्पत्ति संख्यात की ही होती है, यह पहले कहा जा चुका है।[२]

पांच अनुत्तर विमानों में उत्पादादि—अनुत्तर विमान पांच हैं—(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध। सर्वार्थसिद्ध विमान इन चारों विमानों के मध्य में है। वह एक लाख योजन विस्तृत है, इसलिए संख्यात-योजन विस्तृत कहा गया है। शेष विजयादि चार अनुत्तर विमान असंख्यात योजन विस्तृत हैं। इनमें केवल सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए इनके तीनों आलापकों में कृष्णपाक्षिक, अभव्य एवं तीन अज्ञान वाले जीवों का निषेध किया गया है।[३]

चरम-अचरम—जिस जीव का अनुत्तरविमान सम्बन्धी अन्तिम भव है, उसे 'चरम' कहा जाता है और जिस जीव का अनुत्तरविमान-सम्बन्धी भव अन्तिम नहीं है, उसे 'अचरम' कहा जाता है सर्वार्थसिद्ध विमान में केवल चरम ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए इसमें अचरम का निषेध किया गया है। किन्तु शेष विजयादि चार अनुत्तरविमानों में तो 'अचरम' भी उत्पन्न होते हैं।[४]

१. (क) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १०, पृ. ५४५
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०४

३. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, २१७२

४ भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १०, पृ. ५५३

कठिन शब्दों का अर्थ—चयावेयव्वा—च्यवन सम्बन्धी पाठ कहना चाहिए। **णाणत्तं**—नानात्व, विभिन्नता। **पण्णत्तेसु**—सत्ता विषयक आलापक में। **गेवेज्जगा**—ग्रैवेयक। **अभवसिद्धिया**—अभव्यसिद्धिक, अभव्य। **खोडिज्जंति**—निषेध किये जाते हैं।[1]

चतुर्विध देवों के संख्यात-असंख्यात विस्तृत आवासों में सम्यग्दृष्टि आदि के उत्पाद, उद्वर्त्तन एवं सत्ता की प्ररूपणा

२५. चोयट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु असुरकुमारावासेसु किं सम्मद्दिट्ठी असुरकुमारा उववज्जंति, मिच्छद्दिट्ठी ? ०

एवं जहा रयणप्पभाए तिन्नि आलावगा भणिया तहा भाणियव्वा। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि तिन्नि गमा।

[२४ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवों के चौसठ लाख असुरकुमारावासों में से संख्यात योजन विस्तृत असुरकुमारावासों में सम्यग्दृष्टि असुरकुमार उत्पन्न होते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होते हैं, मिश्र (सम्यग्मिथ्या) दृष्टि उत्पन्न होते हैं ?

[२४ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार रत्नप्रभा के सम्बन्ध में तीन आलापक कहे, उसी प्रकार यहाँ भी कहने चाहिए और असंख्यात योजन विस्तृत असुरकुमारावासों के विषय में भी इसी प्रकार तीन आलापक कहने चाहिए।

२६. एवं जाव गेवेज्जविमाणेसु।

[२६] इसी प्रकार (नागकुमारावासों से लेकर) यावत् ग्रैवेयकविमानों (तक) के विषय में कहना चाहिए।

२७. अणुत्तरविमाणेसु एवं चेव, नवरं तिसु वि आलावएसु मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी य न भण्णंति। सेसं तं चेव।

[२७] अनुत्तरविमानों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष बात यह है कि अनुत्तरविमानों के तीनों आलापकों में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि का कथन नहीं करना चाहिए। शेष सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

विवेचन—देवों के दृष्टिविषयक आलापक—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२५ से २७) में चारों प्रकार के देवों में दृष्टिविषयक आलापकत्रय का निरूपण किया गया है। **पांच अनुत्तरविमानों में एकान्त सम्यग्दृष्टि ही**-उत्पन्न होते हैं, च्यवते हैं और सत्ता में रहते हैं। इसलिए शेष दोनों दृष्टियों का निषेध किया गया है।[2]

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २१६६, २१७१

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०४

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१७४

एक लेश्यावाले का दूसरी लेश्यावाले देवों में उत्पाद प्ररूपण

२८. से नूणं भंते ! कण्हलेस्से नील० जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति ?

हंता, गोयमा !० एवं जहेव नेरइएसु पढमे उद्देसए तहेव भाणियव्वं।

[२८ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्यी नीललेश्यी यावत् शुक्ललेश्यी (से परिवर्तित) होकर जीव कृष्णलेश्यी देवों में उत्पन्न हो जाता है ?

[२८] हाँ, गौतम ! जिस प्रकार (तेरहवें शतक के) प्रथम उद्देशक में नैरयिकों के विषय में कहा, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।

२९. नीललेसाए वि जहेव नेरइयाणं जहा नीललेस्साए।

[२९] नीललेश्यी के विषय में भी उसी प्रकार कहना चाहिए, जिस प्रकार नीललेश्यी नैरयिकों के विषय में कहा है।

३०. एवं जाव पम्हलेस्सेसु।

[३०] (जिस प्रकार नीललेश्यी देवों के विषय में कहा है), उसी प्रकार यावत् (कापोत, तेजस एवं) पद्मलेश्यी देवों के विषय में कहना चाहिए।

३१. सुक्कलेस्सेसु एवं चेव, नवरं लेसाठाणेसु विसुज्झमाणेसु विसुज्झमाणेसु सुक्कलेस्सं परिणमति सुक्कलेसं परिणमित्ता सुक्कलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति।

सेव भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेरसमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो॥

[३१] शुक्ललेश्यी देवों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेषता यह है कि लेश्यास्थान विशुद्ध होते-होते शुक्ललेश्या में परिणत हो जाते हैं। शुक्ललेश्या में परिणत होने के पश्चात् ही (वे जीव) शुक्ललेश्यी देवों में उत्पन्न होते हैं। इस कारण से हे गौतम ! 'उत्पन्न होते हैं' ऐसा कहा गया है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन- देवों में लेश्या-परिवर्तन-नैरयिकों की तरह देवों में भी अप्रशस्त से प्रशस्त-प्रशस्ततर और प्रशस्त-प्रशस्ततर से अप्रशस्त-अप्रशस्ततर लेश्या के रूप में परिवर्तन होता है। यह कथन भावलेश्या के विषय में समझना चाहिए, जो मूल में स्पष्ट किया गया है।

॥ तेरहवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

ततिओ उद्देसओ : अणंतर

तृतीय उद्देशक : नैरयिकों के अनन्तराहारादि

चौवीस दण्डकों में अनन्तराहारादि यावत् परिचारणा की प्ररूपणा

१. नेरतिया णं भंते ! अणंतराहारा ततो निव्वत्तणया। एवं परियारणापदं निरवसेसं भाणियव्वं।

सेवं भंते ! सेव भंते ! त्ति०।

॥ तेरसमे सए : ततिओ उद्देसओ समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव (उपपात-उत्पत्ति) क्षेत्र को प्राप्त करते ही अनन्ताराहारी होते हैं (अर्थात्—प्रथम समय में ही आहारक हो जाते हैं) ? इसके बाद निर्वर्त्तना (शरीर की उत्पत्ति) करते हैं ? (क्या इसके पश्चात् वे लोमाहारादि द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करते हैं ? फिर उन पुद्गलों को इन्द्रियादिरूप में परिणत करते हैं ? क्या इसके पश्चात् वे परिचारणा-शब्दादि विषयों का उपभोग करते हैं ? फिर अनेक प्रकार के रूपों की विकुर्वणा करते हैं ?) इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] (हाँ, गौतम !) वे इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से करते हैं। (इसके उत्तर में) प्रज्ञापना सूत्र का चौतीसवाँ परिचारणापद समग्र कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नारकों के द्वारा उत्पत्तिक्षेत्र प्राप्त करते ही आहार के होने, फिर शरीरोत्पत्ति करने, लोमाहारादि द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने, फिर उन पुद्गलों को इन्द्रियादि रूप में परिणत करने एवं शब्दादि विषयभोग द्वारा परिचारणा करने और फिर नाना रूपों की विकुर्वणा करने आदि के विषय में प्रश्न उठाकर प्रज्ञापनासूत्र के ३४वें समग्र परिचारणापद का अतिदेश करके समाधान किया गया है।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥ ○○○

---

१. देखिये प्रज्ञापनासूत्र का ३४ वाँ परिचारणापद

चउत्थो उद्देसओ : पुढवी

चतुर्थ उद्देशक : (नरक) पृथ्वियाँ

द्वारगाथाएँ तथा सात पृथ्वियाँ

१. कति[१] णं भंते ! पुढवीओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा रयणप्पभा जाव अहेसत्तमा।

[१ प्र.] भगवन् ! नरकपृथ्वियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१ उ.] गौतम ! नरकपृथ्वियाँ सात कही गई हैं, यथा—रत्नप्रभा यावत् अधःसप्तमा पृथ्वी।

प्रथम नैरयिकद्वार-नरकावासों की संख्यादि अनेक पदों से परस्पर तुलना

२. अहेसत्तमाए णं पुढवीए पंच अणुत्तरा महतिमहालया जाव अपतिट्ठाणे। ते णं णरगा छट्ठाए तमाए पुढवीए नरएहिंतो महत्तरा चेव १, महाविथ्थिण्णतरा चेव २, महोवासतरा चेव ३, महापतिरिक्कतरा चेव ४, नो तहा—महापवेसणतरा चेव १, आइण्णतरा चेव २, आउलतरा चेव ३, अणोमाणतरा चेव ४, तेसु णं नरएसु नेरतिया छट्ठाए तमाए पुढवीए नेरइएहिंतो महाकम्मतरा चेव १, महाकिरियतरा चेव २, महासवतरा चेव ३, महावेयणतरा चेव ४, नो तहा—अप्पकम्मतरा चेव १, अप्पकिरियतरा चेव २ अप्पासवतरा चेव ३, अप्पवेयणतरा चेव ४, अप्पिड्ढियतरा चेव १, अप्पजुतियतरा चेव २; नो तहा-महिड्ढियतरा चेव १, नो महज्जुतियतरा चेव २।

[२] अधःसप्तमपृथ्वी में पांच अनुत्तर और महातिमहान् नरकावास यावत् अप्रतिष्ठान तक कहे गए हैं। वे नरकवास छठी तमः प्रभापृथ्वी के नरकावासों में महत्तर (बड़े) हैं, महाविस्तीर्णतर हैं, महान अवकाश वाले हैं, बहुत रिक्त स्थान वाले हैं; किन्तु वे महाप्रवेश वाले नहीं हैं, वे अन्यन्त आकीर्णतर (संकीर्ण) और व्याकुलतायुक्त (व्याप्त) नहीं हैं अर्थात्—वे अत्यन्त विशाल हैं। उन नरकावासों में रहे हुए नैरयिक, छठी तमःप्रभापृथ्वी के नैरयिकों की अपेक्षा महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महाश्रव वाले एवं महावेदना वाले हैं। वे (तमःप्रभास्थित नैरयिकों की तरह) न तो अल्पकर्म वाले हैं और न अल्प क्रिया, अल्प आश्रव और अल्पवेदना वाले हैं। वे नैरयिक अल्प ऋद्धि वाले और अल्पद्युति वाले हैं। वैसे वे महान् ऋद्धि वाले और महाद्युति वाले नहीं हैं।

३. छट्ठाए णं तमाए पुढवीए एगे पंचूणे निरयावाससयसहस्से पन्नत्ते। ते णं नरगा अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइएहिंतो नो तहा—महत्तरा चेव, महाविथ्थिण्ण० ४; महप्पवेसणतरा चेव, आइण्ण० ४।

---

१. अधिक पाठ—किसी किसी प्रति में ये दो द्वार-गाथाएँ मिलती हैं—**नेरइय १ फास २ पणिही ३ निरयंते चेव ४ लोयमज्झे स ५। दिसि-विदिसाण य पवहा ५, पवत्तणं अत्थिकाएहिं ७ ॥ १ ॥ अत्थोपएसफुसणा ८ ओगाहणया य ९ जीवमोगाढा १० अत्थिपएसनिसीयण ११ बहुस्समे १२ लोगसंठाणे १३ ॥**

तेसु णं नरएसु नेरइया अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइएहिंतो अप्पकम्मतरा चेव, अप्पकिरिय० ४; नो तहा—महाकम्मतरा चेव, महाकिरिय० ४; महिड्ढियतरा चेव महज्जुतियतरा चेव; नो तहा—अप्पिड्ढियतरा चेव, अप्पज्जुतियतरा चेव।

छट्ठाए णं तमाए पुढवीए नरगा पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए नरएहिंतो महत्तरा चेव० ४; नो तहा महप्पवेसणतरा चेव० ४;। तेसु णं नरएसु नेरइया पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए नेरइएहिंतो महाकम्मतरा चेव० ४; नो तहा अप्पकम्मतरा चेव० ४; अप्पिड्ढियतरा चेव अप्पजुइयतरा चेव; नो तह महिड्ढियतरा चेव० २।

[३] छठी तमःप्रभापृथ्वी में पांच कम एक लाख नारकावास कहे गए हैं। वे नारकावास अधःसप्तमपृथ्वी के नारकावासों के जैसे न तो महत्तर हैं और न ही महाविस्तीर्ण हैं; न ही महान् अवकाश वाले हैं और न शून्य स्थान वाले हैं। वे (सप्तम नरकपृथ्वी के नारकावासों की अपेक्षा) महाप्रवेश वाले हैं, संकीर्ण हैं, व्याप्त हैं, विशाल हैं। उन नारकावासों में रहे हुए नैरयिक अधःसप्तम पृथ्वी के नैरयिकों की अपेक्षा अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्प-आश्रव और अल्पवेदना वाले हैं। वे अधःसप्तमपृथ्वी के नारकों के समान महाकर्म, महाक्रिया, महाश्रव और महावेदना वाले नहीं हैं। वे उनकी अपेक्षा महान् ऋद्धि और महाद्युति वाले हैं, किन्तु वे उनकी तरह अल्पऋद्धि वाले और अल्पद्युति वाले नहीं हैं।

छठी तमःप्रभानरकपृथ्वी के नारकावास पांचवी धूमप्रभानरकपृथ्वी के नारकावासों से महत्तर, महाविस्तीर्ण, महान् अवकाश वाले, महान् रिक्त स्थान वाले हैं। वे पंचम नरकपृथ्वी के नारकावासों की तरह महाप्रवेश वाले, आकीर्ण (व्याप्त), व्याकुलतायुक्त एवं विशाल नहीं हैं। छठी पृथ्वी के नारकावासों के नैरयिक पांचवीं धूमप्रभापृथ्वी के नैरयिकों की अपेक्षा महाकर्म, महाक्रिया, महाश्रव तथा महावेदना वाले हैं। उनकी (पांचवीं धूमप्रभा के नारकों की) तरह वे अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्पाश्रव एवं अल्पवेदना वाले नहीं हैं तथा वे उनसे अल्पऋद्धि वाले और अल्पद्युति वाले हैं, किन्तु महाऋद्धि वाले और महाद्युति वाले नहीं हैं।

४. पंचमाए णं धूमप्पभाए पुढवीए तिन्नि निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[४] पांचवीं धूमप्रभा पृथ्वी में तीन लाख नारकावास कहे गए हैं।

५. एवं जहा छट्ठाए भणिया एवं सत्त वि पुढवीओ परोप्परं भण्णंति जाव रयणप्पभ त्ति। जाव नो तहा महिड्ढियतरा चेव अप्पज्जुतियतरा चेव।

[५] इसी प्रकार जैसे छठी तमःप्रभापृथ्वी के विषय में परस्पर तारतम्य बताया, वैसे सातों नरकपृथ्वियों के विषय के परस्पर तारतम्य, यावत् रत्नप्रभा तक कहना चाहिए, वह पाठ यावत् शर्कराप्रभापृथ्वी के नैरयिक, रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों की अपेक्षा महाऋद्धि और महाद्युति वाले नहीं हैं। वे उनकी अपेक्षा अल्पऋद्धि और अल्पद्युति वाले हैं, (यहाँ तक) कहना चाहिए।

विवेचन—नारकावासों की परस्पर तरतमता—प्रस्तुत ५ सूत्रों (सू. १ से ५ तक) में सातों नरकपृथ्वियों के नारकावासों की संख्या, विशालता, विस्तार, अवकाश, स्थानरिक्तता, प्रवेश, संकीर्णता, व्यापकता, कर्म,

क्रिया, आश्रव, वेदना, ऋद्धि और द्युति आदि विषयों में एक दूसरे से तरतमता का निरूपण किया गया है।[१]

कठिन शब्दार्थ—**अणुत्तरा**—प्रधान। **महातिमहालया**—महातिमहान्—बहुत बड़े। **पंच णरगा**—पांच नारकावास हैं—काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान। **महत्तरा (महंततरा)**—दीर्घता (लम्बाई) की अपेक्षा (शेष ६ नारकों से) बड़े। **महावित्थिण्णतरा (महीविच्छिण्णतरा)**—चौड़ाई (विष्कम्भ) की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत। **महोवासतरा**—(स्थान की दृष्टि से) महान् अवकाश वाले। **महापतिरिक्कतरा**—(जीवों के अवस्थान की दृष्टि से) अत्यन्त रिक्त हैं। **महापवेसणतरा**—महाप्रवेश वाले अर्थात्-दूसरी गति से आकर जिनमें बहुत-से-जीव प्रवेश करते हों, ऐसे। **आइण्णतरा**—अत्यन्त आकीर्ण। **आउलतरा**—व्याकुलता (व्यापकता) से युक्त। **अणोमाणतरा**—अल्पपरिमाण वाले नहीं है—विशाल परिमाण वाले हैं अथवा पाठान्तर **अणोयणतरा**—अनोदनतर हैं, अर्थात् नारकों की बहुसंख्यकता न होने से जहाँ एक दूसरे से नोदन-ठेलमठेल या धक्कामुक्की-नहीं होती। **महाकम्मतरा**—महाकर्म वाले अर्थात्-आयुष्य, वेदनीय आदि कर्मों की प्रचुरता वाले। **महाकिरियतरा**—कायिकी आदि महाक्रिया वाले। **महासवतरा**—महान् अशुभ आश्रव वाले। **महावेयणतरा**—महावेदना वाले। **अल्पकम्मतरा**—अल्पकर्म वाले। **अप्पिड्ढियतरा**—अल्पऋद्धि वाले। **अप्पज्जुइयतरा**—अल्पद्युति वाले। **नेरइएहिंतो**—नारकों से। **महाड्ढियतरा**—महान् ऋद्धि वाले। **महज्जुइयतरा**—महाद्युति वाले।[२]

सात पृथ्वी के नैरयिकों की एकेन्द्रिय जीव स्पर्शानुभवप्ररूपणा : द्वितीय स्पर्शद्वार

६. रयणप्पभपुढविनेरइया णं भंते ! केरिसयं पुढविफासं पच्चणुभवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं जाव अमणाणं।

[६ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभा के नैरयिक (वहाँ की) पृथ्वी के स्पर्श का कैसा अनुभव करते रहते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! (वे वहाँ की पृथ्वी के) अनिष्ट यावत् मन के प्रतिकूल स्पर्श का अनुभव करते रहते हैं।

७. एवं जाव अहेसत्तमपुढविनेरतिया।

[७] इसी प्रकार यावत् अध:सप्तमपृथ्वी के नैरयिकों द्वारा पृथ्वीकाय के (उत्तरोत्तर, अनिष्टतर, अनिष्टतम यावत् मन:प्रतिकूलतर, प्रतिकूलतम) स्पर्शानुभव के विषय में कहना चाहिए।

८. एवं आउफासं।

[८] इसी प्रकार (रत्नप्रभा से लेकर अध:सप्तमपृथ्वी के नैरयिक) (अनिष्ट यावत् मन:प्रतिकूल) अप्कायिक के स्पर्श का (अनुभव करते हुए रहते हैं।)

९. एवं जाव वणस्सइफासं।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६२६-६२७

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१७७-७८

[९] इसी प्रकार (तेजस्काय से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिक के स्पर्श (के विषय में भी कहना चाहिए)

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों में रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर अध:सप्तमपृथ्वी तक के नैरयिकों के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के अनिष्ट, अनिष्टतर, अनिष्टतम यावत् मन:प्रतिकूल, प्रतिकूलतर, प्रतिकूलतम स्पर्श के अनुभव का निरूपण किया गया है। इस प्रकार द्वितीय स्पर्शद्वार पूर्ण हुआ।

सात पृथ्वियों की परस्पर मोटाई-छोटाई आदि की प्ररूपणा : तृतीय प्रणिधिद्वार

१०. इमा णं भंते ! रयणप्पभपुढवी दोच्चं सक्करप्पभं पुढविं पणिहाए सव्वमहंतिया बाहल्लेणं, सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ?

एवं जहा जीवाभिगमे[1] बितिए नेरइयउद्देसए।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या यह (प्रथम) रत्नप्रभापृथ्वी, द्वितीय शर्कराप्रभापृथ्वी की अपेक्षा मोटाई में सबसे मोटी और चारों ओर (चारों दिशाओं में) (लम्बाई-चौड़ाई में) सबसे छोटी है ?

[१० उ.] (हाँ, गौतम !) इसी प्रकार है। (शेष सब वर्णन) जीवाभिगमसूत्र की तृतीय प्रतिपत्ति के दूसरे नैरयिक उद्देशक में (कहा है, तदनुसार यहाँ भी कहना चाहिए)।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तीसरे 'प्रणिधि (अपेक्षा) द्वार' के सन्दर्भ में सातों नरकपृथ्वियों की मोटाई, लम्बाई-चौड़ाई का एक दूसरे से तारतम्य जीवाभिगमसूत्र के अतिदेश-पूर्वक बताया गया है।

सात पृथ्वियों के निकटवर्ती एकेन्द्रियों की महाकर्म-अल्पकर्मतादिनिरूपणा : चतुर्थ निरयान्तद्वार

११. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णिरयपरिसामंतेसु जे पुढविकाइया० ?

एवं जहा नेरइयउद्देसए जाव अहेसत्तमाए।

[११ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नारकावासों के परिपार्श्व में जो पृथ्वीकायिक (से लेकर यावत् वनस्पतिकायिक जीव हैं, क्या वे महाकर्म, महाक्रिया, महा-आश्रव और महावेदना वाले हैं ?) इत्यादि प्रश्न।

[११ उ.] (हाँ, गौतम !) हैं, (इत्यादि सब वर्णन जीवाभिगमसूत्र की तृतीय प्रतिपत्ति के दूसरे) नैरयिक उद्देशक के अनुसार (रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर) यावत् अध:सप्तमपृथ्वी (तक कहना चाहिए।)

---

१. जीवाभिगम में सूचित पाठ इस प्रकार है—"**हंता, गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु। दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं० पुच्छा ? हंता, गोयमा ! दोच्चा णं जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु। एवं एएणं अभिलावेणं जाव छट्ठिया पुढवी अहेसत्तमं पुढविं पणिहाय जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु त्ति।" अवृ०॥**

– जीवाजीवाभिगमसूत्रम्, पृ. १२७, आगमोदय.॥

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में चौथे निरयान्तद्वार के सन्दर्भ में सातों नरकों के निकटवर्ती पृथ्वीकायादि जीवों के महाकर्मी आदि होने का अतिदेशपूर्वक कथन किया गया है।

लोक-त्रिलोक का आयाम-मध्यस्थान निरूपण : पंचम लोकमध्यद्वार

१२. कहि णं भंते अहेलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए ओवासंतरस्स असंखेज्जतिभागं ओगाहित्ता, एत्थ णं अहेलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते।

[१२ प्र.] भगवन् ! लोक के आयाम (लम्बाई) का मध्य (मध्यभाग) कहाँ कहा गया है ?

[१२ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के आकाशखण्ड (अवकाशान्तर) के असंख्यातवें भाग का अवगाहन (उल्लंघन) करने पर लोक की लम्बाई का मध्यभाग कहा गया है।

१३. कहि णं भंते ! अहेलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए ओवासंतरस्स सातिरेगं अद्धं ओगाहित्ता, एत्थ णं अहेलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते।

[१३ प्र.] भगवन् ! अधोलोक की लम्बाई का मध्यभाग कहाँ कहा गया है ?

[१३ उ.] गौतम ! चौथी पंकप्रभापृथ्वी के आकाशखण्ड (अवकाशान्तर) के कुछ अधिक अर्द्धभाग का उल्लंघन करने के बाद, अधोलोक की लम्बाई का मध्यभाग कहा गया है।

१४. कहि णं भंते ! उड्ढलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते ?

गोयमा ! उप्पिं सणंकुमार-माहिंदाणं कप्पाणं हेट्ठिं बंभलोए कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे, एत्थ णं उड्ढलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते।

[१४ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्वलोक की लम्बाई का मध्यभाग कहाँ बताया गया है ?

[१४ उ.] गौतम ! सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोकों के ऊपर और ब्रह्मलोक कल्प के नीचे एवं रिष्ट नामक विमानप्रस्तट (पाथड़े) में ऊर्ध्वलोक की लम्बाई का मध्यभाग बताया गया है।

१५. कहि णं भंते ! तिरियलोगस्स आयाममज्झे पन्नत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभाए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु, खुड्डगपयरेसु, एत्थ णं तिरियलोगमज्झे अट्ठपएसिए रुयए पन्नत्ते, जओ णं इमाओ दस दिसाओ पवहंति, तं जहा—पुरत्थिमा पुरत्थिमदाहिणा एवं जहा दसमसते [स० १० उ० १ सु० ६-७] जाव नामधेज्ज त्ति।

[१५ प्र.] भगवन ! तिर्यक्लोक की लम्बाई का मध्यभाग कहाँ बताया गया है?

[१५ उ.] गौतम ! इस जम्बूद्वीप के मन्दराचल (मेरुपर्वत) के बहुसम मध्यभाग (ठीक बीचोंबीच) में इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर वाले और निचले दोनों क्षुद्रप्रस्तटों (छोटे पाथड़ों) में, तिर्यग्लोग के मध्य भाग रूप आठ रुचक-प्रदेश कहे गए हैं, (वहीं तिर्यग्लोक की लम्बाई का मध्यभाग है।) उन (रुचक प्रदेशों) में से ये दश दिशाएँ निकली हैं। यथा—पूर्वदिशा, पूर्व-दक्षिण दिशा इत्यादि, (शेष समग्र वर्णन) दशवें शतक (के प्रथम उद्देशक के सूत्र ६-७) के अनुसार, दिशाओं के दश नाम ये हैं; (यहाँ तक) कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १२ से १५ तक) में लोक, ऊर्ध्व अधो एवं तिर्यक् लोक की लम्बाई के मध्यभाग का निरूपण लोक-मध्यद्वार के सन्दर्भ में किया गया है।

लोक एवं ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक्लोक के मध्यभाग का निरूपण—लोक की कुल लम्बाई १४ रज्जू परिमित है। उसकी कुल लम्बाई का मध्यभाग रत्नप्रभापृथ्वी के आकाशखण्ड के असंख्यातवें भाग का उल्लंघन करने के बाद है। तिर्यक्लोक की लम्बाई १८०० योजन है। तिर्यक्लोक के मध्य में जम्बूद्वीप है। उसी जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के बहुमध्य देशभाग (बिल्कुल मध्य) में, रत्नप्रभापृथ्वी के समतल भूमिभाग पर आठ रुचक प्रदेश हैं, जो गोस्तन के आकार के हैं और चार ऊपर की ओर उठे हुए हैं तथा चार नीचे की ओर हैं। इन्ही रुचक प्रदेशों की अपेक्षा से सभी दिशाओं और विदिशाओं का ज्ञान होता है। इन रुचक प्रदेशों के ९०० योजन ऊपर और ९०० योजन नीचे तक तिर्यक्लोक (मध्यलोक) है। तिर्यक्लोक के नीचे अधोलोक हैं और ऊपर ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक की लम्बाई कुछ कम ७ रज्जू परिमाण है, जबकि अधोलोक की लम्बाई कुछ अधिक सात रज्जू परिमाण है। रुचक प्रदेशों के नीचे असंख्यात करोड़ योजन जाने पर रत्नप्रभापृथ्वी में चौदह रज्जू रूप लोक का मध्यभाग आता है। यहाँ से ऊपर और नीचे लोक का परिमाण ठीक सात-सात रज्जू रह जाता है। चौथी और पांचवीं नरकपृथ्वी के मध्य के जो अवकाशान्तर (आकाशखण्ड) हैं, उनके सातिरेक (कुछ अधिक) आधे भाग का उल्लंघन करने पर अधोलोक का मध्यभाग है। सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक से ऊपर और पांचवें ब्रह्मलोककल्प के नीचे रिष्ट नामक तृतीय प्रतर में ऊर्ध्वलोक का मध्य भाग है।[१]

दश दिशाओं का उद्गम, गुणनिष्पन्न नाम—लोक का आकार वज्रमय है। इस रत्नप्रभापृथ्वी के रत्नकाण्ड में सबसे छोटे दो प्रतर हैं। उनके दोनों लघुतम प्रतरों में से ऊपर के प्रतर से लोक की ऊर्ध्वमुखी वृद्धि होती है और नीचे के प्रतर से लोक की अधोमुखी वृद्धि होती है। यही तिर्यक्लोक का मध्यभाग है, जहाँ ८ रुचक प्रदेश बताए हैं। इन्हीं से १० दिशाएँ निकली हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम, (४) उत्तर, ये चार दिशाएँ मुख्य हैं तथा (५) अग्निकोण, (६) नैऋत्यकोण, (७) वायव्यकोण और (८) ईशानकोण, (९) ऊर्ध्वदिशा और (१०) अधोदिशा।

पूर्व महाविदेह की ओर पूर्वदिशा है, पश्चिम महाविदेह की ओर पश्चिम दिशा है, भरतक्षेत्र की ओर दक्षिणदिशा है, और ऐरवतक्षेत्र की ओर उत्तरदिशा है। पूर्व और दक्षिण के मध्य की 'अग्निकोण', दक्षिण और

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०७

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१८३-२१८४

पश्चिम के मध्य की 'नैऋत्यकोण', पश्चिम और उत्तर के मध्य की 'वायव्यकोण' और उत्तर एवं पूर्व के बीच की 'ईशानकोण' विदिशा कहलाती है। रुचकप्रदेशों की सीध में ऊपर की ओर ऊर्ध्वदिशा और नीचे की ओर अधोदिशा है।

इन दसों दिशाओं के गुणनिष्पन्न नाम ये हैं—(१) ऐन्द्री, (२) आग्नेयी, (३) याम्या, (४) नैऋती, (५) वारुणी, (६) वायव्या (७) सौम्या, (८) ऐशानी, (९) विमला और (१०) तमा।[1]

कठिन शब्दार्थ—आयाममज्झे—लम्बाई का मध्यभाग। **उवासंतरस्स**—अवकाशान्तर, आकशखण्ड का, **साइरेगं**—सातिरेक, कुछ अधिक। **ओगाहित्ता**—उल्लंघन—अवगाहन करके। **हेट्ठिं**—नीचे। **पत्थटे**—प्रस्तट—पाथड़ा। **उवरिम-हेट्ठिलेसु**—ऊपर और नीचे के। **खुड्डयपयरेसु**—क्षुद्र (छोटे लघुतम) प्रतरों में। **प्रवहंति**—प्रवहित—प्रवर्तित होती है।[2]

ऐन्द्री आदि दस दिशा-विदिशा का स्वरूपनिरूपण : छठा-दिशा-विदिशा-प्रवहादिद्वार

१६. इंदा ण भंते ! दिसा किमादीया किंपवहा कतिपदेसादीया कतिपदेसुत्तरा कतिपदेसिया किंपज्जवसिया किंसंठिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! इंदा णं दिसा रुयगादीया रुयगप्पवहा दुपदेसादीया दुपदेसुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपएसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपदेसिया, लोगं पडुच्च सादीया सपज्जवसिया, अलोगं पडुच्च सादीया अपज्जवसिया, लोगं पडुच्च मुरजसंठिया, अलोगं पडुच्च सगडुद्धिसंठिता पन्नत्ता।

[१६ प्र.] भगवन् ! इन्द्रा (ऐन्द्री-पूर्व) दिशा में आदि (प्रारम्भ) में क्या है ?, वह कहाँ से निकली है? उसके आदि (प्रारम्भ) में कितने प्रदेश हैं ? उत्तरोत्तर कितने प्रदेशों की वृद्धि होती है। वह कितने प्रदेश वाली है? उसका पर्यवसान (अन्त) कहाँ होता है ! और उसका संस्थान कैसा है ?

[१६ उ.] गौतम ! ऐन्द्री दिशा के प्रारम्भ में रुचक प्रदेश[3] है। वह रुचक प्रदेशों से निकली है। उसके प्रारम्भ में दो प्रदेश होते हैं। आगे दो-दो प्रदेशों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। वह लोक की अपेक्षा से असंख्यातप्रदेश वाली है और अलोक की अपेक्षा से अनन्तप्रदेश वाली है। लोक-आश्रयी वह सादि-सान्त (आदि और अन्त

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०७ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१८४

२. वही, भा. ५ पृ. २१८४

३. 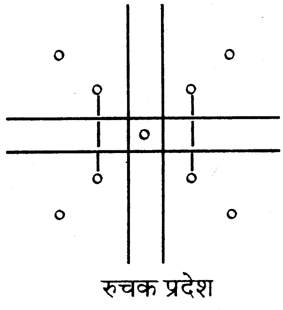

रुचक प्रदेश

देखो आकृति नं. १

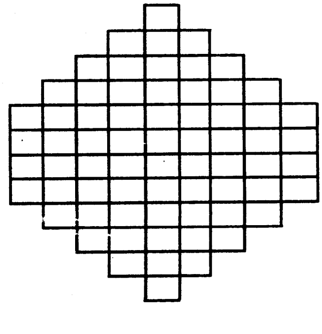

देखो आकृति नं. २

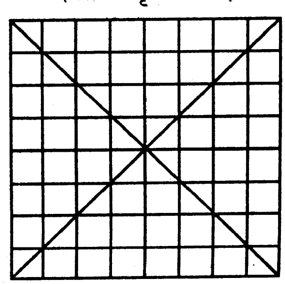

सहित) है और अलोक-आश्रयी वह सादि अनन्त हैं। लोक-आश्रयी वह मुरज (मृदंग) के आकार की है, और अलोक-आश्रयी वह ऊर्ध्वशकटाकार (शकटोर्द्धि) की है।

१७. अग्गेयी णं भंते ! दिसा किमादीया किंपवहा कतिपएसादीया कतिपएसवित्थिण्णा कतिपदेसिया किंपज्जवसिया किंसंठिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! अग्गेयी णं दिसा रुयगादीया रुयगप्पवहा एगपएसादीया एगपएसवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपएसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपएसिया लोगं पडुच्च सादीया सपज्जवसिया, आलोगं पडुच्च सादीया अपज्जवसिया, छिन्नमुत्तावलिसंठिया पन्नत्ता।

[२७ प्र.] भगवन् ! आग्नेयी दिशा के आदि में क्या हैं ? उसका उद्गम (प्रवह) कहाँ से है ? उसके आदि में कितने प्रदेश हैं ? वह कितने प्रदेशों के विस्तार वाली है ? वह कितने प्रदेशों वाली है ? उसका अन्त कहाँ होता है ? और उसका संस्थान (आकार) कैसा है ?

[२७ उ.] गौतम ! आग्नेयी दिशा के आदि में रुचकप्रदेश हैं। उसका उद्गम (प्रवह) भी रुचकप्रदेश से है। उसके आदि में एक प्रदेश है। वह अन्त तक एक-एक प्रदेश के विस्तार वाली है। वह अनुत्तर (उत्तरोत्तरवृद्धि से रहित) है। वह लोक की अपेक्षा असंख्यातप्रदेश वाली है और अलोक की अपेक्षा अनन्तप्रदेश वाली है। वह लोक-आश्रयी सादि-सान्त है और अलोक-आश्रयी सादि-अनन्त है। उसका आकार (संस्थान) टूटी हुई मुक्तावली (मोतियों की माला) के समान है।

१८. जमा जहा इंदा।

[१८] याम्या का स्वरूप ऐन्द्री के समान समझना चाहिए।

१९. नेरती जहा अग्गेयी।

[१९] नैऋती का स्वरूप आग्नेयी के समान मानना चाहिए।

२०. एवं जहा इंदा तहा दिसाओ चत्तारि वि। जहा अग्गेयी तहा चत्तारि वि विदिसाओ।

[२०] (संक्षेप में) ऐन्द्री दिशा के समान चारों दिशाओं का तथा आग्नेयी दिशा के समान चारों विदिशाओं का स्वरूप जानना चाहिए।

२१. विमला णं भंते ! दिसा किमादीया०, पुच्छा।

गोयमा ! विमला णं दिसा रुयगादीया रुयगप्पवहा चउप्पएसादीया, दुपदेसवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च० सेसं जहा अग्गेयीए, नवरं रुयगसंठिया पन्नत्ता।

[२१ प्र.] भगवन् ! विमला (ऊर्ध्व) दिशा के आदि में क्या है ? इत्यादि आग्नेयी के समान प्रश्न।

[२१ उ.] गौतम ! विमल दिशा के आदि में रुचक प्रदेश हैं। वह रुचकप्रदेशों से निकली है। उसके आदि में चार प्रदेश हैं। वह अन्त तक दो प्रदेशों के विस्तार वाली है। वह अनुत्तर (उत्तरोत्तर वृद्धिरहित) है। लोक-

आश्रयी वह असंख्यात प्रदेश वाली है, जबकि अलोक-आश्रयी अनन्त प्रदेश वाली है, इत्यादि शेष सब वर्णन आग्नेयी के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि वह (विमला दिशा) रुचकाकार है।

२२. एवं तमा वि।

[२२] तमा (अधो) दिशा के विषय में भी (समग्र वर्णन इसी प्रकार कहना चाहिए)।

विवेचन—दिशाओं के गुणनिष्पन्न नाम उनकी आदि, उद्गम आदि-प्रदेश प्रदेशविस्तार, उत्तरोत्तर वृद्धि विस्तार, प्रदेशसंख्या, उसका अन्त, आकार आदि के विषय में शंका-समाधान प्रस्तुत ७ सूत्रों (१६ से २२ सू. तक) में प्रतिपादित किया गया है।

दसों दिशाओं के गुणनिष्पन्न नाम क्यों ?—**(१) ऐन्द्री**—पूर्वदिशा का अधिष्ठाता देव इन्द्र होने से, **(२) आग्नेयी**—अग्निकोण का स्वामी 'अग्नि' देवता होने से। **(३) नैऋती**—नैऋत्यकोण का स्वामी नैऋति होने से। **(४) याम्या**—दक्षिणदिशा का अधिष्ठाता यम होने से। **(५) वारुणी**—पश्चिमदिशा का अधिष्ठाता वरुण होने से। **(६) वायव्य**—वायुकोण का अधिष्ठाता वायुदेव होने से। **(७) सौम्या**—उत्तर दिशा का स्वामी सोम (चन्द्रमा) होने से। **(८) ऐशानी**—ईशानकोण का अधिष्ठाता ईशान देव होने से। इस प्रकार अपने-अपने अधिष्ठाता देवों के नाम पर से ही इन दिशाओं और विदिशाओं के ये गुणनिष्पन्न नाम प्रचलित हैं। ऊर्ध्वदिशा को **विमला** इसलिए कहते हैं कि ऊपर अन्धकार नहीं है, इस कारण वह निर्मल है। अधोदिशा गाढ अन्धकारयुक्त होने से **'तमा'** कहलाती है, तमा रात्रि को कहते हैं, यह दिशा भी रात्रि तुल्य होने से तमा है।[1]

उत्पत्तिस्थान आदि—इन दसों दिशाओं के उत्पत्तिस्थान आठ रुचकप्रदेश हैं। चारों दिशाएँ मूल में द्विप्रदेशी हैं और आगे-आगे दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होती जाती है। विदिशाएँ मूल में एक प्रदेश वाली निकली हैं और अन्त तक एकप्रदेशी ही रहती हैं। इन के प्रदेशों में वृद्धि नहीं होती। ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा मूल में चतुष्प्रदेशी निकली हैं और अन्त तक चतुष्प्रदेशी ही रहती हैं। इनमें भी वृद्धि नहीं होती।[2]

लोक-पंचास्तिकाय-स्वरूपनिरूपण : सप्तम प्रवर्त्तनद्वार

२३. किमियं भंते ! लोए त्ति पवुच्चई ?

गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोए त्ति पवुच्चइ, तं जहा—धम्मऽत्थिकाए, अधम्मऽत्थिकाए, जाव पोग्गलऽत्थिकाए।

[२३ प्र.] भगवन् ! यह लोक क्या कहलाता है—लोक का स्वरूप क्या है ?

[२३ उ.] गौतम ! पंचास्तिकाय का समूहरूप ही यह लोक कहलाता है। वे पंचास्तिकाय इस प्रकार हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, यावत् (आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय) पुद्गलास्तिकाय।

---

१. (क) भगवती. श. १० उ. १, सू. ६-७ में देखिये।

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१८७

२. वही (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१८८

२४. धम्मऽत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तति ?

गोयमा ! धम्मऽत्थिकाए णं जीवाणं आगमण-गमण-भासुम्मेस-मणजोग-वइजोग—कायजोगा, जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मऽत्थिकाए पवत्तंति। गतिलक्खणे णं धम्मत्थिकाए।

[२४ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय से जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?

[२४ उ.] गौतम ! धर्मास्तिकाय से जीवों के आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष (नेत्र खोलना), मनोयोग, वचनयोग और काययोग प्रवृत्त होते हैं। ये और इस प्रकार के जितने भी चल भाव (गमनशील भाव) हैं वे धर्मास्तिकाय द्वारा प्रवृत्त होते हैं। धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिरूप है।

२५. अहम्मऽत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तति ?

गोयमा ! अहम्मऽत्थिकाए णं जीवाणं ठाण-निसीयण-तुयट्टण-मणस्स य एगत्तीभावकरणता, जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मऽत्थिकाये पवत्तंति। ठाणलक्खणे णं अहम्मत्थिकाए।

[२५ प्र.] भगवन् ! अधर्मास्तिकाय से जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?

[२५ उ.] गौतम ! अधर्मास्तिकाय से जीवों के स्थान (स्थित रहना), निषीदन (बैठना), त्वग्वर्त्तन (करवट लेना, लेटना या सोना) और मन को एकाग्र करना (आदि की प्रवृत्ति होती है।) ये तथा इस प्रकार के जितने भी स्थिर भाव हैं, वे सब अधर्मास्तिकाय से प्रवृत्त होते हैं। अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थितिरूप है।

२६. आगासऽत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं अजीवाण य किं पवत्तति ?

गोयमा ! आगासऽत्थिकाए णं जीवादव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए।

एगेण वि से पुण्णे, दोहि वि पुण्णे, सयं पि माएज्जा।
कोडिसएण वि पुण्णे, कोडिसहस्सं पि माएज्जा ॥ १॥

अवगाहणालक्खणे णं आगासत्थिकाए।

[२६ प्र.] भगवन् ! आकाशास्तिकाय से जीवों और अजीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?

[२६ उ.] गौतम ! आकाशास्तिकाय, जीवद्रव्यों और अजीवद्रव्यों का भाजनभूत (आश्रयरूप) होता है। (अर्थात्—आकाशास्तिकाय जीव और अजीवद्रव्यों को अवगाह देता है।)

(एक गाथा के द्वारा आकाश का गुण बताया गया है—) अर्थात्—एक परमाणु से पूर्ण या दो परमाणुओं से पूर्ण (एक आकाशप्रदेश में) सौ परमाणु भी समा सकते हैं। सौ करोड़ परमाणुओं से पूर्ण एक आकाशप्रदेश में एक हजार करोड़ परमाणु भी समा सकते हैं।

आकाशास्तिकाय का लक्षण 'अवगाहना' रूप है।

२७. जीवऽत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तति ?

गोयमा ! जीवऽत्थिकाए णं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं अणंताणं सुयनाणपज्जवाणं एवं जहा बितियसए अत्थिकायुद्देसए (स० २ उ० १० सु० ९ [२]) जाव उवयोगं गच्छति। उवयोगलक्खणे णं जीवे।

[२७ प्र.] भगवन् ! जीवातिस्काय से जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?

[२७ उ.] गौतम ! जीवास्तिकाय के द्वारा जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायों को, अनन्त श्रुतज्ञान की पर्यायों को प्राप्त करता है; (इत्यादि सब कथन) द्वितीय शतक के दसवें अस्तिकाय उद्देशक के (सूत्र ९-२ के) अनुसार; यावत् वह (ज्ञान-दर्शनरूप) उपयोग को प्राप्त होता है, (यहाँ तक कहना चाहिए।) जीव का लक्षण उपयोग-रूप है।

२८. पोग्गलऽत्थिकाए पुच्छा।

गोयमा ! पोग्गलऽत्थिकाए णं जीवाणं ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेया-कम्मा-सोतिंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदिय-मणजोग-वइजोग-कायजोग-आणापाणूणं च गहणं पवत्तति। गहणलक्खणे णं पोग्गलऽत्थिकाए।

[२८ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय से जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है ?

[२८ उ.] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय से जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और श्वास-उच्छ्वास का ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है। पुद्गलास्तिकाय का लक्षण 'ग्रहण' रूप है।

विवेचन—प्रस्तुत छह सूत्रों में लोक के स्वरूप तथा धर्मास्तिकाय आदि पञ्चास्तिकाय की प्रवृत्ति एवं लक्षण, सप्तम प्रवर्त्तनद्वार के द्वारा प्ररूपित किये गये हैं।

लोक, अस्तिकाय और प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में लोक पंचास्तिकाय रूप बताया है। अस्ति का अर्थ है प्रदेश और काय का अर्थ है समूह, अर्थात्—प्रदेशों के समूह वाले द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहते हैं। वे पाँच हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल। कई दार्शनिक ब्रह्ममय लोक कहते हैं, उनका निराकरण इस सूत्र से हो जाता है। इनमें से सिवाय आकाशतत्त्व के अलोक में और कुछ नहीं है।[१]

धर्मास्तिकाय आदि का स्वरूप—धर्मास्तिकाय—गति-परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को गमनादि चलक्रिया में सहायक। यथा—मछली के गमन में जल सहायक होता है।

अधर्मास्तिकाय—स्थिति-परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की स्थिति आदि अवस्थानक्रिया में सहायक। यथा—विश्रामार्थ ठहरने वाले पथिकों के लिए छायादार वृक्ष।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०८

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१९१

आकाशास्तिकाय—जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने वाले। यथा—एक दीपक के प्रकाश से परिपूर्ण स्थान में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है।

जीवास्तिकाय—जिसमें उपयोगरूप गुण हो।

पुद्गलास्तिकाय—जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हों तथा जो मिलने-बिछुड़ने के स्वभाव वाला हो।[१]

प्रत्येक अस्तिकाय के पांच-पांच भेद—धर्मास्तिकाय के पांच भेद—द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य, क्षेत्र की अपेक्षा लोकपरिमाण (समग्र लोकव्याप्त), लोकाकाश के बराबर असंख्यातप्रदेशी है। काल की अपेक्षा त्रिकालस्थायी है तथा ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय अव्यय और अवस्थित है। भाव की अपेक्षा वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित अरूपी है। गुण की अपेक्षा गति गुण वाला।

अधर्मास्तिकाय के पांच भेद—धर्मास्तिकाय के समान हैं। केवल गुण की अपेक्षा यह स्थितिगुण वाला है। **आकाशास्तिकाय के पांच भेद**—इसके तीन भेद तो धर्मास्तिकाय के समान हैं किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा लोकालोक व्यापी है। अनन्तप्रदेशी है। लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है। गुण की अपेक्षा अवगाहनागुण वाला है। जीवों और पुद्गलों को अवकाश देना ही इसका गुण है। उदाहरणार्थ—एक दीपक के प्रकाश से भरे हुए मकान में यदि सौ यावत् हजार दीपक भी रखे जाएँ तो उनका प्रकाश भी उसी मकान में समा जाता है, बाहर नहीं निकलता। इसी प्रकार पुद्गलों के परिणाम की विचित्रता होने से एक, दो संख्यात, असंख्यात, यावत् अनन्त परमाणुओं से पूर्ण एक आकाशप्रदेश में एक से लेकर अनन्त परमाणु तक समा सकते हैं।

पुद्गल-परिणामों की विचित्रता को स्पष्ट करने हेतु वृत्तिकार ने एक और दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—औषधि-विशेष से परिणमित एक तोले भर पारद की गोली, सौ तोले सोने की गोलियों को अपने में समा लेती है। पारदरूप में परिणत उस गोली पर औषधि विशेष का प्रयोग करने पर वह तोले भर की पारे की गोली तथा सौ तोले भर सोना दोनों पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। यह सब पुद्गल-परिणामों की विचित्रता है। इसी प्रकार एक परमाणु से पूर्ण एक आकाशप्रदेश में अनन्त परमाणु भी समा सकते हैं। **जीवास्तिकाय के पाँच भेद**—द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त द्रव्यरूप है, क्योंकि जीव पृथक्-पृथक् द्रव्यरूप अनन्त हैं। क्षेत्र की अपेक्षा लोकपरिमाण है। एक जीव की अपेक्षा जीव असंख्यातप्रदेशी है और सभी जीवों के प्रदेश अनन्त हैं। काल की अपेक्षा जीव आदि-अन्त रहित है (ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है)। भाव की अपेक्षा वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित है, अरूपी है तथा चेतना गुण वाला है। गुण की अपेक्षा उपयोग गुण रूप है। **पुद्गलास्तिकाय के पांच भेद**—द्रव्य की अपेक्षा पुद्गल अनन्त द्रव्यरूप है। क्षेत्र की अपेक्षा लोक में ही है और परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी तक है। काल की अपेक्षा पुद्गल भी आदि-अन्तरहित है (निश्चयदृष्टि से वह भी ध्रुव, शाश्वत और नित्य है)। भाव की अपेक्षा वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श सहित है, यह रूपी और जड़ है। गुण की अपेक्षा 'ग्रहण' गुण वाला है। अर्थात्-औदारिक शरीर आदि रूप से ग्रहण किया जाना अथवा इन्द्रियों से ग्रहण होना (इन्द्रियों का विषय होना),

---

१. तत्त्वार्थसूत्र. (पं. सुखलालजी) अ. ५, पृ. सू. १ से ६

परस्पर मिलना बिछुड़ना पुद्गलास्तिकाय का गुण है।[१]

कठिन शब्दार्थ—भासुम्मेस—भाषण तथा उन्मेष-नेत्रव्यापारविशेष। **ठाण-निसीयण-तुयट्टण**—ठाण-स्थित होना, कायोत्सर्ग करना, **निसोयण**—बैठना, **तुयट्टण**—शयन करना, करवट बदलना। **एगत्तीभावकरणता**—एकत्रीभावकरण—एकाग्र करना। **भायणभूए**—भाजनभूत—आधारभूत। **आणापाणूणं**—आन-प्राण-श्वासोच्छ्वासों का।[२]

पंचास्तिकायप्रदेश-अद्धासमयों का परस्पर जघन्योत्कृष्टप्रदेश-स्पर्शनानिरूपण : आठवाँ अस्तिकायस्पर्शनाद्वार

२९. [१] एगे भंते ! धम्मऽत्थिकायपएसे केवतिएहिं धम्मऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठे ?

गोयमा ! जहन्नपए तीहिं, उक्कोसपए छहिं।

[२९-१ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, कितने धर्मास्तिकाय के प्रदेशों द्वारा स्पृष्ट (छुआ हुआ) होता है ?

[२९-१ उ.] गौतम ! वह जघन्य पद में तीन प्रदेशों से और उत्कृष्ट पद में छह प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[२] केवतिएहिं अधम्मऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठे ?

जहन्नपए चउहिं, उक्कोसपदे सत्तहिं।

[२९-२ प्र.] (भगवन् ! धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश), अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[२९-२ उ.] (गौतम ! वह) जघन्य पद में चार प्रदेशों से और उत्कृष्ट पद में सात अधर्मास्तिकाय प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[३] केवतिएहिं आगासऽत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठे ?

सत्तहिं।

[२९-३ प्र.] वह (धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[२९-३ उ.] (गौतम ! वह) सात (आकाश-) प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[४] केवतिएहिं जीवऽत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठे ?

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) अ. ५, सू. १ से १० तक

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २१९२-९६

(ग) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६०८

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ६०८

अणंतेहिं।

[२९-४ प्र.] (भगवन् ! धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[२९-४ उ.] (गौतम ! वह) अनन्त(जीव-)प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[५] केवतिएहिं पोग्गलऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठे ?

अणंतेहिं।

[२९-५ प्र.] (भगवन् ! वह) पुद्गलास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[२९-५ उ.] (गौतम ! वह) अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[६] केवतिएहिं अद्धासमएहिं पुट्ठे ?

सिय पुट्ठे, सिय नो पुट्ठे। जइ पुट्ठे नियमं अणंतेहिं।

[२९-६ प्र.] (भगवन् ! वह धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश) अद्धाकाल के कितने समयों से स्पृष्ट होता है ?

[२९-६ उ.] (गौतम ! वह) कथंचित् स्पृष्ट होता है और कथंचित् स्पृष्ट नहीं होता। यदि स्पृष्ट होता है तो नियमत: अनन्त समयों से स्पृष्ट होता है।

३०. [१] एगे भंते ! अहम्मऽत्थिकायपएसे केवतिएहिं धम्मऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठे ?

गोयमा ! जहन्नपए, चउहिं, उक्कोसपए सत्तहिं।

[३०-१ प्र.] भगवन् ! अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[३०-१ उ.] (गौतम ! वह अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश,) धर्मास्तिकाय के जघन्य पद में चार और उत्कृष्ट पद में सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[२] केवतिएहिं अहम्मऽत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठे ?

जहन्नपए तीहिं, उक्कोसपदे छहिं। सेसं जहा धम्मऽत्थिकायस्स ?

[३०-२ प्र.] (भगवन् ! अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश) कितने अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[३०-२ उ.] (गौतम ! वह) जघन्य पद में तीन और उत्कृष्ट पद में छह प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ? शेष सभी वर्णन धर्मास्तिकाय के वर्णन के समान समझना चाहिए।

३१. [१] एगे भंते ! आगासऽत्थिकायपएसे केवतिएहिं धम्मऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठे ?

सिय पुट्ठे, सिय नो पुट्ठे। जति पुट्ठे जहन्नपदे एक्केणं वा दोहिं वा तीहिं वा चउहिं वा, उक्कोसपदे सत्तहिं।

[३१-१ प्र.] भगवन् ! आकाशास्तिकाय का एक प्रदेश, धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[३१-१ उ.] (गौतम ! आकाशास्तिकाय का एक प्रदेश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश से) कदाचित् स्पृष्ट होता है, कदाचित् स्पृष्ट नहीं होता। यदि स्पृष्ट होता है तो जघन्य पद में एक, दो, तीन या चार प्रदेशों से और उत्कृष्ट पद में सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[२] एवं अहम्मऽत्थिकायपएसेहिं वि।

[३१-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट के विषय में जानना चाहिए।

[३] केवतिएहिं आगासऽत्थिकायपदेसेहिं० ?

छहिं।

[३१-३ प्र.] (भगवन् ! आकाशास्तिकाय का एक प्रदेश) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से (स्पृष्ट होता है ?)

[३१-३ उ.] (गौतम ! वह छह प्रदेशों से (स्पृष्ट होता है)

[४] केवतिएहिं जीवऽत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठे ?

सिय पुट्ठे, सिए नो पुट्ठे। जइ पुट्ठे नियमं अणंतेहिं।

[३१-४ प्र.] (भगवन् ! आकाशास्तिकाय का एक प्रदेश) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[३१-४ उ.] वह कदाचित् स्पृष्ट होता है, कदाचित् नहीं। यदि स्पृष्ट होता है तो नियमत: अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[५] एवं पोग्गलऽत्थिकायपएसेहि वि अद्धासमएहि वि।

[३१-५] इसी प्रकार पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशों से तथा अद्धाकाल के समयों से स्पृष्ट होने के विषय में जानना चाहिए।

३२. [१] एगे भंते ! जीवऽत्थिकायपएसे केवतिएहिं धम्मऽत्थि० पुच्छा।

जहन्नपए चउहिं, उक्कोसपए सत्तहिं।

[३२-१ प्र.] भगवन् ! जीवास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों में स्पृष्ट होता है ?

[३२-१ उ.] गौतम ! वह जघन्य पद में धर्मास्तिकाय के चार प्रदेशों से और उत्कृष्टपद में सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[२] एवं अधम्मऽत्थिकायपएसेहि वि।

[३२-२] इसी प्रकार वह अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[३] केवतिएहिं आगासऽत्थि० ?

सत्तहिं।

[३२-३ प्र.] (भगवन् !) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से वह स्पृष्ट होता है ?

[३२-३ उ.] (गौतम !) आकाशास्तिकाय के सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[४] केवतिएहिं जीवऽत्थि० ?

सेसं जहा धम्मऽत्थिकायस्स।

[३२-४ प्र.] भगवन् ! जीवास्तिकाय के कितने प्रदेशों से वह (जीवास्तिकायिक एक प्रदेश) स्पृष्ट होता है ?

[३२-४ उ.] (गौतम !) शेष सभी कथन धर्मास्तिकाय के प्रदेश के समान (समझना चाहिए।)

३३. एगे भंते ! पोग्गलऽत्थिकायपएसे केवतिएहिं धम्मत्थिकायपदेसेहिं० ?

एवं जाव जीवऽत्थिकायस्स।

[३३] भगवन् ! एक पुद्गलास्तिकायिक प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश से स्पृष्ट होता है ?

[३३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार जीवास्तिकाय के एक प्रदेश के (विषय में कथन किया, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।)

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. २९ से ३३ तक) में एक-एक धर्मास्तिकाय आदि पांचों के एक-एक प्रदेश का अन्यान्य अस्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पर्श होता है। इसकी प्ररूपणा अष्टम अस्तिकाय-स्पर्शनाद्वार के माध्यम से की गई है।

धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश का अन्य अस्तिकाय-प्रदेशों से स्पर्श—धर्मास्तिकाय आदि के (एक) प्रदेश की जघन्य (सब से थोड़े) अन्य प्रदेशों के साथ स्पर्शना तब होती है, जब वह लोकान्त के एक कोने में होता है। उसकी स्थिति भूमि के निकटवर्ती घर के कोने के समान होती है। उस समय जघन्य पद में वहाँ धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, ऊपर के एक प्रदेश से और पास के दो प्रदेशों से एक विवक्षित प्रदेश स्पृष्ट होता है, उसकी स्थापना इस प्रकार होती है— 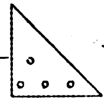 इस प्रकार **धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश,** जघन्यत: धर्मास्तिकाय के तीन प्रदेशों से स्पृष्ट होता है तथा उत्कृष्टत: वह चारों दिशाओं के चार प्रदेशों से, और ऊर्ध्व तथा अधोदिशा के एक-एक प्रदेश से, इस प्रकार छह प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। स्थापना— 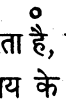 इस प्रकार होती है। धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अधर्मास्तिकाय के तीन प्रदेशों से तो उसी प्रकार स्पष्ट होता है, जिस प्रकार धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय के तीन प्रदेशों से स्पृष्ट होता है तथा धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश के स्थान में रहे हुए अधर्मास्तिकाय के चौथे एक प्रदेश से भी वह स्पृष्ट होता है। इस प्रकार जघन्य पद में वह चार अधर्मास्तिकाय प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। उत्कृष्ट पद में छह दिशाओं के छह प्रदेशों से और सातवें धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश के

स्थान में रहे हुए अधर्मास्तिकाय के एक प्रदेश से, यों सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

आकाशास्तिकाय के भी पूर्वोक्त सात प्रदेशों की स्पर्शना—होती है, क्योंकि लोकान्त में भी अलोकाकाश होता है।

जीवास्तिकाय के अनन्त प्रदेशों से—धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्पृष्ट होता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश पर और उसके पास अनन्त जीवों के अनन्तप्रदेश विद्यमान होते हैं।

इसी प्रकार वह **पुद्‍गलास्तिकाय के भी अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट** होता है।

अद्धाकाल के समयों की स्पर्शना—अद्धाकाल केवल समय क्षेत्र (ढाई द्वीप और दो समुद्र) में ही होता है, बाहर नहीं; क्योंकि समय, घड़ी, घण्टा आदि काल सूर्य की गति से ही निष्पन्न होता है। उससे धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश कदाचित् स्पृष्ट होता है और कदाचित् स्पृष्ट नहीं होता। यदि स्पृष्ट होता है तो अनन्त अद्धा-समयों से स्पृष्ट होता है, क्योंकि वे अनादि हैं, इसलिए उनकी अनन्त समयों की स्पर्शना होती है। अथवा वर्तमान समय विशिष्ट अनन्त द्रव्य उपचार से अनन्त समय कहलाते हैं। इसलिए अद्धाकाल अनन्त समयों से स्पृष्ट हुआ कहलाता है।

अधर्मास्तिकाय के एक प्रदेश की दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों से स्पर्शना—धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश की स्पर्शना के समान समझना चाहिए।[१]

आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश की धर्मास्तिकायादि से स्पर्शना—आकाशास्तिकाय का एक प्रदेश, लोक की अपेक्षा धर्मास्तिकाय के प्रदेश से स्पृष्ट होता है और अलोक की अपेक्षा स्पृष्ट नहीं होता। यदि स्पृष्ट होता है तो जघन्य पद में लोकान्तवर्ती धमास्तिकाय के एक प्रदेश से, शेष धर्मास्तिकाय प्रदेशों से निर्गत अग्रभागवर्ती अलोकाकाश का एक प्रदेश स्पृष्ट होता है। वक्रगत आकाशप्रदेश धर्मास्तिकाय के दो प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। जिस आलोककाश के एक प्रदेश के आगे, नीचे और ऊपर धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश हैं, वह धर्मास्तिकाय के तीन प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। स्थापना इस प्रकार है- 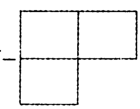। जो आकाश प्रदेश लोकान्त के एक कोने में स्थित है, वह तदाश्रित (तदवगाढ़) धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश से तथा ऊपर या नीचे रहे हुए अन्य एक प्रदेश से और दो दिशाओं में रहे हुए दो प्रदेशों से; इस प्रकार धर्मास्तिकाय के चार प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। स्थापना इस प्रकार है— 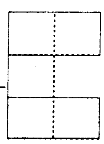 जो आकाश प्रदेश, धर्मास्तिकाय केनीचे के एक प्रदेश से ऊपर के एक प्रदेश से तथा दो दिशाओं में रहे हुए दो प्रदेशों से और वहीं रहे हुए धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश से स्पृष्ट होता है,

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६११

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२०५

वह इस प्रकार धर्मास्तिकाय पांच प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। जो आकाशप्रदेश धर्मास्तिकाय के ऊपर के एक प्रदेश से, नीचे के एक प्रदेश से, तीन दिशाओं के तीन प्रदेशों से और वहीं रहे हुए एक प्रदेश से स्पृष्ट होता है; वह छह प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। जो आकाशप्रदेश धर्मास्तिकाय के ऊपर और नीचे के एक-एक प्रदेश से तथा चार दिशाओं के चार प्रदेशों से और वहीं रहे हुए एक प्रदेश से स्पृष्ट होता है, वह इस प्रकार सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से भी उसकी स्पर्शना जाननी चाहिए।

लोकाकाश और अलोकाकाश का एक प्रदेश, छहों दिशाओं में रहे हुए आकाशास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। इसलिए उसकी स्पर्शना छह प्रदेशों से बताई गई है।

यदि अलोकाकाश का प्रदेशविशेष हो तो वह जीवास्तिकाय से स्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि वहाँ जीवों का अभाव है। यदि लोकाकाश का प्रदेश हो तो, वह जीवास्तिकाय से स्पृष्ट होता है।[१]

इसी प्रकार पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशों तथा अद्धाकाल के समयों की स्पर्शना के विषय में समझना चाहिए।

यदि जीवास्तिकाय का एक प्रदेश लोकान्त के एक कोण में होता है तो धर्मास्तिकाय के चार प्रदेशों से (नीचे या ऊपर के एक प्रदेश से, दो दिशाओं के दो प्रदेशों से और एक तदाश्रित प्रदेश से) स्पृष्ट होता है, क्योंकि स्पर्शक प्रदेश सबसे अल्प होते हैं। जीवास्तिकाय का एक प्रदेश, एक आकाशप्रदेशादि पर केवलिसमुद्घात के समय ही पाया जाता है। उत्कृष्ट पद में जीवास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय के सात पूर्वोक्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से भी स्पर्शना जाननी चाहिए।

जीवास्तिकाय के प्रदेश की स्पर्शना के समान **पुद्गलास्तिकाय** के प्रदेश की स्पर्शना भी जाननी चाहिए।[२]

३४. [१] दो भंते ! पोग्गलऽत्थिकायप्पदेसा केवतिएहिं धम्मत्थिकायपएसेहिं पुट्ठा ?

जहन्नपए छहिं, उक्कोसपदे बारसहिं।

[३४-१ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के दो प्रदेश, धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट हैं ?

[३४-१ उ.] गौतम ! वे जघन्य पद में धर्मास्तिकाय के छह प्रदेशों से और उत्कृष्ट पद में बारह प्रदेशों से स्पृष्ट हैं।

[२] एवं अहम्मऽत्थिकायप्पएसेहि वि।

[३४-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से भी वे (पुद्गलास्तिकाय के दो प्रदेश) स्पृष्ट होते हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६११

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२०६

२. (क) वही, पृ. २२०६

(ख) भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ६११

[३] केवतिएहिं आगासत्थिकाय० ?

बारसहिं।

[३४-३ प्र.] भगवन् ! वे आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[३४-३ उ.] गौतम ! वे आकाशास्तिकाय के १२ प्रदेशों से स्पृष्ट हैं।

[४] सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स।

[३४-४] शेष सभी वर्णन धर्मास्तिकाय के समान जानना चाहिए।

३५. [१] तिन्नि भंते ! पोग्गलऽत्थिकायपदेसा केवतिएहिं धम्मत्थि० ?

जहन्नपदे अट्ठहिं, उक्कोसपदे सत्तरसहिं।

[३५-१ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के तीन प्रदेश, धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[३५-१ उ.] गौतम ! वे (तीन प्रदेश) जघन्य पद में (धर्मास्तिकाय के) आठ प्रदेशों और उत्कृष्ट पद में १७ प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

[२] एवं अहम्मत्थिकायपदेसेहि वि।

[३५-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से भी वे (तीन प्रदेश) स्पृष्ट होते हैं।

[३] केवइएहिं आगासत्थि० ?

सत्तरसहिं।

[३५-३ प्र.] भगवन् ! आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से (वे स्पृष्ट होते हैं ?)

[३५-३ उ.] गौतम ! वे सत्तरह प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

[४] सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स।

[३५-४ प्र.] शेष सभी वर्णन धर्मास्तिकाय के समान जानना चाहिए।

३६. एवं एएणं गमेणं भाणियव्वा जाव दस, नवरं जहन्नपदे दोन्नि पक्खिवियव्वा, उक्कोसपए पंच।

[३६] इसी आलापक के समान यावत् दश प्रदेशों तक इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेषता यह है कि जघन्य पद में दो और उत्कृष्ट पद में पांच का प्रक्षेप करना चाहिए।

३७. चत्तारि पोग्गलऽत्थिकाय० ?

जहन्नपदे दसहिं, उक्को० बावीसाए।

[३७ प्र.] (भगवन् !) पुद्लास्तिकाय के चार प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[३७ उ.] (गौतम ! वे) जघन्य पद में दस प्रदेशों से और उत्कृष्ट पद में बाईस प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

३८. पंच पोग्गल० ?

जह० वारसहिं, उक्कोस० सत्तावीसाए।

[३८ प्र.] (भगवन् !) पुद्गलास्तिकाय के पांच प्रदेश (धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?)

[३८ उ.] (गौतम ! वे) जघन्य पद में बारह प्रदेशों से और उत्कृष्ट पद में सत्ताईस प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

३९. छ पोग्गल० ?

जह० चोद्दसहिं, उक्को० बत्तीसाए।

[३९ प्र.] (भगवन् !) पुद्गलास्तिकाय के छह प्रदेश (धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?)

[३९ उ.] (गौतम ! वे) जघन्यपद में चौदह और उत्कृष्ट पद में बत्तीस प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं।)

४०. सत्त पो० ?

जहन्नेणं सोलसहिं, उक्को० सत्ततीसाए।

[४० प्र.] (भगवन् !) पुद्गलास्तिकाय के सात प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं ?)

[४० उ.] (गौतम ! वे) जघन्य पद में सोलह और उत्कृष्ट पद में सैंतीस प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं।)

४१. अट्ठ पो० ?

जह० अट्ठारसहिं, उक्कोसेणं बायालीसाए।

[४१ प्र.] (भगवन् !) पुद्गलास्तिकाय के आठ प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४१ उ.] (गौतम ! वे) जघन्य पद में अठारह और उत्कृष्ट पद में बयालीस प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं।)

४२. नव पो० ?

जह० वीसाए, उक्को० सीयालीसाए।

[४२ प्र.] (भगवन् !) पुद्गलास्तिकाय के नौ प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४२ उ.] (गौतम ! वे) जघन्य पद में दस और उत्कृष्ट पद में छियालीस प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं।)

४३. दस० ?

जह० बावीसाए, उक्को० बावण्णाए।

[४३ प्र.] (भगवन् !) पुद्गलास्तिकाय के दस प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं ?)

[४३ उ.] (गौतम ! वे) जघन्य पद में बाईस और उत्कृष्ट पद में बावन प्रदेशों से (स्पृष्ट होते हैं ?)

४४. आगासऽत्थिकायस्स सव्वत्थ उक्कोसगं भाणियव्वं।

[४४] आकाशास्तिकाय के लिए सर्वत्र उत्कृष्ट पद ही कहना चाहिए।

४५ [१] संखेज्जा भंते ! पोग्गलऽत्थिकायपएसा केवतिएहिं धम्मऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठा ?

जहन्नपदे तेणेव संखेज्जएणं दुगुणेणं दुरूवाहिएणं, उक्कोसपए तेणेव संखेज्जएणं पंचगुणेणं दुरूवाहिएणं।

[४५-१ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के संख्यात प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४५-१ उ.] गौतम ! जघन्य पद में उन्हीं संख्यात प्रदेशों को दुगुने करके उनमें दो रूप और अधिक जोड़ें और उत्कृष्ट पद में उन्हीं संख्यात प्रदेशों को पांच गुणे करके उनमें दो रूप और अधिक जोड़ें, उतने प्रदेशों से वे स्पृष्ट होते हैं।

[२] केवतिएहिं अहम्मऽत्थिकाएहिं० ?

एवं चेव।

[४५-२ प्र.] (भगवन् !) वे अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४५-२] (गौतम!) पूर्ववत् (धर्मास्तिकाय के समान जानना चाहिए।)

[३] केवतिएहिं आगासऽत्थिकाय० ?

तेणेव संखेज्जएणं पंचगुणेणं दुरूवाहिएणं।

[४५-३ प्र.] भगवन् ! आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४५-३ उ.] (गौतम!) उन्हीं संख्यात प्रदेशों को पाँच गुणे करके उनमें दो रूप और जोड़ें, उतने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

[४] केवतिएहिं जीवत्थिकाय० ?

अणंतेहि।

[४५-४ प्र.] (भगवन् !) वे जीवास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४५-४ उ.] (गौतम ! वे) अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

[५] केवतिएहिं पोग्गलत्थिकाय० ?

अणंतेहिं।

[४५-५ प्र.] (भगवन् ! वे) पुद्गलास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४५-५ उ.] (गौतम ! वे) अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

[६] केवतिएहिं अद्धासमयेहिं० ?

सिय पुट्ठे, सिय नो पुट्ठे जाव अणंतेहिं।

[४५-६ प्र.] (भगवन् ! वे) अद्धाकाल के कितने समयों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४५-६ उ.] (गौतम ! वे) कदाचित् स्पृष्ट होते हैं और कदाचित् स्पृष्ट नहीं होते, यावत् अनन्त समयों से स्पृष्ट होते हैं।

४३. [१] असंखेज्जा भंते ! पोग्गलत्थिकायपएसा केवतिएहिं धम्मऽत्थि० ?

जहन्नपदे तेणेव असंखेज्जएणं दुगणेणं दुरूवाहिएणं, उक्को० तेणेव असंखेज्जएणं पंचगुणेणं दुरूवाहिएणं।

[४६-१ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४६-१ उ.] गौतम ! जघन्य पद में उन्हीं असंख्यात प्रदेशों को दुगुने करके उनमें दो रूप अधिक जोड़ दें, उतने (धर्मास्तिकायिक) प्रदेशों से (पुद्गलास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश) स्पृष्ट होते हैं और उत्कृष्ट पद में उन्हीं असंख्यात प्रदेशों को पांच गुणे करके उनमें दो रूप अधिक जोड़ दें, उतने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं।

[२] सेसं जहा संखेज्जाणं जाव नियमं अणंतेहिं।

[४६-२ प्र.] शेष सभी वर्णन संख्यात प्रदेशों के समान जानना चाहिए, यावत् नियमतः अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

४७. अणंता भंते ! पोग्गलऽत्थिकायपएसा केवतिएहिं धम्मऽत्थिकाय० ?

एवं जहा असंखेज्जा तहा अणंता वि निरवसेसं।

[४७ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के अनन्त प्रदेश धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं ?

[४७ उ.] (गौतम!) जिस प्रकार असंख्यात प्रदेशों के विषय में कहा, उसी प्रकार अनन्त प्रदेशों के विषय में भी समस्त कथन करना चाहिए।

४८. [१] एगे भंते ! अद्धासमए केवतिएहिं धम्मऽत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठे ?

सत्तहिं।

[४८-१ प्र.] भगवन् ! अद्धाकाल का एक समय धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४८-१ उ.] (गौतम ! वह) सात प्रदेशों से (स्पृष्ट होता है।)

[२] केवतिएहिं अहम्मऽत्थि० ?

एवं चेव।

[४८-२ प्र.] (भगवन् ! वह) अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से (स्पृष्ट होता है ?)

[४८-२ उ.] पूर्ववत् (धर्मास्तिकाय के समान) जानना चाहिए।

[३] एवं आगासऽत्थिकाएहि वि।

[४८-३] इसी प्रकार आकाशास्तिकाय के प्रदेशों से (अद्धाकाल के एक समय की स्पर्शना के विषय में) भी (कहना चाहिए।)

[४] केवतिएहिं जीव० ?

अणंतेहिं।

[४८-४ प्र.] (भगवन् ! अद्धाकालिक एक समय) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४८-४ उ.] (गौतम ! वह) अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[५] एवं जाव अद्धासमएहिं।

[४८-५] इसी प्रकार यावत् अनन्त अद्धासमयों से स्पृष्ट होता है।

४९. [१] धम्मऽत्थिकाए णं भंते ! केवतिएहिं धम्मऽत्थिकायपएसेहिं पुट्ठे ?

नत्थि एक्केण वि।

[४९-१ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय द्रव्य, धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४९-१ उ.] गौतम ! वह एक भी प्रदेश से स्पृष्ट नहीं होता।

[२] केवतिएहिं अधम्मऽत्थिकायप्पएसहिं ?

असंखेज्जेहिं।

[४९-२ प्र.] (भगवन् ! वह) अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४९-२ उ.] (गौतम !) वह असंख्येय प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[३] केवतिएहिं आगासऽत्थिकायप० ?

असंखेज्जेहिं।

[४९-३ प्र.] (भगवन् ! वह) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४९-३ उ.] (गौतम ! वह) असंख्येय प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[४] केवतिएहिं जीवऽत्थिकायपए० ?

अणंतेहिं।

[४९-४ प्र.] (भगवन् ! वह) ज़ीवास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४९-४ उ.] (गौतम ! वह उसके) अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[५] केवतिएहिं पोग्गलत्थिकायपएसेहिं० ?

अणंतेहिं।

[४९-५] (भगवन् ! वह) पुद्गलास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[४९-५ उ.] (गौतम ! वह उसके) अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है।

[६] केवतिएहिं अद्धासमएहिं० ?

सिय पुट्ठे सिय नो पुट्ठे। जई पुट्ठे नियमा अणंतेहिं।

[४९-६ प्र.] (भगवन् ! वह) अद्धाकाल के कितने समयों से स्पृष्ट होता है ?

[४९-६ उ.] (गौतम ! वह) कदाचित् स्पृष्ट होता है, और कदाचित् नहीं होता। यदि स्पृष्ट होता है तो (वह उसके) नियमतः अनन्त समयों से (स्पृष्ट होता है।)

५०. [१] अधम्मऽत्थिकाए णं भंते ! केव० धम्मत्थिकाय० ?

असंखेज्जेहिं।

[५०-१ प्र.] भगवन् ! अधर्मास्तिकाय द्रव्य धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[५०-१ उ.] (गौतम ! वह उसके) असंख्यात प्रदेशों से (स्पृष्ट होता है।)

[२] केवतिएहिं अहम्मत्थि० ?

नत्थि एक्केण वि।

[५०-२ प्र.] भगवन् ! वह अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पृष्ट होता है ?

[५०-२ उ.] गौतम ! वह (अधर्मास्तिकायिक द्रव्य) उसके (अधर्मास्तिकाय के) एक भी प्रदेश से (स्पृष्ट नहीं होता।)

[३] सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स।

[५०-३] शेष सभी (द्रव्यों के प्रदेशों) से स्पर्शना के विषय में धर्मास्तिकाय के समान (जानना चाहिए।)

५१. एवं एतेणं गमएणं सव्वे वि सट्ठाणए नत्थेक्केण वि पुट्ठा। परट्ठाणए आदिल्लएहिं तीहिं असंखेज्जेहिं भाणियव्वं, पच्छिल्लएसु तिसु अणंता भाणियव्वा जाव अद्धासमयो त्ति—जाव केवतिएहिं

अद्धासमएहिं पुट्ठे ?

नत्थेक्केण वि।

[५१] इसी प्रकार इसी आलापक (पाठ) द्वारा सभी द्रव्य स्वस्थान में एक भी प्रदेश से स्पृष्ट नहीं होते, (किन्तु) परस्थान में आदि के (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन) तीनों के असंख्यात प्रदेशों से स्पर्शना कहनी चाहिए, पीछे के तीन स्थानों (जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय, इन तीनों) के अनन्त प्रदेशों से स्पर्शना अद्धासमय तक कहनी चाहिए (यथा—) [प्र.] "अद्धाकाल, कितने अद्धासमयों से स्पृष्ट होता है ?" [उ.] अद्धाकाल के एक भी समय से स्पृष्ट नहीं होता।

विवेचन—प्रस्तुत १८ सूत्रों (सू. ३४ से ५१ तक) में पुद्गलास्तिकाय के दो प्रदेश से लेकर संख्यात और असंख्यात अनन्त प्रदेशों की धर्मास्तिकाय से लेकर अद्धासमय तक के प्रदेशों से स्पर्शना की, तदनन्तर एक अद्धाकाल की धर्मास्तिकायादि के प्रदेशों से स्पर्शना की प्ररूपणा की गई है। अन्तिम तीन सूत्रों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों की धर्मास्तिकायादि छह के प्रदेशों से स्पर्शना की प्ररूपणा की है।

पुद्गलास्तिकाय के दो प्रदेशों की धर्मास्तिकायादि के प्रदेशों से स्पर्शना—इस विषय में चूर्णिकार का विवेचन यह है कि—लोकान्त में द्विप्रदेशिक स्कन्ध एक प्रदेश को अवगाहित करके रहा हुआ है, तथापि 'एक प्रदेश पर प्रतिद्रव्य की अवगाहना होती है' इस नय के मतानुसार अवगाहित प्रदेश एक होते हुए भी भिन्न मानने से वह दो प्रदेशों से स्पृष्ट है तथा उसके ऊपर नीचे जो प्रदेश हैं, वह भी दो पुद्गलों के स्पर्श से पूर्वोक्त नयमतानुसार दो प्रदेशों से ही स्पृष्ट है। पार्श्ववर्ती दो प्रदेश एक-एक अणु को स्पर्श करते हैं। इस प्रकार जघन्य पद में पुद्गलास्तिकाय का द्विप्रदेशी (द्व्यणुक) स्कन्ध धर्मास्तिकाय के छह प्रदेशों से स्पृष्ट है। यदि पूर्वोक्त प्रकार से नय की विवक्षा न की जाए तो द्व्यणुक स्कन्ध की जघन्यतः चार प्रदेशों से ही स्पर्शना होती है।

वृत्तिकार के मतानुसार-छह कोष्ठक इसी प्रकार बनाकर 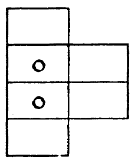 बीच के जो दो बिन्दु हैं, उन्हें दो परमाणु समझना। उनमें से इस ओर का परमाणु इस ओर के धर्मास्तिकाय के प्रदेश से तथा दूसरी ओर का परमाणु दूसरी ओर के धर्मास्तिकाय प्रदेश से स्पृष्ट है। इस प्रकार दो प्रदेशों से तथा दो प्रदेशों के मध्य में स्थापित दो परमाणु, आगे के दो प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं। इस प्रकार एक के साथ एक और दूसरे के साथ दूसरा, यों कुल चार प्रदेश हुए और दो प्रदेश अवगाढ़ होने के कारण स्पृष्ट हैं। इस प्रकार कुल छह प्रदेश स्पृष्ट होते हैं। उत्कृष्ट पद में बारह प्रदेशों से स्पर्शना होती है। यथा—दो परमाणु द्विप्रदेशावगाढ़ होने से दो प्रदेश, ऊपर के दो प्रदेश, नीचे के दो प्रदेश, दोनों ओर के दो-दो प्रदेश और उत्तर-दक्षिण के दो-दो प्रदेश, इस प्रकार बारह प्रदेशों से स्पर्शना होती है।

स्थापना इस प्रकार है— 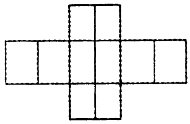

इसी प्रकार अधर्मास्तिकायिक प्रदेशों से स्पर्शना होती है।

आकाशास्तिकाय के बारह प्रदेशों से स्पर्शना होती है। लोकान्त में भी आकाशप्रदेश विद्यमान होने से इनमें जघन्य पद नहीं होता।[१]

पुद्गलास्तिकाय के तीन से दस प्रदेश तक की धर्मास्तिकायादि के प्रदेशों से स्पर्शना—पुद्गलास्तिकाय के तीन प्रदेश, जघन्य पद में धर्मास्तिकाय के आठ प्रदेशों से स्पृष्ट होते हैं। वे तीन प्रदेश एक प्रदेशावगाढ़ होते हुए भी पूर्वोक्त नयमतानुसार अवगाढ तीन प्रदेश के नीचे के तथा तीन प्रदेश ऊपर के और दो प्रदेश दोनों ओर के, इस प्रकार धर्मास्तिकाय के ८ प्रदेशों से स्पर्शना होती है। यहाँ जघन्य पद में सर्वत्र विवक्षित प्रदेशों को दुगुना करके दो और मिलाने पर जितने प्रदेश होते हैं; उतने प्रदेशों से स्पर्शना होती है। उत्कृष्ट पद में विवक्षित प्रदेशों को पांचगुणे करके, दो और मिलाएँ उतने प्रदेशों से स्पर्शना होती है। जैसे—एक प्रदेश को दुगुना करने पर दो होते हैं, उनमें दो और मिलाने पर चार होते हैं। इस प्रकार जघन्यपद में एक प्रदेश की चार प्रदेशों से स्पर्शना होती है। उत्कृष्ट पद में, एक प्रदेश को पांचगुणा करने पर पांच होते हैं, उनमें दो और मिलाने पर सात होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट पद में एक प्रदेश सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। इसी प्रकार तीन से १० प्रदेश तक के विषय में समझ लेना चाहिए।

इनकी स्थापना इस प्रकार समझ लेनी चाहिए—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	परमाणु संख्या
४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०	२२	जघन्य स्पर्श
७	१२	१७	२२	२७	३२	३९	४२	४७	५२	उत्कृष्ट स्पर्श

आकाशास्तिकाय का सभी स्थान पर (एक प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश तक) उत्कृष्ट पद ही होता है, जघन्य पद नहीं, क्योंकि आकाश सर्वत्र विद्यमान है।[२]

पुद्गलास्तिकाय के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों की स्पर्शना—दस के उपरान्त संख्या की गणना संख्यात में होती है। यथा—बीस प्रदेशों का एक स्कन्ध लोकान्त के एक प्रदेश पर रहा हुआ है। वह अमुक नय के मतानुसार बीस अवगाढ़ प्रदेशों के ऊपर या नीचे के बीस प्रदेशों से और दोनों ओर के दो प्रदेशों से;

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२०७-२२०८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६११

२. (क) वही, पत्र ६११

इस प्रकार जघन्यपद में ४२ प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। उत्कृष्ट पद में निरुपचरित (वास्तविक) बीस अवगाढ़ प्रदेशों से, नीचे के बीस प्रदेशों से, ऊपर के बीस प्रदेशों से, पूर्व और पश्चिम दिशा (दोनों ओर) के बीस-बीस प्रदेशों से तथा उत्तर और दक्षिण दिशा के एक-एक प्रदेश से, इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ दो प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। असंख्यात और अनन्त प्रदेशों की स्पर्शना के विषय में भी पूर्वोक्त नियम समझना चाहिए। किन्तु अनन्त के विषय में विशेषता यह है कि जिस प्रकार जघन्य पद के ऊपर या नीचे अवगाढ़ प्रदेश औपचारिक हैं, उसी प्रकार उत्कृष्टपद के विषय में भी समझना चाहिए। क्योंकि अवगाह से निरुपचरित अनन्त आकाश प्रदेश नहीं होते, असंख्यात होते हैं।[१]

अद्धासमय की स्पर्शना—समयक्षेत्रवर्ती वर्तमानसमयविशिष्ट परमाणु को यहाँ अद्धासमयरूप से समझना चाहिए। अन्यथा धर्मास्तिकाय के सात प्रदेशों से अद्धासमय की स्पर्शना नहीं हो सकती। यहाँ जघन्य पद नहीं हैं, क्योंकि अद्धासमय मनुष्यक्षेत्रवर्ती है। जघन्य पद तो लोकान्त में सम्भवित होता है, किन्तु लोकान्त में काल नहीं है। अद्धासमय की स्पर्शना सात प्रदेशों से होती है। क्योंकि अद्धासमयविशिष्ट परमाणुद्रव्य धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश में अवगाढ होता है और धर्मास्तिकाय के छह प्रदेश उसके छहों दिशाओं में होते हैं। इस प्रकार उसके सात प्रदेशों से स्पर्शना होती है।

अद्धासमय जीवास्तिकाय के अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। क्योंकि वे एक प्रदेश पर भी अनन्त होते हैं।

एक अद्धासमय पुद्गलास्तिकाय के अनन्त प्रदेशों से और अनन्त अद्धासमयों से स्पृष्ट होता है। क्योंकि अद्धासमय विशिष्ट अनन्तपरमाणुओं से स्पृष्ट होता है। क्योंकि ये उसके स्थान पर और आसपास विद्यमान होते हैं।[२]

समग्र धर्मास्तिकायादि द्रव्यों की स्पर्शना—स्वस्थान-परस्थान—जहाँ धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का केवल उनके ही प्रदेशों की स्पर्शना का विचार किया जाए, वह स्वस्थान कहलाता है और जब दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों से स्पर्शना का विचार किया जाए, तो वह परस्थान कहलाता है। स्वस्थान में तो वह सम्पूर्ण द्रव्य अपने एक भी प्रदेश से स्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय द्रव्य से धर्मास्तिकाय के कोई पृथक् प्रदेश नहीं है।

परस्थान में धर्मास्तिकायादि तीन द्रव्यों के असंख्यप्रदेशों से स्पृष्ट होता है। क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और तत्सम्बद्ध आकाशास्तिकाय के असंख्य प्रदेश हैं। क्योंकि धर्मास्तिकाय असंख्य प्रदेश-स्वरूप सम्पूर्ण लोकाकाश में है। जीवादि तीन द्रव्यों के विषय में अनन्त प्रदेशों द्वारा स्पृष्ट होता है। क्योंकि इन तीनों के अनन्त प्रदेश है। आकाशास्तिकाय में इतनी विशेषता है कि वह धर्मास्तिकायादि के प्रदेशों से कदाचित् स्पृष्ट होता है ओर कदाचित् स्पृष्ट नहीं होता। जो स्पृष्ट होता है, वह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेशों से और जीवास्तिकाय के अनन्त प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। क्योंकि धर्मास्तिकाय अनन्त जीवप्रदेशों से व्याप्त है। यावत्—एक अद्धासमय, एक भी अद्धासमय के स्पृष्ट नहीं होता। क्योंकि निरुपचरित अद्धासमय एक ही

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६११

२. वही, पत्र ६१२

होता है। इसलिए समयान्तर के साथ उसकी स्पर्शना नहीं होती। जो समय बीत चुका है, वह तो विनष्ट हो गया और अनागत समय अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। अतएव अतीत और अनागत के समय असत्स्वरूप होने से उनके साथ वर्तमान समय की स्पर्शना नहीं हो सकती।[१]

धर्मास्तिकाय की तरह अधर्मास्तिकाय के छह, आकाशास्तिकाय के छह, जीवास्तिकाय के छह और अद्धासमय के छह सूत्र कहने चाहिए।

पंचास्तिकाय-प्रदेश-अद्धासमयों का परस्पर विस्तृत प्रदेशावगाहनानिरूपण : नौवाँ अवगाहनाद्वार

५२. [१] जत्थ णं भंते ! एगे धम्मऽत्थिकायपएसे ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मऽत्थिकायपएसा ओगाढा ?

नत्थेक्को वि।

[५२-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ (अवगाहन करके स्थित) है, वहाँ धर्मास्तिकाय के दूसरे कितने प्रदेश अवगाढ हैं ?

[५२-१ उ.] गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय का दूसरा एक भी प्रदेश अवगाढ नहीं है।

[२] केवतिया अधम्मऽत्थिकायपएसा ओगाढा ?

एक्को।

[५२-२ प्र.] भगवन् ! वहाँ अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ हैं ?

[५२-२ उ.] (गौतम !) वहाँ एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[३] केवतिया आगासऽत्थिकाय० ?

एक्को।

[५२-३ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते है ?

[५२-३ उ.] (उसका) एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[४] केवतिया जीवऽत्थि० ?

अणंता।

[५२-४ प्र.] (भगवन् !) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५२-४ उ.] (गौतम ! उसके) अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१३

(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२०९

[५] केवतिया पोग्गलऽत्थि० ?

अणंता।

[५२-५ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) पुद्गलास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५२-५ उ.] (गौतम ! उसके) अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[६] केवतिया अद्धा समया० ?

सिय ओगाढा, सिय नो ओगाढा। जाति ओगाढा अणंता।

[५२-६ प्र.] भगवन् ! वहाँ अद्धासमय कितने अवगाढ होते हैं ?

[५२-६ उ.] अद्धासमय कदाचित् अवगाढ होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि अवगाढ होते हैं तो अनन्त अद्धासमय अवगाढ होते हैं।

५३. [१] जत्थ णं भंते ! एगे अधम्मऽत्थिकायपएसे ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मत्थि० ?

एक्को।

[५३-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५३-१ उ.] (गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय का) एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[२] केवतिया अहम्मऽत्थि० ?

नत्थि एक्को वि।

[५३-२ प्र.] (वहाँ) अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते है ?

[५३-२ उ.] (वहाँ) उसका एक प्रदेश भी अवगाढ नहीं होता।

[३] सेसं जहा धम्मऽत्थिकायस्स।

[५३-३] शेष (कथन) धर्मास्तिकाय के समान (समझना चाहिए।)

५४. [१] जत्थ णं भंते ! एगे आगासऽत्थिकायपएसे ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मऽत्थिकाय० ?

सिय ओगाढा, सिय नो ओगाढा। जति ओगाढा एक्को।

[५४-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ आकाशास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५४-१ उ.] गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय के प्रदेश कदाचित् अवगाढ होते हैं और कदाचित् अवगाढ नहीं होते। यदि अवगाढ होते हैं तो एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[२] एवं अहम्मत्थिकायपएसा वि।

[५४-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों के विषय में जानना चाहिए।

[३] केवतिया आगासऽत्थिकाय० ?

नत्थेक्को वि।

[५४-३ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५४-३ उ.] (वहाँ) एक प्रदेश भी (उसका) अवगाढ नहीं होता।

[४] केवतिया जीवऽत्थि० ?

सिय ओगाढा, सिय नो ओगाढा। जति ओगाढा अणंता।

[५४-४ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५४-४ उ.] (गौतम ! वे) कदाचित् अवगाढ होते हैं एवं कदाचित् अवगाढ नहीं होते। यदि अवगाढ होते हैं तो अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[५] एवं जाव अद्धासमया।

[५४-५] इसी प्रकार यावत् अद्धासमय तक कहना चाहिए।

५५. [१] जत्थ णं भंते ! एगे जीवऽत्थिकायपएसे ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मऽत्थि० ?

एक्को।

[५५-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ जीवास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५५-१ उ.] (गौतम ! वहाँ उसका) एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[२] एवं अहम्मऽत्थिकाय०।

[५५-२] इसी प्रकार (वहाँ) अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों के विषय में जानना चाहिए।

[३] एवं आगासऽत्थिकायपएसा वि।

[५५-३] आकाशास्तिकाय के प्रदेशों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

[४] केवतिया जीवऽत्थि० ?

अणंता।

[५५-४ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५५-४ उ.] (गौतम ! वहाँ उसके) अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[५] सेसं जहा धम्मऽत्थिकायस्स।

५६. जत्थ णं भंते ! एगे पोग्गलऽत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मऽत्थिकाय० ?

एवं जहा जीवऽत्थिकायपएसे तहेव निरवसेसं।

[५६ प्र.] भगवन् ! जहाँ पुद्गलास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५६ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार जीवास्तिकाय के प्रदेशों के विषय में कहा, उसी प्रकार समस्त कथन करना चाहिए।

५७. [१] जत्थ णं भंते ! दो पोग्गलऽत्थिकायपएसा ओगाढा तत्थ केवतिया धम्मऽत्थिकाय० ?

सिय एक्को, सिय दोण्णि।

[५७-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ पुद्गलास्तिकाय के दो प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५७-१ उ.] (गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय के) कदाचित् एक या कदाचित् दो प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[२] एवं अहम्मऽत्थिकायस्स वि।

[५७-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेश के विषय में कहना चाहिए।

[३] एवं आगासऽत्थिकायस्स वि।

[५७-३] इसी प्रकार आकाशास्तिकाय के प्रदेश के विषय में जानना चाहिए।

[४] सेसं जहा धम्मऽत्थिकायस्स।

[५७-४] शेष सभी कथन धर्मास्तिकाय के समान समझना चाहिए।

५८. [१] जत्थ णं भंते ! तिन्नि पोग्गलत्थि० तत्थ केवतिया धम्मऽत्थिकाय० ?

सिय एक्को, सिय दोन्नि, सिय तिन्नि।

[५८-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ पुद्लास्तिकाय के तीन प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[५८-१ उ.] (गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय का) कदाचित् एक, कदाचित् दो या कदाचित् तीन प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[२] एवं अहम्मऽत्थिकायस्स वि।

[५८-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के विषय में भी कहना चाहिए।

[३] एवं आगासऽत्थिकायस्स वि।

[५८-३] आकाशास्तिकाय के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

[४] सेसं जहेव दोण्हं।

[५८-४] शेष (जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय इन) तीनों के विषय के, जिस प्रकार दो पुद्गलप्रदेशों के विषय में कहा था, उसी प्रकार तीन पुद्गलप्रदेशों के विषय में भी कहना चाहिए।

५९. एवं एक्केक्को वड्डियव्वो पएसो आदिल्लएहिं तीहिं अत्थिकाएहिं। सेसं जहेव दोण्हं जाव दसण्हं सिय एक्को, सिय दोन्नि, सिय तिन्नि जाव सिय दस। संखेज्जाणं सिय एक्को, सिय दोन्नि, जाव सिय दस, सिय संखेज्जा। असंखेज्जाणं सिय एक्को, जाव सिय संखेज्जा, सिय असंखेज्जा। जहा असंखेज्जा एवं अणंता वि।

[५९] आदि के तीन अस्तिकायों के साथ एक-एक प्रदेश बढ़ाना चाहिए।

शेष के विषय में जिस प्रकार दो पुद्गल प्रदेशों के विषय में कहा था, उसी प्रकार यावत् दस प्रदेशों तक कहना चाहिए। अर्थात् जहाँ पुद्गलास्तिकाय के दस प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कदाचित् एक दो, तीन यावत् कदाचित् दस प्रदेश अवगाढ होते हैं।

जहाँ पुद्गलास्तिकाय के संख्यात प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कदाचित् एक, दो, तीन, यावत् कदाचित् दस प्रदेश यावत् कदाचित् संख्यात प्रदेश अवगाढ होते हैं। जहाँ पुद्गलास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कदाचित् एक प्रदेश यावत् कदाचित् संख्यात प्रदेश और कदाचित् असंख्यात प्रदेश अवगाढ होते हैं।

जिस प्रकार पुद्गलास्तिकाय के विषय में कहा है, उसी प्रकार अनन्त प्रदेशों के विषय में भी कहना चाहिए। अर्थात्—जहाँ पुद्गलास्तिकाय के अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कदाचित् एक प्रदेश यावत् संख्यात प्रदेश और असंख्यात प्रदेश अवगाढ होते हैं।

६०. [१] जत्थ णं भंते ! एगे अद्धासमये ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मऽत्थि० ?

एक्को।

[६०-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ एक अद्धासमय अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६०-१ उ.] (गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय का) एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[२] केवतिया अहम्मऽत्थि० ?

एक्को।

[६०-२ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६०-२ उ.] (वहाँ उसका) एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[३] केवतिया आगासऽत्थि० ?

एक्को।

[६०-३ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६०-३ उ.] (गौतम ! वहाँ आकाशास्तिकाय का) एक प्रदेश अवगाढ होता है।

[४] केवइया जीवऽत्थि० ?

अणंता।

[६०-४ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६०-४ उ.] (गौतम ! वहाँ जीवास्तिकाय के) अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[५] एवं जाव अद्धासमया।

[६०-५] इसी प्रकार अद्धासमय तक कहना चाहिए।

६१. [१] जत्थ णं भंते ! धम्मऽत्थिकाये ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मत्थिकायपएसा ओगाढा ?

नत्थि एक्को वि।

[६१-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ धर्मास्तिकाय-द्रव्य अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६१-१ उ.] (गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय का) एक भी प्रदेश अवगाढ नहीं होता।

[२] केवतिया अहम्मऽत्थिकाय० ?

असंखेज्जा।

[६१-२ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६१-२ उ.] (गौतम ! वहाँ) अधर्मास्तिकाय के असंख्येय प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[३] केवतिया आगास० ?

असंखेज्जा।

[६१-३ प्र.] (वहाँ) आकाशास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६१-३ उ.] (वहाँ उसके) असंख्येय प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[४] केवतियां जीवऽत्थिकाय० ?

अणंता।

[६१-४ प्र.] (वहाँ !) जीवास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ़ होते हैं ?

[६१-४ उ.] (वहाँ उसके) अनन्त प्रदेश (अवगाढ होते हैं)।

[५] एवं जाव अद्धा समया।

[६१-५] इसी प्रकार यावत् अद्धासमय (तक कहना चाहिए।)

६२. [१] जत्थ णं भंते ! अहम्मऽत्थिकाये ओगाढे तत्थ केवतिया धम्मऽत्थिकाय० ?

असंखेज्जा।

[६२-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ एक अधर्मास्तिकाय द्रव्य अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६२-१ उ.] (गौतम ! वहाँ धर्मास्तिकाय के) असंख्येय प्रदेश अवगाढ होते हैं।

[२] केवतिया अहम्मत्थि० ?

नत्थि एक्को वि।

[६२-२ प्र.] (वहाँ) अधर्मास्तिकाय के कितने प्रदेश अवगाढ होते हैं ?

[६२-२ उ.] (अधर्मास्तिकाय का) एक भी प्रदेश (वहाँ) अवगाढ नहीं होता।

[३] सेसं जहा धम्मऽत्थिकायस्स।

[६२-३] शेष सभी कथन धर्मास्तिकाय के समान करना चाहिए।

६३. एवं सव्वे सट्ठाणे नत्थि एक्को वि भाणियव्वं। परट्ठाणे आदिल्लगा तिन्नि असंखेज्जा भाणियव्वा, पच्छिल्लगा तिन्नि अणंता भाणियव्वा जाव अद्धासमओ त्ति—जाव केवतिया अद्धासमया ओगाढा ?

नत्थि एक्को वि।

[६३] इसी प्रकार धर्मास्तिकायादि सब द्रव्यों के 'स्वस्थान' में एक भी प्रदेश नहीं होता; किन्तु परस्थान में प्रथम के तीन द्रव्यों (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय) के असंख्येय प्रदेश कहने चाहिए; और पीछे के तीन द्रव्यों (जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय) के अनन्त प्रदेश कहने चाहिए। यावत्—[प्र.] (एक अद्धाकाल द्रव्य में) कितने अद्धासमय अवगाढ होते हैं ? [उ.] एक भी अवगाढ नहीं होता; (इस प्रकार) 'अद्धासमय' तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत १२ सूत्रों (सू. ५२ से ६३ तक) में नौवें अवगाहनाद्वार के माध्यम से धर्मास्तिकाय आदि के एक, दो, यावत् दस, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश अवगाहित होने की स्थिति में परस्पर उन्हीं धर्मास्तिकायादि के प्रदेशों की अवगाहना की प्ररूपणा की गई है। अन्त में धर्मास्तिकायादि प्रत्येक समग्र द्रव्य हो, वहाँ धर्मास्तिकायादि छह के प्रदेशों का भी निरूपण किया गया है।

धर्मास्तिकायादि के एक प्रदेश पर धर्मास्तिकायादि के प्रदेशों का अवगाहन—धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश के स्थान पर धर्मास्तिकाय का अन्य प्रदेश अवगाढ नहीं होता। अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का वहाँ एक-एक प्रदेश अवगाढ होता है; तथा जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय के अनन्त-अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं; क्योंकि धर्मास्तिकाय का एक-एक प्रदेश उनके अनन्त प्रदेशों से व्याप्त है। धर्मास्तिकाय सम्पूर्ण लोकव्यापी है और अद्धासमय केवल मनुष्यलोकव्यापी है। अत: धर्मास्तिकाय के प्रदेश पर अद्धासमयों का क्वचित् अवगाह है और क्वचित्-कहीं नहीं भी है। जहाँ अवगाह होता है, वहाँ अनन्त का अवगाह है। धर्मास्तिकाय के समान ही अधर्मास्तिकाय के भी छह सूत्र कहने चाहिए। आकाशास्तिकाय के विषय में धर्मास्तिकाय का प्रदेश कदाचित् अवगाढ है और नहीं भी है, क्योंकि आकाशास्तिकाय लोकालोकपरिमाण है जब कि धर्मास्तिकाय के प्रदेश लोकाकाश में ही हैं, आलोकाकाश में नहीं। वहाँ धर्मास्तिकाय नहीं है।[१]

पुद्‌गलास्तिकाय के प्रदेशों की अवगाहना—जहाँ पुद्‌गलास्तिकाय का द्व्यणुकस्कन्ध (द्विप्रदेशीस्कन्ध) एक आकाशप्रदेश में अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश ही अवगाहता है; और जब वह आकाशास्तिकाय के दो प्रदेशों को अवगाहता है, तब धर्मास्तिकाय के दो प्रदेश अवगाढ होते हैं। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश और दो प्रदेशों के अवगाहन की घटना स्वयं कर लेनी चाहिए। जब पुद्‌गलास्तिकाय के तीन प्रदेश आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश को अवगाहते हैं तब धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ होता है। जब आकाशास्तिकाय के दो प्रदेशों को अवगाहते हैं, तब धर्मास्तिकाय के दो प्रदेश अवगाढ होते हैं। जब आकाशास्तिकाय के तीन प्रदेशों को अवगाहते हैं, तब धर्मास्तिकाय के तीन प्रदेश अवगाढ होते हैं। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के विषय में भी समझना चाहिए। जीवास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और अद्धासमय सम्बन्धी तीन सूत्रों का कथन भी पूर्ववत् करना चाहिए। विशेष यह है कि पुद्‌गलास्तिकाय के तीन प्रदेशों के स्थान पर जीवास्तिकाय के अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।

जिस प्रकार पुद्‌गलास्तिकाय के तीन प्रदेशों की अवगाहना के विषय में धर्मास्तिकायादि के एक-एक प्रदेश की वृद्धि की है; उसी प्रकार पुद्‌गलास्तिकाय के चार, पांच आदि प्रदेशों की अवगाहना के विषय में भी एक-एक प्रदेश की वृद्धि करनी चाहिए।

जहाँ पुद्‌गलास्तिकाय के अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं, वहाँ धर्मास्तिकाय के कदाचित् एक, दो यावत् कदाचित् संख्यात, अथवा असंख्यात, प्रदेश अवगाढ होते हैं, अनन्त नहीं; क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के अनन्त प्रदेश नहीं होते, असंख्यात ही होते हैं।[२]

समग्र धर्मास्तिकायादि द्रव्य पर अन्य धर्मास्तिकायादि प्रदेशों का अवगाह—जहाँ समग्र

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१४
   (ख) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२२०

२. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२२०-२२२१
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१४-६१५

धर्मास्तिकाय द्रव्य अवगाढ होता है, वहाँ धर्मास्तिकाय का अन्य एक भी प्रदेश अवगाढ नहीं होता। क्योंकि उसमें प्रदेशान्तरों का अभाव है । अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के वहाँ असंख्येय प्रदेश अवगाढ होते हैं। जीवास्तिकाय, पुदगलास्तिकाय और अद्धासमय के अनन्त प्रदेश होते हैं, इसलिए इन पर अनन्त प्रदेश अवगाढ होते हैं।[१]

पांच एकेन्द्रियों का परस्पर अवगाहना-निरूपण : दसवाँ जीवावगाढद्वार

६४. [१] जत्थ णं भंते ! एगे पुढविकाइए ओगाढे तत्थ केवतिया पुढविकाइया ओगाढा ?

असंखेज्जा।

[६४-१ प्र.] भगवन् ! जहाँ एक पृथ्वीकायिक जीव अवगाढ होता है, वहाँ दूसरे कितने पृथ्वीकायिक जीव अवगाढ होते हैं ?

[६४-१ उ.] (गौतम ! वहाँ) असंख्य (पृथ्वीकायिक जीव अवगाढ होते हैं।)

[२] केवतिया आउक्काइया ओगाढा ?

असंखेज्जा।

[६४-२ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) कितने अप्कायिक जीव अवगाढ होते हैं ?

[६४-२ उ.] (गौतम ! वहाँ अप्कायिक) असंख्य जीव (अवगाढ होते हैं।)

[३] केवतिया तेउकाइया ओगाढा ?

असंखेज्जा।

[६४-३ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) कितने तेजस्कायिक जीव अवगाढ होते हैं ?

[६४-३ उ.] (गौतम ! वहाँ तेजस्काय के) असंख्य जीव (अवगाढ होते हैं।)

[४] केवतिया वाउ० ओगाढा ?

असंखेज्जा।

[६४-४ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) वायुकायिक जीव कितने अवगाढ होते हैं ?

[६४-४ उ.] (गौतम ! वहाँ) असंख्य जीव (अवगाढ होते हैं।)

[५] केवतिया वणस्सतिकाइया ओगाढा ?

अणंता।

[६४-५ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) कितने वनस्पतिकायिक जीव अवगाढ होते हैं ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ६१५

(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२२१

[६४-५ उ.] (गौतम! वहाँ वे) अनन्त (जीव अवगाढ होते हैं।)

६५. [१] जत्थ णं भंते ! एगे आउकाइए ओगाढे तत्थ णं केवतिया पुढवि० ?

असंखेज्जा।

[६५-१प्र.] भगवन्! जहाँ एक अप्कायिक जीव अवगाढ होता है, वहाँ कितने पृथ्वीकायिक जीव अवगाढ होते हैं ?

[६५-१ उ.] गौतम! वहाँ असंख्य पृथ्वीकायिक जीव अवगाढ होते हैं।

[२] केवतिया आउ० ?

असंखेज्जा। एवं जहेव पुढविकाइयाणं वत्तव्वया तहेव सव्वेसिं निरवसेसं भाणियव्वं जाव वणस्पतिकाइयाणं—जाव केवतिया वणस्सतिकाइया ओगाढा ?

अणंता।

[६५-२ प्र.] (भगवन् ! वहाँ) अन्य अप्कायिक जीव कितने अवगाढ होते हैं ?

[६५-२ उ.] (गौतम ! वहाँ वे) असंख्य अवगाढ होते हैं। जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार अन्यकायिक जीवों की समस्त वक्तव्यता, यावत् वनस्पतिकायिक तक कहनी चाहिए। (यथा) यावत्—[प्र.] 'वहाँ कितने वनस्पतिकायकि जीव अवगाढ होते हैं ?' [उ.] '(वहाँ) अनन्त अवगाढ होते हैं।'

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ६४-६५) द्वारा एकेन्द्रिय जीवों के परस्पर अवगाहन के विषय में दसवें जीवावगाढद्वार के माध्यम से प्रतिपादन किया गया है।

पृथ्वीकायादि में से एक में, पृथ्वीकायादि पांचों प्रकार के जीवों की अवगाहनप्ररूपणा—जहाँ एक पृथ्वीकायिक जीव अवगाढ है, वहाँ पृथ्वीकायादि चारों के असंख्य सूक्ष्म जीव अवगाढ हैं। जैसे कि कहा है—**'जत्थ एगो, तत्थ नियमा असंखेज्जा।'** किन्तु वहाँ वनस्पतिकायिक के अनन्त जीव अवगाढ हैं। इसी प्रकार पांचों कायों के विषय में समझ लेना चाहिए।[१]

धर्माऽधर्माकाशास्तिकायों पर बैठने आदि का दृष्टान्तपूर्वक निषेध-निरूपण : ग्यारहवाँ अस्तिप्रदेश-निषीदनद्वार

६६. [१] एयंसि ण भंते! धम्मत्थिकाय० अधम्मत्थिकाय० आगासत्थिकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ?

नो इणट्ठे समट्ठे, अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा।

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ६१५

[६६-१ प्र.] भगवन् ! इन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय पर कोई व्यक्ति बैठने (या ठहरने), सोने, खड़ा रहने, नीचे बैठने और लेटने (या करवट बदलने) में समर्थ हो सकता है ?

[६६-१ उ.] (गौतम!) यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। उस स्थान पर अनन्त जीव अवगाढ होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—एयंसि णं धम्मत्थि० जाव आगासत्थिकायंसि नो चक्किया केयि आसइत्तए वा जाव ओगाढा ?

गोयमा ! से जहा नामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्तदुवारा जहा रायप्पसेणइज्जे जाव दुवारवयणाइं पिहेइ; दुवारवयणाइं पिहित्ता तीसे कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं पदीवसहस्सं पलीवेज्जा; से नूणं गोयमा ! ताओ पदीवलेस्साओ अन्नमन्नसंबद्धाओ अन्नमन्नपुट्ठाओ जाव अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ?'

'हंता चिट्ठंति।' ''चक्किया णं गोयमा ! केयि तासु पदीवलेस्सासु आसइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा ?''

'भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे, अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा।'

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं जाव वुच्चइ ओगाढा।

[६६-२ प्र.] भगवन् ! यह किसलिए कहा जाता है कि इन धर्मास्तिकायादि पर कोई भी व्यक्ति ठहरने, सोने आदि में समर्थ नहीं हो सकता, यावत् वहाँ अनन्त जीव अवगाढ होते हैं ?

[६६-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूटागारशाला हो, जो बाहर और भीतर दोनों ओर से लीपी हुई हो, चारों ओर से ढँकी हुई (सुरक्षित) हो, उसके द्वार भी गुप्त (सुरक्षित) हों, इत्यादि राजप्रश्नीय सूत्रानुसार, यावत्—द्वार के कपाट बन्द कर (ढँक) देता है, (यहाँ तक जानना चाहिए।) उस कूटागारशाला के द्वार के कपाटों को बन्द करके ठीक मध्यभाग में (कोई) जघन्य (कम से कम) एक, दो या तीन और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) एक हजार दीपक जला दे, तो हे गौतम ! (उस समय) उन दीपकों की प्रभाएँ परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध (संसक्त) होकर, एक दूसरे (की प्रभा) को छूकर यावत् परस्पर एकरूप होकर रहती हैं न ?

[गौतम द्वारा उत्तर]—हाँ भगवन् ! (वे इसी प्रकार से) रहती हैं।

[भगवान् द्वारा प्रश्न]—हे गौतम ! क्या कोई व्यक्ति उन प्रदीप प्रभाओं पर बैठने, सोने यावत् करवट बदलने में समर्थ हो सकता है ?

[गौतम द्वारा उत्तर]—भगवन् ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। उन प्रभाओं पर अनन्त जीव अवगाहित होकर रहते हैं।

(भगवान् द्वारा उपसंहार—) इसी कारण से हे गौतम ! मैंने ऐसा कहा है कि (इस धर्मास्तिकायादि त्रिक में न कोई पुरुष बैठ सकता है, न सो सकता है, न खड़ा रह सकता है) यावत् न ही करवट बदल सकता है; (क्योंकि ये तीनों ही द्रव्य अमूर्त हैं, फिर भी) इनमें अनन्त जीव अवगाढ हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में धर्मास्तिकायादि पर किसी व्यक्ति की बैठने, लेटने आदि की अशक्यता को कूटगारशाला के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

कठिन शब्दार्थ—**एयंसि**—इस पर। **चक्किया**—समर्थ हो सकता है। **आसइत्तए**—बैठने या ठहरने में। **सइत्तए**—सोने में या शयन करने में। **चिट्ठित्तए**—खड़ा रहने या ठहरने में। **निसीइत्तए**—नीचे बैठने में। **तुयट्टित्तए**—करवट बदलने में या लेटने में। **पलीवेज्जा**—जला दे। **अन्नमन्नघडत्ताए**—एक दूसरे के साथ एकमेक (एकरूप) होकर। **पदीवलेस्सासु**—दीपकों की प्रभाओं पर।[१]

बहुसम, सर्वसंक्षिप्त, विग्रह-विग्रहिक लोक का निरूपण : बारहवाँ बहुसमद्वार

६७. कहि णं भंते ! लोए बहुसमे ? कहि णं भंते ! लोए सव्वविग्गहिए पन्नत्ते ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु, एत्थ णं लोए बहुसमे, एत्थ णं लोए सव्वविग्गहिए पन्नत्ते।

[६७ प्र.] भगवन् ! लोक का बहु-समभाग कहाँ है ? (तथा) हे भगवन् ! लोक का सर्वसंक्षिप्त भाग कहाँ कहा गया है ?

[६७ उ.] गौतम ! इस रत्नप्रभा (नरक-) पृथ्वी के ऊपर के और नीचे के क्षुद्र (लघु) प्रतरों में लोक का बहुसम भाग है और यहीं लोक का सर्वसंक्षिप्त (सबसे संकीर्ण) भाग कहा गया है।

६८. कहि णं भंते ! विग्गहविग्गहिए लोए पन्नत्ते ?

गोयमा ! विग्गहकंडए, एत्थ णं विग्गहविग्गहिए लोए पन्नत्ते।

[६८ प्र.] भगवन् ! लोक का विग्रह-विग्रहित भाग (लोकरूप शरीर का वक्रतायुक्त भाग) कहाँ कहा गया है ?

[६८ उ.] गौतम ! जहाँ विग्रह-कण्डक (वक्रतायुक्त अवयव) है, वहीं लोक का विग्रह-विग्रहिक भाग कहा गया है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ६७-६८) में बारहवें बहुसमद्वार के माध्यम से लोक के बहुसमभाग एवं विग्रह-विग्रहिक भाग के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है।

कठिन शब्दार्थ—**बहुसमे**—अत्यन्त सम, प्रदेशों की वृद्धि-हानि से रहित भाग। **सव्वविग्गहिए**—सर्वसंक्षिप्तभाग, सब से छोटा या संकीर्ण भाग। **विग्गह-विग्गहिए**—विग्रह (वक्रतायुक्त)-**विग्रहिक**—(शरीर का भाग)। **विग्गहकंडए**—विग्रहकण्डक वक्रतायुक्त अवयव।[२]

---

१. भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. १०, पृ. ७०९

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१६

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२२३

लोक का बहु समभाग—यह चौदह रज्जू-परिमाण वाला लोक कहीं बढ़ा हुआ है तो कहीं घटा हुआ है। इस प्रकार की वृद्धि और हानि से रहित भाग को 'बहुसम' कहते हैं। इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी में दो क्षुल्लक (लघुतम) प्रत्तर हैं। ये सबसे छोटे हैं। ऊपर के क्षुद्र प्रतर से प्रारम्भ होकर ऊपर ही ऊपर प्रतर वृद्धि होती है और नीचे के क्षुल्लक प्रतर से नीचे-नीचे की ओर प्रतर-वृद्धि होती है। शेष प्रतरों की अपेक्षा ये प्रतर छोटे हैं, क्योंकि इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक रज्जू-परिमित है। ये दोनों प्रतर तिर्यक्लोक के मध्यवर्ती हैं।[१]

लोक का विग्रह-विग्रहिक—इस समग्र लोक की आकृति पुरुष-शरीराकार मानी जाती है। कमर पर हाथ रख कर खड़े हुए पुरुष के दोनों हाथों की कुहनियों (कूर्पर) का स्थान वक्र (टेढ़ा) होता है। इसी प्रकार इस लोक में पंचम ब्रह्मलोक नामक देवलोक के पास लोक का कूर्परस्थानीय (कुहनी जैसा) वक्रभाग है। इसे ही 'विग्रहकण्डक' कहते हैं, अथवा जहाँ प्रदेशों की वृद्धि या हानि होने से वक्रता होती है, उस भाग को भी विग्रहकण्डक कहते हैं। यहाँ लोकरूप शरीर का वक्रतायुक्त भाग है। यह (विग्रहकण्डक) प्रायः लोकान्त में है।[२]

लोक-संस्थाननिरूपण : तेरहवाँ लोक-संस्थानद्वार

६९. किंसंठिए णं भंते ! लोए पन्नत्ते ?

गोयमा ! सुपतिट्ठगसंठिए लोए पन्नत्ते, हेट्ठा वित्थिण्णे, मज्झे जहा सत्तमसए पढमुद्देसे (स. ७ उ. १ सु. ५) जाव अंतं करेंति।

[६९ प्र.] भगवन् ! इस लोक का संस्थान (आकार) किस प्रकार का कहा गया है ?

[६९ उ.] गौतम ! इस लोक का संस्थान सुप्रतिष्ठिक के आकार का कहा गया है। यह लोक नीचे विस्तीर्ण है, मध्य में संक्षिप्त (संकीर्ण) है, इत्यादि वर्णन सप्तम शतक के प्रथम उद्देशक (सू. ५) के अनुसार, यावत्—संसार का अन्त करते हैं—यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में लोक के आकार के विषय में सप्तम शतक के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।

लोक की आकृति और परिमाण—नीचे एक औंधा (उल्टा) मिट्टी का सकोरा रखा जाए, उसके ऊपर एक सीधा और ऊपर एक उल्टा सकोरा रखा जाए। इसका जो आकार बनता है, वही लोक का संस्थान (आकार) है। इस आकृति से यह स्पष्ट है कि लोक नीचे से चौड़ा है, बीच में संकीर्ण हो जाता है, कुछ ऊपर फिर चौड़ा होता जाता है और सबसे ऊपर फिर संकीर्ण हो जाता है। वहाँ लोक की चौड़ाई सिर्फ एक रज्जु रह जाती है। इस प्रकार 'संसार का अन्त करते हैं', यहाँ तक जो लोक सम्बन्धी विस्तृत विवेचन भगवतीसूत्र के सप्तम शतक, प्रथम उद्देशक, पंचम सूत्र में किया गया है, उसे यहाँ भी जान लेना चाहिए।[३]

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ६१६

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२२४

३. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२२५

अधोलोक-तिर्यक्लोक-उर्ध्वलोक के अल्पबहुत्व का निरूपण

७०. एतस्स णं भंते ! अहेलोगस्स तिरियलोगस्स उड्ढलोगस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे तिरियलोए, उड्ढल्लोए असंखेज्जगुणे, अहेलोए विसेसाहिए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति०।

[७० प्र.] भगवन् ! अधोलोक, तिर्यक्लोक और उर्ध्वलोक में, कौन-सा लोक किस लोक से छोटा (अल्प) यावत् बहुत (अधिक या बड़ा), सम अथवा विशेषाधिक है ?

[७० उ.] गौतम ! सबसे थोड़ा (छोटा) तिर्यक्लोक है। (उससे) उर्ध्वलोक असंख्यातगुणा है और उससे अधोलोक विशेषाधिक (विशेष बड़ा) है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तीनों लोकों की न्यूनाधिकता (छोटे-बड़े की तरतमता) बताई गई है।

कौन छोटा, कौन बड़ा ?—तिर्यग्लोक सबसे छोटा इसलिए है कि वह केवल १८०० योजन लम्बा है, जबकि उर्ध्वलोक की अवगाहना ७ रज्जू में कुछ कम है, इसलिए वह तिर्यग्लोक से असंख्यातगुणा बड़ा है और अधोलोक सबसे अधिक बड़ा (विशेषाधिक) इसलिए है कि उसकी अवगाहना कुछ अधिक ७ रज्जू परिमाण है। इसलिए वह ऊर्ध्वलोक से विशेषाधिक है।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त॥

○○○

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१६

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ४, पृ. २२२५

पंचमो उद्देसओ : आहारो

पंचम उद्देशक : नैरयिकों आदि का आहार

चौवीस दण्डकों में आहारादि-प्ररूपणा

१. नेरतिया णं भंते ! किं सचित्ताहारा, अचित्ताहारा० ?

पढमो नेरइयउद्देसओ निरवसेसो भाणियव्वो।

सेवं भंते ! सेव भंते ! त्ति०।

तेरसमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो॥

[१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक सचित्ताहारी हैं, अचित्ताहारी या मिश्राहारी हैं ?

[१ उ.] गौतम! नैरयिक न तो सचित्ताहारी हैं और न मिश्राहारी हैं, वे अचित्ताहारी हैं। (इसी प्रकार असुरकुमार आदि के आहार के विषय में भी कहना चाहिए।)

(इसके उत्तर में) यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाईसवें आहारपद का) समग्र प्रथम उद्देशक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रज्ञापनासूत्र के २८ वें आहारपद के प्रथम उद्देशक के अतिदेश पूर्वक नैरयिक, असुरकुमार आदि २४ दण्डकवर्ती जीवों के आहार का प्ररूपण किया गया है।

॥ तेरहवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. देखिये—पण्णवणासुत्तं भाग १, सू. १७९३-१८६४, पृ. ३९२-४००
(श्री महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित)

छट्ठो उद्देसओ : उववाए

छठा उद्देशक : उपपात (आदि)

चौवीस दण्डकों में सान्तर-निरन्तर-उपपात-उद्वर्त्तन-निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

२. संतरं भंते ! नेरतिया उववज्जंति, निरंतर नेरतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! संतरं पि नेरतिया उववज्जंति, निरंतरं पि नेरतिया उववज्जंति।

[२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक सान्तर (समय आदि के अन्तर—व्यवधान सहित) उत्पन्न होते हैं या निरन्तर (समयादि के अन्तर के बिना लगातार) उत्पन्न होते रहते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! नैरयिक सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी उत्पन्न होते रहते हैं।

३. एवं असुरकुमारा वि।

[३] असुरकुमार भी इसी तरह (सान्तर-निरन्तर दोनों प्रकार से उत्पन्न होते हैं।)

४. एवं जहा गंगेये (स० ९ उ० ३२ सु० ३-१३) तहेव दो दंडगा जाव संतरं पि वेमाणिया चयंति, निरंतर पि वेमाणिया चयंति।

[४] इसी प्रकार जैसे नौवें शतक के बत्तीसवें गांगेय उद्देशक (सूत्र ३-१३) में उत्पाद और उद्वर्त्तना के सम्बन्ध में दो दण्डक कहे हैं, वैसे ही यहाँ भी, यावत् वैमानिक सान्तर भी च्यवते हैं और निरन्तर भी च्यवते रहते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

विवेचन—सर्व संसारी जीवों में सान्तर-निरन्तर-उत्पत्ति-उद्वर्त्तना—प्रस्तुत चार सूत्रों में नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक की उत्पत्ति और उद्वर्त्तना सम्बन्धी सान्तर-निरन्तर-प्ररूपणा नौवें शतक के बत्तीसवें गांगेय उद्देशक के अतिदेशपूर्वक की गई है।

चमरचंच आवास का वर्णन एवं प्रयोजन

५. कहिं णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे नामं आवास पन्नत्ते ?

गोयमा ! जम्बुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे एवं जहा बितियसए सभाउद्देसवत्तव्वया (स० २ उ० ८ सु० १) सच्चेव अपरिसेसा नेयव्वा, नवरं इमं नाणत्तं जाव तिगिच्छकूडस्स उप्पायपव्वयस्स चमरचंचाए रायहाणीए चमरचंचस्स आवासपव्वयस्स अन्नेसिं च बहूणं० सेसं तं चेव जाव तेरसअंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचिविसेसाहियापरिक्खेवेणं। तीसे णं चमर-

चंचाए रायहाणीए दाहिणपच्चत्थिमेणं छक्कोडिसए पणपन्नं च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्साइं पन्नासं च सहस्साइं अरुणोदगसमुद्दं तिरियं वीतीवइत्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे नामं आवासे पण्णत्ते, चउरासीतिं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, दो जोयणसयसहस्सा पन्नट्ठिं च सहस्साइं छच्च बत्तीसे जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं। से णं एगेणं पागारेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते। से णं पागारे दिवड्ढं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं, एवं चमरचंचा रायहाणीवत्तव्वया भाणियव्वा सभाविहूणा जाव चत्तारि पासायपंतीओ।

[५ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र और असुरकुमारराज 'चंमर' का 'चमरचंच' नामक आवास कहाँ कहा गया है ?

[५ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप में मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण में तिरछे असंख्य द्वीप-समुद्रों को पार करने के बाद, जैसे कि द्वितीय शतक के आठवें उद्देशक (सू. १) में कहा गया है (अरुणवर द्वीप की बाह्य वेदिका के अन्त से अरुणवर समुद्र में बयालीस हजार योजन जाने के बाद चमरेन्द्र का तिगिञ्छक कूट नामक उपपात-पर्वत आता है। उससे दक्षिण दिशा में ६५५ करोड़, ३५ लाख, ५० हजार योजन दूर अरुणोदक समुद्र में तिरछा जाने के बाद नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर ४० हजार योजन गहरे जाने पर चमरेन्द्र की चमरचंचा नाम की राजधानी है; इत्यादि) यह समग्र वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए। यहाँ विशेष अन्तर इतना ही है कि यावत् तिगिञ्छकूट के उपपात-पर्वत का, चमरचंचा राजधानी का, चमरचंच नामक आवास-पर्वत का और अन्य बहुत-से द्वीप आदि तक का शेष सब वर्णन उसी प्रकार कहना चाहिए; यावत् (तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन गाऊ, दो सौ अठाईस धनुष और) कुछ विशेषाधिक साढे तेरह अंगुल (चमरचंचा राजधानी की) परिधि है। चमरचंचा राजधानी से दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैऋत्यकोण) में ६५५ करोड़, ३५ लाख ५० हजार योजन दूर अरुणोदक समुद्र में तिरछे पार करने के बाद वहाँ असुरेन्द्र एवं असुरकुमारों के राजा चमर का चमरचंच नामक आवास कहा गया है; जो लम्बाई-चौड़ाई में ८४ हजार योजन है। उसकी परिधि (चारों ओर से घेरा) दो लाख पैंसठ हजार छह सौ बत्तीस योजन से कुछ अधिक है। यह आवास एक प्राकार (परकोटे) से चारों ओर से घिरा हुआ है। वह प्राकार ऊँचाई में डेढ़ सौ योजन ऊँचा है। इस प्रकार चमरचंचा राजधानी की सारी वक्तव्यता, सभा को छोड़कर, यावत् चार प्रासाद-पंक्तियाँ हैं, (यहाँ तक) कहनी चाहिए।

६. [१] चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचंचे आवासे वसहिं उवेति ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

[६-१ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर क्या उस 'चमरचंच' आवास में निवास करके रहता है ?

[६-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

[२] से केणं खाइ अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'चमरचंचे आवासे, चमरचंचे आवासे' ?

गोयमा ! जे जहानामए इहं मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणा इ वा, उज्जाणियलेणा इ वा, निज्जाणियलेणा इ वा, धारवारियलेणा इ वा, तत्थ णं बहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ आसयंति सयंति

जहा रायप्पसेणइज्जे जाव[1] कल्लाणफलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरंति, अन्नत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं, अन्नत्थ पुण वसहिं उवेति। से तेणट्ठे णं जाव आवासे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

[६-२ प्र.] भगवन्! फिर किस कारण से चमरेन्द्र का आवास 'चमरचंच' आवास कहलाता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार यहाँ मनुष्यलोक में औपकारिक लयन (प्रासादादि के पीठ-तुल्य घर), उद्यान में बनाये हुए घर, नगर-प्रदेश-गृह (नगर के निकटवर्ती बने हुए घर; अथवा नगर-निर्गम गृह—अर्थात् नगर से निकलने वाले द्वार के पास बने हुए घर), जिसमें पानी के फव्वारे लगे हों, ऐसे घर (धारावारिक लयन) होते हैं, वहाँ बहुत-से मनुष्य एवं स्त्रियाँ आदि बैठते हैं, सोते हैं, इत्यादि सब वर्णन राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार, यावत्—कल्याणरूप फल और वृत्ति विशेष का अनुभव करते हुए वहाँ विहरण (सैर) करते हैं, किन्तु (वहाँ वे लोग स्थायी निवास नहीं करते,) उनका (स्थायी) निवास अन्यत्र होता है। इसी प्रकार हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर का चमरचंच नामक आवास केवल क्रीडा और रति के लिए है, (वह स्थान उसका स्थायी आवास नहीं है;) वह अन्यत्र (स्थायीरूप से) निवास करता है। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि चमरेन्द्र चमरचंच नामक आवास में निवास करके नहीं रहता।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतम-स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ५-६) में चमरेन्द्र के चमरचंच नामक आवास के अतिदेश पूर्वक नियत स्थान का, उसकी लम्बाई-चौड़ाई, परिधि, उसके सौन्दर्य आदि का समग्र वर्णन एवं उसमें चमरेन्द्र का स्थायी निवास न होने का दृष्टान्त पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

कठिन शब्दार्थ—छक्कोडिसए पणपन्नं च कोडिओ—६५० करोड़, **पणतीसं च सयसहस्साइं**—पैंतीस लाख, **पन्नास च सहस्साइं**—पचास हजार योजन। **चउरासीतिं जोयणसहस्साइं आयाम विक्खंभेणं**—चौरासी हजार योजन लम्बाई-चौड़ाई (आयाम-विष्कम्भ) में। **परिक्खेवेणं**—परिक्षेप, परिधि। **उड्डुंउच्चत्तेणं**—ऊँचाई में। **पासाय-पंतीओ**—प्रासादपंक्तियाँ। **वसहिं उवेति**—स्थायी निवास के लिए आता है। **उवगारिलेणा**—औपकारिक गृह (भवनों के नीचे बरामदा वगैरह घर)। **उज्जाणियलेणाइं**—लोगों के उपकारार्थ उद्यानों में बने हुए घर अथवा नगर की निकटवर्ती धर्मशालादि के मकान। **णिज्जाणियलेणाइं**—नगर के निर्गम (बाहर निकलने) पर आराम के लिए बने हुए घर। **धारवारियलेणाइं**—जिनमें पानी के फव्वारे (धारावारिक) छूट रहे हों, ऐसे मकान। **किड्डा-रति पत्तियं**—क्रीड़ा (खेल-कूद) और रति (भोगविलास) के लिए। **आसयंति**—आश्रय लेते हैं, थोड़ा विश्राम लेते हैं अथवा थोड़ा सोते हैं। **सयंति**—लेटते हैं विशेष आश्रय

---

१. 'जाव' पद से राजप्रश्नीय (पृ. १९६-२०० में उक्त) पाठ समझना चाहिए - "........ चिट्ठंति निसीयंति तुयट्टंति हसंति रमंति ललंति कीलंति किड्डंति मोहयंति .... । पुरापोराणाणं सुचिन्नाणं सुपरिक्कंताण सुभाणं कडाणं कम्माणं।"

लेते हैं, अधिक विश्राम लेते हैं, या अधिक सोते हैं, । [**चिट्ठंति**—ठहरते या खड़े रहते हैं । **निसीयंति**—बैठते हैं । **तुयट्टंति**- करवट बदलते हैं । **हसंति**—हंसते हैं । **रमंति**—पासों से खेलते हैं । **कीलंति**—कामक्रीडा करते हैं । **किड्डंति**—क्रीडा करते हैं । **मोहयंति**—मोहित करते हैं अर्थात् विमुग्ध होकर प्रणय करते हैं ।] **किड्डारतिपत्तियं**—क्रीडा में रति—आनन्द लेने के लिए, अथवा क्रीडा और रति के निमित्त।[१]

उदायन नरेश वृत्तान्त

भगवान् का राजगृहनगर से विहार, चम्पापुरी में पदार्पण

७. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नदा कदायि रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ जाव विहरति।

[७] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर किसी अन्य (एक) दिन राजगृह नगर के गुणशील नामक चैत्य से यावत् (अन्यत्र) विहार कर देते हैं ।

८. तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्थ। वण्णओ। ❊ पुण्णभद्दे चेतिए। वण्णओ। तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कदायि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव विहरमाणे जेणेव चंपानगरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेतिए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता जाव विहरइ।

[८] उस काल, उस समय में चम्पा नाम की नगरी थी । (उसका) वर्णन औपपातिकसूत्र में नगरीवर्णन के अनुसार जानना चाहिए। (उसमें) पूर्णभद्र नाम का चैत्य था। (उसका) वर्णन (करना चाहिए) किसी दिन श्रमण भगवान् महावीर पूर्वानुपूर्वी से (क्रमशः) विचरण करते हुए यावत् विहार करते हुए जहाँ चम्पा नगरी थी और जहाँ (उसका) पूर्णभद्र नामक चैत्य था, वहाँ पधारे यावत् विचरण करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ७-८) में भगवान् महावीर स्वामी के राजगृह नगर से विहार का तथा चम्पा नगरी में पदार्पण का वर्णन किया है । चम्पा नगरी में उनका पदार्पण क्यों हुआ, उसका रहस्य आगे के सूत्रों से प्रकट होगा।

उदायन नृप, राजपरिवार, वीतिभयनगर आदि का परिचय

९. तेणं कालेणं तेणं समएणं सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीतीभए नामं नगरे होत्थ। वण्णओ। ❊

[९] उस काल, उस समय सिन्धु-सौवीर जनपदों में वीतिभय नामक नगर था। (उसका) वर्णन (करना चाहिए)।

१०. तस्स णं वीतीभयस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए, एत्थ णं मियवणे नामं उज्जाणे होत्था। सव्वोउय० वण्णओ। ❊

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१७-६१८
   (ख) भगवती. हिन्दीविवेचन, भा. ५, पृ. २२२९

❊ 'वण्णओ' शब्द से सर्वत्र औपपातिकसूत्रानुसार वर्णन समझना। — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६१८

[१०] उस वीतिभय नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशाभाग (ईशानकोण) में मृगवन नामक उद्यान था। वह सभी ऋतुओं के पुष्प आदि से समृद्ध था, इत्यादि वर्णन (करना चाहिए।)

११. तत्थ णं वीतीभए नगरे उदायणे नामं राया होत्था, महया० वण्णओ। ❊

[११] उस वीतिभय नगर में उदायन नामक राजा था। वह महान् हिमवान् (हिमालय) पर्वत के समान था, (इत्यादि सब) वर्णन (करना चाहिए।)

१२-१३. तस्स णं उदायणस्स रण्णो पभावती नामं देवी होत्था। सुकुमाल० वण्णओ, जाव विहरति।

[१२-१३] उस उदायन राजा की प्रभावती नाम की देवी (पटरानी) थी। वह सुकुमाल (हाथ-पैरों वाली) थी, इत्यादि वर्णन यावत्—विचरण करती थी, (यहाँ तक) करना चाहिए।

१४. तस्स णं उदायणस्स रण्णो पुत्ते पभावतीए देवीए अत्तए अभीयी नामं कुमारे होत्था। सुकुमाल० जहा सिवभद्दे (स० ११ उ० ९ सु० ५) जाव पच्चुवेक्खमाणे विहरइ।

[१४] उस उदायन राजा का पुत्र और प्रभावती देवी का आत्मज अभीचि नामक कुमार था। वह सुकुमाल था। उसका शेष वर्णन (शतक ११ उ. ९ सू. ५ में उक्त) शिवभद्र के समान यावत् वह राज्य का निरीक्षण करता हुआ रहता था, (यहाँ तक) जानना चाहिए।

१५. तस्स णं उदायणस्स रण्णो नियए भाइणेज्जे केसी नामं कुमारे होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवे।

[१५] उस उदायन राजा का अपना (सगा) भानजा केशी नामक कुमार था। वह भी सुकुमाल यावत् सुरूप था।

१६. से णं उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पामोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं, वीतीभयप्पामोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं नगरागरसयाणं महेसणप्पामोक्खाणं दसण्हं राईणं बद्धमउडाणं विदिण्णछत्त-चामर-वालवीयणाणं, अन्नेसिं च बहूणं राईसर-तलवर-जाव सत्थवाहप्पभितीणं आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरति।

[१६] वह उदायन राजा सिन्धुसौवीर आदि सोलह जनपदों (देशों) का, वीतिभय-प्रमुख तीन सौ त्रेसठ नगरों और आकरों का स्वामी था। जिन्हें छत्र, चामर और बाल-व्यजन (पंखे) दिये गए थे, ऐसे महासेन-प्रमुख दस मुकुटबद्ध राजा तथा अन्य बहुत-से राजा, ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति, (अथवा युवराज), तलवर (कोतवाल), यावत् सार्थवाह-प्रभृति जनों पर आधिपत्य करता हुआ तथा राज्य का पालन करता हुआ यावत् विचरता था। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता यावत् श्रमणोपासक था।

विवेचन—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. ९ - १६) में सिन्धु-सौवीर जनपद, उनकी राजधानी वीतिभयनगर, उसके शासक उदायन नृप, उसके राजपरिवार तथा उसके अधीनस्थ राजाओं आदि का संक्षिप्त परिचय दिया

गया है।

कठिन शब्दार्थ—उत्तर-पुरत्थिमे—उत्तरपूर्व-ईशानकोण में। **पच्चुवेक्खमाणे—**भलीभांति (सर्वत्र) निरीक्षण करता हुआ। **नियए भाइणेज्जे—**अपना सगा भानजा। **बद्धमउडाणं—**मुकुटबद्ध। **विदिण्णछत्त-चामर-वालवीयणाणं—**जिन्हें छत्र, चामर और बालव्यजन (छोटे पंखे,) राजचिह्नस्वरूप दिये गये थे। **आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे—**आधिपत्य करता एवं राज्य का अग्रेसरत्व-परिपालन करता हुआ।[1]

सिन्धुसौवीर जनपद, वीतिभयनगर : विशेषार्थ—सिन्धुनदी के निकटवर्ती सौवीर—जनपद-विशेष—सिन्धुसौवीर जनपद (देश) कहलाते हैं। **वीतिभय** -जिसमें ईति और भीतिरूप भय न हो उसे 'वीतिभय' कहते हैं। ईतियाँ छह हैं—(१) अतिवृष्टि, (२) अनावृष्टि, (३-४-५) चूहे, टिड्डीदल, एवं पतंगे आदि का उपद्रव तथा (६) स्वचक्र-परचक्र का भय (अपने अधीनस्थ राजा, अधिकारी आदि—स्वचक्र तथा शत्रु राजा आदि का भय)। उदायन राजा की राजधानी वीतिभयनगर था। 'वीतिभय' को कुछ लोग 'विदर्भ' कहते हैं।[2]

पौषधरत उदायननृप का भगवद्वन्दनादि-अध्यवसाय

१७. तए णं से उदायणे राया अन्नदा कदायि जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छति, जहा संखे (स० १२ उ० १ सु० १२) जाव विरहति।

[१७] एक दिन वह उदायन राजा जहाँ (अपनी) पौषधशाला थी, वहाँ आए और (बारहवें-शतक के प्रथम उद्देशक के १२वें सूत्र में वर्णित) शंख श्रमणोपासक के समान पौषध करके यावत् विचरने लगे।

१८. तए णं तस्स उदायणस्स रण्णो पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव स मुप्पज्जित्था—"धन्ना णं ते गामाऽऽगर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणा-ऽऽसम-संवाह-सन्निवेसा जत्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरति, धन्ना णं ते राईसर-तलवर जाव सत्थवाहप्पभितयो जे णं समणं भगवं महावीरे वंदंति नमंसंति जाव पज्जुवासंति। जति णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं जाव विहरमाणे इहमागच्छेज्जा, इह समोसरेज्जा, इहेव वीतिभयस्स नगरस्स बहिया मियवणे उज्जाणे अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं जाव विहरेज्जा तो णं अहं समणं भगवं महावीरं वंदेज्जा, नमंसेज्जा जाव पज्जुवासेज्जा।"

[१८] तत्पश्चात् पूर्वरात्रि व्यतीत हो जाने पर पिछली रात्रि के समय (रात्रि के पिछले पहर) में धर्मजागरिकापूर्वक जागरण करते हुए उदायन राजा को इस प्रकार का अध्यवसाय (संकल्प) उत्पन्न हुआ—

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२३२
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२१

२. (क) वही, पत्र ६२०-६२१
   (ख) अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभाः शुकाः।
   स्वचक्रं परचक्रं च षडेते ईतयः स्मृता॥
   (ग) भगवती (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२३३

'धन्य हैं वे ग्राम, आकर (खान), नगर, खेड़, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह एवं सन्निवेश; जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विचरण करते हैं ! धन्य हैं वे राजा, श्रेष्ठी, तलवर यावत् सार्थवाह-प्रभृति जन, जो श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, यावत् उनकी पर्युपसना करते हैं। यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पूर्वानुपूर्वी (अनुक्रम) से विचरण करते हुए एवं एक ग्राम से दूसरे ग्राम यावत् विहार करते हुए यहाँ पधारें, यहाँ उनका समवसरण हो और यहीं वीतिभय नगर के बाहर मृगवन नामक उद्यान में यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए यावत् विचरण करें, तो मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करूं, यावत् उनकी पर्युपासना करूं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में उदायन राजा की अपनी पौषधशाला में धर्मजागरणा करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार यावत् उनकी पर्युपासना करने का जो संकल्प हुआ, उसका वर्णन है।

कठिन शब्दार्थ—पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि : तीन अर्थ—(१) पूर्वरात्रि व्यतीत होने पर पिछली रात्रि के समय में, (२) रात्रि के पहले या पिछले पहर में, (३) पूर्वरात्रि और अपररात्रि के मध्य में। **अयमेयारूवे**—इस प्रकार का, (ऐसा)। **अज्झत्थिए**—अध्यवसाय-संकल्प। **समुप्पज्जित्था**—समुत्पन्न हुआ। **अहापडिरूवे ओग्गहं ओगिण्हित्ता**—अपने अनुरूप अवग्रह (निवास के योग्य स्थान की याचना करके, उस) को ग्रहण करके।[१]

भगवान् का वीतिभयनगर में पदार्पण, उदायन द्वारा प्रव्रज्याग्रहण का संकल्प

१९. तए णं समणे भगवं महावीरे उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवं अज्झत्थियं जाव समुप्पन्नं विजाणित्ता चंपाओ नगरीओ पुण्णभद्दाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति, प० २ त्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणु० जाव विहरमाणे जेणेव सिंधुसोवीरा जणपदा, जेणेव वीतीभये नगरे, जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ जाव विहरति।

[१९] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी, उदायन राजा के इस प्रकार के समुत्पन्न हुए अध्यवसाय यावत् संकल्प को जान कर चम्पा नगरी के पूर्णभद्र नामक चैत्य से निकले और क्रमशः विचरण करते हुए, ग्रामानुग्राम यावत् विहार करते हुए जहाँ सिन्धु-सौवीर जनपद था, जहाँ वीतिभय नगर था और उसमें मृगवन नामक उद्यान था, वहाँ पधारे यावत् विचरने लगे।

२०. तए णं वीतिभय नगरे सिंघाडग जाव परिसा पज्जुवासइ।

[२०] वीतिभय नगर में श्रृंगाटक (तिराहे) आदि मार्गों में (भगवान् के पधारने की चर्चा होने लगी) यावत् परिषद् (भगवान् की सेवा में पहुँच कर) पर्युपासना करने लगी।

२१. तए णं से उदायणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठतुट्ठ० कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, को० स० २

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२३५
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२१

एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वीयीभयं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं जहा कूणिओ उववातिए[१] जाव पज्जुवासति। पभावतीपामोक्खाओ देवीओ तहेव पज्जुवासंति। धम्मकहा।

[२१] उस समय (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पदार्पण की) बात को सुन कर उदायन राजा हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। उसने कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! तुम शीघ्र ही वीतिभय नगर को भीतर और बाहर से स्वच्छ करवाओ, इत्यादि औपपातिकसूत्र में जैसे कूणिक का वर्णन है, तदनुसार यहाँ भी (उदायन राजा भगवान् की) पर्युपासना करता है; (तक वर्णन करना चाहिए।) प्रभावती-प्रमुख रानियाँ भी उसी प्रकार यावत् पर्युपासना करती हैं। (भगवान् ने उस समस्त परिषद् तथा उदायन नृप आदि को) धर्मकथा कही।

२२. तए णं से उदायणे राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए अट्ठेति, उ० २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता एवं वयासी—'एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! जाव से तहेयं तुब्भे वदह, त्ति कट्टु जं नवरं देवाणुप्पिया ! अभीयीकुमारं रज्जे ठावेमि। तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि।'

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं।

[२२] उस अवसर पर श्रमण भगवान् महावीर से धर्मोपदेश सुनकर एवं हृदय में अवधारण करके उदायन नरेश अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए। वे खड़े हुए और फिर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा की यावत् नमस्कार करके इस प्रकार बोले—भगवन् ! जैसा आपने कहा, वैसा ही है, भगवन् ! यही तथ्य है, यथार्थ है, यावत् जिस प्रकार आपने कहा है, उसी प्रकार है। यों कह कर आगे विशेषरूप से कहने लगे—'हे देवानुप्रिय ! (मेरी इच्छा है) कि अभीचि कुमार का राज्याभिषेक करके उसे राज (सिंहासन) पर बिठा दूँ और तब मैं आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित हो कर यावत् प्रव्रजित हो जाऊँ।'

(भगवान् ने कहा—) 'हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, (वैसा करो,) (धर्मकार्य में) विलम्ब मत करो।'

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १९ से २२ तक) में उदायन राजा के पूर्वोक्त संकल्प को जान कर भगवान् ने वीतिभयनगर में पदार्पण किया, नागरिकों तथा राजपरिवारसहित स्वयं उदायन राजा द्वारा भगवान् की वन्दना-पर्युपासनादि तथा धर्मकथा-श्रवण का, तदनन्तर अभीचि कुमार को राज्याभिषिक्त करके स्वयं प्रव्रजित होने की इच्छा का तथा भगवान् द्वारा इच्छा को यथासुख शीघ्र कार्यान्वित करने की प्रेरणा का वर्णन है।[२]

स्वपुत्र-कल्याणकांक्षी उदायननृप द्वारा अभीचि कुमार के बदले अपने भानजे का राज्याभिषेक

२३. तए णं से उदायणे राया समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० न० त्ता तमेव आभिसेक्कं हत्थिं दुरूहति, २ त्ता समणस्स भगवओ

---

१. देखिये - औपपातिकसूत्र पृ. ६१ से ८२ तक में (आगमोदय समिति)

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ६४३

महावीरस्स अंतियाओ मियवणाओ उज्जाणाओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव वीतीभये नगरे तेणेव पहारेत्था गमणाए।

[२३] श्रमण भगवान् महावीर द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उदायन राजा हृष्ट-तुष्ट एवं आनन्दित हुए। उदायन नरेश ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर उसी अभिषेक-योग्य पट्टहस्ती पर आरूढ होकर महावीर स्वामी के पास से, मृगवन उद्यान से निकले और (सीधे) वीतिभय नगर जाने के लिए प्रस्थान किया।

२४. तए णं तस्स उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—"एवं खलु अभीयीकुमारे ममं एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमंग पुण पासणयाए ? तं जति णं अहं अभीयीकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तो णं अभीयीकुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए य माणुस्सएसु य कामभोएसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सइ, तं नो खलु मे सेयं अभीयकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइत्तए। सेयं खलु मे णियगं भाइणेज्जं केसिकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवतो जाव पव्वइत्ताए।" एवं संपेहेति, एवं सं० २ त्ता जेणेव वीतीभये नगरे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ त्ता वीतिभयं नगरं मज्झंमझेणं० जेणेव सए गेहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवा० २ त्ता आभिसेक्कं हत्थिं ठवेति, आ० ठ० २ आभिसेक्काओ हत्थीओ पच्चोरुभइ, आ० प० २ जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, नि० २ कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ को० स० एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! वीतीभयं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं जाव पच्चप्पिणंति।

[२४] तत्पश्चात् (मार्ग में ही) उदायन राजा को इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् (मनोगत संकल्प) उत्पन्न हुआ—"वास्तव में अभीचि कुमार मेरा एक ही (इकलौता) पुत्र है, वह मुझे अत्यन्त इष्ट एवं प्रिय है; यावत् उसका नाम-श्रवण भी दुर्लभ है तो फिर उसके दर्शन दुर्लभ हों, इसमें तो कहना ही क्या ? अत: यदि मैं अभीचि कुमार को राजसिंहासन पर बिठा कर श्रमण भगवान् महावीर के पास मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हो जाऊं तो अभीचि कुमार राज्य और राष्ट्र में, यावत् जनपद में और मनुष्य-सम्बन्धी कामभोगों में मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित एवं अत्यधिक तल्लीन होकर अनादि, अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसार-अटवी में परिभ्रमण करेगा। अत: मेरे लिए अभीचि कुमार को राज्यारूढ कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास, मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित होना श्रेयस्कर नहीं है। अपितु मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं अपने भानजे केशी कुमार को राज्यारूढ करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास प्रव्रजित हो जाऊँ।' उदायननृप इस प्रकार अन्तर्मन्थन (सम्प्रेक्षण) करता हुआ वीतिभय नगर के निकट आया। वीतिभय नगर के मध्य में होता हुआ अपने राजभवन के बाहर की उपस्थानशाला में आया और अभिषेक योग्य पट्टहस्ती को खड़ा किया। फिर उस पर से नीचे उतरा। तत्पश्चात् वह राजसभा में सिंहासन के पास आया और पूर्वदिशा की ओर मुख करके उक्त सिंहासन पर बैठा। तदनन्तर अपने कोटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर उन्हें इस प्रकार का आदेश दिया—देवानुप्रियो ! वीतिभय नगर

को भीतर और बाहर से शीघ्र ही स्वच्छ करवाओ, यावत् कौटुम्बिक पुरुषों ने नगर के भीतर और बाहर से सफाई करवा कर यावत् उनके आदेश-पालन का निवेदन किया।

२५. तए णं उदायणे राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, स० २ एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! केसिस्स कुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं एवं रायाभिसेओ जहा सिवभद्दस्स (स० ११ उ० ९ सु० ७-९) तहेव भाणियव्वो जाव परमायुं पालयाहि इट्ठजणसंपरिवुडे सिंधुसोवीरपामोक्खाणं सोलसण्हं जणवदाणं, वीतिभयपामोक्खाणं०, महसेणप्पा०, अन्नेसिं च बहूणं राईसर-तलवर० जाव कारेमाणे पालेमाणे विहराहि, त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति।

[२५] तदनन्तर उदायन राजा ने दूसरी बार कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उन्हें इस प्रकार की आज्ञा दी—'देवानुप्रियो ! केशी कुमार के महार्थक (सार्थक), महामूल्य, महान् जनों के योग्य यावत् राज्याभिषेक की तैयारी करो।' इसका समग्र वर्णन (शतक ११, उ. ९, सूत्र ७ से ९ में उक्त) शिवभद्र कुमार के राज्याभिषेक के समान यावत्—परम दीर्घायु हो, इष्टजनों से परिवृत्त होकर सिन्धुसौवीर-प्रमुख सोलह जनपदों, वीतिभय-प्रमुख तीन सौ तिरेसठ नगरों और आकरों तथा मुकुटबद्ध महासेनप्रमुख दस राजाओं एवं अन्य अनेक राजाओं, श्रेष्ठियों, कोतवाल (तलवर) आदि पर आधिपत्य करते तथा राज्य का परिपालन करते हुए विचरो'; यों (आशीर्वचन) कह कर जय-जय शब्द का प्रयोग किया।

२३. तए णं से केसी कुमारे राया जाते महया जाव विहरति।

[२३] इसके पश्चात् केशी कुमार राजा बना। वह महाहिमवान् पर्वत के समान इत्यादि वर्णन युक्त यावत् विचरण करता है।

विवेचन—उदायन नृप का राज्य सौंपने के विषय में चिन्तन—भगवान् महावीर के प्रवचन-श्रवण के बाद उदायन नरेश का पहले विचार हुआ कि अपने पुत्र अभीचि कुमार का राज्याभिषेक करके मैं प्रव्रजित हो जाऊँ, किन्तु बाद में उन्होंने अन्तर्मन्थन किया तो उन्हें लगा कि अभीचि कुमार को यदि में राज्य सौंप दूंगा तो वह राज्य, राष्ट्र, जनपद आदि में तथा मानवीय कामभोगों में मूर्च्छित, आसक्त एवं लोलुप हो जाएगा, फलस्वरूप वह अनादि अनन्त चातुर्गतिक संसारारण्य में परिभ्रमण करता रहेगा। यह उसके लिए अकल्याणकर होगा। अतः उसे राज्य न सौंप कर अपने भानजे केशी कुमार को सौंप दूं।'[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—मुच्छिए—मूर्च्छित-आसक्त। **गिद्धे**-गृद्ध-लुब्ध। **गढिए**—ग्रथित=बद्ध। **अज्झोववण्णे**—अत्यधिक तल्लीन। **अणादीयं**—अनादि-प्रवाहरूप से आदिरहित, **अणवदग्गं**—अनवदग्र—अनन्त- प्रवाहरूप से अन्तरहित। **दीहमद्धं**—दीर्घ मार्ग वाले। **सेयं**—श्रेयस्कर, कल्याणकर। **भाइणेज्जं**—भानजे को। **परमाउं पालयाहि**—दीर्घायु होओ। **सद्दं पउंजंति**—शब्द का प्रयोग करता है।[2]

भानजे को राज्य सौंपने के पीछे रहस्य—उदायन राजा ने अभीचिकुमार के विषय में जिस राज्य को

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त)

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२३८

अनिष्टकर समझकर उसे नहीं सौंपा, वही राज्य अपने भानजे केशीकुमार को क्यों सौंपा ? इसका रहस्य वे ही जानें, या ज्ञानी जानें। परन्तु ऐसा सम्भव है कि भानजे को लघुकर्मी, अत्यधिक श्रद्धालु, विनीत, सम्यग्दृष्टिसम्पन्न एवं राज्य के प्रति अलिप्त समझ कर उसे राज्य सौंपा हो। तत्त्व केवलिगम्य है।

केशी राजा से अनुमत उदायन नृप के द्वारा त्यागवैराग्यपूर्वक प्रव्रज्याग्रहण, मोक्षगमन

२७. तए णं से उदायणे राया केसिं रायाणं आपुच्छइ।

[२७] तदनन्तर उदायन राजा ने (नवाभिषिक्त) केशी राजा से दीक्षा ग्रहण करने के विषय में अनुमति प्राप्त की।

२८. तए णं से केसी राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ एवं जहा जमालिस्स (स० ९ उ० ३३ सु० ४६-४७) तहेव सब्भिंतरबाहिरियं तहेव जाव निक्खमणाभिसेयं उवट्ठवेति।

[२८] तब केशी राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और (शतक ९, उ. ३३, सू. ४६-४७ में कथित) जमाली कुमार के समान नगर को भीतर-बाहर से स्वच्छ कराया और उसी प्रकार यावत् निष्क्रमणाभिषेक (दीक्षामहोत्सव) की तैयारी करने में लगा दिया।

२९. तए णं से केसी राया अणेगगणणायग० जाव परिवुडे उदायणं रायं सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेति, नि० २ अट्ठसएणं सोवण्णियाणं एवं जहा जमालिस्स (स० ९ उ० ३३ सु० ४९) जाव एवं वयासी—भण सामी ! किं देमो ? किं पयच्छामो ? किणा वा ते अट्ठो ? तए णं से उदायणे राया केसिं रायं एव वयासी—इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! कुत्तियावणाओ एवं जहा जमालिस्स (स० ९ उ० ३३ सु० ५०-५६); नवरं पउमावती अग्गकेसे पडिच्छइ पियविप्पयोगदूसह०।

[२९] फिर केशी राजा ने अनेक गणनायकों आदि से यावत् परिवृत होकर, उदायन राजा को उत्तम सिंहासन पर पूर्वाभिमुख आसीन किया और एक सौ आठ स्वर्ण-कलशों से उनका अभिषेक किया, इत्यादि सब वर्णन (शतक ९, उ. ३३, सू. ४९ में कथित) जमाली के (दीक्षाभिषेक के) समान कहना चाहिए, यावत् केशी राजा ने (यह सब होने के बाद करबद्ध हो कर) इस प्रकार कहा—'कहिये, स्वामिन् ! हम आपको क्या दें, क्या अर्पण करें, आपका क्या प्रयोजन (आदेश) है, (हमारे लिए) ?' इस पर राजा उदायन ने केशी राजा से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! कुत्रिकापण से हमारे लिए रजोहरण और पात्र मंगवाओ ! इत्यादि सब कथन (श. ९, उ. ३३ सू. ५०-५६ में उक्त) जमाली के वर्णनानुसार समझना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि प्रियवियोग को दु:सह अनुभव करने वाली रानी पद्मावती ने (उदायन नृप के स्मृतिचिह्नस्वरूप) उनके अग्रकेश ग्रहण किए।

३०. तए णं से केसी राया दोच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेति, दो० र० २ उदायणं राय सेयापीतएहिं कलसेहिं० सेसं जहा जमालिस्स (स० ९, उ० ३३, सु० ५७-६०) जाव सन्निसन्ने तहेव अम्मधाती, नवरं पउमावती हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय, सेसं तं चेव जाव सीयाओ पच्चोरुभति, सी० प० २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ समणं भवगं महावीरं तिक्खुत्तो

वंदति नमंसति, वं० २ उत्तपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमति, उ० अ० सयमेव आभरणमल्लालंकारं० तं चेव, पउमावती पडिच्छइ जाव घडियव्वं सामी ! जाव नो पमादेयव्वं ति कट्टु, केसी राया पउमावती य समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ जाव पडिगया।

[३०] तदनन्तर केशी राजा ने दूसरी बार उत्तरदिशा में (उनके लिए) सिंहासन रखवा कर उदायन राजा का पुनः श्वेत (चांदी के) और पीत (सोने के) कलशों से अभिषेक किया, इत्यादि शेष वर्णन (श. ९, उ. ३३ सू. ५७-६० में उक्त) जमाली के समान, यावत् वह (दीक्षाभिनिष्क्रमण के लिए) शिविका में बैठ गए। इसी प्रकार धायमाता (अम्बधात्री) के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ पद्मावती रानी हंसलक्षण (हंस के समान धवल या हंस के चित्र) वाले एक पट्टाम्बर को लेकर (शिविका में दक्षिणपार्श्व की ओर बैठी।) शेष वर्णन जमाली के वर्णनानुसार है, यावत् वह उदायन राजा शिविका से नीचे उतरा और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके समीप आया तथा भगवान् को तीन बार वन्दना-नमस्कार कर उत्तरपूर्व दिशा (ईशानकोण) में गया। वहाँ उसने स्वयमेव आभूषण, माला, और अलंकार उतारे इत्यादि वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। उन (उतारे गए आभूषण, माला, अलंकार, केश आदि) को पद्मावती देवी (रानी) ने रख लिया। यावत् वह (उदायन मुनि से) इस प्रकार बोली—'स्वामिन् ! संयम में प्रयत्नशील रहें, यावत् प्रमाद न करें'—यों कह कर केशी राजा और पद्मावती रानी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और अपने स्थान को वापस चले गए।

३१. तए णं उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं०, सेसं जहा उसभदत्तस्स (स० ९, उ० ३३, सु० १६) जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।

[३१] इसके पश्चात् उदायन राजा (मुनि-वेषी) ने स्वयं पंचमुष्टिक लोच किया। शेष वृत्तान्त (श. ९, उ. ३३, सू. १६ में कथित) ऋषभदत्त की वक्तव्यता के अनुसार यावत्—(दीक्षित होकर उदायन मुनि संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं) सर्वदुःखों से रहित हो गए; (यहाँ तक कहना चाहिए।)

विवेचन—प्रस्तुत ५ सूत्रों (२७ से ३१ सू. तक) में केशी राजा द्वारा उदायन नृप का निष्क्रमणाभिषेक, उदायन का शिविका से भगवान् की सेवा में गमन, दीक्षाग्रहण तथा तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए क्रमशः मोक्षगमन का प्रायः अतिदेशपूर्वक वर्णन है।

कठिन शब्दार्थ—निक्खमणाभिसेयं—निष्क्रमण—प्रव्रज्या के लिए गृहत्याग करके निकलने के निमित्त अभिषेक निष्क्रमणाभिषेक है। **सोवण्णियाणं**—स्वर्णनिर्मित कलशों से। **कुत्तियावणाओ**—कुत्रिकापण—त्रिभुवनवर्ती वस्तु की प्राप्ति के स्थानरूप दुकान से। **पिय-विप्पयोग-दूसहा**—जिसको प्रियवियोग दुःसह है। **रयावेइ**—रखवाया। **सेयापीयएहिं**—सफेद (चांदी के) और पीले (सोने के)कलशों से। **पटसाडगं**—पट-शाटक, रेशमी वस्त्र। **घडियव्वं**—तप संयम में चेष्टा (प्रयत्न) करें।[१]

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२४१

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका) भा. ११, पृ. ५०

राज्य-अप्राप्तिनिमित्त में वैरानुबद्ध अभीचिकुमार का वीतिभय नगर छोड़कर चम्पानगरी में निवास

३२. तए णं तस्स अभीयिस्स कुमारस्स अन्नदा कदायि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं उदायणस्स पुत्ते पभावतीए देवीय अत्तए, तए णं से उदायणे राया ममं अवहाय नियगं भागिणेज्जं केसिकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ जाव पव्वइए'। इमेण एतारूवेणं महता अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे अंतेपुरपरियालसंपरिवुडे संभडमत्तोवगरणमयाए वीतिभयाओ नगराओ निग्गच्छति, नि० २ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव चंपा नगरी जेणेव कूणिए राया तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवा० २ कूणियं रायं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। इत्थ वि णं से विउलभोगसमिति-सम्मन्नागए यावि होत्था।

[३२] तत्पश्चात् (उदायन राजा के प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद) किसी दिन रात्रि के पिछले पहर में कुटुम्ब-जागरण करते हुए (उदायनपुत्र) अभीचि कुमार के मन में इस प्रकार का विचार यावत् उत्पन्न हुआ—'मैं उदायन राजा का (औरस) पुत्र और प्रभावती देवी का आत्मज हूँ। फिर भी (मेरे पिता) उदायन राजा ने मुझे छोड़कर अपने भानजे केशीकुमार को राजसिंहासन पर स्थापित कर श्रमण भगवान् महावीर के पास' यावत् प्रव्रज्या ग्रहण की है।' इस प्रकार के इस महान् अप्रतीति-(अप्रीति)-रूप मनो-मानसिक (आन्तरिक) दुःख से अभिभूत (पीडित) बना हुआ अभीचि कुमार अपने अन्तःपुर-परिवार-सहित अपने भण्डमात्रोपकरण (समस्त भाजन, शय्यादि सामग्री) को लेकर वीतिभय नगर से निकल गया और अनुक्रम से गमन करता और ग्रामानुग्राम चलता हुआ (एक दिन) चम्पा नगरी में कूणिक राजा के पास पहुँचा। कूणिक राजा से मिलकर उसका आश्रय ग्रहण करके (वहाँ) रहने लगा। यहाँ भी वह विपुल भोग-सामग्री से सम्पन्न हो गया।

विवेचन—उदायन के प्रति वैरानुबन्ध—उदायन राजा द्वारा अपने पुत्र को छोड़कर भानजे को राज्याभिषिक्त करके प्रव्रजित होने के कारण अभीचि कुमार उदायन राजा के अपने प्रति कल्याणकारी शुभभावों को न समझ कर गलतफहमी से उनके प्रति रोषवश अपने अन्तःपुर एवं समस्त साधन-सामग्री को लेकर वहाँ से कूच करके चम्पापुरी में कूणिक राजा के पास पहुँचा और उसके आश्रित रहने लगा। इस प्रकार अभीचि कुमार की वैरानुबन्धिनी मनोवृति का प्रस्तुत सूत्र में निरूपण किया गया है।

कठिन शब्दार्थ—अवहाय—छोड़ कर। **अप्पत्तिएण**—अप्रतीतिकर या अप्रीतिजन्य। **मणोमाण-सिएणं—दुक्खेणं**—मन के आन्तरिक दुःख से। **अंतेपुर-परियालसंपरिवुडे**—अन्तःपुर-परिवार से परिवृत्त (युक्त) हो कर। **सभंड-मत्तोवगरणमायाए**—भाण्ड मात्र (बर्तन) सहित उपकरण (समस्त साधन सामग्री) लेकर। **उवसंपज्जित्ताणं**—अधीनता (आश्रय) स्वीकार कर। **विउल-भोग समिति समन्नागए**—प्रचुर भोग सामग्री से सम्पन्न।[१]

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२४४

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२१

श्रमणोपासक धर्मरत अभीचि को वैरविषयक आलोचन-प्रतिक्रमण न करने से असुरकुमारत्व प्राप्ति

३३. तए णं से अभीयी कुमारे समणोवासए यावि होत्था, अभिगय० जाव विहरति। उदायणम्मि रायरिसिम्मि समणुबद्धवेरे यावि होत्था।

[३३] उस समय (चम्पा नगरी में रहते-रहते कालान्तर में) अभीचि कुमार श्रमणोपासक बना। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता यावत् (बन्ध-मोक्षकुशल हो कर) जीवनयापन करता था। (श्रमणोपासक होने पर भी अभीचि कुमार) उदायन राजर्षि के प्रति वैर के अनुबन्ध से युक्त था।

३४. तेणं कालेणं तेणं समएणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु चोसट्ठिं असुर-कुमारावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[३४] उस काल, उस समय में (भगवान् महावीर ने) इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों के परिपार्श्व में असुरकुमारों के चौसठ लाख असुरकुमारावास कहे हैं।

३५. तए णं अभीयी कुमारे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणति, पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ, छे० २ तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु चोयट्ठीए आतावा जाव सहस्सेसु अण्णतरंसि आतावाअसुरकुमारावासंसि आतावाअसुरकुमारदेवत्ताए उववन्ने।

[३५] उस अभीचि कुमार ने बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय का पालन किया और उस (अन्तिम) समय में अर्द्धमासिक संल्लेखना से तीस भक्त अनशन का छेदन किया। उस समय (उदायन राजर्षि के प्रति पूर्वोक्त वैरानुबन्धरूप पाप-) स्थान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना मरण के समय कालधर्म को प्राप्त करके (अभीचि कुमार) इस रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों के निकटवर्ती चौसठ लाख आताप नामक असुरकुमारावासों में से किसी आताप नामक असुरकुमारावास में आतापरूप असुरकुमार देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

३६. तत्थ णं अत्थेगइयाणं आतावगाणं असुरकुमाराणं देवाणं एवं पलिओवमं ठिती पन्नत्ता। तत्थ णं अभीयिस्स वि देवस्स एगं पलिओवमं ठिती पन्नत्ता।

[३६] वहाँ कई आताप-असुरकुमार देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही गई है। वहाँ अभीचि देव की स्थिति भी एक पल्योपम की है।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ३३ से ३६ तक) में अभीचि कुमार के श्रमणोपासक होने पर उदायन राजर्षि के वैरानुबद्ध होने तथा उस पापस्थान की अन्तिम समय में आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही अर्द्धमासिक अनशनपूर्वक काल करने से आताप-असुरकुमारों में से पल्योपम की स्थिति वाले देव बनने का वर्णन किया है।

देवलोकच्च्यवनान्तर अभीचि को भविष्य में मोक्षप्राप्ति

३७. से णं भंते ! अभीयी देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेरसमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ १३-६ ॥

[३७ प्र.] भगवन् ! वह अभीचि देव उस देवलोक से आयु-क्षय, भव-क्षय और स्थिति-क्षय होने के अनन्तर उद्वर्त्तन (मर) करके कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[३७ उ.] गौतम ! वह वहाँ ये च्यव कर महाविदेह-वर्ष (क्षेत्र) में (जन्म लेगा) सिद्ध होगा, यावत् सर्वदु:खों का अन्त करेगा।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अभीचि देव के असुरकुमार-पर्याय से च्यवन के बाद भविष्य में महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यजन्म पा कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का प्रतिपादन किया है।

॥ तेरहवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

OOO

सत्तमो उद्देसओ : भासा

सप्तम उद्देशक : भाषा, (मन आदि एवं मरण)

भाषा के आत्मत्व, रूपित्व, अचित्तत्व, अजीवत्वस्वरूप का निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (श्रमण भगवान् महावीर से) यावत् (गौतमस्वामी ने) इस प्रकार पूछा—

२. आया भंते ! भासा, अन्ना भासा ? गोयमा! नो आता भासा, अन्ना भासा।

[२ प्र.] भगवन् ! भाषा आत्मा (जीवरूप) है या अन्य (आत्मा से भिन्न पुद्गलरूप) है ?

[२ उ.] गौतम ! भाषा आत्मा नहीं है, (वह) अन्य (आत्मा से भिन्न पुद्गलरूप) है।

३. रूविं भंते ! भासा, अरूविं भासा ? गोयमा ! रूविं भासा, नो अरूविं भासा।

[३ प्र.] भगवन् ! भाषा रूपी है या अरूपी है ?

[३ उ.] गौतम ! भाषा रूपी है, वह अरूपी नहीं है।

४. सचित्ता भंते ! भासा, अचित्ता भासा ? गोयमा ! नो सचित्ता भासा, अचित्ता भासा।

[४ प्र.] भगवन् ! भाषा सचित्त (सजीव) है या अचित्त है ?

[४. उ.] गौतम ! भाषा सचित्त नहीं है, अचित्त (निर्जीव) है।

५. जीवा भंते ! भासा, अजीवा भासा ? गोयमा ! नो जीवा भासा, अजीवा भासा।

[५ प्र.] भगवन् ! भाषा जीव है, अथवा अजीव है ?

[५ उ.] गौतम! भाषा जीव नहीं है, वह अजीव है।

भाषा : जीवों की, अजीवों की नहीं

६. जीवाणं भंते ! भासा, अजीवाणं भासा? गोयमा ! जीवाणं भासा, नो अजीवाणं भासा।

[६ प्र.] भगवन् ! भाषा जीवों के होती है या अजीवों के होती है ?

[६ उ.] गौतम ! भाषा जीवों के होती है, अजीवों के भाषा नहीं होती।

बोले जाते समय ही भाषा, अन्य समय में नहीं

७. पुव्विं भंते ! भासा, भासिज्जमाणी भासा, भासासमयवीतिक्कंता भासा ?

गोयमा ! नो पुव्विं भासा, भासिज्जमाणी भासा, नो भासासमयवीतिक्कंता भासा।

[७ प्र.] भगवन् ! (बोलने से) पूर्व भाषा कहलाती है या बोलते समय भाषा कहलाती है, अथवा बोलने का समय बीत जाने के पश्चात् भाषा कहलाती है ?

[७ उ.] गौतम ! बोलने से पूर्व भाषा नहीं कहलाती, बोलते समय भाषा कहलाती है; किन्तु बोलने का समय बीत जाने के बाद भी भाषा नहीं कहलाती है।

भाषा-भेदन : बोलते समय ही

८. पुव्विं भंते ! भासा भिज्जइ, भासिज्जमाणी भाषा भिज्जइ, भासासमयवीतिक्कंता भासा भिज्जइ ?

गोयमा ! नो पुव्विं भासा भिज्जइ, भासिज्जमाणी भासा भिज्जइ, नो भासासमयवीतिक्कंता भासा भिज्जइ।

[८ प्र.] भगवन् ! (बोलने से) पूर्व भाषा का भेदन होता है, या बोलते समय भाषा का भेदन होता है, अथवा भाषण (बोलने) का समय बीत जाने के बाद भाषा का भेदन होता है ?

[८ उ.] गौतम! (बोलने से) पूर्व भाषा का भेदन (बिखरना) नहीं होता, बोलते समय भाषा का भेदन (बिखराव एवं फैलाव) होता है, किन्तु बोलने का समय बीत जाने पर भाषा का भेदन नहीं होता।

चार प्रकार की भाषा

९. कतिविधा णं भंते ! भासा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा भासा पण्णत्ता, जहा—सच्चा मोसा सच्चामोसा असच्चामोसा।

[९ प्र.] भगवन् ! भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[९ उ.] गौतम ! भाषा चार प्रकार की कही गई है। यथा—सत्य भाषा, असत्य भाषा, सत्यामृषा (मिश्र) भाषा और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा।

विवेचन—भाषाविषयक प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत ९ सूत्रों में (सू. १ से ९ तक) में भाषा के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं।

भाषा आत्मा क्यों नहीं ?—भाषा आत्मा है या इससे भिन्न ?, यह प्रश्न इसलिए उठाया गया है कि जिस प्रकार ज्ञान आत्मा (जीव) से कथंचित् पृथक् होते हुए भी जीव का स्वभाव (धर्म) होने से उसे आत्मा (जीव) कहा गया है, इसी प्रकार भाषा भी जीव के द्वारा व्यापृत होती (बोली जाती है) तथा वह जीव के बन्ध एवं मोक्ष का कारण होती है, इसलिए जीव स्वभाव (आत्मा का धर्म) होने से क्या उसे आत्मा नहीं कहा जा सकता ? अथवा भाषा श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य होने से मूर्त होने के कारण आत्मा से भिन्न है, अर्थात्—जीवस्वरूप नहीं है ? यह प्रश्न का आशय है। इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि भाषा आत्मरूप (जीवस्वभाव) नहीं है, क्योंकि यह पुद्गलमय-मूर्त होने से आत्मा से भिन्न है। जैसे जीव के द्वारा फैंका गया ढेला आदि जीव से भिन्न—अचेतन है, वैसे ही जीव के द्वारा (मुख से) से निकली हुई भाषा भी जीव से भिन्न अचेतन है।

पहले यह कहा गया था कि भाषा जीव के द्वारा व्यापृत होती है, इसलिए ज्ञान के समान जीवरूप होनी चाहिए, किन्तु यह कथन दोषयुक्त है, क्योंकि जीव का व्यापार जीव से अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले दात्र (हंसिये) आदि में भी देखा जाता है।

भाषा रूपी है या अरूपी ? प्रश्नोत्तर का आशय—कान के आभूषण के समान भाषा द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय का उपकार और उपघात है, इसलिए क्या वह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से रूपी है ? अथवा जैसे धर्मास्तिकाय आदि चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते, इस कारण अरूपी कहलाते हैं, इसी प्रकार भाषा भी चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य न होने से क्या अरूपी नहीं कही जा सकती ? ; यह प्रश्न का आशय है। इसके उत्तर में कहा गया है कि भाषा रूपी है। भाषा को अरूपी सिद्ध करने के लिए जो चक्षु-अग्राह्यत्व रूप हेतु दिया गया है, वह दोषयुक्त है, क्योंकि चक्षु द्वारा अग्राह्य होने से ही कोई अरूपी नहीं होता। जैसे वायु, परमाणु, और पिशाच आदि रूपी होते हुए भी चक्षु-ग्राह्य नहीं होते।

भाषा सचित्त क्यों नहीं ?—जीवित प्राणी के शरीर की तरह भाषा अनात्मरूपा होते हुए भी सचित्त (सजीव) क्यों नहीं कही जा सकती ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि भाषा सचित्त नहीं है, वह जीव के द्वारा निसृष्ट कफ, लींट आदि के समान पुद्‌गलसमूह रूप होने से अचित्त है।

भाषा जीव क्यों नहीं ?—जो जीव होता है, वह उच्छ्‌वास आदि प्राणों को धारण करता है, किन्तु भाषा में उच्छवासादि प्राणों का अभाव है, इसलिए वह जीवरूप नहीं है, अजीवरूप है।

भाषा जीवों के होती है, अजीवों के नहीं : प्रश्नोत्तर का आशय—कुछ लोग वेदों (ऋग, यजुः, साम एवं अथर्व, इन चार वेदों) की भाषा को अपौरूषेयी (पुरुषप्रयत्न-रहित) मानते हैं, उनकी मान्यता को ध्यान में रख कर यह प्रश्न किया गया है कि "भाषा जीवों के होती है या अजीवों के भी होती है ?" इसके उत्तर में कहा गया है कि भाषा जीवों के ही होती है; क्योंकि वर्णों का समूह 'भाषा' कहलाता है और वर्ण, जीव के कण्ठ, तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न होते हैं। कण्ठ, तालु आदि का व्यापार जीव में ही पाया जाता है। इसलिए भाषा जीवप्रयत्नकृत होने से जीव के ही होती है। यद्यपि ढोल, मृदंग आदि अजीव वाद्यों से या पत्थर, लकड़ी आदि अजीव पदार्थों से भी शब्द उत्पन्न होता है, किन्तु वह भाषा रूप नहीं होता। जीव के भाषा-पर्याप्ति से जन्य शब्द को ही भाषा रूप माना गया है।

बोलने से पूर्व और पश्चात् भाषा क्यों नहीं—जिस प्रकार पिण्ड अवस्था में रही हुई मिट्टी घड़ा नहीं कहलाती, इसी प्रकार बोलने से पूर्व भाषा नहीं कहलाती है। जिस प्रकार घड़ा फूट जाने के बाद ठीकरे की अवस्था में घड़ा नहीं कहलाता, उसी प्रकार भाषा का समय व्यतीत हो जाने पर (यानी बोलने के बाद) भाषा नहीं कहलाती। जिस प्रकार घट अवस्था में विद्यमान ही घट कहलाता है, उसी प्रकार बोली जा रही—मुँह से निकलती हुई अवस्था में ही भाषा कहलाती है।[१]

बोलने से पूर्व और पश्चात् भाषा का भेदन क्यों नहीं—बोलने से पूर्व भाषा का भेदन कैसे होगा ? क्योंकि जब शब्द-द्रव्य नहीं निकले तो भेदन किनका होगा ? तथा भाषा का समय व्यतीत हो जाने पर भाषा का

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२१-६२२

भेदन नहीं होता, क्योंकि तब तक शब्द भाषापरिणाम को छोड़ देते हैं। अतः बोले जाने के पश्चात् वक्ता का उत्कृष्ट प्रयत्न न होने से भाषा का भेदन नहीं हो पाता। भाषा का भेदन तभी तक होता है जब तक शब्द-परिणाम की अवस्था रहती है। वहीं तक भाषा में भाष्यमाणता (बोली जाती हुई भाषा का भाषापन) समझना चाहिए। आशय यह है कि जब कोई वक्ता मन्द प्रयत्न वाला होता है तो वह अपने मुख से अभिन्न शब्दद्रव्यों को निकालता है। वे निकले हुए शब्दद्रव्य असंख्येय एवं अतिस्थूल होने के बाद उनका भेदन होता है। भिन्न होते हुए वे शब्दद्रव्य संख्येय योजन जाकर शब्दपरिणाम का त्याग कर देते हैं। यदि कोई वक्ता महाप्रयत्न वाला होता है तो आदान-विसर्ग रूप (ग्रहण करने और छोड़ने रूप) दोनों प्रयत्नों से भेदन करके ही शब्दद्रव्यों को त्यागता है। त्यागे हुए वे शब्दद्रव्य सूक्ष्म एवं बहुत होने से अनन्तगुणवृद्धि से बढ़ते हुए छहों दिशाओं में लोक के अन्त तक जा पहुँचते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि बोली जा रही भाषा का ही भेदन होता है।

मनः आत्मा मन नहीं, जीव का है, मनन करते समय ही मन तथा भेदन

१०. आया भंते ! मणे, अन्ने मणे ?

गोयमा ! नो आया मणे, अन्ने मणे।

[१० प्र.] भगवन् ! मन आत्मा है, अथवा आत्मा से भिन्न ?

[१० उ.] गौतम ! आत्मा मन नहीं है। मन (आत्मा) अन्य (भिन्न) है; इत्यादि।

११. जहा भासा तहा मणे वि जाव नो अजीवाणं मणे।

[११] जिस प्रकार भाषा के विषय में (विविध प्रश्नोत्तर कहे गए) उसी प्रकार मन के विषय में भी यावत्—अजीवों के मन नहीं होता; (यहाँ तक) कहना चाहिए।

१२. पुव्विं भंते ! मणे, मणिज्जमाणे मणे ?०

एवं जहेव भासा।

[१२ प्र.] भगवन् ! (मनन से) पूर्व मन कहलाता है, या मनन के समय मन कहलाता है, अथवा मनन का समय बीत जाने पर मन कहलाता है ?

[१२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में कहा, उसी प्रकार (मन के विषय में भी कहना चाहिए।)

१३. पुव्विं भंते ! मणे भिज्जइ, मणिज्जमाणे मणे भिज्जइ, मणसमयवीतिक्कंते मणे भिज्जइ ?

एवं जहेव भासा।

[१३ प्र.] भगवन् ! (मनन से) पूर्व मन का भेदन (विदलन) होता है, अथवा मनन करते हुए मन का

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२४१

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२२

भेदन होता है, या मनन-समय व्यतीत हो जाने पर मन का भेदन होता है ?

[१३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार भाषा के भेदन के विषय में कहा गया, उसी प्रकार मन के भेदन के विषय में कहना चाहिए।

मन के चार प्रकार

१४. कतिविधे णं भंते ! मणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे मणे पण्णत्ते, तं जहा—सच्चे, जाव असच्चामोसे।

[१४ प्र.] भगवन् ! मन कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१४ उ.] गौतम ! मन चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) सत्यमन, (२) मृषामन, (३) सत्यमृषा-(मिश्र) मन और (४) असत्यामृषा (व्यवहार) मन।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १० से १४ तक) में भाषा के समान मन के विषय में शंका उठा कर उसी प्रकार समाधान किया गया है। अर्थात्—मन सम्बन्धी समस्त सूत्रों का विवेचन भाषा-सम्बन्धी सूत्रों के समान जानना चाहिए।

मन : स्वरूप और उसका भेदन—मनोद्रव्य का जो समुदाय मनन-चिन्तन करने में उपकारी होता है तथा जो मन:पर्याप्ति नामकर्म के उदय से सम्पादित है, उसे मन कहते हैं। वास्तव में मन एक ही है। मन का भेदन मन का विदलन मात्र ही समझना चाहिए। वर्तमान युग की भाषा में कहा जा सकता है कि मन जब चिन्तन, मनन, स्मरण, निर्णय, निदिध्यासन, संकल्प, विकल्प आदि भिन्न-भिन्न रूप में करता है, तब उसका विदलन होता है।[१]

मणिज्जमाणे : अर्थ—मनन करते हुए या मनन के समय।[२]

काय : आत्मा है या अन्य ? रूपी-अरूपी है, सचित्त-अचित्त है, जीवाजीव है ?

१५. आया भंते ! काये, अन्ने काये ?

गोयमा ! आया वि काये, अन्ने वि काये।

[१५ प्र.] भगवन् ! काय (शरीर) आत्मा है, अथवा अन्य (आत्मा से भिन्न) है ?

[१५ उ.] गौतम ! काय आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न (अन्य) भी है।

१६. रूविं भंते ! काये पुच्छा ?

गोयमा ! रूविं पि काये, अरूविं पि काये।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२२

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२५२

२. वही, भाग ५ पृ. २२५१

[१६ प्र.] भगवान् ! काय रूपी है अथवा अरूपी ?

[१६ उ.] गौतम ! काय रूपी भी है और अरूपी भी है।

१७. एवं सचित्ते वि काए, अचित्ते वि काए।

[१७] इसी प्रकार काय सचित्त भी है और अचित्ते भी है।

१८. एवं एक्केक्के पुच्छा। जीवो वि काये, अजीवे वि काए।

[१८ प्र.] इसी प्रकार (भाषा की तरह यहाँ भी) क्रमशः एक-एक प्रश्न करना चाहिए। (उनके उत्तर इस प्रकार हैं—)

[१८ उ.] काय जीवरूप भी है और अजीवरूप भी है।

जीव-अजीव दोनों कायरूप

१९. जीवाण वि काये, अजीवाण वि काए।

[१९] काय जीवों के भी होता है, अजीवों के भी होता है।

त्रिविध जीवरूप को लेकर कायनिरूपण-कायभेदनिरूपण

२०. पुव्विं भंते ! काये० ? पुच्छा।

गोयमा ! पुव्विं पि काए, कायिज्जमाणे वि काए, कायसमयवीतिक्कंते वि काये।

[२० प्र.] भगवन् ! (जीव का सम्बन्ध होने से) पूर्व काया होती है, (अथवा कायिकपुद्गलों) के चीयमान (ग्रहण) होतें समय काया होती है या काया-समय (कायिकपुद्गलों के ग्रहण का समय) बीत जाने पर भी काया होती है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[२० उ.] गौतम ! (जीव का सम्बन्ध होने से) पूर्व भी काया होती है, चीयमान (कायिक पुद्गलों के ग्रहण) होते समय भी काया होती है और काया-समय (कायिकपुद्गल-ग्रहण का समय) बीत जाने पर भी काया होती है।

२१. पुव्विं भंते ! काये भिज्जइ ? ० पुच्छा।

गोयमा ! पुव्विं पि काए भिज्जइ जाव कायसमयवीतिक्कंते वि काये भिज्जति।

[२१ प्र.] भगवन् ! (क्या जीव के द्वारा कायरूप से ग्रहण करने के समय से) पूर्व भी काया का भेदन होता है ? (अथवा कायारूप से पुद्गलों का ग्रहण करते समय काया का भेदन होता है ? या काया-समय बीत जाने पर काया का भेदन होता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।)

[२१ उ.] गौतम ! (जीव के द्वारा कायरूप से ग्रहण करने के समय से) पूर्व भी काया का भेदन होता है, जीव के द्वारा काया के पुद्गलों का ग्रहण (चय) होते समय भी काया का भेदन होता है और काय-समय बीत

जाने पर भी काय का भेदन होता है।

काया के सात भेद

२२. कतिविधे णं भंते ! काये पन्नत्ते ?

गोयमा ! सत्तविधे काये पन्नत्ते, तं जहा—औरालिए औरालियमीसए वेउव्विए वेउव्वियमीसए आहारए आहारयमीसए कम्मए।

[२२ प्र.] भगवन् ! काय कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२२ उ.] गौतम ! काय सात प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रिय, (४) वैक्रियमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारमिश्र और (७) कार्मण।

विवेचन—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. १५ से २२ तक) में विभिन्न पहलुओं से काया के सम्बन्ध में शंका-समाधान प्रस्तुत किए गए हैं।

काय आत्मा भी और आत्मा से भिन्न भी—काय कथंचित् आत्मरूप भी है, क्योंकि काय के द्वारा कृत कर्मों का अनुभव (फलभोग) आत्मा को होता है। दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म का अनुभव दूसरा नहीं कर सकता। यदि ऐसा होगा तो अकृतागम (नहीं किये हुए कर्म के अनुभव-भोग) का प्रसंग आएगा। किन्तु यदि काया को आत्मा से एकान्ततः अभिन्न माना जाएगा तो काया का एक अंश से छेदन करने पर आत्मा के छेदन होने का प्रसंग आएगा, जो कभी सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मा को काया से अभिन्न मानने पर शरीर के जल जाने पर आत्मा भी जल कर भस्म हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में परलोकगमन करने वाला कोई आत्मा नहीं रहेगा। परलोक के अभाव का प्रसंग होगा। इसलिए काया को आत्मा से कथंचित् भिन्न माना गया। काया का आंशिक छेदन करने पर आत्मा को उसका पूर्ण संवेदन होता है, इस दृष्टि से काया कथंचित् आत्मरूप भी माना जाता है। जैसे सोना और मिट्टी, लोहे का पिण्ड और अग्नि अथवा दूध और पानी दोनों भिन्न-भिन्न होने पर भी मिल जाने पर दोनों अभिन्न-से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी काया के साथ संयोग होने से भिन्न होते हुए भी कथंचित् अभिन्न माना जाता है। यही कारण है कि काया को छूने पर आत्मा को उसका संवेदन होता है। काया द्वारा किये गए कार्यों का फल भवान्तर में आत्मा को भोगना (वेदन करना) पड़ता है। इसलिए काया को आत्मा से कथंचित् अभिन्न माना गया है। कुछ आचार्यों ने माना है कि कामर्णकाय की अपेक्षा से आत्मा काया है, क्योंकि कार्मणशरीर और संसारी आत्मा परस्पर एकरूप होकर रहते हैं तथा औदारिक आदि शरीरों की अपेक्षा से काया आत्मा से भिन्न है, क्योंकि शरीर छूटते ही आत्मा पृथक् हो जाती है, इस दृष्टि से काया से आत्मा की भिन्नता सिद्ध होती है।[१]

काया रूपी भी है, अरूपी भी है—औदारिक आदि शरीरों की स्थूलरूपता दृश्यमान होने से काया रूपी है और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म एवं अदृश्यमान होने से उसकी अपेक्षा से अरूपित्व की विवक्षा करने पर

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२३

काया कथञ्चित् अरूपी भी मानी जाती है।

काया सचित्त भी है, अचित्त भी—जीवित अवस्था में काया चैतन्य से युक्त होने के कारण सचित्त है और मृतावस्था में उसमें चैतन्य का अभाव होने से अचित्त भी है।

काया जीव भी है, अजीव भी—विवक्षित उच्छ्वास आदि प्राणों से युक्त होने से औदारिकादि शरीरों की अपेक्षा से काया जीव है और मृत होने पर उच्छ्वासादि प्राणों से रहित हो जाने पर वह अजीव भी है।

जीवों के भी काय होता है, अजीवों के भी—जीवों के काय (शरीर) होता है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। मिट्टी के लेप आदि से बनाई गई शरीर की आकृति अजीवकाय भी होती है।

काया पहले-पीछे भी और वर्तमान में भी—जीव का सम्बंध होने से पूर्व भी काया होती है, जैसे - मेंढक का मृत कलेवर। उसका भविष्य में जीव के साथ सम्बन्ध होने पर वह जीव का काय बन जाता है। वर्तमान में जीव के द्वारा उपचित किया जाता हुआ भी काय होता है। जैसे—जीवित शरीर। काय-समय व्यतीत हो जाने पर अर्थात् जीव के द्वारा कायरूप से उपचय करना बन्द हो जाने पर भी काय रहता है, जैसे मृत कलेवर।[१]

काया का भेदन पहले, पीछे और वर्तमान में भी—जिस घड़े में भविष्य में मधु रखा जाएगा, उसे मधुघट कहा जाता है। इसी प्रकार जीव के द्वारा कायरूप से ग्रहण करने के समय से पूर्व भी काय होता है। उस में प्रतिक्षण पुद्गलों का चय-अपचय होने से उस द्रव्यकाय का भेदन होता है। जीव के द्वारा कायारूप से ग्रहण करते समय भी काया का भेदन होता है, जैसे—बालू से भरी हुई मुट्ठी में से उसके कण प्रतिक्षण झड़ते रहते हैं, वैसे ही काया में से प्रतिक्षण पुद्गल झड़ते रहते हैं। जिस घड़े में घी रखा गया था, उसमें से घी निकाल लेने पर भी उसे 'घी का घड़ा' कहते हैं, वैसे ही काय-समय व्यतीत हो जाने पर भी भूतभाव की अपेक्षा से उसे काय कहा जाता है। भेदन होना पुद्गलों का स्वभाव है, इसलिए उस भूतपूर्व काय का भी भेदन होता है।[२]

चूर्णिकार के अनुसार व्याख्या—चूर्णिकार ने 'काय' शब्द का अर्थ—'समस्त पदार्थों का सामान्य चयरूप शरीर' किया है। उनके अनुसार आत्मा भी काय है, अर्थात् प्रदेश-संचयरूप है तथा काय प्रदेश-संचयरूप होने से आत्मा से भिन्न भी है। पुद्गलस्कन्धों की अपेक्षा से काय रूपी भी है और जीव-धर्मास्तिकायादि की अपेक्षा से काय अरूपी भी है। जीवित शरीर की अपेक्षा से काय सचित्त भी है और अचेतन संचय की अपेक्षा से काय अचित्त भी है। उच्छ्वासादि-युक्त अवयव-संचय की अपेक्षा से काय जीव है और उच्छ्वासादि अवयव-संचय के अभाव में काय अजीव भी है। जीवों के काय का अर्थ है—जीवराशि और अजीवों के काय का अर्थ है—परमाणु आदि की राशि। इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से काय से सम्बन्धित शेष पदों की व्याख्या समझ लेनी चाहिए।[३]

---

१. भगवती. अ. वृति, पत्र ६२३

२. (क) वही, पत्र ६२३

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५ पृ. २२५३

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२३

काय के सात प्रकारों का अर्थ—औदारिककाय—उदार अर्थात् प्रधान स्थूल पुद्गलस्कन्धरूप होने से औदारिक तथा उपचीयमान होने से काय कहलाता है। यह पर्याप्तक जीव के होता है। **औदारिकमिश्र**—औदारिकशरीर कार्मणशरीर के साथ मिश्र हो, तब औदारिकमिश्र होता है, यह अपर्याप्तक जीव के होता है। **वैक्रियकाय**—पर्याप्तक देवों आदि के होता है। **वैक्रियमिश्र**—वैक्रियशरीर कार्मण के साथ मिश्रित हो तब वैक्रियमिश्र होता है। यह अप्रतिपूर्ण वैक्रियशरीर वाले देव आदि के होता है। **आहारक**—आहारकशरीर निष्पन्न होने पर आहारककाय कहलाता है। **आहारकमिश्र**—आहारकशरीर का परित्याग करके औदारिक शरीर ग्रहण करने के लिए उद्यत मुनिराज के औदारिकशरीर के साथ मिश्रता होने से आहारकमिश्रकाय होता है। **कार्मणकाय**—विग्रहगति में अथवा केवलिसमुद्घात के समय कार्मणकायशरीर होता है।[१]

मरण के पांच प्रकार

२३. कतिविधे णं भंते ! मरणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे मरणे पन्नत्ते, तं जहा—आवीचियमरणे ओहिमरणे आतियंतियमरणे बालमरणे पंडियमरणे।

[२३ प्र.] भगवन् ! मरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२३ उ.] गौतम ! मरण पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) आवीचिकमरण, (२) अवधिमरण, (३) आत्यन्तिकमरण, (४) बालमरण और (५) पण्डितमरण।

विवेचन—पञ्चविध मरण के लक्षण—मरण की परिभाषा—आयुष्य पूर्ण होने पर आत्मा का शरीर से वियुक्त होना (छूटना) अथवा शरीर से प्राणों का निकल जाना तथा बन्धे हुए आयुष्यकर्म के दलिकों का क्षय होना 'मरण' कहलाता है। वह मरण पांच प्रकार का है। उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) **आवीचिकमरण**—वीचि (तरंग) के समान प्रतिसमय भोगे हुए अन्याय आयुष्यकर्मदलिकों के उदय के साथ-साथ क्षय रूप अवस्था आवीचिकमरण है; अथवा जिस मरण में वीचि-विच्छेद अविद्यमान रहे अर्थात्—विच्छेद न हो-आयुष्यकर्म की परम्परा चालू रहे, उसे आवीचिमरण कहा जा सकता है। **(२) अवधिमरण**—अवधि (मर्यादा)-सहित मरण। नरकादिभवों के कारणभूत वर्तमान आयुष्यकर्मदलिकों को भोग कर (एक बार) मर जाता है, यदि पुनः उन्हीं आयुष्यकर्मदलिकों को भोग कर मृत्यु प्राप्त करे, तब अवधिमरण कहलाता है। उन द्रव्यों की अपेक्षा से पुनर्ग्रहण की अवधि तक जीव मृत रहता है, इस कारण वह अवधिमरण कहलाता है। परिणामों की विचित्रता के कारण कर्मदलिकों को ग्रहण करके छोड़ देने के बाद पुनः उनका ग्रहण करना सम्भव होता है। **(३) आत्यन्तिकमरण**—अत्यन्तरूप से मरण आत्यन्तिकमरण है। अर्थात्—नरकादि आयुष्यकर्म के रूप में जिन कर्मदलिकों को एक बार भोग कर जीव मर जाता है, उन्हें फिर कभी नहीं भोगकर मरना। उन कर्मदलिकों की अपेक्षा से जीव का मरण आत्यन्तिकमरण कहलाता है। **(४) बालमरण**—अविरत (व्रतरहित)

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२४

प्राणियों का मरण। (५) **पण्डितमरण**—सर्वविरत साधुवर्ग का मरण।[1]

आवीचिमरण के भेद-प्रभेद और स्वरूप

२४. आवीचियमरणे णं भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—दव्वावीचियमरणे खेत्तावीचियमरणे कालावीचियमरणे भवावीचियमरणे भावावीचियमरणे।

[२४ प्र.] भगवन् ! आवीचिकमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२४ उ.] गौतम ! आवीचिकमरण पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) द्रव्यावीचिकमरण, (२) क्षेत्रावीचिकमरण, (३) कालावीचिकमरण, (४) भवावीचिकमरण और (५) भावावीचिकमरण।

२५. दव्वावीचियमरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—नेरइयदव्वावीचियमरणे तिरिक्खजोणियदव्वावीचियमरणे मणुस्सदव्वावीचियमरणे देवादव्वावीचियमरणे।

[२५ प्र.] भगवन् ! द्रव्यावीचिकमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२५ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है यथा—(१) नैरयिक-द्रव्यावीचिकमरण, (२) तिर्यग्योनिक-द्रव्यावीचिकमरण, (३) मनुष्य-द्रव्यावीचिकमरण और (४) देव-द्रव्यावीचिमरण।

२६. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई 'नेरइयदव्वावीचियमरणे, नेरइयदव्वावीचिथमरणे' ?

गोयमा! जं णं नेरइया नेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं नेरइयाउयत्ताए गहियाइं बद्धाइं पुट्ठाइं, कंडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिनिवट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं भवंति ताइं दव्वाइं आवीचि अणुसमयं निरंतर मरंतीति कट्टु, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ 'नेरइयदव्वावीचियमरणे, नेरइयदव्वावीचियमरणे'।

[२६ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-द्रव्यावीचिकमरण को नैरयिक-द्रव्यावीचिकमरण किसलिए कहते हैं ?

[२६ उ.] गौतम ! क्योंकि नारकद्रव्य (नारकजीव) रूप से वर्तमान नैरयिक ने जिन द्रव्यों को नारकायुष्य रूप में स्पर्श रूप से ग्रहण किया है, बन्धन रूप से बांधा है, प्रदेशरूप से प्रक्षिप्त कर पुष्ट किया है, अनुभाग रूप से विशिष्ट रसयुक्त किया है, स्थिति-सम्पादनरूप से स्थापित कियां है, जीवप्रदेशों में निविष्ट किया है, अभिनिविष्ट (अत्यन्त गाढरूप से निविष्ट), किया है तथा जो द्रव्य अभिसमन्वागत (उदयावलिका में आ गए) हैं, उन द्रव्यों को (भोग कर) वे प्रतिसमय निरन्तर छोड़ते (मरते) रहते हैं। इस कारण से हे गौतम ! नैरयिकों के द्रव्यआवीचिमरण को नैरयिक द्रव्यावीचिकमरण कहते हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२४

(ख) भगवती (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२६१

२७. एवं जाव देवदव्वावीचियमरणे।

[२७] इसी प्रकार (तिर्यञ्चयोनिक-द्रव्यावीचिकमरण, मनुष्य-द्रव्यावीचिकमरण) यावत् देव-द्रव्यावीचिकमरण के विषय में कहना चाहिए।

२८. खेत्तावीचियमरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—नेरइयखेत्तावीचियमरणे जाव देवखेत्तावीचियमरणे।

[२८ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रावीचिकमरण कितने प्रकार का कहा है ?

[२८ उ.] गौतम ! क्षेत्रावीचिकमरण चार प्रकार का कहा गया है। यथा—नैरयिक-क्षेत्रावीचिकमरण (तिर्यञ्चयोनिक-क्षेत्रावीचिकमरण, मनुष्य-क्षेत्रावीचिकमरण) यावत् देव-क्षेत्रावीचिकमरण।

२९. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नेरइयखेत्ताविचियमरणे, नेरइयखेत्तावीचियमरणे' ?

गोयमा ! जं णं नेरइया नेरइयखेत्ते वट्टमाणा जाइं दव्वाइं नेरइयाउयत्ताए एवं जहेव दव्वावीचियमरणे तहेव खेत्तावीचियमरणे वि।

[२९ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-क्षेत्रावीचिकमरण नैरयिक-क्षेत्रावीचिकमरण क्यों कहा जाता है ?

[२९ उ.] गौतम! नैरयिक क्षेत्र में रहे हुए (वर्तमान) जिन द्रव्यों को नारकायुष्यरूप में नैरयिकजीव ने स्पर्शरूप से ग्रहण किया है, यावत् उन द्रव्यों को (भोग कर) वे प्रतिसमय निरन्तर छोड़ते (मरते) रहते हैं। (इस कारण से है गौतम ! नैरयिक-क्षेत्रावीचिकमरण को नैरयिक-क्षेत्रावीचिकमरण कहा जाता है;) इत्यादि सब कथन द्रव्यावीचिकमरण के समान क्षेत्रावीचिकमरण के विषय में भी करना चाहिए।

३०. एवं जाव भावावीचियमरणे।

[३०] इसी प्रकार (कालावीचिकमरण, भवावीचिकमरण), भावावीचिकमरण तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. २४ से ३० तक) में आवीचिकमरण के प्रकार तथा उनके प्रत्येक के भेद एवं स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

आवीचिकमरण के भेद-प्रभेद—आवीचिकमरण के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की अपेक्षा से पांच भेद किये हैं। फिर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इसी प्रकार चार गतियों की अपेक्षा से प्रत्येक के चार-चार भेद किये हैं।[१]

नैरयिक-कालावीचिकमरण—नैरयिक नैरयिक काल में रहते हुए जिन आयुष्यकर्मों को स्पर्शादि करके भोगकर छोड़ते हैं, फिर नये कर्मदलिक उदय में आते हैं, उन्हें भोगकर छोड़ते जाते हैं, इस प्रकार का क्रम निरन्तर चलता रहता हो, उसे नैरयिक-कालावीचिकमरण कहते हैं।[२]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२५

नैरयिक भवावीचिकमरण—इसी प्रकार नैरयिक-भव में रहते हुए वे जिन आयुष्यकर्मों का बन्धन आदि करके भोगते हैं और छोड़ते हैं, वह नैरयिक-भवावीचिकमरण कहलाता है।[१]

कठिन शब्दों के अर्थ—णेरइएदव्वे-वट्टमाणा—नारकरूप (नारक जीव रूप) से वर्तमान (रहते हुए)। **नेरइयाउयत्ताए**—नैरयिक—आयुष्य रूप से। **गहियाइं**—गृहीत-स्पर्शरूप से ग्रहण किये। **बद्धाइं**—बंधनरूप से बांधे। **पुट्ठाइं**—प्रदेश-प्रक्षिप्त करके पुष्ट किये। **पट्ठवियाइं**—स्थितिरूप से स्थापित किये। **निविट्ठाइं**—जीवप्रदेशों में प्रविष्ट किये। **अभिनिविट्ठाइं**—जीवप्रदेशों में अत्यन्त गाढरूप से निविष्ट किये। **अभिसमण्णागयाइं**—उदयावलिका में आ गए अर्थात् उदयाभिमुख बने हुए। **मरंति**—छोड़ते हैं, भोग कर मरते हैं। **अणुसमयं**—प्रतिसमय। **निरंतरं**—बिना व्यवधान के।[२]

अवधिमरण के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप

३१. ओहिमरणे णं भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वोहिरणे खेत्तोहिमरणे जाव भावोहिमरणे।

[३१ प्र.] भगवन् ! अवधिमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३१ उ.] गौतम ! अवधिमरण पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—द्रव्यावधिमरण, क्षेत्रावधिमरण (कालावधिमरण, भवावधिमरण और) यावत् भावावधिमरण।

३२. दव्वोहिमरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—नेरइयदव्वोहिमरणे जाव देवदव्वोहिमरणे।

[३२ प्र.] भगवन् ! द्रव्यावधिमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३२ उ.] गौतम ! द्रव्यावधिमरण चार प्रकार का कहा गया है, यथा—नैरयिक-द्रव्यावधिमरण, यावत् (तिर्यञ्चयोनिक-द्रव्यावधिमरण, मनुष्य-द्रव्यावधिमरण), देवद्रव्याधिमरण।

३३. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नेरइयदव्वोहिमरणे, नेरइयदव्वोहिमरणे' ?

गोयमा ! जं णं नेरइया नेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपयं मरंति, ते णं नेरइया ताइं दव्वाइं अणागते काले पुणो वि मरिस्संति। से तेणेट्ठेणं गोयमा ! जाव दव्वोहिमरणे।

[३३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-द्रव्यावधिमरण नैरयिक-द्रव्यावधिमरण क्यों कहलाता है ?

[३३ उ.] गौतम ! नैरयिकद्रव्य (नारक जीव) के रूप में रहे हुए नैरयिक जीव जिन द्रव्योंको इस (वर्तमान) समय में छोड़ते (भोग कर मरते) हैं, फिर वे ही जीव पुन: नैरयिक हो कर उन्हीं द्रव्यों को ग्रहण कर भविष्य में फिर छोड़ेंगे (मरेंगे); इस कारण हे गौतम ! नैरयिक द्रव्यावधिमरण नैरयिक-द्रव्यावधिमरण कहलाता है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२५ का सारांश

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२५

३४. एवं तिरिक्खजोणिय० मणुस्स० देवोहिमरणे वि।

[३४] इसी प्रकार तिर्यञ्चयोनिक-द्रव्यावधिमरण, मनुष्य-द्रव्यावधिमरण और देव-द्रव्यावधिमरण भी कहना चाहिए।

३५. एवं एएणं गमएणं खेत्तोहिमरणे वि, कालोहिमरणे वि, भवोहिमरणे वि, भावोहिमरणे वि।

[३५] इसी प्रकार के आलापक क्षेत्रावधिमरण, कालावधिमरण, भवावधिमरण और भावावधिमरण के विषय में भी कहने चाहिए।

विवेचन—अवधिमरण के भेद-प्रभेद—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ३१ से ३५ तक) में अवधिमरण के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की अपेक्षा से पांच भेद किये हैं, फिर उनके भी प्रत्येक के नैरयिक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य और देव, यों गति की अपेक्षा से चार-चार भेद किये हैं।

आत्यन्तिकमरण के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप

३६. आतियंतियमरणे णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वातियंतियमरणे, खेत्तातियंतियमरणे, जाव भावातियंतिमरणे।

[३६ प्र.] भगवन् ! आत्यन्तिकमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३६ उ.] गौतम ! आत्यन्तिकमरण पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—द्रव्यात्यन्तिकमरण, क्षेत्रात्यन्तिकमरण यावत् भावात्यन्तिकमरण।

३७. दव्वातियंतियमरणे णं भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, जहा—नेरइयदव्वातियंतियमरणे जाव देवदव्वातियंतियमरणे।

[३७ प्र.] भगवन् ! द्रव्यात्यन्तिकमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३७ उ.] गौतम ! द्रव्यात्यन्तिकमरण चार प्रकार का कहा गया है। यथा—नैरयिक-द्रव्यात्यन्तिकमरण यावत् देव-द्रव्यात्यन्तिकमरण।

३८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'नेरइयदव्वातियंतियमरणे, नेरइयदव्वातियंतियमरणे' ?

गोयमा ! जं णं नेरइया नेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपतं मरंति, जे णं नेरइया ताइं दव्वाइं अणागते काले नो पुणो वि मरिस्संति। से तेणट्ठेणं जाव मरणे।

[३८ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-द्रव्यात्यन्तिकमरण नैरयिक-द्रव्यात्यन्तिकमरण क्यों कहलाता है ?

[३७ उ.] गौतम ! नैरयिक द्रव्य रूप में रहे हुए (वर्तमान) नैरयिक जीव जिन द्रव्यों को इस समय (वर्तमान में) छोड़ते हैं, वे नैरयिक जीव उन द्रव्यों को भविष्यत्काल में फिर कभी नहीं छोड़ेंगे। इस कारण हे

गौतम ! नैरयिक-द्रव्यात्यन्तिकमरण 'नैरयिक-द्रव्यात्यन्तिकमरण' कहलाता है।

३९. एवं तिरिक्ख० मणुस्स० देव०।

[३९] इसी प्रकार तिर्यञ्चयोनिक-द्रव्यात्यन्तिकमरण, मनुष्य-द्रव्यात्यन्तिकमरण एवं देव-द्रव्यात्यन्तिकमरण के विषय में कहना चाहिए।

४०. एवं खेत्तातियंतियमरणे वि, जाव भावातियंतियमरणे वि।

[४०] इसी प्रकार (द्रव्यात्यन्तिकमरण के समान) क्षेत्रात्यन्तिकमरण, यावत् (कालात्यन्तिकमरण, भवात्यन्तिकमरण,) भावात्यन्तिकमरण भी जानना चाहिए।

विवेचन—आत्यन्तिकमरण : भेद-प्रभेद—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ३६ से ४० तक) में आत्यन्तिकमरण के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की अपेक्षा से पांच भेद बताए गए हैं। फिर उनके भी चार गतियों की अपेक्षा से चार-चार भेद किये गए हैं।

बालमरण के भेद और स्वरूप

४१. बालमरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुवालसविहे पन्नत्ते तं जहा—वलयमरणे जहा खंदए (स० २ उ० १ सु० २६) जाव गिद्धपट्ठे।

[४१ प्र.] भगवन् ! बालमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४१ उ.] गौतम ! वह बारह प्रकार का कहा गया है। यथा—वलयमरण इत्यादि, द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक के (सू. २६ के) स्कन्दकाधिकार के अनुसार, यावत् गृध्रपृष्ठमरण तक जानना चाहिए।

विवेचन—बालमरण : बारह प्रकार—बालमरण के बारह प्रकार ये हैं—(१) वलय(वलन्)-मरण, (२) वशार्त्त-मरण, (३) अन्तःशल्य-मरण, (४) तद्भव-मरण, (५) गिरि-पतन, (६) तरुपतन, (७) जल-प्रवेश, (८) ज्वलन-प्रवेश, (९) विष-भक्षण, (१०) शस्त्रावपाटन, (११) वैहानसमरण और (१२) गृद्धपृष्ठमरण। इन बारह भेदों का विस्तृत अर्थ द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक के (सू. २६ में) स्कन्दकप्रकरण में दिया गया है।[1]

पण्डितमरण के भेद और स्वरूप

४२. पंडियमरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

[४२ प्र.] भगवन् ! पण्डितमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (श्री आगम-प्रकाशन समिति, ब्यावर) खण्ड १, पृ. २८०

[४२ उ.] गौतम ! पण्डितमरण दो प्रकार का कहा गया है, यथा—पादपोपगमनमरण और भक्तप्रत्याख्यान-मरण।

४३. पाओवगमणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—णीहारिमे य, अणीहारिमे, नियमं अपडिकम्मे।

[४३ प्र.] भगवन् ! पादपोपगमनमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४३ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम। (दोनों प्रकार का यह पादपोपगमनमरण) नियमतः अप्रतिकर्म (शरीर-संस्काररहित) होता है।

४४. भत्तपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

एवं तं चेव, नवरं नियमं सपडिकम्मे।

सेव भंते ! सेव भंते ! त्ति०।

॥ तेरसमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ १३-७ ॥

[४४ प्र.] भगवन्! भक्तप्रत्याख्यानमरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४४ उ.] (गौतम !) वह भी इसी प्रकार (पूर्ववत् दो प्रकार का) है, विशेषता यह है कि दोनों प्रकार का यह मरण नियमतः सप्रतिकर्म (शरीरसंस्कारसहित) होता है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—पण्डितमरण : भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप—पण्डितमरण के मुख्यतया दो भेद हैं- पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान। **पादपोपगमन** का अर्थ है—संथारा करके कटे हुए वृक्ष की तरह जिस स्थान पर, जिस रूप में एक बार लेट जाए, फिर उसी स्थान में निश्चल होकर लेटे रहना और उसी रूप में समभावपूर्वक शरीर त्याग देना। इस मरण में हाथ-पैर हिलाने या नेत्रों की पलक झपकाने का भी आगार नहीं होता। यह मरण नियमतः अप्रतिकर्म (शरीर को धोना, मलना आदि शरीरसंस्कार से रहित) होता है।[१]

भक्तप्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारों प्रकार के आहारों का त्याग करके समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करना भक्तप्रत्याख्यानमरण है। इसे भक्तपरिज्ञा भी कहते हैं। इंगितमरण भक्तप्रत्याख्यान का ही विशिष्ट प्रकार है, इसलिए उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया। भक्त प्रत्याख्यानमरण नियमतः सप्रतिकर्म (शरीर-संस्कारयुक्त) होता है। इसमें हाथ-पैर हिलाने तथा शरीर की सारसंभाल करने पर आगार रहता है।[२]

निर्हारिम-अनिर्हारिम—ये दोनों भेद पादपोपगमन एवं भक्तप्रत्याख्यान, इन दोनों के हैं। निर्हार कहते

---

१. भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२६२

२. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (श्री आगम-प्रकाशन समिति, ब्यावर) खण्ड १, पृ. १८१

हैं—बाहर निकालने को। जो साधु गाँव आदि के अन्दर ही किसी मकान या उपाश्रय में शरीर छोड़ता है, उस साधु के शव का उपाश्रय आदि से बाहर निकाल कर अन्तिम संस्कार किया जाता है। अतएव उस साधु का पण्डितमरण निर्हारिम कहलाता है। परन्तु जो साधु अरण्य या गुफा आदि में आहारादि का त्याग करके अन्तिम समय में शरीर छोड़ता है, समभाव पूर्वक मरता है, उसके मृत शरीर को कहीं बाहर निकाला नहीं जाता। इसलिए उक्त साधु के पण्डितमरण को 'अनिर्हारिम' कहते हैं।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५ पृ. २२६२

अट्ठमो उद्देसओ : 'कम्म'

अष्टम उद्देशक : 'कर्मप्रकृति'

प्रज्ञापना के अतिदेशपूर्वक कर्मप्रकृतिभेदादि निरूपण

१. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ। एवं बंधट्ठितिउद्देसओ भाणियव्वो निरवसेसो जहा पन्नवणाए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेरसमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ १३-८ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही गई है ?

[१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियां आठ कही गई हैं। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के २३वें पद के द्वितीय बन्ध-स्थिति उद्देशक का सम्पूर्ण कथन करना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवें पद के द्वितीय बन्ध-स्थिति नामक उद्देशक के अतिदेशपूर्वक क्रमशः आठ मूल कर्मप्रकृतियां, फिर इन आठों के भेद, (जैसे कि—ज्ञानावरणीय आदि आठ, फिर ज्ञानावरणीय के पांच भेद इत्यादि), तदनन्तर ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों के स्थिति-बन्ध का वर्णन, फिर एकेन्द्रियादि जीवों के अनुसार बन्ध का निरूपण किया गया है।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. (क) प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सू. १६८७ से १७५३, पृ. ३६७-५८

— पण्णवणासुत्तं भा. १ (महावीर जैन विद्यालय)

(ख) वाचनान्तर में संग्रहणी गाथा इस प्रकार है -

"पयडीणं भेय ठिईबंधो विय इंदियाणुवाएणं।

केरिसय जहन्नठिइं बंधइ उक्कोसियं वावि॥" — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२६

नवमो उद्देसओ : अणगारे केयाघडिया

नौवाँ उद्देशक : अनगार में केयाघटिका (वैक्रियशक्ति)

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (श्रमण भगवान् महावीर से गौतमस्वामी ने) यावत् इस प्रकार पूछा—

रस्सी बंधी घडिया, स्वर्णादिमंजूषा, बांस आदि की चटाई, लोहादिभार लेकर चलने वाले व्यक्ति-सम भावितात्मा अनगार की वैक्रियशक्ति

२. से जहानामए केयि पुरिसे केयाघडियं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा केयाघडियाकिच्चहत्थगतेणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?

गोयमा ! हंता, उप्पएज्जा।

[२ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष रस्सी से बंधी हुई घटिका (छोटा घड़ा) लेकर चलता है, क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी (वैक्रियलब्धि के सामर्थ्य से) रस्सी से बंधी हुई घटिका स्वयं हाथ में लेकर ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[२ उ.] हाँ गौतम ! (वह इस प्रकार) उड़ सकता है।

३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू केयाघडियाकिच्चहत्थगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे एवं जहा ततियसते पंचमुद्देसए (स० ३ उ० ५ सु० ३) जाव नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु वा विउव्वति वा विउव्विस्सति वा।

[३ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार रस्सी से बंधी हुई घटिका हाथ में ग्रहण करने रूप कितने रूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[३ उ.] गौतम ! तृतीय शतक के पंचम उद्देशक (सू. ३) में जैसे युवती-युवक के हस्तग्रहण का दृष्टान्त दे कर समझाया है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। यावत् यह उसकी शक्तिमात्र है। सम्प्राप्ति (सम्पादन) द्वारा कभी इतने रूपों की विक्रिया की नहीं, करता भी नहीं और करेगा भी नहीं।

४. से जहानामए केयि पुरिसे हिरण्णपेलं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा हिरण्णपेलहत्थकिच्चगतेणं अप्पाणेणं०, सेसं तं चेव।

[४ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष हिरण्य (चांदी) की मंजूषा (पेटी) लेकर चलता है, वैसे ही क्या भावितात्मा अनगार भी हिरण्य-मंजूषा हाथ में लेकर (विक्रिया-सामर्थ्य से) स्वयं ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[४ उ.] हाँ, गौतम ! (इसका समाधान भी) पूर्ववत् समझना चाहिए।

५. एवं सुवण्णपेलं, एवं रयणपेलं, वइलपेलं, वत्थपेलं, आभरणपेलं।

[५] इसी प्रकार स्वर्णमंजूषा, रत्नमंजूषा, वज्र (हीरक) मंजूषा, वस्त्रमंजूषा एवं आभरण-मंजूषा (हाथ में लेकर वैक्रियशक्ति से आकाश में उड़ सकता है,) इत्यादि (प्रश्नोत्तर) पूर्ववत् (करना चाहिए।)

६. एवं वियलकिडं, सुंबकिडं चम्मकिडं कंबलकिडं।

[६] इसी प्रकार विदलकट (बाँस की चटाई), शुम्बकट (वीरणघास की चटाई), चर्मकट (चमड़े से बुनी हुई चटाई या खाट आदि) एवं कम्बलकट (ऊन के कम्बल का बिछौना) (इन सभी रूपों की विकुर्वणा करके हाथ में लेकर ऊँचे आकाश में उड़ सकता है, इत्यादि प्रश्नोत्तर पूर्ववत् कहना चाहिए।)

७. एवं अयभारं तंबभारं तउयभारं सीसगभारं हिरण्णभारं सुवण्णभारं वइरभारं।

[७] इसी प्रकार लोहे का भार, ताम्बे का भार, कलई (कथीर) का भार, शीशे का भार, हिरण्य (चांदी) का भार, सोने का भार और वज्र (हीरे) का भार (लेकर इन सब रूपों की विक्रिया करके ऊँचे आकाश में उड़ सकता है, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्नोत्तर कहना चाहिए।)

विवेचन—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. १ से ७ तक) में भावितात्मा अनगार की वैक्रियशक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्नोत्तर किये गये हैं कि वह वैक्रियशक्ति से विकुर्वणा करके रज्जुबद्धघटिका, अनेक घटिकाएं तथा हिरण्य, स्वर्ण, रत्न, वज्र, वस्त्र एवं आभरण की मंजूषा तथा विदल, शुम्ब, चर्म एवं कम्बल का कट तथा लोहे, ताम्बे, कथीर, शीशे, चांदी, सोने और वज्र का भार स्वयं हाथ में लेकर ऊँचे आकाश में उड़ सकता है या नहीं ? सभी प्रश्नों के विषय में भगवान् का उत्तर एक सदृश स्वीकृतिसूचक है।[१]

कठिन शब्दों के अर्थ—केयाघडियं—किनारे पर रस्सी से बंधी हुई घटिका—छोटी घडिया। **केयाघडियाकिच्च-हत्थगतेणं**—केयाघटिका रूप कृत्य (कार्य) को स्वयं हस्तगत करके (हाथ में लेकर)। **वेहासं**—आकाश में। **उप्पएज्जा**—उड़ सकता है। **हिरण्णपेलं**—चांदी की पेटी—मंजूषा। **सुवण्णपेलं**—सोने की पेटी। **रयणपेलं**—रत्नों की पेटी। **वइरपेलं**—वज्र—हीरों की पेटी। **वियलकिडं**—विदल अर्थात् बांस को चीर कर उसके टुकड़ों से बनाई हुई कट—चटाई। **सुंबकिडं**—वीरणघास की चटाई। **चम्मकिडं**—चमड़े से बनी हुई चटाई, खाट आदि। **कंबलकिडं**—ऊन का बना हुआ बिछाने का कम्बल। **अयभारं**—लोहे का भार। **तउयभारं**—रांगे या कथीर का भार। **सीसगभारं**—शीशे का भार। **वइरभारं**—वज्रभार—हीरे का भार।[२]

चमचेड़-यज्ञोपवीत-जलौका-बीजंबीज-समुद्र-वायस आदि की क्रियावत् भावितात्मा वैक्रिय-शक्तिनिरूपण

८. से जहानामए वग्गुली सिया, दो वि पाए उल्लंबिया उल्लंबिया उड्ढंपादा अहोसिरा चिट्ठेज्जा

---

१. वियाहपण्णतिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ६५३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२७

एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वग्गुलीकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं०।

[८ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई वग्गुलीपक्षी (चमगादड़) अपने दोनों पैर (वृक्ष आदि में ऊपर) लटका-लटका कर पैरों को ऊपर और सिर को नीचा किये रहती है, क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी उक्त चमगादड़ की तरह अपने रूप की विकुर्वणा करके स्वयं ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! वह (इस प्रकार का रूप बना कर) उड़ सकता है।

९. एवं जण्णोवइयवत्तव्वया भाणितव्वा जाव विउव्विस्संति वा।

[९] इसी प्रकार यज्ञोपवीत-सम्बन्धी वक्तव्यता भी कहनी चाहिए। (अर्थात्—जैसे कोई विप्र गले में जनेऊ धारण करके गमन करता है, उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी विकुर्वणा कर सकता है), (यह वक्तव्यता) 'सम्प्राप्ति द्वारा विकुर्वणा करेगा नहीं,' (यहाँ तक) कहनी चाहिए।

१०. से जहानामए जलोया सिया, उदगंसि कायं उव्विहिया उव्विहिया गच्छेज्जा, एवामेव० सेसं जहा वग्गुलीए।

[१० प्र.] (भगवन् !) जैसे कोई जलौका (जौंक—पानी में उत्पन्न होने वाला द्वीन्द्रिय जीवविशेष) अपने शरीर को उत्प्रेरित करके (ठेल-ठेल कर) पानी में चलती है; क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी ······ इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[१० उ.] (गौतम !) यह सभी निरूपण वग्गुलीपक्षी के निरूपण के समान जानना चाहिए।

११. से जहानामए बीयंबीयगसउणे सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे०, सेसं तं चेव।

[११ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई बीजंबीज पक्षी अपने दोनों पैरों को घोड़े की तरह एक साथ उठाता-उठाता हुआ गमन करता है, क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी ·········· इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् ।

[११ उ.] (हाँ, गौतम ! उड़ सकता है), शेष सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

१२. से जहानामए पक्खिबिरालए सिया, रुक्खाओ रुक्खं डेवेमाणे डेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे० सेसं तं चेव।

[१२ प्र.] (भगवन् !) जिस प्रकार कोई पक्षीबिडालक एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को लांघता-लांघता (या एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर छलांग लगाता-लगाता) जाता है, क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी ············· इत्यादि प्रश्न।

[१२ उ.] (हाँ, गौतम ! उड़ सकता है।) शेष सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिए।

१३. से जहानामाए जीवंजीवगसउणए सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा,

एवामेव अणगारे०, सेसं तं चेव।

[१३ प्र.] (भगवन् !) जैसे कोई जीवंजीवक पक्षी अपने दोनों पैरों को घोड़े के समान एक साथ उठाता-उठाता गमन करता है; क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी ………… इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[१३ उ.] (हाँ, गौतम ! उड़ सकता है।) शेष सभी कथन पूर्ववत् जानना चाहिए।

१४. से जहाणामए हंसे सिया, तीरातो तीरं अभिरमंमाणे अभिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे हंसकिच्चगतेणं अप्पाणेणं०, तं चेव।

[१४ प्र.] (भगवन् !) जैसे कोई हंस (विशाल सरोवर के) एक किनारे से दूसरे किनारे पर क्रीडा करता-करता चला जाता है, क्यों वैसे ही भावितात्मा अनगार भी हंसवत् विकुर्वणा करके गगन में उड़ सकता है।

[१४ उ.] (हाँ, गौतम ! उड़ सकता है।) यहाँ भी सभी वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए।

१५. ते जहानामाए समुद्दवासए सिया, वीयीओ वीयिं डेवेमाणे डेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव०, तहेव।

[१५ प्र.] (भगवन् !) जैसे कोई समुद्रवायस (समुद्री कौआ) एक लहर (तरंग) से दूसरी लहर का अतिक्रमण करता-करता चला जाता है, क्या वैसे ही भावितात्मा अनगार भी …………… इत्यादि प्रश्न।

[१५ उ.] यहाँ भी पूर्ववत् उत्तर समझना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत आठ सूत्रों में आठ उदाहरण देकर शास्त्रकार ने उनके समान रूप बनाने की भावितात्मा अनगार की वैक्रियशक्ति के विषय में प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये हैं।

आठ प्रश्न—(१) चमगादड़ के समान दोनों पैर वृक्ष आदि पर लटका कर पैर ऊपर सिर नीचा किये हुए रहता है, तद्वत्।

(२) यज्ञोपवीत धारण किये हुए विप्र की तरह ?

(३) जलौका अपने शरीर को पानी में ठेल-ठेल कर चलती है, उस प्रकार ?

(४) जैसे बीजंबीज पक्षी दोनों पैरों को घोड़े की तरह उठाता-उठाता गमन करता है, क्या उसके समान ?

(५) जैसे पक्षीबिडालक एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर उछलता हुआ जाता है, क्या उसी प्रकार ?

(६) जैसे जीवंजीव पक्षी दोनों पैरों को घोड़े की तरह एक साथ उठाता हुआ गमन गरता है, क्या उस तरह ?

(७) जैसे हंस एक तट से दूसरे तट पर क्रीड़ा करता हुआ जाता है, क्या उसी प्रकार ?

(८) जैसे समुद्री कौआ एक लहर से दूसरी लहर को अतिक्रमण करता-करता जाता है, क्या उसी प्रकार ?

इन आठों ही प्रश्नों का उत्तर स्वीकृति सूचक है।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—वग्गुली—चर्मपक्षी—चमचेड़। **जन्नोवइय**—यज्ञोपवीत। **उव्विहिय**—उत्प्रेरित करके—ठेल-ठेल कर। **बीयंबीयग-सउणे**—बीजंबीजक नाम का पक्षीविशेष। **समतुरंगेमाणे**—दोनों पैर अश्व के समान एक साथ उठाता हुआ। **पक्खिबिरालाए**—पक्षीविडालक नामक प्राणी। **डेवेमाणे**—अतिक्रमण करता—लांघता हुआ या छलांग लगाता हुआ। **वीईओ वीइं**—एक तरंग से दूसरी तरंग पर।[२]

चक्र, छत्र, चर्म, रत्नादि लेकर चलने वाले पुरुषवत् भावितात्मा अनगार की विकुर्वणा-शक्तिनिरूपण

१६. से जहानामए केयि पुरिसे चक्कं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा चक्कहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं०, सेसं जहा केयाघडियाए।

[१६ प्र.] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष हाथ में चक्र लेकर चलता है, क्या वैसे ही भावितात्मा अनगार भी (वैक्रियशक्ति से) तदनुसार विकुर्वणा करके चक्र हाथ में लेकर स्वयं ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[१६ उ.] (हाँ, गौतम !) सभी कथन रज्जुबद्धघटिका के समान जानना चाहिए।

१७. एवं छत्तं।

[१७] इसी प्रकार छत्र के विषय में कहना चाहिए।

१८. एवं चम्मं।[३]

[१८] इसी प्रकार चर्म (या चामर) के सम्बन्ध में भी कथन करना चाहिए।

१९. से जहानामए केयि पुरिसे रयणं गहाय गच्छेज्जा०, एवं चेव। एवं वइरं, वेरुलियं, जाव[४] रिट्ठं।

[१९ प्र.] (भगवन् !) जैसे कोई पुरुष रत्न लेकर गमन करता है, (क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी ……………… इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न)।

[१९ उ.] (गौतम !) यहाँ भी पूर्ववत् कहना चाहिए। इसी प्रकार वज्र, वैडूर्य यावत् रिष्टरत्न तक पूर्ववत् आलापक कहना चाहिए।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ६५४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२८

३. पाठान्तर—'**चामरं**'

४. 'जाव' पद सूचक पाठ—"**लोहियक्खं मसारगल्लं हंसगब्भं पुलगं सोगंधियं जोईरसं अंकं अंजणं रयणं जायरूवं अंजणपुलगं फलिहं ति।**"

२०. एवं उप्पलहत्थगं, एवं पउमहत्थगं एवं कुमुदहत्थगं,एवं जाव[1] से जहानामए केयि पुरिसे सहस्सपत्तगं गहाय गच्छेज्जा०, एवं चेव।

[२० प्र.] इसी प्रकार उत्पल हाथ में लेकर, पद्म हाथ में लेकर एवं कुमुद हाथ में लेकर तथा जैसे कोई पुरुष यावत् सहस्रपत्र (कमल) हाथ में लेकर गमन करता है, क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी ………… इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२० उ.] (हाँ, गौतम !) उसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १६ से २० तक) में पूर्ववत् चक्र, छत्र, चर्म (चामर), रत्न, वज्र, वैडूर्य, रिष्ट आदि रत्न तथा उत्पल, पद्म, कुमुद, यावत् सहस्रपत्रकमल आदि हाथ में लेकर चलता है,, उसी प्रकार तथाविध रूपों की विकुर्वणा करके ऊर्ध्व-आकाश में उड़ने की भावितात्मा अनगार की शक्ति की प्ररूपणा की गई है।[2]

कमलनाल तोड़ते हुए चलने वाले पुरुषवत् अनगार की वैक्रियशक्ति

२१. से जहानामए केयि पुरिसे भिसं अवद्दालिय अवद्दालिय गच्छेज्जा, एवामवे अणगारे वि भिसकिच्चगएणं अप्पाणेणं०, तं चेव।

[२१ प्र.] (भगवन् !) जिस प्रकार कोई पुरुष कमल की डंडी को तोड़ता-तोड़ता चलता है, क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी स्वयं इस प्रकार के रूप की विकुर्वणा करके ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[२१ उ.] (हाँ, गौतम !) शेष सभी कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

मृणालिका, वनखण्ड एवं पुष्करिणी बना कर चलने की वैक्रियशक्ति-निरूपण

२२. से जहानामए मुणालिया सिया, उदगंसि कायं उम्मज्जिय उम्मज्जिय चिट्ठेज्जा, एवामेव०, सेसं जहा वग्गुलीए।

[२२ प्र.] (भगवन् !) जैसे कोई मृणालिका (नलिनी) हो और वह अपने शरीर को पानी में डुबाए रखती है तथा उसका मुख बाहर रहता है; क्या उसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी …………. इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२२ उ.] (हाँ, गौतम !) शेष सभी कथन वग्गुली के समान जानना चाहिए।

---

१. 'जाव' पद में सूचक पाठ—"**नलिणहत्थगं सुभगहत्थगं सोगंधियहत्थगं पुंडरीयहत्थगं महापुंडरीयहत्थगं सयवत्तहत्थगं ति**"—अ० वृ०॥

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६५५

२३. से जहानामए वणसंडे सिया किण्हे किण्होभासे जाव[१] निकुरुंबभूए पासादीए ४, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वणसंडकिच्चगतेणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा, सेसं तं चेव।

[२३ प्र.] (भगवन् !) जिस प्रकार कोई वनखण्ड हो,जो काला, काले प्रकाश वाला, नीला, नीले आभास वाला, हरा, हरे आभास वाला यावत् महामेघसमूह के समान प्रसन्नतादायक, दर्शनीय, अभिरूप एवं प्रतिरूप (सुन्दरतम) हो; क्या इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी—(वैक्रियशक्ति से) स्वयं वनखण्ड के समान विकुर्वणा करके ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[२३ उ.] (हाँ, गौतम !) शेष सभी कथन पूर्ववत् जानना चाहिए।

२४. से जहानामए पुक्खरणी सिया, चउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वसुजाय० जाव[२] सद्दुन्नइय-महुरसरणादिया पासादीया ४, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा पोक्खरणीकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ? हंता, उप्पतेज्जा।

[२४ प्र.] (भगवान् !) जैसे कोई पुष्करिणी हो, जो चतुष्कोण और समतीर हो तथा अनुक्रम से जो शीतल गंभीर जल से सुशोभित हो, यावत् विविध पक्षियों के मधुर स्वर-नाद आदि से युक्त हो तथा प्रसन्नतादायिनी, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हो, क्या इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी (वैक्रियशक्ति से) उस पुष्करिणी के समान रूप की विकुर्वणा करके स्वयं ऊँचे आकाश में उड़ सकता है ?

[२४ उ.] हाँ, गौतम ! वह उड़ सकता है।

२५. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू पोक्खरणीकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए० ? सेसं तं चेव जाव[३] विउस्सति वा।

[२५ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार (पूर्वोक्त) पुष्करिणी के समान कितने रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?

[२५ उ.] (हे गौतम !) शेष सभी कथन पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत्—परन्तु सम्प्राप्ति द्वारा उसने इतने रूपों की विकुर्वणा की नहीं, वह करता भी नहीं और करेगा भी नहीं; (यहाँ तक कहना चाहिए)।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. २१ से २५ तक) में भावितात्मा अनगार की वैक्रियशक्ति के सम्बन्ध में

---

१. 'जाव' पद सूचक पाठ—"**नीले नीलोभासे हरिए हरिओभासे सीओभासे निद्धे निद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किण्हे किण्हच्छाए नीले नीलच्छाए हरिए हरियच्छाए सीए सीयच्छाए तिव्वे तिव्वच्छाए घणकडियंकडिच्छाए रम्मे महामेहनिउरुंबभूए त्ति**"—अ० वृ०, पत्र ६२८

२. 'जाव' पद सूचक पाठ—"**अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजला**"—अवृ० ॥

३. 'जाव' पद सूचक पाठ—"**सूय-बरहिण-मयणसाय-कोंच-कोइल-कोज्जक-भिंगारक-कोंडलक-जीवंजीवक-नंदीमुह-कविल-पिंगलक्खग-कारंडग-चक्कवाय-कलहंस-सारस-अणेग-सउणगणमिहुणविरइयसद्दुन्नइय-महुरसरनाइय त्ति**" —अवृ. ॥

प्रस्तुत किया गया है।

पांच प्रश्न—(१) क्या कमल की डंडी को तोड़ते हुए चलने वाले पुरुष की तरह तथारूप विक्रिया करके आकश में उड़ सकता है ?

(२) क्या पानी में डूबी और मुख बाहर निकली हुई मृणालिका की तरह रूप की विकुर्वणा कर सकता है ?

(३) दर्शनीय वनखण्ड के समान रूपविकुर्वणा कर सकता है ?

(४) रमणीय पुष्करिणी, वापी-सम रूपविकुर्वणा करके आकाश में उड़ सकता है ?

(५) पूर्वोक्त पुष्करिणी के समान कितने रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?[१]

कठिन शब्दार्थ—**भिसं**—कमलनाल, मृणाल। **अवद्दालिय**—तोड़ता हुआ। **मुणालिया**—नलिनी। **उम्मज्जिय**—डुबकी लगाती हुई। **किण्होभास**—काले प्रकाश या आभास वाला। **निकुरंबभूए**—समूह के समान। **सद्दुन्नइयमधुरसर णादिया**—(पक्षियों के) उन्नत शब्द, मधुर स्वर और निनाद से गूंजती हुई।[२]

माया (प्रमादी) द्वारा विकुर्वणा, अप्रमादी द्वारा नहीं

२६. से भंते ! किं मायी विउव्वइ, अमायी विउव्वइ ?

गोयमा ! मायी विउव्वति, नो अमायी विउव्वति।

[२६ प्र.] भगवन् ! क्या (पूर्वोक्त रूपों की) विकुर्वणा मायी (अनगार) करता है, अथवा अमायी (अनगार) ?

[२६ उ.] गौतम ! मायी विकुर्वणा करता है, अमायी (अनगार) विकुर्वणा नहीं करता।

उस स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना मरने की अनाराधकता

२७. मायी णं तस्स ठाणस्स अणालोइया० एवं जहा ततियसए चउत्थुद्देसए (स० ३ उ० ४ सु० १९) जाव अत्थि तस्स आराहणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ तेरसमे सए नवमो उद्देसओ समत्तो ॥ १३-९ ॥

[२७] मायी अनगार यदि उस (विकुर्वणा रूप प्रमाद-) स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो उसके आराधना नहीं (विराधना) होती है; इत्यादि तीसरे शतक के चतुर्थ

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६५५-६५६

२. (क) भगवती. अ. वृति

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२७०

बिना ही कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो उसके आराधना नहीं (विराधना) होती है; इत्यादि तीसरे शतक के चतुर्थ उद्देशक (सू. १९) के अनुसार यावत्—आलोचना और प्रतिक्रमण कर ले तो उसके आराधना होती है, (यहाँ तक कहना चाहिए)।

हे, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—आराधक-विराधक का रहस्य—प्रस्तुत उद्देशक में भावितात्मा अनगार की विविध प्रकार की वैक्रिय शक्ति की प्ररूपणा की गई है, किन्तु उद्देशक के उपसंहार में स्पष्ट बता दिया है कि इस प्रकार की विकुर्वणा वैक्रियलब्धिसम्पन्न मायी (प्रमादी) अनगार करता है, अमायी (अप्रमादी) अनगार नहीं करता। किन्तु मायी (प्रमादी) अनगार किसी कारणवश यदि इस प्रकार की विकुर्वणा करके अन्तिम समय में आलोचना-प्रतिक्रमण कर लेता है, तो वह आराधक होता है। यदि वह इस प्रमादस्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो विराधक होता है।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त॥

०००

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६५६

(ख) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र खण्ड १ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) श. ३ उ. ४ सू. १९, पृ. ३५९-३६०

(ग) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२७२

दसमो उद्देसओ : 'समुग्घाए'

दसवाँ उद्देशक : (छाद्मस्थिक) समुद्घात

छाद्मस्थिक समुद्घात : स्वरूप, प्रकार आदि का निरूपण

१. कति णं भंते ! छाउमत्थिया समुग्घाया पन्नत्ता ? गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाते, एवं छाउमत्थिया समुग्घाता नेतव्वा जहा पण्णवणाए जाव आहारगसमुग्घातो त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ तेरसमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ १३-१० ॥

[१ प्र.] भगवन् ! छाद्मस्थिक (छद्मस्थ जीवों का) समुद्घात कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! छाद्मस्थिक समुद्घात छह प्रकार का कहा गया है। यथा—वेदनासमुद्घात इत्यादि छाद्मस्थिक समुद्घातों के विषय में (सब वर्णन) प्रज्ञापनासूत्र के छत्तीसवें समुद्घातपद के अनुसार यावत् आहारकसमुद्घात तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत उद्देशक में प्रज्ञापनासूत्र के छत्तीसवें समुद्घातपद के अतिदेशपूर्वक छह छाद्मस्थिक समुद्घातों का निरूपण किया गया है। समुद्घात का व्युत्पत्त्यर्थ एवं परिभाषा—सम—एकीभाव से उत्-प्रबलतापूर्वक, घात (निर्जरा) करना समुद्घात है। तात्पर्य यह है कि वेदना आदि के अनुभव के साथ एकीभूत आत्मा, कालान्तर में भोगने योग्य वेदनीयादि कर्मप्रदेशों की उदीरणा द्वारा उदय में लाकर प्रबलता से उनका घात करता है, वह समुद्घात कहलाता है।

छाद्मस्थिक का अर्थ—जिन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ है, जो अकेवली हैं, वे छद्मस्थ हैं और उनका समुद्घात छाद्मस्थिक समुद्घात है। वह छह प्रकार का है—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिक समुद्घात, (४) वैक्रियसमद्घात, (५) तैजस-समुद्घात और (६) आहारकसमुद्घात। क्रमश: इनके लक्षण इस प्रकार हैं—**वेदनासमुद्घात**—वेदना के कारण होने वाला समुद्घात वेदनासमुद्घात है। वह असातावेदनीय कर्म की अपेक्षा से होता है। तात्पर्य यह है कि असातावेदनीय के कारण वेदनापीडित जीव अनन्तानन्त कर्मस्कन्धों से व्याप्त आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है और उनसे मुख, उदर आदि छिद्रों एवं कान तथा स्कन्ध आदि अन्तरालों को पूर्ण करके लम्बाई-चौड़ाई में शरीर-परिमाण क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त काल में वह बहुत से असातावेदनीय कर्मपुद्गलों की निर्जरा कर लेता है, यह वेदनासमुद्घात है।

कषायसमुद्घात—कषाय चारित्रमोहनीय कर्म के आश्रित क्रोधादि कषाय के कारण होने वाला समुद्घात कषायसमद्घात है। तीव्र क्रोधादि कषाय से व्याकुल जीव जब अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकाल कर और

उनसे मुख, उदर आदि छिद्रों एवं कान, आदि अन्तरालों को भरकर लम्बाई-चौड़ाई में शरीर-परिमाण क्षेत्र में व्याप्त हो-होकर अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, तब वह कषायकर्मरूप पुद्‌गलों की प्रबलता से निर्जरा करता है। यह कषायसमुद्‌घात है।

मरणान्तिकसमुद्‌घात—मरणकाल में होने वाला समुद्‌घात मारणान्तिकसमुद्‌घात है। मारणान्तिकसमुद्‌घात आयुष्यकर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर होता है। अर्थात्—जब आयुष्यकर्म एक अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है, तब कोई जीव मुख-उदरादि छिद्रों तथा कर्ण-स्कन्धादि अन्तरालों में बाहर निकले हुए अपने आत्मप्रदेशों को भर कर विष्कम्भ (घेरा) और मोटाई में शरीरपरिमाण, लम्बाई में कम से कम अपने शरीर के अंगुल के असंख्यातवें भाग-परिमाण तथा अधिक से अधिक एक दिशा में असंख्यात-योजन क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है और प्रभूत आयुष्यकर्मपुद्‌गलों की निर्जरा करता है।

वैक्रियसमुद्‌घात—विक्रिया के प्रारम्भ करने पर होने वाला समुद्‌घात वैक्रियसमुद्‌घात है। यह नामकर्ग के आश्रित होता है। वैक्रियलब्धिवाला जीव विक्रिया करते समय आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर विष्कम्भ और मोटाई में शरीर-परिमाण तथा लम्बाई में संख्यात-योजन-परिमाण दण्ड निकालता है और पूर्वबद्ध स्थूल वैक्रियशरीरनामकर्म के पुद्‌गलों की निर्जरा कर लेता है।

तैजससमुद्‌घात—यह समुद्‌घात तेजोलेश्या निकालते समय तैजसशरीरनामकर्म के आश्रित होता है। तेजोलेश्या की स्वाभाविक लब्धि प्राप्त कोई साधु आदि ७-८ कदम पीछे हट कर जब आत्मप्रदेशों को विष्कम्भ और मोटाई में शरीर-परिमाण और लम्बाई के संख्यातयोजन-परिमाण दण्ड शरीर से बाहर निकाल कर क्रोध के विषयभूत जीवादि को जलाता है, तब तैजसनामकर्म के प्रभूत कर्मपुद्‌गलों की निर्जरा करता है।

आहारकसमुद्‌घात—यह समुद्‌घात आहारकशरीर नामकर्म के आश्रित होता है। आहारक-शरीर का प्रारम्भ करने पर होने वाला समुद्‌घात आहारकसमुद्‌घात कहलाता है। आशय यह है कि आहारकशरीर की लब्धिवाला कोई मुनिराज आहारकशरीर के निर्माण की इच्छा से अपने आत्म-प्रदेशों को विष्कम्भ और मोटाई में शरीरपरिमाण और लम्बाई में संख्यातयोजन-परिमाण दण्ड के आकार में बाहर निकालता है, तब वह यथास्थूल पूर्वबद्ध आहारकशरीरनामकर्म के प्रभूत कर्मपुद्‌गलों की निर्जरा कर लेता है।

प्रज्ञापनासूत्र के छत्तीसवें समुद्‌घात-पद में 'केवलीसमुद्‌घात' का भी वर्णन है, किन्तु वह यहाँ अप्रासंगिक होने से उसका वर्णन नहीं किया गया है।[१]

॥ तेरहवाँ शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

॥ तेरहवाँ शतक सम्पूर्ण ॥

OOO

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ सू. २१४७, पृ. ४३८ (महावीर जैन विद्यालय)

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६२९

(ग) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२७३-२२७४

चोद्दसमं सयं : चौदहवाँ शतक

प्राथमिक

- व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के इस चौदहवें शतक में दश उद्देशक हैं, इसमें भावितात्मा अनगार, केवली, सिद्ध आदि के ज्ञान एवं लब्धि आदि से सम्बन्धित विषयों के अतिरिक्त उन्माद, शरीर, पुद्गल अग्नि, किमाहार आदि विविध तात्त्विक विषयों का भी निरूपण किया गया है।

- **प्रथम उद्देशक** चरम है। इसमें भावितात्मा अनगार की चरम और परम देवावास के मध्य की गति का वर्णन है। तदनन्तर चौवीस दण्डकों में अनन्तरोपपन्नकादि की तथा अनन्तरोपपन्नादि के आयुष्यबन्ध की, अनन्तरनिर्गतादि की तथा अन्तरनिर्गतादि के आयुष्यबन्ध की, अनन्तरखेदोपपन्नादि की एवं अनन्तरखेदनिर्गतादि की तथा इन सबके आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

- **द्वितीय उद्देशक** में विविध उन्माद और उसके कारण तथा चौवीस दण्डकों में विविध उन्माद और उनके कारणों की मीमांसा की गई है। तदनन्तर स्वाभाविक वृष्टि एवं देवकृत वृष्टि का तथा चतुर्विध देवकृततमस्काय का सहेतुक निरूपण किया गया है।

- **तृतीय उद्देशक** में भावितात्मा अनगार के शरीर के मध्य में से होकर जाने के महाकाय देव के सामर्थ्य-असामर्थ्य का सहेतुक निरूपण है। फिर चौवीस दण्डकों में परस्पर सत्कारादि विनय की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और समर्द्धिक देव-देवियों के मध्य में से होकर एक-दूसरे के निकलने का वर्णन है। अन्त में सातों नरकों के नैरयिकों को अनिष्ट पुद्गलपरिणाम, वेदनापरिणाम और परिग्रहसंज्ञापरिणाम के अनुभव का निरूपण किया गया है।

- **चतुर्थ उद्देशक** में पुद्गल के त्रिकालापेक्षी विविध वर्णादि परिणामों की, जीव के त्रिकालापेक्षी सुःख-दुःख आदि विविध परिणामों की प्ररूपणा की गई है। तदनन्तर परमाणु पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता तथा चरमता-अचरमता की चर्चा की गई है। अन्त में परिणाम के जीव-परिणाम और अजीव-परिणाम, ये दो भेद बताकर प्रज्ञापनासूत्र के समग्र परिणामपद का अतिदेश किया गया है।

- **पंचम उद्देशक** में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के अग्नि में होकर गमन सामर्थ्य की तथा शब्दादि दस स्थानों में इष्टानिष्ट स्थानों के अनुभव की एवं महर्द्धिक देव द्वारा तिर्यक् पर्वतादि उल्लंघन-प्रोल्लंघन-सामर्थ्य-असामर्थ्य की प्ररूपणा की गई है।

- **छठे उद्देशक** में चौवीस दण्डकों के जीवों द्वारा पुद्गलों के आहार, परिणाम, योनि और स्थिति की तथा वीचिद्रव्य-अवीचिद्रव्याहार की प्ररूपणा की गई है। अन्त में शक्रेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के देवेन्द्रों

की दिव्य भोगोपभोग-प्रक्रिया का वर्णन है।

- **सातवें 'संश्लिष्ट' उद्देशक** में भगवान् द्वारा गौतम स्वामी को इसी भव के बाद अपने समान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का आश्वासन दिया गया है। तत्पश्चात् अनुत्तरौपपातिक देवों की जानने-देखने की शक्ति का तथा छह प्रकार के तुल्य के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया गया है। फिर अनशनकर्ता अनगार द्वारा मूढता-अमूढतापूर्वक आहाराध्यवसाय की चर्चा की गई है। अन्त में लवसप्तम और अनुत्तरौपपातिक देव-स्वरूप की सहेतुक प्ररूपणा की गई है।

- **आठवें उद्देशक** में रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी एवं अलोकपर्यन्त परस्पर अबाधान्तर की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् शालवृक्ष आदि के भावी भवों की, अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्यों की आराधकता की, अम्बड को दो भवों के बाद मोक्षप्राप्ति की, अव्याबाध देवों की अव्याबाधता की, सिर काटकर कमण्डलु में डालने की शक्रेन्द्र की वैक्रियशक्ति की तथा जृम्भक देवों के स्वरूप, भेद, गति एवं स्थिति की प्ररूपणा की गई है।

- **नौवें उद्देशक** में भावितात्मा अनगार की ज्ञान-सम्बन्धी और प्रकाशपुद्गलस्कन्ध-सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है। तदनन्तर चौवीस दण्डकों में पाए जाने वाले आत्त-अनात्त, इष्टानिष्ट आदि पुद्गलों की महर्द्धिक देव की भाषासहस्रभाषणशक्ति की, सूर्य के अन्वर्थ तथा उसकी प्रभा आदि के शुभत्व की परिचर्चा की गई है। अन्त में श्रामण्यपर्यायसुख की देवसुख के साथ तुलना की गई है।

- **दसवें उद्देशक** में केवली एवं सिद्ध द्वारा छद्मस्थादि को तथा केवली द्वारा नरकपृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक को तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को जानने-देखने की शक्ति की प्ररूपणा की गई है।

- प्रस्तुत शतक में कुल मिला कर देव, मनुष्य, अनगार, केवली, सिद्ध, नैरयिक, तिर्यञ्च आदि जीवों की आत्मिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार की शक्तियों का रोचक वर्णन है।[१]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६५८ से ६८८ तक

चोद्दसमं सयं : चौदहवाँ शतक

चौदहवें शतक के उद्देशकों के नाम

१. **चर १ उम्माद २ सरीरे ३ पोग्गल ४ अगणी ५ तहा किमाहारे ६।**

संसिट्ठमंतरे ७-८ खलु अणगारे ९ केवली चेव १० ॥ १॥

[१-गाथार्थ] [चौदहवें शतक के दस उद्देशक इस प्रकार हैं—] (१) चरम, (२) उन्माद, (३) शरीर, (४) पुद्गल, (५) अग्नि तथा (६) किमाहार, (७) संश्लिष्ट, (८) अन्तर, (९) अनगार और (१०) केवली।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में चौदहवें शतक के १० उद्देशकों के सार्थक नामों को उल्लेख किया गया है—

१. चरम—चरम (**चर**) शब्द से उपलक्षित होने से प्रथम उद्देशक का नाम 'चरम' है।

२. उन्माद—उन्माद (पागलपन) के अर्थ का प्रतिपादक होने से द्वितीय उद्देशक 'उन्माद' है।

३. शरीर—शरीर शब्द से उपलक्षित होने से तृतीय उद्देशक का नाम 'शरीर' है।

४. पुद्गल—पुद्गल के विषय में कथन होने से चतुर्थ उद्देशक का नाम 'पुद्गल' है।

५. अग्नि—'अग्नि' शब्द से उपलक्षित होने के कारण पंचम उद्देशक का नाम 'अग्नि' है।

६. किमाहार—'किस दिशा का आहार वाला होता है,' इस प्रकार के प्रश्न से युक्त होने के कारण छठे उद्देशक का नाम 'किमाहार' है।

७. संश्लिष्ट—'**चिरसंसिट्ठोऽसि गोयमा !**,' इस पद में आए हुए 'संश्लिष्ट' शब्द से युक्त होने से सप्तम उद्देशक का नाम 'संश्लिष्ट' है।

८. अन्तर—नरक-पृथ्वियों के अन्तर का प्रतिपादक होने से आठवें उद्देशक का नाम 'अन्तर' है।

९. अनगार—इसका सर्वप्रथम पद 'अनगार' है, इसलिए नौंवें उद्देशक का नाम 'अनगार' है और

१०. केवली—उद्देशक के प्रारम्भ में 'केवली' पद होने से इस उद्देशक का नाम 'केवली' है।[१]

OOO

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ६३०

पढमो उद्देसओ : 'चरम'

प्रथम उद्देशक : चरम (परम के मध्य की गति आदि)

भावितात्मा अनगार की चरम-परम मध्य में गति, उत्पत्ति-प्ररूपणा

२. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[२] राजगृह नगर में यावत् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं देवावासं वीतिक्कंते, परमं देवावासं असंपत्ते, एत्थ णं अंतरा कालं करेज्जा, तस्स णं भंते ! कहिं गती, कहिं उववाते पन्नत्ते ?

गोयमा! जे से तत्थ परिपस्सओ तल्लेसा देवावास तहिं तस्स गती, तहिं तस्स उववाते पन्नत्ते। से य तत्थगए विराहेज्जा कम्मलेस्सामेव पडिपडइ, से य तत्थ गए नो विराहेज्जा तामेव लेस्सं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

[३ प्र.] भगवन् ! (कोई) भावितात्मा अनगार, (जिसने) चरम (पूर्ववर्ती सौधर्मादि) देवावास (देवलोक) का उल्लंघन कर लिया हो, किन्तु परम (परभागवर्ती सनत्कुमारादि) देवावास (देवलोक) को प्राप्त न हुआ हो, यदि वह इस मध्य में ही काल कर जाए तो भंते ! उसकी कौन-सी गति होती है, कहाँ उपपात होता है ?

[३ उ.] गौतम! जो वहाँ (चरम देवावास और परम देवावास के) परिपार्श्व में उस लेश्या वाले देवावास होते हैं, वहीं उसकी गति होती है और वहीं उसका उपपात होता है। वह अनगार यदि वहाँ जा कर अपनी पूर्वलेश्या को विराधता (छोड़ता) है तो कर्मलेश्या (भावलेश्या) से ही गिरता है और यदि वह वहाँ जा कर उस लेश्या को नहीं विराधता (छोड़ता) है, तो वह उसी लेश्या का आश्रय करके विचरता (रहता) है।

४. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं असुरकुमारावासं वीतिक्कंते, परमं असुरकुमारा० ?

एवं चेव।

[४ प्र.] भगवन् ! (कोई) भावितात्मा अनगार, जो चरम असुरकुमारावास का उल्लंघन कर गया और परम असुरकुमारावास को प्राप्त नहीं हुआ, यदि इसके बीच में ही वह काल कर जाए तो उसकी कौन-सी गति होती है, उसका कहाँ उपपात होता है ?

[४ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

५. एवं जाव थणियकुमारावासं, जोतिसियावासं। एवं वेमाणियवासं जाव विहरइ।

[५] इसी प्रकार स्तनितकुमारावास, ज्योतिष्कावास और वैमानिकावास पर्यन्त (यावत्) विचरते हैं; यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—चरम-परम के मध्य में गति, उत्पत्ति—उपर्युक्त प्रश्न का आशय यह है कि कोई भावितात्मा अनगार, जो लेश्या के उत्तरोत्तर प्रशस्त अध्यवसाय-स्थानों के वर्तमान है, वह यदि पूर्ववर्ती सौधर्मादि देवलोक में उत्पन्न होने योग्य स्थितिबन्ध आदि का उल्लंघन कर गया हो किन्तु अभी तक परम (ऊपर रहे हुए) सनत्कुमारादि देवलोकों में उत्पन्न होने योग्य स्थितिबन्ध आदि अध्यवसायों को प्राप्त नहीं हुआ और इसी मध्य (अवसर) में अगर उसकी मृत्यु हो जाए तो वह कहाँ जाता है, कहाँ उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर भगवान् ने यों दिया है कि वह चरमदेवावास और परमदेवावास के निकटवर्ती उस लेश्या वाले देवावासों में जाता है, वहीं उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि सौधर्मादि देवलोक और सनतकुमारादि देवलोकों के पास में जो ईशान आदि देवलोक हैं, उनमें, अर्थात्—जिस लेश्या में वह अनगार काल करता है, उसी लेश्या वाले देवावासों में उत्पन्न होता है; क्योंकि यह सिद्धान्त वचन है—**'जल्लेसे मरइ जीवे, तल्लेसे चेव उववज्जइ'**—अर्थात्—'जीव जिस लेश्या में मरण पाता है, उसी लेश्या (वाले जीवों) में उत्पन्न होता है।' अर्थात्—उन देवावासों में उस अनगार की गति होती है। जिस लेश्या-परिणाम से वहाँ वह उत्पन्न होता है, यदि उस परिणाम की वह विराधना कर देता है तो द्रव्यलेश्या वही होते हुए भी कर्मलेश्या (भावलेश्या)—जीवपरिणति से वह गिर जाता है। तात्पर्य यह है कि वह शुभ भावलेश्या से गिर कर अशुभ भावलेश्या में चला जाता है, क्योंकि देव और नैरयिक द्रव्यलेश्या से नहीं गिरते, वह तो पहले वाली ही रहती है, किन्तु भावलेश्या से गिर जाते हैं। द्रव्यलेश्या तो देवों की अवस्थित रहती है। यदि वह अनगार जिस लेश्यापरिणाम से वहाँ (चरमदेवावास और परमदेवावास के मध्यवर्ती देवावास में) उत्पन्न होता है, यदि वह उस लेश्यापरिणाम की विराधना नहीं करता, तो वह जिस लेश्या से वहाँ उत्पन्न हुआ है, उसी लेश्या में जीवनयापन करता है। यह सामान्य देवावासों को लेकर कहा गया है। विशेष देवावासों की अपेक्षा अगला सूत्र कहा गया है।

शंका-समाधान—(प्र.) जो भावितात्मा अनगार है, वह असुरकुमारों में कैसे उत्पन्न होता है ? वहाँ तो संयम के विराधक जीव ही उत्पन्न होते हैं? इसके समाधान में वृत्तिकार कहते हैं—यहाँ भावितात्मापन पूर्वकाल की अपेक्षा से समझना चाहिए। अन्तिम समय में वे संयम के विराधक होने से असुरकुमारादि में उत्पन्न हो सकते हैं। अथवा यहाँ भावितात्मा का आशय **'बालतपस्वी भावितात्मा'** समझना चाहिए।[१]

चौवीस दण्डकों में शीघ्रगति-विषयक प्ररूपणा

६. नेरइयाणं भंते ! कहं सीहा गती ? कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से जहानामए केयि पुरिसे तरुणे बलवं जुगवं जाव[२] निउणसिप्पोवगए आउंटियं बाहं पसारेज्जा, पसारियं वा बाहं आउंटेज्जा, विक्खिणं वा मुट्ठिं साहरेज्जा, साहरियं वा मुट्ठिं विक्खिरेज्जा,

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३०-६३१

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२७७-२२७८

२. 'जाव' शब्द सूचक पाठ—''**जुवाणे........., अप्पातंके........., थिरग्गहत्थे........., दढपाणि-पाय-पाल-पिट्ठंतरोरूपरिएण........., तलजमलजुयल-परिघ-निभबाहू........., चम्मेट्ठ-दुहण-मुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए........., ओरसबलसमन्नागए........., लंघण-पवणजइणवायामसमत्थे........., छेए........., दुक्खे........., पत्तट्ठे........., कुसले........., मेहावी........., निउणे**'' - अवृ. पत्र ६३१

उम्मिसियं वा अच्छिं निमिसेज्जा, निमिसितं वा अच्छि उम्मिसेज्जा, भवेयारूवे ?

णो तिणट्ठे समट्ठे।

नेरइया णं एगसमएण वा दुसमएण वा तिसमएण वा विग्गहेणं उववज्जंति, नेरयाणं गोयमा ! तहा सीहा गती, तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते।

[६ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों की शीघ्र गति कैसी है ? और उनकी शीघ्रगति का विषय किस प्रकार का कहा गया है ?

[६ उ.] गौतम ! जैसे कोई तरुण, बलवान् एवं युगवान् (सुषम-दुःषमादिकाल में उत्पन्न हुआ विशिष्ट बलशाली) यावत् निपुण एवं शिल्पशास्त्र का ज्ञाता हो, वह अपनी संकुचित बाँह को शीघ्रता से फैलाए और फैलाई हुई बाँह को संकुचित करे; खुली हुई मुट्ठी बन्द करे और बंद मुट्ठी खोले; खुली हुए आँख बन्द करे और बन्द आँख खोले तो (हे गौतम !) क्या नैरयिक जीवों की इस प्रकार की शीघ्र गति होती है तथा शीघ्र गति का विषय होता है ?

(गौतम—) (भगवान् !) यह अर्थ समर्थ नहीं है।

(भगवान्—) (गौतम !) नैरयिक जीव एक समय की, दो समय की, अथवा तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होते हैं। हे गौतम ! नैरयिकों की ऐसी शीघ्र गति है और इस प्रकार का शीघ्र गति का विषय कहा गया है।

७. एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं एगिंदियाणं चउसमइए विग्गहे भाणियव्वे। सेसं तं चेव।

[७] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक (अर्थात्—चौवीस ही दण्डकों में) जानना चाहिए। विशेषता यह है कि एकेन्द्रियों में उत्कृष्ट चार समय की विग्रहगति कहनी चाहिए। शेष सभी पूर्ववत् जानना चाहिए।

विवेचन—शीघ्रगति से तात्पर्य—एक भव से दूसरे भव में जाने को यहाँ 'गति' कहा जाता है। नैरयिक जीव, नरक गति में एक समय, दो समय या तीन समय की गति से उत्पन्न होते हैं। उसमें एक समय की गति 'ऋजुगति' होती है और दो या तीन समय की गति विग्रहगति होती है। इस गति को यहाँ 'शीघ्रगति' कहा गया है। हाथ को पसारने और सिकोड़ने आदि में असंख्यात समय लगते हैं, इसलिए उसे शीघ्रगति नहीं कहा है। जब जीव, समश्रेणी में रहे हुए उत्पत्ति-स्थान में जा कर उत्पन्न होता है, तब एक समय की ऋतुगति होती है और जब विषमश्रेणी में रहे हुए उत्पत्तिस्थान में जा कर उत्पन्न होता है, तब दो या तीन समय की विग्रहगति होती है और एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट चार समय की विग्रहगति होती है।[१]

जब कोई जीव भरतक्षेत्र की पूर्व दिशा से नरक में पश्चिम दिशा में उत्पन्न होता है, तब वह पहले समय में नीचे आता है, दूसरे समय में तिरछे उत्पत्तिस्थान में जाकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार उसकी दो समय की विग्रहगति होती है।

जब कोई जीव भरतक्षेत्र की पूर्व दिशा से नरक में वायव्यकोण (विदिशा) में उत्पन्न होता है, तब एक

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२७९

समय में समश्रेणी द्वारा नीचे जाता है। दूसरे समय में पश्चिम दिशा में जाता है और तीसरे समय में तिरछे वाव्ययकोण में रहे अपने उत्पत्तिस्थान में जाकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार तीन समय की विग्रहगति होती है। यही नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीवों (एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय) की शीघ्रगति और शीघ्रगति का विषय कहा गया है।[१]

एकेन्द्रिय जीवों की चार समय की विग्रहगति—इस प्रकार समझनी चाहिए—जीव की गति श्रेणी के अनुसार होती है। अत: त्रसनाडी से बाहर रहा हुआ कोई एकेन्द्रिय जीव जब दूसरे भव में दूसरे समय में लोक के मध्य भाग में प्रविष्ट होता है। तीसरे समय में ऊँचा (ऊर्ध्वलोक में) जाता है और चौथे समय में त्रसनाडी से निकल कर दिशा में नियत—उत्पत्तिस्थान में जाता है। यह बात सामान्यतया अधिकांश एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा कही गई है; और[२] एकेन्द्रिय जीव बहुधा इसी प्रकार गति करते हैं, अन्यथा एकेन्द्रिय जीवों की पांच समय की विग्रहगति भी सम्भव है। वह इस प्रकार—पहले समय में त्रसनाडी से बाहर, वह अधोलोक की विदिशा से दिशा की ओर जाता है। दूसरे समय में लोक के मध्य भाग में प्रवेश करता है। तीसरे समय में ऊर्ध्वलोक में जाता है। चौथे समय में वहाँ से दिशा की ओर जाता है और पांचवें समय में विदिशा में रहे हुए उत्पत्तिस्थान में जाता है। इस प्रकार पांच समय की विग्रहगति भी कही गई है।[३]

कठिन शब्दार्थ—सीहा—शीघ्र, **आउंटेज्जा**—सिकोडे। **उण्णिमिसियं**—खुली हुई। **विक्खिण्णं**—खोली हुई।[४]

चौवीस दण्डकों में अनन्तरोपपन्नकादि प्ररूपणा

८. [१] नेरइया णं भंते! किं अणंतरोववन्नगा, परंपरोववन्नगा, अणंतरपरंपरअणुववन्नगा वि ?

गोयमा ! नेरइया अणंतरोववन्नगा वि, परंपरोववन्नगा वि, अणंतरपरंपरअणुववन्नगा वि।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक अनन्तरोपपन्नक हैं, परम्परोपपन्नक हैं, अथवा अनन्तरपरम्परानुपपन्नक हैं ?

[८-१ प्र.] गौतम ! नैरयिक अनन्तरोपन्नक भी हैं, परम्परोपपन्नक भी हैं, और अनन्तर-परम्परानुपपन्नक भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव अणंतरपरंपरअणुववन्नगा वि ?

गोयमा ! जे णं नेरइया पढमसमयोववन्नगा ते णं नेरइया अणंतरोववन्नगा, जे णं नेरइया अपढमसमयोववन्नगा ते णं नेरइया परंपरोववन्नगा, जे णं नेरइया विग्गहगतिसमाववन्नगा ते णं नेरइया

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३२
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२७९-२२८०

२. वही, हिन्दी विवेचन भा. ५, पृ. २२८०

३. विदिसाउ दिसि पढमे, बीए पइ सरइ नाडिमज्झंमि।
उड्ढं तइए तुरिए उ नीइ विदिसं तु पंचमए॥ —अ. वृत्ति, पत्र ६३२

४. भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५, पृ. २२८०

अणंतरपरंपरअणुववन्नगा। से तेणट्ठेणं जाव अणुववन्नगा वि।

[८-२ प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा है कि नैरयिक यावत् (अनन्तरो०, परम्परो०) और अनन्तर-परम्परानुपपन्नक भी हैं ?

[८-२ उ.] गौतम ! जिन नैरयिकों को उत्पन्न हुए अभी प्रथम समय ही हुआ है (उत्पत्ति में एक समय का भी व्यवधान नहीं पड़ा), वे (नैरयिक) अनन्तरोपपन्नक (कहलाते हैं)। जिन नैरयिकों को उत्पन्न हुए अभी दो, तीन आदि समय हो चुके हैं, (अर्थात्—प्रथम समय के सिवाय द्वितीयादि समय हो गए हैं,) वे (नैरयिक) परम्परोपपन्नक (कहलाते) हैं और जो नैरयिक जीव नरक में उत्पन्न होने के लिए (अभी) विग्रहगति में चल रहे हैं, वे (नैरयिक) अन्तर-परम्परानुपपन्नक (कहलाते) हैं। इस कारण से हे गौतम ! नैरयिक जीव यावत् अनन्तर-परम्परानुपपन्नक भी हैं।

९. एवं निरंतरं जाव वेमाणिया।

[९] इसी प्रकार (यह पाठ) निरन्तर यावत् वैमानिक (तक कहना चाहिए)।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक—जिनकी उत्पत्ति में समय आदि का अन्तर (व्यवधान) नहीं है, अर्थात्—जिन्हें उत्पन्न हुए प्रथम समय हुआ है, वे **परम्परोपपन्नक**—जिन्हें उत्पन्न हुए दो-तीन आदि समय हो गए हों, वे। **अनन्तर-परम्परानुपपन्नक**—जिनकी उत्पत्ति न तो भव के प्रथम समय में हुई है और न ही द्वितीयादि समयों में, ऐसे विग्रहगति-समापपन्नक जीव **अनन्तर-परम्परानुपपन्नक** कहलाते हैं। नैरयिक जीव जब विग्रहगति में होते हैं,[१] तब पूर्वोक्त दोनों प्रकार की उत्पत्ति का अभाव होता है।

अनन्तरोपपन्नकादि चौवीस दण्डकों में आयुष्यबंध-प्ररूपणा

१०. अणंतरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं पकरेंति ? तिरिक्ख-मणुस्स-देवाउयं पकरेंति ?

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, जाव नो देवाउयं पकरेंति।

[१० प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक नैरयिक, नैरयिक का आयुष्य बाँधते हैं, अथवा तिर्यञ्च का, मनुष्य का या देव का आयुष्य बाँधते हैं ?

[१० उ.] गौतम ! वे नैरयिक का आयुष्य नहीं बाँधते, यावत् (तिर्यञ्च का, मनुष्य का एवं) देव का आयुष्य भी नहीं बाँधते।

११. परंपरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं पकरेंति, जाव देवाउयं पकरेंति ?

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३३

[११ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक नैरयिक, क्या नैरयिक का आयुष्य बाँधते हैं, यावत् क्या देवायुष्य बाँधते हैं ?

[११ उ.] गौतम ! वे नैरयिक का आयुष्य नहीं बाँधते, वे तिर्यञ्च का आयुष्य बाँधते हैं, मनुष्य का आयुष्य भी बाँधते हैं, (किन्तु) देवायुष्य नहीं बांधते।

१२. अणंतरपरंपरअणुववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं प० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, जाव नो देवाउयं पकरेंति।

[१२ प्र.] भगवन् ! अनन्तर-परम्परानुपपन्नक नैरयिक, क्या नैरयिक का आयुष्य बाँधते हैं ? इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न।

[१२ उ.] गौतम ! वे नैरयिक का आयुष्य नहीं बाँधते, यावत् (तिर्यञ्च का, मनुष्य का या) देव का आयुष्य नहीं बाँधते।

१३. एवं जाव वेमाणिया, नवरं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य परंपरोवन्नगा चत्तारि वि आउयाइं पकरेंति। सेसं तं चेव।

[१३] इसी प्रकार वैमानिकों तक (चौवीस दण्डकों में आयुष्यबन्ध का कथन करना चाहिए।) विशेषता यह है कि परम्परोपपन्नक पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक और मनुष्य नारकादि, चारों प्रकार का अर्थात् चारों में से किसी भी एक का आयुष्य बाँधते हैं। शेष (सभी कथन) पूर्ववत् (करना चाहिए।)

विवेचन—निष्कर्ष—अनन्तरोपपन्नक और अनन्तर-परम्परानुपपन्नक जीव नरकादि चारों गतियों का आयुष्य नहीं बाँधते; क्योंकि उस अवस्था में उस प्रकार के कोई अध्यवसाय (परिणाम) नहीं होते **'परिणामे बन्धः'** इस सिद्धान्तानुसार उस समय चारों गति के जीवों के आयुष्यबन्ध नहीं होता। परम्परोपपन्नक नैरयिक जीव एवं देव अपना आयुष्य छह मास शेष रहते तिर्यञ्च या मनुष्य का आयुष्यबन्ध करते हैं। परम्परोपपन्नक मनुष्य और तिर्यञ्च तो चारों ही गति का आयुष्य बाँधते हैं। अपने आयु के तृतीयादि भाग में, या कोई-कोई छह महीने शेष रहते आयुष्य बाँधते हैं।[१]

चौवीस दण्डकों में अनन्तर-निर्गतादि-प्ररूपणा

१४. [१] नेरइया णं भंते ! किं अणंतरनिग्गया परंपरनिग्गया अणंतरपरंपरअनिग्गया ?

गोयमा ! नेरइया णं अणंतरनिग्गया वि जाव अणंतरपरंपरअनिग्गया वि।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारक जीव अनन्तर-निर्गत हैं, परम्पर-निर्गत हैं या अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत हैं ?

[१४-१ उ.] गौतम ! नैरयिक अनन्तर-निर्गत भी होते हैं, परम्पर-निर्गत भी होते हैं और अनन्तर-परम्पर

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३३

अनिर्गत भी होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव अणिग्गता वि ?

गोयमा ! जे णं नेरइया पढमसमयनिग्गया ते णं नेरइया अणंतरनिग्गया, जे णं नेरइया अपढमसमयनिग्गया ते णं नेरइया परंपरनिग्गया, जे णं नेरइया विग्गहगतिसमावन्नगा ते णं नेरइया अणंतरपरंपरणिग्गया। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अणिग्गता वि।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि नैरयिक अनन्तर-निर्गत भी होते हैं, यावत् अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत भी होते हैं ?

[१४-२ उ.] गौतम ! जिन नैरयिकों को नरक से निकले प्रथम समय ही है, वे अनन्तर-निर्गत हैं, जो नैरयिक अप्रथम (प्रथम समय-व्यतिरिक्त समय—द्वितीयादि समय) में निर्गत हुए (निकले) हैं, वे 'परम्पर-निर्गत' हैं और जो नैरयिक विग्रहगति-समापन्नक हैं, वे 'अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत' हैं। इसी कारण, हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि नैरयिक जीव, यावत् (अनन्तर-निर्गत भी हैं, परम्पर-निर्गत भी हैं और) अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत भी हैं।

१५. एवं जाव वेमाणिया।

[१५] इसी प्रकार वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन—अनन्तर-निर्गत—एक भव से निकल कर दूसरा भव प्राप्त होने के प्रथम समयवर्ती जीव। **परम्पर-निर्गत**—जिन जीवों को एक भव से निकल कर भवान्तर को प्राप्त हुए दो-तीन आदि समय हो चुके हैं, वे। **अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत**—जो एक भव से निकल कर भवान्तर में उत्पत्तिस्थान को प्राप्त नहीं हुए, अभी जो विग्रहगति में ही हैं, ऐसे जीव।[1]

चौवीस ही दण्डकों के जीव अनन्तर-निर्गत, परम्पर-निर्गत और अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत, तीनों प्रकार के होते हैं।

अनन्तरनिर्गतादि चौवीस दण्डकों में आयुष्यबन्ध-प्ररूपणा

१६. अणंतरनिग्गया णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं पकरेंति, जाव देवाउयं पकरेंति ?

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति जाव नो देवाउयं पकरेंति।

[१६ प्र.] भगवन् ! अनन्तरनिर्गत नैरयिक जीव, क्या नारकायुष्य बांधते हैं यावत् देवायुष्य बांधते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! वे न तो नरकायुष्य बांधते हैं, न तिर्यञ्चायु, न मनुष्यायु और न ही देवायुष्य बांधते हैं।

१७. परंपरनिग्गया णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नेरइयाउयं पि पकरेंति, जाव देवाउयं पि पकरेंति।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३३

[१७ प्र.] भगवन् ! परम्पर-निर्गत नैरयिक, क्या नरकायु बांधते हैं ? इत्यादि (पूर्ववत्) पृच्छा।

[१७ उ.] गौतम ! वे नरकायुष्य भी बांधते हैं, यावत् देवायुष्य भी बांधते हैं।

१८. अणंतरपरंपरअणिग्गया णं भंते ! नेरइया० पुच्छा०।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पि पकरेंति, जाव नो देवाउयं पि पकरेंति।

[१८ प्र.] भगवन् ! अनन्तर-परम्पर-अनिर्गत नैरयिक, क्या नारकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१८ उ.] गौतम ! वे न तो नारकायुष्य बांधते, यावत् न देवायुष्य बांधते हैं।

१९. निरवसेसं जाव वेमाणिया।

[१९] इसी प्रकार शेष सभी कथन वैमानिकों तक करना चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष—परम्पर-निर्गत सभी जीव सर्वगतियों का आयुष्य बांधते हैं; क्योंकि परम्पर-निर्गत नैरयिक, मनुष्य और तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय ही होते हैं। वे सर्वायुबन्धक होते हैं। इस प्रकार परम्पर-निर्गत सभी वैक्रिय जन्म वाले जीव (अर्थात्—देव और नैरयिक) तथा औदारिक जन्म वाले कितने ही जीव मनुष्य और तियञ्च होते हैं। इसलिए परम्परनिर्गत जीव सभी गति का आयुष्य बांधते हैं।[१]

चौवीस दण्डकों में अनन्तरखेदोपपन्नादि अनन्तरखेदनिर्गतादि एवं आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा

२०. नेरइया णं भंते ! किं अणंतरखेदोववन्नगा, परंपरखेदोववन्नगा, अणंतरपरंपरखेदाणुववन्नगा ?

गोयमा ! नेइरया०, एवं एतेणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा भाणियव्वा।

सेव भंते ! सेव भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ चोद्दसमे सए पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-१ ॥

[२० प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव क्या अनन्तर-खेदोपपन्नक हैं, परम्पर-खेदोपपन्नक हैं अथवा अनन्तरपरम्पर-खेदानुपन्नक हैं ?

[२० उ.] गौतम ! नैरयिक जीव, अनन्तर-खेदोपपन्नक भी हैं, परम्पर-खेदोपन्नक भी हैं और अनन्तर-परम्पर-खेदानुपपन्नक भी हैं। इस अभिलाप द्वारा वे ही पूर्वोक्त चार दण्डक कहने चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तर-खेदोपपन्नक—उत्पत्ति के प्रथम समय में ही जिनकी उत्पत्ति दुःखयुक्त है। **परम्पर-खेदोपपन्नक**—जिनकी खेदयुक्त उत्पत्ति में दो-तीन आदि समय व्यतीत हो चुके हैं, वे। **अनन्तर-परम्पर-खेदानुपपन्नक**—जिनकी अनन्तर अथवा परम्पर खेदयुक्त उत्पत्ति नहीं है, वे। ऐसे जीव विग्रहगतिवर्ती होते हैं।[१]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३४

तीनों के विषय में पूर्वोक्त चार दण्डक—इस प्रकार हैं—(१) खेदोपपन्नक दण्डक, (२) खेदोपपन्नक-सम्बन्धी आयुष्यबन्ध का दण्डक, (३) खेदनिर्गत दण्डक, और (४) खेदनिर्गत-सम्बन्धी आयुष्यबंध का दण्डक। ये चारों दण्डक[2] पूर्वोक्त वक्तव्यतानुसार करने चाहिए।

॥ चौदहवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३४

बीओ उद्देसओ : 'उम्माद'

द्वितीय उद्देशक : उन्माद [प्रकार, अधिकारी]

उन्माद : प्रकार, स्वरूप और चौवीस दण्डकों में सहेतुक प्ररूपणा

१. कतिविधे णं भंते ! उम्मादे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते, तं जहा—जक्खाएसे य मोहणिज्जस्स य कम्मस्स उदएणं। तत्थ णं जे से जक्खाएसे से णं सुहवेयणतराए चेव, सुहविमोयणतराए चेव। तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं से णं दुहवेयणतराए चेव, दुहविमोयणतराए चेव।

[१ प्र.] भगवन् ! उन्माद कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! उन्माद दो प्रकार का कहा गया है, यथा—यक्षावेश से और मोहनीयकर्म के उदय से (होने वाला)। इनमें से जो यक्षावेशरूप उन्माद है, उसका सुखपूर्वक वेदन किया जा सकता है और वह सुखपूर्वक छुड़ाया (विमोचन कराया) जा सकता है। (किन्तु) इनमें से जो मोहनीयकर्म के उदय से होने वाला उन्माद है, उसका दुःखपूर्वक वेदन होता है और दुःखपूर्वक ही उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

२ [१] नेरइयाणं भंते ! कतिविधे उम्मादे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उम्मादे पन्नत्ते, तं जहा—जक्खाएसे य, मोहणिज्जस्स य कम्मस्स उदएणं।

[२-१ प्र.] भगवन् ! नारक जीवों के कितने प्रकार का उन्माद कहा गया है ?

[२-१ उ.] गौतम ! उनमें दो प्रकार का उन्माद कहा गया है, यथा—यक्षावेशरूप उन्माद और मोहनीयकर्म के उदय से होने वाला उन्माद।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नेरइयाणं दुविहे उम्मादे पण्णत्ते, तं जहा—जक्खाएसे य, मोहिणिज्जस्स जाव उदएणं' ?

गोयमा ! देवे वा से असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा, से णं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खाएसं उम्मायं पाउणिज्जा। मोहणिज्जस्स वा कम्मस्स उदएणं मोहणिज्जं उम्मायं पाउणेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव उदएणं।

[२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि नारकों के दो प्रकार के उन्माद कहे गए हैं, यक्षावेशरूप और मोहनीयकर्म के उदय से होने वाला ?

[२-२ उ.] गौतम ! यदि कोई देव, नैरयिक जीव पर अशुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करता है, तो उन अशुभ पुद्गालों के प्रक्षेप से वह नैरयिक जीव यक्षावेशरूप उन्माद को प्राप्त होता है और मोहनीयकर्म के उदय से मोहनीयकर्मजन्य-उन्माद को प्राप्त होता है। इस कारण, हे गौतम ! दो प्रकार का उन्माद कहा गया है, यावत् मोहनीयकर्मोदय से होने वाला उन्माद।

३. असुरकुमाराणं भंते ! कतिविधे उम्मादे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उम्माए पन्नत्ते। एवं जहेव नेरइयाणं, नवरं—देवे वा से महिड्डियतराए असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा, से णं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खाएसं उम्मादं पाउणेज्जा, मोहणिज्जस्स वा। सेसं तं चेव। से तेणट्ठेणं जाव उदएणं।

[३ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों में कितने प्रकार का उन्माद कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! नैरयिकों के समान उनमें भी दो प्रकार का उन्माद कहा गया है। विशेषता (अन्तर) यह है कि उनकी अपेक्षा महर्द्धिक देव, उन असुरकुमारों पर अशुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करता है और वह उन अशुभ पुद्गलों के प्रक्षेप से यक्षावेशरूप उन्माद को प्राप्त हो जाता है तथा मोहनीयकर्म के उदय से मोहनीयकर्मजन्य-उन्माद को प्राप्त होता है। शेष सब कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

४. एवं जाव थणियकुमाराणं ।

[४] इसी प्रकार स्तनितकुमारों (तक के उन्माद के विषय में समझना चाहिए)।

५. पुढविकाइयाणं जाव मणुस्साणं, एतेसिं जहा नेरइयाणं।

[५] पृथ्वीकायिकों से लेकर मनुष्यों तक नैरयिकों के समान कहना चाहिए।

६. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं।

[६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्कदेव और वैमानिकदेवों (के उन्माद) के विषय में भी असुरकुमारों के समान कहना चाहिए।

विवेचन—उन्माद : प्रकार और कारण—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. १-७ तक) में उन्माद के दो प्रकार (यक्षावेशजन्य और मोहनीयजन्य) बता कर, नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में इन दोनों प्रकार के उन्मादों का अस्तित्व बताया है। यक्षावेशरूप उन्माद के कारण में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। वह यह है कि चार प्रकार के देवों को छोड़कर नैरयिकों, पृथ्वीकायादि तिर्यञ्चों और मनुष्यों पर कोई देव अशुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करता है, तब वे यक्षावेश-उन्मादग्रस्त होते हैं, जबकि चारों प्रकार के देवों पर कोई उनसे भी महर्द्धिक देव अशुभ पुद्गल-प्रक्षेप करता है तो वह यक्षावेशरूप उन्माद से ग्रस्त होता है।[१]

उन्माद का स्वरूप—उन्मत्तता को उन्माद कहते हैं, अर्थात् जिससे स्पष्ट या शुद्ध चेतना (विवेकज्ञान) लुप्त हो जाए, उसे उन्माद कहते हैं।

यक्षावेश-उन्माद का लक्षण—शरीर में भूत, पिशाच, यक्ष आदि देव विशेष के प्रवेश करने से जो उन्माद है, वह यक्षावेश उन्माद है।[२]

मोहनीयजन्य-उन्माद : स्वरूप और प्रकार—मोहनीयकर्म के उदय से आत्मा का पारमार्थिक (वास्तविक सत्-असत् का) विवेक नष्ट हो जाना, मोहनीय-उन्माद कहलाता है। इसके दो भेद हैं—मिथ्यात्वमोहनीय-

---

१. वियाहपण्णतिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ६६१-६६२

२. भगवती. अ. वृति, पत्र ६३४

उन्माद और चारित्रमोहनीय-उन्माद। मिथ्यात्वमोहनीय-उन्माद के प्रभाव से जीव अतत्त्व को तत्त्व और तत्त्व को अतत्त्व मानता है। चारित्रमोहनीय के उदय से जीव विषयादि के स्वरूप को जानता हुआ भी अज्ञानी के समान उसमें प्रवृत्ति करता है। अथवा चारित्रमोहनीय की वेद नामक प्रकृति के उदय से जीव हिताहित का भान भूल कर स्त्री आदि में आसक्त हो जाता है, मोह के नशे में पागल बन जाता है। वेदोदय काम-ज्वर से उन्मत्त जीव की दस दशाएँ इस प्रकार हैं—

चिंतेइ १ दट्ठुमिच्छइ २ दीहं नीससइ ३ तह जरे ४ दाहे ५।
भत्तअरोअग ६, मुच्छा ७ उन्माय ८ न याणई ७ मरणं १० ॥ १॥

अर्थात्—तीव्र वेदोदय (काम) से उन्मत हुआ जीव (१) सर्वप्रथम विषयों, कामभोगों या स्त्रियों आदि का चिन्तन करता है; (२) फिर उन्हें देखने के लिए लालायित होता है, (३) न प्राप्त होने पर दीर्घ निःश्वास डालता है, (४) काम-ज्वर उत्पन्न हो जाता है, (५) दाहग्रस्त के समान पीडित हो जाता है, (६) खाने-पीने में अरुचि हो जाती है, (७) कभी-कभी मूर्च्छा (बेहोशी) आ जाती है, (८) उन्मत्त होकर बड़बड़ाने लगता है, (९) काम के आवेश में उसका विवेकज्ञान लुप्त हो जाता है और अन्त में (१०) कभी-कभी मोहावेशवश मृत्यु भी हो जाती है।[१]

दोनों उन्मादों में सुखवेद्य-सुखमोच्य कौन ?—मोहजन्य उन्माद की अपेक्षा यक्षाविष्ट उन्माद का सुखपूर्वक वेदन और विमोचन हो जाता है; जबकि मोहजन्य-उन्माद दुःखपूर्वक वेद्य एवं मोच्य है। उसकी अपेक्षा दुःखपूर्वक वेदन एवं विमोचन इसलिए होता है कि मोहनीयकर्म अनन्त संसार-परिभ्रमण एवं परिवृद्धि का कारण है। संसार-परिभ्रमण रूप दुःख का वेदन कराना मोहनीय का स्वभाव है। यक्षावेश-उन्माद का सुखपूर्वक वेदन इसलिए होता है कि वह अधिक से अधिक एकभवाश्रयी होता है, जबकि मोहनीयजन्य-उन्माद कई भवों तक चलता है। इसलिए उसका छुड़ाना सरल नहीं है। वह बड़ी कठिनाई से छुड़ाया जा सकता है। विद्या, मंत्र, तन्त्र, इष्ट देव या अन्य देवों द्वारा भी उसका छुड़ाया जाना अशक्य-सा है। यक्षावेश सुखविमोचनतर है। क्योंकि यक्षाविष्ट पुरुष को खोड़ा-बेड़ी आदि बन्धन में डाल देने पर वह वश में हो जाता है; जबकि मिथ्यात्वमोहनीयजन्य उन्माद इस तरीके से कदापि मिटता नहीं। कहा भी है—

सर्वज्ञ-मन्त्रवाद्यपि, यस्य न सर्वस्य निग्रहे शक्तः।
मिथ्या-मोहोन्मादः, स केन किल कथ्यतां तुल्यः ? ॥

सर्वज्ञ का मंत्रवादी महापुरुष भी मोहनीयजन्य उन्माद का निराकरण करने में (मिथ्यात्वरूपी मोहोन्माद को दूर करने) में समर्थ नहीं है। इसलिए बताइए कि मिथ्यात्वमोहनीयजन्य-उन्माद की किसके साथ तुलना की जा सकती है ! इसलिए दोनों उन्मादों में से यक्षावेश रूप उन्माद का सुखपूर्वक वेदन-विमोचन हो सकता है।[२]

स्वाभाविकवृष्टि और देवकृतवृष्टि का सहेतुक निरूपण

७. अत्थि णं भंते ! पज्जन्ने कालवासी वुट्ठिकायं पकरेति ? हंता, अत्थि।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३५

२. (क) भगवती. हिन्दीविवेचन भा. ५, पृ. २२९०-७९ (ख) भगवती. अ. वृ., पत्र ६३५

[७ प्र.] भगवन् ! कालवर्षी (काल—समय पर बरसने वाला) मेघ (पर्जन्य) वृष्टिकाय (जलसमूह) बरसाता है ?

[७ उ.] गौतम ! वह बरसाता है।

८. जाहे णं भंते । सक्के देविंदे देवराया वुट्ठिकायं काउकामे भवति से कहमियाणिं पकरेंति ?

गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया अब्भंतरपरिसाए देवे सद्दावेति, तए णं ते अब्भंतरपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा मज्झिमपरिसाए देवे सद्दावेंति, तए णं ते मज्झिमपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा बाहिरपरिसाए देवे सद्दवेंति, तए णं ते बाहिरपरिसगा दवा सद्दाविया समाणा बाहिरबाहिरगे देवे सद्दावेंति, तए णं ते बाहिरबाहिरगा देवा सद्दाविया समाणा आभियोगिए देवे सद्दावेंति, तए णं ते जाव सद्दाविया समाणा वुट्ठिकाइए देवे सद्दावेंति, तए णं ते वुट्ठिकाइया देवा सद्दाविया समाणा वुट्ठिकायं पकरेंति। एवं खलु गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया वुट्ठिकायं पकरेति ?

[८ प्र.] भगवन् ! जब देवेन्द्र देवराज शक्र वृष्टि करने की इच्छा करता है, तब वह किस प्रकार वृष्टि करता है?

[८ उ.] गौतम ! जब देवेन्द्र देवराज शक्र वृष्टि करना चाहता है, तब (अपनी) आभ्यन्तर परिषद् के देवों को बुलाता है। बुलाए हुए वे आभ्यन्तर परिषद् के देव मध्यम परिषद् के देवों को बुलाते हैं। तत्पश्चात् बुलाये हुए वे मध्यम परिषद् के देव, बाह्य परिषद् के देवों को बुलाते हैं, तब बुलाये हुए वे बाह्य-परिषद् के देव बाह्य-बाह्य (बाहर-बाहर—बाह्य परिषद् से बाहर) के देवों को बुलाते हैं। फिर वे बाह्य-बाह्य देव आभियोगिक देवों को बुलाते हैं। इसके पश्चात् बुलाये हुए वे आभियोगिक देव वृष्टिकायिक देवों को बुलाते हैं और तब वे बुलाये हुए वृष्टिकायिक देव वृष्टि करते हैं। इस प्रकार हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र वृष्टि करता है।

९. अत्थि णं भंते ! असुरकुमारा वि देवा वुट्ठिकायं पकरेंति ?

हंता, अत्थि।

[९ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार देव भी वृष्टि करते हैं ?

[९ उ.] हाँ, गौतम ! (वे भी वृष्टि) करते हैं।

१०. किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा वुट्ठिकायं पकरेंति ?

गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो एएसि णं जम्मणमहिमासु वा, निक्खमणमहिमासु वा, नाणुप्पायमहिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा वुट्ठिकायं पकरेंति।

[१० प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देव किस प्रयोजन से वृष्टि करते हैं ?

[१० उ.] गौतम ! जो ये अरिहन्त भगवन् होते हैं, उनके जन्म-महोत्सवों पर, निष्क्रमण महोत्सवों पर, ज्ञान (केवलज्ञान) की उत्पत्ति के महोत्सवों पर, परिनिर्वाण-महोत्सवों जैसे अवसरों पर हे गौतम ! असुरकुमार देव वृष्टि करते हैं।

११. एवं नागकुमारा वि।

[११] इसी प्रकार नागकुमार देव भी वृष्टि करते हैं।

१२. एवं जाव थणियकुमारा।

[१२] स्तनितकुमारों तक भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

१३. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया एवं चेव।

[१३] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष—प्रस्तुत सात सूत्रों में मेघ द्वारा स्वाभाविक और भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों द्वारा बिना मौसम के तीर्थंकर भगवन्तों के पंचकल्याणक महोत्सवों के निमित्त से स्वैच्छिक वृष्टि करने का वर्णन किया है। शक्रेन्द्र द्वारा वृष्टि करने की प्रक्रिया का भी वर्णन किया गया है।

इस वर्णन पर से 'ईश्वर की इच्छा होती है, तब वह वर्षा बरसाता है,' इस मान्यता का निराकरण हो जाता है। तथ्य यह है कि वृष्टि या तो मेघ द्वारा मौसम पर स्वाभाविक होती है अथवा देवेच्छाकृत होती है अथवा देवेच्छाकृत होती है। अथवा पर्जन्य इन्द्र को भी कहते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—पज्जण्णे—पर्जन्य-मेघ। **वुट्ठिकायं**—वृष्टिकाय-जलवृष्टिसमूह। **काउकामे**—करने का इच्छुक। **कहमियाणिं**—किस प्रकार से। **किंपत्तियं**—किस निमित्त (प्रयोजन) से, किसलिए। **णाणुप्पायमहियासु**—केवलज्ञान की उत्पत्ति-महोत्सवों पर। **कालवासी**—काल-समय पर (प्रावृट-वर्षा ऋतु में) बरसने वाला। पर्जन्य का अर्थ इन्द्र करने पर वह भी तीर्थंकरजन्म-महोत्सव आदि पर बरसाता है।[२]

ईशानदेवेन्द्रादि चतुर्विधदेवकृत तमस्काय का सहेतुक निरूपण

१४. जाहे णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुकायं काउतुकामे भवति से कहमियाणिं पकरेति ?

गोयमा ! ताहे चेव णं ईसाणे देविंदे देवराया अब्भिंतरपरिसाए देवे सद्दावेति, तए णं ते अब्भिंतरपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा एवं जहेव सक्कस्स जाव तए णं ते आभियोगिका देवा सद्दाविया समाणा तमुकाइए देवे सद्दावेंति, तए णं तमुकाइया देवा सद्दाविया समाणा तमुकायं पकरेंति, एवं खलु गोयमा ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुकायं पकरेति।

[१४ प्र.] भगवन् ! जब देवेन्द्र देवराज ईशान तमस्काय करना चाहता है, तब किस प्रकार करता है ?

[१४ उ.] गौतम ! जब देवेन्द्र देवराज ईशान तमस्काय करना चाहता है, तब आभ्यन्तर परिषद् के देवों को बुलाता है और फिर वे बुलाए हुए आभ्यन्तर परिषद् के देव मध्यम परिषद् के देवों को बुलाते हैं, इत्यादि सब वर्णन ; यावत्—'तब बुलाये हुए वे आभियोगिक देव तमस्कायिक देवों को बुलाते हैं, और फिर वे समाहूत तमस्कायिक देव तमस्काय करते हैं; यहाँ तक शक्रेन्द्र (द्वारा वृष्टिकाय प्रक्रिया) के समान जानना चाहिए। हे गौतम ! इस प्रकार देवेन्द्र देवराज ईशान तमस्काय करता है।

१५. अत्थि णं भंते ! असुरकुमारा वि देवा तमुकायं पकरेंति ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३५

२. (क) भगवती. अ. वृ., पत्र ६३५-६३६

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२९२

हंता, अत्थि।

[१५ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार देव भी तमस्काय करते हैं ?

[१५ उ.] हाँ, गौतम ! (वे) करते हैं।

१६. किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुकायं पकरेंति ?

गोयमा ! किड्डारतिपत्तियं वा, पडिणीयविमोहणट्ठयाए वा, गुत्तिसारक्खणहेउं वा अप्पणो वा सरीरपच्छायणट्ठयाए, एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा वि देवा तमुकायं पकरेंति।

[१६ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देव किस कारण से तमस्काय करते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! क्रीडा और रति के निमित्त, शत्रु (विरोधी, प्रत्यनीक) को विमोहित करने के लिए, गोपनीय (छिपाने योग्य) धनादि की सुरक्षा के हेतु, अथवा अपने शरीर को प्रच्छादित करने (ढँकने) के लिए, हे गौतम ! इन कारणों के असुरकुमार देव भी तमस्काय करते हैं।

१७. एवं जाव वेमाणिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ चोद्दसमे सए : बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥ १४-२ ॥

[१७] इसी प्रकार (शेष भवनपति देव, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा) वैमानिकों तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—देवेन्द्र ईशान कृत तमस्काय प्रक्रिया—यह प्रक्रिया भी शक्रेन्द्र-वृष्टिकाय की प्रक्रिया के समान है।[1]

चतुर्विध देवकृत तमस्काय के चार कारण—तमस्काय का अर्थ है—अन्धकार-समूह। उसे करने के चार कारण ये हैं—(१) क्रीडा एवं रति के निमित्त, (२) विरोधी को विमूढ बनाने के लिए, (३) गोपनीय द्रव्यरक्षार्थ और (४) स्वशरीर-प्रच्छादनार्थ।[2]

कठिन शब्दार्थ—तमक्कायं—तमस्काय—अन्धकार समूह। **किड्डारतिपत्तियं**—क्रीडा और रति (भोगविलास) के निमित्त। **गुत्तिसारक्खणहेउं**—गुप्त निधि की सुरक्षा के लिए।[3]

॥ चौदहवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

○○○

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६६३

२. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२९५

(ख) भगवती. अ. वृ., पत्र ६३६

३. वही, पत्र ६३६

तइओ उद्देसओ : 'सरीरे'

तृतीय उद्देशक : महाशरीर द्वारा अनगार आदि का व्यतिक्रमण

द्वारगाथा— महक्काए सक्कारे सत्थेणं वीवयंति देवा उ।

वासं चेव य बागा नेरइयाणं तु परिणामे॥

[द्वारगाथार्थ—(१) महाकाय, (२) सत्कार, (३) देवों द्वारा व्यतिक्रमण, (४) शस्त्र द्वारा अवक्रमण, (५) नैरयिकों द्वारा पुद्गल-परिणामानुभव, (६) वेदना-परिणामानुभव और (७) परिग्रह संज्ञानुभव।

भावितात्मा अनगार के मध्य में से होकर जाने का देव का सामर्थ्य-असामर्थ्य

१. [१] देवे णं भंते ! महाकाये महासरीरे अणगारस्स भावियप्पणो मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगए वीयीवएज्जा, अत्थेगतिए नो वीयीवएज्जा।

[१-१ प्र.] भगवन् ! क्या महाकाय और महाशरीर देव भावितात्मा अनगार के बीच में होकर—[उसे पार करके] निकल जाता है ?

[१-१ उ.] गौतम ! कोई निकल जाता है, और कोई नहीं जाता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'अत्थेगइए वीयीवएज्जा, अत्थेगतिए नो वीयीवएज्जा ?'

गोयमा ! देवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—मायीमिच्छादिट्ठीउववन्नगा य, अमायीसम्मद्दिट्ठीउववन्नगा य। तत्थ णं जे से मायीमिच्छद्दिट्ठीउववन्नए देवे से णं अणगारं भावियप्पाणं पासति, पासित्ता नो वंदति, नो नमसंति, नो सक्कारेइ, नो सम्माणेइ, नो कल्लाणं मंगलं देवतं जाव पज्जुवासति। से णं अणगारस्स भावियप्पणो मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा तत्थ णं जे से अमायीसम्मद्दिट्ठीउववन्नए देवे, से णं अणगारं भावियप्पाणं पासति, पासित्ता वंदति नमंसति जाव पज्जुवासइ, से णं अणगारस्स भावियप्पणो मज्झंमज्झेणं नो वीयीवएज्जा। से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव नो वीयीवएज्जा।

[१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि कोई बीच में अतिक्रमण करके चला जाता है, कोई नहीं जाता ?

[१-२ उ.] गौतम ! देव दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार—(१) मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक एवं (२) अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। इन दोनों में से जो मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक देव होता है, वह भावितात्मा अनगार को देखता है, (किन्तु) देख कर न तो वन्दना-नमस्कार करता है, न सत्कार-सम्मान करता है, और न ही कल्याणरूप, मंगलरूप, देवतारूप एवं ज्ञानवान् मानता है, यावत् न पर्युपासना करता है। ऐसा वह देव भावितात्मा अनगार के बीच में होकर चला जाता है, किन्तु जो अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक देव होता है, वह

भावितात्मा अनगार को देखता है। देख कर वन्दना-नमस्कार, सत्कार-सम्मान करता है, यावत् (कल्याण, मंगल, देव एवं ज्ञानमय मानता है) तथा पर्युपासना करता है। ऐसा वह देव भावितात्मा अनगार के बीच में होकर नहीं जाता।

२. असुरकुमारे णं भंते ! महाकाये महासरीरे०, एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या महाकाय और महाशरीर असुरकुमार देव भावितात्मा अनगार के मध्य में होकर जाता है ?

[२ उ.] गौतम ! इस विषय में पूर्ववत् समझना चाहिए।

३. एवं देवदंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणिए।

[३] इसी प्रकार देव-दण्डक (भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और) वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन—जो देव मायी-मिथ्यादृष्टि होता है, वह भावितात्मा अनगार के बीच में होकर निकल जाता है, क्योंकि वह अनगार को देख कर भी उसके प्रति भक्तिमान् नहीं होता है। इसलिए उसे वन्दनादि नहीं करता, न उसे कल्याण-मंगलादि रूप मान कर उसकी उपासना करता है। इसके विपरीत अमायी-सम्यग्दृष्टि देव, भावितात्मा अनगार को देखते ही उसे वन्दनादि करता है, कल्याणादि रूप मान कर उसकी उपासना करता है। अतः वह उसके बीच में होकर नहीं जाता। ऐसा चारों ही प्रकार के देवों के लिए कहा गया है।[१]

देव-दण्डक ही क्यों ?—देव-दण्डक का आशय है—चारों जाति के देवों में ही इस प्रकार की सम्भावना है। नैरयिकों तथा पृथ्वीकायिकादि जीवों के पास ऐसे साधन तथा सामर्थ्य सम्भव नहीं है। इसलिए इस प्रसंग में देव-दण्डक ही कहा गया है।[२]

महाकाय, महाशरीर : दोनों में अन्तर—यद्यपि काय और शरीर दोनों का अर्थ एक ही है, परन्तु यहाँ दोनों का अर्थ पृथक्-पृथक् है। यहाँ महाकाय का अर्थ है—प्रशस्तकाय वाला अथवा (बड़े) विशाल निकाय-परिवार वाला। महाशरीर का अर्थ है—विशालकाय शरीर वाला। **वीयीवएज्जा**—चला जाता है, लांघ जाता है।[३]

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में सत्कारादि विनय-प्ररूपणा

४. अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं सक्कारे इ वा सम्माणे इ वा किइकम्मे इ वा अब्भुट्ठाणे इ वा अजंलिपग्गहे इ वा आसणाभिग्गहे वि आसणाणुप्पदाणे इ वा, एंतस्स पच्चुग्गछणया, ठियस्स

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ६६३-६६४

२. भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ६३७

३. महान् बृहन् प्रशस्तो वा कायो—निकायो यस्य स महाकायः।
महासरीरे त्ति बृहत्तनुः॥ — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३६

पज्जुवासणया, गच्छंतस्स पडिसंसाहणया ?

नो तिणट्ठे समट्ठे।

[४ प्र.] भगवन् ! क्या नारकजीवों में (परस्पर) सत्कार, सम्मान, कृतिकर्म (वन्दन) अभ्युत्थान, अजंलिप्रग्रह, आसनाभिग्रह, आसनाऽनुप्रदान, अथवा नारक के सम्मुख (स्वागतार्थ) जाना, बैठे हुए आदरणीय व्यक्ति की सेवा (पर्युपासना) करना, उठ कर जाते हुए (सम्मान्य पुरुष) के पीछे (कुछ दूर तक) जाना इत्यादि विनय-भक्ति है ?

[४ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात नैरयिकों में) समर्थ (शक्य, सम्भव) नहीं है।

५. अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं सक्कारे इ वा सम्माणे इ वा जाव पडिसंसाहणता ?

हंता, अत्थि।

[५ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों में (परस्पर) सत्कार, सम्मान यावत् अनुगमन आदि विनयभक्ति होती है?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! है।

६. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[६] इसी प्रकार स्तनितकुमार देवों तक (के विषय में कहना चाहिए)।

७. पुढविकाइयाणं जाव चउरिंदियाणं, एएसिं जहा नेरइयाणं।

[७] जिस प्रकार नैरयिकों के लिए कहा है, उसी प्रकार पृथ्वीकायादि से ले कर चतुरिन्द्रिय जीवों तक जानना चाहिए।

८. अत्थि णं भंते ! पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं सक्कारे इ वा जाव पडिसंसाधणया ?

हंता, अत्थि, नो चेव णं आसणाभिग्गहे इ वा, आसणाणुप्पयाणे इ वा।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों में सत्कार, सम्मान, यावत् अनुगमन आदि विनय है?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! है, परन्तु इनमें आसनाभिग्रह या आसनाऽनुप्रदानरूप विनय नहीं है।

९. मणुस्साणं जाव वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं।

[९] जिस प्रकार असुरकुमारों के विषय में कहा, उसी प्रकार मनुष्यों से लेकर वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. ४ से ९ तक) में नैरयिकों से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में सत्कार-सम्मानादि विनयव्यवहार का निरूपण किया गया है। **निष्कर्ष**—नैरयिक जीवों, पंच स्थावरों, तीन विकलेन्द्रिय जीवों में परस्पर सत्कार-सम्मानादि विनयव्यवहार नहीं है, क्योंकि उनके पास इस प्रकार के

साधन नहीं हैं तथा वे सदैव दु:खग्रस्त रहते हैं। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में आसनाऽभिग्रह तथा आसनाऽनुप्रदानरूप विनयव्यवहार को छोड़ कर शेष सब विनयव्यवहार सम्भव हैं। क्योंकि पंचेन्द्रियतिर्यंचों में व्यक्त भाषा तथा हाथ का अभाव होने से ये दोनों प्रकार के विनय सम्भव नहीं हैं। चारों प्रकार के देवों और मनुष्यों में सत्कार-सम्मानादि सभी प्रकार के विनयव्यवहार हैं।

कठिन शब्दार्थ—**सक्कारेइ**—सत्कार अर्थात् विनययोग्य के प्रति वन्दनादि द्वारा आदर करना, अथवा उत्तम वस्त्रादि प्रदान द्वारा सत्कार करना। **सम्माणेइ**—सम्मान-तथाविध बहुमान करना। **किइकम्मेइ**—कृतिकर्म—वन्दन करना अथवा उनके आदेशानुसार कार्य करना। **अब्भुट्ठाणेइ**—अभ्युत्थान—आदरणीय व्यक्ति को देखते ही आदर देने के लिए आसन छोड़कर खड़े हो जाना। **अंजलिपग्गहे**—दोनों हाथों को जोड़ना, करबद्ध होना। **आसणाभिग्गहे**—आसन लाकर देना और विराजने के लिए आदरपूर्वक कहना। **आसणाणुप्पदाणे**—आसनाऽनुप्रदान—आसन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर बिछाना। **एतस्स-पच्चुग्गच्छणया**—आते हुए (सम्मान्य) पुरुष के सम्मुख जाना। **ठियस्स पज्जुवासणया**—बैठे हुए आदरणीय पुरुष की पर्युपासना करना। **गच्छंतस्स पडिसंसाहणया**—जब आदरणीय व्यक्ति उठ कर जाने लगे तब कुछ दूर तक उसके पीछे जाना।

अल्पर्धिक-महार्द्धिक-समर्द्धिक देव-देवियों के मध्य में से व्यतिक्रमनिरूपण

१०. अप्पिड्ढिए णं भंते ! देवे महिड्ढियस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा ?

नो तिणट्ठे समट्ठे।

[१० प्र.] भगवन् ! अल्पऋद्धि वाला देव, क्या महर्द्धिक देव के मध्य में हो कर जा सकता है ?

[१० उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) शक्य नहीं है।

११. समिड्ढिए णं भंते ! देवे समिड्ढियस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा ?

णो तिणट्ठे, समट्ठे पमत्तं पुण वीयीवएज्जा।

[११ प्र.] भगवन् ! समर्द्धिक (समानऋद्धि वाला) देव, सम-ऋद्धि वाले देव के मध्य में से होकर जा सकता है ?

[११ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है; किन्तु (यदि समान-ऋद्धि वाला देव) प्रमत्त (असावधान) हो तो (दूसरा समर्द्धिक देव उसके मध्य में से) जा सकता है।

१२. से णं भंते ! किं सत्थेणं अक्कामित्ता पभू, अणक्कमित्ता पभू ?

गोयमा ! अक्कमित्ता पभू, नो अणक्कमित्ता पभू।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३७
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२९८

[१२ प्र.] भगवन् ! मध्य में होकर जाने वाला देव, शस्त्र का प्रहार करके जा सकता है या बिना प्रहार किये ही जा सकता है ?

[१२ उ.] गौतम ! वह शस्त्राक्रमण करके जा सकता है, बिना शस्त्राक्रमण किये नहीं जा सकता।

१३. से णं भंते ! किं पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीयीवएज्जा, पुव्विं वीयीवतित्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमेज्जा ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहा दसमसए आतिड्ढीउद्देसए (स० १० उ० ३ सु० ६-१७) तहेव निरवसेसं चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जाव महिड्ढीया वेमाणिणी अप्पिड्ढियाए वेमाणिणीए।

[१३ प्र.] भगवन् ! वह देव, पहले शस्त्र का आक्रमण करके पीछे जाता है, अथवा पहले जा कर तत्पश्चात् शस्त्र से आक्रमण करता है ?

[१३ उ.] गौतम ! पहले शस्त्र का प्रहार करके फिर जाता है, किन्तु पहले जाकर फिर शस्त्र-प्रहार करता है, ऐसा नहीं होता। इस प्रकार अभिलाप द्वारा दशवें शतक के (तीसरे) 'आइड्ढिय' उद्देशक (सू. ६ से १७ तक) के अनुसार समग्र रूप से चारों दण्डक; यावत् महाऋद्धि वाली वैमानिक देवी, अल्पऋद्धि वाली वैमानिक देवी के मध्य में से होकर जा (निकल) सकती है, (यहाँ) तक कहना चाहिए।

विवेचन—चार दण्डक, तीन आलापक और निष्कर्ष—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १० से १३ तक) में चार दण्डकों में प्रत्येक में तीन-तीन आलापक कहे गए हैं। **चार दण्डक**—ये हैं—(१) देव और देव, (२) देव और देवी (३) देवी और देव और (४) देवी और देवी।[१] इन चारों दण्डकों के प्रत्येक के तीन आलापक यों हैं—**(१) अल्पर्द्धिक और महर्द्धिक,** प्रथम आलापक, **(२) समर्द्धिक और असमर्द्धिक,** द्वितीय आलापक तथा **(३) महर्द्धिक और अल्पर्द्धिक** तृतीय आलापक; जो मूलपाठ में साक्षात् नहीं कहा गया है, उसके लिए दशवें शतक का अतिदेश किया गया है। **द्वितीय आलापक के अन्त में सूत्रांश** इस प्रकार कहना चाहिए—"पहले शस्त्र द्वारा आक्रमण करके पीछे जाता है, किन्तु पहले जाकर बाद में शस्त्र द्वारा आक्रमण नहीं करता।"

तृतीय आलापक का कथन इस प्रकार—

[प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक देव, अल्पर्द्धिक देव के मध्य में हो कर जा सकता है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! जा सकता है।

[प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक देव शस्त्राक्रमण करके जा सकता है या शस्त्राक्रमण किये बिना ही जा सकता है ?

[उ.] गौतम ! शस्त्राक्रमण करके भी जा सकता है और शस्त्राक्रमण किये बिना भी जा सकता है।

[प्र.] भगवन् ! पहले शस्त्राक्रमण करके पीछे जाता है या पहले जाकर बाद में शस्त्राक्रमण करता है ?

[उ.] गौतम ! वह पहले शस्त्राक्रमण करके पीछे भी जा सकता है अथवा पहले जा कर बाद में भी

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३७

शस्त्राक्रमण कर सकता है।[१]

जीवाभिगमसूत्रातिदेशपूर्वक नैरयिकों के द्वारा वीस प्रकार के परिणामानुभव का प्रतिपादन

१४. रतणप्पभापुढविनेरइया णं भंते। केरिसयं पोग्गलपरिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं जाव अमणामं।

[१४ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलपरिणामों का अनुभव करते रहते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! वे अनिष्ट यावत् अमनाम (मन के प्रतिकूल पुद्गलपरिणाम) का अनुभव करते रहते हैं।

१५. एवं जाव अहेसत्तमापुढविनेरइया।

[१५] इसी प्रकार अध:सप्तमपृथ्वी के नैरयिकों तक कहना चाहिए।

१६. एवं वेदणापरिणामं।

[१६] इसी प्रकार वेदना-परिणाम का भी (अनुभव करते हैं)।

१७. एवं जहा जीवाभिगमे बितिए नेरइयउद्देसए, जाव अहेसत्तमापुढविनेरइया णं भंते ! केरिसयं परिग्गहसण्णापरिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं जाव अमणामं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चोद्दसमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ १४-३ ॥

[१७] इसी प्रकार जीवाभिगमसूत्र (की तृतीय प्रतिपत्ति) के द्वितीय नैरयिक उद्देशक में जैसे कहा है, वैसे यहाँ भी वे समग्र आलापक कहने चाहिए, यावत्—

[प्र.] भगवन् ! अध:सप्तमपृथ्वी के नैरयिक, किस प्रकार के परिग्रहसंज्ञा-परिणाम का अनुभव करते

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३७

(ख) भगवती. श. १०, उ. ३, सूत्र. ६-१७

(ग) द्वितीयालापक का सूत्रशेष—'**गोयमा ! पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता वीईवएज्जा, नो पुव्विं वीईवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमिज्जा।**' —भगवती. श. १० उ. ६ सू. ६-९७

(घ) **तृतीय महर्द्धिक-अल्पर्द्धिक-आलापक**—'महड्ढिए णं भंते! देवे अप्पड्ढियस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा ?' हंता, वीइवएज्जा। 'से णं भंते ! किं सत्थेणं अक्कमित्ता पभू अणक्कमिता पभू ? 'गोयमा ! अक्कमित्ता वि पभू, अणक्कमित्ता वि पभू।'से णं भंते ! किं पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीइवएज्जा, पुव्वि वीइवएज्जा, पच्छा सत्थेणं अक्कमेज्जा ?' गोयमा ! पुव्विं वा सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीइयएज्जा, पुव्विं वा वीइवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमिज्जा।' — भगवती. श. १० उ. ३, सू. ६-१७

रहते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे अनिष्ट यावत् अमनाम परिग्रहसंज्ञा-परिणाम का अनुभव करते हैं, (यहाँ तक समझना चाहिए)।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १४ से १७ तक) में जीवाभिगमसूत्र के अतिदेशपूर्वक सातों नरकपृथ्वियों के नैरयिकों द्वारा पुद्गलपरिणाम, वेदनापरिणाम आदि बीस परिणाम-द्वारों में विविध प्रकार के अनिष्ट यावत् अमनोज्ञ परिणामों के अनुभव का प्रतिपादन किया गया है।[१]

दस प्रकार की वेदनाओं का परिणामानुभव—नैरयिक जीव अशुभतम पुद्गल-परिणामों का अनुभव करने के उपरांत शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, खुजली, परतंत्रता, भय, शोक, जरा और व्याधि, इन १० प्रकार की वेदनाओं का भी अनिष्टतम परिणामानुभव करते हैं।[२]

॥ चौदहवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. **पोग्गलपरिणामं १ वेयणाइ २ लेसाइ ३ नाम-गोए य ४।**
अरई ५ भए ६ य सोगे ७ खुहा ८ पिवासा ९ य वाही य १० ॥ १॥
उस्सासे ११ अणुतावे १२ कोहे १३ माणे १४ य माय १५ लोभे य १६।
चत्तारी य सन्नाओ २० नेरइयाणं परीणामो ॥ २॥ —जीवा. प्रति. ३ उ. २ पत्र १०९-२७

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २२०३

चउत्थो उद्देसओ : 'पोग्गल'

चतुर्थ उद्देशक : पुद्गल (आदि के परिणाम)

पोग्गल १ खंधे २ जीवे ३ परमाणु ४ सासए य ५ चरमे य।

दुविहे खलु परिणामे, अजीवाणं य जीवाणं॥ ६॥

[**उद्देशक-प्रतिपाद्य संग्रह गाथार्थ**]—(१) पुद्गल, (२) स्कन्ध, (३) जीव, (४) परमाणु, (५) शाश्वत, (६) और अन्त में—द्विविध परिणाम—जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम, ये छह प्रतिपाद्य-विषय चतुर्थ उद्देशक में हैं।

त्रिकालवर्ती विविधस्पर्शादिपरिणत पुद्गल की वर्णादि परिणाम-प्ररूपणा

१. एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खी, समयं अलुक्खी, समयं लुक्खी वा अलुक्खी वा, पुव्विं च णं करणेणं अणेगवण्णं अणेगरूवं परिणामं परिणमइ, अह से परिणामे निज्जिण्णे भवति तओ पच्छा एगवण्णे एगरूवे सिया ?

हंता, गोयमा ! एस णं पोग्गले तीत०, तं चेव जाव एगरूवे सिया।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या यह पुद्गल (परमाणु या स्कन्ध) अनन्त, अपरिमित और शाश्वत अतीतकाल में एक समय तक रूक्ष स्पर्श वाला रहा, एक समय तक अरूक्ष (स्निग्ध) स्पर्श वाला और एक समय तक रूक्ष और स्निग्ध दोनों प्रकार के स्पर्श वाला रहा ? (तथा) पहले करण (अर्थात् प्रयोगकरण और विस्रसाकरण) के द्वारा (क्या यही पुद्गल) अनेक वर्ण और अनेक रूप वाले परिणाम से परिणत हुआ और उसके बाद उस अनेक वर्णादि परिणाम के क्षीण (निर्जीर्ण) हाने पर वह एक वर्ण और एक रूप वाला भी हुआ था।

[१ उ.] हाँ, गौतम ! यह पुद्गल ……… अतीत काल में ……… इत्यादि सर्वकथन, यावत्—'एक रूप वाला भी हुआ था,' (यहाँ तक कहना चाहिए।)

२. एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पन्नं सासयं समयं० ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! यह पुद्गल (परमाणु या स्कन्ध) शाश्वत वर्तमानकाल में एक समय तक ……… ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त कथनानुसार जानना चाहिए।

३. एवं अणागयमणंतं पि।

[३] इसी प्रकार अनन्त और शाश्वत अनागत काल में एक समय तक, (इत्यादि प्रश्नोत्तर भी पूर्ववत् जानना चाहिए।)

४. एस णं भंते। खंधे तीतमणंतं० ?

एवं चेव खंधे वि जहा पोग्गले।

[४ प्र.] भगवन् ! यह स्कन्ध अनन्त शाश्वत अतीत (वर्तमान और अनागत) काल में, एक समय तक, इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पुद्गल के विषय में कहा था, उसी प्रकार स्कन्ध के विषय में कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों में पुद्गल और स्कन्ध के भूत-वर्तमान-भविष्य में एक समय तक रूक्ष-स्निग्धादि स्पर्श वाला था, वही एक समय बाद स्निग्ध और रूक्ष परिवर्तन वाला तथा जो एक समय अनेक वर्णादिरूप था, वह एकवर्णादि रूप हो जाता है।

कठिन शब्दार्थ—**लुक्खी**—रूक्ष स्पर्श वाला। **अलुक्खी**—अरूक्ष—स्निग्धस्पर्श वाला। **तीतमणंत**—अनन्त अतीत। **सासयं**—शाश्वत, अक्षय। **पडुप्पण्णं**—प्रत्युत्पन्न-वर्तमान।[१]

पुद्गल : अर्थ और परिणाम-परिवर्तन—पुद्गल शब्द से दो अर्थ लिये जा सकते हैं—परमाणु और स्कन्ध। परमाणु में एक समय में रूक्षस्पर्श पाया जाता है तो दूसरे समय में स्निग्ध हो सकता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध में तो एक ही समय में स्निग्ध और रूक्ष दोनों स्पर्श पाए जा सकते हैं। क्योंकि उसका एक देश रूक्ष और एक देश स्निग्ध हो सकता है। वह अनेक वर्णादि (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) परिणाम में परिणत होता है, वही फिर एक वर्णादि में परिणत हो सकता है। अर्थात् वह एक वर्णादि-परिणाम के पहले प्रयोगकरण द्वारा या विस्रसाकरण द्वारा अनेक वर्णादिरूप पर्याय को प्राप्त होता है। परमाणु तो समयभेद से अनेक वर्णादिरूप में परिणत होता है किन्तु स्कन्ध समय-भेद से तथा युगपत् अनेक-वर्णादिरूप से परिणत हो सकता है। उस परमाणु या स्कन्ध का जब अनेक वर्णादि-परिणाम क्षीण हो जाता है, तब वह एक वर्णादि पर्याय में परिणत हो जाता है। यहाँ पुद्गल और स्कन्ध दोनों के विषय में त्रिकालसम्बन्धी प्रश्न करके उत्तर दिया गया है।[२]

वर्तमान के साथ यहाँ अनन्त शब्द प्रयुक्त नहीं है, क्योंकि वर्तमान में अनन्तत्व असंभव है।

जीव के त्रिकालापेक्षी सुखी-दुःखी आदि विविध परिणाम

५. एस णं भंते ! जीवे तीतमणंतं सासयं समयं समयं दुक्खी, समयं अदुक्खी, समयं दुक्खी वा अदुक्खी वा ? पुव्विं च णं करणेणं अणेगभावं अणेगभूतं परिणामं परिणमइ, अह से वेयणिज्जे निज्जिण्णे भवति ततो पच्छा एगभावे एगभूते सिया ?

हंता, गोयमा ! एस णं जीवा जाव एगभूते सिया।

[५ प्र.] भगवन् ! क्या यह जीव अनन्त और शाश्वत अतीत काल में, एक समय में दुःखी, एक समय में अदुःखी (सुखी) तथा एक समय में दुःखी और अदुःखी (उभय रूप) था ? तथा पहले करण (प्रयोगकरण

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३८

२. (क) वही, अ. वृत्ति, पत्र ६३९

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५

और विश्रसाकरण) द्वारा अनेकभाव वाले अनेकभूत (अनेकरूप) परिणाम से परिणत हुआ था ? और उसके बाद वेदनीयकर्म (और उपलक्षण से ज्ञानावरणीयादि कर्मों) की निर्जरा होने पर जीव एकभाव वाला और एकरूप वाला था ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! यह जीव .... यावत् एकरूप वाला था।

६. एवं पडुप्पन्नं सासयं समयं।

[६] इसी प्रकार शाश्वत वर्तमान काल के विषय में भी समझना चाहिए।

७. एवं अणागयमणंतं सासयं समयं।

[७] अनन्त अनागतकाल के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) समझना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ५-६-७) में जीव के सुखी, दुःखी आदि परिणामों के परिवर्तित हाने के सम्बन्ध में भूत, वर्तमान और भविष्यत्-कालसम्बन्धी प्रश्नोत्तर किये गए हैं।

आशय—यह जीव अनन्त और शाश्वत अतीत काल में, एक समय में दुःखी एक समय में अदुःखी (सुखी) तथा एक समय में दुःखी और सुखी था। इस प्रकार अनेक परिणामों से परिणत होकर पुनः किसी समय एकभावपरिणाम में परिणत हो जाता है। एकभावपरिणाम में परिणत होने से पूर्व काल-स्वभावादि कारण समूह से एवं शुभाशुभकर्म-बन्ध की हेतुभूत क्रिया से, सुखदुःखादिरूप अनेकभावरूप परिणाम से परिणत होता है। पुनः दुःखादि अनेकभावों के हेतुभूत वेदनीयकर्म और ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षीण होने पर स्वाभाविकसुखरूप एक भाव से परिणत होता है।[१]

परमाणुपुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता एवं चरमता-अचरमता का निरूपण

८. [१] परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सासए असासए ?

गोयमा ! सिय सासए, सिय असासए।

[८-१ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ?

[८-१ उ.] गौतम ! वह कथञ्चित् शाश्वत है और कथंचित् अशाश्वत है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई 'सिय सासए, सिय असासए ?'

गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए। से तेणट्ठेणं जाव सिय असासए।

[८-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि (परमाणुपुद्गल) कथंचित् शाश्वत है और कथंचित् अशाश्वत है ?

[८-२ उ.] गौतम ! द्रव्यार्थरूप से शाश्वत है और वर्ण (वर्ण, गन्ध, रस) यावत् स्पर्श-पर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत है। हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि परमाणुपुद्गल कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६३९

९. परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं चरिमे, अचरिमे ?

गोयमा ! दव्वादेसेणं नो चरिमे, अचरिमे; खेत्तादेसेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे; कालादेसेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे; भावादेसेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे।

[९ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल चरम है या अचरम है ?

[९ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा (द्रव्यादेश से) चरम नहीं, अचरम है; क्षेत्र की अपेक्षा (क्षेत्रादेश से) कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है तथा भावादेश से भी कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में से ८वें सूत्र में परमाणुपुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता का और नौवें सूत्र में उसकी चरमता-अचरमता का प्रतिपादन किया गया है।

परमाणुपुद्गल शाश्वत कैसे, अशाश्वत कैसे ?—परमाणुपुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है, क्योंकि स्कन्ध के साथ मिल जाने पर भी उसकी सत्ता नष्ट नहीं होती। उस सयम वह 'प्रदेश' कहलाता है। किन्तु वर्णादि पर्यायों की अपेक्षा परमाणुपुद्गल अशाश्वत है, क्योंकि पर्यायें विनश्वर हैं; परिवर्तनशील हैं।[१]

चरम, अचरम की परिभाषा : परमाणु की अपेक्षा से—जो परमाणु विवक्षित परिणाम से रहित होकर पुनः उस परिणाम को कदापि प्राप्त नहीं होता, वह परमाणु, उस परमाणु की अपेक्षा 'चरम' कहलाता है। जो परमाणु उस परिणाम को पुनः प्राप्त होता है, वह उस अपेक्षा से 'अचरम' कहलाता है।[२]

परमाणुपुद्गल चरम कैसे, अचरम कैसे ?—द्रव्य की अपेक्षा से—परमाणु चरम नहीं, अचरम है, क्योंकि परिणाम से रहित बना हुआ परमाणु संघात-परिणाम को प्राप्त होकर पुनः कालान्तर में परमाणु-परिणाम को प्राप्त होता है। **क्षेत्र की अपेक्षा से**—परमाणु कथंचित् चरम और कथंचित् अचरम है। जिस क्षेत्र में किसी केवलज्ञानी ने केवलीसमुद्घात किया था, उस समय जो परमाणु वहाँ रहा हुआ था, वह समुद्घात-प्राप्त उक्त केवलज्ञानी के सम्बन्ध-विशेष से वह परमाणु पुनः कदापि उस क्षेत्र को आश्रय नहीं करता, क्योंकि वे समुद्घात-प्राप्त केवली निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं। वे अब उस क्षेत्र में पुनः कभी भी नहीं आयेंगे। इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा वह परमाणु 'चरम' कहलाता है। किन्तु विशेषणरहित क्षेत्र की अपेक्षा परमाणु फिर उस क्षेत्र में अवगाढ होता है, इसलिए 'अचरम' कहलाता है। **काल की अपेक्षा से**—परमाणुपुद्गल कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम है। यथा—जिस प्रातःकाल आदि समय में केवली ने समुद्घात किया था, उस काल में जो परमाणु रहा हुआ था, वह परमाणु उस केवली समुद्घात-विशिष्ट काल को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वे केवलज्ञानी मोक्ष चले गए। अतः वे पुनः कभी समुद्घात नहीं करेंगे। इसलिए उस अपेक्षा काल से परमाणु चरम है और विशेषण-रहित काल की अपेक्षा परमाणु अचरम है। **भाव की अपेक्षा**—परमाणु चरम भी है और अचरम भी। यथा—केवली-समुद्घात के समय जो परमाणु वर्णादि भावविशेष को प्राप्त हुआ था, वह परमाणु

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४०

२. (क) वही, अ. वृत्ति, पत्र ६४०

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३०८

विवक्षित केवली-समुद्घात विशिष्ट वर्णादि परिणाम की अपेक्षा चरम है, क्योंकि केवलज्ञानी के निर्वाण प्राप्त कर लेने से वह परमाणु पुनः उस विशिष्ट परिणाम को प्राप्त नहीं होता। विशेषणरहित भाव की अपेक्षा वह अचरम है। यह व्याख्या चूर्णिकार के मतानुसार की गई है।[१]

कठिन शब्दार्थ—दव्वट्ठाए—द्रव्य की अपेक्षा। **वण्णपज्जवेहिं**—वर्ण के पर्यायों से। **दव्वादेसेणं**—द्रव्यादेश (द्रव्य की अपेक्षा से)। **चरिमे**—अन्तिम। **अचरिमे**—अचरम।[२]

परिणाम : प्रज्ञापनाऽतिदेशपूर्वक भेद-प्रभेद-निरूपण

१०. कतिविधे णं भंते ! परिणामे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविहे परिणामे पन्नत्ते, तं जहा—जीवपरिणामे य, अजीवपरिणामे य। एवं परिणामपदं निरवसेसं भावियव्वं।

सेंव भंते ! सेवं भंते ! ति जाव विहरति।

॥ चोद्दसमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-४ ॥

[१० प्र.] भगवन् ! परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] गौतम ! परिणाम दो प्रकार का कहा गया है। यथा—जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम।

इस प्रकार यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का समग्र परिणामपद (तेरहवाँ पद) कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है—यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—परिणाम : लक्षण और भेद-प्रभेद—द्रव्य को सर्वथा एक रूप में नहीं रहना अर्थात् द्रव्य की अवस्थान्तर-प्राप्ति ही परिणाम है।[३]

परिणाम के मुख्यतया दो भेद हैं—जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम।

जीव परिणाम के दस भेद हैं—(१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) कषाय, (४) लेश्या, (५) योग, (६) उपयोग, (७) ज्ञान, (८) दर्शन, (९) चारित्र और (१०) वेद। **अजीव-परिणाम के भी १० भेद हैं**—(१) बन्धन, (२) गति, (३) संस्थान, (४) भेद, (५) वर्ण, (६) गन्ध, (७) रस, (८) स्पर्श, (९) अगुरुलघु और (१०) शब्दपरिणाम।[४]

॥ चौदहवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४०
   (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३०८
२. वही, (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३०८
३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४१
४ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४१
   (ख) प्रज्ञापनासूत्र (पण्णवणासुत्तं) भा. १ सू. ९२५-५७ (महावीर विद्यालय प्रकाशन) पृ. २२९ से २३३ तक

पंचमो उद्देसओ : 'अगणी'

पंचम उद्देशक : अग्नि

सं. गाहा— नेरइयं अगणिमज्झे दस ठाणा तिरिय पोग्गले देवे।

पव्वय भित्ती उल्लंघणा य पल्लंघणा चेव ॥

[उद्देशक-विषयक संग्रहगाथा का अर्थ—पंचम उद्देशक में मुख्य प्रतिपाद्य विषय तीन हैं—(१) नैरयिक आदि (से लेकर वैमानिक पर्यन्त) का अग्नि में से होकर गमन, (२) चौवीस दण्डकों में दस स्थानों के इष्टानिष्ट अनुभव और (३) देव द्वारा बाह्यपुद्‌गलग्रहणपूर्वक पर्वतादि के उल्लंघन-प्रलंघन का सामर्थ्य।][1]

चौवीस दण्डकों की अग्नि में होकर गमनविषयक-प्ररूपणा

१. [१] नेरइए णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगतिय वीयीवएज्जा, अत्थेगइए नो वीयीवएज्जा।

[१-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव अग्निकाय के मध्य में हो कर जा सकता है ?

[१-१ उ.] गौतम ! कोई नैरयिक जा सकता है और कोई नहीं जा सकता।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'अत्थेगइए वीयीवएज्जा, अत्थेगइए नो वीयीवएज्जा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—विग्गहगतिसमावन्नगा य अविग्गहगतिसमावन्नगा य। तत्थ णं जे से विग्गहगतिसमावन्नए नेरतिए से णं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा।

से णं तत्थ झियाएज्जा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

नो खलु तत्थ सत्थं कमति। तत्थ णं जे से अविग्गहगतिसमावन्नए नेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं णो वीयीवएज्जा। से तेणट्ठेणं जाव नो वीयीवएज्जा।

[१-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहते हैं कि कोई नैरयिक जा सकता है और कोई नहीं जा सकता ?

[१-२ उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गये हैं यथा—विग्रहगति-समापन्नक और अविग्रहगति-समापन्नक। उनमें से जो विग्रहगति-समापन्नक नैरयिक हैं, वे अग्निकाय के मध्य में होकर जा सकते हैं।

[प्र.] भगवन् ! क्या (वे अग्नि के मध्य में से हो कर जाते हुए) अग्नि से जल जाते हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि उन पर अग्निरूप शस्त्र नहीं चल सकता अर्थात् अग्नि का

[१.] यह उद्देशकार्थ-संग्रहगाथा वृत्ति में है। अ. वृ. ६४२

असर नहीं होता।

उनमें से जो अविग्रहगतिसमापन्नक नैरयिक हैं वे अग्निकाय के मध्य में होकर नहीं जा सकते, (क्योंकि नरक में बादर अग्नि नहीं होती)। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कोई नैरयिक जा सकता है और कोई नहीं जा सकता है।

२ [१] असुरकुमारे णं भंते अगणिकायस्स० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए वीयीवएज्जा, अत्थेगतिए नो वीयीवएज्जा।

[१-२ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देव अग्निकाय के मध्य में हो कर जा सकते हैं ?

[१-२ उ.] गौतम ! कोई जा सकता है और कोई नहीं जा सकता।

[२] से केणट्ठेण जाव नो वीतीवएज्जा ?

गोयमा ! असुरकुमारा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—विग्गहगतिसमावन्नगा य अविग्गहगतिसमावन्नगा य। तत्थ णं जे से विग्गहगतिसमावन्नए असुरकुमारे से णं एवं जहेव नेरतिए जाव कमति। तत्थ ण जे से अविग्गहगतिसमावन्नए असुरकुमारे से णं अत्थेगतिए अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा, अत्थेगइए नो वीयीवएज्जा।

जे णं वीयीवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

नो खलु तत्थ सत्थं कमति। से तेणट्ठेणं०।

[२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि कोई असुरकुमार अग्नि के मध्य में से होकर जा सकता है और कोई नहीं जा सकता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! असुरकुमार दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—विग्रहगति-समापन्नक और अविग्रहगति-समापन्नक। उनमें से ज़ो विग्रहगति-समापन्नक असुरकुमार हैं, वे नैरयिकों के समान हैं, यावत् उन पर अग्नि-शस्त्र असर नहीं कर सकता। उनमें जो अविग्रहगति-समापन्नक असुरकुमार हैं, उनमें से कोई अग्नि के मध्य में होकर जा सकता है और कोई नहीं जा सकता।

[प्र.] जो (असुरकुमार) अग्नि के मध्य में हो कर जाता है, क्या वह जल जाता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि उस पर अग्नि आदि शस्त्र का असर नहीं होता। इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कोई असुरकुमार जा सकता है और कोई नहीं जा सकता।

३. एवं जाव थणियकुमारे।

[३] इसी प्रकार (नागकुमार से लेकर) स्तनितकुमार देव तक कहना चाहिए।

४. एगिंदिया जहा नेरइया।

[४] एकेन्द्रियों के विषय में नैरयिकों के समान कहना चाहिए।

५. बेइंदिया णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं० ?

जहा असुरकुमारे तहा बेइंदिए वि। नवरं जे णं वीयीवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ?

हंता, झियाएज्जा। सेसं तं चेव।

[५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव अग्निकाय के मध्य में से हो कर जा सकते हैं ?

[५ उ.] जिस प्रकार असुरकुमारों के विषय में कहा उसी प्रकार द्वीन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए। परन्तु इतनी विशेषता है—

[प्र.] भगवन् ! जो द्वीन्द्रिय जीव अग्नि के बीच में हो कर जाते हैं, वे जल जाते हैं ?

[उ.] हाँ, वे ज़ल जाते हैं। शेष सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

६. एवं जाव चउरिंदिए।

[६] इसी प्रकार का कथन चतुरिन्द्रिय तक करना चाहिए।

७. [१] पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते। अगणिकाय० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए वीयीवएज्जा, अत्थेगतिए नो वीयीवएज्जा।

[७-१ प्र.] भगवान् ! पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिक जीव अग्नि के मध्य में होकर जा सकते हैं ?

[७-१ उ.] गौतम ! कोई जा सकता है और कोई नहीं जा सकता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! पंचेंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—विग्गहगतिसमावन्नगा य अविग्गहगतिसमावन्नगा य। विग्गहगतिसमावन्नए जहेव नेरइए जाव नो खलु तत्थ सत्थं कमइ। अविग्गहगइसमावन्नगा पंचेंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पन्नता, तं जहा—इड्ढिप्पत्ता य अणिड्ढिप्पत्ता य। तत्थ णं जे से इड्ढिप्पत्ते पंचेंदियतिरिक्खजोणिए से णं अत्थेगतिए अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा, अत्थेगतिए नो वीयीवएज्जा।

जे णं वीयीवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

नो खलु तत्थ सत्थं कमइ। तत्थ णं जे से अणिड्ढिप्पत्ते पचेंदियतिरिक्खजोणिए से णं अत्थेगतिए अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीयीवएज्जा, अत्थेगतिए नो वीयीवएज्जा।

जे णं वीयीवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ?

हंता, झियाएज्जा ! से तेणट्ठेणं जाव नो वीयीवएज्जा।

[७-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव दो प्रकार के हैं, यथा—विग्रहगति समापन्नक और अविग्रहगतिसमापन्नक। जो विग्रहगतिसमापन्नक पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हैं, उनका कथन नैरयिक के समान जानना चाहिए, यावत् उन पर शस्त्र असर नहीं करता। अविग्रहसमापन्नक पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक दो प्रकार के कहे गए हैं—ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त (ऋद्धि-अप्राप्त)। जो ऋद्धिप्राप्त, पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हैं, उनमें से कोई अग्नि के मध्य में हो कर जाता है और कोई नहीं जाता है।

[प्र.] जो अग्नि में हो कर जाता है, क्या वह जल जाता है ?

[उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं, क्योंकि उस पर (अग्नि आदि) शस्त्र असर नहीं करता। परन्तु जो ऋद्धि-अप्राप्त पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हैं, उनमें से भी कोई अग्नि में हो कर जाता है और कोई नहीं जाता है।

[प्र.] जो अग्नि में से हो कर जाता है, क्या वह जल जाता है ?

[उ.] हाँ, वह जल जाता है।

इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि कोई अग्नि में से हो कर जाता है और कोई नहीं जाता है।

८. एवं मणुस्से वि।

[८] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी कहना चाहिए।

९. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिए जहा असुरकुमारे।

[९] वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों के विषय में असुरकुमारों के समान कहना चाहिए।

विवेचन—विग्रहगतिसमापन्नक और अविग्रहगतिसमापन्नक—एक गति से दूसरी गति में जाते हुए जीव **विग्रहगतिसमापन्नक** कहलाते हैं। वह जीव उस समय **कार्मणशरीर से युक्त** होता है और कार्मणशरीर सूक्ष्म होने से उस पर अग्नि आदि शस्त्र असर नहीं कर सकते। जो जीव उत्पत्तिक्षेत्र को प्राप्त हैं, वे **अविग्रहगतिसमापन्नक** कहलाते हैं। अविग्रहगतिसमापन्नक का अर्थ यहाँ 'ऋजुगति-प्राप्त' विवक्षित नहीं है, क्योंकि उसका यहाँ प्रसंग नहीं है। उत्पत्तिक्षेत्र को प्राप्त नैरयिक जीव, अग्निकाय के बीच में से होकर नहीं जाता, क्योंकि नरक में बादर अग्निकाय का अभाव है। मनुष्यक्षेत्र में ही बादर अग्निकाय होता है। उत्तराध्ययन आदि शास्त्रों में 'हुयासणे जलंतंमि दड्ढ पुव्वो अणेगसो', अर्थात् नारक जीव अनेक बार जलती आग में जला, इत्यादि वर्णन आया है, वहाँ अग्नि के सदृश कोई उष्णद्रव्य समझना चाहिए। सम्भव है, तेजोलेश्या द्रव्य की तरह का कोई तथाविध शक्तिशाली द्रव्य हो।

असुरकुमारादि भवनपति की अग्नि-प्रवेश-शक्ति—विग्रहपति असुरकुमार का वर्णन विग्रहगति नैरयिक के समान जानना चाहिए। अविग्रहगतिप्राप्त (उत्पत्ति क्षेत्र को प्राप्त) असुरकुमारादि जो मनुष्यलोक में आते हैं, वे यदि अग्नि के मध्य में होकर जाते हैं, तो जलते नहीं क्योंकि वैक्रियशरीर अतिसूक्ष्म हैं और उनकी गति शीघ्रतम होती है। जो असुरकुमार आदि मनुष्यलोक में नहीं आते, वे अग्नि के मध्य में होकर नहीं जाते। शेष तीन

जाति के देवों की भी अग्निप्रवेश शक्ति इनके समान ही है।[१]

स्थावरजीवों की अग्निप्रवेश-शक्ति-अशक्ति—विग्रहगति प्राप्त एकेन्द्रिय जीव अग्नि के बीच में होकर जा सकते हैं और वे सूक्ष्म होने से जलते नहीं हैं। अविग्रहगति-प्राप्त एकेन्द्रिय जीव अग्नि के बीच में होकर नहीं जाते, क्योंकि वे स्थावर हैं। अग्नि और वायु, जो गतित्रस हैं, वे अग्नि के बीच में होकर जा सकते हैं, किन्तु यहाँ उनकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो स्थावरत्व की विवक्षा है। यद्यपि वायु आदि की प्रेरणा से पृथ्वी आदि का अग्नि के मध्य में गमन सम्भव है, परन्तु यहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक गमन की विवक्षा की गई है। एकेन्द्रिय जीव स्थावर होने से स्वतन्त्रतापूर्वक अग्नि के मध्य में होकर नहीं जा सकते।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य की अग्निप्रवेश-शक्ति-अशक्ति—जो विग्रहगतिसमापन्नक है, उनका वर्णन नैरयिक के समान है। किन्तु अविग्रहगतिसमापन्न तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और मनुष्य जो वैक्रियलब्धिसम्पन्न (ऋद्धिप्राप्त) हैं और मनुष्यलोकवर्ती हैं, वे मनुष्यलोक में अग्नि का सद्भाव होने से उसके बीच में होकर जा सकते हैं। जो मनुष्यक्षेत्र से बाहर के क्षेत्र में हैं वे अग्नि में से होकर नहीं जाते क्योंकि वहाँ अग्नि का अभाव है। जो ऋद्धि-अप्राप्त हैं, वे भी कोई-कोई (जादूगर आदि) अग्नि में से होकर जाते हैं, कोई नहीं जाते, क्योंकि उनके पास तथाविध सामग्री का अभाव है। किन्तु ऋद्धिप्राप्त तो अग्नि में होकर जाने पर भी जलते नहीं, जबकि ऋद्धि-अप्राप्त जो अग्नि में होकर जाते हैं, वे जल सकते हैं।[२]

कठिन शब्दार्थ—वीयीवएज्जा—चला जाता है, लांघ जाता है। **झियाएज्जा**—जल जाता है। **इड्ढिपत्ता**—वैक्रियलब्धि-सम्पन्न। **कमइ**—जाता है, असर करता है, लगता है।[३]

चौवीस दण्डकों में शब्दादि दस स्थानों में इष्टानिष्ट स्थानों के अनुभव की प्ररूपणा

१०. नेरतिया दस ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—अणिट्ठा सद्दा, अणिट्ठा रूवा, जाव अणिट्ठा फासा, अणिट्ठा गती, अणिट्ठा ठिती, अणिट्ठे लायण्णे, अणिट्ठे जसोकित्ती, अणिट्ठे उट्ठाण-कम्म-बल-वीरिय-पुरिसक्कारपरक्कमे।

[१०] नैरयिक जीव दस स्थानों का अनुभव करते रहते हैं। यथा—(१) अनिष्ट शब्द, (२) अनिष्ट रूप, (३) अनिष्ट गंध, (४) अनिष्ट रस, (५) अनिष्ट स्पर्श, (६) अनिष्ट गति, (७) अनिष्ट स्थिति, (८) अनिष्ट लावण्य, (९) अनिष्ट यशःकीर्ति और (१०) अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम।

११. असुरकुमारा दस ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—इट्ठा सद्दा, इट्ठा रूवा जाव इट्ठे उट्ठाण-कम्म-बल-वीरिय-पुरिसक्कारपरक्कमे।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४२

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३१५

२. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३१५-१६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४२

३. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३११

[११] असुरकुमार दस स्थानों का अनुभव करते रहते हैं, यथा—इष्ट शब्द, इष्ट रूप यावत् इष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम।

१२. एवं जाव थणियकुमारा।

[१२] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

१३. पुढविकाइया छट्ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—इट्ठाणट्ठा फासा, इट्ठणिट्ठा गती एवं जाव परक्कमे।

[१३] पृथ्वीकायिक जीव (इन दस स्थानों में से) छह स्थानों का अनुभव करते रहते हैं। यथा—(१) इष्टअनिष्ट स्पर्श, (२) इष्टअनिष्ट गति, यावत् (३) इष्टानिष्ट स्थिति, (४) इष्टानिष्ट लावण्य, (५) इष्टानिष्ट यशःकीर्ति और (६) इष्टानिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम।

१४. एवं जाव वणस्सइकाइया।

[१४] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) वनस्पतिकायिक जीवों तक कहना चाहिए।

१५. बेइंदिया सत्तट्ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—इट्ठाणिट्ठा रसा, सेसं जहा एगिंदियाणं।

[१५] द्वीन्द्रिय जीव (दस में से) सात स्थानों का अनुभव करते रहते हैं, यथा—इष्टानिष्ट रस इत्यादि, शेष एकेन्द्रिय जीवों के समान कहना चाहिए।

१६. तेइंदिया णं अट्ठट्ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—इट्ठाणिट्ठा गंधा, सेसं जहा वेइंदियाणं।

[१६] त्रीन्द्रिय जीव (दस में से) आठ स्थानों का अनुभव करते हैं, यथा—इष्टानिष्ट गन्ध इत्यादि, शेष द्वीन्द्रिय जीवों के समान कहना चाहिए।

१७. चउरिंदिया नवट्ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—इट्ठाणिट्ठा रूवा, सेसं जहा तेइंदियाणं।

[१७] चतुरिन्द्रिय जीव (दस में से) नौ स्थानों का अनुभव करते हैं, यथा—इष्टानिष्ट रूप इत्यादि शेष त्रीन्द्रिय जीवों के समान कहना चाहिए।

१८. पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया दसट्ठाणाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—इट्ठाणिट्ठा सद्दा जाव परक्कमे।

[१८] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव दस स्थानों का अनुभव करते हैं, यथा—इष्टानिष्ट शब्द यावत् इष्टानिष्ट उत्थान-कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम।

१९. एवं मणुस्सा वि।

[१९] इसी प्रकार मनुष्यों के विषय में भी कहना चाहिए।

२०. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[२०] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों तक असुरकुमारों के समान कहना चाहिए।

विवेचन—अनिष्ट, इष्टानिष्ट एवं इष्ट स्थानों के अधिकारी—प्रस्तुत सूत्रों में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में से अनिष्ट, इष्ट या इष्टानिष्ट शब्दादि स्थानों में से किनको कितने स्थानों का अनुभव होता है, इसका निरूपण किया गया है।

नैरयिकों को दस अनिष्टस्थानों का अनुभव—नैरयिकों को अनिष्ट शब्द आदि ५ इन्द्रिय-विषयों का अनुभव प्रतिक्षण होता रहता है। उनकी अप्रशस्त विहायोगति या नरकगति रूप अनिष्ट गति होती है। नरक में रहने रूप अथवा नरकायु रूप अनिष्ट स्थिति होती है। शरीर का बेडोल होना अनिष्ट लावण्य होता है। अपयश और अपकीर्ति के रूप में नारकों को अनिष्ट यशःकीर्ति का अनुभव होता है। वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ नैरयिक जीवों का उत्थानादि वीर्य विशेष अनिष्ट—निन्दित होता है।[१]

देवों का दस इष्ट स्थानों का अनुभव—चारों जाति के देवों का इष्ट शब्द आदि दसों स्थानों का अनुभव होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों एवं मनुष्यों को दस इष्टानिष्ट स्थानों का अनुभव—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों को इष्ट एवं अनिष्ट दोनों प्रकार के दसों स्थानों का अनुभव होता है।[२]

एकेन्द्रिय जीवों के छह इष्टानिष्टस्थानों का अनुभव—एकेन्द्रिय जीवों को शब्द, रूप, रस और गन्ध का अनुभव नहीं होता, क्योंकि उन्हें श्रोत्रादि द्रव्येन्द्रियाँ प्राप्त नहीं हैं। वे उपर्युक्त १० स्थानों में से शेष ६ स्थानों का ही अनुभव करते हैं। वे शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के क्षेत्र में उत्पन्न हो सकते हैं और उनके साता और असाता दोनों का उदय सम्भव है। इसलिए उनमें इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के स्पर्शादि होते हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं, इसलिए उनमें स्वाभाविक रूप से गमन-गति सम्भव नहीं है; तथापि उनमें परप्रेरित गति होती है। वह शुभाशुभ रूप होने से इष्टानिष्ट गति कहलाती है। मणि में इष्ट लावण्य होता है और पत्थर में अनिष्ट लावण्य होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों में इष्टानिष्ट लावण्य होता है। स्थावर होने से एकेन्द्रिय जीवों में उत्थानादि प्रकट रूप में दिखाई नहीं देते, किन्तु सूक्ष्म रूप में उनमें उत्थानादि हैं। पूर्वभव में अनुभव किए हुए उत्थानादि के संस्कार के कारण भी उनमें उत्थानादि होते हैं ओर वे इष्टानिष्ट होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों को क्रमशः जिह्वा, नासिका और नेत्र इन्द्रिय मिल जाने से उन्हें क्रमशः इष्टानिष्ट रस, गन्ध और रूप का अनुभव होता है।[३]

महर्द्धिक देव का तिर्यक्पर्वतादि-उल्लंघन-प्रलंघन-सामर्थ्य-असामर्थ्य

२१. देवे णं भंते ! महिड्डीए जाव महेसक्खे बाहिरिए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू तिरियपव्वयं वा

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४३

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू.पा.टि.) पृ. ६७०-६७१ ३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४३

तिरियभितिं वा उल्लंघेत्तए वा पल्लंघेत्तए वा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या महर्द्धिक यावत् महासुख वाला देव बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना तिरछे पर्वत का या तिरछी भींत को एक बार उल्लंघन करने अथवा बार-बार उल्लंघन (प्रलंघन) करने में समर्थ है ?

[२१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

२२. देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू तिरियपव्वतं जाव पल्लंघेत्तए वा ?

हंता, पभू।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चोद्दसमे सए : पंचमो उद्दसेओ समत्तो ॥ १४.५ ॥

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या महर्द्धिक यावत् महामुख वाला देव बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके तिरछे पर्वत को या तिरछी भींत को (एक बार) उल्लंघन एवं (बार-बार) प्रलंघन करने में समर्थ है ?

[२ उ.] हाँ, समर्थ है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है—यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—महर्द्धिक देव का उल्लंघन-सामर्थ्य—बाह्य (भवधारणीय शरीर से अतिरिक्त) पुद्गलों को ग्रहण किये बिना कोई भी महर्द्धिक देव मार्ग में आनेवाले तिरछे पर्वत या पर्वतखण्ड अथवा भींत आदि का उल्लंघन या प्रलंघन नहीं कर सकता। बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके ही उन्हें उल्लंघन-प्रलंघन कर सकता है।[१]

कठिन शब्दार्थ—महेसक्खे—महासौख्यसम्पन्न। **बाहिरए पोग्गले**—भवधारणीय शरीर के अतिरिक्त बाह्य पुद्गलों को। **अपरियाइत्ता**—बिना ग्रहण किये। **उल्लंघेत्तए**—एक बार लांघने में। **पल्लंघेत्तए**—बार-बार लांघने में, पार करने में।[२]

॥ चौदहवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४३-६४४

२. (क) वही, अ. वृत्ति, पत्र ६४४

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३१९

छट्ठो उद्देसओ : 'किमाहारे'

छठा उद्देशक : किमाहार (आदि)

चौवीस दण्डकों में आहार-परिणाम, योनि-स्थिति-निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१] राजगृह नगर में (भगवान् महावीर स्वामी से श्री गौतम स्वामी ने) यावत् इस प्रकार पूछा—

२. नेरतिया णं भंते ! किमाहारा, किंपरिणामा, किंजोणीया, किंठितीया पन्नत्ता ?

गोयमा ! नेरइया णं पोग्गलाहारा, पोग्गलपरिणामा, पोग्गलजोणीया, पोग्गलट्ठितीया, कम्मोवगा, कम्मनियाणा, कम्मट्ठितीया, कम्मुणामेव विप्परियासमेंति।

[२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव किन द्रव्यों का आहार करते हैं ? किस तरह परिणमाते हैं ? उनकी योनि (उत्पत्तिस्थान) क्या है ? उनकी स्थिति का क्या कारण है ?

[२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव पुद्गलों का आहार करते हैं और उसका पुद्गल-रूप परिणाम होता है। उनकी योनि शीतादि स्पर्शमय पुद्गलों वाली है। आयुष्य कर्म के पुद्गल उनकी स्थिति के कारण हैं। बन्ध द्वारा वे ज्ञानावरणीयादि कर्म के पुद्गलों को प्राप्त हैं। उनके नारकत्व निमित्तभूत कर्म निमित्तरूप हैं। कर्मपुद्गलों के कारण उनकी स्थिति है। कर्मों के कारण ही वे विपर्यास (अन्य पर्याय) को प्राप्त होते हैं।

३. एवं जाव वेमाणिया ।

[३] इसी प्रकार वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन—सकल संसारी जीवों की आहारादि-प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के आहार, परिणमन, योनि एवं स्थितिहेतु की प्ररूपणा की गई है।

कठिन शब्दार्थ—पोग्गलजोणीया—पुद्गल अर्थात् शीतादि स्पर्श वाले पुद्गल जिनकी योनि है, वे पुद्गलयोनिक। नारक शीतयोनिक एवं उष्णयोनिक होते हैं। **पोग्गलट्ठितीया**—पुद्गल अर्थात् आयुष्य कर्म पुद्गलरूप जिनकी स्थिति है वे पुद्गलस्थितिक। नरक में स्थिति के हेतु आयुष्य पुद्गल ही हैं। **कम्मोवगा**—जिनको ज्ञानावरणीयादि पुद्गल रूप कर्म बन्ध के द्वारा प्राप्त होते हैं। **कम्मनियाणा**—जिनके नारकत्व रूप कर्मबन्ध निमित्त (निदान) हैं, वे कर्मनिदान। **कम्मट्ठितीया**—कर्मस्थितिक—कर्मपुद्गलों से जिनकी स्थिति है, वे। **कम्मुणामेव विप्परियासमेंति**—कर्मों के कारण विपर्यास-पर्यायों (पर्याप्त-अपर्याप्त आदि अवस्थाओं) को प्राप्त हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४४

चौवीस दण्डकों में वीचिद्रव्य-अवीचिद्रव्याहार-प्ररूपणा

४. [१] नेरइया णं भंते ! किं वीचिदव्वाइं आहारेंति, अवीचिदव्वाइं आहारेंति ?

गोयमा ! नेरतिया वीचिदव्वाइं पि आहारेंति, अवीचिदव्वाइं पि आहारेंति।

[४-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव वीचिद्रव्यों का आहार करते हैं अथवा अवीचिद्रव्यों का ?

[४-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव वीचिद्रव्यों का भी आहार करते हैं और अवीचिद्रव्यों का भी आहार करते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'नेरतिया वीचि० तं चेव जाव आहारेंति' ?

गोयमा ! जे णं नेरइया एगपदेसूणाइं पिं दव्वाइं आहारेंति ते णं नेरतिया वीचिदव्वाइं आहारेंति जे णं पडिपुण्णाइं दव्वाइं आहारेंति ते णं नेरइया नेरतिया अवीचिदव्वाइं आहारेंति। से तेणट्ठेणं ! गोयमा ! एवं वुच्चति जाव आहारेंति।

[४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता कि नैरयिक .... यावत् अवीचिद्रव्यों का भी आहार करते हैं ?

[४-२ उ.] गौतम ! जो नैरयिक एक प्रदेश न्यून (कम) द्रव्यों का आहार करते हैं, वे वीचिद्रव्यों का आहार करते हैं और जो परिपूर्ण द्रव्यों का आहार करते हैं, वे नैरयिक अवीचिद्रव्यों का आहार करते हैं। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक जीव वीचिद्रव्यों का भी आहार करते हैं और अवीचिद्रव्यों का भी आहार करते हैं।

५. एवं जाव वेमाणिया।

[५] इसी प्रकार वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन—वीचिद्रव्यों और अवीचिद्रव्यों की परिभाषा—जितने पुद्‌गलों (द्रव्यसमूह) से सम्पूर्ण आहार होता है, उसे **अवीचिद्रव्य** आहार कहते हैं और सम्पूर्ण आहार से एक प्रदेश भी कम आहार होता है, उसे वीचिद्रव्य का आहार कहते हैं।

शक्रेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक देवेन्द्रों के दिव्य भोगों की उपभोगपद्धति

६. जाहे णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजिउकामे भवति से कहमिदाणिं पकरोति ?

गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया एगं महं नेमिपडिरूवगं विउव्वति, एगं जोयणसयसहस्सं

---

१. वीचि :—विवक्षितद्रव्याणां तदवयवानां च परस्परेण पृथक्भावः, ('विचिर् पृथक्भावे' इति वचनात्)। तत्र वीचिप्रधानानि द्रव्याणि वीचिद्रव्याणि एकादिप्रदेशन्यूनानीत्यर्थ :। एतन्निषेधाद् अवीचिद्रव्याणि।

— भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४४

आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं जाव[१] अद्धंगुलं च किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं तस्स णं नेमिपडिरूवगस्स उवरिं बहुसमरणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव[२] मणीणं फासो। तस्स णं नेमिपडिरूवगस्स बहुमज्झदेसभागे तत्थ णं महं एगं पासायवडेंसगं विउव्वति, पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अड्ढाइज्जाइं जोयाणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गमूसिय० वण्णओ जाव[३] पडिरूवं। तस्स णं पासायवडेंसगस्स उल्लोए पउमलयाभत्तिचित्ते जाव पडिरूवे। तस्स णं पासायवडेंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे जाव मणीणं फासो। मणिपेढिया अट्ठजोयणिया[४] जहा वेमाणियाणं। तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं महं एगे देवसयणिज्जे विउव्वति। सयणिज्जवण्णओ[५] जाव पडिरूवे। तत्थ णं से सक्के देविंदे देवराया अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं, दोहि य अणिएहिं—नट्टाणिएण य गंधव्वाणिएण य—सद्धिं महयाहयनट्ट जाव दिव्वाइं[६] भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति।

[६ प्र.] भगवन् ! जब देवेन्द्र देवराज शक्र भोग्य मनोज्ञ दिव्य स्पर्शादि विषयभोगों का उपभोग करना चाहता है, तब वह किस प्रकार (उपभोग) करता है।

[६ उ.] गौतम ! उस समय देवेन्द्र देवराज शक्र, एक महान् चक्र के सदृश गोलाकार (नेमिप्रतिरूपक) स्थान की विकुर्वणा करता है, जो लम्बाई-चौड़ाई में एक लाख योजन होता है। उसकी परिधि (घेरा) तीन लाख (तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्तावीस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष्य और) कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल होती है। चक्र के समान गोलाकार उस स्थान के ऊपर अत्यन्त समतल एवं रमणीय भूभाग होता है, (उसका वर्णन समझ लेना चाहिए) यावत् मणियों का मनोज्ञ स्पर्श होता है; (यहाँ तक कहना चाहिए।) (फिर) उस चक्राकार स्थान के ठीक मध्यभाग में एक महान् प्रासादावतंसक (प्रासादों में आभूषण रूप श्रेष्ठ भवन) की विकुर्वणा करता है। जो ऊंचाई में पांच सौ योजन होता है। उसक विष्कम्भ (विस्तार) ढाई सौ योजन होता है। वह प्रासाद अभ्युद्गत (अत्यन्त ऊँचा) और प्रभापुञ्ज से व्याप्त होने से मानो वह हँस रहा हो, इत्यादि

---

१. जाव पद सूचक पाठ—"**सोलस य जोयणसहस्साइं दो य सयाइं सत्तावीसाहियाइं कोसतियं अट्ठावीसाहियं धणुसयं तेरस य अंगुलाइं ति**" अवृ० ॥

२. जाव पद सूचक पाठ—"**से जहानामए आलिंगपोक्खरे इ वा मुइंगपोक्खरे इ वा इत्यादि। .... तथा सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीईहिं सउज्जोएहिं नाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोहिए, तं जहा—किण्हेहिं ५ इत्यादि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवर्णको मणीनां वाच्य इति** " अवृ० ॥

३. जाव पद सूचक पाठ—"**पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे त्ति** " अवृ० ॥

४. मणिपीठिका का वर्णन—"**तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं मणिपेढियं विउव्वइ, सा णं मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खभेणं पन्नत्ता, चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वरयणामई अच्छा जाव पडिरूव त्ति।**"

५. **शय्यावर्णन—तस्स णं देवसयणिज्जस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णते ...., तं** "**जहा—नाणमणिमया पडिपाया, सोवण्णिया पाया, नाणामणिमयाइं पायसीसगाइं इत्यादिरित**" अवृ० ॥

६. 'जाव' पद सूचक पाठ—**महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं त्ति।**

प्रासाद-वर्णन, (करना चाहिए) यावत्—वह दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप होता है (तक जानना चाहिए) उस प्रासादावतंसक का उपरितल (ऊपरी भाग) पद्म लताओं के चित्रण से विचित्र यावत् प्रतिरूप होता है। उस प्रासादावतंसक के भीतर का भूभाग अत्यन्त सम और रमणीय होता है, इत्यादि वर्णन—वहाँ मणियों का स्पर्श होता है, यहाँ तक जानना चाहिए। वहाँ लम्बाई-चौड़ाई में आठ योजन की मणिपीठिका होती है, जो वैमानिक देवों की मणिपीठिका के समान होती है। उस मणिपीठिका के ऊपर वह एक महान् देवशय्या की विकुर्वणा करता है। उस देवशय्या का वर्णन 'प्रतिरूप है', यहाँ तक करना चाहिए। वहाँ देवेन्द्र देवराज शक्र अपने-अपने परिवारसहित आठ अग्रमहिषियों के साथ गन्धर्वानीक और नाट्यानीक, इन दो प्रकार के अनीकों (सैन्यों) के साथ, जोर-जोर से आहत हुए (बजाए गए) नाट्य गीत और वाद्य के शब्दों द्वारा यावत् दिव्य भोग्य (विषय) भोगों का उपभोग करता है।

७. जाहे णं ईसाणे देविंदे देवराया दिव्वाइं० ? जहा सक्के तहा ईसाणे वि निरवसेसं।

[७ प्र.] भगवन् ! जब देवेन्द्र देवराज ईशान दिव्य भोग्य भोगों का उपभोग करना चाहता है, तब वह कैसे करता है ?

[७ उ.] जिस प्रकार शक्र के लिए कहा है, उसी प्रकार का समग्र कथन ईशान इन्द्र के लिए करना चाहिए।

८. एवं सणंकुमारे वि, नवरं पासायवडेंसओ छज्जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं तिण्णि जोयणसयाइं विक्खंभेणं। मणिपेढिया तहेव अट्ठजोयणिया। तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगं सीहासणं विउव्वति, सपरिवारं भाणियव्वं। तत्थ णं सणंकुमारे देविंदे देवराया बावत्तरीए सामाणिय-साहस्सीहिं जाव चउहि य बावत्तरीहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं बहूहिं सणंकुमारकप्पवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महया जाव विहरति।

[८] इसी प्रकार सनत्कुमार के विषय में भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि उनके प्रासादावतंसक की ऊँचाई छह सौ योजन और विस्तार तीन सौ योजन होता है। आठ योजन (लम्बाई-चौड़ाई) की मणिपीठिका का उसी प्रकार वर्णन (पूर्ववत्) करना चाहिए। उस मणिपीठिका के ऊपर वह अपने परिवार के योग्य आसनों सहित एक महान् सिंहासन की विकुर्वणा करता है। (इत्यादि सब) कथन पूर्ववत् करना चाहिए। वहाँ देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार बहत्तर हजार सामानिक देवों के साथ यावत् दो लाख ८८ हजार आत्मरक्षक देवों के साथ और सनत्कुमार कल्पवासी बहुत-से वैमानिक देव-देवियों के साथ प्रवृत्त होकर महान् गीत और वाद्य के शब्दों द्वारा यावत् दिव्य भोग्य विषयभोगों का उपभोग करता हुआ विचरण करता है।

९. एवं जहा सणंकुमारे तहा जाव पाणतो अच्चुतो, नवरं जो जस्स परिवारो सो तस्स भाणियव्वो। पासायउच्चत्तं ज सएसु सएसु कप्पेसु विमाणाणं उच्चत्तं, अद्धद्धं वित्थारो जाव अच्चुयस्स नव जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अद्धपंचमाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, तत्थ णं गोयमा ! अच्चुए देविंदे देवराया दसहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव विहरति। सेसं तं चेव०।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चोद्दसमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-६ ॥

[९] सनत्कुमार (देवेन्द्र) के समान प्राणत और अच्युत देवेन्द्र तक के विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि जिसका जितना परिवार हो, उतना कहना चाहिए। अपने-अपने कल्प के विमानों की ऊँचाई के बराबर प्रासाद की ऊँचाई तथा उनकी ऊँचाई से आधा विस्तार कहना चाहिए। यावत् अच्युत देवलोक (के इन्द्र) का प्रासादावतंसक नौ सौ योजन ऊँचा है और चार सौ पचास योजन विस्तृत है। हे गौतम ! उसमें देवेन्द्र देवराज अच्युत, दस हजार सामानिक देवों के साथ यावत् (विषय) भोगों का उपभोग करता हुआ विचरता है। शेष सभी वक्तव्यता पूर्ववत् कहनी चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है। भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी विचरते हैं।

विवेचन—शक्रेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के विषयभोग की उपभोगपद्धति—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ६ से ९ तक) में शक्रेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की विषयभोग के उपभोग की प्रक्रिया का वर्णन है। परन्तु शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र की तरह सनत्कुमारेन्द्र और माहेन्द्र, ब्रह्मलोकेन्द्र और लान्तकेन्द्र, महाशुक्रेन्द्र और साहस्रारेन्द्र, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्प के इन्द्र, देवशय्या की विकुर्वणा नहीं करते, वे सिंहासन की विकुर्वणा करते हैं; क्योंकि वे दो-दो इन्द्र, क्रमशः केवल स्पर्श, रूप, शब्द एवं मन से ही विषयोपभोग करते हैं, कायप्रवीचार ईशान-देवलोक तक ही है। सनत्कुमार से लेकर अच्युत कल्प तक के इन्द्र क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और मन से ही प्रवीचार कर लेते हैं। इसलिए इन सब इन्द्रों को शय्या का प्रयोजन नहीं है। सनत्कुमारेन्द्र का परिवार ऊपर बतलाया गया है। माहेन्द्र के ७० हजार सामानिक देव और दो लाख अस्सी हजार आत्मरक्षक देव होते हैं। ब्रह्मलोकेन्द्र के ६० हजार, लान्तकेन्द्र के ५० हजार, महाशुक्रेन्द्र के ४० हजार, सहस्रारेन्द्र के ३० हजार, आनत-प्राणत कल्प के इन्द्र के २० हजार और आरण-अच्युत कल्प के इन्द्र के १० हजार सामानिक देव होते हैं। इनसे चार गुणे आत्मरक्षक देव होते हैं।[१]

सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक के विमान ६०० योजन ऊँचे हैं। इसलिए उनके प्रासादों की ऊँचाई भी ६०० योजन होती है। ब्रह्मलोक और लान्तक में ७०० योजन, महाशुक्र और सहस्रार में ८०० योजन, आनत-प्राणत और आरण-अच्युतकल्प में प्रासाद ९०० योजन ऊँचे होते हैं और इन सबका विस्तार प्रासाद से आधा होता है। यथा—अच्युतकल्प में प्रासाद ९०० योजन ऊँचा होता है, तो उसका विस्तार ४८० योजन होता है। अच्युतदेवलोक में अच्युतेन्द्र दस हजार सामानिक देवों के साथ यावत् विचरता है।[२]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४६

(ख) स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः द्वयोर्द्वयोः। परेऽप्रवीचाराः।—तत्त्वार्थ. ४

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४६

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३२५-२३२६

चक्राकार स्थान की विकुर्वणा क्यों ?—इसका समाधान वृत्तिकार यों करते हैं कि सुधर्मा सभा जैसे-भोगस्थान होते हुए भी शक्रेन्द्र चक्राकार स्थान की विकुर्वणा इसलिए करता है कि सुधर्मा सभा में जिन भगवान् की आराधना होने से उस स्थान में विषयभोग सेवन करना उनकी आशातना करना है। इसलिए शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र या सनत्कुमारेन्द्र आदि इन्द्र अपने सामानिकादि देवों के परिवार-सहित चक्राकार वाले स्थान में जाते हैं। क्योंकि उनके समक्ष स्पर्श आदि विषयों का उपभोग करना अविरुद्ध है। शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र वहाँ परिवार सहित नहीं जाते। क्योंकि वे कायप्रवीचारी होने से अपने सामानिकादि परिवार के समक्ष कायपरिचारणा (काया द्वारा विषयोपभोग सेवन) करना लज्जनीय और अनुचित समझते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—**णेमिपडिरूवगं**—नेमि-चक्र के प्रतिरूप-सदृश गोलाकार। **बहुसमरमणिज्जे**—अत्यन्त सम और रम्य। **उल्लोए**—उल्लोक या उल्लोच—उपरितल। **अट्ठजोयणिया**—लम्बाई-चौड़ाई में आठ योजन। **सीहासणं विउव्वइं सपरिवारं**—(सनत्कुमारेन्द्र) स्वपरिवार योग्य आसनों से युक्त सिंहासन की विकुर्वणा करता है।[२]

॥ चौदहवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४६

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ६४६

सत्तमो उद्देसओ : 'संसिट्ठ'

सातवाँ उद्देशक : 'संश्लिष्ट'

भगवान् द्वारा गौतमस्वामी को इस भव के बाद अपने समान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का आश्वासन

१. रायगिहे जाव परिसा पडिगया।

[१] राजगृह नगर में यावत् परिषद् धर्मोपदेश श्रवण कर लौट गई।

२. 'गोयमा !' दी समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—चिरसंसिट्ठोऽसि मे गोयमा !, चिरसंथुतोऽसि मे गोयमा !, चिरपरिचिओऽसि मे गोयमा !, चिरझुसिओऽसि मे गोयमा !, चिराणुगओऽसि मे गोयमा ! चिराणुवत्ती सि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए, अणंतरं माणुस्सए भवे, किं परं मरणा कायस्स भेदा इतो चुता, दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

[२] श्रमण भगवान् महावीर ने, 'हे गौतम !' इस प्रकार भगवान् गौतम को सम्बोधित करके यों कहा— गौतम ! तू मेरे साथ चिर-संश्लिष्ट है, हे गौतम ! तू मेरा चिर-संस्तुत है, तू मेरा चिर-परिचित भी है। गौतम ! तू मेरे साथ चिर-सेवित या चिरप्रीत है। चिरकाल से, हे गौतम ! तू मेरा अनुगामी है। तू मेरे साथ चिरानुवृत्ति है, गौतम ! इससे (पूर्व के) अनन्तर देवलोक में (देवभव में) तदनन्तर मनुष्यभव में (स्नेह सम्बन्ध था)। अधिक क्या कहा जाए, इस भव में मृत्यु के पश्चात्, इस शरीर से छूट जाने पर, इस मनुष्यभव से च्युत हो कर हम दोनों तुल्य (एक सरीखे) और एकार्थ (एक ही प्रयोजन वाले, अथवा एक ही लक्ष्य—सिद्धिक्षेत्र में रहने वाले) तथा विशेषतारहित एवं किसी प्रकार के भेदभाव से रहित हो जाएँगे।

विवेचन—भगवान् महावीर द्वारा श्री गौतमस्वामी को आश्वासन—अपने द्वारा दीक्षित शिष्यों को केवलज्ञान प्राप्त हो जाने एवं स्वयं को चिरकाल तक केवलज्ञान प्राप्त न होने से खिन्न बने हुए श्री गौतमस्वामी को आश्वासन देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—गौतम, तू चिरकाल से मेरा परिचित है, अतएव तेरा मेरे प्रति भक्तिराग होने से तुझे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है, इत्यादि। इसलिए खिन्न मत हो। हम दोनों इस शरीर के छूट जाने पर एक समान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाएँगे।[१]

कठिन शब्दार्थ—भावार्थ—चिरसंसिट्ठो—चिरकाल से संश्लिष्ट, अर्थात् चिरकाल से स्नेह से बद्ध। **चिरसंथुओ**—चिरसंस्तुत, अर्थात् चिरकाल से स्नेहवश तूने मेरी प्रशंसा की है। **चिरपरिचिओ**—चिरपरिचित— मेरे साथ तेरा लम्बे समय से परिचय रहा है। या पुनः पुनः दर्शन से तू चिरकाल से अभ्यस्त हो गया है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४७
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३२८

चिरझुसिए—चिरजूषित—चिरकाल से तू मेरे साथ सेवित है, अथवा चिरकाल से तेरी मेरे प्रति प्रीति रही है। **चिराणुगए**—चिरानुगत, चिरकाल से तू मेरा अनुगामी—अनुसरणकर्त्ता है। **चिराणुवित्ती**—चिरानुवृत्ति, चिरकाल से तेरी वृत्ति मेरे अनुकूल रही है। **इओ चुए**—इस मनुष्यभव से च्युत होने पर।

एगट्ठा : दो रूप : दो अर्थ—(१) एकार्थ—एक (समान) अनन्तसुखरूप अर्थ-प्रयोजन वाले, **(२) एकस्थ**—सिद्धिक्षेत्र की अपेक्षा से एक क्षेत्राश्रित। **अविसेसमणाणत्ता**—ज्ञान-दर्शनादिपर्यायों में एक समान तथा अभिन्न (भिन्नतारहित)।[१]

अनुत्तरौपपातिक देवों की जानने-देखने की शक्ति की प्ररूपणा

३. [१] जहा णं भंते ! वयं एयमट्ठे जाणामो पासामो तहा णं अणुत्तरोवातिया वि देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति ?

हंता ! गोयमा ! जहा णं वयं एयमट्ठे जाणामो पासामो तहा अणुत्तरोववातिया वि देवा एयमट्ठे जाणंति पासंति।

[३-१ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार अपन दोनों इस (पूर्वोक्त) अर्थ को जानते-देखते हैं, क्या उसी प्रकार अनुत्तरौपपातिक देव भी इस अर्थ (बात) को जानते-देखते हैं ?

[३-१ उ.] हाँ, गौतम ! जिस प्रकार अपन दोनों इस (पूर्वोक्त) बात को जानते-देखते हैं, उसी प्रकार अनुत्तरोपपातिक देव भी इस अर्थ को जानते-देखते हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव पासंति ?

गोयमा ! अणुत्तरोवातियाणं अणंताओ मणेदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमन्नागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जाव पासंति।

[३-२ प्र.] भगवन् ! क्या कारण है कि जिस प्रकार हम दोनों इस बात को जानते-देखते हैं, उसी प्रकार अनुत्तरौपपातिक देव भी जानते-देखते हैं ?

[३-२ उ.] गौतम ! अनुत्तरौपपातिक देवों को (अवधिज्ञान की लब्धि से) मनोद्रव्य की अनन्त वर्गणाएँ (ज्ञेयरूप) लब्ध (उपलब्ध) हैं, प्राप्त हैं, अभिसमन्वागत होती हैं। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि यावत् अनुत्तरौपपातिक देव भी जानते-देखते हैं।

विवेचन—प्रश्नोत्थान का आशय—भगवान् के कथन से आश्वासन पा कर गौतमस्वामी ने दूसरा प्रश्न उठाया—भगवन् ! भविष्य में इस भव के छूटने पर हम दोनों तुल्य और ज्ञान-दर्शनादि में समान हो जाएँगे, यह बात आप तो केवलज्ञान से जानते हैं, मैं आपके कथन से जानता हूँ, किन्तु क्या अनुत्तरौपपातिक देव भी यह बात जानते-देखते हैं ? यह इस प्रश्न का आशय है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४७

भगवान् का उत्तर—अनुत्तरौपपातिक देव विशिष्ट अवधिज्ञान द्वारा मनोद्रव्यवर्गणाओं को जानते-देखते है । अयोगी-अवस्था में अदर्शन के कारण हम दोनों के निर्वाणगमन का निश्चय करते हैं। इस अपेक्षा से यह कहा जाता है कि वे अपन दोनों के भावी तुल्य अवस्थारूप अर्थ को जानते-देखते हैं।[१]

छह प्रकार का तुल्य

४. कतिविधे णं भंते ! तुल्लए पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे तुल्लए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतुल्लए खेत्ततुल्लए कालतुल्लए भवतुल्लए भावतुल्लए संठाणतुल्लए।

[४ प्र.] भगवन् ! तुल्य कितने प्रकार का कहा गया हैं ?

[४ उ.] गौतम ! तुल्य छह प्रकार का कहा गया है यथा—(१) द्रव्यतुल्य, (२) क्षेत्रतुल्य, (३) कालतुल्य, (४) भवतुल्य, (५) भावतुल्य और (६) संस्थानतुल्य।

विवेचन—तुल्य शब्द का अर्थ—जिन एक कोटि के पदार्थों में एक दूसरे से समानता हो, वहाँ उनमें परस्पर तुल्यता का प्रतिपादन किया जाता है। यहाँ द्रव्यादि छह दृष्टियों से तुल्य का कथन है।

द्रव्य-तुल्य-निरूपण

५. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'दव्वतुल्लए, दव्वतुल्लए' ?

गोयमा ! परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलस्स दव्वतो तुल्ले, परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गल-वतिरित्तस्स दव्वओ णो तुल्ले। दुपएसिए खंधे दुपएसियस्स खंधस्स दव्वओ तुल्ले, दुपएसिए खंधे दुपएसियवतिरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले। एवं जाव दसपएसिए। तुल्लसंखेज्जपएसिए खंधे तुल्लसंखेज्जपएसियस्स खंधस्स दव्वओ तुल्ले, तुल्लसंखेज्जपएसिए खंधे तुल्लसंखेज्जपएसियवतिरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले। एवं तुल्लअसंखेज्जपएसिए वि। तुल्लअणंतपदेसिए वि। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति 'दव्वतुल्लए, दव्वतुल्लए।'

[५ प्र.] भगवान् ! 'द्रव्यतुल्य' द्रव्यतुल्य क्यों कहलाता है ?

[५ उ.] गौतम ! एक परमाणु-पुद्गल, दूसरे परमाणु-पुद्गल से द्रव्यतः तुल्य है, किन्तु परमाणु-पुद्गल से भिन्न (व्यतिरिक्त) दूसरे पदार्थों के साथ द्रव्य से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार एक द्विप्रदेशिक स्कन्ध दूसरे द्विप्रदेशिक स्कन्ध से द्रव्य की अपेक्षा से तुल्य है, किन्तु द्विप्रदेशिक स्कन्ध से व्यतिरिक्त दूसरे स्कन्ध के साथ द्विप्रदेशिक स्कन्ध द्रव्य से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार यावत् दशप्रदेशिक स्कन्ध तक कहना चाहिए। एक तुल्य-संख्यात-प्रदेशिक-स्कन्ध, दूसरे तुल्य-संख्यात-प्रदेशिक स्कन्ध के साथ द्रव्य से तुल्य है परन्तु तुल्य-संख्यात-प्रदेशिक-स्कन्ध से व्यतिरिक्त दूसरे स्कन्ध के साथ द्रव्य से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार तुल्य-असंख्यात-प्रदेशिक-स्कन्ध के विषय में भी कहना चाहिए। तुल्य अनन्त-प्रदेशिक स्कन्ध के विषय में भी इसी प्रकार

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३२८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४७

जानना चाहिए। इसी कारण से हे गौतम ! 'द्रव्यतुल्य' द्रव्यतुल्य कहलाता है।

विवेचन—द्रव्यतुल्य : दो अर्थ—(१) द्रव्यतः—एक अणु आदि की अपेक्षा से जो तुल्य हो, वह द्रव्यतुल्य है, अथवा (२) जो द्रव्य, दूसरे द्रव्य के साथ तुल्य हो, वह द्रव्यतुल्य है।[१]

क्षेत्रतुल्यनिरूपण

६. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'खेत्ततुल्लए, खेत्ततुल्लए' ?

गोयमा ! एगपदेसोगाढे पोग्गले एगपदेसोगाढस्स पोग्गलस्स खेत्तओ तुल्ले, एगपदेसोगाढे-पोग्गले एगपएसोगाढवतिरत्तस्स पोग्गलस्स खेत्तओ णो तुल्ले। एवं जाव दसपदेसोगाढे, तुल्लसंखेज्ज-पदेसोगाढे० तुल्लसंखेज्ज०। एवं तुल्लअसंखेज्जपदेसोगाढे वि। से तेणट्ठेणं जाव खेत्ततुल्लए।

[६ प्र.] भगवन् ! 'क्षेत्रतुल्य' क्षेत्रतुल्य क्यों कहलाता है ?

[६ उ.] गौतम ! एकप्रदेशावगाढ (आकाश के एक प्रदेश पर रहा हुआ) पुद्गल दूसरे एकप्रदेशावगाढ पुद्गल के साथ क्षेत्र से तुल्य कहलाता है; परन्तु एकप्रदेशावगाढ-व्यतिरिक्त पुद्गल के साथ, एकप्रदेशावगाढ पुद्गल क्षेत्र से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार यावत्—दस-प्रदेशावगाढ पुद्गल के विषय में भी कहना चाहिए तथा एक तुल्य संख्यात-प्रदेशावगाढ पुद्गल, अन्य तुल्य संख्यात-प्रदेशावगाढ पुद्गल के साथ तुल्य होता है। इसी प्रकार तुल्य असंख्यात-प्रदेशावगाढ पुद्गल के विषय में भी कहना चाहिए। इसी कारण से, हे गौतम ! 'क्षेत्रतुल्य' क्षेत्रतुल्य कहलाता है।

विवेचन—क्षेत्रतुल्य का अर्थ—जहाँ दो क्षेत्र, एकप्रदेशावगाढत्व आदि की अपेक्षा से तुल्य हों, वहाँ क्षेत्रतुल्य कहलाता है।[२]

कालतुल्यनिरूपण

७. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'कालतुल्लए, कालतुल्लए' ?

गोयमा ! एगसमयठितीए पोग्गले एग० कालओ तुल्ले, एगसमयठितीए पोग्गले एगसमय-ठितीयवतिरित्तस्स पोग्गलस्स कालओ णो तुल्ले। एवं जाव दससमयट्ठितीए। तुल्लसंखेज्जसमयठितीए एवं चेव। एवं तुल्लअसंखेज्जसमयट्ठितीए वि। से तेणट्ठेणं जाव कालतुल्लए, कालतुल्लए।

[७ प्र.] भगवन् ! 'कालतुल्य' कालतुल्य क्यों कहलाता है ?

[७ उ.] गौतम ! एक समय की स्थिति वाला पुद्गल अन्य एक समय की स्थिति वाले पुद्गल के साथ काल से तुल्य है; किन्तु एक समय की स्थिति वाले पुद्गल के अतिरिक्त दूसरे पुद्गलों के साथ, एक समय की स्थिति वाला पुद्गल काल से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार यावत् दस समय की स्थिति वाले पुद्गल तक के विषय में कहना चाहिए। तुल्य संख्यातसमय की स्थिति वाले पुद्गल तक के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए

---

१. द्रव्यतः—एकाणुकाद्यपेक्षया तुल्यकं द्रव्यतुल्यकम्। अथवा द्रव्यं च तत्तुल्यकं च द्रव्यान्तरेणेति द्रव्यतुल्यकम् विशेषणव्यत्ययात्।
— भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४९

२. क्षेत्रतः—एकप्रदेशवगाढत्वादिना तुल्यकं क्षेत्रतुल्यकम्। — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४९

और तुल्य असंख्यातसमय की स्थिति वाले पुद्गल के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। इस कारण हे गौतम ! 'कालतुल्य' कालतुल्य कहलाता है।

विवेचन—कालतुल्य का तात्पर्य—समय, आवलिका, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास आदि को काल कहते हैं। एक समय की स्थिति वाला पुद्गल, दूसरे एक समय की स्थिति वाले पुद्गल के साथ काल से तुल्य है, किन्तु एक समय के अतिरिक्त दो आदि समयों की स्थिति वाला पुद्गल काल से तुल्य नहीं है।

भवतुल्यनिरूपण

८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'भवतुल्लए, भवतुल्लए ?'

गोयमा ! नेरइए नेरइयस्स भवट्ठयाए तुल्ले, नेरइए नेरइयवतिरिलस्स भवट्ठयाए नो तुल्ले। तिरिक्खजोणिए एवं चेव। एवं मुणस्से। एवं देवे वि। से तेणट्ठेणं जाव भवतुल्लए, भवतुल्लए।

[८ प्र.] भगवन् ! 'भवतुल्य' भवतुल्य क्यों कहलाता है ?

[८ उ.] गौतम ! एक नैरयिक जीव दूसरे नैरयिक जीव (या जीवों) के साथ भव-तुल्य है, किन्तु नैरयिक जीवों के अतिरिक्त (तिर्यञ्च-मनुष्यादि दूसरे जीवों) के साथ नैरयिक जीव, भव से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार तिर्यञ्चयोनिकों के विषय में समझना चाहिए। मनुष्यों के तथा देवों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। इस कारण, हे गौतम !'भवतुल्य' 'भवतुल्य' कहलाता है।

विवेचन—भवतुल्य का भावार्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार भवों में से जो प्राणी जिस प्राणी के साथ भव की अपेक्षा तुल्य—समान है, वह भवतुल्य कहलाता है। नरकभव के जीव की तिर्यञ्चादि भव के जीव के साथ भवतुल्यता नहीं है।[१]

भावतुल्यनिरूपण

९. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'भावतुल्लए, भावतुल्लए ?'

गोयमा ! एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालगस्स पोग्गलस्स भावओ तुल्ले, एगगुणकालए पोग्गले एक्कगुणकालगवतिरित्तस्स पोग्गलस्स भावओ णो तुल्ले। एवं जाव दसगुणकालए। तुल्लसंखेज्ज-गुणकालए पोग्गले तुल्लसंखेज्ज०। एवं तुल्लअसंखेज्जगुणकालए वि। एवं तुल्लअणंतगुणकालए वि। जहा कालए एवं नीलए लोहियए हालिद्दए सुकिल्लए। एवं सुब्भिगन्धे दुब्भिगंधे एवं तित्ते जाव महुरे। एक कक्खडे जाव लुक्खे। उदइए भावे उदइयस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उदइए भावे उदइयभाव-वइरित्तस्स भवस्स भावओ नो तुल्ले। एवं उवसमिए खइए खयोवसमिए पारिणामिए, सन्निवातिए भावे सन्निवातियस्स भावस्स। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति 'भावतुल्लए, भावतुल्लए'।

[९ प्र.] भगवन् ! 'भावतुल्य' भावतुल्य किस कारण से कहलाता है ?

[९ उ.] गौतम ! एकगुण काले वर्ण वाला पुद्गल, दूसरे एकगुण काले वर्ण वाले पुद्गल के साथ भाव

---

१. भवो—नारकादिः तेन तुल्यता यस्याऽसौ भवतुल्यः। — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५९

से तुल्य है किन्तु एक गुण काले वर्ण वाला पुद्गल, एक गुण काले वर्ण से अतिरिक्त दूसरे पुद्गलों के साथ भाव से तुल्य नहीं है। इसी प्रकार यावत् दस गुण काले पुद्गल तक कहना चाहिए। इसी प्रकार तुल्य संख्यातगुण काला पुद्गल तुल्य संख्यातगुण काले पुद्गल के साथ, तुल्य असंख्यातगुण काला पुद्गल तुल्य असंख्यातगुण काले पुद्गल के साथ और तुल्य अनन्तगुण काला पुद्गल, तुल्य अनन्तगुण काले पुद्गल के साथ भाव से तुल्य है। जिस प्रकार काला वर्ण कहा, उसी प्रकार नीले, लाल, पीले और श्वेत वर्ण के विषय में भी कहना चाहिए। इसी प्रकर सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध और इसी प्रकार तिक्त यावत् मधुर रस तथा कर्कश यावत् रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल के विषय में भावतुल्य का कथन करना चाहिए। औदयिक भाव औदयिक भाव के साथ (भाव-) तुल्य है, किन्तु वह औदयिक भाव के सिवाय अन्य भावों के साथ भावतः तुल्य नहीं है। इसी प्रकार औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक भाव के विषय में भी कहना चाहिए। सान्निपातिक भाव, सान्निपातिक भाव के साथ भाव से तुल्य है। ईसी कारण से, हे गौतम ! 'भावतुल्य' भावतुल्य कहलाता है।

विवेचन—भावतुल्यता के विविध पहलू—प्रस्तुत में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के सर्वप्रकारों में से प्रत्येक प्रकार के साथ उसी प्रकार की भावतुल्यता है। जैसे—एक गुण काले वर्ण वाले पुद्गल के साथ एक गुण काले वर्ण वाला पुद्गल भाव से तुल्य है। इसी प्रकार एकगुण नीले पुद्गल की एकगुण नीले पुद्गल के साथ भावतुल्यता है। इसी प्रकार रस, गन्ध एवं स्पर्श के विषय में भी समझ लेना चाहिए।[१]

तुल्लसंखेज्जगुणकालए इत्यादि का आशय—यहाँ जो 'तुल्य' शब्द ग्रहण किया है यह संख्यात के संख्यात भेद होने से संख्यातमात्र के साथ तुल्यता बताने हेतु नहीं है, अपितु समान संख्यारूप अर्थ के प्रतिपादन के लिए है। इसी प्रकार असंख्यात और अनन्त के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

औदयिक आदि पांच भावों की अपने-अपने भाव के साथ सामान्यतः भावतुल्यता है, किन्तु अन्य भावों के साथ नहीं।[२]

औदयिक आदि भावों के लक्षण—औदयिक—कर्मों के उदय से निष्पन्न जीव का परिणाम औदयिकभाव है, अथवा कर्मों के उदय से निष्पन्न नारकत्वादि-पर्यायविशेष औदयिक भाव है।

औपशमिक—उदयप्राप्त कर्म का क्षय और उदय में न आए हुए कर्म का अमुक काल तक रुकना औपशमिक भाव है, अथवा कर्मों के उपशम से होने वाला जीव का परिणाम औपशमिक भाव कहलाता है। यथा—औपशमिक सम्यग्दर्शन एवं चारित्र। **क्षायिक**—कर्मों का—क्षय अभाव ही क्षायिक है। अथवा कर्मों के क्षय से होने वाला जीव का परिणाम क्षायिक भाव है। यथा—केवलज्ञानादि। **क्षायोपशमिक**—उदयप्राप्त कर्म के क्षय के साथ विपाकोदय को रोकना क्षयोपशमिक भाव है, अथवा कर्मों के क्षय तथा उपशम से होने वाला जीव का परिणाम क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। यथा—मतिज्ञानादि। क्षायोपशमिक भाव में विपाकवेदन नहीं होता, प्रदेशवेदन होता है, जबकि औपशमिक भाव में दोनों प्रकार के वेदन नहीं होते। यही क्षायोपशमिक भाव और औपशमिक भाव में अन्तर है। जीव का अनादिकाल से जो स्वाभाविक परिणाम है, वह **पारिणामिक**

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ६७६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४९

भाव है। औदयिक आदि दो-तीन भावों के संयोग से उत्पन्न होने वाला भाव सान्निपातिक भाव है।[1]

संस्थानतुल्यनिरूपण

१०. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'संठाणतुल्लए, संठाणतुल्लए ?'

गोयमा ! परिमंडले संठाणे परिमंडलस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, परिमंडले संठाणे परिमंडलसंठाणवतिरित्तस्स संठाणस्स संठाणओ नो तुल्ले। एवं वट्टे तंसे चउरंसे आयए। समचउरंस-संठाणे समचउरंसस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, समचउरंसे संठाणे समचउरंससंठाणवतिरित्तस्स संठाणस्स संठाणओ नो तुल्ले। एवं परिमंडले वि। एवं जाव हुंडे। से तेणट्ठेणं जाव संठाणतुल्लए, संठाणतुल्लए।

[१० प्र.] भगवन् ! 'संस्थानतुल्य' को संस्थानतुल्य क्यों कहा जाता है?

[१० उ.] गौतम ! परिमण्डल-संस्थान, अन्य परिमण्डल-संस्थान के साथ संस्थानतुल्य है, किन्तु दूसरे संस्थानों के साथ संस्थानतुल्य नहीं है। इसी प्रकार वृत्त-संस्थान, त्र्यस्त्र-संस्थान, चतुरस्त्रसंस्थान एवं आयतसंस्थान के विषय में भी कहना चाहिए। एक समचतुरस्त्रसंस्थान अन्य समचतुरस्त्रसंस्थान के साथ संस्थान-तुल्य है, परन्तु समचतुरस्त्र के अतिरिक्त दूसरे संस्थानों के साथ संस्थान-तुल्य नहीं है। इसी प्रकार न्यग्रोध-परिमण्डल यावत् हुण्डकसंस्थान तक कहना चाहिए। इसी कारण से, हे गौतम! 'संस्थान-तुल्य' संस्थान-तुल्य कहलाता है।

विवेचन—संस्थान : परिभाषा, प्रकार एवं भेद-प्रभेद—आकृतिविशेष को संस्थान कहते हैं। वह दो प्रकार का है—अजीवसंस्थान और जीवसंस्थान। **अजीवसंस्थान** के ५ भेद हैं—परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्त्र, चतुरस्त्र और आयत। **(१) परिमण्डल**—जो चूड़ी के समान गोल हो। इसके दो भेद हैं—घन और प्रतर। **(२) वृत्त**—जो कुम्हार के चाक के समान बाहर से गोल और भीतर से पोलान-रहित हो। इसके दो भेद हैं—घन और प्रतर। इसके भी दो-दो भेद होते हैं। समसंख्या वाले प्रदेशों से युक्त और विषमसंख्या वाले प्रदेशों से युक्त। **(३) त्र्यस्त्र**—त्रिकोणाकार। **(४) चतुरस्त्र**—चौकोर। **(५) आयात**—जो दण्ड के समान लम्बा हो। इसके तीन भेद हैं—श्रेण्यायत, प्रतरायत और घनायत। इनके प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—समसंख्या वाले प्रदेशों से युक्त और विषमसंख्या वाले प्रदेशों से युक्त।[2]

जीवसंस्थान के छह भेद, लक्षण—संस्थान नामकर्म के उदय से सम्पाद्य जीवों की आकृतिविशेष को जीव-संस्थान कहते हैं। इसके ६ भेद ये हैं—(१) समचतुरस्त्र, (२) न्यग्रोध-परिमण्डल, (३) सादिसंस्थान, (४) कुब्जकसंस्थान, (५) वामनसंस्थान और (६) हुण्डकसंस्थान।

(१) समचतुरस्त्र—सम—समान, चतुरस्त्र—चारों कोण। पल्हथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों। अर्थात्—आसन और कपाल का अन्तर, दोनों घुटनों का अन्तर, बाएँ कन्धे और दाहिने

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४९
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३३४

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४९
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३३५

घुटने का अन्तर तथा दाहिने कन्धे और बाएँ घुटने का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। अथवा—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के समग्र अवयव ठीक प्रमाण वाले हों, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

(२) न्यग्रोध-परिमण्डल—वटवृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। जैसे—वटवृक्ष ऊपर के भाग में फैला हुआ और नीचे के भाग में संकुचित होता है, वैसे ही जिस संस्थान में नाभि के ऊपर का भंग विस्तृत, अर्थात्—सामुद्रिक शास्त्र में बताए हुए प्रमाण वाला हो और नीचे का भाग हीन अवयव वाला हो, उसे 'न्यग्रोध-परिमण्डलसंस्थान' कहते हैं।

(३) सादि-संस्थान—सादि का अर्थ है—नाभि के नीचे का भाग। जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण हो और ऊपर का भाग हीन हो, उसे सादि-संस्थान कहते हैं। इसका नाम कहीं कहीं साची-संस्थान भी मिलता है। साची कहते है—शाल्मली (सैमर) के वृक्ष को। शाल्मली वृक्ष का धड़ जैसा पुष्ट होता है, वैसा उसका ऊपर का भाग नहीं होता। इसी प्रकार जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग परिपुष्ट या परिपूर्ण हो , किन्तु ऊपर का भाग हीन हो, वह साची-संस्थान होता है।

(४) कुब्जक-संस्थान—जिस शरीर में हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, परन्तु छाती, पीठ, पेट आदि टेढ़े-मेढ़े हों, उसे कुब्जक-संस्थान कहते हैं।

(५) वामन-संस्थान—जिस शरीर में छाती, पीठ, पेट आदि अवयव पूर्ण हों, किन्तु हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों, उसे वामन-संस्थान कहते हैं।

(६) हुण्डक-संस्थान—जिस शरीर में समस्त अवयव बेडौल हों, अर्थात्—एक भी अवयव सामुद्रिक शास्त्र के प्रमाणानुसार न हो, उसे हुण्डक-संस्थान कहते हैं।[१]

अनशनकर्त्ता अनगार द्वारा मूढता-अमूढतापूर्वक आहाराध्यावसाय-प्ररूपणा

११. [१] भत्तपच्चक्खायए णं भंते ! अणगारे मुच्छिए जाव अज्झोववन्ने आहारमाहारेइ, अहे णं वीससाए कालं करेति ततो पच्छा अमुच्छिते अगिद्धे जाव अणज्झोववन्ने आहारमाहारेइ ?

हंता, गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे० तं० चेव।

[११-१ प्र.] भगवन् ! भक्तप्रत्याख्यान (आहार का त्याग करके यावज्जीव अनशन) करने वाला अनगार क्या (पहले) मूर्च्छित यावत् अत्यन्त आसक्त होकर आहार ग्रहण करता है, इसके पश्चात् स्वाभाविक रूप से काल (मृत्यु प्राप्त) करता है और तदनन्तर अमूर्च्छित, अगृद्ध यावत् अनासक्त होकर आहार करता है ?

[११-१उ.] हाँ, गौतम ! भक्तप्रत्याख्यान करने वाला अनगार पूर्वोक्त रूप से आहार करता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'भत्तपच्चक्खायए णं अण०' तं चेव ?

गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे मुच्छिए जाव अज्झोववन्ने आहारे भवइ, अहे णं वीससाए

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३३६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६४९-६५०

कालं करेइ तओ पच्छा अमुच्छिते जाव आहारे भवति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव आहारमाहारेइ।

[११-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा गया कि भक्तप्रत्याख्यान करने वाला अनगार ……… पूर्वोक्त रूप से आहार करता है ?

[११-२ उ.] गौतम ! भक्तप्रत्याख्यान करने वाला (कोई) अनगार (प्रथम) मूर्च्छित यावत् अत्यन्त आसक्त होकर आहार करता है। इसके पश्चात् स्वाभाविक रूप से काल करता है। इसके बाद आहार के विषय में अमूर्च्छित यावत् अगृद्ध (अनासक्त) हो कर आहार करता है। इसलिए हे गौतम ! भक्तप्रत्याख्यान करने वाला (कोई-कोई) अनगार पूर्वोक्त रूप से यावत् आहार करता है।

विवेचन—भक्तप्रत्याख्यान करने वाले किसी-किसी अनगार की ऐसी स्थिति हो जाती है। इसलिए यहाँ उसके मनोभावों के उतार-चढ़ाव का चित्रण किया गया है। भक्तप्रत्याख्यान करने से पूर्व अथवा भक्तप्रत्याख्यान कर लेने के पश्चात् तीव्र क्षुधावेदनीय कर्म के उदयवश वह पहले आहार में मूर्च्छित, गृद्ध यावत् अत्यासक्त होता है। *फिर वह मारणान्तिक समुद्घात करता है। तत्पश्चात्* वह उस (मा० समु०) से निवृत्त होकर मूर्च्छा, गृद्धि यावत् आसक्ति से रहित हो कर प्रशान्त परिणाम पूर्वक आहार का उपयोग करता है। अर्थात्—आहार के प्रति वह मूर्च्छा और आसक्ति-रहित बन जाता है। यह समाधान वृत्तिकार का है।

प्रकारान्तर से आशय—धारणा के अनुसार इसकी अर्थसंगति इस प्रकार से है—संथारा (यावज्जीव अनशन) करके काल करने वाला अनगार जब काल करके देवलोक में उत्पन्न होता है, तब उत्पन्न होते ही वह आसक्ति और गृद्धिपूर्वक आहार ग्रहण करता है, तदनन्तर वह आसक्ति-रहित होकर आहार करता है।

कठिन शब्दों के भावार्थ—मुच्छिए—मूर्च्छित-आहारसंरक्षण में अनुबद्ध अथवा उक्त (आहार) दोष के विषय में मूढ या मोहवश। **गिद्धे**—गृद्ध-प्राप्त आहार के विषय में आसक्त, या अतृप्त होने से उक्त सरस आहार के विषय में लालसायुक्त। **अज्झोववन्ने**—अध्युपपन्न—आसक्त, अप्राप्त आहार की चिन्ता में अत्यधिक लीन। **आहारं आहारेइ**—वायु, तेलमालिश आदि या मोदकादि आहार्य पदार्थ हैं। तीव्र क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से असमाधि उत्पन्न होने पर उसके उपशमनार्थ पूर्वोक्त आहार का उपभोग करता है। **वीससाए**—विश्रसा—स्वाभाविक रूप से। **कालं करेइ**—काल (मरण) के समान काल—मारणान्तिकसमुद्घात—करता है।

लवसप्तम-देव : स्वरूप एवं दृष्टान्तपूर्वक कारण-निरूपण

१२. [१] अत्थि णं भंते ! 'लवसत्तमा देवा, लवसत्तमा देवा ?'

हंता, अत्थि।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! क्या लवसप्तम देव 'लवसप्तम' होते हैं ?

[१२-१ उ.] हाँ, गौतम ! होते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५०

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३३७-२३३८

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५०

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'लवसत्तमा देवा, लवसत्तमा देवा ?'

गोयमा ! से जहानामए केयि पुरिसे तरुणे जाव निउणसिप्पोवगए सालीण वा वीहीण वा गोधूमाण वा जवाण वा जवजवाण वा पिक्काणं परियाताणं हरियाणं हरियकंडाणं तिक्खेणं णवपज्जणएणं असियएणं पडिसाहरिया पडिसाहरिया पडिसंखिविय पडिसंखिविय जाव 'इणामेव इणामेव' त्ति कट्टु सत्त लए लएज्जा, जति णं गोयमा ! तेसिं देवाणं एवतियं कालं आउए पहुप्पंते तो णं ते देवा ते णं चेव भवग्गहणेणं सिज्झंता जाव अंतं करेंता। से तेणट्ठेणं जाव लवसत्तमा देवा, लवसत्तमा देवा।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! उन्हें 'लवसप्तम' देव क्यों कहते हैं ?

[१२-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई तरुण पुरुष यावत् शिल्पकला में निपुण एवं सिद्धहस्त हो, वह परिपक्व, काटने योग्य अवस्था को प्राप्त, (पर्यायप्राप्त), पीले पड़े हुए तथा (पत्तों की अपेक्षा से) पीले जाल वाले, शालि, व्रीहि, गेहूँ, जौ, और जवजव (एक प्रकार का धान्य-विशेष) की बिखरी हुई नालों को हाथ से इकट्ठा करके मुट्ठी में पकड़ कर नई धार पर चढ़ाई हुई तीखी दंराती से शीघ्रतापूर्वक 'ये काटे, ये काटे'—इस प्रकार सात लवों (मुट्ठों) को जितने समय में काट लेता है, हे गौतम ! यदि उन देवों का इतना (सात लवों को काटने जितना समय (पूर्वभव का) अधिक आयुष्य होता तो वे उसी भव में सिद्ध हो जाते, यावत् सर्व-दुखों का अन्त कर देते हैं। इसी कारण से, हे गौतम ! (सात लव का आयुष्य कम होने से) उन देवों को 'लवसप्तम' कहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (सू. १२, १-२) में बताया है कि अनुत्तरौपपातिक देवों में कुछ ऐसे देव होते हैं, जिनका आयुष्य सात लव अधिक होता तो वे सर्वार्थसिद्ध देव न होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते। इसी कारण से इन्हें 'लवसप्तम' कहा है, इस तथ्य को धान्य के मुट्ठों (लयनीय-अवस्था प्राप्त कवलियों) के दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है।[१]

कठिन शब्दार्थ—**परियायाणं**—काटने योग्य अवस्था (पर्याय) को प्राप्त। **हरियाणं**—पिंगल (पीले) पड़े हुए। **हरिय-कंडाणं**—पीले पड़े हुए जाल वाले (अथवा पीली नाल वाले)। **णवपज्जणएणं**—ताजे लोहे को आग में तपा कर घन से कूट कर तीखे किये हुए। **असियएणं**—दात्र से—दराँती से। **पडिसाहरिया**-बिखरी हुई नालों को हाथ से इकट्ठी करके, **संखिविया**—मुट्ठी में पकड़ कर।[२]

लवसप्तम देव नाम क्यों पड़ा ?—शालि आदि धान्य का एक मुट्ठा (कवलिया) काटने में जितना समय लगता है, उसे 'लव' कहते हैं। ऐसा सात लव परिमाण आयुष्य (पूर्वभव-मनुष्यभव में) कम होने से वे विशुद्ध अध्यवसाय वाले मानव मोक्ष में नहीं जा सके, किन्तु सवार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। इसी कारण से वे 'लवसप्तम' कहलाते हैं।[३]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ६७७-६७८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५१

३. वही, अ. वृत्ति, पत्र ६५१

अनुत्तरौपपातिक देव : स्वरूप, कारण और उपपातहेतुककर्म

१३. [१] अत्थि णं भंते ! अणुत्तरोववातिया देवा, अणुत्तरोववातिया देवा ?

हंता अत्थि।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! क्या अनुत्तरौपपातिक देव, अनुत्तरौपपातिक होते हैं ?

[१३-१ उ.] हाँ, गौतम ! होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'अणुत्तरोववातिया देवा, अणुत्तरोववातिया देवा ?'

गोयमा ! अणुत्तरोववववातियाणं देवाणं अणुत्तरा सद्दा जाव अणुत्तरा फासा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अणुत्तरोववातिया देवा, अणुत्तरोववातिया देवा।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! वे अनुत्तरौपपातिक देव क्यों कहलाते हैं ?

[१३-२ उ.] गौतम ! अनुत्तरौपपातिक देवों को अनुत्तर शब्द, *यावत्—(अनुत्तर रूप, अनुत्तर रस,* अनुत्तर गंध और) अनुत्तर स्पर्श प्राप्त होते हैं, इस कारण, हे गौतम ! अनुत्तरौपपातिक देवों को अनुत्तरौपपातिक देव कहते हैं।

१४. अणुत्तरोववातिया णं भंते ! देवा केवतिएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववातियदेवत्ताए उववन्ना ?

गोयमा ! जावतियं छट्ठभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतिएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववातिया देवा अणुत्तरोववातियदेवत्ताए उववन्ना।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चौद्दसमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-७॥

[१४ प्र.] भगवन् ! कितने कर्म शेष रहने पर अनुत्तरौपपातिक देव, अनुत्तरौपपातिक देवरूप में उत्पन्न हुए हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! श्रमणनिर्ग्रन्थ षष्ठ-भक्त (बेले के) तप द्वारा जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्म शेष रहने पर अनुत्तरौपपातिक-योग्य साधु, अनुत्तरौपपातिक देवरूप में उत्पन्न हुए हैं।

हे भगवन् यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतम स्वामी, यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में अनुत्तरौपपातिक देवों के अस्तित्व का समर्थन, उनके अनुत्तरौपपातिक होने का कारण तथा कितने कर्म अवशेष रहने पर अनुत्तरौपपातिक देवत्व प्राप्त होता है ? इसकी परिचर्चा की गई है।

अनुत्तरौपपातिक का शब्दश: अर्थ—जिनका उपपात—जन्म अनुत्तर शब्दादि विषयों का योग होने से अनुत्तर—सर्वप्रधान—होता है, वे अनुत्तरौपपातिक कहलाते हैं।[१]

अनुत्तरौपपातिक देवत्वप्राप्ति की योग्यता—कोई श्रमण निर्ग्रन्थ सुसाधु षष्ठभक्त तप से जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्म अवशिष्ट रहने पर उस साधु को अनुत्तरौपपातिक देवत्व की प्राप्ति होती है।[२]

॥ चौदहवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त॥

---

१. अनुत्तरः—सर्वप्रधानोऽनुत्तरशब्दादिविषययोगात् उपपाता—जन्म अनुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः।
—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५१

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ६५१

अट्ठमो उद्देसओ : 'अंतरे'

आठवाँ उद्देशक : (विविध पृथ्वियों का परस्पर) अन्तर

रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी एवं अलोक पर्यन्त परस्पर अबाधान्तर की प्ररूपणा

१. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए य पुढवीए केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते।

[१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी और शर्कराप्रभा पृथ्वी का कितना अबाधा-अन्तर कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! (इन दोनों नरक-पृथ्वियों का) अबाधा-अन्तर असंख्यात हजार योजन का कहा गया है ?

२. सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए वालुयप्पभाए य पुढवीए केवतियं० ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी और बालुकाप्रभापृथ्वी का कितना अबाधा-अन्तर कहा गया है ?

[२ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) समझना चाहिए।

३. एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य।

[३] इसी प्रकार (बालुकाप्रभापृथ्वी से लेकर) तम:प्रभा और अध:सप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए।

४. अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते।

[४ प्र.] भगवन् ! अध:सप्तमपृथ्वी और अलोक का कितना अबाधा-अन्तर कहा गया है ?

[४ उ.] गौतम ! (इन दोनों का) असंख्यात हजार योजन का अबाधा-अन्तर कहा गया है।

५. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए जोतिसस्स य केवतियं० पुच्छा।

गोयमा ! सत्तनउए जोयणसए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते।

[५ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी और ज्योतिष्क-विमानों का कितना अबाधा-अन्तर कहा गया है ?

[५ उ.] गौतम ! (इन दोनों का) अबाधा-अन्तर ७९० योजन कहा गया है।

६. जोतिसस्स णं भंते ! सोहम्मीसाणाण य कप्पाणं केवतियं० पुच्छा।

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणाइं जाव[1] अंतरे पण्णत्ते।

[६ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्कविमानों और सौधर्म-ईशानकल्पों का आबाधा-अन्तर कितना कहा गया है ?

[६ उ.] गौतम ! इनका अबाधान्तर यावत् असंख्यात योजन कहा गया है।

७. सोहम्मीसाणाणं भंते ! सणंकुमार-माहिंदाण य केवतियं० ?

एवं चेव।

[७ प्र.] भगवन् ! सौधर्म-ईशानकल्प और सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्पों का कितनां अबाधान्तर कहा गया है ?

[७ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

८. सणंकुमार-माहिंदाणं भंते ! बंभलोगस्स य कप्पस्स केवतियं० ?

एवं चेव।

[८ प्र.] भगवन् ! सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प और ब्रह्मलोककल्प का अबाधान्तर कितना कहा गया है ?

[८ उ.] गौतम ! इनका अबाधान्तर भी पूर्ववत् है।

९. बंभलोगस्स णं भंते ! लंतगस्स य कप्पस्स केवतियं० ?

एवं चेव।

[९ प्र.] भगवन् ! ब्रह्मलोककल्प और लान्तककल्प के अबाधान्तर के विषय में (पूर्ववत्) प्रश्न।

[९ उ.] गौतम ! (इन दोनों का अबाधान्तर पूर्ववत्) इसी प्रकार (समझना चाहिए।)

१०. लंतयस्स णं भंते ! महासुक्कस्स य कप्पस्स केवतियं० ?

एवं चेव।

[१० प्र.] भगवन् ! लान्तककल्प और महाशुक्र कल्प का अबाधान्तर कितना है ?

[१० उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

११. एवं महासुक्कस्स सहस्सारस्स य।

---

१. 'जाव' पद सूचक प्रज्ञापनासूत्रपाठ—"**कहि णं भंते ! सोहम्मगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! सोहम्मगदेवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वतस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिम-सूरिय-गह-नक्खत्त-तारारूवाणं बहूणि जोयणसयाणि बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसतसहस्साइं बहुगीओ जोयणकोडीओ बहुगीओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता एत्थ णं सोहम्मे णामं कप्पे पण्णत्ते०**"

—श्री महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित 'पण्णवणासुत्तं भाग १' पृ. ७०, सू० १९७ [१]॥

[११] इसी प्रकार (पूर्ववत्) महाशुक्रकल्प और सहस्राकल्प का अबाधान्तर जानना चाहिए।

१२. एवं सहस्सारस्स आणय-पाणयाण य कप्पाणं।

[१२] इसी प्रकार सहस्रारकल्प और आनत-प्राणतकल्पों का अबाधान्तर है।

१३. एवं आणय-पाणयाण आरणऽच्चुयाण य कप्पाणं।

[१३] आनत-प्राणतकल्पों और आरण-अच्युतकल्पों का अबाधान्तर भी इसी प्रकार है।

१४. एवं आरणऽच्चुयाणं गेवेज्जविमाणाण य।

[१४] आरण-अच्युतकल्पों और ग्रैवेयक विमानों का आबाधान्तर भी पूर्ववत् कहना चाहिए।

१५. एवं गेवेज्जविमाणाणं अणुत्तरविमाण ण य।

[१५] इसी प्रकार ग्रैवेयक विमानों और अनुत्तर विमानों का अबाधान्तर समझना चाहिए।

१६. अणुत्तरविमाणाणं भंते ! ईसिपब्भाराए य पुढवीए केवतिए० पुच्छा।

गोयमा ! दुवालसजोयणे अबाहाए अंतरे पन्नत्ते।

[१६ प्र.] भगवान् ! अनुत्तरविमानों और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का अबाधान्तर कितना कहा गया है?

[१६ उ.] गौतम ! (इनका) बारह योजन का अबाधान्तर कहा गया है।

१७. ईसिपब्भाराए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवतिए अबाहाए० पुच्छा।

गोयमा ! देसूणं जोयणं अबाहाए अंतरे पन्नत्ते।

[१७ प्र.] भगवान् ! ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी और अलोक का कितना अबाधान्तर कहा गया है ?

[१७ उ.] गौतम ! (इन दोनों का) अबाधान्तर देशोन योजन (एक योजन से कुछ कम) का कहा गया है।

विवेचन—अबाधा-अन्तर की परिभाषा—यद्यपि अन्तर शब्द मध्य, विशेष आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, अतः यहाँ अन्य अर्थों को छोड़ कर एकमात्र व्यवधान का अर्थ ही गृहीत हो, इसलिए 'अबाधा' शब्द को 'अन्तर' के पूर्व जोड़ा गया है। बाधा कहते हैं—परस्पर संश्लेष होने से होने वाली टक्कर (संघर्षण) को। वैसी बाधा न हो, इसका नाम अबाधा। अबाधापूर्वक अन्तर अर्थात्—व्यवधान, या दूरी अबाधान्तर है। सभी प्रश्नों का आशय यह है कि एक पृथ्वी से दूसरी पृथ्वी आदि की दूरी कितनी है ?

अबाधान्तर का मापदण्ड—प्रस्तुत में जो योजनों का प्रमाण बताया गया है, वह प्रायः प्रमाणांगुल से निष्पन्न समझना चाहिए। कहा भी है—

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५२

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिकाटीका) भा. ११, पृ. ३५८

'नग-पुढवि-विमाणाइं मिणसु पमाणंगुलेणं तु ।' पर्वत, पृथ्वी और विमानों का माप प्रमाणांगुल से करना चाहिए।'

किन्तु ईषत्प्राग्भारापृथ्वी और अलोक के बीच में जो देशोन योजन का अबाधान्तर (दूरी) बताया है, वह उत्सेधांगुल प्रमाण से समझना चाहिए। क्योंकि उस योजन के उपरितन कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना कही गई है, जो ३३३ धनुष और धनुष के त्रिभाग प्रमाण है। यह अवगाहना उत्सेधांगुल (योजन) मानने से ही संगत हो सकती है।[१]

शालवृक्ष, शालयष्टिका और उदुम्बरयष्टिका के भावी भवों की प्ररूपणा

१८. [१] एस णं भंते ! सालरुक्खए उण्हाभिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! इहेव रायगिहे नगरे सालरुक्खत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ अच्चियवंदियपूइय-सक्कारियसम्माणिए दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सन्निहियपाडिहेरे लाउल्लोइयमहिते यावि भविस्सइ।

[१८-१ प्र.] भगवन् ! सूर्य की गर्मी से पीडित, तृषा से व्याकुल, दावानल की ज्वाला से झुलसा हुआ यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) शालवृक्ष काल मास में (मृत्यु के समय में) काल करके कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१८-१ उ.] गौतम ! यह (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला) शालवृक्ष, इसी राजगृहनगर में पुनः शालवृक्ष के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ यह अचित, वन्दित, पूजित, सत्कृत, सम्मानित और दिव्य (देवीगुणों से युक्त), सत्य सत्यावपात, सन्निहित-प्रातिहार्य (पूर्वभवसम्बन्धी देवों द्वारा प्रातिहार्यसामीप्य प्राप्त किया हुआ) होगा तथा इसका पीठ (चबूतरा), लीपा-पोता हुआ एवं पूजनीय होगा।

[२] से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गमिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

[१८-२ प्र.] भगवन् ! वह (पूर्वोक्त) शालवृक्ष वहाँ से मर कर कहाँ जाएगा और कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१८-२ उ.] गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् सब दुःखों का अन्त करेगा।

१९ [१] एस णं भंते ! साललट्ठिया उण्हाभिहया तण्हाभिहया दवग्गिजालाभिहया कालमासे जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले महेसरीय नगरीय सामलिरुक्खत्ताए पच्चायाहिति। सा णं तत्थ अच्चियवंदियपूइए जाव लाउल्लोइयमहिया यावि भविस्सइ।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५२

[१९-१ प्र.] भगवन् ! सूर्य के ताप से पीड़ित, तृषा से व्याकुल तथा दावानल की ज्वाला से प्रज्वलित यह शाल-यष्टिका कालमास में काल करके कहाँ जाएगी ?, कहाँ उत्पन्न होगी ?

[१९-१ उ.] गौतम ! इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में विन्ध्याचल के पादमूल (तलहटी) में स्थित माहेश्वरी नगरी में शाल्मली (सैमर) वृक्ष के रूप में पुनः उत्पन्न होगी। वहाँ वह अर्चित, वन्दित और पूजित होगी; यावत् उसका चबूतरा लीपा-पोता हुआ होगा और वह पूजनीय होगी।

[२] से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं०, सेसं जहा सालरुक्खस्स जाव अंतं काहिति।

[१९-२ प्र.] भगवन् ! वह वहाँ से काल करके कहाँ जाएगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

[१९-२ उ.] गौतम (पूर्वोक्त) शालवृक्ष के समान (इसके विषय में भी) यावत् वह सर्वदुःखों का अन्त करेगी, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

२०. [१] एस णं भंते ! उंबरलट्ठिया उण्हाभिहया तण्हाभिहया दवग्गिजालाभिहया कालमासे कालं जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पाडलिपुत्ते नामं नगरे पाडलिरूक्खत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ अच्चियवंदिय जाव भविस्सइ।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! दृश्यमान सूर्य की उष्णता से संतप्त, तृषा से पीडित और दावानल की ज्वाला से प्रज्वलित यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) उदुम्बरयष्टिका (उम्बर वृक्ष की शाखा) कालमास में काल करके कहाँ जाएगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

[२०-१ उ.] गौतम ! इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में पाटलीपुत्र नामक नगर में पाटली वृक्ष के रूप में पुनः उत्पन्न होगी। वह वहाँ अर्चित, वन्दित यावत् पूजनीय होगी।

[२] से णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता ०।

सेसं तं चेव जाव अंतं काहिति।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! वह (पूर्वोक्त उदुम्बर-यष्टिका) यहाँ से काल करके कहाँ जाएगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

[२०-२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समग्र कथन कहना चाहिए, यावत्—वह सर्वदुःखों का अन्त करेगी।

विवेचन—राजगृह में विराजमान भगवान् महावीर से वनस्पति में जीवत्व के प्रति अश्रद्धालु श्रोताओं (व्यक्तियों) की अपेक्षा से श्री गौतमस्वामी ने प्रत्यक्ष दृश्यमान शालवृक्ष, शालयष्टिका और उदुम्बरयष्टिका के भविष्य में अन्य भव में उत्पन्न होने आदि के सम्बन्ध में तीन प्रश्न (तीन सूत्रों १८-१९-२० में) उठाए हैं, जिनका यथार्थ समाधान भगवान् ने किया है।[१]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५३

कठिन शब्दार्थ—दिव्वे—दिव्य, प्रधान। **सच्चोवाए**-सत्यावपात-जिसकी की गई सेवा सफल होती है। **सन्निहियपाडिहेरे**—पूर्वभव से सम्बन्धित देव के द्वारा किया गया सान्निध्य। **लाउल्लोइयमहिते**—जिसका पीठ (चबूतरा) लीपा-पुता हुआ तथा पूजनीय होगा।[१]

शाल वृक्षादि सम्बन्धी तीन प्रश्न—यद्यपि शालवृक्ष आदि में अनेक जीव होते हैं, तथापि प्रथम जीव की अपेक्षा से ये तीनों प्रश्न किये गए हैं।[२]

अम्बडपरिव्राजक के सात सौ शिष्य आराधक हुए

२१. तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्त अंतेवासिसया गिम्हकालसमयंसि एवं जहा उववातिए जाव आराहगा।

[२१] उस काल, उस समय अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्य (अन्तेवासी) ग्रीष्म ऋतु के समय में विहार कर रहे थे, इत्यादि समस्त वर्णन औपपातिक सूत्रानुसार, यावत्—वे (सभी) आराधक हुए, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—सात सौ आराधक अम्बड-परिव्राजक शिष्य—औपपातिकसूत्रानुसार संक्षेप में वृतान्त इस प्रकार है—एक बार ग्रीष्मकाल में अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्य गंगानदी के दोनों किनारों पर आए हुए काम्पिल्यपुर नगर से पुरिमताल नगर की ओर जा रहे थे। जब उन्होंने अटवी में प्रवेश किया तब साथ में लिया हुआ पानी पी लेने से समाप्त हो गया। अत: प्यास से वे सब पीडित हो गए। पास ही गंगा नदी में निर्मल जल बह रहा था। किन्तु उनकी अदत्त (बिना दिये हुए) ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा थी। कोई भी जल का दाता उन्हें वहाँ न मिला। वे तृषा से अत्यन्त व्याकुल हुए। उनके प्राण संकट में पड़ गए। अन्त में सभी मरणासन्न साधकों ने अर्हन्त भगवान् को 'नमस्कार' करके गंगा नदी के किनारे ही यावज्जीवन अनशन (संथारा) ग्रहण कर लिया। काल करके वे सभी ब्रह्मलोक कल्प में उत्पन्न हुए। इस प्रकार वे सभी परलोक के आराधक हुए।[३]

अम्बडपरिव्राजक को दो भवों के अनन्तर मोक्ष प्राप्ति की प्ररूपणा

२२. बहुजणे णं भंते ! अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति ४—एवं खलु अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे नगरे घरसते ?

एवं जहा उववातिए अम्मडवत्तव्वया जाव दढप्पतिण्णे अंतं काहिति।

[२२ प्र.] भगवन् ! बहुत-से लोग परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५३

२. वही, अ. वृत्ति. पत्र ६५३

३. (क) औपपातिकसूत्र, सू. ३९, पत्र ९४-९५ (आगमोदय समिति)

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५३

अम्बड परिव्राजक काम्पिल्यपुर नगर में सौ घरों में भोजन करता है तथा रहता है, (क्या सत्य है ? इत्यादि प्रश्न)।

[२२ उ.] हाँ गौतम ! यह सत्य है; इत्यादि औपपातिकसूत्र में कथित अम्बड-सम्बन्धी वक्तव्यता, यावत् महर्द्धिक दृढप्रतिज्ञ होकर सर्व दुःखों का अन्त करेगा। (यहाँ तक कहना चाहिए।)

विवेचन—श्री गौतमस्वामी ने जब यह सुना कि कम्पिलपुर में अम्बड परिव्राजक एक साथ-एक ही समय में सौ घरों में रहता हुआ सौ घरों में भोजन करता है, तब उन्होंने भगवान् से इस विषय में पूछा कि क्या यह सत्य है ? भगवान् ने कहा—हाँ, गौतम ! अम्बड को वैक्रियलब्धि प्राप्त है। उसी के प्रभाव से वह जनता को विस्मित-चकित करने के लिए एक साथ सौ घरों में रहता है और भोजन भी करता है। तत्पश्चात् गौतमस्वामी ने पूछा- भगवन् ! क्या अम्बड परिव्राजक आपके पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा ? भगवान् ने कहा—ऐसा सम्भव नहीं है। यह केवल जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता (सम्यक्त्वी) होकर अन्तिम समय में यावज्जीवन अनशन करेगा और काल करके ब्रह्मलोककल्प में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में दृढप्रतिज्ञ नामक महर्द्धिक के रूप में जन्म लेगा और चारित्र-पालन करके अन्त समय में अनशनपूर्वक मर कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगा। यह औपपातिकसूत्रोक्त वक्तव्यता का आशय है।[१]

अव्याबाध देवों की अव्याबाधता का निरूपण

२३. [१] अत्थिं णं भंते ! अव्वाबाहा देवा, अव्वाबाहा देवा ?

हंता अत्थि।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! क्या किसी को बाधा-पीडा नहीं पहुँचाने वाले अव्याबाध देव हैं ?

[२३-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'अव्वाबाहा देवा, अव्वाबाहा देवा ?'

गोयमा ! पभू णं एगमेगे अव्वाबाहे देवे एगमेगस्स पुरिसस्स एगमेगंसि अच्छिपत्तंसि दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं बत्तीसतिविहं नट्टविहिं उवदंसेत्तए, णो चेव णं तस्स पुरिसस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएति, छविच्छेयं वा करेति, एसुहुमं च णं उवदंसेज्जा। से तेणट्ठेणं जाव अव्वाबाहा देवा, अव्वाबाहा देवा।

[२३-२ प्र.] भगवन् ! अव्याबाधदेव, अव्याबाधदेव किस कारण से कहे जाते हैं ?

[२३-२ उ.] गौतम ! प्रत्येक अव्याबाधदेव, प्रत्येक पुरुष की, प्रत्येक आँख की अपनी (पलक) पर दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव (प्रभाव) और बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि दिखलाने में

---

१. (क) औपपातिक सूत्र. ४०, पत्र ९६-९९ (आगमोदय समिति)

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५३

समर्थ है। ऐसा करके वह देव उस पुरुष को किंचित् मात्र भी आबाधा या व्याबाधा (थोड़ी या अधिक पीड़ा) नहीं पहुँचाता और न उसके अवयव का छेदन करता है। इतनी सूक्ष्मता से (अव्याबाध) देव नाट्यविधि दिखला सकता है। इस कारण, हे गौतम ! किसी को जरा भी बाधा न पहुँचाने के कारण वे अव्याबाधादेव कहलाते हैं।

विवेचन—अव्याबाधदेव कौन और किस जाति के ?—जो दूसरों को व्याबाधा-पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, वे अव्याबाध कहलाते हैं। ये लोकान्तिक देवों की जाति के होते हैं। लोकान्तिक देवों के ९ भेद हैं—(१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वह्नि, (४) वरुण (या अरुण), (५) गर्दतोय, (६) तुषित, (७) अव्याबाध, (८) अग्न्यर्च (मरुत) और (९) रिष्ट। इनमें से वे अव्याबाध देव हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—अच्छिपत्तंसि—नेत्र की पलक पर। **उवदंसेत्तए पभू**—दिखलाने में समर्थ है। **आबाहं**—किंचित् बाधा, **वाबाहं**—विशेष बाधा। **छविच्छेयं**—शरीर छेदन करने में। **एसुहुमं**—इस प्रकार का सूक्ष्म।[२]

सिर काट कर कमण्डलु में डालने की शक्रेन्द्र की वैक्रियशक्ति

२४. [१] पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया पुरिसस्स सीसं सापाणिणा असिणा छिंदित्ता कमंडलुम्मि पक्खिवित्तएम ?

हंता, पभू।

[२४-१ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, अपने हाथ में ग्रहण की हुई तलवार से, किसी पुरुष का मस्तक काट कर कमण्डलु में डालने में समर्थ है ?

[२४-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह समर्थ है।

[२] से कहमिदाणिं पकरेइ ?

गोयमा ! छिंदिया छिंदिया व णं पक्खिवेज्जा, भिंदिया भिंदिया व णं पक्खिवेज्जा, कुट्टिया कुट्टिया व णं पक्खिवेज्जा चुण्णिया चुण्णिया व णं पक्खिवेज्जा, ततो पच्छा खिप्पामेव पडिसंघातेज्जा, नो चेव णं तस्स पुरिस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेयं पुण करेति, एसुहुमं च णं पक्खिवेज्जा।

[२४-२ प्र.] भगवन् ! वह (मस्तक को काट कर कमण्डलु में) किस प्रकार डालता है ?

---

१. (क) व्याबाधन्ते—परं पीडयन्तीति व्याबाधास्तन्निषेधादव्याबाधा : ते च लोकान्तिकदेवमध्यगता द्रष्टव्याः। यदाह—

सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वबाहा अग्गिच्चा देव रिट्ठा य॥ — भ. अ. वृ. पत्र ६५४

(ख) सारस्वतादित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोयतुषिताऽव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च॥ — तत्त्वार्थ, अ. ४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५४

[२४-२ उ.] गौतम ! शक्रेन्द्र उस पुरुष के मस्तक को छिन्न-छिन्न (खण्ड-खण्ड) करके (कमण्डलु में) डालता है। या भिन्न-भिन्न (वस्त्र की तरह चीर कर टुकड़े-टुकड़े) करके डालता है। अथवा वह कूट-कूट (ऊखल में तिलों की तरह कूट) कर डालता है। या (शिला पर लोढ़ी से पीसकर) चूर्ण कर करके डालता है। तत्पश्चात् शीघ्र ही मस्तक के उन खण्डित अवयवों को एकत्रित करता है और पुनः मस्तक बना देता है। इस प्रक्रिया में उक्त पुरुष के मस्तक का छेदन करते हुए भी वह (शक्रेन्द्र) उस पुरुष को थोड़ी या अधिक पीड़ा नहीं पहुँचाता। इस प्रकार सूक्ष्मतापूर्वक मस्तक काट कर वह उसे कमण्डलु में डालता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (२४, १-२) में शक्रेन्द्र द्वारा किसी के मस्तक को छिन्न-भिन्न करके कमण्डलु में डाल देने की विशिष्ट शक्ति और उसकी प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।[१]

जृम्भक देवों का स्वरूप, भेद, स्थिति

२५. [१] *अत्थि णं भंते ! जंभया देवा, जंभया देवा ?*

हंता, अत्थि।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! क्या [स्वच्छन्दाचारी की तरह चेष्टा करने वाले] जृम्भक देव होते हैं ?

[२५-१ उ.] हाँ, गौतम ! होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'जंभया देवा, जंभया देवा ?'

गोयमा ! जंभगा णं देवा निच्चं पमुदितपक्कीलिया कंदप्परतिमोहणसीला, जे णं ते देवे कुद्धे पासेज्जा से णं महंतं अयसं पाउणेज्जा, जे णं ते देवे तुट्ठे पासेज्जा से णं महंतं जसं पाउणेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! 'जंभगा देवा, जंभगा देवा'।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! वे जृम्भक देव किस कारण कहलाते हैं ?

[२५-२ उ.] गौतम ! जृम्भक देव, सदा प्रमोदी, अतीव क्रीडाशील, कन्दर्प में रत और मोहन (मैथुनसेवन) शील होते हैं। जो व्यक्ति उन देवों को क्रुद्ध हुए देखता है, वह महान् अपयश प्राप्त करता है और जो उन देवों को तुष्ट (प्रसन्न) हुए देखता है, वह महान् यश को प्राप्त करता है। इस कारण, हे गौतम ! वे जृम्भक देव कहलाते हैं।

२६. कतिविहा णं भंते ! जंभगा देवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसविहा पन्नत्ता, तं जहा—अन्नजंभगा, पाणजंभगा, वत्थजंभगा, लेणजंभगा, सयणजंभगा, पुप्फजंभगा, फलजंभगा, पुप्फफलजंभगा, विज्जाजंभगा, अवियत्तिजंभगा।

[२६ प्र.] भगवन् ! जृम्भक देव कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५४

[२६ उ.] गौतम ! वे दस प्रकार के कहे गए हैं। यथा—(१) अन्न-जृम्भक, (२) पान-जृम्भक, (३) वस्त्र-जृम्भक, (४) लयन-जृम्भक, (५) शयन-जृम्भक, (६) पुष्प-जृम्भक, (७) फल-जृम्भक, (८) पुष्प-फल-जृम्भक, (९) विद्या-जृम्भक और (१०) अव्यक्त-जृम्भक।

२७. जंभगा णं भंते ! देवा कहिं वसहिं उवेंति ?

गोयमा ! सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु चित्तविचित्तजमगपव्वएसु कंचणपव्वएसु य, एत्थ णं जंभगा देवा वसहिं उवेंति।

[२७ प्र.] भगवन् ! जृम्भक देव कहाँ निवास करते हैं ?

[२७ उ.] गौतम ! जृम्भक देव सभी दीर्घ (लम्बे-लम्बे) वैताढ्य पर्वतों में, चित्र-विचित्र यमक पर्वतों में तथा कांचन पर्वतों में निवास करते हैं।

२८. जंभगा णं भंते ! देवाणं केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! एगं पलिओवमं ठिती पन्नत्ता।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विरहति।

॥ चोद्दसमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-८ ॥

[२८ प्र.] भगवन् ! जृम्भक देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[२८ उ.] गौतम ! जृम्भक देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही गई है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—जृम्भक देव : जो अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं और सतत क्रीड़ा आदि में रत रहते हैं, ऐसे तिर्यग्लोकवासी व्यन्तर जृम्भक देव हैं। ये अतीव कामक्रीडारत रहते हैं। ये वैरस्वामी की तरह वैक्रियलब्धि आदि प्राप्त करके शाप और अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं। इस कारण जिस पर प्रसन्न हो जाते हैं उसे धनादि से निहाल कर देते हैं और जिन पर कुपित होते हैं, उन्हें अनेक प्रकार से हानि भी पहुँचाते हैं। इनके १० भेद हैं। **(१) अन्न-जृम्भक**—भोजन को सरस-नीरस कर देने या उसकी मात्रा बढ़ा-घटा देने की शक्ति वाले देव, **(२) पान-जृम्भक**—पानी को घटाने-बढ़ाने; सरस-नीरस कर देने वाले देव। **(३) वस्त्र-जृम्भक**—वस्त्र को घटाने-बढ़ाने आदि की शक्ति वाले देव। **(४) लयन-जृम्भक**—घर-मकान आदि की सुरक्षा करने वाले देव। **(५) शयन-जृम्भक**—शय्या आदि के रक्षक देव। **(६-७-८) पुष्प-जृम्भक, फल-जृम्भक एवं पुष्प-फल-जृम्भक**—फूलों, फलों एवं पुष्प-फलों की रक्षा करने वाले देव। कहीं—कहीं ८वें पुष्प-फल जृम्भक के बदले 'मंत्र-जृम्भक' नाम मिलता है। **(९) विद्या-जृम्भक**—देवों के मंत्रों-विद्याओं की रक्षा करने वाले देव और **(१०) अव्यक्त-जृम्भक**—सामान्यतया, सभी पदार्थों की रक्षा आदि करने वाले देव। कहीं-कहीं इसके स्थान में 'अधिपति-जृम्भक' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—

राजा आदि नायक के विषय में जृम्भक देव।[१]

निवासस्थान—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह, इन १५ क्षेत्रों में १७० दीर्घ वैताढ्यपर्वत हैं। प्रत्येक क्षेत्र में एक-एक पर्वत है तथा महाविदेह क्षेत्र के प्रत्येक विजय में एक-एक पर्वत है।

देवकुरु में शीतोदा नदी के दोनों तटों पर चित्रकूटपर्वत हैं। उत्तरकुरु में शीतानदी के दोनों तटों पर यमक-यमक पर्वत हैं। उत्तरकुरु में शीतानदी से सम्बन्धित नीलवान् आदि ५ द्रह हैं। उनके पूर्व-पश्चिम दोनों तटों पर दस-दस कांचनपर्वत हैं। इस प्रकार उत्तरकुरु में १०० कांचनपर्वत हैं। देवकुरु में शीतोदा नदी से सम्बन्धित निषध आदि ५ द्रहों के दोनों तटों पर दस-दस कांचनपर्वत हैं। इस तरह ये भी १०० कांचनपर्वत हुए। दोनों मिलकर २०० कांचनपर्वत हैं। इन पर्वतों पर जृम्भक देव रहते हैं।[२]

॥ चौदहवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५४

२. (क) वही. अ. वृत्ति, पत्र ६५४-६५५

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ५, पृ. २३५३

नवमो उद्देसओ : 'अणगारे'

नौवाँ उद्देशक : भावितात्मा अनगार

भावितात्मा अनगार की ज्ञान सम्बन्धी और प्रकाशपुद्गलस्कन्ध सम्बन्धी प्ररूपणा

१. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस्सं न जाणति, न पासति, तं पुण जीवं सरूविं सकम्मलेस्सं जाणइ, पासइ ?

हंता, गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो जाव पासति।

[१ प्र.] भगवन् ! अपनी कर्मलेश्या को नहीं जानने-देखने वाला भावितात्मा अनगार, क्या सरूपी (सशरीर) और कर्मलेश्या-सहित जीव को जानता-देखता है ?

[१ उ.] हाँ, गौतम ! भावितात्मा अनगार, जो अपनी कर्मलेश्या को नहीं जानता-देखता, वह सशरीर एवं कर्मलेश्या वाले जीव को जानता-देखता है।

२. अत्थि णं भंते ! सरूपी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासंति ४ ?

हंता, अत्थि।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या सरूपी (वर्णादियुक्त) सकर्मलेश्य (कर्मयोग्य कृष्णादि लेश्या के) पुद्गलस्कन्ध अवभासित यावत् प्रभासित होते हैं ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! वे अवभासित यावत् प्रभासित होते हैं।

३. कयरे णं भंते ! सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासंति जाव पभासेंति ?

गोयमा ! जाओ इमाओ चंदिम-सूरियाणं देवाणं विमाणेहिंतो लेस्साओ बहिया अभिनिस्सडाओ पभासेंति एए णं गोयमा ! ते सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासेंति ४।

[३ प्र.] भगवन् ! वे सरूपी कर्मलेश्य पुद्गल कौन-से हैं, जो अवभासित यावत् प्रभासित होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! चन्द्रमा और सूर्य देवों के विमानों से बाहर निकली हुई (ये जो) लेश्याएँ (चन्द्र-सूर्य-निर्गत तेज की प्रभाएँ) प्रकाशित, अवभासित यावत् उद्योतित, प्रद्योतित एवं प्रभासित होती हैं, ये ही वे (चन्द्र-सूर्य-निर्गत तेजोलेश्याएँ) हैं, जिनसे, हे गौतम ! वे (पूर्वोक्त) सरूपी सकर्मलेश्य पुद्गलस्कन्ध अवभासित यावत् प्रभासित होते हैं।

विवेचन—भावितात्मा अनगार का जानने-देखने का सामर्थ्य—भावितात्मा अनगार वह कहलाता है, जिसका अन्त:करण तप और संयम से भावित—सुवासित हो। वह यद्यपि छद्मस्थ (अवधिज्ञानादिरहित)

होने से ज्ञानावरणीयादि कर्मों के योग्य अथवा कर्मसम्बन्धी कृष्णादि लेश्याओं को जान-देख नहीं सकता, क्योंकि कृष्णादि लेश्याएँ और उनसे श्लिष्ट कर्मद्रव्य अतीव सूक्ष्म होने से छद्मस्थ के ज्ञान से अगोचर होते हैं। किन्तु वह कर्म और लेश्या से युक्त तथा शरीरसहित जीव (अपनी आत्मा) को तो जानता-देखता ही है, क्योंकि शरीर चक्षु द्वारा ग्राह्य है तथा आत्मा शरीर से सम्बद्ध होने से कथंचित् अभेद एवं स्वसंविदित होने से भावितात्मा अनगार कर्म एवं लेश्या से युक्त तथा शरीरसहित स्वात्मा को जानता है।[१]

वर्णादि वाले (सरूपी) एवं कर्मलेश्या वाले पुद्गल-स्कन्ध—चन्द्रमा और सूर्य के विमानों से निकली हुई जो तेजस्वी प्रभाएँ (लेश्याएँ) प्रकाशित होती हैं, उन लेश्याओं के प्रकाश से ही पूर्वोक्त सरूपी (वर्णादिवाले) और कर्मलेश्या वाले पुद्गल-स्कन्ध भी प्रकाशित होते हैं। यद्यपि चन्द्र-सूर्य के विमान के पुद्गल पृथ्वीकायिक होने से सचेतन हैं, इस कारण उनमें कर्मलेश्यावत्ता तो उचित है, किन्तु उनसे निकले हुए प्रकाश के पुद्गल कर्मलेश्या वाले नहीं होते, तथापि वे उनसे निकले हैं, इस कारण वे प्रकाश के पुद्गल कार्य में कारण के उपचार को लेकर कर्मलेश्या वाले कहे गये हैं।[२]

कठिन शब्दार्थ—सरूवी—सरूपी-रूप (मूर्त्तता) सहित, वर्णादि वाले या रूप और रूपवान् का अभेदसम्बन्ध होने से शरीर सहित। **सकम्मलेस्सा**—कर्मलेश्यासहित, अर्थात्—कर्मद्रव्यश्लिष्ट कृष्णादि लेश्यायुक्त। **लेस्साओ**—तेज की प्रभाएँ, तेजोलेश्याएँ। **बहिया अभिनिस्सडाओ**—बाहर अभिनिःसृत-निकली हुई। **ओभासंति**—प्रकाशित-प्रद्योतित होती हैं।[३]

चौवीस दण्डकों में आत्त-अनात्त, इष्टानिष्ट आदि पुद्गलों की प्ररूपणा

४ नेरतियाणं भंते ! किं अत्ता पोग्गला, अणत्ता पोग्गला ?

गोयमा ! नो अत्ता पोग्गला, अणत्ता पोग्गला।

[४ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के आत्त पुद्गल होते हैं अथवा अनात्त पुद्गल होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! उसके आत्त पुद्गल नहीं होते, अनात्त पुद्गल होते हैं।

५. असुरकुमाराणं भंते ! किं अत्ता पोग्गला, अणत्ता पोग्गला ?

गोयमा ! अत्ता पोग्गला, णो अणत्ता पोग्गला।

[५ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के आत्त पुद्गल होते हैं, अथवा अनात्त पुद्गल होते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! उनके आत्त पुद्गल होते हैं, अनात्त पुद्गल नहीं होते।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५५

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिकाटीका) भा. ११, पृ. ३९७

२. वही, प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. ११, पृ. ३९७

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५५

६. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[६] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

७. पुढविकाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! अत्ता वि पोग्गला, अणत्ता वि पोग्गला।

[७ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के आत्त पुद्गल होते हैं अथवा अनात्त पुद्गल होते हैं ?

[७ उ.] गौतम ! उनके आत्त पुद्गल भी होते हैं और अनात्त पुद्गल भी होते हैं।

८. एवं जाव मणुस्साणं।

[८] इसी प्रकार (अप्कायिक जीवों से लेकर) मनुष्यों तक (के विषय में) कहना चाहिए।

९. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं।

[९] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में असुरकुमारों के समान कहना चाहिए।

१०. नेरतियाणं भंते ! किं इट्ठा पोग्गला, अणिट्ठा पोग्गला ?

गोयमा ! नो इट्ठा पोग्गला, अणिट्ठा पोग्गला।

[१० प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के पुद्गल इष्ट होते हैं या अनिष्ट होते हैं ?

[१० उ.] गौतम ! उनके पुद्गल इष्ट नहीं होते, अनिष्ट पुद्गल होते हैं।

११. जहा अत्ता भणिया एवं इट्ठा वि, कंता वि, पिया वि, मणुन्ना वि भाणियव्वा। एए पंच दंडगा।

[११] जिस प्रकार आत्त पुद्गलों के विषय में (आलापक) कहे हैं, उसी प्रकार इष्ट, कान्त, प्रिय तथा मनोज्ञ पुद्गलों के विषय में (आलापक) कहने चाहिए। इस प्रकार ये पांच दण्डक कहने चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. ४ से ११ तक) में नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के पांच प्रकार के शुभ-अशुभ पुद्गलों के विषय में प्रश्नोततर किया गया है।

आत्त आदि का अर्थ-अत्ताः दो रूप तीन अर्थ—आत्र—जो सब ओर से दुःखों से त्राण रक्षण करता है, सुख उत्पन्न करता है, वह दुःखत्राता सुखोत्पादक आत्र है। (२) आप्त—एकान्त हितकारक। (३) अतएव रमणीय। **अनात्त**—दुःखकारक—अहितकारी। **इट्ठा**—इष्ट—अभीष्ट। **कंता**—कान्त—कमनीय। **पिया**—प्रिय—प्रीतिजनक। **मणुण्णा**—मनोज्ञ—मन के अनुकूल।[१]

---

१. (क) अत्त त्ति-आ-अभिविधिना त्रायन्ते—दुःखात् संरक्षन्ति, सुखं चोत्पादयन्तीति आत्राः, आप्ता वा- एकान्तहिताः। अतएव रमणीया इति वृद्धैर्व्याख्यातम्। — भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५६

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५, पृ. २३५८

निष्कर्ष—नैरयिकों के पुद्गल अनात्त, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय और अमनोज्ञ होते हैं, जबकि एकेन्द्रिय से लेकर मनुष्यों तक के पुद्गल आत्त-अनात्त, इष्टानिष्ट, कान्ताकान्त, प्रियाप्रिय और मनोज्ञ-अमनोज्ञ, दोनों प्रकार के होते हैं। चारों ही जाति के देवों के पुद्गल एकान्त आत्त, इष्ट, प्रिय और मनोज्ञ होते हैं।[१]

महर्द्धिक वैक्रियशक्तिसम्पन्न देव की भाषासहस्र भाषणशक्ति

१२. [१] देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महेसक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू भासासहस्सं भासित्तए ?

हंता पभू।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक यावत् महासुखी देव क्या हजार रूपों की विकुर्वणा करके, हजार भाषाएँ बोलने में समर्थ है ?

[१२-१ उ.] हाँ, (गौतम !) वह समर्थ है।

[२] सा णं भंते ! किं एगा भासा, भासासहस्सं ?

गोयमा ! एगा णं सा भासा, णो खलु तं भासासहस्सं।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! वह एक भाषा है या हजार भाषाएँ हैं ?

[१२-२ उ.] गौतम ! वह एक भाषा है, हजार भाषाएँ नहीं।

विवेचन—हजार भाषाएँ बोलने में समर्थ, किन्तु एक समय में भाष्यमाण एक भाषा—महर्द्धिक यावत् महासुखी देव हजार रूपों की विकुर्वणा करके हजार भाषाएँ बोल सकता है, किन्तु एक समय वह जो किसी प्रकार की सत्यादि भाषा बोलता है, वह एक ही भाषा होती है, क्योंकि एक जीवत्व और एक उपयोग होने से वह एक भाषा कहलाती है, हजार भाषा नहीं।[२]

सूर्य का अन्वर्थ तथा उनकी प्रभादि के शुभत्व की प्ररूपणा

१३. तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमे अचिरुग्गतं बालसूरियं जासुमणाकुसुमपुंजप्पगासं लोहीतंग पासति, पासित्ता जातसड्ढे जा समुप्पन्नकोउहल्ले जेणेव भमणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव नमंसित्ता जाव एवं वयासी—किमिदं भंते ! सूरिए, किमिदं भंते ! सूरियस्स अट्ठे ?

गोयमा ! सुभे सुरिए, सूभे सूरियस्स अट्ठे।

[१३ प्र.] उस काल, उस समय में भगवान् गौतम स्वामी ने तत्काल उदित हुए जासुमन नामक वृक्ष के

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५, पृ. २३५८
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५६

२. वही, भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५६

फूलों (जपाकुसुम) के पुंज के समान लाल (रक्त) बालसूर्य को देखा। सूर्य को देखकर गौतमस्वामी को श्रद्धा उत्पन्न हुई, यावत् उन्हें कौतुहल उत्पन्न हुआ, फलतः जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके निकट आए और यावत् उन्हें वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार पूछा—

भगवन् ! सूर्य क्या है ? तथा सूर्य का अर्थ क्या है ?

[१३ उ.] सूर्य शुभ पदार्थ है तथा सूर्य का अर्थ भी शुभ है।

१४. किमिदं भंते ! सूरिए, किमिदं भंते ! सूरियस्स पभा ?

एवं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! 'सूर्य' क्या है और 'सूर्य की प्रभा' क्या है ?

[१४ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए।

१५. एवं छाया।

[१५] इसी प्रकार छाया (प्रतिबिम्ब) के विषय में जानना चाहिए।

१६. एवं लेस्सा।

[१६] इसी प्रकार लेश्या (सूर्य का तेजःपुंज या प्रभा) के विषय में जानना चाहिए।

विवेचन—सूर्य शब्द का अन्वर्थ, प्रसिद्धार्थ एवं फलितार्थ—सूर्य क्या पदार्थ है और सूर्य शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार श्री गौतमस्वामी के पूछे जाने पर भगवान् ने सूर्य का अन्वर्थ 'शुभ' वस्तु बताया, अर्थात्—सूर्य एक शुभस्वरूप वाला पदार्थ है, क्योंकि सूर्य के विमान पृथ्वीकायिक होते हैं, इन पृथ्वीकायिक जीवों के आतप-नामकर्म की पुण्यप्रकृति का उदय होता है। लोक में भी सूर्य प्रशस्त (उत्तम) रूप से प्रसिद्ध है तथा यह ज्योतिष्चक्र का केन्द्र है। सूर्य का शब्दार्थ फलितार्थ के रूप में इस प्रकार है—

'सूरेभ्यो हितः सूर्यः'- इस व्युत्पत्ति के अनुसर जो क्षमा, दान, तप और युद्ध आदि विषयक शूरवीरों के लिए हितकर (शुभ प्रेरणादायक) होता है, वह सूर्य है। अथवा **'तत्र साधुः'** इस सूत्रानुसार 'शूरों में जो साधु हो' वह सूर्य है। इसलिए सूर्य का सभी प्रकार से 'शुभ अर्थ' घटित होता है। सूर्य की प्रभा, कान्ति और तेजोलेश्या भी शुभ है प्रशस्त है।[1]

कठिन शब्दार्थ—अचिरुग्गयं—तत्काल उदित। **जासुमणाकुसुम-पुंजप्पगासं**—जासुमन नामक वृक्ष के पुष्प पुञ्ज के समान। **किमिदं**—क्या है ? **पभा**—प्रभा, दीप्ति। **छाया**—शोभा या प्रतिबिम्ब। **लेश्या**—वर्ण अथवा प्रकाश का समूह।[2]

---

१. (क) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. ११, पृ. ४०८ (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५६

२. वही, पत्र, ६५६

श्रामण्यपर्याय सुख की देवसुख के साथ तुलना

१७. जे इमे भंते ! अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एते णं कस्स तेयलेस्सं वीयीवयंति ?

गोयमा ! मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेयलेस्स वीयीवयंति। दुमासपरियाए समणे निग्गंथे असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयंति। एवं एतेणं अभिलावेणं तिमासपरियाए समणे० असुरकुमाराणं देवाणं (? असुरिंदाणं) तेय०। चतुमासपरियाए स० गहनक्खतारारूवाणं जोतिसियाणं देवाणं तेय०। पंचमासपरियाए स० चंदिम-सूरियाणं जोतिसिंदाणं जोतिसराईण तेय०। छम्मासपरियाए स० सोधम्मीसाणाणं देवाणं०। सत्तमासपरियाए० सणंकुमार-माहिंदाणं देवाणं०। अट्ठमासपरियाए बंभलोग-लंतगाणं देवाणं तेयले०। नवमासपरियाए समणे० महासुक्क-सहस्साराणं देवाणं तेय०। दसमासपरियाए सम० आणय-पाणय-आरण-अच्चुयाणं देवाणं। एक्कारसमासपरियाए० गेवेज्जगाणं देवाणं०। बारसमासपरियाए समणे निग्गंथे अणुत्तरोववातियाणं देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति। तेणं परं सुक्के सुक्काभिजातिए भवित्ता ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ चोद्दसमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-९ ॥

[१७ प्र.] भगवन् ! जो ये श्रमण निर्ग्रन्थ आर्यत्वयुक्त (पापरहित) होकर विचरण करते हैं, वे किसकी तेजोलेश्या (तेज-सुख) का अतिक्रमण करते हैं ? (अर्थात्—इन श्रमण निर्ग्रन्थों का सुख, किनके सुख से बढ़कर-विशिष्ट या अधिक है ?)

[१७ उ.] गौतम ! एक मास की दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवों की तेजोलेश्या (सुखासिका) का अतिक्रमण करता है; (अर्थात्—वह वाणव्यन्तर देवों से भी अधिक सुखी है) दो मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ असुरेन्द्र (चमरेन्द्र और बलीन्द्र) के सिवाय (समस्त) भवनवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। इसी प्रकार इसी पाठ (अभिलाप) द्वारा तीन मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ, (असुरेन्द्र-सहित) असुरकुमार देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। चार मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ग्रहगण-नक्षत्र-तारारूप ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्र और सूर्य की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। छह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सौधर्म और ईशानकल्पवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। सात मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों की तेजोलेश्या का; आठ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ब्रह्मलोक और लान्तक देवों की तेजोलेश्या का; नौ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महाशुक्र और सहस्रार देवों की तेजोलेश्या का; दस मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों की तेजोलेश्या का; ग्यारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ग्रैवेयक देवों की तेजालेश्या का और बारह मास की दीक्षा-

पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अनुत्तरौपपातिक देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। इसके बाद शुक्ल (शुद्धचारित्री) एवं परम शुक्ल (निरतिचार—विशुद्धतरचारित्री) होकर फिर वह सिद्ध होता है, यावत् समस्त दुःखों का अन्त करता है।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एक मास के दीक्षित साधु से लेकर बारह मास के दीक्षित श्रमण-निर्ग्रन्थ के सुख को अमुक-अमुक देवों के सुख से बढ़कर बताया गया है।

तेजोलेश्या शब्द का अर्थ, भावार्थ, सुखासिका क्यों ?—यद्यपि तेजोलेश्या का शब्दशः अर्थ होता है—तेज की प्रभा-द्युति आदि। परन्तु यहाँ यह अर्थ विवक्षित नहीं है। यहाँ तेजः शब्द सुख के अर्थ में व्यवहृत है। इसी कारण तेजोलेश्या का वृत्तिकार ने '**सुखासिका**' अर्थ किया है। **सुखासिका** अर्थात्—सुखपूर्वक रहने की वृत्ति (परिणाम-धारा)। सुखासिका का अर्थ यहाँ सुख इसलिए विवक्षित है कि तेजोलेश्या प्रशस्तलेश्या है और वह सुख की हेतु है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके तेजोलेश्या पद से सुखासिका अर्थ प्रतिपादित किया है।[१]

सुक्के सुक्काभिजातिए : विशेषार्थ—शुक्ल का अर्थ यहाँ अभिन्नवृत्त—(अखण्डचारित्री), अमत्सरी, कृतज्ञ, सदारम्भी एवं हितानुबन्ध है तथा 'शुक्लाभिजात्य' का अर्थ परमशुक्ल अर्थात्—निरतिचार-चारित्री-विशुद्धचारित्राराधक। एक वर्ष से अधिक दीक्षा पर्याय वाला क्रमशः शुक्ल एवं परमशुक्ल होकर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त यावत् सर्वदुखों का अन्त करने वाला होता है।

अज्जत्ताए—आर्यत्व से युक्त, अर्थात्—पापकर्म से दूर। **वीयीवयंति**—व्यतिक्रमण—लांघ जाते हैं।[२]

॥ चौदहवां शतक : नौवा उद्देशक समाप्त॥

०००

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५६-६५७

(ख) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. ११, पृ. ४१५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५७

दसमो उद्देसओ : 'केवली'

दसवाँ उद्देशक : केवली (और सिद्ध का ज्ञान)

केवली एवं सिद्ध द्वारा छद्मस्थादि को जानने-देखने का सामर्थ्य-निरूपण

१. केवली णं भंते ! छउमत्थं जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी छद्मस्थ को जानते-देखते हैं ?

[१ उ.] हाँ (गौतम) ! जानते देखते हैं।

२. जहा णं भंते ! केवली छउमत्थं जाणति पासति तहा णं सिद्धे वि छउमत्थं जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति।

[२ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार केवलज्ञानी, छद्मस्थ को जानते-देखते हैं, क्या उसी प्रकार सिद्ध भगवान् भी छद्मस्थ को जानते-देखते हैं ?

[२ उ.] हाँ, (गौतम !) (वे भी उसी तरह) जानते-देखते हैं।

३. केवली णं भंते ! अहोहियं जाणति पासति ?

एवं चेव।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी, आधोवधिक (प्रतिनियत क्षेत्र-विषयक अवधिज्ञान वाले) को जानते-देखते हैं ?

[३ उ.] हाँ, गौतम ! वे जानते-देखते हैं।

४. एवं परमाहोहियं।

[४] इसी प्रकार परमावधिज्ञानी को भी (केवली एवं सिद्ध जानते-देखते हैं, यह कहना चाहिए।)

५. एवं केवलिं।

[५] इसी प्रकार केवलज्ञानी एवं सिद्ध यावत् केवलज्ञानी को जानते-देखते हैं।

६. एवं सिद्धं जाव, जहा णं भंते ! केवलि सिद्धं जाणति पासति तहा णं सिद्धे वि सिद्धं जाणति पासति ?

हंता जाणति पासति।

[६ प्र.] इसी प्रकार केवलज्ञानी भी सिद्ध को जानते-देखते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि जिस प्रकार केवलज्ञानी सिद्ध को जानते-देखते हैं, क्या उसी प्रकार सिद्ध भी (दूसरे) सिद्ध को जानते-देखते हैं ?

[६ उ.] हाँ, (गौतम !) वे जानते-देखते हैं ।

विवेचन—केवलज्ञानी और सिद्ध के ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत ६ सूत्रों में क्रमशः सात प्रश्नोत्तर अंकित हैं—(१) क्या केवली छद्मस्थ को, (२) सिद्ध छद्मस्थ को, (३) केवली अवधिज्ञानी को, (४) केवली और सिद्ध परमावधिज्ञानी को, (५) केवली और सिद्ध केवलज्ञानी को, (६) केवलज्ञानी सिद्ध को तथा (७) सिद्ध सिद्धभगवान् को जानते-देखते हैं ? इन सातों के ही शास्त्रीय उत्तर 'हाँ' में हैं।

केवली और सिद्धों द्वारा भाषण, उन्मेषण-निमेषणादिक्रिया-अक्रिया की प्ररूपणा

७. केवली णं भंते ! भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?

हंता, भासेज्ज वा वागरेज्ज वा।

[७ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी बोलते हैं, अथवा प्रश्न का उत्तर देते हैं ?

[७ उ.] हाँ, गौतम ! वे बोलते भी हैं और प्रश्न का उत्तर भी देते हैं।

८. [१] जहा णं भंते ! केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा तहा णं सिद्धे वि भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?

नो तिणट्ठे समट्ठे।

[८-१ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार केवली बोलते हैं या प्रश्न का उत्तर देते हैं, उसी प्रकार सिद्ध भी बोलते हैं और प्रश्न का उत्तर देते हैं ?

[८-१ उ.] यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

[२] से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ जहा णं केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा नो तहा णं सिद्धे भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?

गोयमा ! केवली णं सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे, सिद्धे णं अणुट्ठाणे जाव अपुरिसक्कारपरक्कमे, से तेणट्ठेणं जाव वागरेज्ज वा।

[८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं कि केवली बोलते हैं एवं प्रश्न का उत्तर देते हैं, किन्तु सिद्ध भगवान् बोलते नहीं हैं और न प्रश्न का उत्तर देते हैं ?

[८-२ उ.] गौतम ! केवलज्ञानी उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषकार-पराक्रम से सहित हैं, जबकि सिद्ध भगवान् उत्थानादि यावत् पुरुषकार-पराक्रम से रहित हैं। इस कारण से, हे गौतम ! सिद्ध भगवान् केवलज्ञानी के समान नहीं बोलते और न प्रश्न का उत्तर देते हैं।

९. केवली णं भंते ! उम्मिसेज्ज वा निमिसेज्ज वा ?

हंता, उम्मिसेज्ज वा निमिसेज्ज वा, एवं चेव।

[९ प्र.] भगवन् ! केवलज्ञानी अपनी आँखें खोलते हैं, अथवा मूंदते हैं ?

[९ उ.] हाँ, गौतम ! वे आँखें खोलते और बन्द करते हैं। इसी प्रकार सिद्ध के विषय में पूर्ववत् इन दोनों बातों का निषेध समझना चाहिए।

१०. एवं आउट्टेज्ज वा पसारेज्ज वा।

[१०] इसी प्रकार (केवलज्ञानी शरीर को) संकुचित करते हैं और पसारते (फैलाते) भी हैं।

११. एवं ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएज्जा।

[११] इसी प्रकार वे खड़े रहते (अथवा स्थिर रहते अथवा बैठते या करवट बदलते-लेटते) हैं; वसति में रहते हैं (निवास करते हैं) एवं निषीधिका (अल्पकाल के लिए निवास) करते हैं।

(सिद्ध भगवान् के विषय में पूर्वोक्त कारणों से इन सब बातों का निषेध समझना चाहिए।)

विवेचन—केवली एवं सिद्ध के विषय में भाषादि ९ बातों सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत ५ सूत्रों (सू. ७ से ११ तक) में केवली और सिद्ध के विषय में—भाषण, प्रश्न का उत्तर-प्रदान, नेत्र-उन्मेष, नेत्र-निमेष आकुंचन, प्रसारण तथा स्थिर रहना, निवास करना, अल्पकालिक निवास करना, इन ९ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर क्रमश: विधि-निषेध के रूप में दिया गया है।[१]

कठिन शब्दार्थ—भासेज्ज—बिना पूछे बोलते हैं। **वागरेज्ज**—पूछने पर प्रश्न का उत्तर देते हैं। **उम्मिसेज्ज**—आँखें खोलते हैं। **निमिसेज्ज**—आँखे मूंदते हैं। **आउटेज्ज**—आकुंचन करते, सिकोड़ते हैं। **ठाणं**—खड़े होना या स्थिर होना, बैठना, करवट बदलना या लेटना। **सेज्जं**—निवास (वसति) **निसीहियं**—निषीधिका—अल्पकालिक निवास (वसति), **चेएज्जा**—करते हैं।[२]

केवली द्वारा नरकपृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को जानने देखने की प्ररूपणा

१२. केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं 'रयणप्पभपुढवी' ति जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी रत्नप्रभापृथ्वी को 'यह रत्नप्रभापृथ्वी है' इस प्रकार जानते-देखते हैं?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) पृ. ६८७

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५७-६५८

[१२ उ.] हाँ (गौतम !) वे जानते-देखते हैं।

१३. जहा णं भंते ! केवली इमं रयणप्पभं पुढविं 'रयणप्पभपुढवी' ति जाणति पासति तहा णं सिद्धे वि रयणप्पभं पुढविं 'रयणप्पभपुढवी' ति जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति।

[१३ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को 'यह रत्नप्रभापृथ्वी है', इस प्रकार जानते-देखते हैं, उसी प्रकार क्या सिद्ध भी इस रत्नप्रभापृथ्वी को, यह रत्नप्रभापृथ्वी है, इस प्रकार जानते-देखते हैं ?

[१३ उ.] हाँ (गौतम !) वे जानते-देखते हैं।

१४. केवली णं भंते ! सक्करप्पभं पुढविं 'सक्करप्पभपुढवी' ति जाणति पासति ?

एवं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! केवली, शर्कराप्रभापृथ्वी को, 'यह शर्कराप्रभापृथ्वी है ?'—इस प्रकार जानते-देखते हैं ?

[१४ उ.] हाँ, गौतम ! उसी प्रकार (केवली और सिद्ध दोनों के विषय में पूर्ववत्) समझना चाहिए।

१५. एवं जाव अहेसत्तमा।

[१५] इसी प्रकार अध:सप्तमपृथ्वी तक (पूर्वोक्त रूप से दोनों के विषय में) समझना चाहिए।

१६. केवली णं भंते ! सोहम्मं कप्पं 'सोहम्मकप्पे' ति जाणति पासति ? हंता जाणति० ।

एवं चेव।

[१६ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी सौधर्मकल्प को 'यह सौधर्मकल्प है'—इस प्रकार जानते-देखते हैं?

[१६ उ.] हाँ, गौतम ! वे जानते-देखते हैं, इसी प्रकार सिद्धों के विषय में भी कहना चाहिए।

१७, एवं ईसाणं।

[१७] इसी प्रकार ईशान देवलोक के जानने-देखने के विषय में जानना चाहिए।

१८. एवं जाव अच्चुयं।

[१८] इसी प्रकार (सनत्कुमार देवलोक से लेकर) यावत् अच्युतकल्प (तक के जानने-देखने) के विषय में कहना चाहिए।

१९. केवली णं भंते ! गेवेज्जविमाणे 'गेवेज्जविमाणे' त्ति जाणति पासति ?

एवं चेव।

[१९ प्र.] भगवन् ! क्या केवली भगवान् ग्रैवेयकविमान को 'ग्रैवेयकविमान है'—इस प्रकार जानते-देखते हैं ?

[१९ उ.] हाँ, गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए।

२०. एवं अणुत्तरविमाणे वि।

[२०] इसी प्रकार (पांच) अनुत्तर विमानों के (जानने-देखने के) विषय में (कहना चाहिए।)

२१. केवली णं भंते ! ईसिपब्भारं पुढविं 'ईसीपब्भारपुढवी' ति जाणति पासति ?

एवं चेव।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी ईषत्प्राग्भारापृथ्वी को 'ईषत्प्राग्भारापृथ्वी है'—इस प्रकार जानते-देखते हैं ?

[२१ उ.] (हाँ, गौतम !) पूर्ववत् समझना चाहिए।

२२. केवलि णं भंते ! परमाणुपोग्गलं 'परमाणुपोग्गले' त्ति जाणति पासति ?

एवं चेव।

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी परमाणुपुद्गल को 'यह परमाणुपुद्गल हैं'—इस प्रकार जानते-देखते हैं ?

[२२ उ.] इस विषय में भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

२३. एवं दुपदेसियं खंधं।

[२३] इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध के विषय में समझना चाहिए।

२४. एवं जाव जहा णं भंते ! केवली अणंतपदेसियं खंधं 'अणंतपदेसिए खंधे' त्ति जाणति पासति तहा णं सिद्धे वि अणंतपदेसियं जाव पासति ?

हंता, जाणति पासति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ चोद्दसमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ १४-१०॥

॥ चोद्दसमं सयं समत्तं ॥ १४॥

[२४] इसी प्रकार यावत्—[प्र.] भगवन् ! जैसे केवली, अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध को, 'यह अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध है'—इसी प्रकार जानते-देखते हैं, क्या वैसे ही सिद्ध भी अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध को—'अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध है', इस प्रकार जानते-देखते हैं ?

[उ.] हाँ, (गौतम !) वे जानते-देखते हैं। यहाँ तक कहना चाहिए।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतम-स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत १३ सूत्रों (सू. १२ से १४ तक) में केवली और सिद्ध के द्वारा रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक के तथा एक परमाणुपुद्गल तथा द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के जानने-देखने के सम्बन्ध में[१] प्रश्नोत्तर पूर्ववत् किए गए हैं। केवली शब्द से आशय—यहाँ भवस्थ केवली से है, क्योंकि सिद्ध के विषय में आगे पृथक् प्रश्न किया गया है।[२]

॥ चौदहवाँ शतक, दसवाँ उद्देशक समाप्त॥

॥ चौदहवाँ शतक सम्पूर्ण॥

OOO

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ६८७-६८८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५८

पण्णरसमं सयं : पन्द्रहवाँ शतक

गोशालक-चरित

प्राथमिक

- व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के पन्द्रहवें शतक में गोशालक के जन्म से लेकर भगवान् महावीर के शिष्य बनने, विमुख होने, अवर्णवाद करने तथा तेजोलेश्या से स्वयं दग्ध होने से लेकर अनन्तसंसार परिभ्रमण करने और अन्त में आराधक होकर मोक्ष प्राप्त करने का क्रमशः वर्णन है। एक प्रकार से इस शतक में गोशालक के जीवन के आरोह-अवरोहों द्वारा कर्मसिद्धान्त की सत्यता का प्ररूपण है।

- गोशालक के जीवन के पतन का प्रारम्भ तिल के पौधे के भविष्य के सम्बन्ध में भगवान् से पूछं कर उन्हें झुठलाने की कुचेष्टा से प्रारम्भ होता है। फिर एकान्ततः सर्वजीवों के प्रति परिवृत्यवाद की मिथ्या मान्यता को लेकर मिथ्यात्व का—मतमोह का विषवृक्ष बढ़ता ही जाता है, तत्पश्चात् वैश्यायन बालतपस्वी को छेड़ने पर उसके द्वारा गोशालक पर प्रहार की गई तेजोलेश्या का भगवान् ने शीतलेश्या द्वारा निवारण किया, यह जानकर भगवान् से आग्रहपूर्वक तेजोलेश्या का प्रशिक्षण लेने के बाद तेजोलेश्या सिद्ध हो जाने से गोशालक का अहंकार दिनानुदिन बढ़ता गया। अपने पास आनेवाले के जीवनविषयक निमित्तकथन भूत-भविष्यकथन कर देने से उस युग का मूढ समाज गोशालक के प्रति आकर्षित होता जाता था। छह दिशाचर भी गोशालक के इस प्रकार के प्रचार से आकर्षित होकर उसके मत का प्रचार करने लगे।

- ऐसा प्रतीत होता है कि श्रावस्ती नगरी में भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध दोनों का बार-बार आवागमन रहा। इसलिए गोशालक भी श्रावस्ती में हालाहला कुम्भकारी के यहाँ जम कर प्रचार और उत्सूत्रप्ररूपण करने लगा। स्वयं को जिन कहने लगा। गोशालक की तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्धि उसकी वाचालता के कारण भी हुई। उसके अजीविकमतानुयायी बढ़ने लगे, जबकि भगवान् के साधु-साध्वी-गण प्रचार कम करते थे, आचार (पंचाचार) में उनका दृढ विश्वास था। यही कारण है कि गोशालक का प्रचार धुंआधार होने से उसकी बात पर लोग विश्वास करने लगे। इस कारण उसके अहं को बल मिला। अतः वह भगवान् के समक्ष भी धृष्ट होकर अपने अहंकार का प्रदर्शन करता रहा और स्वयं भगवान् के समक्ष ही अड़ गया। उनके उपकार को भूल कर स्वयं को छिपाता रहा। अपने पूर्वभव की तथा स्वयं को तीर्थंकर सिद्ध करने की कपोलकल्पित असंगत मान्यताओं का प्रतिपादन करता रहा। भगवान् ने उसे चोर के दृष्टान्तपूर्वक प्रेम से समझाया भी, किन्तु उसक प्रभाव उल्टा ही हुआ। वह भगवान् को मरने-मारने की धमकी देता रहा। भगवान् के दो शिष्यों ने जब गोशालक के समक्ष प्रतिवाद किया, उसे स्वकर्तव्य समझाया तो उसने सुनी-अनसुनी करके उन दोनों को भस्म करने के लिए

तेजोलेश्या छोड़ी। उनमें से एक तत्काल भस्म हो गए, दूसरे अनगार पीडित हो गए।

- इसके पश्चात् भी जब गोशालक ने भगवान् को छह मास के अन्त में पित्तज्वर से दाहपीडावश छद्मस्थावस्था में ही मरने की धमकी दी तो भगवान् ने जनता में मिथ्याप्रचार की सम्भावना को लेकर प्रतिवाद किया और कहा—गोशालक सात रात्रि में ही पित्तज्वर से पीडित होकर छद्मस्थ अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होगा तथा स्वयं के १६ वर्ष तक जीवित रहने की भविष्यवाणी की। भगवान् के साधुओं ने गोशालक को तेजोहीन समझ धर्मचर्चा में पराजित किया। फलतः बहुत से आजीविक-स्थविर गोशालक का साथ छोड़ भगवान् की शरण में आ गए।

- गोशालक ने भगवान् को तेजोलेश्या के प्रहार से मारना चाहा था, किन्तु वह उसी के लिए घातक बन गई। वह उन्मत्त की तरह प्रलाप, मद्यपान, नाच-गान आदि करने लगा। अपने दोषों के ढँकने के लिए वह चरमपान, चरमगान आदि ८ चरमों की मनगढन्त प्ररूपणा करने लगा। अयंपुल नामक आजीविकोपासक गोशालक की उन्मत्त चेष्टाएँ देख विमुख होने वाला था, उसे स्थविरों ने ऊटपटांग समझाकर पुनः गोशालकमत में स्थिर किया।

- गोशालक ने अपना अन्तिम समय निकट जान कर अपने स्थविरों को निकट बुलाकर धूमधाम से शवयात्रा निकालने तथा मरणोत्तर क्रिया करने का निर्देश शपथ दिलाकर किया। किन्तु जब सातवीं रात्रि व्यतीत हो रही थी तभी गोशालक को सम्यक्त्व उपलब्ध हुआ और उसने स्वयं आत्मनिन्दापूर्वक अपने कुकृत्यों तथा उत्सूत्र-प्ररूपणा का रहस्योद्घाटन किया और मरण के अनन्तर अपने शव की विडम्बना करने का निर्देश दिया। स्थविरों ने उसके आदेश का औपचारिक पालन ही किया।

- इसके पश्चात् भगवान् के शरीर में पित्तज्वर का प्रकोप, लोकापवादक सुन सिंह अनगार को शोक, भगवान् द्वारा मनःसमाधान, रेवती के यहाँ से औषध लाने का आदेश तथा औषध-सेवन से रोगोपशमन, भगवान् के आरोग्यलाभ से चतुर्विध संघ, देव-देवी-दानव-मानवादि सबको प्रसन्नता हुई।

- शतक के उपसंहार में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने गोशालक के भावी जन्मों की झांकी बतलाकर सभी योनियों और गतियों में अनेक बार भ्रमण करने के पश्चात् क्रमशः आराधक होकर महाविदेह क्षेत्र में दृढप्रतिज्ञ केवली होकर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उज्ज्वल भविष्य कथन किया है।

- प्रस्तुत शतक से आजीविक सम्प्रदाय के सिद्धान्त और इतिहास का पर्याप्त परिचय मिलता है।

OOO

पण्णरसमं सतं : पन्द्रहवाँ शतक

गोशालक चरित

मध्य-मंगलाचरण

१. नमो सुयदेवयाए भगवतीए।

[१] भगवती श्रुतदेवता को नमस्कार हो।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र द्वारा शास्त्रकार ने विशालकाय व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का मध्यमंगलाचरण विघ्नोपशमनार्थ किया है।

श्रावस्ती निवासी हालाहला का परिचय एवं गोशालक का निवास

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नामं नगरी होत्था। वण्णओ।

[२] उस काल उस समय में श्रावस्ती नाम की नगरी थी। उसका वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए।

३. तीसे णं सावत्थीए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं कोट्ठमे नामं चेतिए होत्था। वण्णओ।

[३] उस श्रावस्ती नगरी के बाहर उत्तरपूर्व-दिशाभाग में कोष्ठक नामक चैत्य (उद्यान) था। उसक वर्णन पूर्ववत्।

४. तत्थ णं सावत्थीए नगरीए हालाहला नामं कुंभकारी आजीविओवासिया परिवसति, अड्ढा जाव अपरिभूया आजीवियसमयंसि लद्धट्ठा गहितट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता 'अयमाउसे ! आजीवियसमये अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' त्ति आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणी विहरति।

[४] उस श्रावस्ती नगरी में आजीविक (गोशालक) मत की उपासिका हालाहला नाम की कुम्भारिन रहती थी। वह आढ्य (धन आदि से सम्पन्न) यावत् अपरिभूत थी। उसने आजीविकसिद्धान्त का अर्थ (रहस्य) प्राप्त कर लिया था, सिद्धान्त के अर्थ को ग्रहण (स्वीकार या ज्ञात) कर लिया था, उसका अर्थ पूछ लिया था, अर्थ का निश्चय कर लिया था। उसकी अस्थि (हड्डी) और मज्जा (रग-रग आजीविक मत के प्रति) प्रेमानुराग से रंग गई थी। 'हे आयुष्मन् ! यह आजीविकसिद्धान्त ही सच्चा अर्थ है, यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ हैं' इस प्रकार आजीविकसिद्धान्त से अपनी आत्मा को भावित करती हुई रहती थी।

५. तेणं कालेणं तेणं समयेणं गोसाले मंखलिपुत्ते चतुवीसवासपरियाए हालाहलाए कुंभकारीए

कुंभारावणंसि आजीवियसंपरिवुडे आजीवियसमयेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[५] उस काल उस समय में चौवीस वर्ष दीक्षापर्याय वाला मंखलिपुत्र गोशालक, हालाहला कुम्भारिन की कुम्भकारापण (मिट्टी के बर्तनों की दूकान) में आजीवकसंघ से परिवृत होकर आजीविकसिद्धान्त से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता था।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों में आजीविकसम्प्रदायाचार्य मंखलीपुत्र गोशालक के चरित के सन्दर्भ में श्रावस्ती नगरी की आजीविकसम्प्रदाय की परम उपासिका हालाहला कुंभारिन का संक्षिप्त परिचय देते हुए श्रावस्तीस्थित उसकी दूकान में गोशालक के आजीविकसंघसहित निवास करने का वर्णन किया गया है।[१]

गोशालक का छह दिशाचरों को अष्टांगमहानिमित्तशास्त्र का उपदेश एवं सर्वज्ञादि अपलाप

६. तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अन्नदा कदायि इमे छद्दिसाचरा अंतियं पादुब्भवित्था, तं जहा—सोणे कणंदे कणियारे अच्छिद्दे अग्गिवेसायणे अज्जुणे गोमायु (गोयम) पुत्ते।

[६] तदनन्तर किसी दिन उस मंखलिपुत्र गोशालक के पास ये छह दिशाचर आए (प्रादुर्भूत हुए), यथा—(१) शोण, (२) कनन्द, (३) कर्णिकार, (४) अच्छिद्र, (५) अग्निवैश्यायन और (६) गौतम (गोमायु)-पुत्र अर्जुन।

७. तए णं ते छद्दिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं सएहिं सएहिं मतिदंसणेहिं निज्जूहंति, स० निज्जूहित्ता गोसालं मंखलिपुत्तं उवट्ठाइंसु।

[७] तत्पश्चात् उन छह दिशाचरों ने पूर्वश्रुत में कथित अष्टांग निमित्त, (नौवें गीत-) मार्ग तथा दसवें (नृत्य-) मार्ग को अपने-अपने मति-दर्शनों से पूर्वश्रुत में से उद्धृत किया, फिर मंखलिपुत्र गोशालक के पास उपस्थित (शिष्यभाव से दीक्षित) हुए।

८. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेण सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं इमाइं छ अणतिक्कमणिज्जाइं वागरणाइं वागरेति, तं जहा—लाभं अलाभं सुहं दुक्खं जीवितं मरणं तहा।

[८] तदनन्तर वह मंखलिपुत्र गोशालक, उस अष्टांग महानिमित्त के किसी उपदेश (उल्लोकमात्र) द्वारा सर्व प्राणों, सभी भूतों, समस्त जीवों और सभी सत्त्वों के लिए इन छह अनतिक्रमणीय (जो अन्यथा—असत्य न हों, ऐसी) बातों के विषय में उत्तर देने लगा। वे छह बातें ये हैं—(१) लाभ, (२) अलाभ, (३) सुख, (४) दुःख, (५) जीवन और (६) मरण।

९. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सावत्थीए

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ६८९

नगरीए अजिणे जिणप्पलावी, अणरहा अरहप्पलावी, अकेवली केवलिप्पलावी, असव्वणू सव्वणुप्पलावी, अजिणे जिणसद्दं पगासेमाणे विहरति।

[९] और तब मंखलिपुत्र गोशालक, अष्टांग महा-निमित्त के स्वल्प उपदेशमात्र से श्रावस्ती नगरी में जिन नहीं होते हुए भी, 'मैं जिन हूँ' इस प्रकार प्रलाप करता हुआ, अर्हन्त न होते हुए भी, 'मैं अर्हत् हूँ', इस प्रकार का बकवास करता हुआ, केवली न होते हुए भी, 'मैं केवली हूँ', इस प्रकार का मिथ्याभाषण करता हुआ, सर्वज्ञ न होते हुए भी 'मैं सर्वज्ञ हूँ', इस प्रकार का मृषाकथन करता हुआ और जिन न होते हुए भी अपने लिए 'जिनशब्द' का प्रयोग करता हुआ विचरता था।

विवेचन—आजीविक मत प्रचार-प्रसार के तीन प्रारम्भिक निमित्त—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ६ से ९ तक) में आजीविक-मतीय प्रचार-प्रसार के प्रारम्भिक तीन निमित्त कौन-कौन से बने, इसकी संक्षिप्त झांकी दी है—(१) सर्वप्रथम मंखलीपुत्र गोशालक के पास ६ दिशाचर शिष्यभाव से दीक्षित हुए। (२) तत्पश्चात् अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के माध्यम से लोगों को जीवन की छह बातों का उत्तर देना और (३) जिन, अर्हत् आदि न होते हुए भी स्वयं को जिन अर्हत् आदि के रूप में प्रकट करना।[१]

दिशाचर कौन थे ?—वृत्तिकार ने दिशाचर का अर्थ किया है—जो दिशा—मर्यादा में चलते हैं, या विविध दिशाओं में जो विचरण करते हैं और मानते हैं कि हम भगवान् के शिष्य हैं। प्राचीन वृत्तिकार कहते हैं कि ये छह दिशाचर भगवान् के ही शिष्य थे, किन्तु संयम में शिथिल (पासत्थ—पार्श्वस्थ) हो गए थे। चूर्णिकार के मतानुसार ये भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय—शिष्यानुशिष्य (पार्श्वापत्य) थे।[२]

अष्टांग महानिमित्त—अष्टविध महानिमित्त इस प्रकार हैं—(१) दिव्य, (२) औत्पात, (३) आन्तरिक्ष, (४) भौम, (५) आंग, (६) स्वर, (७) लक्षण और (८) व्यंजन।[३]

कठिन शब्दार्थ—अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं : भावार्थ—पूर्व नामक श्रुतविशेष से उद्धृत अष्टविध निमित्त तथा नवम-दशम दो मार्ग (नवम शब्द यहाँ लुप्त है), अर्थात्—गीतमार्ग (नौवाँ) और नृत्यमार्ग (दसवाँ)। **केणई उल्लोयमेत्तेण**—किसी उल्लोकमात्र से—उपदेशमात्र से—किसी प्रश्न का उत्तर देकर। **सएहिं मतिदंसणेहिं**—अपनी-अपनी बुद्धि और दृष्टि से प्रमेयवस्तु के विश्लेषण से। **निज्जूहंति**—निर्यूहण किया—अर्थात्—पूर्वलक्षण श्रुतपर्याय समूह से निर्धारित—उद्धृत किया। **उवट्ठाइंसु**—उपस्थित हुए—उसके शिष्यरूप में आश्रित—दीक्षित हुए। **अणइक्कमणिज्जाइं**—अनतिक्रमणीय—जिन्हें टाला नहीं जा सकता, ऐसे अनिवार्य। **वागरणाइं वागरेति**—पुरुषार्थोपयोगी ६ बातों के विषय में पूछने पर यथार्थरूप में उत्तर देता था,

१. वियाहपण्णत्ति (मू.पा.टि. युक्त) भा. २, पृ. ६९०

२. दिशं—मेरां चरन्ति—यान्ति, मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चरा देशाटा वा। दिक्चरा भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति टीकाकारः। पासावच्चिज्जत्ति चूर्णिकारः। —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५९

३. वही अ. वृत्ति, पत्र ६५९

बतलाता था। **सव्वणू**—सर्वज्ञ।[१]

गोशालक की वास्तविकता जानने की गौतमस्वामी की जिज्ञासा, भगवान् द्वारा समाधान

१०. तए णं सावत्थीए नगरीए सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव एवं परूवेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव पकासेमाणे विहरति, से कहमेयं मन्ने एवं ?

[१०] इसके बाद श्रावस्ती नगरी में शृंगाटक (सिंघाडे के आकार वाले त्रिक—तिराहे) पर, यावत् राजमार्गों पर बहुत-से लोग एक दूसरे से इस प्रकार कहने लगे, यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करने लगे—हे देवानुप्रियो ! (हमने) निश्चित ही (ऐसा सुना है) कि गोशालक मंखलिपुत्र 'जिन' न हो कर अपने आपको 'जिन' कहता हुआ, यावत् 'जिन' शब्द से अपने आपको प्रकट (प्रकाश) करता हुआ विचरता है, तो इसे ऐसा कैसे माना जाए ?

११. तेणं कालेणं समएणं सामी समोसढे। जाव परिसा पडिगता।

[११] उस काल, उस समय में श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे, यावत् परिषद् धर्मोपदेश सुन कर वाषिस चली गई।

१२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूतीणामं अणगारे गोयमे गोत्तेणं जाव छट्ठं छट्ठेणं एवं जहा बितियसए नियंठुद्देसए (स. २ उ. ५ सु. २१-२४) जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ—"बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति ४-एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावो जाव पकासेमाणे विहरइ। से कहमेयं मन्ने एवं ?"

[१२] उस काल, उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) गौतम-गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार यावत् छठ-छठ (बेले-बेले) पारणा करते थे; इत्यादि वर्णन दूसरे शतक के पांचवें निर्ग्रन्थ-उद्देशक (सू. २१ से २४) के अनुसार समझना। यावत् गोचरी के लिए भ्रमण (भिक्षाटन) करते हुए गौतमस्वामी ने बहुत-से लोगों के शब्द सुने, (वें) बहुत-से लोग परस्पर इस प्रकार कह रहे थे, यावत् प्ररूपणा कर रहे थे कि देवानुप्रियो ! मंखलिपुत्र गोशालक जिन न हो कर अपने आपको जिन कहता हुआ, यावत् जिन शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरता है। उसकी यह बात कैसे मानी जाए ?

१३. तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जायसड्ढे जाव भत्त-पाण पडिदंसेति जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते !० तं चेव जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरइ, से कहमेतं भंते ! एवं ? तं इच्छामि णं भंते ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स उट्ठाणपारियाणियं परिकहिंय।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६५१

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३७०

[१३] तदनन्तर भगवान् गौतम को बहुत-से लोगों से यह बात सुन कर एवं मन में अवधारण कर यावत् प्रश्न पूछने की श्रद्धा (मन में) उत्पन्न हुई, यावत् (भगवान् के निकट पहुँच कर उन्होंने) भगवान् को आहार-पानी दिखाया। फिर यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—'भगवन् ! मैं छट्ठ (बेले के तप) के पारणे में भिक्षाटन—'इत्यादि सब पूर्वोक्त कहना चाहिए, यावत्' गोशालक 'जिन' शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरता है, तो हे भगवन् ! उसका यह कथन कैसा है ? अत: भगवन् ! मैं मंखलिपुत्र गोशालक का जन्म से लेकर अन्त तक का वृतान्त (आपके श्रीमुख से) सुनना चाहता हूँ।'

विवेचन—मंखलिपुत्र गोशालक के चरित की जिज्ञासा—प्रस्तुत ४ सूत्रों (सू. १० से १३ तक) में मंखलिपुत्र गोशालक के विषय में बहुत-से लोगों से सुनकर श्री गौतम स्वामी के मन में भगवान् से इसका समाधान प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रादुर्भूत हुई, जिसकी संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत है।

जिज्ञासा के कारण ये हैं—(१) श्रावस्ती नगरी में तिराहे-चौराहे आदि पर बहुत-से लोगों का परस्पर गोशालक के जिन आदि होने के सम्बन्ध में वार्तालाप। (२) राजगृह में विराजमान भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम ने छठ तप के पारणे के लिए नगर में भिक्षाटन करते हुए बहुत-से लोगों से गोशालक के विषय में वही चर्चा सुनी। (३) भगवान् की सेवा में पहुँचकर भगवान् के समक्ष अपनी गोशालक चरितविषयक जिज्ञासा प्रस्तुत की और भगवान् से समाधान मांगा।

कठिन शब्दों के अर्थ—जिणप्पलावी—जिन न होते हुए भी जिन कहने वाला। **पडिदंसेति**—दिखलाता है। **उट्ठाणपारियाणियं**—उत्थान—जन्म से लेकर पर्यवसान—अन्त तक का चरित।[२]

गोशालक के माता-पिता का परिचय तथा भद्रा माता के गर्भ में आगमन

१४. 'गोतमा ! 'दी समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—जं णं गोयमा ! से बहुजणे अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति ४ 'एवं खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव पगासेमाणे विहरति' तं णं मिच्छा, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एयस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखली णामं मंखे पिता होत्था। तस्स णं मंखलिस्स मंखस्स भद्दा नामं भारिया होत्था, सुकुमाल० जाव पडिरूवा। तए णं सा भद्दा भारिया अन्नदा कदायि गुव्विणी यावि होत्था।

[१४] (भगवान् ने कहा)—हे गौतम ! इस प्रकार सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—गौतम ! बहुत-से लोग, जो परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार कहते हैं, यावत् 'जिन' शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरता है, यह बात मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ यावत्

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू.पा.टि. युक्त) भा. २, पृ. ६९१

२. भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ६६१

'उट्ठाण-पारियाणियं' ति परियानं—विविधव्यतिकरपरिगमनं, तदेव पारियानिकं—चरितम्। उत्थानात्—जन्मन आरभ्य पारियानिकम् उत्थानपारियानिकं तत् परिकथितं भगवद्भिरिति गम्यते। —अ.वृत्ति

प्ररूपणा करता हूँ कि मंखलिपुत्र गोशालक का, मंख जाति का मंखली नाम का पिता था। उस मंखजातीय मंखली की भद्रा नामी की भार्या (पत्नी) थी। वह सुकुमाल हाथ-पैर वाली यावत् प्रतिरूप (सुन्दर) थी। किसी समय वह भद्रा नामक भार्या गर्भवती हुई।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में गोशालक के जिन होने के दावे का खण्डन करते हुए भगवान् ने उसके पिता-माता का परिचय देकर कहा—मंखली भार्या भद्रा के गर्भ में गोशालक आया।[१]

शरवण-सन्निवेश में गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में मंखली-भद्रा का निवास, गोशालक का जन्म और नामकरण

१५. तेणं कालेणं तेणं समएणं सरवणे नाम सन्निवेसे होत्था, रिद्धत्थिमिय जाव सन्निभप्पगासे पासादीए ४।

[१५] उस काल उस समय में 'शरवण' नामक सन्निवेश (नगर के बाहर का प्रदेश—उपनगर) था। वह ऋद्धि-सम्पन्न, उपद्रव-रहित यावत् देवलोक के समान प्रकाश वाला और मन को प्रसन्न करने वाला था, यावत् प्रतिरूप था।

१६. तत्थ णं सरवणे सन्निवेसे गोबहुले नाम माहणे परिवसति अड्ढे जाव अपरिभूते रिउव्वेद जाव सुपरिनिट्ठए यावि होत्था। तस्स णं गोबहुलस्स माहणस्स गोसाला यावि होत्था।

[१६] उस सन्निवेश में 'गोबहुल' नामक एक ब्राह्मण (माहन) रहता था। वह आढ्य यावत् अपराभूत था। वह ऋग्वेद आदि वैदिकशास्त्रों के विषय में भलीभांति निपुण था। उस गोबहुल ब्राह्मण की एक गोशाला थी।

१७. तए णं से मंखली मंखे अन्नदा कदायि भद्दाए भारियाए गुव्विणीय सद्धिं चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगाम दूइज्जमाणे जेणेव सरवणे सन्निवेसे जेणेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसाला तेणेव उवागच्छति, उवा० २ गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि भंडनिक्खेवं करेति, भंड० क० २ सरवाणे सन्निवेसे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसहीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेति, वसहीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे अन्नत्थ वसहिं अलभमाणे तस्सेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए।

[१७] एक दिन वह मंखली नामक भिक्षाचर (मंख) अपनी गर्भवती भद्रा भार्या को साथ लेकर निकला। वह चित्रफलक हाथ में लिए हुए चित्र में बता कर आजीविका करने वाले भिक्षुओं की वृत्ति से (मंखत्व से) अपना जीवनयापन करता हुआ, क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ जहाँ शरवण नामक सन्निवेश था और जहाँ गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला थी, वहाँ आया। फिर उसने गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला के एक भाग में

---

१. वियाहपण्णत्ति (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६९१

अपना भाण्डोपकरण (सामान) रखा। तत्पश्चात् वह शरवण सन्निवेश में उच्च-नीच-मध्यम कुलों के गृहसमूह में भिक्षाचर्या के लिए घूमता हुआ वसति में चारों ओर सर्वत्र अपने निवास के लिए स्थान की खोज करने लगा। सर्वत्र पूछताछ और गवेषणा करने पर भी जब कोई निवासयोग्य स्थान नहीं मिला तो उसने उसी गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला के एक भाग में वर्षावास (चतुर्मास) बिताने के लिए निवास किया।

१८. तए णं सा भद्दा भारिया नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणय रातिंदियाणं वीतिक्कंताणं सुकुमाल जाव पडिरूवं दारगं पयाता।

[१८] तदनन्तर (वहाँ रहते हुए) उस भद्रा भार्या ने पूरे नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिन व्यतीत होने पर एक सुकुमाल हाथ-पैर वाले यावत् सुरूप पुत्र को जन्म दिया।

१९. तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वीतिक्कंते जाव बारसाहदिवसे अयमेतारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति-जम्मा णं अम्हं इमे दारए, गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए जाए तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधेज्जं 'गोसाले, गोसाले' त्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करेंति 'गोसाले' त्ति।

[१९] तत्पश्चात् ग्यारहवाँ दिन बीत जाने पर यावत् बारहवें दिन उस बालक के माता-पिता ने इस प्रकार गौण (गुणयुक्त), गुणनिष्पन्न नामकरण किया कि हमारा यह बालक गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में जन्मा है, इसलिए हमारे इस बालक का नाम गोशालक हो और तभी उस बालक के माता-पिता ने उस बालक का नाम 'गोशालक' रखा।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १५ से १९ तक) में गोशालक के जन्मस्थान, जन्म और नामकरण का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है—(१) शरवण सन्निवेश में वेदादि निपुण गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला थी। (२) गोशालक का पिता मंखली अपनी गर्भवती पत्नी भद्रा को लेकर शरवण सन्निवेश में गोबहुल की गोशाला में आया। भिक्षाटन के समय उसने सारा गाँव छान मारा, किन्तु उसे अन्य कोई निवासयोग्य स्थान न मिला, अत: वहीं वर्षावास बिताने हेतु पड़ाव डाला। (३) उसी गोशाला में भद्रा ने एक बालक को जन्म दिया। (४) १२ वें दिन माता-पिता ने उस बालक का गुणनिष्पन्न गोशालक नाम रक्खा।[१]

यौवनवयप्राप्त गोशालक द्वारा स्वयं मंखवृत्ति

२०. तए णं गोसाले दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणतमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पाडिएक्कं चित्तफलगं करेति, सय० क० २ चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[२०] तदनन्तर वह बालक गोशालक बाल्यावस्था को पार करके एवं विज्ञान से परिपक्व बुद्धि वाला होकर यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। तब उसने स्वयं व्यक्तिगत (स्वतंत्र) रूप से चित्रफलक तैयार किया। व्यक्तिगत रूप से तैयार किये हुए चित्रफलक को स्वयं हाथ में लेकर मंखवृत्ति से आत्मा को भावित करता हुआ

१. वियाहपण्णत्ति (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६९२

विचरण करने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत २०वें सूत्र में युवक गोशालक द्वारा स्वतंत्र रूप से चित्रपट लेकर मंखवृत्ति करने का वर्णन है।

कठिन शब्दार्थ—**विण्णायपरिणयमेत्ते**—विज्ञान—कार्मिकज्ञान से परिणत—परिपक्वमति वाला। **पाडिएक्कं**—प्रत्येक अर्थात्—पिता के फलक से पृथक् व्यक्तिगत फलक। **चित्तफलगहत्थए**—चित्रांकित फलक (पट या पटिया) हाथ में लेकर। **मंखत्तणेण**—मंखपन से, चित्र बता कर आजीविका करने वाले भिक्षुकों की वृत्ति से।[१]

गोशालक के साथ प्रथम समागम का वृतान्त : भगवान् के श्रीमुख से

२१. तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापितीहिं देवत्ते गतेहिं एवं जहा भावणाए[२] जाव एगं देवदूसमुपादाय मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए।

[२१] उस काल उस समय में, हे गौतम ! मैं तीस वर्ष तक गृहवास में रह कर, माता-पिता के दिवंगत हो जाने पर (आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वें) भावना नामक अध्ययन के अनुसार (माता-पिता के जीवित रहते मैं श्रमण नहीं बनूँगा—इस प्रकार का अभिग्रह पूर्ण होने पर, मैं हिरण्य-सुवर्ण, सैन्य-वाहनादि का त्याग कर इत्यादि) यावत् एक देवदूष्य वस्त्र ग्रहण करके मुण्डित हुआ और गृहस्थवास को त्याग कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हुआ।

२२. तए णं अहं गोयमा ! पढमं वासं अद्धमासं अद्धमासेणं खममाणे अट्ठियगामं निस्साए पढमं अंतरवासं वासावासं उवागते ! दोच्चं वासं मासंमासेणं खममाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामंते दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे नगरे जेणेव नालंदाबाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला तेणेव उवागच्छामि, ते० उवा० २ अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हामि, अहा० ओ० २ तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासवासं उवागते। तए णं अहं गोयमा ! पढमं मासक्खमणं उवसंपतिज्जत्ताणं विहरामि।

[२२] तत्पश्चात् हे गौतम ! मैं (दीक्षा ग्रहण करने के) प्रथम वर्ष में अर्द्धमास-अर्द्धमास क्षमण (पाक्षिक तप) करते हुए अस्थिक ग्राम की निश्रा में, प्रथम वर्षाऋतु के अवसर (अन्तर) पर वर्षावास के लिए आया। दूसरे वर्ष में मैं मास-मास-क्षमण (एक मासिक तप) करता हुआ, क्रमशः विचरण करता और

---

१. (क) 'विज्ञानं कार्मणे ज्ञाने'—हैमनाममाला

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६१

(ग) भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५ पृ. २३७४

२. **"एवं जहा भावणाए त्ति आचारद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चदशेऽध्ययने। अनेन चेदं सूचितम्—समत्तपइण्णे 'नाहं समणो होहं अम्मपियरम्मि जीवंते' त्ति समाप्ताभिग्रह इत्यर्थः। चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुव्वणं चिच्चा बलं इत्यादीति"** अवृ. ३।

ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ राजगृह नगर में नालन्दा पाड़ा के बाहर, जहाँ तन्तुवायशाला (जुलाहों की बुनकरशाला) थी, वहाँ आया। फिर उस तन्तुवायशाला के एक भाग में यथायोग्य अवग्रह करके मैं वर्षामास के लिए रहा। तत्पश्चात् हे, गौतम ! मैं प्रथम मासक्षमण (तप) स्वीकार करके कालयापन करने लगा।

२३. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेण अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे नगरे जेणेव नालंदाबाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला तेणेव उवागच्छति, ते० उवा० २ तंतुवायसालाए एगदेसंसि भंडनिक्खेवं करेइ, भंड० क० २ रायगिहे नगरे उच्च-नीय जाव अन्नत्थ कत्थयि वसहिं अलभमाणे तीसे व तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागते जत्थेव णं अहं गोयमा !

[२३] उस समय वह मंखलिपुत्र गोशालक चित्रफल हाथ में लिए हुए मंखपन से (चित्रपट-अंकित चित्र दिखा कर) आजीविका करता हुआ, क्रमश: विचरण करते हुए एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता हुआ, राजगृह नगर में नालंदा पाड़ा के बाहरी भाग में, जहाँ तन्तुवायशाला थी, वहाँ आया। फिर उस तन्तुवायशाला के एक भाग में उसने अपना भाण्डोपकरण (सामान) रखा। तत्पश्चात् राजगृह नगर में उच्च, नीच और मध्यम कुल में भिक्षाटन करते हुए उसने वर्षावास के लिए दूसरा स्थान ढूंढने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उसे अन्यत्र कहीं भी निवासस्थान नहीं मिला, तब उसी तन्तुवायशाला के एक भाग में, हे गौतम ! जहाँ मैं रहा हुआ था, वहीं, वह भी वर्षावास के लिए रहने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. २१-२२-२३) में भगवान् महावीर ने अपने श्रीमुख से गोशालक के साथ प्रथम समागम का वृतान्त प्रस्तुत किया है।

कठिन शब्दार्थ—देवत्ते गतेहिं—देवलोक हो जाने पर। **अणगारियं पव्वइए**—अनगारधर्म में प्रव्रजित हुआ। **अद्धमासं अद्धमासेणं खममाणे**—अर्द्धमास (पक्ष), अर्द्धमास का तप करते हुए। **पढमं अंतरवासं**—प्रथम वर्ष के अन्तर—अवसर पर। **वासावासं**—वर्षावास (चातुर्मास) के लिए। **णिस्साए**—निश्रा से—आश्रय लेकर। **उवागए**—आया। **तंतुवायसाला**—बुनकर शाला।[१]

प्रथम समागम-वृतान्त—(१) माता-पिता के दिवंगत हो जाने के बाद अनगार धर्म में प्रव्रजित होने का वृतान्त (२) दीक्षा लने के बाद अर्द्धमासक्षमण तप करते हुए प्रथम वर्षावास अस्थिक ग्राम में बिताया। द्वितीय वर्षावास मास-मास क्षमण तप करते हुए राजगृह में नालन्दा पाड़ा के बाहर स्थित तन्तुवायशाला में बिता रहे थे। (३) उस समय मंखलीपुत्र गोशालक अपनी मंखवृत्ति से आजीविका करता हुआ घूमता-घूमता राजगृह में, अन्यत्र कोई अच्छा स्थान न मिलने से उसी तन्तुवायशाला में आकर रह गया।[२] यहीं भगवान् के साथ गोशालक का प्रथम समागम हुआ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६३

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५ पृ. २३७७

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मू.पा. १९) पृ. ६९३-६९४

विजय गाथापतिगृह में भगवत्पारणा, पंचदिव्यप्रादुर्भाव, गोशालक द्वारा प्रभावित होकर भगवान् के शिष्य बनाने का वृतान्त

२४. तए णं अहं गोयमा ! पढममासक्खमणपारणगंति तंतुवायसालाओ पडिनिक्खमामि, तंतु० प० २ णालंद बाहिरियं मज्झमज्झेणं जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छामि, ते० उवा० २ रायगिहे नगरे उच्च-नीय जाव अडमाणे विजयस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे।

[२४] तदनन्तर, हे गौतम ! मैं प्रथम मासक्षमण के पारणे के दिन तन्तुवायशाला से निकला और फिर नालन्दा के बाहरी भाग के मध्य में होता हुआ राजगृह नगर में आया। वहाँ ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में यावत् भिक्षाटन करते हुए मैंने विजय नामक गाथापति के घर में प्रवेश किया।

२५. तए णं से विजये गाहावती ममं एज्जमाणं पासति, पा० २ हट्ठतुट्ठ० खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेति, खि० अ० २ पादपीढाओ पच्चोरुभति, पाद० प० २ पाउयाओ ओमुयइ, पा० ओ० २ एगसाडियं उत्तरासंगं करेति, एग० क० २ अंजलिमउलियहत्थे ममं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, अ० २ ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, क० २ ममं वंदति नमंसति, ममं वं० २ ममं विउलेणं असण पाण-खाइम-साइमेणं 'पडिलाभेस्सामि' त्ति कट्टु तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिते ति तुट्ठे।

[२५] उस समय विजय गाथापति (अपने घर के निकट) मुझे आते हुए देख अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। वह शीघ्र ही अपने सिंहासन से उठा और पादपीठ से नीचे उतरा। फिर उसने पैर से खड़ाऊँ निकाली। एक पट वाले वस्त्र का उत्तरासंग किया। दोनों हाथ जोड़ कर सात-आठ कदम मेरे सम्मुख आया और मुझे तीन बार प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया। फिर वह ऐसा विचार करके अत्यन्त संतुष्ट हुआ कि मैं आज भगवान् को विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप (चतुर्विध) आहार से प्रतिलाभूंगा। वह प्रतिलाभ लेता हुआ भी संतुष्ट हो रहा था और प्रतिलाभित होने के बाद भी सन्तुष्ट रहा।

२६. तए णं तस्स विजयस्स गाहावतिस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिगाहगसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे, संसारे परित्तीकते, गिहंति य से इमाइं पंच दिव्वाइं पादुब्भूयाइं, तं जहा—वसुधारा वुट्ठा १, दसद्धवण्णे कुसुमे निवातिते २, चेलुक्खेवे कए ३, आहयाओ देवदुंदुभीओ ४, अंतरा वि य णं आगासे 'अहो ! दाणे, अहो ! दाणे' त्ति घुट्ठे ५।

[२६] उस अवसर पर उस विजय गाथापति ने उस दान में द्रव्यशुद्धि से, दायक (दाता की) शुद्धि से और पात्रशुद्धि के कारण तथा तीन करण—मन-वचन-काया और कृत, कारित और अनुमोदित की शुद्धिपूर्वक मुझे प्रतिलाभित करने से उसने देव का आयुष्य-बन्ध किया, संसार परिमित (परित्त) किया। उसके घर में ये पांच दिव्य प्रादुर्भूत (प्रकट) हुए, यथा—(१) वसुधारा की वृष्टि, (२) पांच वर्णों के फूलों की वृष्टि, (३) ध्वजारूप वस्त्र की वृष्टि, (४) देवदुन्दुभि का वादन और (५) आकाश में 'अहो दानम्, अहो दानम्' की घोषणा।

२७. तए णं रायगिहे नगरे सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ-धन्ने णं देवाणुप्पिया ! विजये गाहावती, कतत्थे णं देवाणुप्पिया ! विजये गाहावती, कयपुन्ने णं देवाणुप्पिया ! विजये गाहावती, कयलक्खणे णं देवाणुप्पिया ! विजये गाहावती, कया णं लोया देवाणुप्पिया ! विजयस्स गाहावतिस्स, सुलद्धे णं देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावतिस्स, जस्स णं गिहंसि तहारूवे साधु साधुरूवे पडिलाभिए समाणे इमाइं पंच दिव्वाइं पादुब्भूयाइं, तं जहा—वसुधारा वुट्ठा जाव अहो दाणे घुट्ठे। तं धन्ने कयत्थे कयपुण्णे कयलक्खणे, कया णं लोया, सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावतिस्स, विजयस्स गाहावतिस्स।

[२७] उस समय राजगृह नगर में शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क मार्गों यावत् राजमार्गों में बहुत से मनुष्य परस्पर इस प्रकार कहने लगे, यावत् प्ररूपणा करने लगे कि—हे देवानुप्रियो ! विजय गाथापति धन्य है, देवानुप्रियो ! विजय गाथापति कृतार्थ है, देवानुप्रियो ! विजय गाथापति कृतपुण्य (पुण्यशाली) है, देवानुप्रियो। विजय गाथापत्ति कृतलक्षण (उत्तम लक्षणों वाला) है, देवानुप्रियो ! विजय गाथापति के उभयलोक सार्थक हैं और विजय गाथापति का मनुष्य जन्म और जीवन रूप फल सुलब्ध (प्रशंसनीय) है कि जिसके घर में तथारूप सौम्यरूप साधु (उत्तम श्रमण) को प्रतिलाभित करने से ये पांच दिव्य प्रकट हुए हैं। यथा—वसुधारा की वृष्टि यावत् 'अहोदान, अहोदान' की घोषणा हुई है। अत: विजय गाथापति धन्य है, कृतार्थ है, कृतपुण्य है, कृतलक्षण है। उसके दोनों लोक सार्थक हैं। विजय गाथापति का मानव जन्म एवं जीवन सफल है—प्रशंसनीय है।

२८. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले जेणेव विजयस्स गाहावतिस्स गिहे तेणेव उवागच्छति, ते उवा० २ पासति विजयस्स गाहावतिस्स गिहंसि वसुधारं वुट्ठं, दसद्धवण्णं कुसुमं निविडियं। ममं च णं विजयस्स गाहावतिस्स गिहाओ पडिनिक्खममाणं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठ० जेणेव ममं अंतियं तेणेव उवागच्छति, उवा० २ ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, क० २ ममं वंदति नमंसंति, वं० २ ममं एवं वयासी—तुब्भे णं भंते ! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भ धम्मंतेवासी।

[२८] उस अवसर पर मंखलिपुत्र गोशालक ने भी बहुत-से लोगों से यह बात (घटना) सुनी और समझी। इससे उसके मन में पहले संशय और फिर कौतुहल उत्पन्न हुआ। वह विजय गाथापति के घर आया। फिर उसने गाथापति के घर में बरसी हुई वसुधारा तथा पांच वर्ण के निष्पन्न कुसुम भी देखे। उसने मुझे (श्रमण भ. महावीर को) भी विजय गाथापति के घर से बाहर निकलते हुए देखा। यह देखकर वह (गोशालक) हर्षित और सन्तुष्ट हुआ। फिर मेरे पास आकर उसने तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया। तदनन्तर वह मुझसे इस प्रकार बोला—'भगवन् ! आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका धर्म-शिष्य हूँ।'

२९. तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठे नो आढामि, नो परिजाणामि, तुसिणीए संचिट्ठामि।

[२९] हे गौतम ! इस पर मैंने मंखलिपुत्र गोशालक की इस बात का आदर नहीं किया, उसे स्वीकार नहीं किया। मैं मौन रहा।

विवेचन—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. २४ से २९ तक) में शास्त्रकार ने विजय गाथापति के यहाँ हुए भगवान् महावीर के प्रथम मासक्षमण पारणे का, उसके प्रभाव से प्रकट हुए पांच दिव्यों का तथा विजय गाथापति की उस निमित्त से हुई सार्वजनिक प्रशंसा से प्रभावित गोशालक द्वारा भगवान् का समर्थन न होते हुए भी उनके शिष्य बनाने का वृतान्त प्रस्तुत किया है।[१]

कठिन शब्दार्थ—**अडमाणे**—भिक्षाटन करते हुए। **एज्जमाणं**—आते हुए। **अब्भुट्ठेति**—उठा। **पच्चोरुभति**—उतरा। **पाउयाओ ओमुयइ**—पादुकाएँ निकालीं। **अंजलिमउलियहत्थे**—दोनों हाथ जोड़ कर। **दव्वसुद्धेणं**—द्रव्य—ओदनादि के शुद्ध-उद्गमादिदोषरहित होने से। **दायगसुद्धेणं**—दाता के शुद्ध—आशंसा आदि दोषों से रहित होने से। **पडिगाहगसुद्धेणं**—प्रतिग्राहक—आदाता (पात्र) के शुद्ध—किसी प्रकार के प्रतिफल या स्पृहा से रहित होने से। **तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं**—त्रिविध-मन-वचन-काया की तथा तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदित की शुद्धि से। **दसद्धवण्णे कुसुमे**—दस के आधे—पांच वर्ण के फूल। **चेलुक्खेवे कए**—ध्वजारूप वस्त्रों की वृष्टि की। **घुट्ठे**—उद्घोष किया। **कयलक्खणे**—उत्तमलक्षणों वाला। **णो आढामि**—आदर नहीं दिया। **णो परिजाणामि**—स्वीकार नहीं किया। **तुसिणीए संचिट्ठामि**—मौन रहा।[२]

द्वितीय से चतुर्थ मासखमण के पारणे तक का वृतान्त, भगवान् के अतिशय से पुनः प्रभावित गोशालक द्वारा शिष्यताग्रहण

३०. तए णं अहं गोयमा ! रायगिहाओ नगराओ पडिनिक्खमामि, प० २ णालंदं बाडिरियं मज्झंमज्झेणं जेणेव तंतुवायसाला तेणेव उवागच्छामि, उवा० २ दोच्च मासक्खमणं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

[३०] इसके पश्चात्, हे गौतम ! मैं राजगृह नगर से निकला और नालन्दा पाड़ा से बाहर मध्य में होता हुआ उस तन्तुवायशाला में आया। वहाँ मैं द्वितीय मासक्षमण स्वीकार करके रहने लगा।

३१. तए णं अहं गोयमा ! दोच्चामासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिनिक्खमामि, तं० प० २ नालंदं बाहिरियं मज्झंमज्झेणं जेणेव रायगिहे नगरे जाव अडमाणे आणंदस्स गाहावतिस्स गिहं अणुप्पविट्ठे।

[३१] फिर, हे गौतम! मैं दूसरे मासक्षमण के पारणे के समय तन्तुवायशाला से निकला और नालन्दा के बाहरी भाग के मध्य में से होता हुआ राजगृह नगर में यावत् भिक्षाटन करता हुआ आनन्द गाथापति के घर में प्रविष्ट हुआ ।

३२. तए णं से आणंदे गाहावती ममं एज्जमाणं पासति, एवं जहेव विजयस्स, नवरं ममं विउलाए खज्जगविहीए 'पडिलाभेस्सामी' त्ति तुट्ठे। सेसं तं चेव जाव तच्चं आसक्खमणं उवसंपज्जित्ताणं

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मू.पा.टि.), पृ. ६९४-६९५

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६३-६६४ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५ पृ. २३७९-२३८०

विहरामि।

[३२] उस समय आनन्द गाथापति ने मुझे आते हुए देखा, इत्यादि सारा वृत्तान्त विजय गाथापति के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि—'मैं विपुल खण्ड-खाद्यादि (खाजा आदि) भोजन-सामग्री से (भगवान् महावीर को) प्रतिलाभूंगा'; यों विचार कर (वह आनन्द गाथापति) सन्तुष्ट (प्रसन्न) हुआ। शेष समग्र वृत्तान्त (यहाँ से लेकर) यावत्—'मैं तृतीय मासक्षमण स्वीकार करके रहा; (यहाँ तक) पूर्ववत् (कहना चाहिए)।

३३. तए णं अहं गोयमा ! तच्चमासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिनिक्खामि, तं० प० २ तहेव जाव अडमाणे सुणंदस्स गाहावतिस्स गिहं अणुपविट्ठे।

[३३] तदनन्तर, हे गौतम ! तीसरे मासक्षमण के पारणे के लिए मैंने तन्तुवायशाला से बाहर निकल कर यावत् सुनन्द गाथापति के घर में प्रवेश किया।

३४. तए णं से सुणंदे गाहावती०, एवं जहेव विजए गाहावती, नवरं ममं सव्वकामगुणिएणं भोयणेणं पडिलाभेति। सेसं तं चेव जाव चउत्थं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

[३४] तब सुनन्द गाथापति ने ज्यों ही मुझे आते हुए देखा, इत्यादि सारा वर्णन विजय गाथापति के समान (कहना चाहिए।) विशेषता यह है कि उसने (सुनन्द ने) मुझे सर्वकामगुणित (सर्वरसों से युक्त) भोजन से प्रतिलाभित किया। (यहाँ से लेकर) शेष सर्ववृतान्त, यावत् मैं चतुर्थ मासक्षमण स्वीकार करके विचरण करने लगा; (यहाँ तक) पूर्ववत् (कहना चाहिए।)

३५. तीसं णं नालंदाए बाहिरियाए अदूरसामंते एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेसे होत्था सन्निवेसवण्णओ।

[३५] उस नालन्दा के बाहरी भाग से कुछ दूर 'कोल्लाक' नाम सन्निवेश था। सन्निवेश का वर्णन (पूर्ववत् जान लेना चाहिए।)

३६. तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे बहुले नामं माहणे परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए रिउव्वेद जाव सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था।

[३६] उस कोल्लाक सन्निवेश में बहुल नामक ब्राह्मण (माहन) रहता था। यह आढ्य यावत् अपरिभूत था और ऋग्वेद (आदि वैदिक धर्मशास्त्रों) में यावत् निपुण था।

३७. तए णं से बहुले माहणे कत्तियचातुम्मासियपाडिवगंसि विउलेणं महु-घयसंजुत्तेणं परमन्नेणं माहणे आयामेत्था।

[३६] उस बहुल ब्राह्मण ने कार्तिकी चौमासी की प्रतिपदा के दिन प्रचुर मधु और घृत से संयुक्त परमान्न (खीर) का भोजन ब्राह्मणों को कराया एवं आचामित (कुल्ले आदि के द्वारा मुख शुद्ध) कराया।

३८. तए णं अहं गोयमा ! चउत्थमासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिनिक्खमामि, तं० प० २ णालंदं बाहिरियं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छामि, नि० २ जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे तेणेव उवागच्छामि,

ते० उ० २ कोल्लाए सन्निवेसे उच्च-नीय जाव अडमाणे बहुलस्स माहणस्स गिहं अणुप्पविट्ठे।

[३८] तभी मैं चतुर्थ मासक्षमण के पारणे के लिए तन्तुवायशाला से निकला और नालन्दा के बाहरी भाग के मध्य में से होकर कोल्लाक सन्निवेश आया। वहाँ उच्च, नीच, मध्यम कुलों में भिक्षार्थ पर्यटन करता हुआ मैं बहुल ब्राह्मण के घर में प्रविष्ट हुआ।

३९. तए णं से बहुले माहणे ममं एज्जमाणं तहेव जाव ममं विउलेणं महु-घयसंजुत्तेणं परमन्नेणं 'पडिलाभेस्सामी' ति तुट्ठे। सेसं जहा विजयस्स जाव बहुलस्स माहणस्स, बहुलस्स माहणस्स।

[३९] उस समय बहुल ब्राह्मण ने मुझे आते देखा; इत्यादि समग्र वर्णन पूर्ववत् यावत्—'मैं (आज भ. महावीर स्वामी को) मधु (खांड) और घी से संयुक्त परमान्न से प्रतिलाभित करूंगा;' ऐसा विचार कर वह (बहुल ब्राह्मण) सन्तुष्ट हुआ। शेष सब वर्णन विजय गाथापति के समान यावत् 'बहुल ब्राह्मण का मनुष्यजन्म और जीवनफल प्रशंसनीय है,' (यहाँ तक कहना चाहिए)।

४०. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं तंतुवायसालाए अपासमाणे रायगिहे नगरे सब्भंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। ममं कत्थति सुतिं वा खुतिं वा पवत्तिं वा अलभामाणे जेणेव तंतुवायसाला तेणेव उवागच्छति, उवा० २ साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेति, आ० २ सउत्तरोट्ठं मुंडं कारेति, स० का० २ तंतुवायसालाओ पडिनिक्खत्ति, तं० प० २ णालंदं बाहिरियं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, नि० २ जेणेव कोल्लागसन्निवेसे तेणेव उवागच्छइ।

[४०] उस समय मंखलिपुत्र गोशालक ने मुझे तन्तुवायशाला में नहीं देखा तो, राजगृह नगर के बाहर और भीतर सब ओर मेरी खोज की; परन्तु कहीं भी मेरी श्रुति (आवाज), क्षुति (छींक) और प्रवृत्ति न पा कर पुनः तन्तुवायशाला में लौट गया। वहाँ उसने शाटिकाएँ (अन्दर पहनने के वस्त्र), पाटिकाएँ (उत्तरीय—ऊपर पहनने के वस्त्र), कुण्डिकाएँ (भोजनादि के बर्तन), उपानत् (पगरखी) एवं चित्रपट (चित्रांकित फलक) आदि ब्राह्मणों को दे दिये। फिर (मस्तक से लेकर) दाढ़ी-मूंछ (उत्तरोष्ठ) सहित मुंडन करवाया।

इसके पश्चात् वह तन्तुवायशाला से बाहर निकला और नालन्दा से बाहरी भाग के मध्य में से चलता हुआ कोल्लाकसन्निवेश में आया।

४१. तए णं तस्स कोल्लागस्स सन्निवेसस्स बहिया बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव परूवेति—धन्ने णं देवाणुप्पिया ! बहुले माहणे, तं चेव जाव जीवियफले बहुलस्स माहणस्स, बहुलस्स माहणस्स।

[४१] उस समय उस कोल्लाक सन्निवेश के बाहर बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार कह रहे थे, यावत् प्ररूपणा कर रहे थे—'देवानुप्रियो ! धन्य है बहुल ब्राह्मण !' इत्यादि कथन पूर्ववत्, यावत्—बहुल ब्राह्मण का मानवजन्म और जीवनरूप फल प्रशंसनीय है; (यहाँ तक जानना चाहिए)।

४२. तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—जारिसिया णं ममं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स समणस्स भगवतो

महावीरस्स इड्ढी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नगाए नो खलु अत्थि तारिसिया अन्नस्सकस्सइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा इड्ढी जुती जाव परक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते, तं निस्संदिद्धं णं 'एत्थं ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे भविस्सति' त्ति कट्टु कोल्लाए सन्निवेसे सब्भिंतर बाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेति। ममं सव्वओ जाव करेमाणे कोल्लागस्स सन्निवेसस्स बहिया परियभूमीए मए सद्धिं अभिसमन्नगए।

[४२] उस समय बहुत-से लोगों से इस (पूर्वोक्त) बात को सुन कर एवं अवधारण करके उस मंखलिपुत्र गोशालक के हृदय में इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् संकल्प समुत्पन्न हुआ—मेरे धर्माचार्य एवं धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर को जैसी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य तथा पुरुषकार-पराक्रम आदि उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत हुए हैं, वैसी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम आदि अन्य किसी भी तथारूप श्रमण या माहन को उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत नहीं हैं। इसलिए निःसन्देह मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अवश्य यहीं होंगे, ऐसा विचार करके कोल्लाक-सन्निवेश के बाहर और भीतर सब ओर मेरी शोध—खोज करने लगा। सर्वत्र मेरी खोज करते हुए कोल्लाक-सन्निवेश के बाहर के भाग की मनोज्ञ भूमि में मेरे साथ उसकी भेंट हुई।

४३. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हट्ठतुट्ठ० ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं जाव नमंसित्ता एवं वदासी—'तुब्भे णं भंते ! मम धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं अंतेवासी।

[४३] उस समय मंखलिपुत्र गोशालक ने प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर तीन बार दाहिनी ओर से मेरी प्रदक्षिणा की, यावत् वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—भगवन् ! आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका अन्तेवासी (शिष्य) हूँ।

४४. तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि।

[४४] तब हे गौतम ! मैंने मंखलिपुत्र गोशालक की इस बात को स्वीकार किया।

४५. तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं पणियभूमिए छव्वासाइं लाभं अलाभं सुखं दुक्खं सक्कारमसक्कारं पच्चणुभवमाणे अणिच्चजागरियं विहरित्था।

[४५] तत्पश्चात् हे गौतम ! मैं मंखलिपुत्र गोशालक के साथ उस प्रणीत भूमि में (प्रदेश में) छह वर्ष तक लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, सत्कार-असत्कार का अनुभव करता हुआ अनित्यता-जागरिका (अनित्यता का अनुप्रेक्षण) करता हुआ विहार करता रहा।

विवेचन—प्रस्तुत सोलह सूत्रों (सू. ३० से ४५ तक) में भगवान् ने अपने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मास-खमण के पारणे का पूर्ववत् वर्णन किया है। इधर चतुर्थ मासखमण का पारणा बहुल ब्राह्मण के यहाँ हुआ, उधर गोशालक भ. महावीर को तन्तुवायशाला में न देखकर ढूँढता-ढूँढता थक गया तब पुनः तन्तुवायशाला में आया। उसने अपने समस्त उपकरण ब्राह्मणों को दान में दे दिये और दाढ़ी, सिर आदि के सब केश मुँडवा कर भगवान् की खोज में निकला। कोल्लाक-सन्निवेश बाहर बहुल ब्राह्मण की प्रशंसा सुन कर अनुमान लगाया कि यहीं भगवान् महावीर होने चाहिए। वह कोल्लाक-सन्निवेश के बाहर भगवान् से मिला। गोशालक ने वन्दन-

नमन करके भगवान् के समक्ष स्वयं को शिष्य रूप में समर्पित कर दिया। भगवान् ने भी उसे स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् गोशालक के साथ भगवान् ६ वर्ष तक विचरण करते रहे। यहाँ तक का वृतान्त भगवान् ने फरमाया है।[1]

भावी अनेक अनर्थों के कारणभूत अयोग्य गोशालक को भगवान् ने क्यों शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया ? इस प्रश्न का समाधान टीकाकार यों करते हैं—उस समम तक भगवान् पूर्ण वीतराग नहीं हुए थे, अतएव परिचय के कारण उनके हृदय में स्नेहगर्भित अनुकम्पा उत्पन्न हुई, छद्मस्थ होने से भविष्यत्कालीन दोषों की ओर उनका उपयोग नहीं लगा अथवा अवश्य भवितव्य ऐसा ही था, इससे उसे शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया।[2]

कठिन शब्दार्थ—मग्गणगवेसणं—मार्गण—शोध-खोज और गवेषण पूछताछ या पता लगाना, ढूंढना। **महुघयसंजुत्तेणं**—मधु (शक्कर) और घी से युक्त। **खज्जगविहीए**—खाजे की भोजनविधि से। **परमन्नेणं**- -परमान्न, खीर से। **आयामेत्था**—आचमन कराया। **पणीयभूमीय**—(१) पणितभूमि- भाण्डविश्राम-स्थान—भण्डोपकरण रख कर विश्राम लेने का स्थान, अथवा प्रणीत भूमि—मनोज्ञ भूमि। **सउत्तरोट्ठं**—दाढ़ी-मूंछ सहित मस्तक के केशों का। **पडिसुणेमि**—मैंने स्वीकार (समर्थन) किया।[3]

गोशालक द्वारा तिल के पौधे को लेकर भगवान् को मिथ्यावादी सिद्ध करने की कुचेष्टा

४६. तए णं अहं गोयमा ! अन्नदा कदायि पढमसरदकालसमयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं सिद्धत्थगामाओ नगराओ कुम्मग्गामं नगरं संपट्ठिए विहाराए। तस्स णं सिद्धत्थग्गामस्स नगरस्स कुम्मग्गामस्स नगरस्स य अंतरा एत्थ णं महं एगे तिलथंभए पत्तिए पुप्फिए हरियगरिज्जमाणे सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तं तिलथंभगं पासति, पा० २ ममं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वदासी—एसं णं भंते ! तिलथंभए किं निप्फज्जिस्सति, नो निप्फज्जिस्सति ? एते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कहिं गच्छिहिंति ? कहिं उववज्जिहिंति ? तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—गोसाला ! एस णं तिलथंभए निप्फज्जिस्सति, नो न निप्फज्जिस्सइ, एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाइस्संति।

[४६] तदनन्तर, हे गौतम ! किसी दिन प्रथम शरत्-काल के समय, जब वृष्टि का अभाव था; मंखलिपुत्र गोशालक के साथ सिद्धार्थग्राम नामक नगर से कूर्मग्राम नामक नगर की ओर विहार के लिए प्रस्थान कर चुका था। उस समय सिद्धार्थग्राम और कूर्मग्राम के बींच में तिल का एक बड़ा पौधा था, जो पत्र-पुष्प युक्त था, हरीतिमा (हराभरा होने) की श्री (शोभा) से अतीव शोभायमान हो रहा था। गोशालक ने उस तिल के पौधे को देखा। फिर मेरे पास आकर वन्दन-नमस्कार करके पूछा—भगवन् ! यह तिल का पौधा निष्पन्न (उत्पन्न) होगा या नहीं ? इन सात तिलपुष्पों के जीव मर कर कहाँ जाएँगे, कहाँ उत्पन्न होंगे ? इस पर हे गौतम ! मैंने मंखलीपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहा—गोशालक ! यह तिलस्तवक (तिल का पौधा) निष्पन्न होगा। नहीं निष्पन्न होगा,

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) पृ. ६९५ से ६९८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६४

३. भगवती. (हिन्दीविवेचन), भा. ५ पृ. २३८२ से २३८७

ऐसी बात नहीं है और ये सात तिल के फूल मर कर इसी तिल के पौधे की एक तिलफली में सात तिलों के रूप में (पुनः) उत्पन्न होंगे।

४७. तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं आइक्खमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोएइ; एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाए 'अयं णं मिच्छावादी भवतु' त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, स० प० २ जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छति, उ० २ तं तिलथंभगं सलेट्ठु यायं चेव उप्पाडेइ, उ० २ एगंते, एडेति, तक्खणमेत्तं च णं गोयमा ! दिव्वे अब्भबद्दलए पाउब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पमेव पतणतणाति, खिप्पा० २ खिप्पामेव पविज्जुयाति, खि० प० २ खिप्पामेव नच्चोदगं नातिमट्टियं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सलिलोदगं वासं वासति जेणं से तिलथंभए आसत्थे पच्चायाते बद्धमूले तत्थेव पतिट्ठिए। ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तस्सेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता।

[४७] इस पर मेरे द्वारा कही गई इस बात पर मंखलिपुत्र गोशालक ने न श्रद्धा की, न प्रतीति की और न ही रुचि की। इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं करता हुआ, "मेरे निमित्त से यह मिथ्यावादी (सिद्ध) हो जाएँ, ऐसा सोच कर गोशालक मेरे पास से धीरे धीरे पीछे खिसका और उस तिल के पौधे के पास जाकर उस तिल के पौधें को मिट्टी सहित समूल उखाड़ कर एक ओर फैंक दिया। पौधा उखाड़ने के बाद तत्काल आकाश में दिव्य बादल प्रकट हुए। वे बादल शीघ्र ही जोर-जोर से गर्जने लगे। तत्काल बिजली चमकने लगी और अधिक पानी और अधिक मिट्टी का कीचड़ न हो, इस प्रकार से कहीं-कहीं पानी की बूंदाबांदी होकर रज और धूल को शान्त करने वाली दिव्य जलवृष्टि हुई ; जिससे तिल का पौधा वहीं जम गया। वह पुनः उगा और बद्धमूल होकर वहीं प्रतिष्ठित हो गया और वे सात तिल के फूलों के जीव मर कर पुनः उसी तिल के पौधे की एक फली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हो गए।

विवेचन—भगवान् को मिथ्यावादी सिद्ध करने की गोशालक की कुचेष्टा—प्रस्तुत दो सूत्रों (४६-४७) में भगवान् ने बताया है कि गोशालक ने एक तिल के पौधे को लेकर उसकी निष्पत्ति के विषय में पूछा। मैंने यथातथ्य उत्तर दिया किन्तु मुझे झूठा सिद्ध करने हेतु उसने पौधा उखाड़ कर दूर फैंक दिया। किन्तु संयोगवश वृष्टि हुई, उससे वह तिल का पौधा पुनः जम गया, आदि वर्णन यहाँ किया गया है। यह कथन गोशालक की अयोग्यता सिद्ध करता है।[१]

कठिन शब्दार्थ—अप्पवुट्ठियंसि—अल्प शब्द यहाँ अभावार्थक होने से वृष्टि का अभाव होने से, यह अर्थ उपयुक्त है। **संपट्ठिए विहाराए**—विहार के लिए प्रस्थान किया। **तिलथंभए**—तिल का स्तबक, पौधा। **पढमसरदकालसमयंसि**—प्रथम शरत्काल के समय में। सैद्धान्तिक परिभाषानुसार शरत्काल के दो मास माने जाते हैं—मार्गशीर्ष और पौष। इन दोनों में से प्रथम शरत्काल—मार्गशीर्ष मास कहलाता है। **हरियग-**

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ६९९-७००

रेरिज्जमाणे—हरा या हरा-भरा होने से अत्यन्त सुशोभित। **निप्फज्जिस्सति**—निपजेगा, उगेगा। **तिलसंग-लियाए**—तिल की फली में। **पविरल-पप्फुस्सियं**—थोड़े या हलके स्पर्श वाले, अथवा थोड़े-से फुहारे। **अब्भ-वद्दलए**—आकाश के बादल। **ममं पणिहाए**—मेरे आश्रय—निमित्त से। **पच्चोसक्कइ**—पीछे हटा, या खिसका। **सणियं सणियं**—धीरे-धीरे। **रयरेणुविणासणं**—रज (वायु के द्वारा आकाश में उड़ कर छाई हुई धूल के कण) तथा रेणु (भूमिस्थित धूल के कण), दोनों का विनाशक-शान्त करने वाला। **पतणतणाति**—प्रकर्ष रूप से—जोर से तनतनाया—गर्जा। **आसत्थे**—स्थित हुए।[१]

मौन का अभिग्रह, फिर प्रश्न का उत्तर क्यों ?—यद्यपि भगवान् ने मौन रहने का अभिग्रह किया था किन्तु एकाध प्रश्न का उत्तर देना उनके नियम के विरुद्ध न था। याचनी आदि भाषा बोलना खुला था। इसलिए गोशालक के प्रश्न का उत्तर दिया।

वैश्यायन के साथ गोशालक की छेड़खानी, उसके द्वारा तेजोलेश्याप्रहार, गोशालकरक्षार्थ भगवान् द्वारा शीतलेश्या द्वारा प्रतीकार

४८. तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं जेणेव कुम्मग्गामे नगरे तेणेव उवागच्छामि।

[४८] तदनन्तर, हे गौतम ! मैं गोशालक के साथ कूर्मग्राम नगर में आया।

४९. तए णं तस्स कुम्मग्गामस्स नगरस्स बहिया वेसियायणे नामं बालतवस्सी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिया पगिज्झिया सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरति, आदिच्चतेयतवियाओ य से छप्पदाओ सव्वओ समंता अभिनिस्सवंति, पाण-भूय-जीव-सत्तदयट्ठयाए च णं पडियाओ पडियाओ तत्थेव तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभेति।

[४९] उस समय कूर्मग्राम नगर के बाहर वैश्यायन नामक एक बालतपस्वी निरन्तर छठ-छठ तप:कर्म करने के साथ-साथ दोनों भुजाएँ ऊँची रख कर सूर्य के सम्मुख खड़ा होकर आतापनभूमि में आतापना ले रहा था। सूर्य की गर्मी से तपी हुई जूएँ (षट्पदिकाएँ) चारों ओर उसके सिर से नीचे गिरती थीं और वह तपस्वी, प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की दया के लिए बार-बार पड़ती (गिरती) हुई उन जूओं को उठा कर बार-बार वहीं की वहीं (मस्तक पर) रखता जाता था।

५०. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासति, पा० २ ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कति, ममं० पा० २ जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तणेव उवागच्छति, उवा० २ वेसियाणं बालतवस्सिं एवं वयासी—किं भवं मुणी मुणिए ? उदाहु जूयासेज्जायरए ? तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढाति नो परिजाणति, तुसिणीए

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६२

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३८८ से २३९०

संच्चिट्ठति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—किं भवं मुणी मुणिए जाव सेज्जायरए ? तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेण दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभति, आयावण० प० २ तेयासमुग्घाएणं समोहन्नति, ते० स० सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कति, स० प० २ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वहाए सरीरगंति तेय निसिरति।

[५०] तभी मंखलीपुत्र गोशालक ने वैश्यायन बालतपस्वी को (ज्यों ही) देखा, (त्यों ही) मेरे पास से धीरे-धीरे खिसक कर वैश्यायन बालतपस्वी के निकट आया और उसे इस प्रकार कहा—"क्या आप तत्त्वज्ञ या तपस्वी मुनि हैं या जुओं के शय्यातर (स्थानदाता) हैं ?"

वैश्यायन बालतपस्वी ने मंखलिपुत्र गोशालक के इस कथन को आदर नहीं दिया और न ही इसे स्वीकार किया, किन्तु वह मौन रहा। इस पर मंखलिपुत्र गोशालक ने दूसरी और तीसरी बार वैश्यायन बालतपस्वी को फिर इसी प्रकार पूछा—आप तत्त्वज्ञ या तपस्वी मुनि हैं या जुओं के शय्यातर हैं ?

गोशालक ने जब दूसरी और तीसरी बार वैश्यायन बालतपस्वी को इस प्रकार कहा (छेड़ा) तो वह शीघ्र कुपित हो (क्रोध से भड़क) उठा यावत् क्रोध से दाँत पीसता हुआ आतापनाभूमि से नीचे उतरा। फिर तैजस-समुद्घात करके वह सात-आठ कदम पीछे हटा। इस प्रकार मंखलिपुत्र गोशालक के मध (भस्म करने) के लिए उसने अपने शरीर से (उष्ण) तेजोलेश्या बाहर निकाली।

५१. तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स तेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलियं तेयलेस्सं निसिरामिं, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स उसिणा तेयलेस्सा पडिहया।

[५१] तदनन्तर, हे गौतम ! मैंने मंखलिपुत्र गोशालक पर अनुकम्पा करने के लिए, वैश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या का प्रतिसंहरण करने के लिए शीतल तेजोलेश्या बाहर निकाली। जिससे मेरी शीतल तेजोलेश्या से वैश्यायन बालतपस्वी की उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात हो गया।

५२. तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी ममं सीयलियाए तेयलेस्साए साउसिणं तेयलेस्सं पडिहयं जाणित्ता गोसालस्स य मंखलिपुत्तस्स सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता साअं उसिणं तेयलेस्सं पडिसाहरति, साउसिणं तेयलेस्सं पडिसाहरित्ता ममं एवं वयासी—से गतमेयं भगवं !, गतमेयं भगवं !

[५२] तत्पश्चात् मेरी शीतल तेजोलेश्या से अपनी उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात हुआ तथा गोशालक के शरीर को थोड़ी या अधिक पीड़ा या अवयवक्षति नहीं हुई जान कर वैश्यायन बालतपस्वी ने अपनी उष्ण तेजोलेश्या वापस खींच (समेट) ली और उष्ण तेजोलेश्या को समेट कर उसने मुझ से फिर इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैंने जान लिया, भगवन् ! मैं समझ गया।'

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ४८ से ५२ तक) में गोशालक द्वारा वैश्यायन बालतपस्वी को चिढ़ा कर छेड़छाड़ करने का, वैश्यायन द्वारा क्रुद्ध होकर गोशालक पर तेजोलेश्या के प्रहार करने का 'भगवान् द्वारा गोशालक के प्राणरक्षार्थ शीत-तेजोलेश्या का प्रतिघात करने का एवं यह देख कर वैश्यायन द्वारा भी अपनी उष्ण तेजोलेश्या वापस खींच लेने का; इस प्रकार चार क्रमों में यह वृतान्त अंकित किया गया है।[१]

कठिन शब्दार्थ—सद्धिं—साथ। **उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय**—दोनों भुजाएं ऊँची रख कर। **आयावणभूमीए**—आतापना भूमि में। **आइच्च-तेयतवियाओ**—आदित्य—सूर्य के तेज-ताप से तपी हुई। **छप्पईओ**—षट्पदी—जुएँ। **पडियाओ**—पड़ी-गिरी हुई। **सणियं-सणियं**—शनैः शनैः। **भवं**—आप। **मुणिय**—तत्त्वज्ञ अथवा तपस्वी। **जुया-सेज्जायरए**—जुओं के शय्यातर (जुओं के घर के स्वामी)। **आसुरुत्ते**—कुपित हुआ। **मिसिमिसेमाणे**—मिसमिसाहट करते (क्रोध से दांत पीसते) हुए। **तेया-समुग्घाएण**—तैजस-समुद्घात। **वहाए**—वध के लिए। **तेयं**—तेजोलेश्या। **पडिसाहरणट्ठयाए**—पीछे हटाने-प्रतिहत करने के लिए। **उसिणा**—उष्ण। **साउसिणं**—स्वकीय उष्ण। **तेयलेस्स**—तेजोलेश्या को। **अकीरमाणं**—नहीं करता हुआ। **साअं**—अपनी। **गयमेयं**—(मैंने) जान लिया।[२]

भगवान् द्वारा गोशालक पर तेजोलेश्याप्रहार के शमन का वृतान्त तथा गोशालक को तेजोलेश्याविधि का कथन

५३. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी—किं णं भंते ! एस जूयासेज्जायरए तुब्भे एवं वदासी—'से गयमेतं भगवं ! गयमेतं भगवं !' ? तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वदामि—"तुमं णं गोसाला ! वेसियायणं बालतवस्सिं पाससि, पा० २ ममं अंतियातो सणियं सणियं पच्चोसक्कसि, प० २ जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छसि; से० उ० २ वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी—किं भवं मुणी मुणिए ? उदाहु जूयासेज्जायरए ? तए णं से वेसियाणे बालतवस्सी तव एयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणति, तुसिणीय संचिट्ठति। तए णं तुमं गोसाला ! वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—किं भवं मुणी जाव सेज्जायरए ? तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तुमं (? मे) दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते जाव पच्चोसक्कति, प० २ तव वहाए सरीरगंसि तेयं निसिरति। तए णं अहं गोसाला ! तव अणुकंपणट्ठताए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स उसिणतेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलियं तेयलेस्सं निसिरामि जाव पडिहयं जाणित्ता तव य सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सायं उसिणं तेयलेस्सं पडिसाहरति, सायं० प० २ ममं एवं वयासी—से गयमेयं भगवं !, गयमेयं भगवं ! "

[५३] तदनन्तर मंखलिपुत्र गोशालक ने मुझ से यों पूछा—"भगवन् ! इस जुओं के शय्यातर ने आपको

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ७००-७०१

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६८

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३९२-२३९३

इस प्रकार क्यों कहा—'भगवन् ! मैंने जान लिया, भगवन् ! मैं समझ गया ?' इस पर हे गौतम ! मंखलीपुत्र गोशालक से मैंने यों कहा—हे गोशालक ! ज्यों ही तुमने वैश्यायन बालतपस्वी को देखा, त्यों ही तुम मेरे पास से शनैः शनै खिसक गए और जहाँ वैश्यायन बालतपस्वी था, वहाँ पहुँच गए। फिर उसके निकट जाकर तुमने वैश्यायन बालतपस्वी से इस प्रकार कहा—क्या आप तत्त्वज्ञ मुनि हैं अथवा जुओं के शय्यातर हैं ? उस समय वैश्यायन बालतपस्वी ने तुम्हारे उस कथन का आदर नहीं किया (सुना-अनसुना कर दिया) और न ही उसे स्वीकार किया, बल्कि वह मौन रहा। जब तुमने दूसरी और तीसरी बार भी वैश्यायन बालतपस्वी को उसी प्रकार कहा; तब वह एकदम कुपित हुआ, यावत् वह पीछे हटा और तुम्हारा वध करने के लिए उसने अपने शरीर से तेजोलेश्या निकाली। हे गोशालक ! तब मैंने तुझ पर अनुकम्पा करने के लिए वैश्यायन बालतपस्वी की उष्ण तेलोलेश्या का प्रतिसंहरण करने के लिए अपने अन्तर से शीतल तेजोलेश्या निकाली; यावत् उससे उसकी उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात हुआ जान कर तथा तेरे शरीर को किंचित् भी बाधा-पीड़ा या अवयवक्षति नहीं हुई, देखकर उसने अपनी उष्ण तेजोलेश्या वापस खींच ली। फिर मुझे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैं जान गया, भगवन् ! मैंने भलीभांति समझ लिया।'

५४. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा निसम्म भीए जाव संजायभये ममं वंदति नमंसति, ममं वं० २ एवं वयासी—कहं णं भंते ! संखित्तविउलतेयलेस्से भवति ? तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयामि—जे णं गोसाला ! एगाए सणहाय कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय जाव विहरइ से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से भवति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एयमट्ठं सम्मं विणएणं पडिस्सुणेति।

[५४] तत्पश्चात् मंखलिपुत्र गोशालक मेरे (मुख) से यह (उपर्युक्त) बात सुनकर और अवधारण करके डरा; यावत् भयभीत होकर मुझे वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—'भगवन् ! संक्षिप्त और विपुल तेजोलेश्या कैसे प्राप्त (उपलब्ध) होती है ?' हे गौतम ! तब मैंने मंखलीपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहा—'गोशालक ! नखसहित बन्द की हुई मुट्ठी में जितने उड़द के बाकुले आवें तथा एक विकटाशय (चुल्लू भर) जल (अचित्त पानी) से निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले के) तपश्चरण के साथ दोनों भुजाएँ ऊँची रख कर यावत् आतापना लेता रहता है, उस व्यक्ति को छह महीने के अन्त में संक्षिप्त और विपुल तेजोलेश्या प्राप्त होती है।' यह सुनकर मंखलिपुत्र गोशालक ने मेरे इस कथन को विनयपूर्वक सम्यक् रूप से स्वीकार किया।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (५३-५४) में दो तथ्यों का प्रतिपादन किया है—(१) गोशालक को ज्ञात हो गया कि मुझ पर वैश्यायन बालतपस्वी द्वारा किये गए उष्णतेजोलेश्या के प्रहार को भगवान् ने अपनी शीत तेजोलेश्या द्वारा शान्त कर दिया, (२) संक्षिप्तविपुल तेजोलेश्या की प्राप्ति की विधि बतला कर गोशालक की जिज्ञासा का समाधान किया।

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७०९

शब्दार्थ—मुणि मुणिए—मुनि, तपस्वी या मुणित-ज्ञातत्व।[१]

संखित्तविउलतेयलेस्से—संक्षिप्त और विपुल दोनों प्रकार की तेजोलेश्या। तेजोलेश्या अप्रयोग काल में संक्षिप्त होती है, जबकी प्रयोगकाल में विपुल हो जाती है।[२]

भीए—डरा। **सणहाए**—नख-सहित। अर्थात्—जिस मुट्ठी के बन्द किये जाने पर अंगुलियों के नख, अंगूठे के नीचे लगें, वह सनखा मुट्ठी (पिण्डिका) कहलाती है। **कुम्मासपिंडियाए**—आधे भीगे हुए मूंग आदि से अथवा उड़द से भरी (सनख) पिण्डिका (मुट्ठी)। **वियडासणं**—विकट—(अचित्त) जल, उसका आशय या आश्रय विकटाशय या विकटाश्रय (चुल्लू भर जल) से।[३]

भगवान् द्वारा गोशालक की रक्षा और तेजोलेश्या विधि-निर्देश—कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि भगवान् ने गोशालक की रक्षा क्यों की? तथा उसे तेजोलेश्या की विधि क्यों बताई? क्योंकि आगे चलकर गोशालक ने भगवान् के दो शिष्यों को तेजोलेश्या से घात किया तथा भगवान् की भी अपकीर्ति की। इसका समाधान वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—भगवान् दया के सागर थे। उनके मन में गोशालक के प्रति कोई द्वेषभाव या दुर्भाव नहीं था। इसलिए गोशालक की रक्षा की। सुनक्षत्र और सर्वानुभूति, इन दो मुनियों की रक्षा न करने का उनका भाव नहीं था, बल्कि उन्होंने सभी मुनियों से उस समय गोशालक के साथ किसी प्रकार का विवाद न करने की चेतावनी दी थी। फिर उस समय भगवान् वीतराग थे, इसलिए लब्धिविशेष का प्रयोग नहीं करते थे। लब्धिविशेष का प्रयोग छद्मस्थ-अवस्था में ही उन्होंने किया था। लब्धि का प्रयोग करना प्रमाद है और वीतराग-अवस्था में प्रमाद हो नहीं सकता, छद्मस्थ-अवस्था में क्षम्य है। उक्त दो मुनियों की रक्षा न कर सकने का एक कारण—अवश्यम्भावी भाव था।[४] अर्थात्—भगवान् को ज्ञात था कि इन मुनियों के आयुष्य का अन्त इसी प्रकार होने वाला है।

गोशालक द्वारा भगवान् के साथ मिथ्यावाद, एकान्त परिवृत्यपरिहारवाद की मान्यता और भगवान् से पृथक् विचरण

५५. तए णं अहं गोयमा! अन्नदा कदायि गोसालेणं मंखलिपुत्तेण सद्धिं कुम्मग्गामाओ नगराओ सिद्धत्थग्गामं नगरं संपत्थिए विहाराए। जाहे य मो तं देसं हव्वमागया जत्थ णं से तिलथंभए तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वदासि—"तुब्भे णं भंते! तदा ममं एवं आइक्खह जाव परूवेह—'गोसाला! एस णं तिलथंभए निप्फज्जिस्सति, नो न निप्फ०, तं चेव जाव पच्चायाइस्सति' तं णं

---

१. भगवती. अ. वृ. पत्र ६६८

२. 'संक्षिप्ता-अप्रयोगकाले, विपुला-प्रयोगकाले तेजोलेश्या-लब्धि-विशेषो यस्य स तथा।'—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६८

३. (क) वही, अ. वृत्ति पत्र ६६८

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३१९-२३९६ तक

४. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६६८

मिच्छा, इमं णं पच्चक्खमेव दीसति 'एस णं से तिलथंभए णो निप्फन्ने, अनिप्फन्नमेव; ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता नो एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायता''। तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वदामि—''तुमं णं गोसाला ! तदा ममं एवं आइक्खमाणस्स जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहसि, नो पत्तियसि, नो रोएसि, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाए 'अयं णं मिच्छावादी भवतु' त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कसि, प० २ जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छसि, उ० २ जाव एगंतमंते एडेसि, तक्खणमेत्तं गोसाला ! दिव्वे अब्भवद्दलए पाउब्भूते। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव०, तं चेव जाव तस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चयाया। तं एस णं गोसाला ! से तिलथंभए निप्फन्ने, णो अनिप्फन्नमेव, ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। एवं खलु गोसाला ! वणस्सतिकाइया पउट्टपरिहारं परिहरंति।''

[५५] हे गौतम ! इसके पश्चात् किसी एक दिन मंखलीपुत्र गोशालक के साथ मैंने कूर्मग्रामनगर से सिद्धार्थग्रामनगर की ओर विहार के लिए प्रस्थान किया। जब हम उस स्थान (प्रदेश) के निकट आए, जहाँ वह तिल का पौधा था, तब गोशालक मंखलिपुत्र ने मुझ से इस प्रकार कहा—'भगवन् ! आपने मुझे उस समय इस प्रकार कहा था, यावत् प्ररूपणा की थी कि हे गोशालक ! यह तिल का पौधा निष्पन्न होगा, यावत् तिलपुष्प के सप्त जीव मर कर सात तिल के रूप में पुनः उत्पन्न होंगे, किन्तु आपकी वह बात मिथ्या हुई, क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिख रहा है कि यह तिल का पौधा उगा ही नहीं और वे तिलपुष्प के सात जीव मर कर इस तिल के पौधे की एक तिलफली में सात तिल के रूप में उत्पन्न नहीं हुए।'

हे गौतम ! तब मैंने मंखलिपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहा—हे गोशालक ! जब मैंने तुझ से ऐसा कहा था, यावत् ऐसी प्ररूपणा की थी, तब तूने मेरी उस बात पर न तो श्रद्धा की, न प्रतीति की, न ही उस पर रुचि की, बल्कि उक्त कथन पर श्रद्धा, प्रतीति या रुचि न करके तू मुझे लक्ष्य करके कि 'यह मिथ्यावादी हो जाएँ' ऐसा विचार कर मेरे पास से धीरे-धीरे से खिसक गया था और जहाँ वह तिल का पौधा था, वहाँ जा पहुँचा यावत् उस तिल के पौधे को तूने मिट्टी सहित उखाड़ कर एकान्त में फैंक दिया। लेकिन हे गोशालक ! उसी समय आकाश में दिव्य बादल प्रकट हुए यावत् गर्जने लगे, इत्यादि यावत् वे तिलपुष्प तिल के पौधे की एक तिलफली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हो गए हैं। अतः हे गोशालक ! यही वह तिल का पौधा है, जो निष्पन्न हुआ है, अनिष्पन्न नहीं रहा है और वही सात तिलपुष्प के जीव मर कर इसी तिल के पौधे की एक तिलफली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार हे गोशालक ! वनस्पतिकायिक जीव मर-मर कर उसी वनस्पतिकाय के शरीर में पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।

५६. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवमाइक्खमाणस्स जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहति ३। एयमट्ठं असद्दहमाणे जाव अरोयेमाणे जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छति, उ० २ ततो

तिलथंभयाओ तं तिलसंगलियं खुडति, खुडित्ता करतलंसि सत्त तिले पप्फोडेइ। तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स ते सत्त तिले गणेमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु सव्वजीवा वि पउट्टपरिहारं परिहरंति'। एस णं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स पउट्टे। एस णं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स ममं अंतियाओ आयाए अवक्कमणे पन्नत्ते।

[५६] तब मंखलिपुत्र गोशालक ने मेरे इस कथन यावत् प्ररूपणा पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की। बल्कि उस कथन के प्रति अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि करता हुआ वह उस तिल के पौधे के पास पहुँचा और उसकी तिलफली तोड़ी, फिर उसे हथेली पर मसल कर (उसमें से) सात तिल बाहर निकाले। तदनन्तर उस मंखलिपुत्र गोशालक को उन सातों तिलों को गिनते हुए इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ—सभी जीव इस प्रकार परिवृत्य-परिहार करते हैं (अर्थात्—मर कर पुन: उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं।) हे गौतम ! मंखलिपुत्र गोशालक का यह परिवर्त्त (परिवर्त्त-परिहार-वाद) है और हे गौतम ! मुझसे (तेजोलेश्या-प्राप्ति की विधि जानने के बाद) मंखलिपुत्र गोशालक का यह अपना (स्वेच्छा से) अपक्रमण (पृथक् विचरण) है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (५५-५६) में गोशालक द्वारा भगवान् के साथ मिथ्या-प्रतिवाद करने का तथा भगवान् का कथन सत्य सिद्ध हो जाने पर भी दुराग्रहवश सर्वजीवों के परिवर्त्त-परिहार की मिथ्या मान्यता को लेकर भगवान् से पृथक् विचरण करने का प्रतिपादन है।[१]

कठिन शब्दार्थ—खुडति—तोडता है। **पप्फोडेइ**—मसलता है। **पउट्टपरिहारं**—परिवृत्त होकर—उसी (वनस्पति-शरीर) का परिहार-परिभोग (उत्पाद) करते हैं। **आयाए**—अपने से स्वेच्छा से गोशालक स्वयं, अथवा (तेजोलेश्या प्राप्ति का उपदेश) **आदान**—ग्रहण करके। **अवक्कमणे**—अपक्रमण—पृथक् विचरण।[२]

गोशालक का मिथ्या-आग्रह—भगवान् ने बताया था कि वनस्पतिकायिक जीव परिवृत्य—मर कर परिहार करते हैं, अर्थात् मर कर बार-बार पुन: उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु गोशालक ने मिथ्याग्रहवश सभी जीवों के लिए एकान्त रूप से 'परिवृत्य-परिहारवाद' मान लिया। यह उसकी मिथ्या मान्यता थी।[३]

गोशालक को तेजोलेश्या की प्राप्ति, अहंकारवश जिन-प्रलाप एवं भगवान् द्वारा स्ववक्तव्य का उपसंहार

५७. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय जाव विहरइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७०३-७०४

२. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३९७-२३९९

(ख) भगवती. अ. वृ. पत्र ६६६

३. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २३९९

अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से जाते।

[५७] तत्पश्चात् मंखलिपुत्र गोशालक नखसहित एक मुट्ठी में आवें, इतने उड़द के बाकलों से तथा एक चुल्लूभर पानी से निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) के तपश्चरण के साथ दोनों बांहें ऊँची करके सूर्य के सम्मुख खड़ा रह कर आतापना-भूमि में यावत् आतापना लेने लगा। ऐसा करते हुए गोशालक को छह मास के अन्त में, संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्या प्राप्त हो गई।

५८. तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अन्नदा कदायि इमे छद्दिसाचरा अंतियं पादुब्भवित्था, तं जहा—सोणे०, तं चेव सव्वं जाव अजिणे जिणसद्दं पगासेमाणे विहरति। तं नो खलु गोयमा ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे, जिणप्पलावी जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरति। गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी जाव पगासेमाणे विहरति।

[५८] इसके बाद मंखलिपुत्र गोशालक के पास किसी दिन ये छह दिशाचर प्रकट हुए। यथा—शोण इत्यादि सब कथन पूर्ववत्, यावत्—जिन न होते हुए भी अपने आपको जिन शब्द से प्रकट करता हुआ विचरण करने लगा है। अत: हे गौतम ! वास्तव में मंखलिपुत्र गोशालक 'जिन' नहीं है वह 'जिन' शब्द से स्वयं को प्रसिद्ध (प्रकट) करता हुआ विचरता है। वस्तुत: मंखलिपुत्र गोशालक अजिन (जिन नहीं) है; जिनप्रलापी है, यावत् जिन शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरता है।

५९. तए णं सा महतिमहालिया महच्चपरिसा जहा सिवे (स० ११ उ० ९ सु० २६) जाव पडिगया।

[५९] तदनन्तर वह अत्यन्त बड़ी परिषद् (ग्यारहवें शतक उद्देशक ९, सू. २६ में कथित) शिवराजर्षि के समान धर्मोपदेश सुन कर यावत् वन्दना-नमस्कार कर वापस लौट गई।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (५७-५८-५९) में भगवान् ! गोशालक के जीवनवृत्त का उपसंहार करते हुए निम्नोक्त तथ्यों को उजागर करते हैं—(१) गोशालक ने विधिपूर्वक तपश्चरण करके तेजोलेश्या प्राप्त कर ली। (२) अहंकारवश जिन न होते हुए भी स्वयं को जिन कहने लगा। (३) गोशालक दम्भी है, वह जिन नहीं है, किन्तु जिन-प्रलापी है। (४) एक विशाल परिषद् में भगवान् ने इस सत्य-तथ्य को उजागर किया।

भगवान् द्वारा अपने अजिनत्व का प्रकाशन सुन कर कुंभारिन की दूकान पर कुपित गोशालक की ससंघ जमघट

६०. तए णं सावत्थीय नगरीय सिंघाडग जाव बहुजणो अन्नमन्नस्स जाव परूवेइ—" जं णं देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव विहरति तं मिच्छा, समणे भगवं महावीरे एवं आइक्खति जाव परूवेति 'एवं खलु तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखली नामं मंखे पिता होत्था।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७०४

तए णं तस्स मंखलिस्स०, एवं चेव सव्वं भाणितव्वं जाव अजिणे जिणसद्दं पकासेमाणे विहरति।' तं नो खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव विहरति, गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी जाव विहरति। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरति।''

[६०] तदनन्तर श्रावस्ती नगरी में शृंगाटक (त्रिकोणमार्ग) यावत् राजमार्गों पर बहुत-से लोग एक दूसरे से यावत् प्ररूपणा करने लगे—हे देवानुप्रियो ! जो यह गोशालक मंखलि-पुत्र अपने-आपको 'जिन' कहता यावत् फिरता है; यह बात मिथ्या है। श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि उस मंखलिपुत्र गोशालक का 'मंखली' नामक मंख (भिक्षाचर) पिता था। उस समय उस मंखली का ······· इत्यादि पूर्वोक्त समस्त वर्णन; यावत्—वह (गोशालक) जिन नहीं होते हुए भी 'जिन' शब्द से अपने आपको प्रकट करता है। इसलिए मंखलिपुत्र गोशालक जिन नहीं है। वह 'जिन' शब्द का प्रलाप करता हुआ, यावत् विचरता है। अतएव वस्तुतः मंखलिपुत्र गोशालक अजिन है, किन्तु जिन-प्रलापी हो कर यावत् विचरता है। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी 'जिन' हैं, 'जिन' कहते हुए यावत् 'जिन' शब्द का प्रकाश करते हुए विचरते हैं।

६१. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे आतावणभूमितो पच्चोरुभति, आ० प० २ सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे तेणेव उवागच्छइ, ते० उ० २ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघपरिवुडे महता अमरिसंहमाणे एवं वा वि विहरति।

[६१] जब मंखलिपुत्र गोशालक ने बहुत-से लोगों से यह बात सुनी, तब उसे सुनकर और अवधारण करके वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, यावत् मिसमिसाहट करता (क्रोध से दांत पीसता) हुआ आतापनाभूमि से नीचे उतरा और श्रावस्ती नगरी के मध्य में होता हुआ हालाहला कुम्भारिन की बर्तनों की दूकान पर आया। वह हालाहला कुम्भारिन की बर्तनों की दूकान पर आजीविकसंघ से परिवृत हो (घिरा रह) कर अत्यन्त अमर्ष (रोष) धारण करता हुआ इसी प्रकार विचरने लगा।

विवेचन—क्रुद्ध गोशालक भगवान् को बदनाम करने की फिराक में—प्रस्तुत दो सूत्रों में (६०-६१) में भगवान् द्वारा गोशालक की वास्तविकता प्रकट किये जाने पर श्रावस्ती के लोगों के मुंह से सुनकर क्रुद्ध गोशालक द्वारा हालाहला कुंभारिन की दूकान पर संघ-सहित, भगवान् को बदनाम करने हेतु आने का वर्णन है।[१]

गोशालक द्वारा अर्थलोलुप-वणिकवर्ग-विनाशदृष्टान्त-कथनपूर्वक आनन्द स्थविर को भगवद्-विनाशकथनचेष्टा

६२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी आणंदे नामं थेरे पगतिभद्दए जाव विणीए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तए णं से आणंदे थेरे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए एवं जहा गोयमसामी (स० २ उ० ५ सु०

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७०४

२२-२४) तहेव आपुच्छइ, तहेव जाव उच्च-नीय-मज्झिम जाव अडमाणे हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारवणस्स अदूरसामंतेणं वीईवयइ।

[६२] उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर का अन्तेवासी (शिष्य) आनन्द-नामक स्थविर था। वह प्रकृति से भद्र यावत् विनीत था और निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) का तपश्चरण करता हुआ और संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरता था। उस दिन आनन्द स्थविर ने अपने छठक्षमण (बेले के तप) के पारणे के दिन प्रथम पौरुषी (प्रहर) में स्वाध्याय किया, यावत्—(शतक २, उ. ५ सू. २२-२४ में कथित) गौतमस्वामी (की चर्या) के समान भगवान् से (भिक्षाचर्या की) आज्ञा मांगी और उसी प्रकार ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में यावत् भिक्षार्थ पर्यटन करता हुआ हालाहला कुम्भारिन की बर्तनों की दूकान के पास से गुजरा।

६३. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयमाणं पासति, पासित्ता एवं वयासी—एहि ताव आणंदा ! इओ एगं महं ओवमियं निसामेहि।

[६३] जब मंखलिपुत्र गोशालक ने आनन्द स्थविर को हालाहला कुम्भारिन की बर्तनों की दूकान के निकट से जाते हुए देखा, तो इस प्रकार बोला—'अरे आनन्द ! यहाँ आओ, एक महान् (विशिष्ट या मेरा) दृष्टान्त सुन लो।'

६४. तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छति।

[६४] गोशालक के द्वारा इस प्रकार कहने पर आनन्द स्थविर, हालाहला कुम्भारिन की बर्तनों की दूकान में (बैठे) गोशालक के पास आया।

६५. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं एवं वदासी—

''एवं खलु आणंदा ! इतो चिरातीयाए अद्धाए केयी उच्चावया वणिया अत्थऽत्थी अत्थलुद्धा अत्थगवेसी अत्थकंखिया अत्थपिवासा अत्थगवेसणयाए नाणाविहविउलपणियभंडमायाए सगडी-सागडेणं सुबहुं भत्त-पाणपत्थयणं गहाय एगं महं अगामियं अणोहियं छिन्नावायं दीहमद्धं अडविं अणुप्पविट्ठा।

''तए णं तेसिं वाणियाणं तीसे आगामियाए अणोहियाए छिन्नावायाए दीहमद्धाए अडवीए कंचि देसं अणुप्पत्ताणं समाणाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुज्जमाणे परिभुज्जमाणे खीणे।

''तए णं वे वणिया खीणोदगा समाणा तण्हाए परिब्भवमाण अन्नमन्नं सद्दावेंति, अन्न० स० २ एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे आगामियाए जाव अडवीए कंचि देसं अणुप्पत्ताणं सामणाणं से पुव्वगहिते उदए अणुपुव्वेणं परिभुज्जमाणे परिभुज्जमाणे खीणे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए जाव अडवीए उदगस्स सव्वतो समंता मग्गणगवेसणं करेत्तए' त्ति कट्टु

अन्नमन्नस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति, अन्न० पडि० २ तीसे णं अगामियाए जाव अडवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति। उदगस्स सव्वतो समंता मग्गणगवेसणं करेमाणा एगं महं वणसंडं आसादेंति किण्हं किण्होमासं जाव[1] निकुरूंबभूयं पासादीय जाव पडिरूवं। तस्स णं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगं वम्मीयं आसादेंति। तस्स णं वम्मीयस्स चत्तारि वप्पूओ अब्भुग्गयाओ। अभिनिसढाओ, तिरियं सुसंपग्गहिताओ, अहे पन्नगद्धरूवाओ पन्नगद्धसंठाणसंठियाओ पासादीयाओ जाव पडिरूवाओ।

''तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठ० अन्नमन्नं सद्दावेंति, अन्न० स० २ एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे इमीसे अगामियाए जाव सव्वतो समंता मग्गणगवेसणंकरेमाणेहिं इमे वणसंडे आसादिते किण्हे किण्होभासे०, इमस्स णं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए इमे वम्मीए आसादिए, इमस्स णं वम्मीयस्स चत्तारि वप्पूओ अब्भुग्गयाओ जाव पडिरूवाओ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पुं भिंदित्तए अवियाइं इत्थ ओरालं उदगरयणं अस्सादेस्सामो।'

''तए णं वणिया अन्नमन्नस्स अंतियं एतमट्ठं पडिस्सुणेंति, अन्न० प० २ तस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पुं भिंदंति, ते णं तत्थ अच्छं पत्थं जच्चं तणुयं फालियवणाभं ओरालं उदगरयणं आसादेंति।

''तए णं वणिया हट्ठतुट्ठ० पाणियं पिबंति, पा० पि० २ वाहणाइं पज्जेंति, वा० प० २ भायणाइं भरेंति, भा० भ० २ दोच्चं पि अन्नमन्नं एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेहिं इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वपूए भिन्नाए ओराले उदगरयणे अस्सादिए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पुं भिदितए, अवियाइं एत्थ ओरालं सुवण्णरयणं अस्सादेस्सामो।

तए णं ते वणिया अन्नमन्नस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति, अन्न० प० २ तस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पुं भिदंति। ते णं तत्थ अच्छं जच्चं तावणिज्जं महत्थं महग्घं महरियं ओरालं सुवण्णरयणं अस्सादेंति।

''तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठ० भायणाइं भरेंति, भा० भ० २ पवहणाइं भरेंति, प० भ० २ तच्चं पि अन्नमन्नं एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वपूए भिन्नाए ओराले उदगरयणे अस्सादिए, दोच्चाए वपूए भिन्नाए ओराले सुवण्णरयणे अस्सादिए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स तच्चं पि वप्पुं भिंदित्तए, अवियाइं एत्थ ओरालं मणिरयणं अस्सादेस्सामो।

''तए णं ते वणिया अन्नमन्नस्स अंतियं एतमट्ठं पडिसुणेंति, अन्न० प० २ तस्स वम्मीयस्स तच्चं पिं वप्पुं भिदंति। ते णं तत्थ विमलं निम्मलं नित्तलं महत्थं महग्घं महरिहं ओरालं मणिरयणं अस्सादेंति।

''तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठ० भायणाइं भरेंति, भा० भ० २ पवहणाइं भरेंति, प० भ० २ चउत्थं पि अन्नमन्न एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वपूए भिन्नाए ओराले उदगरयणे अस्सादिए, दोच्चाए वपूए भिन्नाए ओराले सुवण्णरयणे अस्सादिए, तच्चाए वपूए

१. 'जाव' पद सूचक पाठ .... नीलं नीलोभासं हरियं हरिओभास' इत्यादि। —भगवती. अ. वृ. पत्र ६७२

भिन्नाए ओराले मणिरयणे अस्सादिए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमम्म वम्मीयस्स चउत्थं पि वपुं भिंदित्तए, अवियाइं एत्थ उत्तमं महग्घं महरिहं ओरालं वइररतणं अस्सादेस्सामो।

''तए णं तेसिं वणियाणं एगे वणिए हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए निस्सेसिए हिय-सुह-निस्सेसकामए ते वणिए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वपूए भिन्नाए ओराले उदगरयणे जाव तच्चाए वपूए भिन्नाए ओराले मणिरयणे अस्सादिए, तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे, एसा चउत्थी वपू मा भिज्जउ, चउत्थी णं वपू सउवसग्गा यावि होज्जा।

''तए णं ते वणिया तस्स वणियस्स हियकामगस्स सुहकाम० जाव हिय-सुह-निस्सेसकामगस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव परुवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति जाव नो रोयेंति, एयमट्ठं असद्दहमाणा जाव अरोयेमाणा तस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वपुं भिंदंति, ते णं तत्थ उग्गविसं चंडविसं घोरविसं महाविसं अतिकायमहाकायं-मसि-मूसाकालगं नयणविसरोसपुण्णं अंजणपुंजनिगरप्पगासं रत्तच्छं जमलजुयलचंचलचलंतजीहं धरणितलवेणिभूयं उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडविकडफाडाडोव-करणदच्छं लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं अणागलियचंडतिव्वरोसं समहिं तुरियं चवलं धमंतं दिट्ठीविसं सप्पं संघट्टेंति। तए णं से दिट्ठीविसे सप्पे तेहिं वणिएहिं संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे सणिंय सणियं उट्ठेति, उ० २ सरसरस्स वम्मीयस्स सिहरतलं द्रुहति, सर० द्रु० २ आदिच्चं णिज्झाति, आ० णि० २ ते वणिए अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वतो समंता समभिलोएति। तए णं ते वणिया तेणं दिट्ठीविसेणं सप्पेणं अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोइया समाणा खिप्पामेव संभडमत्तोवगरणमाया एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासीकया यावि होत्था। तत्थ णं जे से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए जाव हिय-सुह-निस्सेसकामए से णं आणुकंपियाए देवयाए सभंडमत्तोवगरण-मायाए नियगं नगरं साहिए।

''एवामेव आणंदा ! तव वि धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं समणेणं नायपुत्तेणं ओराले परियाए अस्सादिए, ओराला कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगा सदेवमणुयासुरे लोए पुवंति गुवंति तुवंति इति खलु समणे भगवं महावीरे, इति खलु समणे भगवं महावीरे'। तं जदि मे से अज्ज किंचि वदति तो णं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि जहा वा वालेणं ते वणिया। तुमं च णं आणंदा ! सारक्खामि संगोवामि जहा वा से वणिए तेसिं वणियाणं हितकामए जाव निस्सेसकामए आणुकंपियाए देवयाए सभंडमत्तोवगतण० जाव साहिए। तं गच्छ णं तुमं आणंदा ! तव धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स समणस्स णातपुत्तस्स एयमट्ठे परिकहेहि।''

[६५] तदनन्तर मंखलिपुत्र गोशालक ने आनन्द स्थविर से इस प्रकार कहा—

हे आनन्द ! आज से बहुत वर्षों (काल) पहले की बात है। कई उच्च एवं नीची स्थिति के धनार्थी, धनलोलुप, धन के गवेषक, अर्थाकांक्षी, अर्थपिपासु वणिक्, धन की खोज में नाना प्रकार के किराने की सुन्दर वस्तुएँ, अनके गाड़े-गाड़ियों में भर कर और पर्याप्त भोजन-पानरूप पाथेय लेकर ग्रामरहित, जल-प्रवाह से रहित, सार्थ आदि के आगमन से विहीन तथा लम्बे पथ वाली एक महाअटवी में प्रविष्ट हुए।

के कुछ भाग में, उन वणिकों के पहुँचने के बाद, अपने साथ पहले का लिया हुआ पानी (पेयजल) क्रमशः पीते-पीते समाप्त हो गया।

'जल समाप्त हो जाने से तृषा से पीडित वे वणिक् एक दूसरे को बुला कर इस प्रकार कहने लगे— 'देवानुप्रियो ! इस अग्राम्य यावत् महा-अटवी के कुछ भाग में पहुँचते ही हमारे साथ में पहले से लिया पानी क्रमशः पीते-पीते समाप्त हो गया है, इसलिए अब हमें इसी अग्राम्य यावत् अटवी में चारों ओर पानी की शोध-खोज करना श्रेयस्कर है। इस प्रकार विचार करके उन वणिकों ने परस्पर इस बात को स्वीकार किया और उसी ग्रामरहित यावत् अटवी में वे सब चारों ओर पानी की शोध-खोज करने लगे। सब ओर पानी की खोज करते हुए वे एक महान् वनखण्ड में पहुँचे, जो श्याम, श्याम-आभा से युक्त यावत् प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला यावत् सुन्दर था। उस वनखण्ड के ठीक मध्यभाग में उन्होंने एक बड़ा वल्मीक (बांबी) देखा। उस वल्मीक के सिंह के स्कन्ध के केसराल के समान ऊँचे उठे हुए चार शिखराकार-शरीर थे। वे शिखर तिर्छे फैले हुए थे। नीचे अर्द्धसर्प के समान (नीचे से विस्तीर्ण और ऊपर से संकुचित) थे। अर्द्ध सर्पाकार वल्मीक आह्लादोत्पादक यावत् सुन्दर थे।

'उस वल्मीक को देखकर वे वणिक् हर्षित और सन्तुष्ट हो कर और परस्पर एक दूसरे को बुला कर यों कहने लगे—'हे देवानुप्रियो ! इस अग्राम्य यावत् अटवी में सब ओर पानी की शोध-खोज करते हुए हमें यह महान् वनखण्ड मिला है, जो श्याम एवं श्याम-आभा के समान है, इत्यादि। इस वल्मीक के चार ऊँचे उठे हुए यावत् सुन्दर शिखर हैं। इसलिए हे देवानुप्रियो ! हमें इस वल्मीक के प्रथम शिखर को तोड़ना श्रेयस्कर है; जिससे हमें यहाँ (गर्त में) बहुत-सा उत्तम उदक मिलेगा।' तब वे सब वणिक् परस्पर एक दूसरे की बात स्वीकार करते हैं और फिर उसी वल्मीक के प्रथम शिखर को तोड़ते हैं, जिसमें से उन्हें स्वच्छ, पथ्य-कारक, उत्तम, हल्का और स्फटिक के वर्ण जैसा श्वेत बहुत-सा श्रेष्ठ जल (उदकरत्न) प्राप्त हुआ।

'इसके बाद वे वणिक् हर्षित और सन्तुष्ट हुए। उन्होंने वह पानी पिया, अपने बैलों आदि वाहनों को पिलाया और पानी के बर्तन भर लिये।

'तत्पश्चात् उन्होंने दूसरी बार भी परस्पर इस प्रकार वार्तालाप किया—हे देवानुप्रियो ! हमें इस वल्मीक के प्रथम शिखर को तोड़ने से बहुत-सा उत्तम जल प्राप्त हुआ है। अतः देवानुप्रियो ! अब हमें इस वल्मीक के द्वितीय शिखर को तोड़ना श्रेयस्कर है, जिससे हमें पर्याप्त उत्तम स्वर्ण (स्वर्णरत्न) प्राप्त हो।

'इस पर सभी वणिकों ने परस्पर इस बात को स्वीकार किया और उन्होंने उस वल्मीक के द्वितीय शिखर को भी तोड़ा। उसमें से उन्हें स्वच्छ उत्तम जाति का, ताप को सहन करने योग्य महार्घ (महामूल्यवान्), महार्ह (अत्यन्त योग्य) पर्याप्त स्वर्णरत्न मिला।

'स्वर्ण प्राप्त होने से वे वणिक हर्षित और सन्तुष्ट हुए। फिर उन्होंने अपने बर्तन भर लिए और वाहनों (बैलगाड़ियों) को भी भर लिया।

'फिर तीसरी बार भी उन्होंने परस्पर इस प्रकार परामर्श किया—देवानुप्रियो ! हमने इस वल्मीक के प्रथम शिखर को तोड़ने से प्रचुर उत्तम जल प्राप्त किया, फिर दूसरे शिखर को तोड़ने से विपुल उत्तम स्वर्ण प्राप्त किया।

शिखर को तोड़ने से प्रचुर उत्तम जल प्राप्त किया, फिर दूसरे शिखर को तोड़ने से विपुल उत्तम स्वर्ण प्राप्त किया। अत: हे देवानुप्रियो ! हमें अब इस वल्मीक के तृतीय शिखर को तोड़ना श्रेयस्कर है, जिससे कि हमें वहाँ उदार मणिरत्न प्राप्त हों।

'तदनन्तर वे सभी वणिक् एक दूसरे के साथ इस बात के लिए सहमत हो गए। फिर उन्होंने उस वल्मीक के वृतीय शिखर को भी तोड़ डाला। उसमें से उन्हें विमल, निर्मल, अत्यन्त गोल, निष्कल (दूषणरहित) महान् अर्थ वाले, महामूल्यवान्, महार्ह (अत्यन्त योग्य), उदार मणिरत्न प्राप्त हुए।

'इन्हें देख कर वे वणिक् अत्यन्त प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुए। उन्होंने मणियों से अपने बर्तन भर लिए, फिर उन्होंने अपने वाहन भी भर लिये।

'तत्पश्चात् वे वणिक चौथी बार भी परस्पर विचार-विमर्श करने लगे—हे देवानुप्रियो ! हमें इस वल्मीक के प्रथम शिखर को तोड़ने से प्रचुर उत्तम जल प्राप्त हुआ, दूसरे शिखर को तोड़ने से उदार स्वर्णरत्न प्राप्त हुआ, फिर तीसरे शिखर को तोड़ने से हमें उदार मणिरत्न प्राप्त हुए। अत: अब हमें इस वल्मीक के चौथे शिखर को भी तोड़ना श्रेयस्कर है, जिससे हे देवानुप्रियो ! हमें उसमें से उत्तम, महामूल्यवान् महार्ह (अत्यन्त योग्य) एवं उदार वज्ररत्न प्राप्त होंगे।

'यह सुनकर उन वणिकों में एक वणिक् जो उन सबका हितैषी, सुखकामी, पथ्यकामी, अनुकम्पक और नि:श्रेयसकारी तथा हित-सुख-नि:श्रेयसकामी था, उसने अपने उन साथी वणिकों से कहा—देवानुप्रियो ! हमें इस वल्मीक के प्रथम शिखर को तोड़ने से स्वच्छ यावत् उदार जल मिला यावत् तीसरे शिखर को तोड़ने से उदार मणिरत्न प्राप्त हुए। अत: अब बस कीजिए। अपने लिए इतना ही पर्याप्त है। अब यह चौथा शिखर मत तोड़ो। कदाचित् चौथा शिखर तोड़ना हमारे लिए उपद्रवकारी (उपसर्गयुक्त) हो सकता है।

'उस समय हितैषी, सुखकामी यावत् हित-सुख-नि:श्रेयसकामी उस वणिक् के इस कथन यावत् प्ररूपण पर उन वणिकों ने श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की। उक्त हितैषी वणिक् की हितकर बात पर श्रद्धा यावत् रुचि न करके उन्होंने उस वल्मीक के चतुर्थ शिखर को भी तोड़ डाला। शिखर टूटते ही वहाँ उन्हें एक दृष्टिविष सर्प का स्पर्श हुआ, जो उग्रविषवाला, प्रचण्ड विषधर, घोरविषयुक्त, महाविष से युक्त, अतिकाय (स्थूल शरीर वाला), महाकाय, मसि (स्याही) और मूषा के समान काला, दृष्टि के विष से रोषपूर्ण, अंजन-पुंज (काजल के ढेर) के समान कान्ति वाला, लाल-लाल आँखों वाला, चपल एवं चलती हुई दो जिह्वा वाला, पृथ्वीतल की वेणी के समान, उत्कट-स्पष्ट कुटिल जटिल कर्कश विकट फटाटोप करने में दक्ष, लोहार की धौंकनी (धम्मण) के समान धमधमायमान (सूं-सूं) शब्द करने वाला, अप्रत्याशित (अनाकलित) प्रचण्ड एवं तीव्र रोष वाला, कुक्कुर के मुख से भसने के समान, त्वरित चपल एवं धम-धम शब्द वाला था। तत्पश्चात् उस दृष्टिविष सर्प का उन वणिकों से स्पर्श होते ही वह अत्यन्त कुपित हुआ। यावत् मिसमिसाहट शब्द करता हुआ शनै:शनै: उठा और सरसराहट करता हुआ वल्मीक के शिखर-तल पर चढ़ गया। फिर उसने सूर्य की ओर टकटकी लगा कर देखा।

सर्प द्वारा वे वणिक् सब ओर अनिमेष दृष्टि से देखे जाने पर किराने के समान आदि माल एवं बर्तनों व उपकरणों सहित एक ही प्रहार से कूटाघात (पाषाणमय महायन्त्र के आघात) के समान तत्काल जला कर राख का ढेर कर दिए गए। उन वणिकों में जो वणिक् उन वणिकों का हितकामी यावत् हित-सुख-निःश्रेयसकामी था, उस पर नागदेवता ने अनुकम्पायुक्त होकर भण्डोपकरण सहित उसे अपने नगर में पहुँचा दिया।

'इसी प्रकार, हे आनन्द ! तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र ने उदार (प्रधान) पर्याय, प्राप्त की है। देवों, मनुष्यों और असुरों सहित इस लोक में 'श्रमण भगवान् महावीर', श्रमण भगवान् महावीर', इस रूप में उनकी उदार कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (श्लाघा, या धन्यवाद) फैल रहे हैं, गुंजायमान हो रहे हैं, स्तुति के विषय बन रहे हैं। (सर्वत्र उनकी प्रंशसा या स्तुति हो रही है)। इससे अधिक की लालसा करके यदि वे आज से मुझे (या मेरे विषय में) कुछ भी कहेंगे तो जिस प्रकार उस सर्पराज ने एक ही प्रहार से उन वणिकों को कूटाघात के समान जलाकर भस्मराशि कर डाला, उसी प्रकार मैं भी अपने तप और तेज से एक ही प्रहार से उन्हें भस्मराशि (राख का ढेर) कर डालूंगा। जिस प्रकार उन वणिकों के हितकामी यावत् निःश्रेयसकामी वणिक् पर उस नागदेवता ने अनुकम्पा की और उसे भण्डोपकरण सहित अपने नगर में पहुँचा दिया था, उसी प्रकार हे आनन्द ! मैं भी तुम्हारा संरक्षण और संगोपन करूंगा। इसलिए, हे आनन्द ! तुम जाओ और अपने धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र को यह बात कह दो।'

विवेचन—गोशालक की धमकी—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ६२ से ६५) में भगवान् महावीर को धमकी देने के लिए उनके शिष्य आनन्द स्थविर को गोशालक द्वारा कहे गए एक उपमा-दृष्टान्त का निरूपण है।

दृष्टान्तसार—अर्थलुब्ध कुछ वणिक् धन की खोज में अपनी गाड़ियों में बहुत-सा माल भर कर निकले। उन्होंने साथ में भोजन-पानी भी ले लिया था। किन्तु ज्यों ही वे एक भयंकर अटवी में कुछ दूर तक गये कि साथ लिया हुआ पानी समाप्त हो गया। वे सब पानी की खोज में चले। उन्हें कुछ दूर जाने पर एक बांबी मिली। उसके ऊँचे उठे हुए चार शिखर थे। सब वणिकों ने उसके प्रथम शिखर को तोड़ने का निश्चय किया। तोड़ा तो उसमें से स्वच्छ जल निकला। सबने प्यास बुझाई। साथ में पानी भर लिया। फिर दूसरे शिखर को तोड़ने का निश्चय करके उसे तोड़ा तो उसमें से शुद्ध सोना निकला। सबने उसे बर्तनों और गाड़ियों में भर लिया। फिर उन्होंने तीसरे शिखर को तोड़ने का निश्चय करके उसे भी तोड़ा तो उत्तम मणिरत्न निकले। सब बर्तनों और गाड़ियों में भर लिये। अब उन्होंने लोभवश चौथे शिखर को भी तोड़ने का निश्चय किया। किन्तु उनमें से एक हितैषी ने उन सबको तोड़ने से रोका, कहा—इसे तोड़ने से उपद्रव होगा, किन्तु उसकी बात न मानकर उन्होंने चौथे शिखर को तोड़ा तो उसमें एक भयंकर दृष्टिविष सर्प निकला। उसने उन सबको माल-सामान सहित भस्म कर डाला, किन्तु उस हितैषी वणिक् पर अनुकम्पा करके उसे माल-सहित अपने नगर पहुँचा दिया। गोशालक ने इस दृष्टान्त को भगवान् महावीर पर इस प्रकार घटित किया कि ज्ञातपुत्र श्रमण ने अब तक बहुत यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि अर्जित कर ली है। अब लोभवश यदि वह अधिक प्रसिद्धि

आदि प्राप्त करने के लिए मेरे विषय में कुछ भी बोलेंगे तो मैं भी उस सर्प की तरह उन्हें भस्म कर दूंगा। केवल तुम्हारी सुरक्षा करूंगा। यह बात तुम अपने धर्माचार्य ज्ञातपुत्र श्रमण से कह दो।[१]

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—महं ओवमियं : दो अर्थ—(१) मेरे से सम्बन्धित उपमा—दृष्टान्त, या (२) महान्—विशिष्ट उपमा—दृष्टान्त। **चिरातीताए**—अद्धाए बहुत प्राचीन काल में। **उच्चावया**—उत्तम (विशिष्ट) और अनुत्तम (साधारण)। **अत्थकंखिया**—प्राप्त अर्थ में निरन्तर इच्छा—आकांक्षा वाले। **अत्थपिवासिया**—अप्राप्त अर्थविषयक तृष्णा वाले। **पणिय भंडे**—पणित अर्थात्-व्यापार के लिए भाण्ड—माल, किराना। **भत्त-पाण-पत्थयणं**—भक्त—भोजन, पान—पानी रूप पाथेय (मार्ग के लिए भाता)। **अगामियं: दो रूप (१) अग्रामिक**—ग्रामरहित, अथवा **(२) अकामिकं**—अनिष्ट। **अणोहियं**—अगाध जल-प्रवाह (ओघ) से रहित। **छिन्नावायं**—आवागमन से रहित। **दीहमद्धं**—दीर्घ—लम्बे मार्ग या काल वाली। **वप्पुओ**—शरीर अर्थात् शिखर। **अभिनिसढाओ**—केसरीसिंह के स्कन्ध की सटा (केसराल) के समान जिसके चारों ओर ऊँची-ऊँची सटाएँ (केसराल) निकली हैं। **सुसंपगहियाओ**—सुसंवृत—अतिविस्तीर्ण नहीं। **पणगद्धरूवाओ**—अर्द्धसर्परूप, अर्थात्—उदर कटे हुए सर्प को पूँछ से ऊँचा किया हुआ सर्प अर्द्ध सर्प होता है, जिसका अधोभाग विस्तीर्ण और ऊपर का भाग पतला होता है। **तणुयं**—हल्का। **ओरालं**—प्रधान। **जच्चं**—जात्य—उत्तम जाति का। **उदगरयणं**—उदकरत्न-जल की जाति में उत्कृष्ट।[२] **पज्जेंति**—पिलाया। **तावणिज्जं**—तापनीय—ताप सहने योग्य। **महरिहं**—महान् व्यक्तियों के योग्य। **नित्तलं**—निस्तल—अत्यन्त गोल। **निस्सेयसिए**—निःश्रेयस—कल्याण का इच्छुक। **समुहियतुरियचबलं धमंतं**—कुत्ते के मुख की तरह आवाज करने में अति त्वरित और चपल शब्द करने वाला। **एगाहच्चं**—एक ही आहत—प्रहार या झटके में मार देने वाला। **कूडाहच्चं**—कूट—पाषाणमय यंत्र के आघात के समान। **पुव्वंति**—उछल रही-चल रही हैं। **गुवंति**—गाये जाते हैं। **थुवंति**—स्तुति की जाती हैं। **तेवेणं तेएणं**—तपोजन्य तेज से अथवा तप से प्राप्त तेज-तेजोलेश्या से। **वालेण**—व्याल-सर्प ने। **सारक्खामि**—जलने से बचाऊंगा। **संगोवयामि**-क्षेम—सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर रक्षा करूंगा।[३]

गोशालक के साथ हुए वार्तालाप का निवेदन, गोशालक के तप-तेज के सामर्थ्य का प्ररूपण, श्रमणों को उसके साथ प्रतिवाद न करने का भगवत्सन्देश

६६. तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे भीए जाव संजायभये

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७०५ से ७०९

२. **वल्मीक में जल की संभावना**—इस प्रकार के भूमि के गर्त में पानी होता है, अतः वल्मीक में अवश्य ही गर्त (गड्ढे) होने चाहिए। शिखर को तोड़ने से गर्त प्रकट हो जाएगा, और वहाँ जल अवश्य होगा, ऐसी संभावना की गई है।
— भगवती. अ., वृत्ति, पत्र ६७२

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ६७१ से ६७३ तक
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४०३ से २४१२ तक

गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतियाओ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणाओ पडिनिक्खमति, प० २ सिग्घं तुरियं ५ सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, नि० २ जेणेव कोट्ठए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, जवा० २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, क० २ वंदति नमंसति, वं० २ एवं वयासी—"एवं खलु अहं भंते ! छट्ठक्खमणपारणगंसि तुब्भेहि अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए नगरीए उच्च-नीय जाव अडमाणे हालाहलाए कुंभकारीए जाव वीयीवयामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं हालाहलाए जाव पासित्ता एवं वदासि—एवं ताव आणंदा ! इओ एगं महं ओवमियं निसामेही। तए णं अहं गोसालेण मंखलिपुत्तेण एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी—'एवं खलु आणंदा ! इतो चिरातीआए अद्धाए केयि उच्चावया वणिया०, एवं तं चेव जाव सव्वं निरवसेसं भाणियव्वं जाव नियगनगरं साहिए। तं गच्छ णं तुमं आणंदा ! तव धम्मायरियस्स धम्मोव० जाव परिकहेहि'।

तं पभू णं भंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेत्तए ? विसए णं भंते ! गोसालस्स मंखलिपुत्ते जाव करेत्तए ? समत्थे णं भंते ! गोसाले जाव करेत्तए ?"

"पभू णं आणंदा ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं जाव करेत्तए, विसए णं आणंदा ! गोसालस्स जाव करेत्तए, समत्थे णं आणंदा ! गोसाले जाव करेत्तए। नो चेव णं अरहंते भगवंते, पारितावणियं पुण करेज्जा। जावतिए णं आणंदा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठयराए चेव तवतेए अणगाराणं भगवंताणं, खंतिखमा पुण अणगारा भगवंतो। जावइए णं आंणदा ! अणगाराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठयराए चेव तवतेए थेराणं भगवंताणं, खंतिखमा पुण थेरा भगवंतो। जावतिए णं आणंदा ! थेराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठयराए चेव तवतेए अरहंताणं भगवंताणं, खंतिखमा पुण अरहंता भगवंतो ! तं पभू णं आणंदा ! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेयेणं जाव करेत्तए, विसए णं आणंदा ! जाव करेत्तए, समत्थे णं आणंदा ! जाव करेत्तए, नो चेव णं अरहंते भगवंते, पारियावणियं पुण करेज्जा।

तं गच्छ णं तुमं आणंदा ! गोयमाईणं समणाणं निग्गंथाणं एयमट्ठं परिकहेहि—मा णं अज्जो ! तुब्भं केयि गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएतु, धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेउ, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेउ। गोसाले णं मंखलिपुत्ते समणेहिं निग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने।"

[६६] उस समय मंखलिपुत्र गोशालक के द्वारा आनन्द स्थविर को इस प्रकार (व्यापारियों की दुर्दशा के दृष्टान्तपूर्वक) कहे जाने पर आनन्द स्थविर भयभीत हो गए, यावत् उनके मन में डर बैठ गया। वह मंखलीपुत्र गोशालक के पास से हालाहला कुम्भकारी की दूकान से निकले और शीघ्र एवं त्वरितगति से श्रावस्ती नगरी के मध्य में से होकर जहाँ कोष्ठक उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए। तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, फिर वन्दन-नमस्कार करके यों बोले—भगवन् ! मैं आज छठ-खमण

(बेले के तप) के पारणे के लिए आपकी आज्ञा प्राप्त कर श्रावस्ती नगरी में ऊँच, नीच और मध्यम कुलों में यावत् भिक्षाटन करते हुए जब मैं हालाहला कुम्भारिन की दूकान के पास से होकर जा रहा था, तब मंखलिपुत्र गोशालक ने मुझे देखा और बुला कर कहा—'हे आनन्द ! यहाँ आओ और मेरे एक दृष्टान्त को सुन लो।' मंखलिपुत्र गोशालक के द्वारा यह कहने पर जब मैं हालाहला कुम्भारिन की दूकान में मंखलीपुत्र गोशालक के पास पहुँचा, तब उसने मुझे इस प्रकार कहा—' हे आनन्द ! आज से बहुत काल पहले कई उन्नत और अवनत वणिक् इत्यादि समग्र वर्णन पूर्ववत् यावत्—अपने नगर पहुँचा दिया।' अत: हे आनन्द ! तुम जाओ और अपने धर्मोपदेशक को यावत् कह देना।

(आनन्द स्थविर—) [प्र.] 'भगवन् ! क्या मंखलिपुत्र गोशालक अपने तप-तेज से एक ही प्रहार में कूटाघात के समान जला कर भस्मराशि (राख का ढेर) करने में समर्थ है ? भगवन् ! मंखलिपुत्र गोशालक का यह यावत् विषयमात्र है अथवा वह ऐसा करने में समर्थ भी है ?'

(भगवान्—) [उ.] 'हे आनन्द ! मंखलीपुत्र गोशालक अपने तप-तेज से यावत् भस्म करने में समर्थ है। हे आनन्द ! मंखलिपुत्र गोशालक का यह विषय है। हे आनन्द ! गोशालक ऐसा करने में भी समर्थ है; परन्तु अरिहन्त भगवन्तों को (जला कर भस्म करने में समर्थ) नहीं है। तथापि वह उन्हें परिताप उत्पन्न करने में समर्थ है। हे आनन्द ! मंखलिपुत्र गोशालक का जितना तप-तेज है, उससे अनन्त-गुण विशिष्टतर तप-तेज अनगार भगवन्तों का है, (क्योंकि) अनगार भगवन्त क्षान्तिक्षम (क्षमा करने में समर्थ) होते हैं। हे आनन्द ! अनगार भगवन्तों का जितना तप-तेज है, उससे अनन्तगुण विशिष्टतर तप-तेज स्थविर भगवन्तों का है, क्योंकि स्थविर भगवन्त क्षान्तिक्षम होते हैं और हे आनन्द ! स्थविर भगवन्तों का जितना तप-तेज होता है, उससे अनन्त-गुण विशिष्टतर तप-तेज अर्हन्त भगवन्तों का होता है, क्योंकि अर्हन्त भगवन्त क्षान्तिक्षम होते हैं। अत: हे आनन्द ! मंखलिपुत्र गोशालक अपने तप-तेज द्वारा यावत् भस्म करने में प्रभु (समर्थ) है। हे आनन्द ! यह उसका (कर्तृत्व) विषय (शक्ति) है और हे आनन्द ! वह वैसा करने में भी समर्थ भी है; परन्तु अर्हन्त भगवन्तों को भस्म करने में समर्थ नहीं, केवल परिताप उत्पन्न कर सकता है।'

(भगवन्—) 'इसलिए हे आनन्द ! तू जा और गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थों को यह बात (मेरा यह सन्देश) कह कि—हे आर्यो ! मंखलिपुत्र गोशालक के साथ (तुम में से) कोई भी (श्रमण) धार्मिक (उसके धर्ममत के प्रतिकूल धर्मसम्बन्धी) प्रतिप्रेरणा (चर्चा) न करे, धर्मसम्बन्धी प्रतिसारणा (उसके मत के विरुद्ध अर्थ रूप स्मरण) न करावे तथा धर्मसम्बन्धी प्रत्युपचार (तिरस्कार) पूर्वक कोई प्रत्युपचार (तिरस्कार) न करे। क्योंकि (अब) मंखलिपुत्र गोशालक ने श्रमण-निर्ग्रन्थों के प्रति विशेष रूप से मिथ्यात्व भाव (म्लेच्छ या अनार्यत्व) धारण कर लिया है।'

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (६६) के पूर्वार्द्ध में गोशालक के साथ हुए आनन्द स्थविर के वार्तालाप तथा गोशालक के द्वारा भगवान् को दी गई धमकी का आनन्द द्वारा किया गया निवेदन प्रस्तुत किया गया है। उत्तरार्द्ध में आनन्द द्वारा गोशालक की भस्म करने की शक्ति के सम्बन्ध में उठाया गया प्रश्न तथा भगवान् द्वारा

आनन्द स्थविर का भीतिनिवारण रूप मनःसमाधान तथा उसके साथ-साथ भगवान् द्वारा समस्त श्रमण-निर्ग्रन्थों को गोशालक को न छेड़ने को चेतावनी भी प्रस्तुत की गई है।

गोशालक के तप-तेज की शक्ति—आनन्द स्थविर ने गोशालक द्वारा अपने तप-तेज से दूसरों को भस्म करने के सामर्थ्य (प्रभुत्व) के विषय में प्रश्न किया है। इसी प्रश्न में दो प्रश्न गर्भित हैं, क्योंकि प्रभुत्व (सामर्थ्य) दो प्रकार का होता है—(१) विषयमात्र की अपेक्षा से और (२) सम्प्राप्ति रूप (कार्यरूप में परिणत कर देने) की अपेक्षा से। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है—योग्यता से अथवा कर्तृत्वक्षमता से। अर्थात्—गोशालक केवल विषयमात्र से दूसरों को भस्म करने में समर्थ है अथवा कार्यरूप में परिणत करने में भी समर्थ है? भगवान् ने उपसंहार करते हुए उत्तर दिया है कि गोशालक विषयमात्र से भस्म करने में समर्थ है और करणतः भी समर्थ है। साथ ही उन्होंने क्षमाशील अनगार भगवन्तों, स्थविर भगवन्तों और अरिहन्त भगवन्तों के तप-तेज का सामर्थ्य उत्तरोत्तर अनन्त-गुणविशिष्टतर बताया है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह इन्हें पीडित कर सकता है।[१]

भगवान् द्वारा श्रमणों को दी गई चेतावनी का आशय—'**वादी भद्रं न पश्यति**', इस न्याय से तथा '**माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ**' इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमणों के प्रति मिथ्याभाव (अनार्यपन) धारण किए हुए गोशालक को किसी भी रूप में न छेड़ने की भगवान् की चेतावनी थी। इसके पीछे एक आशय यह भी सम्भव है कि यद्यपि भगवान् ने गोशालक के तप-तेज के सामर्थ्य की अपेक्षा अनगार एवं स्थविर के तप-तेज का सामर्थ्य अनन्त-गुण-विशिष्ट बताया है, बशर्ते कि वे क्षान्तिक्षम (क्षमासमर्थ अथवा कष्टसहिष्णुतासमर्थ) हों। हो सकता है छद्मस्थ होने के कारण अनगारों या स्थविरों में गोशालक के साथ विवाद करते समय या उसके मत का खण्डन करते समय उसके प्रति क्षमाशीलता, अकषायवृत्ति या अद्वेषवृत्ति न रहे और ऐसी स्थिति में गोशालक का दाव अनगारों या स्थविरों के प्रति लग जाए। इसलिए भगवान् की समस्त साधुओं को गोशालक के प्रति तटस्थ या मध्यस्थ रहने की यह चेतावनी थी।[२]

कठिन शब्दार्थ—**पारितावणियं**—परितापना या पारितापनिकी क्रिया। **खंतिक्खमा**—क्षान्ति-क्रोधनिग्रह करने में क्षम—समर्थ। **थेराणं**—वय, श्रुत, और पर्याय (दीक्षापर्याय) से स्थविरों का। **धम्मियाए पडिचोयणाए**—धर्मसम्बन्धी (गोशालक के मत सम्बन्धी) प्रतिवेदना, उसके मत के प्रतिकूल कर्तव्य-प्रोत्साहन रूप से प्रेरणा। **धम्मियाए पडिसरणाए**—(गोशालक के) धर्म मत के प्रतिकूल रूप से विस्मृत अर्थ (बात) की स्मारणा द्वारा। **धम्मिएण पडोयारेण**—धार्मिक (धर्म सम्बन्धी) प्रत्युपचार (तिरस्कार) से अथवा प्रत्युपकार (भ. महावीर द्वारा कृत उपकार का बदला) से। **मिच्छं विप्पडिवन्ने**—मिथ्यात्व-(म्लेच्छत्व या अनार्यत्व)। विशेष तप से स्वीकार (अंगीकार) कर लिया है।[३]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६७५ (ख) भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भाग, ११ ५९७

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ. ७०९-७१०

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६७५

गोशालक के साथ धर्मचर्चा न करने का आनन्दस्थविर द्वारा भगवदादेशनिरूपण

६७. तए णं से आणंदे थेरे समणेणं भगवता महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ जेणेव गोयमादी समणा निग्गंथा तेणेव उवागच्छति, ते० उवागच्छित्ता गोतमादी समणे निग्गंथे आमंतेति, आ० २ एवं वयासि—एवं खलु अज्जो ! छट्ठक्खमणपारणगंसि समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए नगरीए उच्च-नीय०, तं चेव सव्वं जाव नायपुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि०, तं चेव जाव मा णं अज्जो ! तुब्भं केयि गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएउ जाव मिच्छं विप्पडिवन्ने।

[६७] तत्पश्चात् वह आनन्द स्थविर श्रमण भगवान् महावीर से यह सन्देश सुन कर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके जहाँ गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थ थे, वहाँ आए। फिर गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों को बुला कर उन्हें इस प्रकार कहा—'हे आर्यो! आज मैं छठक्षमण के पारणे के लिए श्रमण भगवान् महावीर से अनुज्ञा प्राप्त करके श्रावस्ती नगरी में उच्च-नीच मध्यम कुलों में इत्यादि समग्र वर्णन पूर्ववंत् यावत् (गोशालक का कथन) ज्ञातपुत्र को (जाकर मेरी) यह बात कहना (यहाँ तक कथन करना चाहिए।) यावत् (भगवत्कथन) हे आर्यो ! तुम में से कोई भी गोशालक के साथ उसके धर्म, मत सम्बन्धी प्रतिकूल (कर्त्तव्य-) प्रेरणा मत करना, यावत् (गोशालक ने श्रमण-निर्ग्रन्थों के प्रति) मिथ्यात्व (अनार्यत्व) को विशेष रूप से अंगीकार कर लिया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् द्वारा आनन्द स्थविर के माध्यम से गोशालक के सम्बन्ध में श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए दी गई चेतावनी का वर्णन है।

भगवान् के समक्ष गोशालक द्वारा अपनी ऊटपटांग मान्यता का निरूपण

६८. जावं च णं आणंदे थेरे गोयमाईणं समणाणं निग्गंथाण एयमट्ठं परिकहेति तावं च णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ आजीविय-संघसंपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे सिग्घं तुरियं जाव सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, नि० २ जेणेव कोट्ठए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वदासी—

"सुट्ठु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वदासी, साहु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वदासी—'गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी'। जे णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तव धम्मंतेवासी से णं सुक्के सुक्काभिजाइए भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने। अहं णं उदाई नामं कुंडियायणिए। अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि, अज्जु० विप्प० २ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि, गो० अणु० २ इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

" जे वि याइं आउसो ! कासवा ! अम्हं समयंति केयि सिज्झिंसु वा सिज्झंति वा सिज्झिस्संति वा सव्वे ते चउरासीतिं महाकप्पसयसहस्साइं सत्त दिव्वे सत्त संजहे सत्त सन्निगब्भे सत्त पउट्टपरिहारे पंच कम्मुणि सयसहस्साइं सट्ठिं च सहस्साइं छच्च वए तिण्णि य कम्मंसे अणुपुव्वेणं खवइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वाइंति सव्वदुक्खाणमंत करेंसु वा, करेति वा, करिस्संति वा।

"से जहा वा गंगा महानदी जतो पवूढा, जहिं वा पज्जुवत्थिता, एस णं अद्धा पंच जोयण-सताइं आयामेणं, अद्धजोयणं विक्खंभेणं, पंच धणुसयाइं आवेहेणं, एएणं गंगापमाणेणं सत्ता गंगाओ सा एगा महागंगा, सत्त महागंगाओ सा एगा साईणगंगा, सत्त सादीणगंगाओ सा एगा मडुगंगा, सत्त मडुगंगाओ सा एगा लोहियगंगा, सत्त लोहियगंगाओ सा एगा आवतीगंगा, सत्त आवतीगंगाओ सा एगा परमावती, एवामेव सपुव्वावरेणं एगं गंगासयसहस्सं सत्तरस य सहस्सा छच्च अगुणपन्नं गंगासता भवंतीति मक्खाया। तासिं दुविहे उद्धारे पन्नत्ते, तं जहा—सुहुमबोंदिकलेवरे चेव, बादरबोंदिकलेवरे चेव। तत्थ णं जे से सुहुमबोंदिकलेवरे से ठप्पे। तत्थ णं जे से बादरबोंदिकलेवरे ततो णं वाससते गते वाससते गते एगमेगं गंगावालुयं अवहाय जावतिएणं कालेणं से कोट्ठे खीणे णीरए निल्लेवे निट्ठिए भवति से त्तं सरे सरप्पमाणे। एएणं सरप्पमाणेणं तिण्णि सरसयसाहस्सीओ से एगे महाकप्पे। चउरासीतिं महाकप्पसयसयसहस्साइं से एगे महामाणसे। अणंतातो संजहातो जीवे चयं चयित्ता उवरिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चयित्ता पढमे सन्निगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसे संजहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं जाव विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आयु० जाव चइत्ता दोच्चे सन्निगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं ततोहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हेट्ठिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं जाव चइत्ता तच्चे सन्निगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो जाव उव्वट्टित्ता उवरिल्ले माणुसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता चतुत्थे सन्निगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले मणुसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता पंचमे सण्णिगब्भे जीव पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उववट्टित्ता हेट्ठिल्ले माणुसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता छट्ठे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उववट्टित्ता बंभलोगे नामं से कप्पे पन्नत्ते पाईणपडीणायते उदीणदाहिणवित्थिण्णे जहा ठाणपदे जाव[1] पंच वडेंसया पन्नत्ता, तं जहा—असोगवडेंसए जाव[2]

---

१. देखिय पण्णवणासुत्तं भा. १, सू. २०१, पृ. ७३ (महावीर जैन विद्यालय प्रकाशन)

२. 'जाव' पद सूचक पाठ—'सत्तिवण्णवडेंसए चंपगवडेंसए चूयवडेंसए मज्झे य बंभलोयवडेंसए इत्यादि।'

— भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६७७

पडिरूवा। से णं तत्थ देवे उववज्जति। से णं तत्थ दस सागरोवमाइं दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता सत्तमे सन्निगब्भे जीवे पच्चायाति।

से णं तत्थ नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण जाव वीतिक्कंताणं सुकुमालगभद्दलए मिदुकुंडलकुंचियकेसए मट्ठगंडयलकण्णपीढए देवकुमारसप्पभए दारए पयाति से णं अहं कासवा !।

''तए णं अहं आउसो ! कासवा ! कोमारियपव्वज्जाए कोमारएणं बंभचेरवासेणं अविद्धकन्नए चेव संखाणं पडिलभामि, संखाणं पडिलभित्ता इमे सत्ता पउट्टपरिहारे परिहरामि, तंजहा—एणेज्जगस्स १ मल्लरामगस्स २ मंडियस्स ३ रोहस्स ४ भारद्दाइस्स ५ अज्जुणगस्स गोतमपुत्तस्स ६ गोसालस्स मंखलीपुत्तस्स ७।

''तत्थ णं जे से पढमे पउट्टपरिहारे से णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया मंडियकुच्छिंसि चेतियंसि उदायिस्स कुंडियायणियस्स सरीरगं विप्पजहामि, उदा० सरीररगं विप्पजहित्ता एणेज्जगस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। एणेज्जगस्स सरीरगं अणुप्पविसित्ता बावीसं वासइं पढमं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''तत्थ णं जे से दोच्चे पउट्टपरिहारे से णं उद्दंडपुरस्स नगरस्स बहिया चंदोयरणंसि चेतियंसि एणेज्जगस्स सरीरगं विप्पजहामि, एणेज्जगस्स सरीरगं विप्पजहित्ता मल्लरामगस्स सरीरगं अणुप्पविसामि, मल्लरामगस्स सरीरगं अणुप्पविसित्ता एक्कवीसं वासाइं दोच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''तत्थ णं जे से तच्चे पउट्टपरिहारे से णं चंपाए नगरीए बहिया अंगमंदिरंसि चेतियंसि मल्लरामगस्स सरीरगं विप्पजहामि, मल्लरामगस्स सरीरगं विप्पजहित्ता मंडियस्स सरीरगं अणुप्पविसामि, मंडियस्स सरीरगं अणुप्पविसित्ता वीसं वासाइं तच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''तत्थ णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे से णं वाणारसीए नगरीए बहिया काममहावणंसि चेतियंसि मंडियस्स सरीरगं विप्पजहामि, मंडियस्स सरीरगं विप्पजहित्ता राहस्स सरीरगं अणुप्पविसामि, राहस्स सरीरगं अणुप्पविसित्ता एक्कूणवीसं वासाइं चउत्थं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''तत्थ णं जे से पंचमे पउट्टपरिहारे से णं आलभियाए नगरीए वहिया पत्तकालगंसि चेतियंसि राहस्स सरीरगं विप्पजहामि, राहस्स सरीरगं विप्पजहित्ता भारद्दाइस्स सरीरगं अणुप्पविसामि, भारद्दाइस्स सरीरगं अणुप्पविसित्ता अट्ठारस वासाइं पंचमं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''तत्थ णं जे से छट्ठे पउट्टपरिहारे से णं वेसालीए नगरीए बहिया कुंडियायणियंसि चेतियंसि भारद्दाइस्स सरीरगं विप्पजहामि, भारद्दाइस्स सरीरगं विप्पजहित्ता अज्जुणगस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि, अज्जुणगस्स० सरीरगं अणुप्पविसित्ता सत्तरस वासाइं छट्ठं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''तत्थ णं जे से सत्तमे पउट्टपरिहारे से णं इहेव सावत्थीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अज्जुणगस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि, अज्जुणयस्स० सरीरगं विप्पजहित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं सीयसहं उण्हसहं खुहासहं विविहदंस-

मसगपरीसहोवसग्गसहं थिरसंघयणं ति कट्टु तं अणुप्पविसामि, तं अणुप्पविसित्ता सोलस वासाइं इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि।

''एवामेव आउसो ! कासवा ! एएणं तेत्तीसेणं वाससएणं सत्त पउट्टपरिहारा परिहरिया भवंतीति मक्खाया। तं सुट्ठु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वदासि, साधु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वदासी 'गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासि' त्ति।''

[६८] जब आनन्द स्थविर, गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों को भगवान् का आदेश कह रहे थे, तभी मंखलिपुत्र गोशालक आजीविकसंघ से परिवृत (युक्त) होकर हालाहला कुम्भकारी की दूकान से निकल कर अत्यन्त रोष धारण किये हुए शीघ्र एवं त्वरित गति से श्रावस्ती नगरी के मध्य में से होकर कोष्ठक उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास आया। फिर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से न अतिदूर और न अतिनिकट खड़ा रह कर उन्हें इस प्रकार कहने लगा—

आयुष्मन् काश्यप ! तुम मेरे विषय में अच्छा कहते हो ! हे आयुष्मन् ! तुम मेरे प्रति ठीक कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्मान्तेवासी है, गोशालक मंखलिपुत्र मेरा धर्म-शिष्य है। (परन्तु आपको ज्ञात होना चाहिए कि) जो मंखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा धर्मान्तेवासी था, वह तो शुक्ल (पवित्र) और शुक्लाभिजात (पवित्र परिणाम वाला) हो कर काल के समय काल करके किसी देवलोक के देवरूप में उत्पन्न हो चुका है। मैं तो कौण्डिन्यायन-गोत्रीय उदायी हूँ। मैने गौतम पुत्र अर्जुन के शरीर का त्याग किया, फिर मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रवेश करके मैंने यह सातवाँ परिवृत्त-परिहार किया है।

हे आयुष्मन् काश्यप ! हमारे सिद्धान्त के अनुसार जो भी सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं, अथवा सिद्ध होंगे, वे सब (पहले) चौरासी लाख महाकल्प, (कालविशेष), सात दिव्य (देवभव), सात संयूथनिकाय, सात संज्ञीगर्भ (मनुष्य-गर्भावास) सात परिवृत्त-परिहार (उसी शरीर में पुन:पुन: प्रवेश-उत्पत्ति) और पांच लाख, साठ हजार छह-सौ तीन कर्मों के भेदों को अनुक्रम से क्षय करके तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं और समस्त दु:खों का अन्त करते हैं। भूतकाल में ऐसा किया है, वर्त्तमान में करते हैं और भविष्य में ऐसा करेंगे।

जिस प्रकार गंगा महानदी जहाँ से निकलती है, और जहाँ (जा कर) समाप्त होती है; उसका वह मार्ग (अद्धा) लम्बाई में ५०० योजन है और चौड़ाई में आधा योजन है तथा गहराई में पाँच-सौ धनुष है। उस गंगा के प्रमाण वाली सात गंगाएँ मिल कर एक महागंगा होती है। सात महागंगाएँ मिलकर एक सादीनगंगा होती है। सात सादीनगंगाएँ मिल कर एक मृतगंगा होती है। सात मृतगंगाए मिलकर एक लोहितगंगा होती है। सात लोहितगंगाएँ मिल कर एक अवन्तीगंगा होती है। सात अवन्तीगंगाएँ मिल कर एक परमावतीगंगा होती है। इस प्रकार पूर्वापर मिल कर कुल एक लाख, सत्रह हजार, छह सौ उनचास गंगा नदियाँ होती हैं, ऐसा कहा गया है।

उन (गंगानदियों के बालुकाकण) का दो प्रकार का उद्धार कहा गया है। यथा—(१) सूक्ष्म-बोन्दि-कलेवररूप और (२) बादर-बोन्दि-कलेवररूप। उनमें से जो सूक्ष्मबोंदि-कलेवररूप उद्धार है, वह स्थाप्य है

(निरुपयोगी है, अतएव उसका विचार करने की आवश्यकता नहीं है)। उनमें से जो बादर-बोंदिकलेवररूप उद्धार है, उसमें से सौ-सौ वर्षों में गंगा की बालू का एक-एक-कण निकाला जाए और जितने काल में वह गंगा-समूहरूप कोठा समाप्त हो जाए, रजरहित निर्लेप और निष्ठित (समाप्त) हो जाए, तब एक 'शरप्रमाण' काल कहलाता है। इस प्रकार के तीन लाख शरप्रमाण काल द्वारा एक महाकल्प होता है। चौरासी लाख महाकल्पों का एक महामानस होता है। अनन्त संयूथ (अनन्त जीवों के समुदाय रूप निकाय) से जीव च्यव कर संयूथ-देवभव में उपरितन मानस (शरप्रमाण आयुष्य) द्वारा उत्पन्न होता है। वह वहाँ (देवभव में) दिव्यभोगों का उपभोग करता रहता है। इस प्रकार दिव्यभोगों का उपभोग करते-करते उस देवलोक का आयुष्य-क्षय, देवभव का क्षय और देवस्थिति का क्षय होने पर तुरन्त (बिना अन्तर के) च्यवकर प्रथम संज्ञीगर्भजीव (गर्भज-पंचेन्द्रिय मनुष्य) में उत्पन्न होता है। फिर वह वहाँ से अन्तररहित (तुरन्त) मर कर मध्यम मानस (शरप्रमाण आयुष्य) द्वारा संयूथ (देवनिकाय) में उत्पन्न होता है। वह वहाँ दिव्य भोगों का उपभोग करता है। वहाँ से देवलोक का आयुष्य, भव और स्थिति का क्षय होने पर दूसरी बार फिर संज्ञीगर्भ (गर्भज मनुष्य) में जन्म लेता है। इसके पश्चात् वहाँ से तुरन्त मरकर अधस्तन मानस (शरप्रमाण) आयुष्य द्वारा संथूय (देवनिकाय) में उत्पन्न होता है। वह वहाँ दिव्यभोग भोग कर यावत् वहाँ से च्यव कर तीसरे संज्ञीगर्भ में उत्पन्न होता है। फिर वह वहाँ से मर कर उपरितन मानसोत्तर (महामानस) आयुष्य द्वारा संयूथ देवनिकाय में उत्पन्न होता है। वहाँ वह दिव्यभोग भोग कर यावत् चतुर्थ संज्ञीगर्भ में जन्म लेता है। वहाँ से मर कर तुरन्त मध्यम मानसोत्तर आयुष्य द्वारा संयूथ में उत्पन्न होता है। वहाँ वह दिव्यभोगों का उपभोग कर यावत् वहाँ से च्यव कर पांचवें संज्ञीगर्भ में उत्पन्न होता है। वहाँ से मर कर तुरन्त अधस्तन मानसोत्तर आयुष्य द्वारा संयूथ-देव में उत्पन्न होता है। वह वहाँ दिव्य भोगों का उपभोग करके यावत् च्यव कर छठे संज्ञीगर्भ जीव में जन्म लेता है।

वह वहाँ से मर कर तुरन्त ब्रह्मलोक नामक कल्प (देवलोक) में देवरूप में उत्पन्न होता है, (जिसका वर्णन इस प्रकार कहा गया है—) वह पूर्व-पश्चिम में लम्बा है, उत्तर-दक्षिण में चौड़ा (विस्तीर्ण) है। प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे स्थानपद के अनुसार वर्णन समझना चाहिए, यावत्—उसमें पांच अवतंसक विमान कहे गए हैं। यथा—अशोकावतंसक, यावत् वे प्रतिरूप हैं। इन्हीं अवतंसकों में वह देवरूप में उत्पन्न होता है। वह वहाँ दस सागरोपम तक दिव्य भोगों का उपभोग कर यावत् वहाँ से च्यव कर सातवें संज्ञीगर्भ जीव में उत्पन्न होता है।

वहाँ नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिवस यावत् व्यतीत होने पर सुकुमाल, भद्र, मृदु तथा (दर्भादि के) कुण्डल के समान कुंचित (घुंघराले) केश वाला, कान के आभूषणों से जिसके कपोलस्थल चमक रहे थे, ऐसे देवकुमारसम कान्ति वाले बालक को जन्म दिया। हे काश्यप ! वही (बालक) मैं हूँ।

इसके पश्चात् हे आयुष्मन् काश्यप ! कुमारावस्था में ली हुई प्रव्रज्या से, कुमारावस्था में ब्रह्मचर्यवास से जब मैं अविद्धकर्ण (अव्युत्पन्नमति) था, तभी मुझे प्रव्रज्या ग्रहण करने की बुद्धि (संख्यान) प्राप्त हुई। फिर मैंने सात परिवृत्त-परिहार (शरीरान्तर-प्रवेश) में संचार किया, यथा—(१) ऐणेयक, (२) मल्लरामक, (३) मण्डिक, (४) रौह, (५) भारद्वाज, (६) गौतमपुत्र अर्जुनक और (७) मंखलिपुत्र गोशालक के (शरीर में प्रवेश किया)।

इनमें से जो प्रथम परिवृत्त-परिहार (शरीरान्तर-प्रवेश) हुआ, वह राजगृह नगर के बाहर मंडिककुक्षि नामक उद्यान में, कुण्डियायण गोत्रीय उदायी के शरीर का त्याग करके ऐणेयक के शरीर में प्रवेश किया। ऐणेयक के शरीर में प्रवेश करके मैंने बाईस वर्ष तक प्रथम परिवृत्त-परिहार (शरीरान्तर में परिवर्त्तन) किया।

इनमें से जो द्वितीय परिवृत्त-परिहार हुआ, वह उद्दण्डपुर नगर के बाहर चन्द्रावतरणनामक उद्यान में मैंने ऐणेयक के शरीर का त्याग किया और मल्लरामक के शरीर में प्रवेश किया। मल्लरामक के शरीर में प्रवेश करके मैंने इक्कीस वर्ष तक दूसरे परिवृत्त-परिहार का उपभोग किया।

इनमें से जो तृतीय परिवृत्त-परिहार हुआ,वह चम्पानगरी के बाहर अंगमंदिर नामक उद्यान में मल्लरामक के शरीर का परित्याग किया। मल्लरामक-शरीर त्याग करके मैंने मण्डिक के शरीर में प्रवेश किया। मण्डिक के शरीर में प्रविष्ट हो कर मैंने बीस वर्ष तक तृतीय परिवृत्त-परिहार का उपभोग किया।

इनमें से जो चतुर्थ परिवृत्त-परिहार हुआ, वह वाराणसी नगरी के बारह काम-महावन नामक उद्यान के मण्डिक के शरीर का मैंने त्याग किया और रोहक के शरीर में प्रवेश किया। रोहक-शरीर में प्रविष्ट होकर मैंने उन्नीस वर्ष तक चतुर्थ परिवृत्त-परिहार का उपभोग किया।

उनमें से जो पंचम परिवृत्त-परिहार हुआ, वह आलभिका नगरी के बाहर प्राप्तकालक नाम के उद्यान में हुआ। उसमें मैं रोहक के शरीर का परित्याग करके भारद्वाज के शरीर में प्रविष्ट हुआ, भारद्वाज-शरीर में प्रविष्ट होकर अठारह वर्ष तक पाँचवें परिवृत्त-परिहार का उपभोग किया।

उनमें से जो छठा परिवृत्त-परिहार हुआ, उसमें मैंने वैशाली नगर के बाहर कुण्डियायन नामक उद्यान में भारद्वाज के शरीर का परित्याग किया और गौतमपुत्र अर्जुनक के शरीर में प्रवेश किया। अर्जुनक-शरीर में प्रविष्ट होकर मैंने सत्रह वर्ष तक छठे परिवृत्त-परिहार का उपभोग किया।

उनमें से जो सातवाँ परिवृत्त-परिहार हुआ, उसमें मैंने इसी श्रावस्ती नगरी में हालाहला कुम्भकारी की बर्तनों की दूकान में गौतमपुत्र अर्जुनक के शरीर का परित्याग किया। अर्जुनक के शरीर का परित्याग करके मैंने समर्थ, स्थिर, ध्रुव, धारण करने योग्य, शीतसहिष्णु, उष्णसहिष्णु क्षुधासहिष्णु, विविध दंश-मशकादिपरीषह-उपसर्ग-सहनशील एवं स्थिर संहननवाला जानकर, मंखलिपुत्र गोशालक के उस शरीर में प्रवेश किया। उसमें प्रवेश करके मैं सोलह वर्ष तक इस सातवें परिवृत्त-परिहार का उपभोग करता हूँ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् काश्यप ! इन एक-सौ तेतीस वर्षों में मेरे ये सात परिवृत्तपरिहार हुए हैं, ऐसा मैंने कहा था। इसलिए आयुष्मन् काश्यप ! तुम ठीक कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्मान्तेवासी है, यह तुमने ठीक ही कहा है आयुष्मन् काश्यप ! कि मंखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्म-शिष्य है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (६८) में गोशालक ने भगवान् महावीर के समक्ष अपने स्वरूप को छिपाने और भगवान् को झुठलाने हेतु अपनी परिवृत्तपरिहार की मिथ्या मान्यतानुसार अपने सात परिवृत्तपरिहार (शरीरान्तक प्रवेश) की प्ररूपणा की है।

गोशालक के विस्तृत भाषण का आशय—भगवान् द्वारा गोशालक की कलई खुल जाने से वह

उन पर क्रुद्ध होकर आया और उपालम्भपूर्वक व्यंग करते हुए कहने लगा—आयुष्मन् काश्यप ! तुमने मुझे अपना धर्मशिष्य बताया परन्तु तुम्हें मालूम होना चाहिए कि वह जो तुम्हारा धर्मशिष्य गोशालक था, वह तो शुभभावों से मरकर कभी का देवलोक में उत्पन्न हो चुका है। मैं तुम्हारा धर्मान्तेवासी नहीं हूँ। मैं तो कौण्डिन्यायनगोत्रीय उदायी हूँ। गौतमपुत्र अर्जुनक के शरीर का त्याग करके मैं मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हुआ हूँ। यह मेरा सातवाँ परिवृत्तपरिहार है।

इस प्रकार उसने उपर्युक्त बात कहकर अपने स्वरूप को छिपाया और फिर अपने मन:कल्पित सिद्धान्तानुसार मोक्ष जाने वालों का क्रम बतलाया है। इसी सन्दर्भ में उसने स्वसिद्धान्तानुसार महाकल्प, संयूथ, शर-प्रमाण, मानस-शर-प्रमाण, उद्धार आदि का वर्णन किया है। फिर अपने सात प्रवृत्तपरिहारों के नामपूर्वक विस्तृत वर्णन किया है।[१]

गोशालक-सिद्धान्त : अस्पष्ट एवं संदिग्ध—वृत्तिकार का अभिप्राय है कि यह सिद्धान्त पूर्वापरविरुद्ध, असंगत एवं अस्पष्ट है, इसलिए इसकी अर्थसंगति हो ही कैसे सकती हैं ?[२]

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—**सुक्के**—शुक्ल-पवित्र। **सुक्काभिजाइए**—शुक्ल परिणाम वाला। **पउट्ट-परिहार**-एक शरीर छोड़कर दूसरे को धारण करना। **ठप्पे**—स्थाप्य-अव्याख्येय। **अवहाय**—छोड़कर। **कोट्ठे**—गंगासमुदायात्मक कोष्ठ। **निल्लेवे**—पूरी तरह साफ—खाली रजकण के लेप का भी अभाव। **निट्ठिए**—निष्ठित-अवयवरहित किया हुआ। **अलंथिरं**—अत्यन्त स्थिर। **अविद्धकन्नए**—जिसके कान कुश्रुतिरूपी शलाका से बींधे हुए नहीं हैं अर्थात्—जो अभी तक निर्दोषबुद्धि है, अव्युत्पन्नमति है। कोरी स्लेट के समान साफ है।[३]

भगवान् द्वारा गोशालक को चोर के दृष्टान्तपूर्वक स्व-भ्रान्तिनिवारण-निर्देश

६९. तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्त एवं वदासी—गोसाला ! से जहानामए तेणए सिया, गामेल्लएहिं परब्भमाणे परब्भमाणे कत्थयि गड्डं वा दरिं वा दुग्गं वा णिण्णं वा पव्वयं वा विसमं वा अणस्सादेमाणे एगेणं महं उण्णलोमेण वा सणलोमेण वा कप्पासपोम्हेण वा तणसूएण वा अत्ताणं आवरेत्ताणं चिट्ठेज्जा, से णं अणावरिए आवरियमिति अप्पाणं मन्नति, अप्पच्छन्ने पच्छन्नमिति अप्पाणं मन्नति, अणिलुक्के णिलुक्कमिति अप्पाणं मन्नति, अपलाए पलायमिति अप्पाणं मन्नति, एवामेव तुमं पि गोसाला ! अणन्ने संते अन्नमिति अप्पाणं उवलभति, तं मा एवं गोसाला !, नारिहसि गोसाला ! सच्चेव, ते सा छाया, नो अन्ना।

[६९] (गोशालक के उपर्युक्त कथन पर) श्रमण भगवान् महावीर ने मंखलिपुत्र गोशालक से यों कहा—गोशालक ! जैसे कोई चोर हो और वह ग्रामवासी लोगों के द्वारा पराभव पाता हुआ (खदेड़ा जाता

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मू.पा. टिप्पणयुक्त) पृ. ७११ से ७१५ तक
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६७६
३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६७७

हुआ) कहीं गड्ढा, गुफा, दुर्ग (दुर्गम स्थान), निम्न स्थान, पहाड़ या विषम (बीहड़ आदि स्थान) नहीं पा कर अपने आपको एक बड़े ऊन के रोम, (कम्बल) से, सण के (वस्त्र) रोम से, कपास के बने हुए रोम (वस्त्र) से, तिनकों के अग्रभाग से आवृत (ढँक) करके बैठ जाए, और नहीं ढँका हुआ भी स्वयं को ढँका हुआ माने अप्रच्छन्न (नहीं छिपा) होते हुए भी अपने आपको प्रच्छन्न (छिपा हुआ) माने, लुप्त (अदृश्य) (लुका हुआ) न होने पर भी अपने को लुप्त (अदृश्य—लुका हुआ) माने, पलायित (भागा हुआ) ने होते हुए भी अपने को पलायित माने, उसी प्रकार हे गोशालक ! तू अन्य (दूसरा) न होते हुए भी अपने आपको अन्य (दूसरा) बता रहा है। अतः गोशालक ! ऐसा मत कर। गोशालक ! (ऐसा करना) तेरे लिए उचित नहीं है। तू वही है। तेरी वही छाया (प्रकृति) है, तू अन्य (दूसरा) नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (६९) में भगवान् द्वारा गोशालक को चोर के उदाहरण पूर्वक दिये गए वास्तविक बोध का निरूपण है।

कठिन शब्दार्थ—**तेणए**—स्तेन, चोर। **गामेल्लएहिं**—ग्रामीणों द्वारा। **गड्डं**—गड्ढा—गर्त्त। **दरिं**—शृगाल आदि के द्वारा बनाई हुई घुरी या छोटी गुफा। **णिण्णं**—शुष्क सरोवर आदि निम्न स्थान। **अणासादेमाणे**—प्राप्त न होने पर। **कप्पासपोम्हेण**—कपास के रोओं (वस्त्र) से। **तणसूएण**—तिनकों के अग्रभाग से। **अत्ताणं आवरेत्ता**—अपने आपको ढँक कर। **अप्पछन्ने**—अप्रच्छन्न। **अणिलुक्के**—जो लुप्त, अदृश्य नहीं हो। **अपलाए**—पलायनरहित। **अणन्ने**—दूसरा नहीं। **उवलभसि**—उपलब्ध कराता-दिखाता है। **नारिहसि**—(ऐसा करना) योग्य—उचित नहीं। **छाया**—प्रकृति।[1]

भगवान् के प्रति गोशालक द्वारा अवर्णवाद-मिथ्यावाद

७०. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहि आओसणाहिं आओसति, उच्चा० आओ० २ उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेति, उच्चा० उ० २ उच्चावयाहिं निब्भच्छणाहिं निब्भच्छेति, उच्चा० नि० २ उच्चावयाहिं निच्छोडणाहिं निच्छोडेति, उच्चा० नि० २ वदासि—नट्ठे सि कदायि, विणट्ठे सि कदायि, भट्ठे सि कदायि, नट्ठविणट्ठभट्ठे सि कदायि, अज्ज न भवसि, ना हि ते ममाहिंतो सुहमत्थि।

[७०] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जब मंखलिपुत्र गोशालक को इस प्रकार कहा तब वह तुरन्त अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। क्रोध से तिलमिला कर वह श्रमण भगवान् महावीर की अनेक-प्रकार के (असमंजस) ऊटपटांग (अनुचित) आक्रोशवचनों से भर्त्सना करने लगा, उद्घर्षणायुक्त (दुष्कुलीन है, इत्यादि अपमानजनक) वचनों से अपमान करने लगा, अनके प्रकार की अनर्गल निर्भर्त्सना द्वारा भर्त्सना करने लगा, अनेक प्रकार के दुर्वचनों से उन्हें तिरस्कृत करने लगा। यह सब करके फिर गोशालक बोला—(जान पड़ता है) कदाचित् तुम

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८३

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४२९

(अपने आचार से) नष्ट हो गए हो, कदाचित् आज तुम विनष्ट (मृत) हो गए हो, कदाचित् आज तुम (अपनी सम्पदा से) भ्रष्ट हो गए हो, कदाचित् तुम नष्ट, विनष्ट और भ्रष्ट हो चुके हो। आज तुम जीवित नहीं रहोगे। मेरे द्वारा तुम्हारा शुभ (सुख) होने वाला नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (७०) में भगवान् द्वारा वास्तविक स्वरूप का भान कराने पर क्रुद्ध और उत्तेजित गोशालक द्वारा भगवान् के प्रति निकाले हुए अनर्गल भर्त्सना, अपमान, तिरस्कार से भरे विद्वेषसूचक उद्‌गार प्रस्तुत हैं।

शब्दार्थ—**उच्चावयाहिं**—ऊँचे-नीचे-भले-बुरे। **आओसणाहिं**—'तू मर गया' इत्यादि आक्रोश-वचनों से। **उद्धंसणाहि**—तू दुष्कुलीन है इत्यादि अपमानजनक वचनों से। **निब्भंछणाहिं**—निर्भर्त्सनाओं द्वारा—'अब मेरा मुझ-से कोई मतलब नहीं' इत्यादि कठोर वचनों से। **निच्छोडणाहिं**—प्राप्त पदवी को छोड़ने के लिए दुष्ट वचनों से अर्थात्—तीर्थंकर के चिह्नों को छोड़, इत्यादि दुर्वचनों से। **नट्ठे सि कयाइ**—तू तो कभी का अपने आचार से नष्ट हो गया है।[१]

गोशालक को स्वकर्त्तव्य समझाने वाले सर्वानुभूति अनगार का गोशालक द्वारा भस्मीकरण

७१. तेणं कालेण तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी पायीणजाणवए सव्वाणुभूति णामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए धम्मायरियाणुरागेणं एयमट्ठं असद्दहमाणे उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ जेणेव गोसाले मंखलीपुत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—जे वि ताव गोसाला ! तहरूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं निसामेति से वि ताव तं वंदति नमंसति जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासति, किमंग पुण तुमं गोसाला ! भगवया चेव पव्वाविए, भगवया चेव मुंडाविए, भगवया चेव सेहाविए, भगवया चेव सिक्खाविए, भगवया चेव बहुस्सुतीकते, भगवओ चेव मिच्छं विप्पडिवन्ने, तं मा एवं गोसाला !, नारिहति गोसाला !, सच्चेव ते सा छाया, नो अन्ना।

[७१] उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पूर्व देश में जन्मे हुए (प्राचीन-जनपदीय) सर्वानुभूति नामक अनगार थे, जो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत थे। वह अपने धर्माचार्य के प्रति अनुरागवश गोशालक के (अनर्गल) प्रलाप के प्रति अश्रद्धा करते हुए उठे हुए और मंखलिपुत्र गोशालक के पास आकर कहने लगे—हे गोशालक ! जो मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन से एक भी आर्य (पापनिवारणरूप निर्दोष) धार्मिक सुवचन सुनता है, वह उन्हें वन्दना-नमस्कार करता है, यावत् उन्हें कल्याणरूप, मंगलरूप, देवस्वरूप, एवं ज्ञानरूप मान कर उनकी पर्युपासना करता है, तो हे गोशालक ! तुम्हारे लिए तो कहना ही क्या ? भगवान् ने तुम्हें (धर्मवचन ही नहीं सुनाया अपितु) प्रव्रजित किया, मुण्डित (दीक्षित) किया, भगवान् ने तुम्हें (व्रत एवं आचार की) साधना सिखाई, भगवान् ने तुम्हें (तेजोलेश्यादि विषयक उपदेश देकर) शिक्षित किया; भगवान् ने तुम्हें बहुश्रुत किया; (इतने पर भी) तुम भगवान् के प्रति मिथ्यापन (अनार्यता) अंगीकार कर रहे हो ! हे

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८३

गोशालक ! तुम ऐसा मत करो। तुम्हें ऐसा करना उचित नहीं हैं। हे गोशालक ! तुम वही गोशालक हो, दूसरे नहीं, तुम्हारी वही प्रकृति है, दूसरी नहीं।

७२. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूइणा अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ सव्वाणुभूतिं अणगारं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेति।

[७२] सर्वानुभूति अनगार ने जब मंखलिपुत्र गोशालक से इस प्रकार की बातें कही तब वह एकदम क्रोध से आगबबूला हो उठा और अपने तपोजन्य तेज (तेजोलेश्या) से उसने एक ही प्रहार में कूटाघात की तरह सर्वानुभूति अनगार को भस्म कर दिया।

७३. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूइं अणगार तवेणं तेएणं एगाहच्चं जाव भासरासिं करेत्ता दोच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आओसइ जाव सुहमत्थि।

[७३] सर्वानुभूति अनगार को भस्म करके वह मंखलिपुत्र गोशालक फिर दूसरी बार श्रमण भगवान् महावीर को अनेक प्रकार के ऊटपटांग आक्रोश वचनों से तिरस्कृत करने लगा, (इत्यादि) यावत्-बोला— 'आज मेरे द्वारा तुम्हारा शुभ होने वाला नहीं है।'

विवेचन—सर्वानुभूति अनगार का भस्मीकरण—यद्यपि भगवान् महावीर ने सभी निर्ग्रन्थ श्रमणों को गोशालक को छेड़ने की मनाई की थी, धर्माचार्य के प्रति अनुरागवश सर्वानुभूति अनगार से न रहा गया, उन्होंने गोशालक को भगवान् द्वारा उसके प्रति किये गए उपकारों का स्मरण कराया, यथार्थ बात कही, जिस पर अत्यन्त कुपित होकर गोशालक ने उन्हें जला कर भस्म कर दिया। यद्यपि भगवान् ने गोशालक की अपेक्षा अनन्त-गुण-विशिष्ट तप-तेज सामान्य अनगार का बताया था, बशर्ते कि वह क्षमा (क्रोधनिग्रह) समर्थ हो। प्रतीत होता है कि सर्वानुभूति अनगार के मन में भगवान् के विषय में गोशालक के यद्वा-तद्वा आक्रोशपूर्ण एवं आक्षेपपूर्ण वचन सुनकर रोष उमड़ आया हो, इसी कारण गोशालक का दाव लग गया हो।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—पव्वाविए—प्रव्रजित किया—शिष्यरूप से स्वीकार किया। **मुंडाविए**—मुंडित किया—मुण्डित गोशालक को शिष्यरूप में माना। **सेहाविए**—व्रत-आचार आदि पालन करने की साधना दिखाई, **सिक्खाविए**—तेजोलेश्यादि के विषय में उपदेश देकर शिक्षित किया। **बहुस्सुतीकए**—नियतिवाद आदि के विषय में हेतु, युक्ति आदि से बहुश्रुत (शास्त्रज्ञ) बनाया।[२]

गोशालक द्वारा भगवान् के किये गए अवर्णवाद का विरोध करने वाले सुनक्षत्र अनगार का समाधिपूर्वक मरण

७४. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी कोसलजाणवए

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४३२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८३

सुनक्खत्ते नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीय धम्मायरियाणुरागेणं जहा सव्वाणुभूति तहेव जाव सच्चेव ते सा छाया, नो अन्ना।

[७४] उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर का कोशल जनपदीय (अयोध्यादेश) में उत्पन्न (एक और) अन्तेवासी सुनक्षत्र नामक अनगार था। वह भी प्रकृति से भद्र यावत् विनीत था। उसने धर्माचार्य के प्रति अनुरागवश सर्वानुभूति अनगार के समान गोशालक को यथार्थ बात कही, यावत्—' हे गोशालक ! तू वही है, तेरी प्रकृति वही है, तू अन्य नहीं है।'

७५. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुनक्खत्तेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ सुनक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेति। तए णं सं सुनक्खत्ते अणगारे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परिताविए समाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति नमंसति, वं० २ सयमेव पंच महव्वयाइं आरुभेति, स० आ० २ समणा य समणीओ य खामेति, सम० खा० २ आलोइयपडिक्कन्ते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगते।

[७५] सुनक्षत्र अनगार के ऐसा कहने पर गोशालक अत्यन्त कुपित हुआ और अपने तप-तेज से सुनक्षत्र अनगार को भी परितापित कर (जला) दिया। मंखलिपुत्र गोशालक के तप-तेज से जले हुए सुनक्षत्र अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप आकर और तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। फिर (उनकी साक्षी से) स्वयमेव पांच महाव्रतों का आरोपण किया और सभी श्रमण-श्रमणियों से क्षमायाचना की। तदनन्तर आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त कर अनुक्रम से कालधर्म प्राप्त किया।

७६. तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते सुनक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेत्ता तच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आओसति सव्वं तं चेव सुहमत्थि।

[७६] अपने तप-तेज से सुनक्षत्र अनगार को जलाने के बाद फिर तीसरी बार मंखलिपुत्र गोशालक, श्रमण भगवान् महावीर को अनेक प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनों से तिरस्कृत करने लगा; इत्यादि पूर्ववत्; यावत्—'आज मुझ से तुम्हारा शुभ होने वाला नहीं है।'

विवेचन—सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि के जलने में अन्तर—सर्वानुभूति के समान सुनक्षत्र अनगार पर भी गोशालक ने तेजोलेश्या का प्रहार किया, किन्तु सर्वानुभूति अनगार को कूटाघात के समान एक ही प्रहार में जला कर राख का ढेर कर दिया था, जब कि सुनक्षत्र अनगार को गोशालक इस तरह भस्म नहीं कर सका। इसके लिए शास्त्रकार ने **'परिताविए'** (परितापित किया—जला दिया) शब्द-प्रयोग किया है। अर्थात्-सुनक्षत्र अनगार तुरन्त भस्म नहीं हुए किन्तु जलने से घायल हो गए थे। सर्वानुभूति अनगार का शरीर तुरन्त ही भस्म हो गया था, इसलिए उन्हें क्षमापना, आलोचना-प्रतिक्रमण आदि का समय नहीं मिला, जब कि

सुनक्षत्र अनगार को क्षमापना, आलोचना-प्रतिक्रमणपूर्वक समाधिमरण का अवसर प्राप्त हो गया था।[१]

कठिन शब्दार्थ—आरुभेति—आरोपित किया, नये सिरे से पंच महाव्रत का उच्चारण करके स्वीकार किया। **समाहिपत्ते**—समाधिमरण को प्राप्त हुए। **परिताविए**—पीडित कर दिया, जला दिया।[२]

गोशालक को भगवान् का सदुपदेश, क्रुद्ध गोशालक द्वारा भगवान् पर फेंकी हुई तेजोलेश्या से स्वयं का दहन

७७. तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स० वा, तं चेव जाव पज्जुवासति किमंग पुण गोसाला ! तुमं मए चेव पव्वाविए जाव मए चेव बहुस्सुतीकते ममं चेव मिच्छं विप्पडिवन्ने ?, तं मा एवं गोसाला ! जाव नो अन्ना।

[७७] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने, मंखलीपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहा—'गोशालक ! जो तथारूप श्रमण या माहन से एक भी आर्य धार्मिक सुवचन सुनता है, इत्यादि पूर्ववत्, वह भी उसकी पर्युपासना करता है, तो हे गोशालक ! तेरे विषय में तो कहना ही क्या ? मैंने तुझे प्रव्रजित किया, यावत् मैंने तुझे बहुश्रुत बनाया, अब मेरे साथ ही तूने इस प्रकार का मिथ्यात्व (अनार्यत्व) अपनाया है। गोशालक ! ऐसा मत कर। ऐसा करना तुझे योग्य नहीं है। यावत्—तू वही है, अन्य नहीं है। तेरी वही प्रकृति है, अन्य नहीं।

७८. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवता महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ तेयासमुग्घातेणं समोहन्नइ, तेया० स० २ सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ, स० प० २ समणस्स भगवतो महावीरस्स वहाए सरीरगंसि तेयं निसिरति। से जहानामए वाउक्कलिया इ वा वायमंडलिया इ वा सेलंसि वा कुड्डंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवारिज्जमाणी वा निवारिज्जमाणी वा सा णं तत्थ णो कमति, नो पक्कमति, एवामेव गोसालस्स वि मंखलिपुत्तस्स तवे तेये समणस्स भगवतो महावीरस्स वहाए सरीरगंसि निसिट्ठे समाणे से णं तत्थ नो कमति, नो पक्कमति, अंचिअंचियं करेति, अंचि० क० २ आयाहिणपयाहिणं करेत्ति, आ० क० २ उड्ढं वेहासं उप्पतिए। से णं तओ पडिहए पडिनियत्तमाणे तमेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुडहमाणे अणुडहमाणे अंतो अंतो अणुप्पविट्ठे।

[७८] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा इस प्रकार कहने पर मंखलिपुत्र गोशालक पुनः एकदम क्रुद्ध हो उठा। उसने क्रोधावेश में तैजस समुद्घात किया। फिर वह सात-आठ कदम पीछे हटा और श्रमण भगवान्

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४३३

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७१७

२. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४३३

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. ११, पृ. ६५९

महावीर का वध करने के लिए उसने अपने शरीर में से तेजोनिसर्ग किया (तेजोलेश्या निकाली)। जिस प्रकार वातोत्कलिका (ठहर-ठहर कर चलने वाली वायु) वातमण्डलिका (मण्डलाकार होकर चलने वाली हवा) पर्वत, भींत, स्तम्भ या स्तूप से आवारित (स्खलित) एवं निवारित (अवरुद्ध या निवृत्त) होती (हटती) हुई उन शैल आदि पर अपना थोड़ा-सा भी प्रभाव नहीं दिखाती, न ही विशेष प्रभाव दिखाती है। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर का वध करने के लिए मंखलीपुत्र गोशालक द्वारा अपने शरीर से बाहर निकाली (छोड़ी) हुई तपोजन्य तेजोलेश्या, भगवान् महावीर पर अपना थोड़ा या बहुत कुछ भी प्रभाव न दिखा सकी। (सिर्फ) उसने गमनागमन (ही) किया। फिर उसने दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की और ऊपर आकाश में उछल गई। फिर वह वहाँ से नी : गिरी और वापिस लौट कर उसी मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर को बार-बार जलाती हुई अन्त में उसी के शरीर के भीतर प्रविष्ट हो गई।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (७७-७८) में से प्रथम सूत्र में भगवान् द्वारा गोशालक द्वारा आचरित अनार्यकर्म पर उसे दिए गए उपदेश का वर्णन है। द्वितीय सूत्र में बताया गया है कि गोशालक द्वारा भगवान् को मारने के लिए छोड़ी गई तेजोलेश्या उन्हें किञ्चित् क्षति न पहुँचा कर आकाश में उछली और फिर नीचे आकर, लौट कर गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हुई और उसे बार-बार जलाने लगी। अर्थात्—आक्रमणकर्त्ता गोशालक भगवान् को जलाने के बदले[१] स्वयं जल गया।

कठिन शब्दार्थ—निसिट्ठे समाणे—निकलती हुई। **णो कमइ, णो पक्कमइ**—थोड़ा या बहुत कुछ भी प्रभाव न दिखा सकी, थोड़ी या बहुत क्षति पहुँचाने में समर्थ न हुई। **अंचिअंचियं करेति**—गमनागमन किया। **उप्पतिए**—ऊपर उछली। **पडिहए**—गिरी। **अणुडहमाणे**—बार-बार जलाती हुई।[२]

क्रुद्ध गोशालक की भगवान् के प्रति मरण-घोषणा, भगवान् द्वारा प्रतिवादपूर्वक गोशालक के अन्धकारमय भविष्य का कथन

७९. तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते सएणं तेयेणं अन्नाइट्ठे समाणे समणं भगवं महावीरं एवं वदासि—तुमं णं आउसो ! कासवा ! मम तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जर-परिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्ससि।

[७९] तत्पश्चात् मंखलिपुत्र गोशालक अपने तेज (तेजोलेश्या) से स्वयमेव पराभूत हो गया। अत: (क्रुद्ध होकर) श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार कहने लगा—'आयुष्मन् काश्यप ! तुम मेरी तपोजन्य तेजोलेश्या से पराभूत होकर पित्तज्वर से ग्रस्त शरीर वाले होकर दाह की पीडा से छह मास के अन्त में छद्मस्थ

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू.पा.टि.) भा. २, पृ. ७१७-७१८

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८३

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. ११, पृ. ६६४

अवस्था में ही काल कर जाओगे।'

८०. तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्त एवं वदासी—नो खलु अहं गोसाला ! तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करेस्सामि, अहं णं अन्नाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि ! तुमं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सएणं तेयेणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्ससि।

[८०] इस पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने मंखलिपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहा—'हे गोशालक ! तेरी तपोजन्य तेजोलेश्या से पराभव को प्राप्त होकर मैं छह मास के अन्त में, यावत् काल नहीं करूंगा, किन्तु अगले सोलह वर्ष-पर्यन्त जिन अवस्था में गन्ध-हस्ती के समान विचरूंगा। परन्तु हे गोशालक ! तू स्वयं अपनी तेजोलेश्या से पराभव को प्राप्त होकर सात रात्रियों के अन्त में पित्तज्वर से शारीरिक पीडाग्रस्त होकर छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर जाएगा।'

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में गोशालक द्वारा भगवान् के भविष्यकथन का तथा उसके प्रतिवाद रूप में भगवान् ने अपने दीर्घायुष्य का और गोशालक की मृत्यु का कथन किया है।[१]

कठिन शब्दार्थ :—अन्नाइट्ठे—अनादिष्ट—अभिव्याप्त या पराभूत। **दाहवक्कंतीए**—दाह की पीड़ा से। **पित्तज्जर-परिगयसरीरे**—जिसके शरीर में पित्तज्वर व्याप्त हो गया है, वह। **सुहत्थी**—अच्छे हाथी की तरह, गन्ध-हस्ती के समान।[२]

श्रावस्ती के नागरिकों द्वारा गोशालक के मिथ्यावादी और भगवान् के सम्यग्वादी होने का निर्णय

८१. तए णं सावत्थीए नगरीए सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! सावत्थीए नगरीय बहिया कोट्ठए चेतिए दुवे जिणा संलवेंति, एगे वदति—तुमं पुव्विं काल करेस्ससि, एगे वदति—तुमं पुव्विं कालं करेस्ससि, तत्थ णं के सम्मावादी के मिच्छावादी ? तत्थ णं जे से अहप्पहाणे जणे से वदति—समणे भगवं महावीरे सम्मावादी, गोसाले मंखलीपुत्ते मिच्छावादी।

[८१] तदनन्तर श्रावस्ती नगरी के शृंगाटक यावत् राजमार्गों पर बहुत-से लोग परस्पर एक दूसरे से कहने लगे, यावत् प्ररूपणा करने लगे—देवानुप्रियो ! श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन (तीर्थंकर) परस्पर संलाप कर रहे हैं। (उनमें से) एक कहता है—'तू पहले काल कर जाएगा।' दूसरा उसे कहता है—'तू पहले मर जाएगा।' इन दोनों में कौन सम्यग्वादी (सत्यवादी) है, कौन मिथ्यावादी है ? उनमें

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू.पा.टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७१८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८३

से जो प्रधान (समझदार) मनुष्य था, उसने कहा—'श्रमण भगवान् महावीर सत्यवादी हैं, मंखलीपुत्र गोशालक मिथ्यावादी है।'

विवेचन—निष्कर्ष—'सत्यमेव जयते नानृतम्' इस लोकोक्ति के अनुसार अन्त में सत्य की विजय हुई। भ. महावीर को गोशालक ने झूठा एवं दम्भी सिद्ध करना चाहा, मारने की धमकी देकर मारणप्रयोग भी किया किन्तु उसकी एक न चली। अन्त में भगवान् को लोगों ने सत्यवादी स्वीकार किया। **अहप्पहाणे**: अर्थ—यथाप्रधान-मुख्य समझदार व्यक्ति।[१]

निर्ग्रन्थ श्रमणों को गोशालक के साथ धर्मचर्चा करने का भगवान् का आदेश

८२. 'अज्जो ! ' ति समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी—अज्जो ! से जहानामए तणरासी ति वा कट्ठरासी ति वा पत्तरासी ति वा तयारासी ति वा तुसरासी ति वा भुसरासी ति वा गोमयरासी ति वा अवकररासी ति वा अगणिझामिए अगणिझूसिए अगणिपरिणामिए हयतेये गयतेये नट्ठतेये भट्ठतेये लुत्ततेये विणट्ठतेये जाव एवामेव गोसाले मंखलीपुत्ते ममं वहाए सरीरगंसि तेयं निसिरेत्ता हयतेये गततेये जाव विणट्ठतेये जाए, तं छंदेणं अज्जो ! तुब्भे गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह, धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेह, धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेत्ता धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेह, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेत्ता अट्ठेहि य हेतूहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य निप्पट्ठपसिणवागरणं करेह।

[८२] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर इस प्रकार कहा—'हे आर्यो ! जिस प्रकार तृणराशि, काष्ठराशि, पत्रराशि, त्वचा (छाल की) राशि, तुषराशि, भूसे की राशि, गोमय (गोबर) की राशि और अवकर राशि (कचरे के ढेर) को अग्नि से थोड़ा-सा जल जाने पर, आग में झोंक देने (या बहुत झुलस जाने) पर एवं अग्नि से परिणामान्तर होने पर उसका तेज हत हो (मारा) जाता है, उसका तेज चला जाता है, उसका तेज नष्ट और भ्रष्ट हो जाता है, उसका तेज लुप्त (अदृश्य) एवं विनष्ट हो जाता है; इसी प्रकार मंखलिपुत्र गोशालक द्वारा मेरे वध के लिए अपने शरीर से तेज (तेजोलेश्या) निकाल देने पर, अब उसका तेज हत हो (मारा) गया है, उसका तेज चला गया है यावत्—उसका तेज (नष्ट-भ्रष्ट) विनष्ट हो गया है। इसलिए, आर्यो ! अब तुम भले ही मंखलिपुत्र गोशालक को धर्मसम्बन्धी प्रतिनोदना (उसके मत के विरुद्ध वादविवाद) से प्रति प्रेरित करो, धर्मसम्बन्धी (उसके मत से विरुद्ध बात की) प्रतिस्मारणा (स्मृति) करा कर (विस्मृत अर्थ की) स्मृति कराओ। फिर धार्मिक प्रत्युपचार द्वारा उसका प्रत्युपचार करो, इसके बाद अर्थ, हेतु, प्रश्न व्याकरण (व्याख्या) और कारणों के सम्बन्ध में (उत्तर न दे सके ऐसे) प्रश्न पूछ कर उसे निरुत्तर (निपृष्ट) कर दो।'

विवेचन—पहले (६६ वें सूत्र में) भगवान् ने गोशालक के साथ धार्मिक चर्चा या वादविवाद करने के

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृ. ७१९

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २४३९

लिए श्रमण निर्ग्रन्थों को मना किया था, क्योंकि उस समय गोशालक पर तेजोलेश्या के अहंकार का भूत सवार था। किन्तु अब तेजोलेश्या का प्रभाव नष्ट हो जाने से गोशालक के साथ धर्मचर्चा एवं वादविवाद करने की श्रमणों को छूट दी, जिससे जनता एवं आजीवक मत के साधु और उपासकगण भ्रम में न रहें, सत्य को जान सकें।[१]

कठिन शब्दार्थ—अगणि-झामिए—अग्नि से किंचित् दग्ध (जला हुआ)। **अगणिझूसिए**—अग्नि से झुलसा हुआ। **छंदेणं**—इच्छानुसार। **हयतेए**—जिसका तेज हत हो गया (फीका पड़ गया), **गयतेए**—गततेज। **पडिचोयणा**—प्रतिप्रेरणा। **पडिसारणा**—धर्म का स्मरण करना। **णिप्पट्ठपसिण-वागरणं**—प्रश्न का उत्तर न दे सकने योग्य।[२]

भगवदादेश से निर्ग्रन्थों की धर्मचर्चा में गोशालक निरुत्तर, पीड़ा देने में असमर्थ, आजीविक स्थविर भगवान् के निश्राय में

८३. तए णं समणा निग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोदणाए पडिचोदेंति ध० प० २ धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेंति, ध० प० २ धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेंति, ध० प० २ अट्ठेहि य हेऊहि य कारणेहि य जाव[३] निप्पट्ठपसिणवागरणं करेंति।

[८३] जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा, तब उन श्रमण-निर्ग्रन्थों ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। फिर जहाँ मंखलिपुत्र गोशालक था, वहाँ आए और उसे धर्म-सम्बन्धी प्रतिप्रेरणा (उसके मत के प्रतिकूल वचन) की धर्मसम्बन्धी प्रतिस्मारणा (उसके मत के प्रतिकूल अर्थ का स्मरण कराना) की, तथा धार्मिक प्रत्युपचार से उसे तिरस्कृत किया, एवं अर्थ, हेतु, प्रश्न व्याकरण और कारणों से उसे निरुत्तर कर दिया।

८४. तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते समणेहिं निग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पड़िचोइज्जमाणे जाव निप्पट्ठपसिणवागरणे कीरमाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे नो संचाएति समणाणं निग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएत्तए, छविच्छेयं वा करेत्तए।

[८४] इसके बाद श्रमण-निर्ग्रन्थों द्वारा धार्मिक प्रतिप्रेरणा आदि से तथा अर्थ, हेतु, व्याकरण एवं प्रश्नों से यावत् निरुत्तर किये जाने पर गोशालक मंखलिपुत्र अत्यन्त कुपित हुआ यावत् मिसमिसाता हुआ क्रोध से

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४३९

२. (क) वही, भा. ५, पृ. २४३८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८३-६८४

३. जाव शब्द सूचक पाठ—'**वागरणं वागरेंति।**'

अत्यन्त प्रज्वलित हो उठा। किन्तु अब वह श्रमण-निर्ग्रन्थों के शरीर को कुछ भी पीड़ा या उपद्रव पहुँचाने अथवा छविच्छेद करने में समर्थ नहीं हुआ।

८५. तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं समणेहिं निग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइज्जमाणं, धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारिज्जमाणं, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारिज्जमाणं अट्ठेहि य हेऊहि य जाव कीरमाणं आसुरुत्तं जाव मिसिमिसेमाणं समणाणं निग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छविच्छेदं वा अकरेमाणं पासंति, पा० २ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतियाओ अत्थेगइया आयाए अवक्कमंति, आयाए अ० २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, ते० उ० २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति; क० २ वंदंति नमंसंति, वं० २ समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जिताणं विहरंति। अत्थेगइया आजीविया थेरा गोसालं चेव मंखलिपुत्तं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति।

[८५] जब आजीविक स्थविरों ने यह देखा कि श्रमण निर्ग्रन्थों द्वारा धर्म-सम्बन्धी, प्रतिप्रेरणा, प्रतिस्मारणा और प्रत्युपचार से तथा अर्थ, हेतु व्याकरण एवं प्रश्नोत्तर इत्यादि से यावत् मंखलिपुत्र गोशालक को निरुत्तर कर दिया गया है, जिससे गोशालक अत्यन्त कुपित यावत् मिसमिसायमान होकर क्रोध से प्रज्वलित हो उठा, किन्तु श्रमण-निर्ग्रन्थों के शरीर को तनिक भी पीडित या उपद्रवित नहीं कर सका एवं उनका छविच्छेद नहीं कर सका, तब कुछ आजीविक स्थविर गोशालक मंखलिपुत्र के पास से (बिना कहे-सुने) अपने आप ही चल पड़े। वहाँ से चल कर वे श्रमण भगवान् महावीर के पास आ गए। फिर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की और उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। तत्पश्चात् वे श्रमण भगवान् महावीर का आश्रय स्वीकार करके विचरण करने लगे। कितने ही ऐसे आजीविक स्थविर थे, जो मंखलिपुत्र गोशालक का आश्रय ग्रहण करके ही विचरते रहे।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (८३ से ८५ तक में) गोशालक के पतन एवं पराजय से सम्बन्धित तीन वृतान्तों का निरूपण है।

(१) गोशालक के साथ धर्मचर्चा करने का भगवान् का आदेश पाकर श्रमणनिर्ग्रन्थों ने गोशालक के साथ धर्मचर्चा की और विभिन्न युक्तियों, तर्कों और हेतुओं से उसे निरुत्तर कर दिया।

(२) निरुत्तर एवं पराजित गोशालक उन श्रमणनिर्ग्रन्थों पर अत्यन्त रुष्ट हुआ, किन्तु अब वह क्रोध करके ही रह गया। उसमें श्रमणों को कुछ बाधा-पीड़ा पहुँचाने या उनका अंगभंग कर देने का सामर्थ्य नहीं रहा।

(३) जब आजीविक स्थविरों ने गोशालक को निरुत्तर तथा श्रमणों का बाल भी बांका कर सकने में असमर्थ हुआ देखा तो गोशालक का आश्रय छोड़ कर वे भगवान् के आश्रय में आ कर रहने लगे। कुछ आजीविक स्थविर गोशालक के पास ही रहे।[१]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७१९-६२०

गोशालक की दुर्दशा-निमित्तक विविध चेष्टाएँ

८६. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते जस्सट्ठाएं हव्वमागए तमट्ठं असाहेमाणे, रुंदाइं पलोएमाणे, दीहुण्हाइं नीससमाणे, दाढियाए लोमाइं लुंचमाणे, अवडुं कंडूयमाणे, पुयलिं पप्फोडेमाणे, हत्थे विणिद्धुणमाणे, दोहि वि पाएहिं भूमिं कोट्टेमाणे 'हाहा अहो ! हओऽहमस्सी ति कट्टु समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ जेणेव सावत्थी नगरी जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणगं पियमाणे अभिक्खणं गायमाणे अभिक्खणं नच्चमाणे अभिक्खणं हालाहलाए कुंभकारीए अंजलिकम्मं करेमाणे सीयलएणं मट्टियापाणएणं आयंचणिउदएणं गायाइं परिसिंचेमाणे विहरइ।

[८६] मंखलिपुत्र गोशालक जिस कार्य को सिद्ध करने के लिए एकदम आया था, उस कार्य को सिद्ध नहीं कर सका, तब वह (हताश होकर) चारों दिशाओं में लम्बी दृष्टि फेंकता हुआ, दीर्घ और उष्ण निःश्वास छोड़ता हुआ, दाढ़ी के बालों को नोचता हुआ, गर्दन के पीछे के भाग को खुजलाता हुआ, बैठक के कूल्हे के प्रदेश को ठोकता हुआ, हाथों को हिलाता हुआ और दोनों पैरों से भूमि को पीटता हुआ; 'हाय, हाय ! ओह मैं मारा गया' यों बड़बड़ाता हुआ, श्रमण भगवान् महावीर के पास से, कोष्ठक-उद्यान से निकला और श्रावस्ती नगरी में जहाँ हालाहला कुम्भकारी की दूकान थी, वहाँ आया। वहाँ आम्रफल हाथ में लिए हुए मद्यपान करता हुआ, (मद्य के नशे में) बार-बार गाता और नाचता हुआ, बार बार हालाहला कुम्भारिन को अंजलिकर्म (हाथ जोड़ कर प्रणाम) करता हुआ, मिट्टी के बर्तन में रखे हुए मिट्टी मिले हुए शीतल जल (आतञ्चनिकोदक) से अपने शरीर का परिसिंचन करता हुआ। (शरीर पर छांटता हुआ) विचरने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (८६) में पराजित, अपमानित तेजोलेश्या से दग्ध एवं हताश गोशालक की तीन प्रकार की कुचेष्टाओं का वर्णन है, जो उसकी दुर्दशा की सूचक है—

(१) पराजित और तेजोलेश्या रहित होने के कारण दीर्घ निःश्वास, दाढी के बाल नोचना, गर्दन के पृष्ठ भाग को खुजलाना, भूमि पर पैर पटकना आदि चेष्टाएँ गोशालक द्वारा की गईं।

(२) अपमान, पराजय और अपयश को भुलाने के लिए गोशालक ने मद्यपान और उसके नशे में गाना, नाचना, हालाहला को हाथ जोड़ना आदि चेष्टाएँ अपनाईं।

(३) तेजोलेश्याजनित दाह को शान्त करने के लिए गोशालक ने चूसने के लिए हाथ में आम्रफल (आम की गुठली) ली तथा कुम्भार के यहाँ मिट्टी के घड़े में रखा हुआ व मिट्टी मिला हुआ ठंडा जल शरीर पर सींचने (छिड़कने) लगा।[१]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७२०

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८४

कठिन शब्दार्थ—हव्वमागए—जल्दी-जल्दी आया था। **असाहेमाणे**—नहीं साधे जाने पर। **रुंदाइं पलोएमाणे**—दिशाओं की ओर दीर्घ दृष्टिपात करता हुआ। **दीहुण्हं नीससमाणे**—दीर्घ और गर्म निःश्वास डालता हुआ। **अवडुं कंडूयमाणे**—गर्दन के पीछे के भाग (घांटी) को खुजलाता हुआ। **पुयलिं पप्फोडेमाणे**—कूल्हे या जांघ को ठोकता हुआ। **विणिद्धुणमाणे**—हिलाता हुआ। **अभिक्खणं**—बारबार। **कोट्टेमाणे**—कूटता या पीटता हुआ। **अंबकूणग-हत्थगए**—आम्रफल हाथ में लेकर। **मट्टियापाणएणं आयंचणि-उदएणं**—मिट्टी मिले हुए ठंडे पानी (जिसका दूसरा नाम आतञ्चनिकोदक है) से, **गायाइं**—शरीर के अंगोपांग।[१]

भगवत्प्ररूपित गोशालक की तेजोलेश्या की शक्ति

८७. 'अज्जो' ति समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासि—जावतिए णं अज्जो ! गोसालेणं मंखलीपुत्तेणं ममं वहाए सरीरगंसि तेये निसट्ठे से णं अलाहि पज्जत्ते सोलसण्हं जणवयाणं, तं जहा—अंगाणं वंगाणं मगहाणं मलयाणं मालवगाणं अच्छाणं वच्छाणं कोट्ठाणं पाढाणं लढाणं वज्जाणं मोलीणं कासीणं कोसलाणं अवाहाणं सुंभुत्तराणं घाताए वहाए उच्छादणताए भासीकरणताए।

[८७] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणनिर्ग्रन्थों को 'हे आर्यो ! ' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—हे आर्यो ! मंखलिपुत्र गोशालक ने मेरा वध करने के लिए अपने शरीर में से जितनी तेजोलेश्या (तेज) निकाली थी, वह (निम्नोक्त) सोलह जनपदों (देशों) का घात करने, वध करने, उच्छेदन करने और भस्म करने में पूरी तरह पर्याप्त (समर्थ) थी। वे सोलह जनपद ये हैं—(१) अंग (वर्तमान में असम), (२) बंग (बंगाल), (३) मगध, (४) मलयदेश (मलयालम प्रान्त), (५) मालव-देश (वर्तमान में मध्यप्रदेश), (६)अच्छ, (७) वत्सदेश, (८) कौत्सदेश, (९) पाट, (१०) लाढदेश, (११) वज्रदेश, (१२) मौली, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अवध और (१६) सुम्भुक्तर।

विवचेन—प्रस्तुत सूत्र (८७) में गोशालक द्वारा भगवान् को मारने के लिए निकाली गई तेजोलेश्या की प्रचण्ड शक्ति का निरूपण किया गया है। गोशालक द्वारा दुरुपयोग के कारण वह शक्ति उसी के लिए मारक बनी।

कुछ जनपदों के वर्तमान सम्भावित नाम—अंग—असम, आसाम। **वंग**—बंगाल। **मगध**—बिहारान्तर्गत राजगृह आदि। **मलय**—कोचीन और मलयालम प्रान्त। **मालव**—वर्तमान में मध्यप्रदेश, मध्यप्रान्त। **अच्छ**—कच्छ का ही दूसरा नाम हो, अथवा सम्भव है अच्छनेरा आदि जनपद हो। **वच्छ**—वत्स देश, कौशम्बीनगरी जिसकी राजधानी थी। **कोच्छ—कोट्ठ**—कौत्स या कोष्ठ-संम्भव है काठमांडू (नेपाल की

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८४
   (ख) भगवती. प्रमेयचन्द्रिकाटीका भा. ११, पृ. ६८८-६८९

राजधानी) आदि हो। अथवा पठानकोट, सियालकोट आदि में से कोई हो। **पाट**—संभव है पाटलीपुत्र का ही दूसरा नाम हो। **लाट**—वर्तमान में सिंहभूम या संथालपरगना, जहाँ आदिवासीबहुल जनता है। **वज्ज—वइर**—वर्तमान में वीरभूम ही प्राचीन वज्रभूमि। काशी, कौशल (अयोध्या) आदि प्रसिद्ध हैं।[१]

घात आदि शब्दों के विशेषार्थ—घात—हनन, **वध**—विनाश, **उच्छादन**—समूलनाश, उच्चाटन, **भस्मीकरण**—भस्मसात् करना।[२]

निजपाप-प्रच्छादनार्थ गोशालक द्वारा अष्टचरम एवं पानक-अपानक की कपोल-कल्पित-मान्यता का निरूपण

८८. जं पि य अज्जो ! गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबऊण-गहत्थगए मज्जपाणं पियमाणे अभिक्खणं जाव अंजलिकम्मं करेमाणे विहरति। तस्स वि णं वज्जस्स पच्छायणट्ठताए इमाइं अट्ठ चरिमाइं पन्नवेति, तं जहा—चरिमे पाणे, चरिमे गेये, चरिमे नट्टे, चरिमे अंजलिकम्मे, चरिमे पुक्खलसंवट्टए महामेहे, चरिमे सेयणए गंधहत्थी, चरिमे महासिलाकंटए संगामे, अहं च णं इमीसे ओसप्पिणिसमाए चउवीसाए तित्थकराणं चरिमे तित्थकरे सिज्झिस्सं जाव अंतं करेस्सं।

[८८] हे आर्यो ! मंखलिपुत्र गोशालक, जो हालाहला कुम्भारिन की दूकान में आम्रफल हाथ में लिए हुए मद्यपान करता हुआ यावत् बार-बार (गाता, नाचता और) अंजलिकर्म करता हुआ विचरता है, वह अपने उस (पूर्वोक्त मद्यपानादि) पाप को प्रच्छादन करने (ढँकने) के लिए इन (निम्नोक्त) आठ चरमों (चरम पदार्थों) की प्ररूपणा करता है। यथा—(१) चरम पान, (२) चरम-गान, (३) चरम नाट्य (४) चरम अंजलिकर्म, (५) चरम पुष्कल-संवर्त्तक महामेघ, (६) चरम सेचनक गन्धहस्ती, (७) चरम महाशिलाकण्टक संग्राम और (८) (चरमतीर्थंकर) 'मैं (मंखलिपुत्र गोशालक) इस अवसर्पिणीकाल में चौबीस तीर्थंकरों में से चरम तीर्थंकर होकर सिद्ध होऊंगा यावत् सब दुःखों का अन्त करूँगा।'

८९. जं पि य अज्जो ! गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलएणं मट्टियापाणएणं आदंचणिउदएणं गायाइं परिसिंचेमाणे विहरति तस्स वि णं वज्जस्स पच्छायणट्ठयाए इमाइं चत्तारि पाणगाइं, चत्तारि अपाणगाइं पन्नवेति।

[८९] 'हे आर्यो ! मंखलिपुत्र गोशालक मिट्टी के बर्तन में मिट्टी-मिश्रित शीतल पानी द्वारा अपने शरीर का सिंचन करता हुआ विचरता है; वह भी इस पाप को छिपाने के लिए चार प्रकार के पानक (पीने योग्य) और चार प्रकार के अपानक (नहीं पीने योग्य, किन्तु शीतल और दाहोपशमक) की प्ररूपणा करता है।

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो (द्वितीयसंस्करण १९६३)

२. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. ११, पृ. ६९०-६९१

९०. से किं तं पाणए ?

पाणए चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—गोपुट्ठए हत्थमद्दियए आयवतत्तए सिलापब्भट्ठए। से त्तं पाणए।

[९० प्र.] पानक (पेय जल) क्या है ?

[९० उ.] पानक चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) गाय की पीठ से गिरा हुआ, (२) हाथ से मसला हुआ, (३) सूर्य के ताप से तपा हुआ और (४) शिला से गिरा हुआ। यह (चतुर्विध) पानक है।

९१. से किं तं अपाणए ?

अपाणए चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—थालपाणए तयापाणए सिंबलिपाणए सुद्धपाणए ।

[९१ प्र.] अपानक क्या है ?

[९१ उ.] अपानक चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) स्थाल का पानी, (२) वृक्षादि की छाल का पानी, (३) सिम्बली (मटर आदि की फली) का पानी और (४) शुद्ध पानी।

९२. से किं तं थालपाणए ?

थालपाणए जें णं दाथालगं वा दावारगं वा दाकुंभगं वा दाकलसं वा सीयलगं उल्लगं हत्थेहिं परामुसइ, न य पाणियं पियइ से तं थालपाणए।

[९२ प्र.] वह स्थाल-पानक क्या है?

[९२ उ.] स्थाल-पानक वह है, जो पानी से भीगा हुआ स्थाल (थाल) हो, पानी से भीगा हुआ वारक (करवा, सकोरा या मिट्टी का छोटा बर्तन) हो, पानी से भीगा हुआ बड़ा घड़ा (मटका) हो अथवा पानी से भीगा हुआ कलश (छोटा घड़ा) हो, या पानी से भीगा हुआ मिट्टी का बर्तन (शीतलक) हो जिसे हाथों से स्पर्श किया जाए, किन्तु पानी पीया न जाए, यह स्थाल-पानक कहा गया है।

९३. से किं तं तयापाणए ?

तयापाणए जे णं अंबं वा अंबाडगं वा जहा पयोगपए जाव[१] बोरं वा तिंदुरुयं वा तरुणगं आमगं आसगंसि आवीलेति वा पवीलेति वा, न य पाणियं पियइ से तं तयापाणए।

[९३ प्र.] त्वचा-पानक किस प्रकार का होता है ?

[९३ उ.] त्वचा-पानक (वृक्षादि की छाल का पानी) वह है, जो आम्र, अम्बाडग इत्यादि प्रज्ञापनासूत्र के सोलहवें प्रयोग पद में कहे अनुसार, यावत् बेर, तिन्दुरुक (टेंबरू) पर्यन्त (वृक्षफल) हो तथा जो तरुण (नया-ताजा) एवं अपक्व (कच्चा) हो, (उसकी छाल को) मुख में रख कर थोड़ा चूसे या विशेष रूप से चूसे, परन्तु उसका पानी न पीए। यह त्वचा-पानक कहलाता है।

---

१. जाव शब्द सूचक पाठ—**भव्वं वा फणसं वा दालिमं वा** इत्यादि। —पण्णवणासुत्तं भा-१ सू. १११२, पृ. २७३

९४. से किं तं सिंबलिपाणए ?

सिंबलिपाणए जे णं कलसिंगलियं वा मुग्गसिंगलियं वा माससिंगलिय वा सिंबलिसिंगलियं वा तरुणियं आमियं आसगंसि आवीलेति वा पीवलेति वा, ण य पाणियं पियइ से तं सिंबलिपाणए।

[९४ प्र.] वह सिम्बली-पानक किस प्रकार का होता है ?

[९४ उ.] सिम्बली (वृक्ष-विशेष की फली) का पानक वह है, जो कलाय (ग्वार या मसूर) की फली, मूँग की फली, उड़द की फली अथवा सिम्बली (वृक्ष-विशेष) की फली, आदि, तरुण (ताजी या नई) और अपक्व (कच्ची) हो, उसे कोई मुंह में थोड़ा चबाता है या विशेष चबाता है, परन्तु उसका पानी नहीं पीता, वही सिम्बल-पानक होता है।

९५. से किं तं सुद्धपाणए ?

सुद्धपाणए जे णं छम्मासे सुद्धं खादिमं खाति—दो मासे पुढविसंथारोवगए, दो मासे कट्ठसंथारोवगए, दो मासे दब्भसंथारोवगए। तस्स णं बहुपडिपुण्णाणं छण्हं मासाणं अंतिमराईए इमे दो देवा महिड्ढीया जाव महेसक्खा अंतियं पाउब्भवंति, तं जहा—पुण्णभद्दे य माणिभद्दे य। तए णं ते देवा सीतलएहिं उल्लएहिं हत्थेहिं गायाइं परामुसंति, जे णं ते देवे सातिज्जति से णं आसीविसत्ताए कम्मं पकरेति, जे णं ते देवे नो सातिज्जति तस्स णं संसि सरीरगंसि अगणिकाए संभवति। से णं सएणं तेयेणं सरीरगं झामेति, सरीरगं झामेत्ता ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति। से त्तं सुद्धपाणए।

[९५ प्र.] वह शुद्ध पानी किस प्रकार का होता है ?

[९५ उ.] शुद्ध पानक वह होता है, जो व्यक्ति छह महीने तक शुद्ध खादिम आहार खाता है, छह महीनों में से दो महीने तक पृथ्वी-संस्तारक पर सोता है, (फिर) दो महीने तक काष्ठ के संस्तारक पर सोता है (तदनन्तर) दो महीने तक दर्भ (डाभ) के संस्तारक पर सोता है; इस प्रकार छह महीने परिपूर्ण हो जाने पर अन्तिम रात्रि में उसके पास ये (आगे कहे जाने वाले) दो महर्द्धिक यावत् महासुख-सम्पन्न देव प्रकट होते हैं, यथा—पूर्णभद्र और माणिभद्र। फिर वे दोनों देव शीतल और (पानी से भीगे) गीले हाथों से उसके शरीर के अवयवों का स्पर्ष करते हैं। उन देवों का जो अनुमोदन करता है, वह आशीविष रूप से कर्म करता है, और जो उन देवों का अनुमोदन नहीं करता, उसके स्वयं के शरीर में अग्निकाय उत्पन्न हो जाता है। वह अग्निकाय अपने तेज से उसके शरीर को जलाता है। इस प्रकार शरीर को जला देने के पश्चात् वह सिद्ध हो जाता है; यावत् सर्व दु:खों का अन्त कर देता है। यही वह शुद्ध पानक है।

विवेचन—प्रस्तुत आठ सूत्रों (८८ से ९५ तक) में गोशालक ने मद्यपान, नृत्य-गान तथा शरीर पर शीतल जलसिंचन आदि तथा अपने आपको तीर्थंकर स्वरूप प्रसिद्ध करने एवं तेजोलेश्या से स्वयं के जल जाने आदि अपनी पाप चेष्टाओं पर पर्दा डालने और उन्हें धर्म रूप में मान्यता देकर लोगों को भ्रम में डालने के लिए अपने द्वारा आठ प्रकार के चरमों की प्ररूपणा की। इन्हें चरम इसलिए कहा कि 'ये फिर कभी नहीं होंगे।' इन

आठों में से मद्यपान, नाच, गान और अंजलिकर्म, ये चार चरम तो स्वयं गोशालक से सम्बन्धित हैं। पुष्कलसंवर्त्तक आदि तीन बातों का इस प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि स्वयं को अतिशयज्ञानी सिद्ध करने तथा जन मनोरंजन करने के लिए एवं पूर्वोक्त चरमों से इसकी समानता बता कर अपने दोषों को छिपाने के लिए इनको भी 'चरम' बता दिया है। आठवें चरम में उसने स्वयं को चरम तीर्थंकर बताया है। अपने चरमजिनत्व को सिद्ध करने के लिए उसने चार प्रकार के पानक और चार प्रकार के अपानक की कल्पना की है। लोगों को यह बताने के लिए कि मैं तेजोलेश्या जनित दाहोपशमन के लिए मद्यपान, आम्रफल को चूसना तथा मिट्टी मिले शीतल जल से गात्रसिंचन आदि नहीं करता, मैं अपनी तेजोलेश्या से नहीं जलता, किन्तु शुद्धपानक वाला तीर्थंकर बनता है तब उसके शरीर से स्वतः अग्नि प्रकट होती है, जो उसे जलाती है। बल्कि तीर्थंकर जब मोक्ष जाते हैं, तब ये बातें अवश्य होती हैं, अतः इनके होने में कोई दोष नहीं है। वस्तुतः शुद्धपानक की ऊटपटांग कल्पना का पानक से कोई सम्बन्ध नहीं है।[१]

कठिन शब्दार्थ—वज्जस्स पच्छायणट्ठताए—पाप को ढँकने-छिपाने के लिए। **गोपुट्ठए**—गाय की पीठ पर से गिरा हुआ पानी। **दाथालगं**—पानी से भीगा हुआ स्थल।[२] **संसि**—स्वयं के।

अयंपुल का सामान्य परिचय, हल्ला के आकार की जिज्ञासा का उद्‌भव, गोशालक से प्रश्न पूछने का निर्णय, किन्तु गोशालक की उन्मत्तवत् दशा देख अयंपुल का वापस लौटने का उपक्रम

९६. तत्थ णं सावत्थीए नगरीए अयंपुले णामं आजीविओवासए परिवसति अड्ढे जहा हालाहला जाव आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[९६] उसी श्रावस्ती नगरी में अयंपुल नाम का आजीविकोपासक रहता था। वह ऋद्धि-सम्पन्न यावत् अपराभूत था। वह हालाहला कुम्भारिन के समान आजीविक मत के सिद्धान्त से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरता था।

९७. तए णं तस्स अयंपुलस्स आजीविओवासगस्स अन्नदा कदाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयेमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—किंसंठिया णं हल्ला पन्नत्ता ?

[९७] किसी दिन उस अयंपुल आजीविकोपासक को रात्रि के पिछले पहर में कुटुम्बजागरणा करते हुए इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् संकल्प समुत्पन्न हुआ–'हल्ला नामक कीट-विशेष का आकार कैसा बताया गया है ?'

९८. तए णं तस्स अयंपुलस्स आजीविओवासगस्स दोच्चं पि अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृष्ठ ७२१-७२२
(ख) भगवती. हिन्दीविवेचन भा. ५, पृ. २४४५-२४४६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८४

समुप्पज्जित्था—'एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते उप्पन्ननाण-दंसणधरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी इहेव सावत्थीए नगरीए हालाहलाए कुम्भकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तं सेय खलु मे कल्लं जाव जलंते गोसालं मंखलिपुत्तं वंदित्ता जाव पज्जुवासेत्ता, इमं एयारूवं वागरणं वागरित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेति, एवं सं० २ कल्लं जाव जलंते ण्हाए कय जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे साओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, साओ० प० २ पादविहारचारेणं सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ पासति गोसालं मंखलिपुत्तं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबऊणगहत्थगयं जाव अंजलिकम्मं करेमाणं सीयलएणं मट्टिया जाव गायाइं परिसिंचमाणं, पासित्ता लज्जिए विलिए विड्डे सणियं सणियं पच्चोसक्कइ।

[९८] तदनन्तर उस आजीविकोपासक अयंपुल को ऐसा अध्यवसाय यावत् मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ कि 'मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक मंखलिपुत्र गोशालक, उत्पन्न (अतिशय) ज्ञान-दर्शन के धारक, यावत् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। वे इसी श्रावस्ती नगरी में हालाहला कुम्भारिन की दूकान में आजीविकसंघ सहित आजीविक-सिद्धान्त से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं। अतः कल प्रातःकाल यावत् तेजी से जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर मंखलिपुत्र गोशालक को वन्दना यावत् पर्युपासना करके यह प्रश्न पूछना श्रेयस्कर होगा।' ऐसा विचार करके उसने दूसरे दिन प्रातः सूर्योदय होने पर स्नान-बलिकर्म किया। फिर अल्पभार और महामूल्य वाले आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत कर वह अपने घर से निकला और पैदल चलकर श्रावस्ती नगरी के मध्य में से होता हुआ हालाहला कुम्भरिन की दूकान पर आया। वहाँ आकर उसने मंखलिपुत्र गोशालक को हाथ में आम्रफल लिए हुए, यावत् (नाचते-गाते तथा) हालाहला कुम्भारिन को अंजलिकर्म करते हुए, मिट्टी मिले हुए शीतल जल से अपने शरीर के अवयवों को बार-बार सिंचन करते हुए देखा तो देखते ही लज्जित, उदास और व्रीडित (अधिक लज्जित) हो गया और धीरे-धीरे पीछे खिसकने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (९६-९७-९८) में प्रथम सूत्र में आजीविकोपासक अयंपुल का सामान्य परिचय, द्वितीय सूत्र में कुटुम्ब जागरण करते हुए उसके मन में हल्ला नामक कीट के आकार को जानने के उत्पन्न विचार का वर्णन है, और तृतीय सूत्र में धर्माचार्य मंखलीपुत्र गोशालक से इस जिज्ञासा का समाधान पाने के उत्पन्न हुए संकल्प का तथा तदनुसार गोशालक के पास पहुँचने और गोशालक की उन्मत्तवत् दशा देखकर उसके पीछे खिसकने का वृतान्त दिया गया है।[१]

कठिन शब्दों का अर्थ—हल्ला—गोवालिका तृण के समान आकारवाला एक कीटविशेष। **वागरणं**—

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृष्ठ ७२२-७२३

प्रश्न। **विलिए**—अकार्यकृत लज्जा से विषण्ण, अथवा व्रीडित—लज्जित। **विड्डे**—व्रीडित, अधिक लज्जित।[१]

अयंपुल की डगमगाती श्रद्धा स्थिर हुई, गोशालक से समाधान पाकर संतुष्ट, गोशालक द्वारा वस्तुस्थिति का अपलाप

९९. तए णं ते आजीविया थेरा अयंपुलं आजीवियोवासगं लज्जियं जाव पच्चोसक्कमाणं पासंति, पां० २ एवं वदासि—एहि ताव अयंपुला ! इतो।

[९९] जब आजीविक-स्थविरों ने आजीवविकोपासक अयंपुल को लज्जित होकर यावत् पीछे जाते हुए देखा, तो उन्होंने उसे सम्बोधित कर कहा—'हे अयंपुल ! यहाँ आओ।'

१००. तए णं से अयंपुले आजीवियोवासए आजीवियथेरेहिं एवं वुत्ते समाणे जेणेव आजीविया थेरा तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ अजीविए थेरे वंदति नमंसति, वं० २ नच्चासन्ने जाव पज्जुवासति।

[१००] आजीविक-स्थविरों द्वारा इस प्रकार (सम्बोधित करके) बुलाने पर अयंपुल आजीविकोपासक उनके पास आया और उन्हें वन्दना-नमस्कार करके उनसे न अत्यन्त निकट और न अत्यन्त दूर बैठकर यावत् पर्युपासना करने लगा।

१०१. 'अयंपुल !' त्ति आजीविया थेरा अयंपुलं आजीवियोवासगं एवं वदासी—'से नूणं ते अयंपुला ! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि जाव किंसठिया हल्ला पन्नत्ता ? तए णं तव अयंपुला ! दोच्चं पि अयमेयारूवे०, तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, से नूण ते अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे ?'

'हंता, अत्थि।'

जं पि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए जाव अंजलिकम्मं करेमाणे विहरइ तत्थ वि णं भगवं इमाइं अट्ठ चरिमाइं पन्नवेति, तं जहा—चरिमे पाणे जाव अंतं करेस्सति। जं पि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलएणं मट्टिया जाव विहरति, तत्थ वि णं भगवं इमाइं चत्तारि पाणगाइं, चत्तारि अपाणगाइं पन्नवेति। से किं तं पाणए ? पाणए जाव ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति। तं गच्छ णं तुमं अयंपुला ! एस चेव ते धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते इमं एयारूवं वागरणं वागरेहिति।

[१०१] 'हे अयंपुल' ! इस प्रकार सम्बोधन करके आजीविक-स्थविरों ने आजीविकोपासक अयंपुल से इस प्रकार कहा—हे अयंपुल ! आज पिछली रात्रि के समय यावत् तुझे ऐसा मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८४

(ख) पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. ७८१, ७९९

कि 'हल्ला' की आकृति कैसी होती है ? इसके पश्चात् हे अयंपुल ! तुझे ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि मैं अपने 'धर्माचार्य ………… से पूछ कर निर्णय करुं , इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए। यावत् तू श्रावस्ती नगरी के मध्य में होता हुआ, झटपट हालाहला कुम्भारिन की दूकान में आया; 'हे अयंपुल ! क्या यह बात सत्य है ?'

(अयंपुल—) 'हाँ, सत्य है।'

(स्थविर—) हे अयंपुल ! तुम्हारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक मंखलिपुत्र गोशालक जो हालाहला कुम्भारिन की दूकान में आम्रफल लिए हुए यावत् अंजलिकर्म करते हुए विचरते हैं वह (इसलिए कि) वे भगवान् गोशालक इस सम्बन्ध में आठ चरमों की प्ररूपणा करते हैं। यथा—चरम पान, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे। हे अयंपुल ! जो ये तुम्हारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक मंखलिपुत्र गोशालक मिट्टी मिश्रित शीतल पानी से अपने शरीर के अवयवों पर सिंचन करते हुए यावत् विचरते हैं। इस विषय में भी वे भगवान् चार पानक और चार अपानक की प्ररूपणा करते हैं। 'वह पानक किस प्रकार का होता है ?' पानक चार प्रकार का होता है, यावत् ………… इसके पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं। अत: हे अयंपुल ! तू जा और अपने इन धर्माचार्य धर्मोपदेशक मंखलिपुत्र गोशालक से अपने इस प्रश्न को पूछ।

१०२. तए णं से अयंपुले आजीवियोवासए आजीविएहिं थेरेहिं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१०२] आजीविक स्थविरों द्वारा इस प्रकार कहने पर वह अयंपुल आजीविकोपासक हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ और वहाँ से उठकर गोशालक मंखलिपुत्र के पास जाने लगा।

१०३. तए णं ते आजीविया थेरा गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंबकूणगएडावणट्ठयाए एगंतमंते संगारं कुव्वंति।

[१०३] तत्पश्चात् उन आजीविक स्थविरों ने उक्त आम्रफल को एकान्त में डालने का गोशालक को संकेत किया।

१०४. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियाणं थेराणं संगारं पडिच्छइ, सं० प० अंबकूणगं एगंतमंते एडेइ।

[१०४] इस पर मंखलिपुत्र गोशालक ने आजीविक स्थविरों का संकेत ग्रहण किया और उस आम्रफल को एकान्त में एक ओर डाल दिया।

१०५. तए णं से अयंपुले आजीवियोवासए जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ गोसालं मंखलिपुत्तं तिक्खुत्तो जाव पज्जुवासति।

[१०५] इसके पश्चात् अयंपुल आजीविकोपासक मंखलिपुत्र गोशालक के पास आया और मंखलिपुत्र गोशालक की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, फिर यावत् (वन्दना-नमस्कार करके) पर्युपासना करने

लगा।

१०६. 'अयंपुला ! ' ति गोसाले मंखलिपुत्ते अयंपुलं आजीवियोवासगं एवं वदासी—'से नूणं अयंपुला ! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि जाव जेणेव ममं अंतियं तेणेव हव्वमागए, से नूण अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे ?'

'हंता, अत्थि'।

तं नो खलु एस अंबकूणए, अंबचोयण णं एसे। किंसंठिया हल्ला पन्नत्ता ? वंसीमूलसंठिया हल्ला पण्णत्ता वीणं वाएहि रे वीरगा !, वीणं वाएहि रे वीरगा ! ।

[१०६] 'अयंपुल !' इस प्रकार सम्बोधन कर मंखलिपुत्र गोशालक ने अयंपुल आजीविकोपासक से इस प्रकार पूछा—'हे अयंपुल ! रात्रि के पिछले पहर में यावत् तुझे ऐसा मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ यावत् (इसी के सामाधानार्थ) इसी से तू मेरे पास आया है, हे अयंपुल ! क्या यह बात सत्य है ?'

(अयंपुल—) हाँ, (भगवन् ! यह) सत्य है।

(गोशालक—) (हे अयंपुल !) मेरे हाथ में वह आम्र की गुठली नहीं थी, किन्तु आम्रफल की छाल थी। (तुझे यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी कि) हल्ला का आकार कैसा होता है ? (अयंपुल) हल्ला का आकार बांस के मूल के आकार जैसा होता है। (तत्पश्चात् उन्मादवश गोशालक ने कहा) 'हे वीरो ! वीणा बजाओ! वीरो ! वीणा बजाओ।'

१०७. तए णं से अयंपुले आजीवियोवासए गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं इमं एयारूवं वागरणं वागरिए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए गोसालं मंखलिपुत्तं वंदति नमंसति, वं० २ पसिणाइं पुच्छइं, पसि० पु० २ अट्ठाइं परियादीयति, अ० प० २ उट्ठेति, उ० २ गोसालं मंखलिपुत्तं वंदति नमंसति जाव पडिगए।

[१०७] तत्पश्चात् मंखलिपुत्र गोशालक अपने प्रश्न का इस प्रकार समाधान पा कर आजीविकोपासक अयंपुल अतीव हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् हृदय में अत्यन्त आनन्दित हुआ। फिर उसने मंखलीपुत्र गोशालक को वन्दना-नमस्कार किया; कई प्रश्न पूछे, अर्थ (समाधान) ग्रहण किया। फिर वह उठा और पुनः मंखलिपुत्र गोशालक को वन्दना-नमस्कार करके यावत् अपने स्थान पर लौट आया।

विवेचन—प्रस्तुत नौ सूत्रों (९९ से १०७ तक) में बताया है कि आजीविकोपासक अंयपुल की गोशालक के प्रति डगमगाती श्रद्धा को आजीविक स्थविरों ने उनके मन में उत्पन्न बात बता कर तथा आठ चरम, पानक-अपानक आदि की मान्यता उसके दिमाग में ठसा कर गोशालक के प्रति श्रद्धा स्थिर कर दी। फलतः बुद्धिविमोहित अयंपुल को गोशालक ने जो कहा, वह सब उसने श्रद्धापूर्वक यथार्थ मान लिया।[१]

गोशालक द्वारा सत्य का अपलाप—गोशालक ने अयंपुल से कहा—तुमने जो मेरे हाथ में आम की

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृष्ठ ७२४-७२५

गुठली देखी थी, वह आम की छाल थी, गुठली नहीं। गुठली तो व्रती पुरुषों के लिए अकल्पनीय है। किन्तु आम की छाल त्वक् पानक-रूप होने से निर्वाण गमनकाल में यह अवश्य ग्राह्य होती है। हल्ला के आकार का कथन करते-करते मद्यमद में विह्वल होकर गोशालक ने जो उद्गार निकाले थे 'वीरो ! वीणा बजाओ।' किन्तु यह उन्मत्तवत् प्रलाप सुन कर भी अयंपुल के मन में गोशालक के प्रति अविश्वास या अश्रद्धाभाव नहीं जागा। क्योंकि सिद्धि प्राप्त करने वालों के लिए चरम गान आदि दोषरूप नहीं हैं, इस प्रकार की बात उसके दिमाग में पहले से ही स्थविरों ने ठसा दी थी। इस कारण उसकी बुद्धि विमोहित हो गई थी।[१]

कठिन शब्दार्थ—अंबकूणग-एडावणट्ठयाए-आम्रफल की गुठली को फैंक देने के लिए। **संगारं**—संकेत। **एगंतमंते**—एकान्त में, एक ओर। **हल्ला**—तृणगोवालिका कीट-विशेष। राजस्थान में 'बामणी' नाम से प्रसिद्ध।[२] **एहि एतो**—इधर आ।

प्रतिष्ठा-लिप्सावश गोशालक द्वारा शानदार मरणोत्तर क्रिया करने का शिष्यों को निर्देश

१०८. तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते अप्पणो मरणं आभोएइ, अप्प० आ० २ आजीविए थेरे सद्दावेइ, आ० स० २ एवं वदासि—"तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ममं कालगयं जाणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेह, सु० ण्हा० २ पम्हलसुकुमालाए गंधकासाईए गायाइं लूहेह, गा० लू० २ सरसेणं गोसीसेणं चंदणेणं गायाइं अणुलिंपह, सर० अ० २ महरिहं हंसलक्खणं पडसाडगं नियंसेह, मह० नि० २ सव्वालंकारविभूसियं करेह, स० क० २ पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूहह, पुरि० दुरू० २ सावत्थीए नगरीए सिंघाडग० जाव पहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वदह—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरित्ता इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थगराणं चरिमतित्थगरे सिद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।' इड्ढिसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स णीहरणं करेह।" तए णं ते आजीविया थेरा गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एतमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति।

[१०८] तदनन्तर मंखलिपुत्र गोशालक ने अपना मरण (निकट भविष्य में) जान कर आजीविक स्थविरों को अपने पास बुलाया और इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! मुझे कालधर्म को प्राप्त हुआ जान कर तुम लोग मुझे सुगन्धित गन्धोदक से स्नान कराना, फिर रोंएदार कोमल गन्धकाषायिक वस्त्र (तौलिये) से मेरे शरीर को पोंछना, तत्पश्चात् सरस गोशीर्ष चन्दन से मेरे शरीर के अंगों पर विलेपन करना। फिर हंसवत् श्वेत महामूल्यवान, पटशाटक मुझे पहनना। उसके बाद मुझे समस्त अलंकारों से विभूषित करना। यह सब हो जाने के पश्चात् मुझे हजार पुरुषों से उठाई जाने योग्य शिविका (पालकी) में बिठाना। शिविकारूढ करके श्रावस्ती

१. भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. ११, पृ. ७१५-७१७

२. (क) वही, भा. ११. पृ. ७१७

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४५२

नगरी के शृंगाटक यावत् महापथों (राजमार्गों) में (होकर ले जाते समय) उच्चस्वर से उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहना—हे देवानुप्रियो ! यह मंखलिपुत्र गोशालक जिन, जिनप्रलापी है, यावत् जिन शब्द का प्रकाश करता हुआ विचरण कर इस अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर हो कर सिद्ध हुआ है, यावत् समस्त दु:खों से रहित हुआ है।' इस प्रकार ऋद्धि (ठाट-बाट) और सत्कार के साथ मेरे शरीर का नीहरण करना (बाहर निकालना)।

उन आजीविक स्थविरों ने मंखलीपुत्र गोशालक की बात को विनयपूर्वक स्वीकार किया।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (१०८) में गोशालक द्वारा अपनी मृत्यु निकट जान कर अपने अनुगामी स्थविरों को शरीर सुसज्जित कर धूमधाम से शवयात्रा निकाल कर मरणोत्तरक्रिया करने के दिये गए निर्देश का वर्णन है।[१]

कठिन शब्दार्थ—हंसलक्खणं : दो अर्थ—(१) हंस जैसा शुक्ल या (२) हंसचिह्नवाला। **नियंसेह**—पहनाना। **सीयं**—शिविका। **नीहरणं**—बाहर निकालना (मरणोत्तरक्रिया)।[२]

सम्यक्त्वप्राप्त गोशालक द्वारा अप्रतिष्ठापूर्वक मरणोत्तर क्रिया करने का शिष्यों को निर्देश

१०९. तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सत्तरत्तंसि परिणममाणंसि पडिलद्धसम्मत्तस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—"णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरिए, अहं णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघातए समणमारए समणपडिणीय, आयरिय-उवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्तिकारए बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे विहरित्ता, सएणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतोसत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सं। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरति।' एवं संपेहेति, एवं सं० २ आजीविए थेरे सद्दावेइ, आ० स० २ उच्चासवयवहसाविए करेति, उच्चा० क० एवं वदासि—" नो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी जाव पकासेमाणे विहरति, अहं णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघातए जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सं। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी जाव जिणसद्दं पगासेमाणे विहरति। तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ममं कालगयं जाणित्ता वामे पाए संबेणं बंधह, वामे० बं० २ तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुभह, ति० उ० २ सावत्थीए नगरीए सिंघाडग० जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा एवं वदह—'नो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव विहरिए, एसं णे गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघायए जाव छउमत्थे चेव कालगते, समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी जाव विहरति।' महता अणिड्ढिसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा २ पृ. ७२५-७२६
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ३८५

नीहरणं करेज्जाह।'' एवं वदित्ता कालगए।

[१०९] इसके पश्चात् जब सातवीं रात्रि व्यतीत हो रही थी, तब मंखलिपुत्र गोशालक को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ। उसके साथ ही उसे इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् मनोगत संकल्प समुत्पन्न हुआ—'मैं वास्तव में जिन नहीं हूँ, तथापि मैं जिन-प्रलापी (जिन कहता हुआ) यावत् जिन शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरा हूँ। मैं मंखलिपुत्र गोशालक श्रमणों का घातक, श्रमणों को मारने वाला, श्रमणों का प्रत्यनीक (विरोधी), आचार्य-उपाध्याय का अपयश करने वाला, अवर्णवादकर्त्ता और अपकीर्तिकर्त्ता हूँ। मैं अत्यधिक असद्भावनापूर्ण मिथ्यात्वाभिनिवेश से, अपने आपको, दूसरों को तथा स्वपर-उभय को व्युद्ग्राहित करता हुआ, व्युत्पादित (मिथ्यात्व-युक्त) करता हुआ विचरा, और फिर अपनी ही तेजोलेश्या से पराभूत होकर, पित्तज्वराक्रान्त तथा दाह से जलता हुआ सात रात्रि के अन्त में छद्मस्थ अवस्था में ही काल करूंगा। वस्तुतः श्रमण भगवान् महावीर ही जिन हैं, और जिनप्रलापी है, यावत् जिन शब्द से स्वयं को प्रकट करते हैं।

(गोशालक ने अन्तिम समय में) इस प्रकार सम्प्रेक्षण (स्वयं का आलोचन) किया। फिर उसने आजीविक स्थविरों को (अपने पास) बुलाया, अनेक प्रकार की शपथों से युक्त (सौगंध दिला) करके इस प्रकार कहा—'मैं वास्तव में जिन नहीं हूँ, फिर भी जिनप्रलापी तथा जिन शब्द से स्वयं को प्रकट करता हुआ विचरा। मैं वही मंखलीपुत्र गोशालक एवं श्रमणों को घातक हूँ, (इत्यादि वर्णन पूर्ववत्) यावत् छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर जाऊंगा। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ही वास्तव में जिन हैं, जिनप्रलापी हैं, यावत् स्वयं को जिन शब्द से प्रकट करते हुए विहार करते हैं। अत: हे देवानप्रियो ! मुझे कालधर्म को प्राप्त जान कर मेरे बाएं पैर को मूंज की रस्सी से बांधना और तीन बार मेरे मुंह में थूकना। तदनन्दर शृंगाटक यावत् राजमार्गों में इधर-उधर घसीटते हुए उच्च स्वर से उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहना—''देवानुप्रियो ! मंखलिपुत्र गोशालक 'जिन' नहीं है, किन्तु वह जिनप्रलापी यावत् जिन शब्द से स्वयं को प्रकाशित करता हुआ विचरा है। यह श्रमणों का घात करने वाला मंखलिपुत्र गोशालक है, यावत् छद्मस्थ अवस्था में ही काल-धर्म को प्राप्त हुआ है। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ही वास्तव में जिन हैं, जिनप्रलापी हैं यावत् जिन शब्द का प्रकाश करते हुए विचरते हैं।'' इस प्रकार महती अऋद्धि (बड़ी विडम्बना) और असत्कार (असम्मान) पूर्वक मेरे मृत शरीर का नीहरण (बाहर निष्क्रमण) करना; यों कहकर गोशालक कालधर्म को प्राप्त हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (१०१) में गोशालक को मरण की अन्तिम (सातवीं) रात्रि में सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और उसने अपनी अर्जित प्रतिष्ठा एवं मानापमान की परवाह न करते हुए आजीविक स्थविरों के समक्ष अपनी वास्तविकता प्रकट करके तदनुसार अप्रतिष्ठापूर्वक मरणोत्तर क्रिया करने का किया गया निर्देश अंकित है।

ऐसी सद्बुद्धि पहले क्यों नहीं, पीछे क्यों ?—गोशालक को भगवान् महावीर के पास रहते हुए तथा शिष्य कहलाने के बावजूद भी ऐसी सद्बुद्धि पहले नहीं आई, उसका कारण घोर मिथ्यात्वमोह का उदय था। फलत: मिथ्यात्वरूपी भयंकर शत्रु के कारण ही पूर्वोक्त स्थिति हो गई थी। जब सम्यक्त्वरत्न प्राप्त हुआ, तब सारी स्थिति ही पूर्णतया पलट गई। आजीविक-स्थविरों के समक्ष उसने अब वास्तविक स्थिति प्रकट कर

दी। यदि आयुष्य की स्थिति कुछ अधिक होती तो निश्चित ही वह भगवान् महावीर के चरणों में गिर कर सच्चे अन्त:करण से क्षमायाचना करता और आलोचना-प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्ध होता।[१]

कठिन शब्दार्थ—उच्चावय-सवह-साविए—अनेक प्रकार के शपथों से युक्त (शापित)। **सुंबेणं**—मूंज या छाल की रस्सी से। **उड्डुभह**—थूकना। **आकड्ढ-विकड्ढिं**—इधर-उधर घसीटते हुए।[२]

आजीविक स्थविरों द्वारा अप्रतिष्ठापूर्वक गुप्त मरणोत्तरक्रिया करके प्रकट में प्रतिष्ठापूर्वक मरणोत्तरक्रिया

११०. तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं कालगयं जाणित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवाराइं पिहेतिं; दु० पि० २ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स बहुमज्झदेसभाए सावत्थिं नगरिं आलिहंति, सा० आ० २ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं वामे पाए सुंबेण बंधंति, वा० बं० २ तिक्खुत्तो मुहे उड्डुहंति, ति० उ० २ सावत्थीए नगरीए सिंग्घाडग० जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा णीयं णीयं सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयासि—'नो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव विहरिए, एस णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघायए जाव छउमत्थे चेव कालगते, समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी जाव विहरइ।' सवहपडिमोक्खणगं करेंति, सवहपडिमोक्खगणं करेत्ता दोच्चं पि पूयासक्कारथिरीकरणट्ठयाए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वामाओ पादाओ सुंबं मुयंति, सुंबं मु० २ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवारवयणाइं अवगुणंति, अव० २ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेंति, तं चेव जाव महया इड्डिसक्कारसमुदएणं गोसालस्स मंखलिपुत्तसस सरीरगस्स नीहरणं करेंति।

[११०] तदनन्तर उन आजीविक स्थविरों ने मंखलिपुत्र गोशालक को कालधर्म-प्राप्त हुआ जानकर हालाहला कुम्भारिन की दूकान के द्वार बन्द कर दिये। फिर हालाहला कुम्भारिन की दूकान के ठीक बीचों-बीच (जमीन पर) श्रावस्ती नगरी का चित्र बनाया। फिर मंखलिपुत्र गोशालक के बाएँ पैर को मूंज की रस्सी से बाँधा। तीन बार उसके मुख में थूका। फिर उक्त चित्रित की हुए श्रावस्ती नगरी के शृंगाटक यावत् राजमार्गों पर (उसके शव को) इधर-उधर घसीटते हुए मन्द-मन्द स्वर से उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहने लगे—'हे देवानुप्रियो ! मंखलिपुत्र गोशालक जिन नहीं, किन्तु जिनप्रलापी होकर यावत् विचरा है। यह मंखलिपुत्र गोशालक श्रमणघातक है, (जो) यावत् छद्मस्थ अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हुआ है। श्रमण भगवान् महावीर वास्तव में जिन हैं, जिनप्रलापी हैं यावत् विचरते हैं।' इस प्रकार (औपचारिक रूप से शपथ का पालन करके वे स्थविर गोशालक द्वारा दिलाई गई) शपथ से मुक्त हुए। इसके पश्चात् मंखलिपुत्र गोशालक के प्रति (जनता की) पूजा-सत्कार (की भावना) को स्थिरीकरण करने के लिए मंखलिपुत्र गोशालक के बाएँ पैर में बंधी मूंज की रस्सी खोल दी और हालाहला कुंभारिन की दूकानं के द्वार भी खोल दिये। फिर मंखलिपुत्र गोशालक के मृत शरीर को

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा २ पृ. ७२५-७२६
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ३८५

सुगन्धित गन्धोदक से नहलाया, इत्यादि पूर्वोक्त वर्णनानुसार यावत् महान् ऋद्धि-सत्कार-समुदाय (बड़े ठाठबाट) के साथ मंखलिपुत्र गोशालक के मृत शरीर का निष्क्रमण किया।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (११०) में गोशालंक के द्वारा अप्रतिष्ठापूर्वक अपनी मरणोत्तरक्रिया करने की दिलाई हुई शपथ का स्थविरों द्वारा कल्पित औपचारिकरूप से पालन किये जाने तथा पूर्वोक्त रूप से ही ऋद्धिसत्कारपूर्वक मरणोत्तरक्रिया किये जाने का वृत्तान्त प्रतिपादित है।

कठिन शब्दार्थ—**पिहेंति**—बंद किये। **आलिहंति**—चित्रित की। **सुंबेणं**—मूंज की रस्सी से। **णीयंणीयं सद्देणं**—मन्द-मन्द स्वर से। **सवहपडिमोक्खणगं**—दिलाई हुई शपथ से मुक्ति (छुटकारा) **अवगुणंति**—खोले।[१]

पूयासक्कार-थिरीकरणट्ठाए : आशय—पूर्व प्राप्त पूजा-सत्कार की स्थिरता के हेतु। स्थविरों का आशय यह था कि यदि हम गोशालक के मृत शरीर की विशिष्ट पूजा-प्रतिष्ठा नहीं करेंगे तो लोग समझेंगे कि गोशालक न तो 'जिन' हुआ और न ये स्थविर 'जिन' शिष्य हैं, इस प्रकार पूजा-सत्कार अस्थिर (ठप्प) हो जाएँगे, इस दृष्टि से पूजा-सत्कार को लोकमानस में स्थिर रखने के लिए स्थविरों ने गोशालक के शव की ठाटबाट से उत्तरक्रिया की।[२]

भगवान् का मेंढिकग्राम में पदार्पण, वहाँ रोगाक्रान्त होने से लोकप्रवाद

१११. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नदा कदायि सावत्थीओ नगरीओ कोट्ठयाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

[१११] तदनन्तर किसी दिन श्रमण भगवान् महावीर श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक उद्यान से निकले और उससे बाहर अन्य जनपदों में विचरण करने लगे।

११२. तेणं कालेणं तेणं समएणं मेंढियग्गामे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं मेंढियग्गामस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे एत्थ णं सालकोट्ठए[३] नामं चेतिए होत्था। वण्णओ। जाव पुढविसिलापट्टओ। तस्स णं सालकोट्ठगस्स चेतियस्स अदूरसामंते एत्थ णं महेगे मालुयाकच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे जाव निकुरुंबभूए पत्तिए पुप्फिए फलिए हरियगरेरिज्जमाणे सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति।

[११२] उस काल उस समय में मेंढिकग्राम नामक नगर था। (उसका) वर्णन (पूर्ववत्)। उस मेंढिकग्राम नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में शालकोष्ठक नामक उद्यान था। उसका वर्णन पूर्ववत् यावत् (वहाँ एक) पृथ्वी-शिलापट्टक था, (तक) करना चाहिए। उस शालकोष्ठक उद्यान के निकंट एक महान् मालुकाकच्छ था। वह

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८५
   (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४६१
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६८५
३. पाठान्तर—'**साणकोट्ठए**'

श्याम, श्याम प्रभा वाला, यावत् महामेघ के समान था, पत्रित, पुष्पित, फलित और हरियाली से अत्यन्त लहलहाता हुआ, वनश्री से अतीव शोभायमान रहता था।

११३. तत्थ णं मेंढिग्गामे नगरे रेवती नामं गाहावतिणी परिवसति अड्ढा अपरिभूया।

[११३] उस मेंढिकग्राम नगर में रेवती नाम की गाथापत्नी रहती थी। वह आढ्य यावत् अपराभूत थी।

११४. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नदा कदायि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव मेंढियग्गामे नगरे जेणेव सालकोट्ठए चेतिए जाव परिसा पडिगया।

[११४] किसी दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी क्रमशः विचरण करते हुए मेंढिकग्राम नामक नगर के बाहर, जहाँ शालकोष्ठक उद्यान था, वहाँ पधारे; यावत् परिषद् वन्दना करके लौट गई।

११५. तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विपुले रोगायंके पाउब्भूते उज्जले जाव दुरहियासे। पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतिए यावि विहरति। अवि याऽऽइं लोहियवच्चाइं पि पकरेति। चाउव्वण्णं च णं वागरेति—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतिए छउमत्थे चेव कालं करेस्सति।

[११५] उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शरीर में महापीडाकारी व्याधि उत्पन्न हुई, जो उज्ज्वल (अत्यन्त दाहकारी) यावत् दुरधिसह्य (दुःसह) थी। उसने पित्तज्वर से सारे शरीर को व्याप्त कर लिया था, और (उसके कारण) शरीर में अत्यन्त दाह होने लगी। तथा (इस रोग के प्रभाव से) उन्हें रक्त-युक्त दस्तें भी लगने लगीं। भगवान् के शरीर को ऐसी स्थिति में जान कर चारों वर्ण के लोग इस प्रकार कहने लगे—(सुनते हैं कि) श्रमण भगवान् महावीर मंखलिपुत्र गोशालक की तपोजन्य तेजोलेश्या से पराभूत होकर पित्तज्वर एवं दाह से पीडित होकर छह मास के अन्दर छद्मस्थ-अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त करेंगे।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (१११ से ११५) में भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित पांच बातों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है—

(१) श्रमण भगवान् महावीर का श्रावस्ती से अन्य जनपदों में विहार।

(२) मेंढिकग्राम नगर, शालकोष्ठक, यावत् पृथ्वीशिलापट्टक एवं मालुकाकच्छ का परिचय।

(३) मेंढिकग्राम नगरवासी रेवती गाथापत्नी का परिचय।

(४) भगवान् का मेंढिकग्राम में पदार्पण, परिषद् द्वारा धर्मश्रवण।

(५) इसी बीच भगवान् के शरीर में पित्तज्वर का भयंकर प्रकोप हुआ, जिससे सारे शरीर में दाह एवं खून की दस्तें होने लगीं। चतुर्वर्णीय-जनता में यह अफवाह फैल गई कि भगवान् महावीर गोशालक द्वारा फेंकी हुई तेजोलेश्या के प्रभाव से पित्तज्वराक्रान्त एवं दाहपीडित होकर छह मास के अन्दर छद्मस्थ-अवस्था में ही मर जाएँगे।[१]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ७२७-७२८

कठिन शब्दों का अर्थ—मालुयाकच्छए—एक गुठली वाले वृक्षविशेषों का कच्छ—गहन वन। **विउले**—विपुल, शरीरव्यापी। **रोगायंके**—रोगातंक-पीडाकारी व्याधि। **उज्जले**—उज्ज्वल-तीव्र। **पाउब्भए**—प्रकट हुआ। **दुरहियासे**—दु:सह। **दाहवक्कंतिए**—दाह की उत्पति से। **लोहिय-वच्चाइं**—खून की दस्तें। **चाउव्वण्णं**—ब्राह्मणादि चार वर्ण, अथवा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विधसंघ (चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ)।[१]

अफवाह सुनकर सिंह अनगार को शोक, भगवान् द्वारा सन्देश पा कर सिंह अनगार का उनके पास आगमन

११६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए मालुयाकच्छगस्स अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं अनिखित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढंवाहा० जाव विहरति।

[११६] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के एक अन्तेवासी सिंह नामक अनगार थे, जो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत थे। वे मालुकाकच्छ के निकट निरन्तर (लगातार) छठ-छठ (बेले-बेले) तपश्चरण के साथ अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठा कर यावत् आतापना लेते थे।

११७. तए णं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स भगवतो माहवीरस्स सरीरगंसि विपुले रोगायंके पाउब्भूते उज्जले जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्सति, वदिस्संति यं णं अन्नतित्थिया 'छउमत्थे चेव कालगए' इमेणं एयारूवेणं महय मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभति, आया० प० २ जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति, उवा० २ मालुयाकच्छयं अंतो अंतो अणुप्पविसति, मा० अणु २ महया महया सद्देणं कुहुकुहुस्स परुन्ने।'

[११७] उस समय की बात है, जब सिंह अनगार ध्यानान्तरिका में (एक ध्यान को समाप्त कर दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने में) प्रवृत्त हो रहे थे; तभी उन्हें इस प्रकार का आत्मगत यावत् चिन्तन उत्पन्न हुआ—मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के शरीर में विपुल (शरीरव्यापी) रोगातंक प्रकट हुआ, जो अत्यन्त दाहजनक (उज्ज्वल) है, इत्यादि यावत् वे छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर जाएँगे। तब अन्यतीर्थिक कहेंगे—'वे छद्मस्थ अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो गए।'

इस प्रकार के इस महामानसिक मनोगत दु:ख से पीडित बने हुए सिंह अनगार आतापनाभूमि से नीचे उतरे। फिर वे मालुकाकच्छ में आए और उसके अंदर प्रविष्ट हो गए। फिर वे जोर-जोर से रोने लगे।

११८. 'अज्जो' त्ति समणे भगवं महावीरे समथे निग्गंथे आमंतेति, आमंतेत्ता एवं वदासी—'एवं

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९०
   (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४६३

खलु अज्जो ! ममं अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगतिभद्दए०, तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव परुन्ने। तं गच्छह णं अज्जो ! तुब्भे सीहं अणगारं सद्दह।'

[११८] (उस समय) 'आर्यो! इस प्रकार से श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों को आमंत्रित कर यो कहा—'हे आर्यो ! आज मेरा अन्तेवासी (शिष्य) प्रकृतिभद्र यावत् विनीत सिंह नामक अनगार, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् कहना; यावत् अत्यन्त जोर-जोर से रो रहा है। इसलिए, हे आर्यो ! तुम जाओ और सिंह अनगार को यहाँ बुला लाओ।'

११९. तए णं ते समणा निग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसंति, वं० २ समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियातो सालकोट्ठयातो चेतियातो पडिनिक्खमंति, सा० प० २ जेणेव मालुयाकच्छए, जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ सीहं अणगारं एवं वयासी—'सीहा ! धम्मायरिया सद्दावेंति।'

[११९] श्रमण भगवान् महावीर ने जब उन श्रमण-निर्ग्रन्थों से इस प्रकार कहा, तो उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। फिर भगवान् महावीर के पास से मालकोष्ठक उद्यान से निकल कर, वे मालुकाकच्छवन में, जहाँ सिंह अनगार थे, वहाँ आए और सिंह अनगार से कहा—'हे सिंह ! धर्माचार्य तुम्हें बुलाते हैं।'

१२०. तए णं से सीहे अणगारे समणेहि निग्गंथेहिं सद्धिं मालुयाकच्छगाओ पडिनिक्खमति, प० २ जेणेव सालकोट्ठए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवा० समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण० जाव पज्जुवासति।

[१२०] तब सिह अनगार उन श्रमण-निर्ग्रन्थों के साथ मालुकाकच्छ से निकल कर शालकोष्ठक उद्यान में जहाँ, श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके यावत् पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ११६ से १२०) में सिंह अनगार से सम्बन्धित पांच बातों का निरूपण है—

(१) मालुकाकच्छ के निकट आतापनासहित छठ-छठ तप करने वाले भगवान् महवीर के शिष्य सिंह अनगार थे।

(२) भगवान् की छाद्मस्थिक अवस्था में मृत्यु हो जाएगी, यह बात सुनकर मनोदुःखपूर्वक सिंह अनगार का अत्यन्त रुदन।

(३) श्रमण-निर्ग्रन्थों को सिंह अनगार को बुला लाने का भगवान् का आदेश।

(४) सिंह अनगार के पास जा कर निर्ग्रन्थों ने भगवान् का सन्देश सुनाया।

(५) श्रमणों के साथ सिंह अनगार का भगवान् के समीप आगमन, वन्दन-नमन पर्युपासना।[1]

कठिन शब्दार्थ—झाणंतरियाए—ध्यानान्तरिका—एक ध्यान की समाप्ति और दूसरे ध्यान का प्रारम्भ होने से पूर्व। **कुहुकुहुस्स परुन्ने**—कहुकुहुशब्दपूर्वक (हृदय में दुःख न समाने से सिसक-सिसक कर) रोए। **मणो-माणसिएणं दुक्खेणं**—मनोगत मानसिक दुःख से, अर्थात्—जो दुःख वचन आदि द्वारा अप्रकाशित होने से मन में ही रहे उस दुःख से। **सद्दह**—बुला लाओ।[2]

१२१. 'सीहा !' दि समणे भगवं महावीरे सीहं अणगारं एवं वयासि—'से नूणं ते सीहा ! झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जाव परुन्ने। से नूणं ते सीहा ! अट्ठे समट्ठे ?' हंता, अत्थि। 'तं नो खलु अहं सीहा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेयेणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं जाव कालं करेस्सं। अहं णं अन्नाइं अद्धसोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तं गच्छ णं तुमं सीहा ! मेंढियगामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहं, तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो।'

[१२१] हे सिंह ! इस प्रकार सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने सिंह अनगार से इस प्रकार कहा—'हे सिंह ! ध्यानान्तरिका में प्रवृत्त होते हुए तुम्हें इस प्रकार की चिन्ता उत्पन्न हुई यावत् तुम फूट-फूट कर रोने लगे, तो हे सिंह ! क्या यह बात सत्य है ?'

(सिंह का उत्तर—) 'हाँ, भगवन् ! सत्य है।'

(भगवान् सिंह अनगार को आश्वासन देते हुए—) हे सिंह ! मंखलिपुत्र गोशालक के तपतेज द्वारा पराभूत होकर मैं छह मास के अन्दर, यावत् (हर्गिज) काल नहीं करूंगा। मैं साढे पन्द्रह वर्ष तक गन्धहस्ती के समान जिन (तीर्थंकर) रूप में विचरूंगा। (यद्यपि मेरा शरीर पित्तज्वराक्रान्त है, मैं दाह की उत्पत्ति से पीडित हूँ; अतः मेरे मरण की चिन्ता से मुक्त होकर) हे सिंह ! तुम मेंढिकग्राम नगर में रेवती गाथापत्नी के घर जाओ और वहाँ रेवती गाथापत्नी ने मेरे लिए कोहले के दो फल संस्कारित करके तैयार किये हैं, उनसे मुझे प्रयोजन नहीं है, अर्थात् वे मेरे लिए ग्राह्य नहीं हैं, किन्तु उसके यहाँ मार्जार नामक वायु को शान्त करने के लिए जो बिजौरापाक कल का तैयार किया हुआ है, उसे ले आओ। उसी से मुझे प्रयोजन है।

१२२. तए णं से सीहे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, व० २ अतुरियमचलमसंभंतं मुहपोत्तियं पडिलेहेति, मु०प० २ जहा गोयमसामी (स० २ उ० ५ सु० २२) जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ,

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ७२८-७२९

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९०

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४६३

उवागच्छइ, उवा० समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, व० २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ अतुरिय जाव जेणेव मेंढियग्गामे नगरे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ मेंढियग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव रेवतीए गाहवतिणीए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ रेवतीयं गाहावतिणीए गिहं अणुप्पविट्ठे।

[१२२] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा इस प्रकार का आदेश पाकर सिंह अनगार हर्षित सन्तुष्ट यावत् हृदय में प्रफुल्लित हुए और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, फिर त्वरा, चपलता और उतावली से रहित हो कर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया (शतक २ उ. ५ सू. २२ में उक्त कथन के अनुसार) गौतम स्वामी की तरह भगवान् महावीर स्वामी के पास आए, वन्दन-नमस्कार करके शालकोष्ठक उद्यान से निकले। फिर त्वरा, चपलता और शीघ्रता रहित यावत् मेंढिकग्राम नगर के मध्य भाग में हो कर रेवती गाथापत्नी के घर की ओर चले और उसके घर में प्रवेश किया।

१२३. तए णं सा रेवती गाहावतिणी सीहं अणगारं एज्जमाणं पासति, पा० हट्ठतुट्ठ० खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेति, खि० आ० २ सीहं अणगारं सत्तट्ठ पयाइं अणुगच्छइ, स० अणु० २ तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेति, क० २ वंदति नमंसति, वं० २ एवं वयासी—संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ? तए णं से सीहे अणगारे रेवतिं गाहावतिणिं एवं वयासि—एवं खलु तुमे देवाणुप्पिए ! समणस्स भगवतो महावीरस्स अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठे, अत्थि ते अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो।

[१२३] तदनन्तर रेवती गाथापत्नी ने सिंह अनगार को ज्यों ही आते देखा, त्यों ही हर्षित एवं सन्तुष्ट होकर शीघ्र अपने आसन से उठी। सिंह अनगार के समक्ष सात-आठ कदम गई और तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके। वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोली—'देवानुप्रियो ! कहिये, किस प्रयोजन से आपका पधारना हुआ ?'

तब सिंह अनगार ने रेवती गाथापत्नी से कहा—हे देवानुप्रिये ! श्रमण भगवान् महावीर के लिए तुमने जो कोहले को दो फल संस्कारित करके तैयार किये हैं, उनसे प्रयोजन नहीं है, किन्तु मार्जार नामक वायु को शान्त करने वाला बिजौरापाक, जो कल का बनाया हुआ है, वह मुझे दो, उसी से प्रयोजन है।'

१२४. तए णं रेवती गाहावतिणी सीहं अणगारं एवं वदासि—केस णं सीहा ! से णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम आतरहस्सकडे हव्वमक्खाए जतो णं तुमं जाणासि ? एवं जहा खंदए (स० २ उ० १ सु० २० [२]) जाव जतो णं अहं जाणामि।

[१२४] इस पर रेवती गाथापत्नी ने सिंह अनगार से कहा—हे सिंह अनगार ! ऐसे कौन ज्ञानी अथवा तपस्वी हैं जिन्होंने मेरे अन्तर की यह रहस्यमय बात जान ली और आप से कह दी, जिससे कि आप यह जानते हैं ?' सिंह अनगार से (शतक २ उ. १ सू. २०/२ में उक्त) स्कन्दक के वर्णन के समान (कहा—) यावत्—

'भगवान् के कहने से मैं जानता हूँ।'

१२५. तए णं सा रेवती गाहावतिणी सीहस्स अणगारस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवा० पत्तं मोएति, पत्तं मो० जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ सीहस्स अणगारस्स पडिग्गहगंसि तं सव्वं सम्मं निसिरति।

[१२५] तब सिंह अनगार से यह बात सुन कर एवं अवधारण करके वह रेवती गाथापत्नी हर्षित एवं सन्तुष्ट हुई। फिर जहाँ रसोईघर था, वहाँ गई और (बिजौरापाक वाला) बर्तन खोला। फिर उस बर्तन को लेकर सिंह अनगार के पास आई और सिंह अनगार के पात्र में वह सारा पाक सम्यक् प्रकार से डाल (बहरा) दिया।

१२६. तए णं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्वसुद्धेणं जाव दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे जहा विजयस्स (सु० २६) जाव जम्मजीवियफले रेवतीए गाहावतिणीए, रेवतीए गाहावतिणीए।

[१२६] रेवती गाथापत्नी ने उस द्रव्यशुद्धि, दाता की शुद्धि एवं पात्र (आदाता) की शुद्धि से युक्त, यावत् प्रशस्त भावों से दिये गए दान से सिंह अनगार को प्रतिलाभित करने से देवायु का बन्ध किया यावत् इसी शतक में कथित विजय गाथापति के समान रेवती के लिए भी ऐसी उद्घोषणा हुई—'रेवती गाथापत्नी ने जन्म और जीवन का सुफल प्राप्त किया, रेवती गाथापत्नी ने जन्म और जीवन सफल कर लिया।'

१२७. तए णं से सीहे अणगारे रेवतीए गाहावतिणीए गिहाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ मेंढियग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, नि० २ जहा गोयमसामी (स० २ उ० ५ सु० २५ [१]) जाव भत्तपाणं पडिदंसेति, भ० प० २ समणस्स भगवतो महावीरस्स पाणिंसि तं सव्वं सम्मं निसिरति।

[१२७] इसके पश्चात् वे सिंह अनगार, रेवती गाथापत्नी के घर से निकले और मेंढिकग्राम के मध्य में से होते हुए भगवान् के पास पहुँचे और (श. २ उ. ५ सू. २५-१ में कथितानुसार) गौतम स्वामी के समान यावत् (लाया हुआ) आहार-पानी दिखाया। फिर वह सब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के हाथ में सम्यक् प्रकार से रख (दे) दिया।

१२८. तए णं समणे भगवं महावीरे अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवइ। तए णं समणस्स भगवतो महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसंते हट्ठे जाए अरोए बलियसरीरे। तुट्ठा समणा, तुट्ठाओ समणीओ, तुट्ठा सावगा, तुट्ठाओ सावियाओ, तुट्ठा देवा, तुट्ठाओ देवीओ सदेवमणुयासुरे लोए तुट्ठे हट्ठे जाए— 'समणे भगवं महावीरे हट्ठे, समणे भगवं महावीरे हट्ठे।'

[१२८] तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अमूर्च्छित (अनासक्त) यावत् लालसारहित (भाव से) बिल में सर्प-प्रवेश के समान उस (औषधरूप) आहार को शरीररूपी कोठे में डाल दिया। वह (औषधरूप) आहार करने के बाद श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का वह महापीडाकारी रोगातंक शीघ्र ही शान्त हो गया। वे

हृष्ट-पुष्ट, रोगरहित और शरीर से बलिष्ठ हो गए। इससे सभी श्रमण तुष्ट (प्रसन्न) हुए, श्रमणियां तुष्ट हुईं, श्रावक तुष्ट हुए, श्राविकाएँ तुष्ट हुईं, देव तुष्ट हुए, देवियां तुष्ट हुईं, और देव, मनुष्य एवं असुरों सहित समग्र लोक तुष्ट एवं हर्षित हो गया। (कहने लगे—) 'श्रमण भगवान् महावीर हृष्ट हुए, श्रमण भगवान् महावीर हृष्ट हुए।'

विवेचन—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. १२१ से १२८ तक) में रेवती गाथापत्नी के यहाँ बने हुए बिजौरापाक को सिंह अनगार द्वारा लाने और भगवान् के द्वारा उसका सेवन करने से स्वस्थ एवं रोगमुक्त होने का तथा श्रमणादि समग्र लोक के प्रसन्न होने का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है।

शंका-समाधान—प्रस्तुत प्रकरण में आगत '**दुवे कवोयसरीरा**' तथा '**मज्जारकडए कुक्कुडमंसए**' ये मूलपाठ विवादास्पद हैं। जैन तीर्थंकरों एवं श्रमण-श्रावकवर्ग की मौलिक मर्यादाओं तथा आगम-रहस्यों से अनभिज्ञ लोग इस पाठ का मांसपरक अर्थ करके भगवान् महावीर पर मांसाहारी होने का आक्षेप करते हैं। परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। क्योंकि एक तो ऐसा आहार तीर्थंकर या साधु वर्ग के लिए तो क्या, सामान्य मार्गानुसारी गृहस्थ के लिए भी हर परिस्थिति में वर्जित है। दूसरे खून की दस्तों को बंद करने एवं संग्रहणी रोग तथा वात-पित्तशमन के लिए मांसाहार कथमपि पथ्य नहीं है।[१] यही कारण है कि इनके अर्थ 'निघण्टु' आदि कोषों में वनस्पति-परक मिलते हैं,[२] वृत्तिकार ने भी वनस्पतिपरक अर्थ से इसकी संगति की है। **कवोयसरीरा : दो अर्थ**—(१) कपोत (कबुतर) पक्षी के वर्ण के समान फल भी कपोत—कूष्माण्ड (कोहला), छोटा कपोत-कपोतक (छोटा कोहला), तद्रूप शरीर—वनस्पतिजीव-देह होने से कपोतशरीर, अथवा (२) कपोत शरीर की तरह धूसरवर्ण की सदृशता होने से कपोतकफल यानी कूष्माण्डफल, अर्थात् संस्कृत किए हुए कपोत (कूष्माण्डफल)। **मज्जारकडए कुक्कुडमंसए**—दो अर्थ—(१) मार्जार नामक उदरवायु विशेष, उसका उपशमन करने के लिए कृत—संस्कृत—मार्जारकृत, अथवा (२) मार्जार अर्थात्-विरालिका नामक वनस्पतिविशेष उससे कृत—भावित। कुर्कुटमांसक अर्थात्—बिजौरापाक (बीजपूरककटाह)। प्रस्तुत प्रकरण में रेवती गाथापत्नी के यहाँ से भगवान् ने कोहलापाक न लाने तथा बिजौरापाक लाने का आदेश क्यों दिया ? इसका समाधान

---

१. (क) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका) भा. ११, पृ. ७७८
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४६९
(ग) नरकगति के ४ कारण के लिए देखो—स्थानांग, स्था ४ '............ कुणिमाहारेण।'

२. (क) **पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डम्।** —सुश्रुतसंहिता
(ख) '**कूष्माण्डं शीतलं वृष्यं**' —कैयदेवनिघण्टु
(ग) 'पारावतं सुमधुरं रुच्यमत्यनिवातनुत्।' —सुश्रुतसंहिता
(घ) स्थानांगसूत्र, स्थान ७, सू. ६, वृत्ति
(ङ) 'वत्थुल-पोरग-मज्जार-पोइवल्लीय-पालक्का।' —प्रज्ञापनापद १
(च) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९१
(छ) रेवतीदानसमालोचना

वृत्तिकार यो करते हैं कि भगवान् ने केवलज्ञान से जान लिया कि कोहलापाक रेवती गाथापत्नी ने मेरे लिए बना कर तैयार किया है। इसलिए वह औद्देशिकदोषयुक्त होने से भगवान् ने उसे लाने का निषेध कर दिया, किन्तु जो दूसरा बीजौरापाक था, वह उसके यहाँ स्वाभाविक रूप से अपने घर के लिए बनाया गया था, वह निर्दोष था, अत: वह ग्रहण करने योग्य समझ कर लाने का आदेश दिया था। यही कारण है कि पहले के लिए **'तेहिं नो अट्ठे'** और पिछले के लिए **'आहराहि तेणं अट्ठो'** शब्दों का प्रयोग किया है।[१]

इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए पाठक **'रेवती-दान-समालोचना'** (स्व. शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म. द्वारा लिखित) देखें।

कठिन शब्दार्थ—अतुरियमचवलमसंभंतं—त्वरा (शीघ्रता), चपलता और सम्भ्रांति (हड़बड़ी) से रहित। **पत्तगं मोएति**—पात्रक—कटोरदान को खोला या छींके से उतारा। **बिलमिव पन्नगभूएणं**—सर्प जैसे सीधा बिल में घुस जाता है, उसी प्रकार स्वयं (भ. महावीर) ने वह आहार स्वाद का आनन्द न लेते हुए मुख में डाला। **किमागमणप्पओयणं**—आपके पधारने का क्या प्रयोजन है ? **रहस्सकडे**—गुप्त बात। **सव्वं सम्मं णिसिरइ**—सारा पाक सम्यक् प्रकार से पात्र में डाल दिया। **णिबद्धे**—बांध लिया। **हट्ठे**—हृष्ट—व्याधिरहित। **अरोगे**—नीरोग-पीड़ारहित।[२]

१२९. 'भंते ! ' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं नमंसति, वं० २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूति नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए, से णं भंते ! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेयेणं भासरासीकए समाणे कहिं गए, कहिं उववन्ने ?

एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूति नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं भासरासीकए समाणे उड्ढं चंदिमसूरिय जाव बंभ-लंतक-महासुक्के कप्पे वीतिवइत्ता सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं अट्ठारस सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता, तत्थ णं सव्वाणुभूतिस्स वि देवस्स अट्ठारस सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता। से णं भंते ! सव्वाणुभूति देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति।

[१२९ प्र.] 'भगवन् ! ' इस प्रकार सम्बोधन करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! देवानुप्रिय का अन्तेवासी पूर्वदेश में उत्पन्न सर्वानुभूति नामक अनगार, जो कि प्रकृति से भद्र यावत् विनीत था, और जिसे मंखलिपुत्र गोशालक ने अपने तप-

---

१. (क) स्यान्मातुलुङ्गः 'कफवातहन्ता।' —सुश्रुतसंहिता
   (ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. ११, पृ. ७७९ से ७९३ तक

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९१,
   (ख) भग. (हिन्दी-विवेचन) भा. ५, पृ. २४६८

तेज से (जला कर) भस्म कर दिया था, वह मर कर कहाँ गया, कहाँ उत्पन्न हुआ ?'

[१२९ उ.] हे गौतम ! मेरा अन्तेवासी पूर्वदेशोत्पन्न सर्वानुभूति अनगार, जो कि प्रकृति से भद्र, यावत् विनीत था, जिसे उस समय मंखलिपुत्र गोशालक ने अपने तप-तेज से जला कर भस्मसात् कर दिया था, ऊपर चन्द्र और सूर्य का यावत् ब्रह्मलोक, लान्तक और महाशुक्र कल्प का अतिक्रमण कर सहस्रारकल्प में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ के कई देवों की स्थिति अठारह सागरोपम की कही गई है। सर्वानुभूति देव की स्थिति भी अठारह सागरोपम की है। वह सर्वानुभूति देव उस देवलोक से आयुष्यक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय होने पर यावत् महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) में (जन्म लेकर) सिद्ध होगा यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (१२९) में श्री गौतम स्वामी द्वारा सर्वानुभूति अनगार की गति-उत्पत्ति के सम्बन्ध में भगवान् से पूछे गये प्रश्न का उत्तर प्रतिपादित है।

सुनक्षत्र अनगार की भावी गति-उत्पत्तिसम्बन्धी निरूपण

१३०. एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कोसलजाणवते सुनक्खत्ते नाम अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए, से णं भंते ! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेयेणं परिताविए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने ?

एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी सुनक्खत्ते नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए, से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेयेणं परिताविए समाणे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छति, उवा० २ वंदति नमंसति, वं० २ सयमेव पंच महव्वयाइं आरुभेति, सयमेव पंच० आ० २ समणा य समणीओ य खामेति, स० खा० २ आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिम-सूरिय जाव आणय-पाणयारणे कप्पे वीतीवइत्ता अच्चुते कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिती पन्नता, तत्थ णं सुनक्खत्तस्स वि देवस्स बावीस सागरोवमाइं०, सेसं जहा सव्वाणुभूति जाव अंतं काहिति।

[१३० प्र.] भगवन् ! आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी कौशलजनपदोत्पन्न सुनक्षत्र नामक अनगार जो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत था, वह मंखलिपुत्र गोशालक द्वारा अपने तप-तेज से परितापित किये जाने पर काल के अवसर पर काल करके कहाँ गया ? कहाँ उत्पन्न हुआ ?

[१३० उ.] गौतम ! मेरा अन्तेवासी सुनक्षत्र नामक अनगार, जो प्रकृति से भद्र, यावत् विनीत था; वह उस समय मंखलिपुत्र गोशालक के तप-तेज से परितापित होकर मेरे पास आया। फिर उसने मुझे वन्दन-नमस्कार करके स्वयमेव पंचमहाव्रतों का उच्चारण (आरोपण) किया। फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमापना की और आलोचना-प्रतिक्रमण करके, समाधि प्राप्त कर काल के समय में काल करके ऊपर चन्द्र और सूर्य को यावत् आनत-प्राणत और आरण-कल्प का अतिक्रमण करके वह अच्युतकल्प में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ कई देवों की स्थिति बाईस सागरोपम की कही गई है। सुनक्षत्र देव की स्थिति भी बाईस सागरोपम की है। शेष सभी

वर्णन सर्वानुभूति अनगार के समान, यावत्—सभी दु:खों का अन्त करेगा; यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (१३०) में सुनक्षत्र अनगार की भावी गति-उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न और भगवान् द्वारा दिये गये उत्तर का निरूपण है।

गोशालक का भविष्य

१३१. एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले नामं मंखलिपुत्ते, से णं भंते ! गोसाले मंखलिपत्ते कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने ?

एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले नामं मंखलिपुत्ते, समणघातए जाव छउमत्थे चेव कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिय जाव अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता, तत्थ णं गोसालस्स वि देवस्स बावीस सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता।

[१३१ प्र.] भगवन् ! देवानुप्रिय का अन्तेवासी कुशिष्य गोशालक मंखलिपुत्र काल के अवसर में काल करके कहाँ गया, कहाँ उत्पन्न हुआ ?

[१३१ उ.] हे गौतम ! मेरा अन्तेवासी कुशिष्य मंखलिपुत्र गोशालक, जो श्रमणों का घातक था, यावत् छद्मस्थ-अवस्था में ही काल के समय में काल करके ऊँचे चन्द्र और सूर्य का यावत् उल्लंघन करके अच्युतकल्प में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ कई देवों की स्थिति बाईस सागरोपम की कही गई है। उनमें गोशालक की स्थिति भी बाईस सागरोपम की है।

विवेचन—गोशालक अन्तिम समय में सम्यग्दृष्टि होकर आराधनापूर्वक शुभभावों से कालधर्म को प्राप्त हुआ था, इसलिए गोशालक भी अच्युत देवलोक में उत्पन्न हुआ और भगवान् ने उसकी अनन्तर गति और उत्पत्ति प्रस्तुत सूत्र में अच्युतकल्प के देवरूप में बताई है।[१]

गोशालक : देवभव से लेकर मनुष्यभव तक : विमलवाहन राजा के रूप में

१३२. से णं भंते ! गोसाले देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले पुंडेसु जणवएसु सत्तदुवारे नगरे सम्मुतिस्स रन्नो भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव वोतिक्कंताणं जाव सुरूवे दारए पयाहिति, जं रयणिं च णं से दारए जाहिति, तं रयणिं च णं सतदुवारे नगरे सब्भंतरबाहिरिए भारग्गसो ये कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मपियरो एक्कारसमे दिवसे वीतिक्कंते जाव संपत्ते बारसाहदिवसे अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं काहिंति—जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि जायंसि समाणंसि सतुदुवारे नगरे सब्भंतरबाहिरिए जाव रयणवासे य वासे वुट्ठे, तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधेज्जं

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ७३१-७३३

'महापउमे, महापउमे।'

"तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करेहिंति 'महापउमो' त्ति।"

"तए णं तं महापउमं दारगं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरण-दिवस-नक्खत्तमुहुत्तंसि महया महया रायाभिसेगेणं अभिसिंचेहिंति। से णं तत्थ राया भविस्सइ महता हिमवंत० वण्णओ जाव विहरिस्सति।"

"तए णं तस्स महापउमस्स रण्णो अन्नदा कदायि दो देवा महिड्ढिया जाव महेसक्खा सेणाकम्मं काहिंति, तं जहा—पुणभद्दे य माणिभद्दे य। तए णं सतदुवारे नगरे बहवे राईसर-तलवर० जाव सत्थवाहप्पभितयो अन्नमन्नं सद्दावेहिंति, अन्न० स० २ एवं वदिहिंति—जम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं महापउमस्स रण्णो दो देवा महिड्ढीया जाव सेणाकम्मं करेंति तं जहा—पुण्णभद्दे य माणिभद्दे य; तं होउ णं देवाणुप्पिया ! अम्हं महापउमस्स रण्णो दोच्चे वि नामधेज्जे 'देवसेणे, देवसेणे।"

" तए णं तस्स महापउमस्स रण्णो दोच्चे वि नामधेज्जे भविस्सति 'देवसेणे' त्ति।"

" तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो अन्नदा कदायि सेते संखतलविमलसन्निगासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पज्जिस्सइ। तए णं से देवसेणे राया तं सेतं संखतलविमलसन्निगासं चउद्दंतं हत्थिरयणं दुरूढे समाणे सयदुवारं नगरं मज्झंमज्झेणं अभिक्खणं अभिक्खणं अतिजाहिति य निज्जाहिति य। तए णं सयदुवारे नगरे बहवे राईसर जाव पभितयो अन्नमन्नं सद्दावेहिंति अन्न० स० २ एवं वदिहिंति—जम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णे सेते संखतलविमलसन्निगासे चउद्दंते हत्थिरयणे समुप्पन्ने, तं होउ णं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि नामधेज्जे 'विमलवाहणे विमलवाहणे'।"

"तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि नामधेज्जे भविस्सति 'विमलवाहणे' त्ति।"

"तए णं से विमलवाहणे राया अन्नदा कदायि समणेहिं निग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवज्जिहिति—अप्पेगतिए आओसेहिति, अप्पेगतिए अवहसिहिति, अप्पेगतिए निच्छोडेहिति, अप्पेगतिए निब्भच्छेहिति, अप्पेगतिए बंधेहिति, अप्पेगतिए णिरुंभेहिति, अप्पेगतियाणं छविच्छेदं करेहिति, अप्पेगइए मारेहिति, अप्पेगतिए पमारेहिइ, अप्पेगतिए उद्दवेहिति, अप्पेगतियाणं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं आछिंदिहिति विच्छिदिहिति भिंदिहिति अवहरिहिति, अप्पेगतियाणं भत्तपाणं वोच्छिंदिहिति, कप्पेगतिए णिन्नगरे करेहिति, अप्पेगतिसए निविस्सए करेहिति।"

"तए णं सतद्दुवारे नगरे बहवे राईसर जाव वदिहिंति—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! विमलवाहणे राया समणेहिं निग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने अप्पेगतिए आओसति जाव निव्विस्सए करेति, तं नो खलु देवाणुप्पिया ! एयं अम्हं सेयं, नो खलु एयं विमलवाहणस्स रण्णो सेयं रज्जस्स वा रट्ठस्स वा बलस्स वा वाहणस्स वा पुरस्स वा अंतेउरस्स वा जणवयस्स वा सेयं, जं णं विमलवाहणे राया समणेहिं निग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं विमलवाहणं रायं एयमट्ठं विण्णवित्तए' त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति, अन्न० प० २ जेणेव विमलवाहणे राया तेणेव

उवागच्छंति, उवा० २ करयलपरिग्गहियं विमलवाहणं रायं जएणं विजएणं वद्धावेहिंति, जएणं विजएणं वद्धावित्ता एवं वदिहिंति—'एवं खलु देवाणुप्पिया समणेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ना अप्पेगतिए आओसंति जाव अप्पेगतिए निव्विसए करेंति, तं नो खलु एयं देवाणुप्पियाणं सेयं, नो खलु एयं अम्हं सेयं, नो खलु एयं रज्जस्स वा जाव जणवदस्स वा सेयं, जं णं देवाणुप्पिया समणेहिं निग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ना, तं विरमंतु णं देवाणुप्पिया एयस्सट्ठस्स अकरणयाए।'

''तए णं से विमलवाहणे राया तेहिं बहूहिं राईसर जाव सत्थवाहप्पभितीहिं एयमट्ठं विन्नत्ते समाणे 'नो धम्मो त्ति, नो तवो,' त्ति, मिच्छाविणएणं एयमट्ठं पडिसुणेहिति।''

''तस्स णं सतदुवारस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे एत्थ णं सुभूमिभागे नामं उज्जाणे भविस्सति, सव्वोउय० वण्णओ।''

''तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पउप्पए सुमंगले नामं अणगारे जातिसंपन्ने जहा धम्मघोसस्स वण्णओ (स० ११ उ० ११ सु० ५३) जाव संखित्तविउलतेयलेस्से तिणाणोवगए सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं जाव आयावेमाणे विहरिस्सति।''

''तए णं से विमलवाहणे राया अन्नदा कदायि रहचरियं काउं निज्जाहिति। तए णं से विमलवाहणे रायां सुभूमिभागस्स उज्जणस्स अदूरसामंते रहचरियं करेमाणे सुमंगलं अणगारं छट्ठंछट्ठेणं जाव आतावेमाणं पासिहिति, पा० २ आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं रहसिरेणं णोल्लावेहिति।''

''तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति; स० उ० २ दोच्चं पि उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय जाव आयावेमाणे विहरिस्सति।''

''तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलं अणगारं दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लावेहिति।''

''तए णं सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति, स० उ० २ ओहिं पउंजिहिति, ओहिं प० विमलवाहणस्स रण्णो तीयद्धं आभोएहिति, ती० आ० २ विमलवाहणं रायं एवं वदिहिति—'नो खलु तुमं विमलवाहणे राया, नो खलु तुमं देवसेणे राया, नो खलु तुमं महापउमे राया, तुमं णं इओ तच्चे भवग्गहणे गोसाले नामं मंखलिपुत्ते होत्था समणघायए जाव छउमत्थे चेव कालगए। तं जति ते तदा सव्वाणुभूतिणा अणगारेणं पभुणा वि होऊणं सम्मं सहियं खमियं तितिक्खियं अहियासियं जइ ते तदा सुनक्खत्तेणं अणगारेणं पभुणा वि होइऊणं सम्मं सहियं जाव अहियासियं, जइ ते तदा समणेणं भगवता महावीरेणं पभुणा वि जाव अहियासियं तं नो खलु अहं तहा सम्मं सहिस्सं जाव अहियासिस्सं, अहं ते नवरं सहयं सरहं ससारहीयं तवेणं तेयेणं एगाहच्चं कूडाःहच्चं भसरासिं करेज्जामि'।''

''तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं तच्चं पि रहसिरेणं णोल्लावेहिति।''

"तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा तच्चं पि रहसिरेणं नोल्लाविए समाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुहति, आ० प० २ तेयासमुग्घातेणं समोहन्निहिति, तेया० स० २ सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्किहिति, सत्तट्ठ० पच्चो० २ विमलवाहणं रायं सहयं ससारहीयं तवेणं तेयेण जाव भासरासिं करेहिति।"

[१३२ प्र.] भगवन् ! वह गोशालक देव उस देवलोक से आयुष्य, भव और स्थिति का क्षय होने पर, देवलोक से च्यव कर यावत् कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१३२ उ.] गौतम ! इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के (अन्तर्गत) भारतवर्ष (भरतक्षेत्र) में विन्ध्यपर्वत के पादमूल (तलहटी) में, पुण्ड्र जनपद के शतद्वार नामक नगर में सन्मूर्ति नाम के राजा की भद्रा-भार्या की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न होगा। वह वहाँ नौ महीने और साढ़े सात रात्रिदिवस यावत् भलीभांति व्यतीत होने पर यावत् सुन्दर (रूपवान्) बालक के रूप में जन्म लेगा। जिस रात्रि में उस बालक का जन्म होगा, उस रात्रि में शतद्वार नगर के भीतर और बाहर, अनेक भार-प्रमाण और अनेक कुम्भप्रमाण पद्मों (कमलों) एवं रत्नों की वर्षा होगी। तब उस बालक के माता-पिता ग्यारह दिन बीत जाने पर बारहवें दिन उस बालक का गुणयुक्त एवं गुणनिष्पन्न नामकरण करेंगे—क्योंकि हमारे इस बालक का जब जन्म हुआ, तब शतद्वार नगर के भीतर और बाहर यावत् पद्मों और रत्नों की वर्षा हुई थी, इसलिए हमारे इस बालक का नाम 'महापद्म' हो।

तदनन्तर ऐसा विचार कर उस बालक के माता-पिता उसका नाम रखेंगे-'महापद्म'।

तत्पश्चात् उस महापद्म बालक के माता-पिता उसे कुछ अधिक आठ वर्ष का जान कर शुभ तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र और मुहूर्त में बहुत बड़े (या बड़े धूमधाम से) राज्याभिषेक से अभिषिक्त करेंगे। इस प्रकार वह (महापद्म) वहाँ का राजा बन जाएगा। औपपातिक में वर्णित राज-वर्णन के समान इसका वर्णन जान लेना चाहिए। वह महाहिमवान् आदि पर्वत के समान महान् एवं बलशाली होगा, यावत् वह (राज्यभोग करता हुआ) विचरेगा।

किसी समय दो महर्द्धिक यावत् महासौख्यसम्पन्न देव उस महापद्म राजा का सेनापतित्व करेंगे। वे दो देव इस प्रकार हैं—पूर्णभद्र और मणिभद्र। यह देख कर शतद्वार नगर के बहुत-से राजेश्वर (मण्डलपति), तलवर, राजा, युवराज यावत् सार्थवाह आदि परस्पर एक दूसरे को बुलायेंगे और कहेंगे—देवानुप्रियो ! हमारे महापद्म राजा के महर्द्धिक यावत् महासौख्यशाली दो देव सेनाकर्म करते हैं। इसलिए (हमारी सम्मति है कि) देवानुप्रियो ! हमारे महापद्म राजा का दूसरा नाम देवसेन या देवसैन्य हो।

तब उस महापद्म राजा का दूसरा 'देवसेन' या 'देवसैन्य' भी होगा।

तदनन्तर किसी दिन उस देवसेन राजा के शंखदल (—खण्ड) या शंखतल के समान निर्मल एवं श्वेत चार दांतों वाला हस्तिरत्न समुत्पन्न होगा। तब वह देवसेन राजा उस शंखतल (दल) के समान श्वेत एवं निर्मल चार दांत वाले हस्तिरत्न पर आरूढ हो कर शतद्वार नगर के मध्य में होकर बार-बार बाहर जाएगा और आएगा। यह देख बहुत-से राजेश्वर यावत् सार्थवाह प्रभृति परस्पर एक दूसरे को बुलाएँगे और फिर इस प्रकार कहेंगे—'देवानुप्रियो ! हमारे देवसेन राजा के यहाँ शंखदल या शंखतल के समान श्वेत, निर्मल एवं चार दांतों

वाला हस्तिरत्न समुत्पन्न हुआ, अत: हे देवानुप्रियो ! हमारे देवसेन राजा का तीसरा नाम 'विमलवाहन' भी हो।'

तत्पश्चात् उस देवसेन राजा का तीसरा नाम 'विमलवाहन' भी हो जाएगा।

तदनन्तर किसी दिन विमलवाहन राजा श्रमण-निर्ग्रन्थों के प्रति मिथ्याभाव (—अनार्यत्व) को अपना लेगा। वह कई श्रमण निर्ग्रन्थों के प्रति आक्रोश करेगा किन्हीं का उपहास करेगा, कतिपय साधुओं को एक दूसरे से पृथक्-पृथक् कर देगा, कइयों की भर्त्सना करेगा। कई श्रमणों को [illegible]गा, कइयों का निरोध (जेल में बंद) करेगा, कई श्रमणों के अंगच्छेदन करेगा, कुछ को मारेगा, कइयों पर उपद्रव करेगा, कतिपय श्रमणों के वस्त्र, पत्र, कम्बल और पादप्रोंछन को छिन्नभिन्न कर देगा, नष्ट कर देगा, चीर-फाड़ देगा या अपहरण कर लेगा। कई श्रमणो के आहार-पानी का विच्छेद करेगा और कई श्रमणों को नगर और देश से निर्वासित करेगा।

(उसका यह रवैया देख कर) शतद्वारनगर के बहुत-से राजा, ऐश्वर्यशाली यावत् सार्थवाह आदि परस्पर यावत् कहने लगेंगे— देवानुप्रियो ! विमलवाहन राजा ने श्रमण निर्ग्रन्थों के प्रति अनार्यपन अपना लिया है, यावत् कितने ही श्रमणों का इसने देश से निर्वासित कर दिया है, इत्यादि। अत: देवानुप्रियो ! यह हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है। यह न विमलवाहन राज के लिए श्रेयस्कर है और न राज्य, राष्ट्र, बल (सैन्य) वाहन, पुर, अन्त:पुर अथवा जनपद (देश) के लिए श्रेयस्कर है कि विमलवाहन राजा श्रमण-निर्ग्रन्थों के प्रति अनार्यत्व को अंगीकार करे। अत: देवानुप्रियो ! हमारे लिए यह उचित है कि हम विमलवाहन राजा को इस विषय में विनयपूर्वक निवेदन करें। इस प्रकार वे सब परस्पर एक-दूसरे की बात मानेंगे और इस प्रकार निश्चय करके विमलवाहन राजा के पास आएँगे। करबद्ध होकर विमलवाहन राजा को जय-विजय शब्दों से बधाई देंगे। फिर इस प्रकार कहेंगे—हे देवानुप्रिय ! श्रमण-निर्ग्रन्थों के प्रति आपने अनार्यत्व अपनाया है; कइयों पर आप आक्रोश करते हैं, यावत् कई श्रमणों को आप देश-निर्वासित करते हैं। अत: हे देवानुप्रिय ! यह आपके लिए श्रेयस्कर नहीं है, न हमारे लिए श्रेयस्कर है और न ही यह राज्य, राष्ट्र यावत् जनपद के लिए श्रेयस्कर है कि आप देवानुप्रिय श्रमण-निर्ग्रन्थों के प्रति अनार्यत्व स्वीकार करें। अत: हे देवानुप्रिय ! आप इस अकार्य को करने से रुकें (इस दुराचरण को बन्द करें)।

तदनन्तर इस प्रकार जब वे राजेश्वर यावत् सार्थवाह आदि विनयपूर्वक राजा विमलवाहन से विनति करेंगे, तब वह राजा—धर्म (कुछ) नहीं, तप निरर्थक है, इस प्रकार की बुद्धि होते हुए भी मिथ्या-विनय बता कर उनकी इस विनति को मान लेगा।

उस शतद्वारनगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में सुभूमि भाग नाम का उद्यान होगा, जो सब ऋतुओं के फल-पुष्पों से समृद्ध होगा, इत्यादि वर्णन पूर्ववत्।

उस काल उस समय में विमल नामक तीर्थंकर के प्रपौत्र-शिष्य 'सुमंगल' नामक होंगे। उनका वर्णन (शतक ११, उ. ११, सू. ५३ में उक्त) धर्मघोष अनगार के समान, यावत् संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या वाले, तीन ज्ञानों से युक्त वह सुमंगल नामक अनगार, सुभूमिभाग उद्यान से न अति दूर और न अति निकट निरन्तर छठ-

छठ (बेले-बेले) तप के साथ यावत् आतापना लेते हुए विचरेंगे।

वह विमलवाहन राजा किसी दिन रथचर्या करने के लिए निकलेगा। जब सुभूमिभाग उद्यान से थोड़ी दूर रथचर्या करता हुआ वह विमलवाहन राजा, निरन्तर छठ-छठ तप के साथ आतापना लेते हुए सुमंगल अनगार को देखेगा; तब उन्हें देखते ही वह एकदम क्रुद्ध होकर यावत् मिसमिसायमान (क्रोध से अत्यन्त प्रज्वलित) होता हुआ रथ के अग्रभाग से सुमंगल अनगार को टक्कर मार कर नीचे गिरा देगा।

विमलवाहन राजा द्वारा रथ के अग्रभाग से टक्कर मार कर सुमंगल अनगार को नीचे गिरा देने पर वह (सुमंगल अनगार) धीरे-धीरे उठेंगे और दूसरी बार फिर बाहें ऊँची करके यावत् आतापना लेते हुए विचरेंगे।

तब वह विमलवाहन राजा फिर दूसरी बार रथ के अग्रभाग से टक्कर मार कर नीचे गिरा देगा, अतः सुमंगल अनगार फिर दूसरी बार शनैः शनैः उठेंगे और अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर विमलवाहन राजा के अतीत काल को देखेंगे। फिर वह विमलवाहन राजा से इस प्रकार कहेंगे—'तुम वास्तव में विमलवाहन राजा नहीं हो, तुम देवसेन राजा भी नहीं हो, और न ही तुम महापद्म राजा हो; किन्तु तुम इससे पूर्व तीसरे भव में श्रमणों के घातक गोशालक नामक मंखलिपुत्र थे, यावत् तुम छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर (मर) गए थे। उस समय समर्थ होते हुए भी सर्वानुभूमि अनगार ने तुम्हारे अपराध को सम्यक् प्रकार से सहन कर लिया था, क्षमा कर दिया था, तितिक्षा की थी और उसे अध्यासित (समभावपूर्वक सहन) किया था। इस प्रकार सुनक्षत्र अनगार ने भी समर्थ होते हुए यावत् अध्यासित किया था। उस समय श्रमण भगवान् महावीर ने समर्थ होते हुए भी यावत् अध्यासित (समभावपूर्वक सहन) कर लिया था। किन्तु मैं इस प्रकार सहन यावत् अध्यासित नहीं करूँगा। मैं तुम्हें अपने तप-तेज से घोड़े, रथ और सारथी सहित एक ही प्रहार में कूटाघात के समान राख का ढेर कर दूंगा।

जब सुमंगल अनगार विमलवाहन राजा से ऐसा कहेंगे, तब वह एकदम कुपित यावत् क्रोध से आगबबूला हो उठेगा फिर तीसरी बार भी रथ के सिरे से टक्कर मार कर सुमंगल अनगार को नीचे गिरा देगा।

जब विमलवाहन राजा अपने रथ के सिरे से टक्कर मार कर, सुमंगल अनगार को तीसरी बार नीचे गिरा देगा, तब सुमंगल अनगार अतीव क्रुद्ध यावत् कोपावेश से मिसमिसाहट करते हुए आतापनाभूमि से नीचे उतरेंगे और तैजस-समुद्घात करके सात-आठ कदम पीछे हटेंगे, फिर विमलवाहन राजा को अपने तप-तेज से घोड़े, रथ और सारथि सहित एक ही प्रहार से यावत् (जला कर) राख का ढेर कर देंगे।

विवेचन—प्रस्तुत लम्बे सूत्र (सू. १३२) में गोशालक के देवभव से लेकर मनुष्यभव में विमलवाहन राजा के रूप में सुमंगल अनगार को तीन बार पीड़ा देने पर उनके द्वारा तपोजन्य तेजोलेश्या से भस्म कर देने तक का वृतान्त उल्लिखित किया गया है।

एक शंका : समाधान—समवायांगसूत्र की टीका से ज्ञात होता है कि उत्सर्पिणी काल में 'विमल' नामक इक्कीसवें तीर्थंकर होंगे और वे अवसर्पिणी काल के चतुर्थ तीर्थंकर के स्थान में प्राप्त होते हैं। उनसे

पहले के अर्वाचीन तीर्थंकरों के अन्तर काल में करोड़ों सागरोपम व्यतीत हो जाते हैं, जबकि यह महापद्म राजा तो बारहवें देवलोक की बाईस सागरोपम की स्थिति पूर्ण करके होगा, ऐसा मूलपाठ में उल्लेख है। इसलिए इसके साथ महापद्म की संगति बैठनी कठिन है। किन्तु वृत्तिकार ने दूसरी तरह से इसकी संगति इस प्रकार बिठाई है—बाईस सागरोपम की स्थिति के पश्चात् जो तीर्थंकर उत्सर्पिणी काल में होगा, उसका नाम '**विमल**' होगा—ऐसा संभावित है। क्योंकि एक ही नाम के अनेक महापुरुष होते हैं।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—**विंझगिरिपायमूले**—विन्ध्याचल की तलहटी में। **पच्चायाहिति**—उत्पन्न होगा। **दारए**—बालक। **भारग्गसो**—भार प्रमाण। पुरुष जिनता बोझ उठा सके, उसे अथवा १२० पल-प्रमाण वजन को 'भार' या भारक कहते हैं। यही भार-प्रमाण है। **कुंभग्गसो**—अनेक कुम्भ-प्रमाण। कुम्भ प्रमाण तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। ६० आढक प्रमाण का जघन्य कुम्भ, ८० आढक प्रमाण का मध्यम कुम्भ और १०० आढक प्रमाण का उत्कृष्ट कुम्भ होता है। **पउमवासे**—पद्मवर्षा। **सेणाकम्मं**—सैनिक कर्म।

संखतल-विमल-सणिक्कासे : दो रूप : दो अर्थ—(१) शंख-दल—शंखखण्ड, (२) शंखतल के समान विमल-निर्मल। **समुप्पज्जिस्सइ**—समुत्पन्न होगा। **अभिजाहिति, णिज्जाहिति**—आएगा और जाएगा, आवागमन करेगा। **विप्पडिवज्जिहिति**—विपरीतता अपनाएगा। **आओसेहिति**—आक्रोश-वचन कहेगा, झिड़केगा। **अवहसिहिति**—हंसी उड़ाएगा। **निच्छोडेहिति**—पृथक् करेगा। **निब्भच्छेहिति**—भर्त्सना करेगा—दुर्वचन बोलेगा। **णिरुंभेहिति**—निरोध करेगा—रोकेगा। **पमारेहिइ**—मारना प्रारम्भ करेगा। **उद्दवेहिति**—उपद्रव करेगा। **आच्छिंदिहिइ**—थोड़ा छेदन करेगा। **विच्छिंदिहिति**—विशेष रूप से या विविध प्रकार से छेदन करेगा। **भिंदिहिति**—तोड़-फोड़ करेगा। **अवहरिहिति**—अपहरण करेगा, उछाल देगा। **णिन्नगरे करेहिति**—नगरनिर्वासन करेगा। **निव्विसए करेहिति**—देश-निकाला दे देगा। **विण्णवित्तए**—विनति करें। **विरमंतु**—रुके, बन्द करें। **पउप्पए**—प्रपौत्रशिष्य—शिष्य सन्तान। **रहचरियं**—रथचर्या। **आयावेमाणं**—आतापना लेते हुए। **रहसिरेणं**—रथ के सिरे से। **णोल्लावेहिति**—गिरा देगा। **पभुणा**—समर्थ होते हुए। **तितिक्खियं**—तितिक्षा की। **सहयं**—घोड़े सहित। **सरहं**—रथसहित। **ससारहियं**—सारथिसहित।[2]

राज्य और राष्ट्र में अन्तर—प्राचीन काल में राजा, मन्त्री, राष्ट्र, कोष, दुर्ग (किला), बल (सेना) और मित्रवर्ग, इन सात को राज्य कहा जाता था और जनपद अर्थात्—राज्य के एक देश को राष्ट्र, किन्तु वर्तमान काल की भौगोलिक व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक प्रान्त को राज्य (State) कहा जाता है, और कई प्रान्त मिल

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९१

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ६९१
   (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४७६ से २४८६

कर एक राष्ट्र होता है। कई जिले मिल कर एक प्रान्त होता है।[१]

सुमंगल अनगार की भावी गति : सर्वार्थसिद्ध विमान एवं मोक्ष

१३३. सुमंगले णं भंते ! अणगारे विमलवाहणं रायं सहयं जाव भासरासिं करेत्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! सुमंगले णं अणगारे विमलवाहणं रायं सहयं भासरासिं करेत्ता बहुहिं चउत्थछट्ठम-दसम-दुवालस जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणं बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणेहिति, बहुइं० पा० २ मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए जाव छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे० उड्ढं चंदिम जाव गेवेज्जविमाणावाससयं वीतीवइत्ता सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ णं देवाणं अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पन्नता। तत्थ णं सुमंगलस्स वि देवस्स अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता।

[१३३ प्र.] भगवन् ! सुमंगल अनगार, अश्व, रथ और सारथि सहित (राजा विमलवाहन को) भस्म का ढेर करके, स्वयं काल करके कहाँ जाएंगे, कहाँ उत्पन्न होंगे ?

[१३३ उ.] गौतम ! विमलवाहन राजा को घोड़ा, रथ और सारथि सहित भस्म करने के पश्चात् सुमंगल अनगार बहुत-से उपवास (चउत्थ), बेला (छट्ठ), तेला (अट्ठम), चौला (दशम), पंचौला (द्वादश) यावत् विचित्र प्रकार के तपश्चरणों से अपनी आत्मा को भावित करते हुए बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करेंगे। फिर एक मास की संलेखना से साठ भक्त अनशन का यावत् छेदन करेंगे और आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके समाधिप्राप्त होकर काल के अवसर में काल करेंगे। फिर वे ऊपर चन्द्र, सूर्य, यावत् एक सौ ग्रैवेयक विमानवासों का अतिक्रमण करके सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवरूप से उत्पन्न होंगे। वहाँ देवों की अजघन्यानुत्कृष्ट (जघन्य और उत्कृष्टता से रहित) तेतीस सागरोपम की स्थिति कही गई है। वहाँ सुमंगल देव की भी अजघन्यानुत्कृष्ट (पूरे) तेतीस सागरोपम की स्थिति होगी।

१३४. से णं भंते ! सुमंगले देवे ताओ देवलोगाओ जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

[१३४ प्र.] भगवन् ! वह सुमंगलदेव उस देवलाक से च्यव कर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१३४ उ.] गौतम ! वह सुमंगलदेव उस देवलोक से च्यवकर यावत् महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९२

स्वाम्यामात्यश्च राष्ट्रं च कोशो दुर्गं बलं सुहृत्।

सप्तांगमुच्यते राज्यं बुद्धिसत्त्वसमाश्रयम्॥ राष्ट्रं जनपदैकदेशः।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में सुमंगल अनगार की सवार्थसिद्ध देवभव में और तत्पश्चात् महाविदेह क्षेत्र में उत्पत्ति और मोक्षगति का निरूपण किया गया है। **अजहन्नमणुक्कोसेण**—सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देवों की जघन्य और उत्कृष्ट, या दो प्रकार की स्थिति नहीं है किन्तु सभी देवों की तेतीस सागरोपम की स्थिति होती है।[1]

गोशालक के भावी दीर्घकालीन भवभ्रमण का दिग्दर्शन

१३५. विमलवाहणे णं भंते ! राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहये जाव भासरासीकए समाणे कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! विमलवाहणे णं राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहये जाव भासरासीकए समाणे अहेसत्तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठितीयंमि नरगंसि नेरइयत्तारगं उववज्जिहिति।

[१३५ प्र.] भगवन् ! सुमंगल अनगार द्वारा अश्व, रथ और सारथि-सहित भस्म किया हुआ विमलवाहन राजा कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१३५ उ.] गौतम ! सुमंगल अनगार के द्वारा अश्व, रथ और सारथि-सहित भस्म किये जाने पर विमलवाहन राजा अध:सप्तम पृथ्वी में, उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नरकों में नैरयिकरूप से उत्पन्न होगा।

१३६. से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि अहेसत्तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठितीयंसि नरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जिहिति।

[१३६] वहाँ से यावत् उद्वर्त्त (मर) कर फिर सीधा दूसरी बार मत्स्यों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र के द्वारा वध होने पर दाहज्वर की पीड़ा से काल करके दूसरी बार फिर अध:सप्तम पृथ्वी में उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नारकावासों में नैरयिकरूप में उत्पन्न होगा।

१३७. से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा छट्ठाए तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठितीयंसि नरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जिहिति।

[१३७] वहाँ से उद्वर्त्त (मर) कर फिर सीधा दूसरी बार मत्स्यों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र से वध होने पर यावत् काल कर छठी तम:प्रभा पृथ्वी में उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले नरकावासों में नैरयिकरूप से उत्पन्न होगा।

१३८. से णं तओहिंतो जाव उव्वट्टित्ता इत्थियासु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाह० जाव दोच्चं पि छट्ठाए तमाए पुढवीए उक्कोसकाल जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि इत्थियासु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल जाव उव्वट्टित्ता उराएसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा दोच्चं पि पंचमाए जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि उरएसु उववज्जिहिति जाव किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठितीयंसि जाव उव्वट्टित्ता सीहेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे तहेव जाव किच्चा दोच्चं पि चउत्थीए पंक० जाव

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २४८८

उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सीहेसु उववज्जिहिति जाव किच्चा तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल जाव उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा दोच्चं पि तच्चाए वालुय जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि पक्खीसु उवव० जाव किच्चा दोच्चाए सक्करप्पभाए जाव उव्वट्टित्ता सिरीसिवेसु उवव०। तत्थ वि णं सत्थ० जाव किच्चा दोच्चं पि दोच्चाए सक्करप्पभाए जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सिरीसिवेसु उववज्जिहिति जाव किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठितीयंसि नरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जिहिति, जाव उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थसज्झे जाव किच्चा असण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि ण सत्थवज्झे जाव किच्चा असण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा दोच्चं पि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठितीयंसि णरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जिहिति।

से णं ततो जाव उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहचरविहाणाइं भवंति, तं जहा चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं तेसु अणेगसतसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाहिति। सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीय कालमासे कालं किच्चा जाइं इमाइं भुयपरिसप्पविहाणाइं भवंति; तं जहा—गोहाणं नउलाणं जहा पण्णवणापदे जाव[1] जाहगाणं चाउप्पाइयाणं, तेसु अणेगसयसहस्सखुत्तो सेसं जहा खहचराणं, जाव किच्चा जाइं इमाइं उरपरिसप्पविहाणाइं भवंति, तं जहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं, तेसु अणेगसयसह० जाव किच्चा जाइं इमाइं चउप्पयविहाणाइं भवंति, तं जहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणहपदाणं, तेसु अणेगसयसह० जाव किच्चा जाइं इमाइं जलचर-विहाणाइं भवंति, तं जहा—मच्छणं कच्छभाणं जाव[2] सुंसुमाराणं, तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा जाइं इमाइं चउरिंदिय-विहाणाइं भंवति, तं जहा—अंधियाणं पोत्तियाणं जहा पण्णवणापदे जाव[3] गोयमकीडाणं, तेसु अणेगसय० जाव किचचा जाइं इमाइं तेइंदियविहाणाइं भवंति, तं जहा—उवचियाणं जाव[4] हत्थिसोंडाणं तेसु अणेसगय० जाव किच्चा जाइं इमाइं बेइंदियविहाणाइं भवंति, तं जहा—पुलाकिमियाणं जाव[5] समुद्दलिक्खाणं, तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं वणस्सतिविहाणाइं भवंति, तं जहा—रुक्खाणं गुच्छाणं जाव[6] कुहुणाणं, तेसु अणेगसय० जाव पच्चायाइस्सइ। उस्सन्नं च णं कडुयरुक्खेसु कडुयवल्लीसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा जाइं इमाइं वाउकाइयविहाणाइं भवंति, तं जहा—पाईणवाताणं जाव[7] सुद्धवाताणं, तेसु अणेगसयहस्स० जाव

---

१. देखिये पण्णवणासुत्त भा. १ सू. ८५, पृ. ३३ (महावीर जैन विद्यालय-प्रकाशित) में—सरडाणं सल्लाणं इत्यादि।
—*अ. वृ. पत्र ६७३*

२. 'जाव' पद सूचक पाठ—'गाहाणं मगराणं' इत्यादि।

३. देखिये पण्णवणासुत्तं भा. १, सू. ५८-१, पृ. २८ (महावीर जैन विद्यालय प्रकाशित)

४. 'जाव' पद सूचक पाठ—रोहिणियाणं कुंथूणं पिवीलियाणं इत्यादि।

५. 'जाव' पद सूचक पाठ—कुच्छिकिमियाण गंडूपलगाणं गोलोमाणं इत्यादि।

६. 'जाव' पद सूचक पाठ—गुम्माण लयाणं वल्लीणं पव्वगाणं तणाणं वलयाणं हरिणणं ओसहीणं जलरूहाणं ति।

७. 'जाव' पद सूचक पाठ—'पडीणवायाणं दाहिणवायाण' इत्यादि।

किच्चा जाइं इमाइं तेउक्काइयविहाणाइं भवंति, तं जहा—इंगालाणं जाव[1] सूरकंतमणिनिस्सियाणं तेसु अणेगसयसह० जाव किच्चा जाइं इमाइं आउकाइयविहाणाइं भवंति, तं जहा—उस्साणं जाव[2] खातोदगाणं, तेसु अणेगहयसह० जाव पच्चायाइस्सति, उस्सण्णं च णं खारोदएसु खातोदएसु, सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा जाइं इमाइं पुढविकाइयविहाणाइं भवंति, तं जहा—पुढवीणं सक्कराणं जाव[3] सूरकंताणं, तेसु अणेगसय० जाव पच्चायाहिति, उस्सन्नं च णं खरबादरपुढविकाइएसु, सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे।

जाव किच्चा रायगिहे नगरे बाहिं खरियत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा दोच्चं पि रायगिहे नगरे अंतोखरियत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे जाव किच्चा इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपादमूले बेभेले सन्निवेसे माहणकुलंसि दारियत्ताए पच्चायाहिति। तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं जोव्वणमणुप्पत्तं पडिरूविएण सुंकेणं पडिरूविएणं विणएणं पडिरूवियस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलइस्संति। सा णं तस्स भारिया भविस्सति इट्ठा कंता जाव अणुमया भंडकरंडगसमाणा तेल्लकेला इव सुसंगोविया, चेलपेला इव सुसंपरिहिया, रयणकरंडओ विव सुरक्खिया सुसंगोविया—'मा णं सीयं मा णं उण्हं जाव परीसहोवसग्गा फुसंतु'। तए णं सा दारिया अन्नदा कदापि गुव्विणी ससुरकुलाओ कुलघरं निज्जमाणी अंतरा दवग्गिजालाभिहया कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु अग्गिकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१३८] वहाँ से वह यावत् निकल कर स्त्रीरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्राघात से मर कर दाहज्वर की वेदना से यावत् दूसरी बार पुनः छठी तमःप्रभा पृथ्वी में उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नरकावासों में नैरयिक होगा। वहाँ से यावत् निकल कर पुनः दूसरी बार स्त्रीरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र से वध होने पर यावत् काल करके पंचम धूमप्रभा पृथ्वी में उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला नैरयिक होगा। वहाँ से यावत् मर कर उरःपरिसर्पों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्राघात से यावत् मर कर दूसरी बार पंचम नरकपृथ्वी में, यावत् वहाँ से निकल कर दूसरी बार पुनः उरःपरिसर्पों में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नरकावासों में नैरयिक रूप में उत्पन्न होगा, यावत् वहाँ से निकलकर सिंहों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र द्वारा मारा जाकर यावत् दूसरी बार चौथे नरक में उत्पन्न होगा। यावत् वहाँ से निकल कर दूसरी बार सिंहों में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके तीसरी बालुकाप्रभा नरकपृथ्वी में उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होगा। यावत् वहाँ से निकल कर पक्षियों में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् शस्त्राघात से मर कर फिर दूसरी बार तीसरी बालुका प्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् शस्त्राघात से मर कर दूसरी बार पक्षियों में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् निकल कर सरीसृपों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र से मारा जा कर यावत् दूसरी

---

१. 'जाव' पद सूचक पाठ—'जालाणं मुम्मुराणं अच्चीणं' इत्यादि।

२. 'जाव' पद सूचक पाठ—'हिमाणं महयाणं' ति।

३. 'जाव' पद सूचक पाठ—'बालुयाणं उवलाणं' इत्यादि। —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९४

बार भी शर्कराप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके दूसरी बार पुन:सरीसृपों में उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके इस रत्नप्रभा पृथ्वी की उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नरकावासों में नैरयिक रूप से उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् निकल कर संज्ञीजीवों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र द्वारा मारा जाकर यावत् काल करके असंज्ञीजीवों में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्राघात से यावत् काल करके दूसरी बार इसी रत्नप्रभापृथ्वी में पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नरकावासों में नैरयिक रूप में उत्पन्न होगा।

वह वहाँ से निकल कर जो ये खेचरजीवों के भेद हैं, जैसे कि—चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी, उनमें अनेक लाख बार मर-मर कर बार-बार वहीं उत्पन्न होता रहेगा। सर्वत्र शस्त्र से मारा जा कर दाह-वेदना से काल के अवसर में काल करके जो ये भुजपरिसर्प के भेद हैं, जैसे कि—गोह, नकुल (नेवला) इत्यादि प्रज्ञापना-सूत्र के प्रथम पद के अनुसार (उन सभी में उत्पन्न होगा,) यावत् जाहक आदि चौपाये जीवों में अनेक लाख बार मर कर बार-बार उन्हीं में उत्पन्न होगा। शेष सब खेचरवत् जानना चाहिए, यावत् काल करके जो ये उर:परिसर्प के भेद होते हैं, जैसे कि—सर्प, अजगर, आशालिका और महोरग आदि इनमें अनेक लाख बार मर-मर कर बार-बार इन्हीं में उत्पन्न होगा। यावत् वहाँ से काल करके जो ये चतुष्पदजीवों में भेद हैं, जैसे कि एक खुर वाला, दो खुर वाला गण्डीपद और सनखपद, इनमें अनेक लाख बार उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके जो ये जलचरजीव-भेद हैं, जैसे कि मत्स्य, कच्छप यावत् सुंसुमार इत्यादि, उनमें लाख बार उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से यावत् काल करके जो ये चतुरिन्द्रिय जीवों के भेद हैं, जैसे कि—अन्धिक, पौत्रिक इत्यादि, प्रज्ञापनासूत्र के प्रथमपद के अनुसार यावत् गोमय-कीटों में अनेक लाख बार उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से यावत् काल करके जो ये त्रीन्द्रियजीवों के भेद हैं, जैसे कि—उपचित यावत् हस्तिशौण्ड आदि, इनमें अनेक लाख बार मर कर पुन:पुन: उत्पन्न होगा। वहाँ से यावत् काल करके जो ये द्वीन्द्रिय जीवों के भेद हैं, जैसे कि—पुलाकृमि यावत् समुद्दलिक्षा इत्यादि, इनमें अनेक लाख बार मर मर कर, पुन:पुन: उन्हीं में उत्पन्न होगा।

फिर वहाँ से यावत् काल कर जो ये वनस्पति के भेद हैं, जैसे कि—वृक्ष, गुच्छ यावत् कुहुना इत्यादि; इनमें अनेक लाख बार मर-मर कर यावत् पुन:पुन: इन्हीं में उत्पन्न होगा। विशेषतया कटुरस वाले वृक्षों और बेलों में उत्पन्न होगा। सभी स्थानों में शस्त्राघात से वध होगा। फिर वहाँ से यावत् काल कर जो ये वायुकायिक जीवों के भेद हैं, जैसे कि—पूर्ववायु, यावत् शुद्धवायु इत्यादि इनमें अनेक लाख बार मर कर पुन: पुन: उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से काल कर जो ये तेजस्कायिक जीवों के भेद हैं, जैसे कि—अंगार यावत् सूर्यकान्तमणिनि:सृत अग्नि इत्यादि, उनमें अनेक लाख बार मर-मर कर पुन: पुन: उत्पन्न होगा। फिर वहाँ से यावत् काल करके जो ये अप्कायिक जीवों के भेद हैं, यथा—ओस का पानी, यावत् खाई का पानी इत्यादि; उनमें अनेक लाख बार विशेषतया खारे पानी तथा खाई के पानी में उत्पन्न होगा। सभी स्थानों में शस्त्र द्वारा घात होगा। वहाँ से यावत् काल करके जो ये पृथ्वीकायिक जीवों के भेद हैं, जैसे कि—पृथ्वी, शर्करा (कंकड़) यावत् सूर्यकान्तमणि; उनमें अनेक लाख बार उत्पन्न होगा, विशेषतया खर-बादर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होगा। सर्वत्र शस्त्र से वध होगा।

वहाँ से यावत् काल कर राजगृह नगर के बाहर (सामान्य) वेश्यारूप में उत्पन्न होगा। वहाँ से शस्त्र से वध होने से यावत् काल करके दूसरी बार राजगृह नगर के भीतर (विशिष्ट) वेश्या के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ भी शस्त्र से वध होने पर यावत् काल करके इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विन्ध्य-पर्वत के पादमूल (तलहटी) में बेभेल नामक सन्निवेश में ब्राह्मणकुल में बालिका के रूप में उत्पन्न होगा। वह कन्या जब बाल्यावस्था का त्याग करके यौवनवय को प्राप्त होगी, तब उसके माता पिता उचित शुल्क (द्रव्य) और उचित विनय द्वारा पति को भार्या के रूप में अर्पण करेंगे। वह उसकी भार्या होगी। वह (अपने पति द्वारा) इष्ट, कान्त, यावत् अनुमत, बहुमूल्य सामान के पिटारे के समान, तेल की कुप्पी के समान अत्यन्त सुरक्षित, वस्त्र की पेटी के समान सुसंगृहीत (निरुपद्रव स्थान में रखी हुई), रत्न के पिटारे के समान सुरक्षित तथा शीत, उष्ण यावत् परीषह उपसर्ग उसे स्पर्श न करें, इस दृष्टि से अत्यन्त संगोपित होगी। वह ब्राह्मण-पुत्री गर्भवती होगी और एक दिन किसी समय अपने ससुराल से पीहर ले जाई जाती हुई मार्ग में दावाग्नि की ज्वाला से पीडित होकर काल के अवसर में काल करके दक्षिण दिशा के अग्निकुमार देवों में देवरूप से उत्पन्न होगी।

१३९. से णं ततोहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुसं विग्गहं लभिहिति, माणुसं विग्गहं लभित्ता केवलं बोधिं बुज्झिहिति, केवलं बोधिं बुज्झित्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति। तत्थ वि णं विराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा दहिणिल्लेसु असुरकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१३९] वहाँ से च्यव कर वह मनुष्य शरीर को प्राप्त करेगा। फिर वह केवलबोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करेगा। तत्पश्चात् मुण्डित होकर अगारवास का परित्याग करके अनगार धर्म को प्राप्त करेगा। किन्तु वहाँ श्रामण्य (चारित्र) की विराधना करके काल के अवसर में काल करके दक्षिण दिशा के असुरकुमार देवों में देवरूप में उत्पन्न होगा।

१४०. से णं ततोहिंतो जाव उव्वट्टित्ता माणुसं विग्गहं तं चेव तत्थ वि णं विराहियसामण्णे कालमासे जाव किच्चा दाहिणिल्लेसु नागकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१४०] वहाँ से च्यव कर वह मनुष्य शरीर प्राप्त करेगा, फिर केवलबोधि आदि पूर्ववत् सब वर्णन जानना, यावत् प्रव्रजित होकर चारित्र की विराधना करके काल के समय में काल करके दक्षिणनिकाय के नागकुमार देवों में देवरूप में उत्पन्न होगा।

१४१. से णं ततोहिंतो अणंतरं० एवं एएणं अभिलावेणं दाहिणिल्लेसु सुवण्णकुमारेसु, दाहिणिल्लेसु विज्जुकुमारेसु, एवं अग्गिकुमारवज्जं जाव दाहिणिल्लेसु थणियकुमारेसु०।

[१४१] वहाँ से च्यव कर वह मनुष्यशरीर प्राप्त करेगा, इत्यादि वर्णन पूर्ववत्। यावत् इसी प्रकार के पूर्वोक्त अभिलाप के अनुसार कहना। (विशेष यह है कि श्रामण्य विराधना करके वह क्रमशः) दक्षिणनिकाय के सुपर्णकुमार देवों में उत्पन्न होगा, फिर (इसी प्रकार) दक्षिणनिकाय के विद्युत्कुमार देवों में उत्पन्न होगा, इसी प्रकार अग्निकुमार देवों को छोड़कर यावत् दक्षिणनिकाय के स्तनितकुमार देवों में देवरूप से उत्पन्न होगा।

१४२. से णं ततो जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति जाव विराहियसामण्णे जोतिसिएसु देवेसु उववज्जिहिति।

[१४२] वह वहाँ से यावत् निकल कर मनुष्य शरीर प्राप्त करेगा, यावत् श्रामण्य की विराधना करके ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होगा।

१४३. से णं ततो अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति, केवलं बोहि बुज्झिहिति जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१४३] वह वहाँ से च्यव कर मनुष्य-शरीर प्राप्त करेगा, फिर केवलबोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करेगा। यावत् चारित्र (श्रामण्य) की विराधना किये बिना (आराधक होकर) काल के अवसर में काल करके सौधर्म कल्प में देव के रूप में उत्पन्न होगा।

१४४. से णं ततोहिंतो अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति, केवलं बोहि बुज्झिहिति। तत्थ वि णं अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१४४] उसके पश्चात् वह वहाँ से च्यव कर मनुष्य शरीर प्राप्त करेगा, केवलबोधि भी प्राप्त करेगा। वहाँ भी वह चरित्र की विराधना किये बिना काल के समय में काल करके ईशान देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होगा।

१४५. ते णं तओहिंतो अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति, केवलं बोहिं बुज्झिहिति। तत्थ वि णं अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सणंकुमारे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१४५] वह वहाँ से च्यव कर मनुष्य-शरीर प्राप्त करेगा, केवलबोधि प्राप्त करेगा। वहाँ भी वह चारित्र की विराधना किये बिना काल के अवसर में काल करके सनत्कुमार कल्प में देवरूप में उत्पन्न होगा।

१४६. से णं ततोहिंतो एवं जहा सणंकुमारे तहा बंभलोए महासुक्के आणए आरणे०।

[१४६] वहाँ से च्यव कर, जिस प्रकार सनत्कुमार के देवलोक में उत्पन्न होने का कहा, उसी प्रकार ब्रह्मलोक, महाशुक्र, आनत और आरण देवलोकों में उत्पत्ति के विषय में कहना चाहिए।

१४७. से णं ततो जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति।

[१४७] वहाँ से च्यव कर वह मनुष्य होगा, यावत् चारित्र की विराधना किये बिना काल के अवसर में काल करके सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव के रूप में उत्पन्न होगा।

विवेचन—प्रस्तुत तेरह सूत्रों (सू. १३५ से १४७ तक) में सुमंगल अनगार द्वारा रथ-सारथि-अश्वसहित, गोशालक के जीव विमलवाहन को भस्म किये जाने से लेकर भविष्य में सात नरक, खेचर, भुजपरिसर्प, उरःपरिसर्प, स्थलचर चतुष्पद, जलचर, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा वनस्पतिकाय, वायुकाय, तेजस्काय, अप्काय एवं पृथ्वीकायिक जीवों में अनेक लाख बार उत्पन्न होने की, तत्पश्चात् स्त्री, भार्या, (ब्राह्मणपुत्री),

मनुष्य, विराधक होकर असुरकुमार आदि देवों में तथा, आराधक मानव होकर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, ब्रह्मलोक, महाशुक्र, आनत और आरण आदि देवलोकों में क्रमशः मनुष्य होकर उत्पन्न होने की, और अन्त में सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न होने की प्ररूपणा की गई है। इस प्रकार गोशालक के भावी भवभ्रमण का कथन किया गया है।[१]

विमलवाहन राजा का विभिन्न नरकों में उत्पन्न होने का कारण और क्रम—इस प्रकरण में असंज्ञी आदि जीवों की रत्नप्रभादि नरकों में उत्पत्ति होने के सम्बन्ध में निम्नोक्त गाथा द्रष्टव्य है—

असण्णी खलु पढमं, दोच्चं च सिरीसिवा तइय पक्खी।
सीहा जंति चउत्थिं, उरगा पुण पंचमिं पुढविं॥
छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं॥

अर्थात्—असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक ही जा सकते हैं। सरीसृप द्वितीय, पक्षी तृतीय, सिंह चतुर्थ, सर्प पंचम, स्त्री षष्ठ और मत्स्य तथा मनुष्य सप्तम नरक तक जाते हैं।[२]

खेचर पक्षियों के प्रकार और लक्षण—(१) चर्म पक्षी—चर्म की पंखों वाले पक्षी, यथा चमगादड़ आदि। **(१) रोम (लोम) पक्षी**—रोम की पांखों वाले पक्षी। ये दोनों प्रकार के पक्षी मनुष्य क्षेत्र के भीतर और बाहर होते हैं, जैसे हंस आदि। **(३) समुद्गक पक्षी**—जिनकी पांखें हमेशा पेटी की तरह बन्द रहती हैं। **(४) वितत पक्षी**—जिनकी पांखें हमेशा विस्तृत—खुली हुई रहती हों। ये दोनों प्रकार के पक्षी मनुष्यक्षेत्र से बाहर ही होते हैं।[३]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पत्ति : सान्तर या निरन्तर ?—यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चजीवों में अनेक लाख भवों तक पुनः पुनः उत्पन्न होने का जो कथन किया गया है, वह सान्तर समझना चाहिए, निरन्तर नहीं; क्योंकि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च या मनुष्य के भव निरन्तर सात या आठ से अधिक नहीं किये जा सकते हैं। जैसे कि कहा गया है—

'पंचिंदिय-तिरिय-नरा सत्तट्ठभवा भवग्गहेण'

अर्थात्—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च या मनुष्य के निरन्तर सात या आठ भव ही ग्रहण किये जा सकते हैं।[४]

चारित्राराधना का स्वरूप—चारित्र-आराधना का स्वरूप एक आचार्य ने इस प्रकार बताया है—

आराहणा य एत्थं चरण-पडिवत्ति-समयओ पभिई।
आमरणंतमजस्सं संजम-परिपालणं विहिणा॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७३७ से ७४१ तक
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९३
३. वही, पत्र ६९३
४. वही, पत्र ६९३

अर्थात्—चारित्र अंगीकार करने के समय से लेकर मरण-पर्यन्त निरन्तर विधिपूर्वक निरतिचार संयम का परिपालन करना (चारित्र की) आराधना की गई है।[१]

चारित्रप्राप्ति के अठारह भवों की संगति—विमलवाहन राजा (गोशालक के जीव) के चारित्रप्राप्ति (प्रतिपत्ति) के भव, अग्निकुमार देवों को छोड़ कर भवनपति और ज्योतिष्कदेवों के विराधनायुक्त भव दस कहे हैं, तथा अविराधनायुक्त (आराधनायुक्त) भव सौधर्मकल्प से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक सात और आठवाँ सिद्धिगमन रूप अन्तिम भव; यों ८ भव होते हैं। अर्थात्—गोशालक के विराधित और अविराधित दोनों को मिलाने से १८ भव होते हैं, किन्तु सिद्धान्त यह है कि 'अट्ठभवाउ चरित्ते' इस कथनानुसार चारित्रप्राप्ति आठ भव तक ही होती है। फिर इस पाठ की संगति कैसे होगी ? इस विषय में समाधान इस प्रकार है कि यहाँ दस भव जो चारित्र-विराधना के बतलाए हैं, वे द्रव्यचारित्र की अपेक्षा से समझना चाहिए। अर्थात्—उन भवों में उसे भावचरित्र की प्राप्ति नहीं हुई थी। चारित्र-क्रिया की विराधना होने से उसे विराधक बतलाया है। जैसे अभव्यजीव चारित्र-क्रिया के आराधक होकर ही नौ ग्रैवेयक तक जाते हैं, किन्तु उन्हें वास्तविक (भाव) चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार यहाँ भी दस भवों में चारित्र की प्राप्ति, द्रव्व चारित्र की प्राप्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार समझने से कोई भी सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं आती।[२] यही कारण है कि चारित्र-विराधना के कारण उसकी असुरकुमारादि देवों में उत्पत्ति हुई, वैमानिकों में नहीं।

कठिन शब्दार्थ—**सत्थवज्झे**—शस्त्रवध्य-शस्त्र से मारे जाने योग्य। **दाहवक्कंतीए**—दाह-ज्वर की वेदना से। **खयहर-विहाणाइं**—खेचर जीवों के विधान—भेद। **अणेगसय-सहस्सखुत्तो**—अनेक लाख वार। **एगखुराणं**—एक खुर वाले अश्व आदि में। **दुखुराणं**—दो खुर वाले गाय आदि में। **गंडीपयाणं**—गण्डीपदों में—हाथी आदि में। **सणहप्पयाणं**—सिंह आदि सनख (नखसहित) पैर (पंजे) वाले जीवों में। **रुक्खाणं**—वृक्षों में। वृक्ष दो प्रकार के होते हैं—एक अस्थिक (गुठली) वाले जैसे आम, नीम आदि और बहुबीजक (अनेक बीज वाले) जैसे—तिन्दुक आदि। **उस्सन्नं**—बहुलता से, अधिकांश रूप से, प्रायः। **अंतोखरियत्ताए**—नगर के भीतर वेश्या (विशिष्ट वेश्या) के रूप में। **बाहिं खरियत्ताए**—नगर के बाहर की वेश्या (सामान्य वेश्या) के रूप में। **उस्साणं**—अवश्याय—ओस के जीवों में। **दारियत्ताए**—कन्या के रूप में। **परिरूवएणं सुक्केणं**—अनुरूप (उचित) शुल्क (द्रव्यदान) से। **तेल्लकेला**—तेल का भाजन (कुप्पी)। **चेलपेडा**—वस्त्र की पेटी-सन्दूक। **कुलघरं**—पितृगृह को। **णिज्जमाणी**—ले जाई जाती हुई। **दाहिणिल्लेसु**—दक्षिण दिशा के, दक्षिण-निकाय के। **केवलं बोहिं**—सम्यक्त्व। **विराहिय-सामण्णे**—जिसने चारित्र की विराधना की।[३]

गोशालक का अन्तिम भव—महाविदेह क्षेत्र में दृढप्रतिज्ञ केवली के रूप में मोक्षगमन

१४८. से णं ततोहिंतो अणंतरं चयं चयित्ता महाविदेहे वासे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति—अड्ढाइं

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९५

२. वही, पत्र ६९५

३. वही, पत्र ६९३, ६९५

जाव अपरिभूयाइं, तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाहिति। एवं जहा उववातिए दढप्पतिण्णवत्तव्वता सच्चेव वत्तव्वता निरवसेसा भाणितव्वा जाव केवलवरनाण-दंसणे समुप्पज्जिहिति।

[१४८] वहाँ से बिना अन्तर के च्यव कर महाविदेहक्षेत्र में, जो ये कुल हैं, जैसे कि—आढ्य यावत् अपराभूत कुल; तथाप्रकार के कुलों में पुरुष (पुत्र) रूप से उत्पन्न होगा। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र में दृढ़प्रतिज्ञ की वक्तव्यता कही गई है, वही समग्र वक्तव्यता, यावत्—उत्तम केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होगा, (यहाँ तक) कहनी चाहिए।

१४९. तए णं से दढप्पतिण्णे केवली अप्पणो तीयद्धं आभोएहिइ, अप्प० आ० २ समण निग्गंथे सद्दावेहिति, सम० स० २ एवं वदिहिइ—'एवं खलु अहं अज्जो ! इतो चिरातीयाए अद्धाए गोसाले नामं मंखलिपुत्ते होत्था समणघायए जाव छउमत्थे चेव कालगए, तम्मूलगं च णं अहं अज्जो ! अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टिए। तं मा णं अज्जो ! तुब्भे पि केयि भवतु आयरियपडिणीए, उवज्झायपडिणीए आयरिय-उवज्झायाणं अयसकारए अवणाकारए अकित्तिकारए, मा णं से वि एवं चेव अणादीयं अणवयग्गं जाव संसारकंतारं अणुपरियट्टिहिति जहा णं अहं।'

[१४९] तदनन्तर (गोशालक का जीव) दृढप्रतिज्ञ केवली अतीत काल को उपयोगपूर्वक देखेंगे। अतीतकाल-निरीक्षण कर वे श्रमण-निर्ग्रन्थों को अपने निकट बुलाएँगे और इस प्रकार कहेंगे—हे आर्यो ! मैं आज से चिरकाल पहले गोशालक नामक मंखलिपुत्र था। मैंने श्रमणों की घात की थी। यावत् छद्मस्थ अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो गया था। आर्यो ! उसी महापाप-मूलक (पापकर्म बन्ध के फलस्वरूप) मैं अनादि-अनन्त और दीर्घमार्ग वाले चारगतिरूप संसार-कान्तार (अटवी) में बार-बार पर्यटन (परिभ्रमण) करता रहा। इसलिए हे आर्यो ! तुम में से कोई (भूलकर) भी आचार्य-प्रत्यनीक (आचार्य के द्वेषी), उपाध्याय-प्रत्यनीक (उपाध्याय के विरोधी) आचार्य और उपाध्याय के अपयश (निन्दा) करने वाले, अवर्णवाद करने वाले और अकीर्ति करने वाले मत होना और जैसे मैंने अनादि-अनन्त यावत् संसार-कान्तार का परिभ्रमण किया, वैसे तुम लोग भी संसाराटवी में परिभ्रमण मत करना।

१५०. तए णं ते समणा निग्गंथा दढप्पतिण्णगस्स केवलिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म भीया तत्था तसिता संसारभउव्विग्गा दढप्पतिण्णं केवलिं वंदिहिंति नमंसिहिंति, वं० २ तस्स ठाणस्स आलोएहिंति निंदिहिंति जाव पडिवज्जिहिंति।

[१५०] उस समय दृढप्रतिज्ञ केवली से यह बात सुनकर और अवधारण कर वे श्रमण-निर्ग्रन्थ भयभीत होंगे, त्रस्त होंगे, और संसार के भय से उद्विग्न होकर दृढप्रतिज्ञ केवली को वन्दन-नमस्कार करेंगे। वन्दन-नमस्कार करके वे (अपने-अपने) उस (पाप-) स्थान की आलोचना और निन्दना करेंगे यावत् तपश्चरण स्वीकार करेंगे।

१५१. तए णं से दढप्पतिण्णे केवली बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणेहिति, बहू० पा० २ अप्पणो आउसेसं जाणेत्ता भत्तं पच्चक्खाहिति एवं जहा उववातिए जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ तेयनिसग्गो समत्तो ॥

॥ समत्तं च पण्णरसमं सयं एक्कसरयं ॥ १५ ॥

[१५१] इसके बाद दृढप्रतिज्ञ केवली बहुत वर्षों तक केवलज्ञानी-पर्याय का पालन करेंगे, फिर अपना आयुष्य-शेष (थोड़ा-सा आयुष्य शेष) जान कर भक्तप्रत्याख्यान (संथारा) करेंगे। इस प्रकार औपपातिक सूत्र के कथनानुसार वे यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेंगे।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १४८ से १५१) में गोशालक के जीव के अन्तिम भव—महाविदेहक्षेत्र में जन्म और दृढप्रतिज्ञ केवली होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने तक का वर्णन है। साथ ही यह प्रेरणात्मक वर्णन है कि उन्होंने अपने केवलज्ञान के आलोक में अपने अनादि-अनन्त संसार-परिभ्रमण का घटनाचक्र देख कर अपने अनुभव के अनुगामी श्रमणों से भी आचार्यादि के प्रति द्वेष, विरोध, अविनय, आशातना आदि न करने का उपदेश दिया। जिसे श्रमणों ने शिरोधार्य किया और आलोचनादि करके वे शुद्ध हुए।[१]

पण्णरसमं सयं एक्कसरयं : आशय—इस शतक की पूर्णाहूति में '**एक्कासरयं**' शब्द है, जिसका अर्थ हेमचन्द्राचार्य ने किया है—'एक्कससियं' पद अव्यय है, उसका अर्थ है—शीघ्र, झटपट। आशय यह है कि वर्तमान में इस शतक के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि इस शतक को झटपट एक दिवस में ही पढ़ना चाहिए। अगर एक दिन में यह शतक पूर्ण न हो तो जब तक इसका अध्ययन अध्यापन चालू रहे, तब तक आयम्बिल करना चाहिए।[२]

पुमत्ताए : पुत्तताए : दो पाठ : दो अर्थ—(१) पुरुष के रूप में, अथवा (२) पुत्र के रूप में।[३]

॥ तेजोनिसर्ग समाप्त ॥

॥ पन्द्रहवाँ : एकस्मरिक शतक समाप्त ॥

OOO

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७४१-७४२

२. वही, पत्र ७४२

३. वही, पत्र ७४२

सोलसमं सयं : सोलहवाँ शतक

प्राथमिक

- व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के सोलहवें शतक में—चौदह उद्देशक हैं, जिनमें क्रिया, जरा, कर्म, कर्मक्षय-सामर्थ्य, देव की विपुल वैक्रियशक्ति एवं ऋद्धि, स्वप्न, उपयोग, लोकस्वरूप, बलीन्द्रसभा, अवधिज्ञान तथा भवनपति देवों में आहारादि की समानता-असमानता, आध्यात्मिक, शारीरिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं दैवीशक्ति आदि विविध विषयों का समावेश किया गया है।

- **प्रथम उद्देशक** में एहरन पर हथौड़ा मारते समय दूसरे पदार्थ के स्पर्श से वायुकाल का हनन, सिगड़ी में अग्निकाय की स्थिति, भट्टी में लोहा तपाते समय तप्त लोहे को संडासी से उठाने, नीचे रखने, एहरन पर रखने आदि में कर्ता एवं साधन आदि को लगने वाली क्रियाओं की तथा जीव के अधिकरणी एवं अधिकरण होने की सयुक्तिक चर्चा-विचारणा की गई है तथा विविध शरीरों इन्द्रियों और योगों को बांधते हुए चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के अधिकरणी-अधिकरण होने की भी चर्चा की गई है।

- **द्वितीय उद्देशक** में सर्वप्रथम चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में जरा और शोक किनको और क्यों होता है? इसका निरूपण करके शक्रेन्द्र के आगमन, उसके द्वारा किया गया अवग्रह सम्बन्धी प्रश्न, शक्रेन्द्र के कथन की सत्यता, सम्यग्वादिता, उसकी सावद्य-निरवद्य भाषा, उसकी भव्यता-अभव्यता, तथा सम्यग्दृष्टित्व-मिथ्यादृष्टित्व आदि की चर्चा की गई है तथा अन्त में जीवों के कर्म चैतन्यकृत होते हैं या अचैतन्यकृत, इसका समाधान किया गया है।

- **तृतीय उद्देशक** में सर्वप्रथम कर्मप्रकृतियों के बन्ध, वेदन आदि के सह-अस्तित्व की चर्चा की गई है। तदनन्तर श्रमण के अर्शछेदन करने में वैद्य और श्रमण को लगने वाली क्रियाओं का निरूपण किया गया है।

- **चतुर्थ उद्देशक** में विविध कोटि के तपस्वी श्रमण जितने कर्मों का क्षय करते हैं, उतने कर्म नैरयिक जीव सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षों में खपाता है। यह सोदाहरण-सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है।

- **पंचम उद्देशक** में शक्रेन्द्र द्वारा भगवान् से किये गए संक्षिप्त प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर तथा उसका प्रत्यागमन, गौतम स्वामी द्वारा शक्रेन्द्र के शीघ्र लौट जाने के कारण की पृच्छा के उत्तर में भगवान् ने महाशुक्र कल्पस्थित गंगदत्त देव के आगमन, तथा उसके देव बनने का कारण एवं भविष्य में महाविदेहक्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का वृतान्त बताया है।

- **छठे उद्देशक** में स्वप्नदर्शन, उसके प्रकार, स्वप्नदर्शन कब, कैसे और किस अवस्था में होता है ? स्वप्न के भेद-अभेद तथा कौन कैसे स्वप्न देखता है ? एवं तीर्थंकरादि की माता कितने-कितने स्वप्न देखती है ? तथा भ. महावीर के दस महास्वप्नों तथा उनकी फलनिष्पत्ति का वर्णन है। अन्त में, मोक्षफलदायक १४ सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

- **सातवें उद्देशक** में उपयोग और उसके भेदों का प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।

- **आठवें उद्देशक** में लोक की लम्बाई-चौड़ाई के परिमाण का, तथा लोक के पूर्वादि विविध चरमान्तों में जीव, जीव के देश, जीव के प्रदेश, अजीव, अजीव के देश एवं अजीव के प्रदेश, तथा तदनन्तर रत्नप्रभापृथ्वी से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक में जीवादि छहों के अस्तित्त्व-नास्तित्त्व के विषय में शंका-समाधान है। तत्पश्चात् परमाणु की एक समय में लोक के सभी चरमान्तों में गति-सामर्थ्य की, एवं अन्त में वर्षा का पता लगाने के लिए हाथ-पैर आदि सिकोड़ने-पसारने वाले को लगने वाली पांच क्रियाओं की तथा अलोक में देव के गमन की असमर्थता की प्ररूपणा की गई है।

- **नौवें उद्देशक** में वैरोचनेन्द्र बली की सुधर्मा सभा के स्थान का संक्षिप्त वर्णन है।

- **दसवें उद्देशक** में अवधिज्ञान के प्रकार का प्रज्ञापना के ३३वें अवधिपद के अतिदेशपूर्वक वर्णन किया गया है।

- **ग्याहरवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें उद्देशक** में क्रमशः द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार और स्तनितकुमार नामक भवनपतिदेवों के आहार, उच्छ्वास-निःश्वास, लेश्या, आयुष्य आदि की एक दूसरे से समानता-असमानता के विषय में शंका-समाधान प्रस्तुत किये गए हैं।

- इस प्रकार चौदह उद्देशक कुल मिला कर रोचक, तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-संवर्द्धक सामग्री से परिपूर्ण हैं।[१]

OOO

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७४३ से ७७२ तक

सोलसमं सयं : सोलहवाँ शतक

सोलहवें शतक के उद्देशकों के नाम

१. अहिकरणि १ जरा २ कम्मे ३ जावतियं ४ गंगदत्त ५ सुमिणे य ६।

उवयोग ७ लोग ८ बलि ९ ओहि १० दीव ११ उदही १२ दिसा १३ थणिया १४ ॥ १॥

(१) सोलहवें शतक में चौदह उद्देशक हैं। यथा —(१) अधिकरणी, (२) जरा, (३) कर्म, (४) यावतीय, (५) गंगदत्त, (६) स्वप्न (७) उपयोग, (८) लोक (९) बलि, (१०) अवधि, (११) द्वीप, (१२) उदधि, (१३) दिशा और (१४) स्तनित ॥१॥

विवेचन—सोलहवें शतक के प्रतिपाद्य विषय—सोलहवें शतक के चौदह उद्देशकों में क्रमशः ये विषय हैं—

(१) **प्रथम उद्देशक 'अधिकरणी'** में अधिकरणी अर्थात् एहरन के विषय में निरूपण है।

(२) **द्वितीय उद्देशक** में **'जरा'** आदि अर्थ-विषयक कथन है।

(३) **तृतीय उद्देशक** में **कर्म** विषयक कथन है।

(४) **चतुर्थ उद्देशक** का नाम **'यावतीय'** है, क्योंकि इसके प्रारम्भ में **यावतीय** (जावतिय) शब्द है। इसमें कर्मक्षय करने में विविध श्रमणों एवं नारकों में तारतम्य का कथन है।

(५) **पंचम उद्देशक** में **गंगदत्त**-सम्बन्धी जीवनवृत्तान्त है।

(६) **छठे उद्देशक** में **स्वप्न**-सम्बन्धी मीमांसा की गई है।

(७) **सप्तम उद्देशक** में **उपयोग**-विषयक प्रतिपादन है।

(८) **अष्टम उद्देशक** में **लोकस्वरूप**-विषयक कथन है।

(९) **नौवें उद्देशक** में **बलीन्द्र**-विषयक वक्तव्यता है।

(१०) **दसवें उद्देशक** में **अवधिज्ञान**-विषयक वक्तव्यता है।

(११) **ग्यारहवें उद्देशक** में **द्वीपकुमार**-विषयक कथन है।

(१२) **बारहवें उद्देशक** में **उदधिकुमार**-विषयक कथन है।

(१३) **तेरहवें उद्देशक** में **दिशाकुमार**-विषयक कथन है, और

(१४) **चौदहवें उद्देशक** में **स्तनितकुमार**-विषयक कथन है।[१]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९६, ६९७

पढमो उद्देसओ : अहिगरणी

प्रथम उद्देशक : अधिकरणी

अधिकरणी में वायुकाय की उत्पत्ति और विनाश सम्बन्धी निरूपण

२. तेण कालेणं तेण समएणं रायगिहे जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासि—

(२) उस काल उस समय में राजगृह नगर में यावत् पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

(३.) अत्थि णं भंते ! अधिकरणिंसि वाउयाए वक्कमइ ?

हंता, अत्थि।

(३ प्र.) भगवन्! क्या अधिकरणी (एहरन) पर (हथड़ा मारते समय) वायुकाय उत्पन्न होता है?

(३ उ.) हाँ गौतम ! (वायुकाय उत्पन्न) होता है।

४. से भंते! किं पुट्ठे उद्दाइ, अपुट्ठे उद्दाइ ?

गोयमा! पुट्ठे उद्दाइ, नो अपुट्ठे उद्दाइ।

(४ प्र.) भगवन् ! उस (वायुकाय) का (किसी दूसरे पदार्थ के साथ) स्पर्श होने पर वह मरता है या बिना स्पर्श हुए ही मर जाता है?

(४ उ.) गौतम ! उसका दूसरे पदार्थ के साथ स्पर्श होने पर ही वह मरता है, बिना स्पर्श हुए नहीं मरता।

५. से भंते ! किं ससरीरे निक्खमइ, असरीरे निक्खमइ ?

एवं जहा खंदए (स. २ उ. १ सु. ७ (३)) जाव से तेणट्ठेणं जाव असरीरे निक्खमति।

(५ प्र.) भगवन् ! वह (मृत वायुकाय) शरीरसहित (भवान्तर में निकल कर) जाता है या शरीररहित जाता है?

(५ उ.) गौतम! इस विषय में (द्वितीय शतक, प्रथम उद्देशक सू. ७/३ में उक्त) स्कन्दक-प्रकरण के अनुसार, यावत्—शरीर-रहित होकर नहीं जाता, (यहाँ तक) जानना चाहिए।

विवेचन—प्रश्न, अन्तःप्रश्न : आशय—तृतीयसूत्रगत प्रश्न का आशय यह है कि एहरन पर हथौड़ा मारते समय एहरन और हथौड़े के अभिघात से वायुकाय उत्पन्न होता है या बिना अभिघात के ही होता है? समाधान है—अभिघात से उत्पन्न होता है, और वह वायुकाय अचित्त होता है, किन्तु उससे सचित्त वायु की हिंसा होती है। अर्थात्—उत्पन्न होते समय वह अचित्त होता है, पीछे वह सचित्त हो जाता है।

पृथ्वीकायादि पांच स्थावरों के साथ जब विजातीय जीवों का तथा विजातीय स्पर्श वाले पदार्थों का संघर्ष होता है, तब उनके शरीर का घात होता है या बिना स्पर्श आदि से ही होता है? इसी आशय से अन्त: प्रश्न किया गया है। उत्तर में कहा गया है कि किसी दूसरे पदार्थ (अचित्त वायु आदि का) स्पर्श होने पर ही वायुकाय के जीव मरते हैं, बिना स्पर्श हुए नहीं। यह कथन सोपक्रम-आयुष्य की अपेक्षा से है। तीसरा प्रश्न है—जीव परभव से सशरीर जाता है, या शरीररहित होकर? इसका उत्तर यह है कि जीव तैजस-कार्मण शरीर की अपेक्षा से शरीरसहित जाता है और औदारिक शरीर आदि की अपेक्षा से शरीररहित होकर जाता है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—अधिकरणंसि—लोहादि कूटने के लिए जो नीचे रखा जाता है, वह (एहरन) अर्थात् एहरन पर हथौड़े से चोट मारते समय। **पुट्ठे**—स्वकाय-शस्त्र आदि से स्पृष्ट होने पर। **निक्खमइ**—निकलता है।[2]

अंगारकारिका में अग्निकाय की स्थिति का निरूपण

६. इंगालकारियाए णं भंते ! अगणिकाए केवतियं कालं संचिट्ठइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि रातिंदियाइं। अन्ने वि तत्थ वाउयाए वक्कमति, न विणा वाउकाएणं अगणिकाए उज्जलति।

[६. प्र] भगवन् ! अगारकारिका (सिगड़ी) में अग्निकाय कितने काल तक (सचित्त) रहता है ?

[६ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन रात-दिन तक सचित्त रहता है। वहाँ अन्य वायुकायिक जीव भी उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वायुकाय के बिना अग्निकाय प्रज्वलित नहीं होता।

विवेचन—अग्निकाय की स्थिति—अग्निकाय चाहे सिगड़ी में हो या अन्य चूल्हे आदि में, उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन अहोरात्र की है।

इंगालकारियाए : अर्थ—जो अंगारों को करती है, वह अंगारकारिका—अग्निकारिका—अग्निशकटिका है। उसे देशीभाषा में ''सिगड़ी'' कहते हैं।

अग्नि और वायु का सम्बन्ध—''यत्राग्निस्तत्र वायु:'' इस नियमानुसार जहाँ अग्नि होती है, वहाँ वायु अवश्य होती है। अर्थात्—अग्निकाय के साथ वायुकाय के जीव भी उत्पन्न होते हैं।[3]

तप्त लोहे को पकड़ने में क्रियासम्बन्धी प्ररूपणा

७. पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठंसि अयोमयेणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पव्विहमाणे वा कतिकिरिए ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९७
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, २५०५
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९७-६९८
३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९८

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमयेणं संडासएणं उव्विहति वा पव्विहति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अये निव्वत्तिए, अयकोट्ठे निव्वत्तिए, संडासए निव्वत्तिए, इंगाला निव्वत्तिया, इंगालकड्ढणी निव्वत्तिया, भत्था निव्वत्तिया, ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

[७ प्र.] भगवन् ! लोहा तपाने की भट्टी (अय:कोष्ठ) में तपे हुए लोहे को लोहे की संडासी से (पकड़कर) ऊँचा-नीचा करने (ऊपर उठाने और नीचे करने) वाले पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[७ उ.] गौतम ! जब तक वह पुरुष लोहा तपाने की भट्टी में लोहे की संडासी से (पकड़कर) लोहे को ऊँचा या नीचा करता है, तब तक वह पुरुष कायिकी से लेकर प्राणातिपातिकी क्रिया तक पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है तथा जिन जीवों के शरीर से लोहा बना है, लोहे की भट्टी बनी है, संडासी बनी है, अंगारे बने हैं, अंगारे निकालने की लोहे की छड़ (यष्टि) बनी है और धमण बनी है, वे सभी जीव भी कायिकी से लेकर यावत् प्राणातिपातिकी तक पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

८. पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठाओ अयोमएणं संडासएणं गहाय अहिकरणिंसि उक्खिवमाणे वा निक्खिवमाणे वा कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठाओ जाव निक्खिवति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अये निव्वत्तिए, संडासए निव्वत्तिते, चम्मेट्ठे निव्वत्तिए, मुट्ठिए निव्वत्तिए, अधिकरणी णिव्वत्तिता, अधिकरणिखोडी णिव्वत्तिता, उदगदोणी णि० अधिकरणसाला निव्वत्तिया ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

[८ प्र.] भगवन् ! लोहे की भट्टी में से, लोहे को, लोहे की संडासी से पकड़कर एहरन (अधिकरणी) पर रखते और उठाते हुए पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[८ उ.] गौतम ! जब तक लोहा तपाने की भट्टी में से लोहे को संडासी से पकड़कर यावत् रखता है, तब तक वह पुरुष कायिकी यावत् प्राणातिपातिकी तक पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जिन जीवों के शरीर से लोहा बना है, संडासी बनी है, घन बना है, हथौड़ा बना है, एहरन बनी है, एहरन का लकड़ा बना है, गर्म लोहे को ठंडा करने की उदकद्रोणी (कुण्डी) बनी है, तथा अधिकरणशाला (लोहार का कारखाना) बनी है, वे जीव भी कायिकी आदि पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ७-८) में लोहे की भट्टी में लोहे को संडासी से पकड़कर ऊँचा-नीचा करने वाले था भट्टी से एहरन पर रखने-उठाने वाले व्यक्ति को तथा जिन जीवों के शरीर से लोहा तथा उपकरण बने हैं, उन सबको कायिकी से लेकर प्राणातिपातिकी तक पांचों क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है।

पांच क्रियाओं के नाम—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी। इनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है।

कठिन शब्दार्थ—**अयं**—लोहे को, **अयकोट्ठंसि**—लोहा तपाने की भट्टी में। **उव्विहमाणे—पव्विहमाणे**—ऊँचा-नीचा करते हुए। **पुट्ठे**—स्पृष्ट। **णिव्वत्तिए**—निष्पन्न (निर्वर्तित)—बनी हुई। **इंगालकड्ढणी**—अंगारे निकालने की लोहे की छड़ (यष्टि)। **भत्था**—धमण। **उक्खिवमाणे-णिक्खिवमाणे**—निकालते और डालते या रखते-उठाते। **चम्मेट्ठे**—घन। **मुट्ठिए**—हथौड़ा। **अधिकरणिखोडी**—एहरन का लकड़ा। **उदगदोणी**—पानी की कुण्डी। **अधिकरणसाला**—लुहारशाला।[१]

जीव और चौवीस दण्डकों में अधिकरणी-अधिकरण, साधिकरणी-निरधिकरणी, आत्माधिकरणी आदि तथा आत्मप्रयोगनिर्वर्तित आदि अधिकरणसम्बन्धी निरूपण

९. [१] जीवे णं भंते ! किं अधिकरणी, अधिकरणं ?

गोयमा ! जीवे अधिकरणी वि, अधिकरणं पि।

[९-१ प्र.] भगवन् ! जीव अधिकरणी है या अधिकरण है ?

[९-१ उ.] गौतम ! जीव अधिकरणी भी है और अधिकरण भी है।

[२] से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चति 'जीवे अधिकरणी वि, अधिकरणं पि' ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं जाव अधिकरणं पि।

[९-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से यह कहा जाता है कि जीव अधिकरणी भी है और अधिकरण भी है ?

[९-२ उ.] गौतम ! अविरति की अपेक्षा जीव अधिकरणी भी है और अधिकरण भी है।

१०. नेरतिए णं भंते ! किं अधिकरणी, अधिकरणं ?

गोयमा ! अधिकरणी वि, अधिकरणं पि। एवं जहेव जीवे तहेव नेरइए वि।

[१० प्र.] भगवन् नैरयिक जीव अधिकरणी है या अधिकरण है ?

[१०. उ.] गौतम ! वहअधिकरणी भी है और अधिकरण भी है। जिस प्रकार जीव (सामान्य) के विषय में कहा, उसी प्रकार नैरयिक के विषय में भी जानना चाहिए।

११. एवं निरंतरं जाव वेमाणिए।

[११.] इसी प्रकार लगातार वैमानिक तक जानना चाहिए।

१२. [१] जीवे णं भंते ! किं साहिकरणी, निरधिकरणी ?

गोयमा ! साहिकरणी, नो निरहिकरणी।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९७

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५०७

[१२-१ प्र.] भगवन् ! जीव साधिकरणी है या निरधिकरणी है ?

[१२-१ उ.] गौतम ! जीव साधिकरणी है, निरधिकरणी नहीं है।

[२.] से केणट्ठेणं० पुच्छा।

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं जाव नो निरहिकरणी।

[१२-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहा है? इत्यादि प्रश्न।

[१२-२ उ.] गौतम ! अविरति की अपेक्षा जीव साधिकरणी है, निरधिकरणी नहीं है।

१३. एवं जाव वेमाणिए।

[१३] इसी प्रकार वैमानिकों तक कहना चाहिए।

१४. [१] जीवे णं भंते! किं आयाहिकरणी, पराहिकरणी, तदुभयाधिकरणी ?

गोयमा ! आयाहिकरणी वि, पराधिकरणी वि, तदुभयाहिकरणी वि।

[१४-१ प्र.] भगवन्! जीव आत्माधिकरणी है, पराधिकरणी है, अथवा उभयाधिकरणी है?

[१४-१ उ.] गौतम ! जीव आत्माधिकरणी भी है, पराधिकरणी भी है और तदुभयाधिकरणी भी है।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति जाव तदुभयाधिकरणी वि ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं जाव तदुभयाधिकरणी वि।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस हेतु से कहा गया है कि जीव यावत् तदुभयाधिकरणी भी है ?

[१२-२ उ.] गौतम ! अविरिति की अपेक्षा जीव यावत् तदुभयाधिकरणी भी है।

१५. एवं जाव वेमाणिए।

[१५] इसी प्रकार वैमानिक तक जानना चाहिए।

१६. [१] जीवाणं भंते ! अधिकरणे किं आयप्पयोगनिव्वत्तिए, परप्पयोगनिव्वत्तिए तदुभयप्पयोगनिव्वत्तिए ?

गोयमा ! आयप्पयोगनिव्वत्तिए वि, परप्पयोगनिव्वत्तिए वि, तदुभयप्पयोगनिव्वत्तिए वि।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! जीवों का अधिकरण आत्मप्रयोग से होता है, परप्रयोग से उत्पन्न होता है, अथवा तदुभयप्रयोग से होता है?

[१६-१ उ.] गौतम ! जीवों का अधिकरण आत्मप्रयोग से भी निष्पन्न होता है, परप्रयोग से भी और तदुभयप्रयोग से निष्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं जाव तदुभयप्पयोगनिव्वत्तिए वि।

[१६-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है?

[१६-२ उ.] गौतम ! अविरति की अपेक्षा से यावत् तदुभयप्रयोग से भी निष्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! यावत् तदुभयप्रयोग-निष्पन्न भी है।

१७. एवं जाव वेमाणियाणं।

[१७] इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए।

विवेचन—अधिकरण, अधिकरणी : स्वरूप एवं प्रकार—हिंसादि पाप-कर्म के कारणभूत एवं दुर्गति के निमित्तभूत पदार्थों को अधिकरण कहते हैं। अधिकरण दो प्रकार के होते हैं—(१) आन्तरिक एवं (२) बाह्य। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि आन्तरिक अधिकरण हैं एवं हल, कुंदाल, मूसल आदि शस्त्र और धन-धान्यादि परिग्रहरूप वस्तुएँ बाह्य अधिकरण हैं। ये बाह्य और आन्तरिक अधिकरण जिनके हों, वह 'अधिकरणी' कहलाता है। संसारी जीवों के शरीरादि होने के कारण जीव 'अधिकरणी' कहलाता है, और शरीरादि अधिकरणों से कथंचित् अभिन्न होने से जीव अधिकरण भी है। निष्कर्ष यह है कि सशरीरी जीव अधिकरणी भी है और अधिकरण भी। अविरति की अपेक्षा से जीव अधिकरण भी है और अधिकरणी भी। जो जीव विरत है, उसके शरीरादि होने पर भी वह अधकरणी और अधिकरण नहीं है, क्योंकि उन पर उसका ममत्वभाव नहीं है। जो जीव अविरत है, उसके ममत्व होने से वह अधिकरणी और अधिकरण कहलाता है।[१]

साधिकरणी-निरधिकरणी : स्वरूप और रहस्य—शरीरादि अधिकरण से सहित जीव साधिकरणी कहलाता है। संसारी जीव के शरीर, इन्द्रियादिरूप आन्तरिक अधिकरण तो सदा साथ ही रहते हैं, शस्त्रादि बाह्य अधिकरण निश्चित रूप से सदा साथ में नहीं भी होते हैं, किन्तु स्व-स्वामिभाव के कारण अविरति रूप ममत्वभाव साथ में रहता है। इसलिए शस्त्रादि बाह्य अधिकरण की अपेक्षा भी जीव साधिकरणी कहलाता है। संयमी पुरुषों में अविरति का अभाव होने से शरीरादि होते हुए भी उनमें साधिकरणता नहीं है। इसलिए निरधिकरणी का आशय है—अधिकरणदूरवर्ती। वह अविरति में नहीं होता, क्योंकि उसमें अधिकरणभूत अविरति से दूरवर्तिता नहीं होती। अथवा अधिकरण कहते हैं—पुत्र एवं मित्रादि को। जो पुत्र-मित्रादि सहित हो, वह साधिकरणी है, किसी जीव के पुत्रादि का अभाव होने पर भी तद्विषयक विरति का अभाव होने से उसमें साधिकरणता समझ लेनी चाहिए।[२]

'आत्माधिकरणी' इत्यादि पदों की परिभाषा—कृषि आदि आरम्भ में स्वयं प्रवृत्ति करने वाला आत्माधिकरणी है। दूसरों से कृषि आदि आरम्भ कराने वाला अथवा दूसरों को अधिकरण में प्रवृत्त करने वाला पराधिकरणी है। जो स्वयं कृष्यादि आरम्भ करता है और दूसरों से भी करवाता है वह तदुभयाधिकरणी कहलाता है। जो कृषि आदि नहीं करता, वह भी अविरति की अपेक्षा से आत्माधिकरणी या पराधिकरणी अथवा तदुभयाधिकरणी कहलाता है।[३]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९९

२. वही अ. वृत्ति, पत्र ६९९

३. (क) वही, पत्र ६९९

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५१२

आत्मा-पर-तदुभय-प्रयोगनिर्वर्तित अधिकरण—हिंसादि पापकार्यों में स्वयं प्रवृत्ति करने वाले, मन आदि के व्यापार (प्रयोग) से निर्वर्तित—निष्पादित अधिकरण—आत्मप्रयोगनिर्वर्तित कहलाता है। दूसरों को हिंसादि पाप-कार्यों में प्रवृत्त कराने से उत्पन्न वचनादि अधिकरण परप्रयोग-निर्वर्तित कहलाता है और आत्मा के द्वारा दूसरों को प्रवृत्ति कराने के द्वारा उत्पन्न हुआ अधिकरण 'तदुभय-प्रयोगनिर्वर्तित' कहलाता है। स्थावर आदि जीवों में वचनादि का व्यापार नहीं होता, तथापि उनमें अविरतिभाव की अपेक्षा से परप्रयोग-निर्वर्तित अधिकरण कहा गया है।[१]

शरीर, इन्द्रिय एवं योगों को बांधते हुए जीवों के विषय में अधिकरणी-अधिकरण-विषयक प्ररूपणा

१८. कति णं भंते ! सरीरगा पन्नता ?

गोयमा ! पंच सरीरगा पन्नत्ता, तं जहा—ओरालिए जाव कम्मए।

[१८ प्र.] भगवन् ! शरीर कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! शरीर पांच प्रकार के कहे गए हैं यथा—औदारिक यावत् कार्मण।

१९. कति णं भंते ! इंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया पन्नत्ता, तं जहा—सोतिंदिए जाव फासिंदिए।

[१९. प्र.] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१९ उ.] गौतम ! इन्द्रियाँ पांच कही गई है, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय यावत स्पर्शेन्द्रिय।

२०. कतिविहे णं भंते! जोए पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविहे जोए पन्नत्ते, तं जहा—मणजोए वइजोए कायजोए ?

[२० प्र.] भगवन् ! योग कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[२० उ.] गौतम ! योग तीन प्रकार के कहे गए हैं यथा—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

२१. [१] जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणे किं अधिकरणी, अधिकरणं ?

गोयमा ! अधिकरणी वि, अधिकरणं पि।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर को बांधता (निष्पन्न करता) हुआ जीव अधिकरणी है या अधिकरण है ?

[२१-१ उ.] गौतम ! वह अधिकरणी भी है और अधिकरण भी है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९९

(ख) भगवती, (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५१२

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अधिकरणी वि, अधिकरणं पि ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं जाव अधिकरणं पि।

[२१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि वह अधिकरणी भी है और अधिकरण भी है ?

[२१-२ उ.] गौतम ! अविरति के कारण वह यावत् अधिकरण भी है।

२२. पुढविकाइए णं भंते ! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणे किं अधिकरणी० ?

एवं चेव।

[२२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, औदारिकशरीर को बांधता हुआ अधिकरणी है या अधिकरण है ?

[२२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए।

२३. एवं जाव मणुस्से।

[२३] इसी प्रकार मनुष्य तक जानना चाहिए।

२४ एवं वेउव्वियसरीरं पि। नवरं जस्स अत्थि।

[२४] इसी प्रकार वैक्रियशरीर के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष यह है कि जिन जीवों के शरीर हों, उनके कहना चाहिए।

२५. [१] जीवे णं भंते ! आहारगसरीरं निव्वत्तेमाणे किं अधिकरणी० पुच्छा।

गोयमा ! अधिकरणी वि, अधिकरणं पि।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर बांधता हुआ जीव अधिकरणी है या अधिकरण हैं ?

[२५-१ उ.] गौतम ! वह अधिकरणी भी है और अधिकरण भी है।

[२] से केणट्ठेणं जाव अधिकरणं पि ?

गोयमा ! पमादं पडुच्च। से तेणट्ठेणं जाव अधिकरण पि।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से उसे अधिकरणी और अधिकरण कहते हैं ?

[२५-२ उ.] गौतम ! प्रमाद की अपेक्षा से वह अधिकरणी भी और अधिकरण भी है।

२६. एवं मणुस्से वि।

[२६] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में जानना चाहिए।

२७. तेयासरीरं जहा ओरालियं, नवरं सव्वजीवाणं भाणियव्वं।

[२७.] तैजसशरीर का कथन औदारिकशरीर के समान जानना चाहिए। विशेष यह है कि तैजसशरीर-सम्बन्धी वक्तव्य सभी जीवों के विषय में कहना चाहिए।

२८. एवं कम्मगसरीरं पि।

[२८] इसी प्रकार कार्मणशरीर के विषय में भी जानना चाहिए।

२९. जीवे णं भंते ! सोतिंदियं निव्वत्तेमाणे किं अधिकरणी, अधिकरणं ?

एवं जहेव ओरालियसरीरं तहेव सोइंदियं पि भाणियव्वं। नवरं जस्स अत्थि सोतिंदियं।

[२९ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय को बांधता हुआ जीव अधिकरणी है या अधिकरण है ?

[२९ उ.] गौतम ! औदारिकशरीर के वक्तव्य के समान श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए। परन्तु (ध्यान रहे। जिन जीवों के श्रोत्रेन्द्रिय हो, उनकी अपेक्षा ही यह कथन है।

३०. एवं चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाणि वि, नवरं जाणियव्वं जस्स जं अत्थि।

[३०] इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के विषय में जानना चाहिए। विशेष, जिन जीवों के जितनी इन्द्रियाँ हों, उनके विषय में उसी प्रकार जानना चाहिए।

३१. जीवे णं भंते ! मणजोगं निव्वत्तेमाणे किं अधिकरणी, अधिकरणं।

एवं जहेव सोतिंदियं तहेव निरवसेसं।

[३१ प्र.] भगवन् ! मनोयोग को बांधता हुआ जीव अधिकरणी है या अधिकरण है ?

[३१ उ.] जैसें श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में कहा, वही सब मनोयोग के विषय में भी कहना चाहिए।

३२. वइजोगो एवं चेव। नवरं एगिंदियवज्जाणं।

[३२] वचनयोग के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेष वचनयोग में एकेन्द्रियों का कथन नहीं करना चाहिए।

३३. एवं कायजोगो वि, नवरं सव्वजीवाणं जाव वेमाणिए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सोलसमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो॥ १६.१ ॥

[३३.] इसी प्रकार काययोग के विषय में भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि काययोग सभी जीवों के होता है। अत: वैमानिकों तक इसी प्रकार जानना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सोलह सूत्रों (सू. १८ से ३३) में पांच शरीरों, पांच इन्द्रियों और तीन योगों की अपेक्षा से सभी जीवों के अधिकरणी एवं अधिकरण होने की सहेतुक प्ररूपणा की गई है।

पांच शरीरों की अपेक्षा से—देव और नैरयिक जीवों के औदारिकशरीर नहीं होता है, इसलिए नैरयिकों और देवों को छोड़कर पृथ्वीकायिक आदि दण्डकों के विषय में ही अधिकरणी एवं अधिकरण से सम्बन्धित प्रश्न

किया गया है। नैरयिकों और देवों को जन्म से प्राप्त भवप्रत्यय वैक्रियशरीर होता है। जबकि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों में, जिन्हें वैक्रियशरीर बनाने की शक्ति प्राप्त हुई हो, उन्हें लब्धिप्रत्यय वैक्रियशरीर होता है। वायुकाय को वैक्रियशक्ति प्राप्त होने से उसके भी वैक्रियशरीर होता है।

आहारकशरीर संयमी मुनियों के ही होता है, इसलिए मुख्य प्रश्न मनुष्य के विषय में ही करना चाहिए। संयत जीवों में अविरति का अभाव होने पर भी उनमें प्रमादरूप अधिकरण हो सकता है।[१]

इन्द्रिय और योग की अपेक्षा से भी अधिकरणी और अधिकरण-विषयक कथन शरीर की तरह ही समझना चाहिए।[२]

यहाँ यह ध्यान रखना है, जिस जीव में जितनी एवं जो इन्द्रियां अथवा जितने योग हों उतने एवं वे ही यथायोग्य कहने चाहिए। यहाँ प्रत्येक प्रश्न पहले सामान्य जीवसमूह की अपेक्षा से और फिर दण्डकों के क्रम से किया गया है।[३]

॥ सोलहवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त॥

○○○

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ६९९

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५१६

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७४६-७४७

३. वही, पृ. ७४६-७४७

बीओ उद्देसओ : 'जरा'

द्वितीय उद्देशक : 'जरा'

जीवों और चौवीस दण्डकों में जरा और शोक का निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[१] राजगृह नगर में (श्रमण भगवान् महावीर से) (गौतम स्वामी ने) यावत् इस प्रकार पूछा—

२. [१] जीवाणं भंते! किं जरा, सोगे ?

गोयमा ! जीवाणं जरा वि, सोगे वि।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के जरा और शोक होता है ?

[२-१ उ.] गौतम ! जीवों के जरा भी होती है और शोक भी होता है।

[२.] से केणट्ठेणं भंते ! जाव सोए वि ?

गोयमा ! जे णं जीवा सारीरं वेयणं वेदेंति तेसि णं जीवाणं जरा, जे णं जीवा माणसं वेदणं वेदेंति तेसि णं जीवाणं सोगे। तेणट्ठेणं जाव सोगे वि ?

[२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से जीवों को जरा भी होती है और शोक भी होता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! जो जीव शारीरिक वेदना वेदते (भोगते-अनुभव करते) हैं, उन जीवों को जरा होती है और जो जीव मानसिक वेदना वेदते हैं, उनको शोक होता है। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि जीवों के जरा भी होती है और शोक भी होता है।

३. एवं नेरइयाण वि।

[३] इसी प्रकार नैरयिकों के (जरा और शोक के विषय में) भी समझ लेना चाहिए।

४. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[४] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

५. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! किं जरा, सोगे ?

गोयमा ! पुढविकाइयाणं जरा, नो सोगे।

[५-१ प्र.] भंते ! क्या पृथ्वीकायिक जीवों के जरा और शोक होता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों के जरा होती है, शोक नहीं होता है।

[२] से केणट्ठेणं जाव नो सोगे ?

गोयमा ! पुढविकाइया णं सारीरं वेदणं वेदेंति, नो माणसं वेदणं वेदेंति। से तेणट्ठेणं जाव नो सोगे।

[५-२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के जरा होती है, शोक क्यों नहीं होता है ?

[५-२ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव शारीरिक वेदना वेदते हैं, मानसिक वेदना नहीं वेदते, इस कारण उनके जरा होती है, शोक नहीं होता है।

६. एवं जाव चउरिंदियाणं।

[६] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) चतुरिन्द्रिय जीवों तक जानना चाहिए।

७. सेसाणं जहा जीवाणं जाव वेमाणियाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव पज्जुवासति।

[७] शेष जीवों का कथन सामान्य जीवों के समान वैमानिकों तक जानना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी यावत् पर्युपासना करते हैं।

विवेचन—जरा और शोक : किनको और क्यों—जरा का अर्थ है—वृद्धावस्था और शोक का अर्थ है—चिन्ता, खिन्नता, दैन्य या खेद आदि। जरा शारीरिक दुःखरूप है और शोक मानसिक दुःखरूप। प्रस्तुत में उपलक्षण से 'जरा' शब्द से अन्य शारीरिक दुःख तथा शोक से समस्त मानसिक दुःख का ग्रहण किया गया है। चौबीसदण्डकवर्ती जीवों में जिनके केवल काययोग है, (मनोयोग का अभाव है), उन्हें केवल जरा होती है और जिनके मनोयोग भी है, उनको जरा और शोक दोनों हैं। अर्थात् वे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों का वेदन (अनुभव) करते हैं।[१]

शक्रेन्द्र द्वारा भगवद्दर्शन, प्रश्नकरण एवं अवग्रहानुज्ञा-प्रदान

८. तेणं कालेणं तेणं समयेणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे जाव भुंजमाणे विहरति। इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विपुलेणं ओहिणा आभोएमाणे आभोएमाणे पासति यऽत्थ समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे एवं जहा ईसाणे ततियसए (स. ३ उ. १ सु. ३३) तहेव सक्को वि। नवरं आभियोगिए ण सद्दावेति, हरी पायत्ताणियाहिवती, सुघोसा घंटा, पालओ विमाणकारी, पालगं विमाणं, उत्तरिल्ले निज्जाणमग्गे, दाहिणपुरत्थिमिल्ले रतिकरपव्वए, सेसं तं चेव, जाव नामगं सावेत्ता पज्जुवासति। धम्मकहा जाव परिसा पडिगया।

[८] उस काल एवं उस समय में शक्र देवेन्द्र देवराज, वज्रपाणि, पुरन्दर यावत् (दिव्य भोगों का)

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७००

उपभोग करता हुआ विचरता था। वह इस सम्पूर्ण (केवलकल्प) जम्बूद्वीप नामक द्वीप की ओर अपने विपुल अवधिज्ञान का उपयोग लगा-लगाकर जम्बूद्वीप नामक द्वीप में श्रमण भगवान् महावीर को देख रहा था। यहाँ तृतीय शतक (के प्रथम उद्देशक, सू. ३३) के कथित ईशानेन्द्र की वक्तव्यता के समान शक्रेन्द्र की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेषता यह है कि शक्रेन्द्र आभियोगिक देवों को नहीं बुलाता। इसकी पैदल (पदाति)-सेना का अधिपति हरिणैगमेषी (हरी) देव है, (जो) सुघोषा घंटा (बजाता) है। (शक्रेन्द्र का) विमाननिर्माता पालक देव है। इसके निकलने का मार्ग उत्तरदिशा है। दक्षिण-पूर्व (अग्निकोण) में रतिकर पर्वत है। शेष सभी वर्णन उसी प्रकार कहना चाहिए। यावत् शक्रेन्द्र भगवान् के निकट उपस्थित हुआ और अपना नाम बतला कर भगवान् की पर्युपासना करने लगा। (श्रमण भगवान् महावीर ने) (शक्रेन्द्र तथा परिषद् को) धर्मकथा कही, यावत् परिषद् वापिस लौट गई।

९. तए णं से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ त्ता एवं वयासी—

[९] तदनन्तर देवेन्द्र देवराज शक्र श्रमण भगवान् महावीर से धर्म श्रवण कर एवं अवधारण करके अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार प्रश्न पूछा—

१०. कतिविहे णं भंते ! ओग्गहे पन्नत्ते ?

सक्का ! पंचविहे ओग्गहे पन्नत्ते, तं जहा—देविंदोग्गहे रायोग्गहे गाहावतिओग्गहे सागारिओग्गहे साधम्मिओग्गहे।

[१० प्र.] भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] हे शक्र ! अवग्रह पांच प्रकार का कहा गया है यथा—(१) देवेन्द्रावग्रह, (२) राजावग्रह, (३) गाथापति (गृहपति)-अवग्रह, (४) सागारिकावग्रह और (५) साधर्मिकाऽवग्रह।

११. जे इमे भंते ! अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एएसि णं अहं ओग्गहं अणुजाणामीति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ त्ता तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहति, दु० २ जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

[११] (यह सुनकर शक्रेन्द्र ने भगवान् से निवेदन किया—) भगवन् ! आजकल जो ये श्रमण निर्ग्रन्थ विचरण करते हैं, उन्हें मैं अवग्रह की अनुज्ञा देता हूँ। यों कह कर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके शक्रेन्द्र, उसी दिव्य यान विमान पर चढ़ा और फिर जिस दिशा (जिधर) से आया था, उसी दिशा की ओर (उधर ही) लौट गया।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ८ से ११ तक) में शक्रेन्द्र, द्वारा भगवान् के दर्शन, वन्दन-नमन, धर्म-श्रवण, अवग्रहविषयक-प्रश्नकरण, समाधानप्राप्ति, एवं अवग्रहानुज्ञा-प्रदान का निरूपण किया गया है।

अवग्रह : प्रकार और स्वरूप—अवग्रह का अर्थ है—उस स्थान के स्वामी (मालिक) से जो अवग्रह-स्वीकार किया जाता है। वह क्रमशः पांच प्रकार का होता है। यथा—(१) **देवेन्द्रावग्रह**—शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र इन दोनों का अवग्रह-स्वामित्व क्रमशः दक्षिणलोकार्द्ध और उत्तरलोकार्द्ध में है। अतः उनकी आज्ञा लेना देवेन्द्रावग्रह है। (२) **राजावग्रह**—भरतादि क्षेत्रों में छह खण्डों पर चक्रवर्ती का, तीन खंडों पर वासुदेव का तथा विभिन्न जनपदों पर अमुक-अमुक शासक या मन्त्री का अवग्रह होता है। (३) **गाथापति-अवग्रह**—माण्डलिकादि का अपने अधीनस्थ देश पर अवग्रह होता है। (४) **सागारिक-अवग्रह**—सागारिक-गृहस्थ का अपने घर या मकान पर अवग्रह होता है। **(५) साधर्मिक-अवग्रह**—समान धर्म आचार वाला साधु वर्ग परस्पर साधर्मिक कहलाता है। शेष काल में एक मास और चातुर्मास में चार मास तक पांच-पांच कोस तक के क्षेत्र में साधर्मिकावग्रह होता है। ढाई-ढाई कोस तक उत्तर-दक्षिण में तथा ढाई कोस तक पूर्व-पश्चिम में, यों ५ कोस तक का अवग्रह होता है। अवग्रह पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द विशेषतः साधु-साध्वियों द्वारा ठहरने के स्थान आदि में स्वामी या संरक्षक से अवग्रह-ग्रहण करने की अनुज्ञा लेने या याचना करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[१]

कठिन सब्दार्थ—**वज्जपाणि**—वज्रपाणि—जिसके हाथ में वज्र हो। **केवलकप्पं**—केवलकल्प, सम्पूर्ण। **आभोएमाणे**—उपयोग लगाते हुए। **उग्गहे**—अवग्रह—स्वामी से ग्रहण करना।[२]

शक्रेन्द्र की सत्यता, सम्यग्वादिता, सत्यादिभाषिता, सावद्य-निरवद्यभाषिता, एवं भव-सिद्धिकता आदि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर

१२. भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं. २ त्ता एवं वयासी—

जं णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया तुब्भे एवं वदति सच्चे णं एसमट्ठे ?

हंता, सच्चे।

[१२ प्र.] भगवन् ! इस प्रकार सम्बोधन करके भगवान् गौतम ने श्रमणं भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र ने आप से पूर्वोक्त रूप से अवग्रह सम्बन्धी जो अर्थ कहा, क्या वह सत्य है ?

[१२ उ.] हाँ, गौतम ! वह अर्थ सत्य है।

१३. सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सम्मावादी, मिच्छावादी ?

गोयमा ! सम्मावादी, नो मिच्छावादी।

[१३ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र सम्यग्वादी है अथवा मिथ्यावादी है ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७००-७०१
   (ख) भगवती, (हिन्दीविवेचन) भा. ५ पृ. २५२१
२. (क) वही, पृ. २५२०
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७००

[१३ उ.] गौतम ! वह सम्यग्वादी है, मिथ्यावादी नहीं है।

१४. सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सच्चं भासं भासति, मोसं भासं भासति, सच्चामोसं भासं भासति, असच्चामोसं भासं भासइ ?

गोयमा ! सच्चं पि भासं भासति, जाव असच्चामोसं पि भासं भासति।

[१४ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र क्या सत्य भाषा बोलता है, मृषा भाषा बोलता है, सत्यामृषा भाषा बोलता है, अथवा असत्यामृषा भाषा बोलता है?

[१४ उ.] गौतम ! वह सत्य भाषा भी बोलता है, यावत् असत्यामृषा भाषा भी बोलता है।

१५ [१] सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासति, अणवज्जं भासं भासति?

गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासति, अणवज्जं पि भासं भासति।

[१५-१ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र क्या सावद्य (पापयुक्त) भाषा बोलता है या निरवद्य भाषा बोलता है?

[१५-१ उ.] गौतम ! वह सावद्य भाषा भी बोलता है और निरवद्य भाषा भी बोलता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सावज्जं पि जाव अणवज्जं पि भासं भासति?

गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अनिज्जूहित्ताणं भासं भासति ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासति, जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निज्जूहित्ताणं भासं भासति ताहे सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासति, से तेणट्ठेणं जाव भासति।

[१५-२ प्र] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा गया है कि शक्रेन्द्र सावद्य भाषा भी बोलता है और निरवद्य भाषा भी बोलता है?

[१५-२ उ.] गौतम! जब देवेन्द्र देवराज शक्र सूक्ष्म काय (अर्थात् हाथ आदि या वस्त्र) से मुख ढँके बिना बोलता है, तब वह सावद्य भाषा बोलता है और जब वह हाथ या वस्त्र से मुख को ढँक कर बोलता है, तब वह निरवद्य भाषा बोलता है। इसी कारण से यह कहा जाता है कि शक्रेन्द्र सावद्य भाषा भी बोलता है और निरवद्य भाषा भी बोलता है।

१६. सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धीए, अभवसिद्धीए, सम्मदिट्ठीए० ?

एवं जहा मोउद्देसए सणंकुमारो (स.३ उ.१ सु. ६२) जाव नो अचरिमे।

[१६ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक है? सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि है? इत्यादि प्रश्न।

[१६ उ.] गौतम! तृतीय शतक के प्रथम मोका उद्देशक (सू. ६२) में उक्त सनत्कुमार के अनुसार यहाँ भी अचरम नहीं है (यहाँ तक जानना चाहिए)।

विवेचन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १२ से १६ तक) में शक्रेन्द्र के सम्बन्ध में गौतमस्वामी द्वारा किये गये निम्नोक्त प्रश्नों का समाधान अंकित है।

[प्र. १] अवग्रह सम्बन्धी वक्तव्य सत्य है? [उ.] सत्य है।

[प्र. २] शक्रेन्द्र सम्यग्वादी है या मिथ्यावादी है? [उ.] सम्यग्वादी है।

[प्र. ३] वह सत्य आदि चार प्रकार की भाषाओं में से कौन-सी भाषा बोलता है? [उ.] चारों प्रकार की।

[प्र. ४] निरवद्य भाषा बोलता है, या सावद्य? [उ.] दोनों प्रकार की भाषा बोलता है।

[प्र. ५] भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक है? सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि है?। परित्तसंसारी है या अपरित्त (अनन्त) संसारी है? सुलभबोधि है या दुर्लभबोधि है? आराधक है या विराधक है? चरम है या अचरम है? [उ.] इन सब में प्रशस्तपद ही ग्राह्य है।[1]

कठिन शब्दार्थ—**सावज्जं**—सावद्य—गर्हितकर्मसहित, पापयुक्त। **अणवज्जं**—निरवद्य-निष्पाप। **सुहुमकायं**—सूक्ष्मकाय—हस्त आदि वस्तु अथवा वस्त्र। **अणिज्जूहित्ता**—लगाए बिना, ढँके बिना। अर्थात हाथ एवं वस्त्र आदि मुख पर लगा (ढँक) कर यतनापूर्वक बोलने वाले के द्वारा जीवरक्षा होती है, इसलिए वह भाषा निरवद्य होती है, इससे भिन्न सावद्य। **सम्मावादी**—सम्यग् बोलने के स्वभाव वाला, सम्यग्वादनशील। सम्यग्वादनशील होते हुए भी प्रमाद आदि के वश सत्य भाषा भी गर्हित कर्म के लिए बोली जाए अथवा मुख पर वस्त्रादि या हाथ आदि लगाए बिना बोली जाए, वह भाषा सावद्य होती है।[2]

जीव और चौवीस दण्डकों में चेतनकृत कर्म की प्ररूपणा

१७. [१] जीवाणं भंते! किं चेयकडा कम्मा कज्जंति, अचेयकडा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा! जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति, नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति।

[१७-१ प्र.] भगवन्! जीवों के कर्म चेतनकृत होते हैं या अचेतनकृत होते हैं?

[१७-१ उ.] गौतम! जीवों के कर्म चेतनकृत होते हैं, अचेतनकृत नहीं होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ जाव कज्जंति ?

गोयमा! जीवाणं आहारोवचिता पोग्गला बोंदिचिया पोग्गला कलेवरचिया पोग्गला तहा तहा

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ७४९-७५०

(ख) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र प्रथम खण्ड (श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) श. ३, उ. १, पृ. २९८

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७०१

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५२३

(ग) सहावद्येन—गर्हितकर्मणेति सावद्या तां। —अ. वृत्ति पत्र ७०१

णं ते पोग्गला परिणमंति, नत्थि अचेयकडा कम्मा समण उसो! दुट्ठाणेसु दुसेज्जासु दुन्निसीहियासु तहा तहा णं ते पोग्गला परिणमंति, नत्थि अचेयकडा कम्मा समणाउसो! आयंके से वहाए होति, संकप्पे से वहाए होति, मरणंते से वहाए होति, तहा तहा णं ते पोग्गला परिणमंति, नत्थि अचेयकडा कम्मा समणाउसो! से तेणट्ठेणं जाव कम्मा कज्जंति।

[१७-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहा जाता है कि जीवों के कर्म चेतनकृत होते हैं, अचेतनकृत नहीं होते हैं?

[१७-२ उ.] गौतम! जीवों के आहार रूप से उपचित जो पुद्गल हैं, शरीररूप से जो संचित पुद्गल हैं और कलेवर रूप से जो उपचित पुद्गल हैं, वे तथा-तथा रूप से परिणत होते हैं, इसलिए हे आयुष्मन् श्रमणो! कर्म अचेतनकृत नहीं हैं। वे पुद्गल दुःस्थान रूप से, दुःशय्या रूप से और दुर्निषद्या रूप से तथा-तथा रूप से परिणत होते हैं। इसलिए हे आयुष्मन् श्रमणो! कर्म अचेतनकृत नहीं हैं।

वे पुद्गल आतंक रूप से परिणत होकर जीव के वध के लिए होते हैं, वे संकल्प रूप से परिणत होकर जीव के वध के लिए होते हैं, वे पुद्गल मरणान्त रूप से परिणत होकर जीव के वध के लिए होते हैं। इसलिए हे आयुष्मन् श्रमणो ! कर्म अचेतनकृत नहीं हैं। है गौतम ! इसीलिए कहा जाता है, यावत् कर्म चेतनकृत होते हैं।

१८. एवं नेरतियाण वि।

[१९] इसी प्रकार नैरयिकों के कर्म भी चेतनकृत होते हैं।

१९. एवं जाव वेमाणियाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ सोलसमे सए : बीओ उद्देसओ सम्मत्तो॥ १६-२॥

[१९] इसी प्रकार वैमानिकों तक के कर्मों के विषय में कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—कर्मों का कर्त्ता : चेतन है, अचेतन नहीं—प्रस्तुत तीन सूत्रों से स्पष्टतः युक्ति एवं तर्क पूर्वक बता दिया गया है कि सामान्य जीवों के या नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के कर्म चेतन (जीव) के द्वारा स्वकृत होते हैं, अचेतनकृत नहीं। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार जीवों के आहार, शरीर, कलेवर आदि रूप से संचित किये हुए पुद्गल आहारादि-रूप से परिणत हो जाते हैं वे कर्मपुद्गल जीवों के ही हैं। क्योंकि वे कर्म पुद्गल शीत, उष्ण, दंश-मशक आदि से युक्त स्थान में दुःखोत्पादक शय्या (वसति या उपाश्रय) में तथा दुःखकारक निषद्या (स्वाध्याय भूमि) में दुःखोत्पादक रूप से परिणत होते हैं। दुःख जीवों को ही होता है, अजीवों को नहीं। इसलिए यह स्पष्ट है कि दुःख के हेतुभूत कर्म जीवों ने ही संचित किये हैं। वे कर्म-पुद्गल

आतंक (रोग) रूप से संकल्प (भयादि विकल्प) रूप से और मरणान्त (उपघातादि) रूप से अर्थात्—रोगादिजनक असातावेदनीय रूप से परिणत होते हैं और वे वध के हेतुभूत होते हैं। वध जीव का होता है। अतः वध के हेतुभूत असातावेदनीय कर्मपुद्गल भी जीवकृत हैं इस दृष्टि से कहा गया है कि कर्म चेतनकृत होते हैं,[१] अचेतनकृत नहीं होते हैं।

कठिन शब्दार्थ—चेयकडा—चेतःकृत-चेतन कृत यानी बद्ध चेतःकृत कर्म। **कज्जंति**—होते हैं। **बोंदिचिया**—बोंदि अव्यक्तावयव रूप शरीर रूप से संचित। **नत्थि अचेयकडा**—अचेतनकृत नहीं।[२]

॥ सोलहवां शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७०२
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५२६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७०२

तइओ उद्देसओ : कम्मे

तृतीय उद्देशक : कर्म

अष्ट कर्मप्रकृतियों के वेदावेद आदि का प्रज्ञापना के अतिदेशपूर्वक निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[१] राजगृह नगर में (गौतमस्वामी ने) यावत् इस प्रकार पूछा—

२. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं।

[२ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी हैं ?

[२ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ हैं, यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय।

३. एवं जाव वेमाणियाणं ?

[३] इस प्रकार यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए।

४. जीवे णं भंते। नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मप्पगडीओ, एवं जहा पन्नवणाए वेदावेउद्देसओ सो चेव निरवसेसो भाणियव्वो। वेदाबंधो वि तहेव। बंधावेदो वि तहेव। बंधाबंधो वि तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरित।

[४ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म को वेदता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[४ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीयकर्म को वेदन करता हुआ जीव) आठ कर्मप्रकृतियों को वेदता है। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के (२७ वें) 'वेद-वेद' नामक पद (उद्देशक) में कथित समग्र कथन करना चाहिए। वेद-बन्ध, बन्ध-वेद और बन्ध-बन्ध उद्देशक भी, (प्रज्ञापनासूत्र में उक्त कथन के अनुसार) यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए। हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १से ४ तक) में आठ कर्मप्रकृतियों के नाम गिना कर प्रज्ञापनासूत्र के वेद-वेद , वेद-बन्ध, बंध-वेद एवं बंध-बंध पद के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।

वेद-वेद—एक कर्मप्रकृति के वेदन के समय दूसरी कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन होता है, यह जिस उद्देशक (पद) में बताया गया है, वह प्रज्ञापना का २७ वाँ पद वेद-वेद उद्देशक है।

वेद-बन्ध—एक कर्मप्रकृति के वेदन के समय अन्य कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, यह जिस

उद्देशक में कहा गया है वह प्रज्ञापना का २६ वां पद वेद-बन्ध उद्देशक है।

बन्ध-वेद—एक कर्मप्रकृति को बांधता हुआ जीव, कितनी कर्मप्रकृतियाँ वेदता है, यह प्रज्ञापना का २५ वाँ पद बंध-वेद उद्देशक है।

बन्ध-बन्ध—एक कर्मप्रकृति को बांधता हुआ जीव दूसरी कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधता है, यह जिसमें बताया गया है, वह प्रज्ञापनासूत्र का २४ वाँ पद बन्ध-बन्ध उद्देशक है।[१]

प्रज्ञापना के अनुसार उत्तर—(१) प्रस्तुत पाठ में एक कर्मप्रकृति को वेदते समय आठ कर्मप्रकृतियों को वेदता है, यह औघिक रूप से उत्तर है। उसका आशय यह है कि सामान्यतया जीव आठों कर्मप्रकृतियों को वेदता है। किन्तु जब मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम हो जाता है, तब सात (मोहनीय के सिवाय) कर्मप्रकृतियों को वेदता है, और चार घातिकर्म क्षय होने पर शेष चार अघाति कर्मप्रकृतियों को वेदता है। (२) **वेद-बन्ध** पद के अनुसार ज्ञानावरणीय कर्म को वेदता हुआ जीव सात, आठ, छह या एक कर्मप्रकृति का बन्ध करता है। जब आयुष्यकर्म का बन्ध करता है, तब आठ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है, जब आयुष्यबन्ध नहीं करता तब सात कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में आयुष्य और मोहनीय के सिवाय छह कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है। उपशान्तमोहादि दो गुणस्थानों में केवल एक वेदनीयकर्म को बांधता है। (३) **बन्ध-वेद** पद के अनुसार—ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ जीव, अवश्य ही आठ कर्मों को वेदता है, इत्यादि वर्णन वहाँ से जान लेना चाहिए। (४) **बन्ध-बन्ध** पद के अनुसार—ज्ञानावरणीयकर्म को बांधता हुआ जीव सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियों को बांधता है। आयुष्य नहीं बांधता तब सात, आयुष्य सहित आठ और मोहनीय तथा आयुष्य के बिना ६ कर्मप्रकृतियों को बांधता है, इत्यादि वर्णन वहाँ से जान लेना चाहिए।

मूल पाठ में 'वेयावेओ' आदि पदों में प्राकृभाषा के कारण दीर्घ हो गया है।

कायोत्सर्गस्थ अनगार के अर्श-छेदक को तथा अनगार को लगने वाली क्रिया

५. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नदा कदायि रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेतियाओ पडिनिक्खमति, प० २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

(५) किसी समय एक दिन श्रमण भगवान् महावीर राजगृहनगर के गुणशीलक नामक उद्यान से निकले और बाहर के (अन्य) जनपदों में विहार करने लगे।

६. तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयतीरे नामं नगरे होत्था। वण्णओ।

(६) उस काल उस समय में उल्लूकतीर नाम का नगर था। उसका वर्णन नगरवर्णनवत् जान लेना चाहिए।

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण) श्रीमहावीर जैन विद्यालय
सू. १७८७-९२, सू. १७७५-८६, सूत्र १७६९-७४, सू. १७५४-६८, पृ. ३९१, ३८९, ३८८, ३८५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७०३

७. तस्स णं उल्लुयतीरस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए, एत्थ णं एगजंबुए नामं चेतिए होत्था। वण्णओ।

(७) उस उल्लूकतीर नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशाभाग (ईशानकोण) में 'एकजम्बूक' नामक उद्यान था। उसका वर्णन पूर्ववत्।

८. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नदा कदायि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाय एगजंबुए समोसढे। जाव परिसा पडिगया।

(८) एक वार किसी दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अनुक्रम से विचरण करते हुए यावत् 'एकजम्बूक' उद्यान में पधारे। यावत् परिषद (धर्मदेशना श्रवण कर) लौट गई।

९. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासि—

(९) 'भगवन्!' यों सम्बोधन करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार पूछा—

१०. अणगारस्स णं भंते! भावियप्पणो छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं जाव आतावेमाणस्स तस्स णं पुरत्थिमेणं अवड्ढं दिवसं नो कप्पति हत्थं वा पायं या बाहं वा ऊरुं वा आउंटावेत्ताए वा पसारेत्तए वा, पच्चत्थिमेणं से अड्ढं दिवसं कप्पति हत्थं वा पायं वा जाव ऊरुं वा आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा। तस्स य अंसियाओ लंबंति, तं च वेज्जे अदक्खु, ईसिं पाडेति, ई० २ अंसियाओ छिंदेज्जा। से नूणं भंते। जे छिंदति तस्स किरिया कज्जति ? जस्स छिंज्जंति नो तस्स किरिया कज्जइ णऽनत्थेगेणं धम्मंतराइएणं?

हंता, गोयमा ! जे छिंदति जाव धम्मंतराइएणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सोलसमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो॥ १६-३॥

[१० प्र.] भगवान् ! निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) के तपश्चरण के साथ यावत् आतापना लेते हुए भावितात्मा अनगार को (कायोत्सर्ग में) दिवस के पूर्वार्द्ध में अपने हाथ, पैर, बांह या ऊरु (जंघा) को सिकोड़ना या पसारना कल्पनीय नहीं है, किन्तु दिवस के पश्चिमार्द्ध (पिछले आधे भाग) में अपने हाथ, पैर या यावत् उरु को सिकोड़ना का फैलाना कल्पनीय है। इस प्रकार कायोत्सर्गस्थित उस भावितात्मा अनगार की नासिका में अर्श (मस्सा) लटक रहा हो। उस अर्श को किसी वैद्य ने देखा और यदि वह वैद्य उस अर्श को काटने के लिए उस ऋषि को भूमि पर लिटाए, फिर उसके अर्श को काटे, तो हे भगवन्! क्या जो वैद्य अर्श काटता है, उसे क्रिया लगती है? तथा जिस (अनगार) का अर्श काटा जा रहा है, उसके मात्र धर्मान्तरायिक क्रिया के सिवाय दूसरी क्रिया तो नहीं लगती ?

[१० उ.] हाँ गौतम ! जो (अर्श को) काटता है, उसे (शुभ) क्रिया लगती है और जिसका अर्श काटा

जा रहा है, उस ऋषि को धर्मान्तराय के सिवाय अन्य कोई क्रिया नहीं लगती।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—राजगृह से विहार करके उल्लूकतीर नगर के बाहर एकजम्बूक उद्यान में गणधर गौतम द्वारा कायोत्सर्गस्थ भावितात्मा अनगार के अर्श-छेदक वैद्य को तथा उक्त अनगार को लगने वाली क्रिया के विषय में भगवान् से पूछा गया प्रश्न और उसका उत्तर प्रस्तुत ६ सूत्रों (सू. ५ से १० तक) में अंकित है।[१]

अर्श-छेदन में लगने वाली क्रिया—दिन के पिछले भाग में कायोत्सर्ग में स्थित न होने से हस्तादि अंगों को सिकोड़ना-पसारना कल्पनीय है। कायोत्सर्ग में रहे हुए उस भावितात्मा अनगार की नासिका में लटकते हुए अर्श को देख कर कोई वैद्य उक्त अनगार को भूमि पर लिटाकर धर्मबुद्धि से अर्श को काटे तो उस वैद्य को सत्कार्य-प्रवृत्तिरूप शुभ क्रिया लगती है, किन्तु लोभादिवश अर्श-छेदन करे तो उसे अशुभ क्रिया लगती है। जिस साधु के अर्श को छेदा जा रहा है, उसे निर्व्यापार होने के कारण एक धर्मान्तरायक्रिया के सिवाय और कोई क्रिया नहीं लगती। शुभध्यान में विच्छेद (अन्तराय) पड़ने से अथवा अर्श-छेदन के अनुमोदन से उसे धर्मान्तरायरूप क्रिया लगती है।[२]

कठिन शब्दार्थ—**पुरत्थिमेणं**—दिवस के पूर्वभाग में—पूर्वाह्न में। **अवड्ढं दिवसं**—अपार्द्ध दिवस तक। **पच्चत्थिमेणं**—दिवस के पश्चिम (पिछले) भाग में। **अंसियाओ**—अर्श, चूर्णिकार के अनुसार जो नासिका पर लटक रहा हो। **अदक्खु**—देखा। **ईसिं पाडेह**—उस ऋषि को अर्श काटने के लिए भूमि पर लिटाता है। **नन्नत्थ**—इसके सिवाय।[३]

॥ सोलहवां शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १ पृ. ७५१-७५२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७०४

३. वही, अ. वृत्ति, पत्र ७०४
उल्लूकतीर नगर वर्तमान में 'उल्लूवेड़िया' (वर्द्धमान के निकट) पश्चिमबंगाल में है, सम्भवत: वही हो। —सं.

चउत्थो उद्देसओ : 'जावतियं'

चतुर्थ उद्देशक : 'यावतीय'

तपस्वी श्रमणों के जितने कर्मों को खपाने में नैरयिक लाखों करोड़ों वर्षों में भी असमर्थ : दृष्टान्त पूर्वक निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[१] राजगृह नगर में (भगवान् महावीर स्वामी से गौतम स्वामी ने) यावत् इस प्रकार पूछा—

२. जावतियं णं भंते! अन्नगिलायए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतियं कम्मं नरएसु नेरतिया वासेण वा वासेहि वा वाससतेण वा खवयंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[२ प्र.] भगवन् ! अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों की निर्जरा करता है, क्या उतने कर्म नरकों में नैरयिक जीव एक वर्ष में, अनेक वर्षों में अथवा सौ वर्षों में खपा (क्षय कर) देते हैं ?

[२ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं।

३. जावतियं णं भंते ! चउत्थभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतियं कम्मं नरएसु नेरतिया वाससतेण वा वाससतेहि वा वाससहस्सेण वा खवयंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[३ प्र.] भगवन् ! चतुर्थ भक्त (एक उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का निर्जरा करता है, क्या उतने कर्म नरकों से नैरयिक जीव सौ वर्षों में, अनेक सौ वर्षों में या एक हजार वर्षों में खपाते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं।

४. जावतियं णं भंते ! छट्ठभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतियं कम्मं नरएसु नेरतिया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहि वा वाससयसहस्सेण वा खवयंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[४ प्र.] भगवन् ! षष्ठभक्त (बेला) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों की निर्जरा करता है, क्या उतने कर्म नरकों में नैरयिक जीव एक हजार वर्षों में, अनेक हजार वर्षों में, अथवा एक लाख वर्षों में क्षय कर पाता है ?

[४ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

५. जावतियं णं भंते! अट्ठमभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतियं कम्मं नेरइया वाससयसहस्सेणं वा वाससयसहस्सेहि वा वासकोडीए वा खवयंति ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

[५ प्र.] भगवन्! अष्टम भक्त (तेला) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों की निर्जरा करता है, क्या उतने कर्म नरकों में नैरयिक जीव एक लाख वर्षों में, अनेक लाख वर्षों में, या एक करोड़ वर्षों में क्षय कर पाता है?

[४ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं।

६. जावतियं णं भंते ! दसमभत्तिए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतियं कम्मं नरएसु नेरतिया वासकोडीए वा वासकोडीहिं वा वासकोडाकोडीए वा खवयंति ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

[६ प्र.] भगवन्! दशमभक्त (चौला) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों की निर्जरा करता है, क्या उतने कर्म नरकों में नैरयिक जीव, एक करोड़ वर्षों में, अनेक करोड़ वर्षों में या कोटा-कोटी वर्षों में क्षय कर पाता है।

[६ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं।

७. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—जावतियं अन्नगिलातए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेति एवतियं कम्मं नरएसु नेरतिया वासेण वा वासेहि वा वाससएण वा नो खवयंति, जावतियं चउत्थभत्तिए, एवं तं चेव पुव्वभणियं उच्चारेयव्वं जाव वासकोडाकोडीए वा नो खवयंति ?

गोयमा ! ''से जहानामए—केयि पुरिसे जुण्णे जराजज्जरियदेहे सिढिलतयावलितरंगसंपिणद्धगत्ते पविरलपरिसडियदंतेसेढी उण्हाभिहए तण्हाभिहए आउरे झुंझिते पिवासिए दुब्बले किलंते, एगं महं कोसंबगंडियं सुक्कं जडिलं गंठिल्लं चिक्कणं वाइद्धं अपत्तियं मुंडेण परसुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे महंताइं महंताइं सद्दाइं करेइ, नो महंताइं महंताइं दलाइं अवद्दालेति, एवामेव गोयमा! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिक्कणीकयाइं एवं जहा छट्ठसए (स. ६ उ. १ सु. ४) जाव नो महापज्जवसाणा भवंति।''

से जहा वा केयि पुरिसे अहिकरणिं आउडेमाणे महया जाव नो महापज्जवसाणा भवंति।

से जहानामए—केयि पुरिसे तरुणे बलवं जाव मेहावी निउणसिप्पोवगए एगं महं सामलिगंडियं उल्लं अजडिलं अगंठिल्लं अचिक्कणं अवाइद्धं संपत्तियं तिक्खेण परसुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे नो महंताइं महंताइं सद्दाइं करेति, महंताइं महंताइं दलाइं अवद्दालेति, एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहाबादराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं णिट्ठियाइं कयाइं जाव खिप्पामेव परिविद्धत्थाइं भवंति, जावतियं तावतियं जाव महापज्जवसाणा भवंति।

''से जहा वा केयि पुरिसे सक्कं तणहत्थगं जायतेयंसि पक्खिवेज्जा एवं जहा छट्ठसए (स. ६ उ. १ सु. ४) तहा अयोकवल्ले वि जाव महापज्जवसाणा भवंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जावतियं अन्नगिलायए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेइ. तं चेव जाव वासकोडाकोडी वा नो खवयंति।''

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ।

॥ सोलसमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ १६-४ ॥

[७ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्म नरकों में नैरयिक, एक वर्ष में, अनेक वर्षों में अथवा सौ वर्षों में नहीं खपा पाता, तथा चतुर्थभक्त करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है, ... इत्यादि पूर्वकथित वक्तव्य का कथन, कोटाकोटी वर्षों में क्षय नहीं कर सकता। (यहाँ तक करना चाहिए)।

[७ उ.] गौतम ! जैसे कोई वृद्ध पुरुष है। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर जर्जरित हो गया है। चमड़ी शिथिल होने से सिकुड़ कर सलवटों (झुर्रियों) से व्याप्त है। दांतों की पंक्ति में बहुत से दांत गिर जाने से थोड़े से (विरल) दांत रह गए हैं, जो गर्मी से व्याकुल है, प्यास से पीडित है, जो आतुर (रोगी), भूखा, प्यासा, दुर्बल और क्लान्त (थका हुआ या परेशान) है। वह वृद्ध पुरुष एक बड़ी कोशम्बवृक्ष की सूखी, टेढी-मेढ़ी, गाँठगठीली, चिकनी, बांकी, निराधार रही हुई गण्डिका (गाँठगठीली जड़) पर एक कुंठित (भोंथरे) कुल्हाड़े से जोर-जोर से शब्द करता हुआ प्रहार करे, तो भी वह उस लकड़ी के बड़े-बड़े टुकड़े नहीं कर सकता, इसी प्रकार हे गौतम ! नैरयिक जीवों ने अपने पाप कर्म गाढ़ किये हैं, चिकने किये हैं, इत्यादि छठे शतक (उ. १ सू. ४) के अनुसार यावत्—वे महापर्यवसान (मोक्ष रूप फल) वाले नहीं होते। (यहाँ तक कहना चाहिए।) (इस कारण वे नैरयिक जीव अत्यन्त घोर वेदना वेदते हुए भी महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले नहीं होते।)

जिस प्रकार कोई पुरुष एहरन पर घन की चोट मारता हुआ, जोर-जोर से शब्द करता हुआ, (एहरन के स्थूल पुद्गलों को तोड़ने में समर्थ नहीं होता, इसी प्रकार नैरयिक जीव भी गाढ़ कर्म वाले होते हैं) इसलिए वे यावत् महापर्यवसान वाले नहीं होते। जिस प्रकार कोई पुरुष तरुण है, बलवान् है, यावत् मेधावी, निपुण और शिल्पकार है, वह एक बड़े शाल्मली वृक्ष की गीली, अजटिल, अगंठिल (गांठ रहित), चिकनाई से रहित, सीधी और आधार पर टिकी गण्डिका पर तीक्ष्ण कुल्हाड़े से प्रहार करे तो जोर-जोर से शब्द किये बिना ही आसानी से उसके बड़े-बड़े टुकड़े कर देता है। इसी प्रकार हे गौतम ! जिन श्रमण निर्ग्रन्थों ने अपने कर्म यथा—स्थूल, शिथिल यावत् निष्ठित किये हैं, यावत् वे कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। और वे श्रमण निर्ग्रन्थ यावत् महापर्यवसान वाले होते हैं।

हे गौतम ! जैसे कोई पुरुष सूखे हुए घास के पूले को यावत् अग्नि में डाले तो वह शीघ्र ही जल जाता है, इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थों के यथाबादर कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

जैसे कोई पुरुष, पानी की बून्द को तपाये हुए लोहे के कड़ाह पर डाले तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थों के भी यथाबादर (स्थूल) कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। छठे शतक के (प्रथम

उद्देशक सू. ४) के अनुसार यावत् वे महापर्यवसान वाले होते हैं। इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है, इत्यादि यावत् उतने कर्मों का नैरयिक जीव कोटाकोटी वर्षों में भी क्षय नहीं कर पाते।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैँ।

विवेचन—प्रस्तुत सात सूत्रों (१ से ७ तक) में दीर्घकाल तक घोर कष्ट में पड़ा हुआ नारक लाखों-करोड़ों वर्षों में भी उतने कर्मों का लक्ष्य नहीं कर पाता, जितने कर्मों का क्षय तपस्वी श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकाल में और अल्पकष्ट से कर देता है, इस तथ्य को भगवान् ने वृद्ध और तरुण पुरुष के, तथा घास के पूले और पानी की बूंदों का दृष्टान्त देकर युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। इसका विस्तृत वर्णन छठे शतक के प्रथम उद्देशक में कर दिया गया है।[१]

अण्णगिलायए—अन्नग्लायक : दो विशेषार्थ—(१) अन्न के बिना ग्लानि को पाने वाला। इसका आशय यह है कि जो भूख से इतना आतुर हो जाता है कि गृहस्थों के घर में रसोई बन जाए, तब तक भी प्रतीक्षा नहीं कर सकता, ऐसा भूख सहने में असमर्थ साधु कूरगडूक मुनि की तरह, गृहस्थों के घर से पहले दिन का बना हुआ बासी कूरादि (अन्न या पके हुए चावल) ला कर प्रातःकाल ही खाता है, वह अन्नग्लायक है। (२) चूर्णिकार के मतानुसार—भोजन के प्रति इतना निःस्पृह है कि जैसा भी अन्त, प्रान्त, ठंडा, बासी अन्न मिले उसे निगल जाता है, वह अन्नगिलायक है।[२]

कठिन शब्दार्थ—**जावतियं**—जितने। **एवतियं**—इतने। **जुण्णे**—जीर्ण—वृद्ध। **जराजज्जरियदेहे**—बुढ़ापे से जर्जरित देह वाला। **सिढिल-तयावलितरंग-संपिणद्धगत्ते**—शिथिल होने के कारण जिसकी चमड़ी (त्वचा) में सलवटें (झुर्रियां) पड़ गई हों, ऐसे शरीर वाला। **पविरल-परिसडिय दंतसेढी**—जिसके कई दांत गिर जाने से बहुत थोड़े (विरल) दांत रहे हों। **उण्हाभिहए**—उष्णता से पीड़ित। **तण्हाभिहए**—प्यास से पीड़ित। **आउरे**—रोगी। **झुंझिए**—बुभुक्षित—क्षुधातुर। **पिवासिए**—पिपासित। **किलंते**—क्लान्त। **कोसंब-गंडियं**—कोशम्ब वृक्ष की लकड़ी। **जडिलं**—मुड़ी हुई। **गंठिल्लं**—गांठ वाली। **वाइद्धं**—व्यादिग्ध—वक्र। **अपत्तियं**—जिसको आधार न हो। **अक्कमेज्जा**—प्रहार करे। **परसुणा**—कुल्हाड़े से। **महंताइं**—बड़े-बड़े। **दलाइं अवद्दालेति**—टुकड़े कर देता है। **महापज्जवसाणा**—मोक्ष रूप फल वाला। **सुक्कं तणहत्थगं**—सूखे घास के पूले को। **जायतेयंसि**—अग्नि में। **परिविद्धत्थाइं**—परिविध्वस्त—नष्ट। **निउणसिप्पोवगए**—निपुण शिल्पकार। **मुंडो**—भोंथरा।[३]

॥ सोलहवां शतक : चौथा उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ पृ. ७५३-७५४
(ख) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) खंड २ श. ६ उ.१ सू. ४

२. अन्नं विना ग्लायति-ग्लानो भवतीति अन्नग्लायकः, चूर्णिकारेण तु निःस्पृहत्वात् सीयकूरभोई अंतपंताहारो।
—अ. वृत्ति, पत्र ७०५

३. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ७०५ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५३४

पंचमो उद्देसओ : 'गंगदत्त'

पंचम उद्देशक : गंगदत्त (-जीवनवृत्त)

शक्रेन्द्र के आठ प्रश्नों का भगवान् द्वारा समाधान

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयतीरे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। एगजंबुए चेइए वण्णओ।

[१] उस काल उस समय में उल्लूकतीर नामक नगर था। उसका वर्णन पूर्ववत्। वहाँ एकजम्बूक नाम का उद्यान था। उसका वर्णन पूर्ववत्।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे जाव परिसा पज्जुवासति।

[२] उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे, यावत् परिषद् ने पर्युपासना की

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी एवं जहेव बितियउद्देसए (सु. ८) तहेव दिव्वेणं जाणविमाणेणं आगतो जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता जाव नमंसिता एवं वदासि—

[३] उस काल उस समय में देवेन्द्र देवराज वज्रपाणि शक्र इत्यादि सोलहवें शतक के द्वितीय उद्देशक (के सू. ८) में कथित वर्णन के अनुसार दिव्य यान विमान से वहाँ आया और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार कर उसने इस प्रकार पूछा—

४. देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले अपरियादित्ता पभू आगमित्तए ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

[४ प्र.] भगवन् ! क्या महर्द्धिक यावत् महासौख्यसम्पन्न देव बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना यहाँ आने में समर्थ है ?

[४ उ] हे शक्र! यह अर्थ समर्थ नहीं।

५. देवे णं भंते! महिड्ढीए जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू आगमित्तए ?

हंता, पभू।

[५ प्र.] भगवन्! क्या महर्द्धिक यावत् महासौख्यसम्पन्न देव बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके यहाँ आने में समर्थ है ?

[५ उ.] हाँ, शक्र ! वह समर्थ है।

६. देवे णं भंते ! महिड्ढीए एवं एतेणं अभिलावेणं गमित्तए १। एवं भासित्तए वा २, विआगरित्तए वा ३, उम्मिसावेत्तए वा निमिसावेत्तए वा ४, आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ५, ठाणं वा सेज्जं वा

निसीहियं वा चेइत्तए वा ६, एवं विउव्वित्तए वा ७, एवं परियारेत्तए वा ८ ?

जाव हंता, पभू।

[६ प्र.] भगवन्! महर्द्धिक यावत् महासुख वाला देव क्या बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके (१) गमन करने, (२) बोलने, या (३) उत्तर देने अथवा (४) आँखें खोलने और बन्द करने, (५) शरीर के अवयवों को सिकोड़ने और पसारने में, अथवा (६) स्थान, शय्या (वसति) निषद्या (स्वाध्याय भूमि) को भोगने में, तथा (७) विक्रिया (विकुर्वणा) करने अथवा (८) परिचारणा (विषयभोग) करने में समर्थ है?

[६ उ.] हाँ शक्र ! वह गमन यावत् परिचारणा करने में समर्थ है।

७. इमाइं अट्ठ उक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छति, इमाइं० २ संभंतियवंदणएणं वंदति, संभंतिय० २ तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहति, २ जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगते।

[७] देवेन्द्र देवराज शक्र ने इन (पूर्वोक्त) उत्क्षिप्त (अविस्तृत—संक्षिप्त) आठ प्रश्नों के उत्तर पूछे, और फिर भगवान् को उत्सुकतापूर्वक (अथवा सम्भ्रमपूर्वक) वन्दन करके उसी दिव्य यान-विमान पर चढ़ कर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

विवेचन—शक्रेन्द्र द्वारा आठ प्रश्न पूछने का आशय—कोई भी सांसारिक प्राणी बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना कोई भी क्रिया कर नहीं सकता, किन्तु देव तो महर्द्धिक होता है, इसलिए कदाचित् बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना ही गमनादि क्रिया कर सकता हो, इस सम्भावना से शक्रेन्द्र ने ये आठ प्रश्न पूछे थे।[१]

कठिन शब्दार्थ—आगमित्तए—आने में। **वागरित्तए**—उत्तर देने में। **उम्मिसावेत्तए निमिसावेत्तए**—आँखें खोलने और बंद करने में। **आउंटावेत्तए पसारेत्तए**—अवयव सिकोड़ने और फैलाने में। **ठाणं**-पर्यंकादि आसन, कायोत्सर्ग या स्थित रहना। **सेज्जं**—शय्या या वसति (उपाश्रय), **निसीहियं**—निषद्या-स्वाध्याय भूमि। **चेइत्तए**—उपभोग करने में। **परियारेत्तए**-परिचारणा करने में। **उक्खित्तपसिणवागरणाइं**—संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर। **संभंतिय**—उत्सुकता से अथवा संभ्रमपूर्वक-शीघ्रता से।[२]

शक्रेन्द्र के शीघ्र चले जाने का कारण : महाशुक्रसम्यग्दृष्टिदेव के तेज आदि की असहनशीलता-भगवत्कथन

८. भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वयासी—अन्नदा णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं वंदति नमंसति, वंदति० २ सक्कारेति जाव पज्जुवासति, किं णं भंते ! अज्ज सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं अट्ठ उक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, २

---

१. भगवती. अ. वृत्ति ७०७

२. (क) वही, पत्र ७०७

(ख) भगवती, (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५३९

संभंतियवंदणएणं वंदति, २ जाव पडिगए ?

'गोयमा !' दि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वदासि—

" एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे दो देवा महिड्ढीया जाव महेसक्खा एगविमाणंसि देवत्ताए उववन्ना, तं जहा—मायिमिच्छादिट्ठिउववन्नए, अमायिसम्मद्दिट्ठिउववन्नए य।"

"तए णं से मायिमिच्छादिट्ठिउववन्नए देवे तं अमायिसम्मद्दिट्ठिउववन्नगं देवं एवं वदासि—परिणममाणा पोग्गला नो परिणया, अपरिणया, परिणमंतीति पोग्गला नो परिणया, अपरिणया।

"तए णं से अमायिसम्मद्दिट्ठीउववन्नए देवे तं मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नगं देवं एवं वयासी—परिणममाणा पोग्गला परिणया, नो अपरिणया, परिणमंतीति पोग्गला परिणया, नो अपरिणया।

"तं मायिमिच्छद्दिट्ठीउववन्नगं देवं एवं पडिहणइ, एवं पडिहणित्ता ओहिं पउंजति, ओहिं०२ ममं ओहिणा आभोएति, ममं०२ अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे उल्लुयतीरस्स नगरस्स बहिया एगजंबुए चेइए अहापडिरूवं जाव विहरित, तं सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता जाव पज्जुवासित्ता इमं एयारूवं वागरणं पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, एवं संपेहित्ता चउहि वि सामाणियसाहस्सीहिं, परिवारो जहा सूरियाभस्स' जाव निग्घोसनाइतरवेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव उल्लुयतीरे नगरे जेणेव एगजंबुए चेतिए जेणेव ममं अंतियं तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं से सक्के देविंदे देवराया तस्स देवस्स तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणे ममं अट्ठ उक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छति, पु० २ संभंतिय जाव पडिगए।"

[८ प्र.] भगवन्! इस प्रकार सम्बोधन करके भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—भगवन् ! अन्य दिनों में (जब कभी) देवेन्द्र देवराज शक्र (आता है, तब) आप देवानुप्रिय को वन्दन-नमस्कार करता है, आपका सत्कार-सन्मान करता है, यावत् आपकी पर्युपासना करता है, किन्तु भगवन् ! आज तो देवेन्द्र देवराज शक्र आप देवानुप्रिय से संक्षेप में आठ प्रश्नों के उत्तर पूछकर और उत्सुकतापूर्वक वन्दन-नमस्कार करके शीघ्र ही चला गया, इसका क्या कारण है ?

[८ उ.] 'गौतम! ' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—गौतम ! उस काल उस समय में महाशुक्र कल्प के 'महासामान्य' नामक विमान में महर्द्धिक यावत् महासुखसम्पन्न दो देव, एक ही विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। इनमें से एक मायीमिथ्यादृष्टि उत्पन्न हुआ और दूसरा अमायीसम्यग्दृष्टि उत्पन्न हुआ।

एक दिन उस मायीमिथ्यादृष्टि देव ने अमायीसम्यग्दृष्टि देव से इस प्रकार कहा—'परिणमते' हुए पुद्गल 'परिणत' नहीं कहलाते, 'अपरिणत' कहलाते हैं, क्योंकि वे पुद्गल अभी परिणत हो रहे हैं, इसलिए वे परिणत नहीं, अपरिणत हैं।'

इस पर अमायीसम्यग्दृष्टि देव ने मायीमिथ्यादृष्टि देव से कहा—'परिणमते हुए पुद्गल 'परिणत' कहलाते हैं, अपरिणत नहीं, क्योंकि वे परिणत हो रहे हैं, इसलिए ऐसे पुद्गल परिणत हैं अपरिणत नहीं।'

इस प्रकार कहकर अमायीसम्यग्दृष्टि देव ने मायीमिथ्यादृष्टि देव को (युक्तियों एवं तर्कों से) प्रतिहत (पराजित) किया।

इस प्रकार पराजित करने के पश्चात् अमायीसम्यग्दृष्टि देव ने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर अवधिज्ञान से मुझे देखा, फिर उसे ऐसा यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, उल्लूकतीर नामक नगर के बाहर एकजम्बूक नाम के उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यथायोग्य अवग्रह लेकर विचरते हैं। अतः मुझे (वहाँ जा कर) श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार यावत् पर्युपासना करके यह तथारूप (उपर्युक्त) प्रश्न पूछना श्रेयस्कर है। ऐसा विचार कर चार हजार सामानिक देवों के परिवार के साथ सूर्याभ देव के समान, यावत् निर्घोष-निनादित ध्वनिपूर्वक, जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में उल्लूकतीर नगर के एकजम्बूक उद्यान में मेरे पास आने के लिए उसने प्रस्थान किया। उस समय (मेरे पास आते हुए) उस देव की तथाविध दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव (देवप्रभाव) और दिव्य तेजःप्रभा (तेजोलेश्या) को सहन नहीं करता हुआ, (मेरे पास आया हुआ) देवेन्द्र देवराज शक्र (उसे देखकर) मुझसे संक्षेप में आठ प्रश्न पूछकर शीघ्र ही वन्दना—नमस्कार करके यावत् चला गया।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (८) में शक्रेन्द्र झटपट प्रश्न पूछ कर वापिस क्यों लौट गया? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् द्वारा दिया गया सयुक्तिक समाधान प्रस्तुत किया गया।[१]

कठिन शब्दार्थ—मायि-मिच्छादिट्ठिउववन्नए—मायीमिथ्यादृष्टि रूप में उत्पन्न। **अमायि-सम्मद्दिट्ठिउववन्नए**—अमायीसम्यग्दृष्टि रूप में उत्पन्न। **पडिहणइ**—प्रतिहत—पराभूत किया (निरुत्तर किया)।[२]

दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणे : रहस्य—शक्रेन्द्र की भगवान् के पास से संक्षेप में प्रश्न पूछकर झटपट चले जाने की आतुरता के पीछे कारण उक्त देव की ऋद्धि, द्युति, प्रभाव, तेज आदि न सह सकना ही प्रतीत होता है। शक्रेन्द्र का जीव पूर्वभव में कार्तिक नामक अभिनव श्रेष्ठी था और गंगदत्त उससे पहले का (जीर्ण-पुरातन) श्रेष्ठी था। इन दोनों में प्रायः मत्सरभाव रहता था। यही कारण है कि पहले के मात्सर्यभाव के कारण गंगदत्त देव की ऋद्धि आदि शक्रेन्द्र को सहन न हुई।[३]

सम्यग्दृष्टि गंगदत्त द्वारा मिथ्यादृष्टिदेव को उक्त सिद्धान्तसम्मत तथ्य का भगवान् द्वारा समर्थन, धर्मोपदेश एवं भव्यत्वादि कथन

९. जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवतो गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेति तावं च णं से देवे तं

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७५६-७५७

२. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५०१

(ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ७०७

३. वही अ. वृत्ति, पत्र ७०८

देसं हव्वमागए।

[९] जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भगवान् गौतम स्वामी से यह (उपर्युक्त) बात कर रहे थे, इतने में ही वह देव (अमायी सम्यग्दृष्टि देव) शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा।

१०. तए णं से देवे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—'एवं खलु भंते ! महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे एगे मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नए देवे ममं एवं वदासी—'परिणममाण पोग्गला नो परिणया, अपरिणया, परिणमंतीति पोग्गला नो परिणया, अपरिणया।' तए णं अहं तं मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नगं देवं एवं वदामि—परिणममाणा पोग्गला परिणया, नो अपरिणया, परिणमंतीति पोग्गला परिणया, णो अपरिणया। से कहमेयं भंत्ते! एवं ?'

[१०] उस देव ने आते ही श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा की, फिर वन्दन-नमस्कार किया और पूछा—भगवन् ! महाशुक्र कल्प में महासामान्य विमान में उत्पन्न हुए एक मायीमिथ्यादृष्टि देव ने मुझे इस प्रकार कहा—

परिणमते हुए पुद्‌गल अभी 'परिणत' नहीं कहे जा कर अपरिणत कहे जाते हैं, क्योंकि वे पुद्‌गल अभी परिणत हो रहे हैं। इसलिए वे 'परिणत' नहीं, अपरिणत ही कहे जाते हैं।

तब मैंने (इसके उत्तर में) उस मायीमिथ्यादृष्टि देव से इस प्रकार कहा—'परिणमते हुए पुद्‌गल 'परिणत' कहलाते हैं, अपरिणत नहीं, क्योंकि वे पुद्‌गल परिणत हो रहे हैं, इसलिए परिणत कहलाते हैं, अपरिणत नहीं, भगवन् इस प्रकार का मेरा कथन कैसा है ?'

११. 'गंगदत्ता !' ई समणे भगवं महावीरे गंगदत्तं देवं एवं वदासी—अहं पि णं गंगदत्ता० ! एवमाइक्खामि० ४ परिणममाणा पोग्गला जाव नो अपरिणया, सच्चमेसे अट्ठे।

[११ उ.] 'हे गंगदत्त ! ' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने गंगदत्त देव को इस प्रकार कहा—'गंगदत्त' मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि परिणमते हुए पुद्‌गल यावत् अपरिणत नहीं, परिणत हैं, यह अर्थ (सिद्धान्त) सत्य है।'

१२. तए णं से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ नच्चासन्ने जाव पज्जुवासइ।

[१२] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यह उत्तर सुनकर और अवधारण करके वह गंगदत्त देव हर्षित और सन्तुष्ट हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। फिर वह न अतिदूर और न अतिनिकट बैठकर यावत् भगवान् की पर्युपासना करने लगा।

१३. तए णं समणे भगवं महावीरे गंगदत्तस्स देवस्स तीसे य जाव धम्मं परिकहेति जाव आराहए भवति।

[१३] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने गंगदत्त देव को और महती परिषद् को धर्मकथा कही, यावत्—जिसे सुनकर जीव आराधक बनता है।

१४. तए णं से गंगदत्ते देव समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिये धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—अहं णं भंते ! गंगदत्ते देवे किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए ?

एवं जहा सूरियाभो[1] जाव बत्तीसतिविहं नट्टविहिं उवदंसेति, उव० २ जाव तामेव दिसं पडिगए।

[१४ प्र.] उस समय गंगदत्त देव श्रमण भगवान् महावीर से धर्मदेशना सुनकर और अवधारणा करके हृष्ट-तुष्ट हुआ और फिर उसने खड़े होकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—भगवन्! मैं गंगदत्त देव भवसिद्धिक हूँ या अभवसिद्धिक ?

[१४ उ.] हे गंगदत्त! (राजप्रश्नीय सूत्र के) सूर्याभदेव के समान (यहाँ समग्र कथन समझना।)

फिर गंगदत्त देव ने भी सूर्याभदेववत् बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि (नाट्यकला) प्रदर्शित की और फिर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

विवेचन—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू.९ से १४ तक) में गंगदत्त देव द्वारा भगवान् की सेवा में पहुँच कर अपनी पूर्वोक्त शंका का समाधान प्राप्त करके, फिर भगवान् की पर्युपासना करके उनसे धर्मकथा सुनकर तथा अपनी भविसिद्धिकता के विषय में भगवान् से निर्णय प्राप्त करके हृष्ट-तुष्ट होकर सूर्याभदेववत् नाट्यकला दिखाने का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है।[2]

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि देव का कथन—मिथ्यादृष्टि देव का कथन था कि 'जो पुद्गल अभी परिणम रहे हैं, उन्हें 'परिणत' नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वर्तमानकाल और भूतकाल में परस्पर विरोध है। उन्हें 'अपरिणत' कहना चाहिए।' सम्यग्दृष्टि देव ने उत्तर दिया—परिणमते हुए पुद्गलों को परिणत कहना चाहिए, अपरिणत नहीं, क्योंकि जो परिणमते हैं, उनका अमुक अंश परिणत हो चुका है, अत: वे सर्वथा 'अपरिणत' नहीं रहे। 'परिणमते हैं', यह कथन उस परिणाम के सद्भाव में ही हो सकता है, असद्भाव में नहीं। जब परिणाम का सद्भाव मान लिया गया हो तो, अमुक अंश में उसकी परिणतता भी अवश्य माननी चाहिए, अन्यथा पुद्गल का अमुक अंश में परिणमन हो जाने पर भी उसकी परिणतता का सर्वथा अभाव हो जाएगा।[3]

इसीलिए भगवान् ने सम्यग्दृष्टि देव द्वारा कथित तथ्य का समर्थन करते हुए कहा—'सच्चमेसे अट्ठे।'

---

१. जाव शब्द सूचक पाठ—'**सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए अणंतसंसारिए, सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए आराहए विराहए चरिमे अचरिमे**' इत्यादि। — अ.वृ. पत्र ७०८

२. वियाहपण्णतिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २ पृ. ७५७-७५८

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७०७

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५४२

कठिन शब्दार्थ—जावं—जब तक या जिस समय। **तावं**—तभी। **हव्वमागए**—शीघ्र आ पहुँचा।[1]

गंगदत्तदेव की दिव्य ऋद्धि आदि के सम्बन्ध में प्रश्न : भगवान् द्वारा पूर्वभव-वृत्तान्तपूर्वक विस्तृत समाधान

१५. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं जाव एवं वदासी—गंगदत्तस्स णं भंते! देवस्स सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती जाव अणुप्पविट्ठा ?

गोयमा ! सरीरं गया, सरीरं अणुप्पविट्ठा। कूडागारसालादिट्ठंतो जाव सरीरं अणुप्पविट्ठा। अहो! णं भंते! गंगदत्ते देवे महिड्ढीए जाव महेसक्खे।

[१५ प्र.] 'भगवन्! ' इस प्रकार सम्बोधन करके भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर से यावत् इस प्रकार पूछा—'भगवन्! गंगदत्त देव की वह दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति यावत् कहाँ गई, कहाँ प्रविष्ट हो गई ?'

[१५ उ.] गौतम! (गंगदत्त देव की वह दिव्य देवर्द्धि इत्यादि) यावत् उस गंगदत्त देव के शरीर में गई और शरीर में ही अनुप्रविष्ट हो गई। यहाँ कूटाकारशाला का दृष्टान्त, यावत् वह शरीर में अनुप्रविष्ट हुई, (यहाँ तक समझना चाहिए।)

(गौतम—) अहो! भगवन् ! गंगदत्त देव महर्द्धिक यावत् महासुखसम्पन्न है।

१६. गंगदत्तेणं भंते! देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती किण्णा लद्धा जाव जं णं गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया ?

'गोयमा!' ई समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—'एवं खलु गोयमा।'

"तेणं कालेणं तेणं समयेणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वाले हत्थिणापुरे णामं नगरे होत्था, वण्णओ। सहसंबवणे उज्जाणे, वण्णओ। तत्थ णं हत्थिणापुरे नगरे गंगदत्ते नामं गाहावती परिवसति अड्ढे जाव अपरिभूते।"

"तेणं कालेणं तेणं समयेणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं जाव पकड्ढिज्जमाणेणं पकड्ढिज्जमाणेणं सीसगणसंपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं जाव जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे जाव विहरति। परिसा निग्गता जाव पज्जुवासति।"

तए णं से गंगदत्ते गाहावती इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे. ण्हाते कतबलिकम्मे जाव सरीरे सातो गिहातो पडिनिक्खमति, २ पादविहारचारेणं हत्थिणापुरं नगरं मज्झंमज्झेण निग्गच्छति, नि० २ जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे जेणेव मुणिसुव्वए अरहा तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ मुणिसुव्वयं अरहं तिक्खुतो आयाहिणपयाहिणं जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासति।

"तए णं से मुणिसुव्वए अरहा गंगदत्तस्स गाहावतिस्स तीसे य महति जाव परिसा पडिगता।"

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५४५

''तए णं से गंगदत्ते गाहावती मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ मुणिसुव्वतं अरहं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वदासी—'सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वदह। जं नवरं देवाणुप्पिया ! जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेमि, तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं मुंडे जाव पव्वयामि।'' 'अहासुहं देवाणुप्पिया। मा पडिबंधं।'

''तए णं से गंगदत्ते गाहावती मुणिसुव्वतेणं अरहया एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० मुणिसुव्वं अरहं वंदति नमंसति, वं० २ मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियाओ सहसंबवणाओ उज्जाणातो पडिनिक्खमति, पडि० २ जेणेव हत्थिणापुरे नगरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ विपुलं असण-पाण० जाव उवक्खडावेइ, उव० २ मित्त-णाति-णियग० जाव आमंतेति, आ० २ ततो पच्छा ण्हाते जहा पूरणे (स. ३ उ. २ सु. १९) जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेति, ठा० २ तं मित्त-णाति० जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छति, आ.२ पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूहति, पुरिससह० २ मित्त-णाति-नियग० जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव णादितरवेणं हत्थिणापुरं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, नि० २ जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवा० २ छत्तादिए तित्थगरातिसए पासति, एवं जहा उद्दायणो (स. १३ उ. ६ सु. ३०) जाव सयमेव आभरणं ओमुयइ, स० २ सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, स० २ जेणेव मुणिसुव्वये अरहा, एवं जहेव उद्दायणो (स. १३ उ. ६ सु. ३१) तहेव पव्वइओ। तहेव एक्कारस अंगाइं अधिज्जइ जाव मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए जाव छेदेति, सट्ठिं. २ आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे उववायसभाए देवसएणिज्जंसि जाव गंगदत्तदेवत्ताए उववन्ने।''

''तए णं ते गंगदत्ते देव अहुणोववन्नमेत्तए समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छति, तं जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भासा-मणपज्जत्तीए।''

''एवं खलु गोयमा ! गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया।''

[१६ प्र.] भगवन्! गंगदत्त देव की वह दिव्य देवार्द्धि, दिव्य देवद्युति कैसे उपलब्ध हुई ? यावत् जिससे गंगदत्त देव ने वह दिव्य देव-ऋद्धि उपलब्ध, प्राप्त और यावत् अभिसमन्वागत (सम्मुख) की ?

[१६ उ.] 'हे गौतम! ' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—गौतम ! बात ऐसी है कि उस काल उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में हस्तिनापुर नाम का नगर था। उसका वर्णन पूर्ववत्। वहाँ सहस्रांम्रवन नामक उद्यान था। उसका वर्णन भी पूर्ववत् समझना। उस हस्तिनापुर नगर में गंगदत्त नाम का गाथापति रहता था। वह आढ्य यावत् अपराभूत (अपराजेय) था।

उस काल उस समय में धर्म (तीर्थ) की आदि (प्रवर्त्तन) करने वाले यावत् सर्वज्ञ सर्वदर्शी आकाशगत (धर्म) चक्रसहित यावत् देवों द्वारा खींचे जाते हुए धर्मध्वजयुक्त, शिष्यगण से संपरिवृत्त हो कर अनुक्रम से विचरते हुए और ग्रामानुग्राम जाते हुए, यावत् मुनिसुव्रत अर्हन्त यावत सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे, यावत् यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके विचरने लगे। परिषद् वन्दना करने के लिए आई यावत् पर्युपासना करने लगी।

जब गंगदत्त गाथापति ने भगवान् श्री मुनिसुव्रतस्वामी के पदार्पण की बात सुनी तो वह अतीव हर्षित और

सन्तुष्ट हुआ। उसने स्नान और बलिकर्म किया, यावत् शरीर को अलंकृत करके वह अपने घर से निकला और पैदल चल कर हस्तिनापुर नगर के मध्य में से होता हुआ सहस्राम्रवन उद्यान में जहाँ अर्हत् भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी विराजमान थे, वहाँ पहुँचा। तीर्थकर मुनिसुव्रत प्रभु को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके यावत् तीन प्रकार की पर्युपासना विधि से पर्युपासना करने लगा।

तत्पश्चात् अर्हन्त मुनिसुव्रतस्वामी ने गंगदत्त गाथापति को और उस महती परिषद् को धर्मकथा कही। धर्मकथा सुनकर यावत् परिषद् लौट गई।

तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतस्वामी से धर्म सुनकर और अवधारण करके गंगदत्त गाथापति हृष्ट-तुष्ट होकर खड़ा हुआ और भगवान् को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—'भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ यावत् आपने जो कुछ कहा, उस पर श्रद्धा करता हूँ। देवानुप्रिय ! विशेष बात यह है कि मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दूंगा, फिर आप देवानुप्रिय के समीप मुण्डित यावत् प्रव्रजित होना चाहता हूँ।' (श्री मुनिसुव्रतस्वामी ने कहा—) हे देवानुप्रिय! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो, परन्तु धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।

अर्हत् मुनिसुव्रतस्वामी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वह गंगदत्त गाथापति हृष्ट-तुष्ट हुआ सहस्राम्रवन उद्यान से निकला, और हस्तिनापुर नगर में जहाँ अपना घर था, वहाँ आया। घर आकर उसने विपुल अशन-पान यावत् तैयार करवाया। फिर अपने मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन आदि को आमंत्रित किया। उसके पश्चात् उसने स्नान किया। फिर (तीसरे शतक के दूसरे उद्देशक सू. १९ में कथित) पूरण सेठ के समान अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब (-कार्य) में स्थापित किया।

तत्पश्चात् अपने मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन आदि तथा ज्येष्ठ पुत्र से अनुमति ले कर हजार पुरुषों द्वारा उठाने योग्य शिविका (पालखी) पर चढ़ा और अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन यावत् परिवार एवं ज्येष्ठ पुत्र द्वारा अनुगमन किया जाता हुआ, सर्वऋद्धि (ठाठबाठ) के साथ यावत् वाद्यों के आघोषपूर्वक हस्तिनापुर नगर के मध्य में हो कर सहस्राम्रवन उद्यान के निकट आया। छत्र आदि तीर्थंकर भगवान् के अतिशय देख कर यावत् (तेरहवें शतक के छठे उद्देशक सू. ३१ में कथित) उदायन राजा के समान यावत् स्वयमेव आभूषण उतारे; फिर स्वयमेव पंचमुष्टिक लोच किया। इसके पश्चात् तीर्थंकर मुनिसुव्रतस्वामी के पास जाकर (१३वें शतक, छठे उद्देशक सू. ३१ में कथित) उदायन राजा के समान प्रव्रज्या ग्रहण की, यावत उसी के समान (गंगदत्त अनगार ने) ग्यारह अंगों का अध्ययन किया यावत् एक मास की संलेखना से साठ-भक्त अनशन का छेदन किया और फिर आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि को प्राप्त हो कर काल के अवसर में काल करके महाशुक्रकल्प में महासामान्य नामक विमान की उपपातसभा की देवशय्या में यावत् गंगदत्त देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् सद्योजात (तत्काल उत्पन्न) वह गंगदत्त देव पंचविध पर्याप्तियों से पर्याप्त बना। यथा—आहारपर्याप्ति यावत् भाषा-मनः-पर्याप्ति।

इस प्रकार हे गौतम! गंगदत्त देव ने वह दिव्य देव-ऋद्धि यावत् पूर्वोक्त प्रकार से उपलब्ध, प्राप्त यावत् अभिमुख की है।

विवेचन—गंगदत्त को प्राप्त दिव्य देवर्द्धि—भगवान् ने गौतम स्वामी के पूछने पर गंगदत्त की दिव्य देवर्द्धि आदि का कारण पूर्वभव में हस्तिनापुर नगर के सम्पन्न और अपराभूत गंगदत्त नामक गृहस्थ द्वारा भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी का धर्मोपदेश सुनकर संसार से विरक्त होकर मुनिसुव्रतस्वामी के पास श्रमण धर्म में प्रव्रजित होकर सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् आराधना करना कहा है। साथ ही अन्तिम समय में एक मास का संलेखना-संथारा ग्रहण करके समाधिपूर्वक मरण प्राप्त करना भी कहा है। इन्हीं कारणों से उसे महाशुक्र देवलोक में इतनी दिव्य देव-ऋद्धि-द्युति आदि प्राप्त हुई।[१]

कठिन शब्दार्थ—पकड्ढिज्जमाणेणं—खींचे जाते हुए। **कुटुंबे ठावेमि**—कौटुम्बिक कार्यभार में स्थापित करूँगा, कुटुम्ब का दायित्व सौंपूगा। **उवक्खडावेइ**—पकवाया, तैयार करवाया।[२]

पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त—इसलिए कहा गया है कि देवों में भाषापर्याप्ति और मन:पर्याप्ति सम्मिलित बंधती है।

गंगदत्त देव की स्थिति तथा भविष्य में मोक्षप्राप्ति का निरूपण

१७. गंगदत्तस्स णं भंते ! देवस्स केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा! सत्तरससागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता।

[१७ प्र.] भगवन्! गंगदत्त देव की कितने काल की स्थिति कही गई है ?

[१७ उ.] गौतम! उसकी सत्तरह सागरोपम की स्थिति कही है।

१८. गंगदत्ते णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव० ?

महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सोलसमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो॥ १६-५ ॥

[१८ प्र.] भगवन् ! गंगदत्त देव उस देवलोक से आयुष्य का क्षय, भव और स्थिति का क्षय होने पर च्यव कर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[१८ उ.] गौतम! वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् सर्वदु:खों का अन्त करेगा।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ सोलहवां शतक : पंचम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ७४८-७६०

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ.२५४७-२५४९

छट्ठो उद्देसओ : 'सुमिणे'

छठा उद्देशक : स्वप्न-दर्शन

स्वप्न-दर्शन के पांच प्रकार

१. कतिविधे णं भंत्ते! सुविणदंसणे पन्नत्ते ?

गोयमा! पंचविहे सुविणदंसणे पन्नत्ते, तं जहा—अहातच्चे पयाणे चिंतासुविणे तव्विवरीए अव्वत्तदंसणे।

[१ प्र.] भगवन्! स्वप्न-दर्शन कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम! स्वप्नदर्शन पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) यथातथ्य-स्वप्नदर्शन, (२) प्रतान-स्वप्नदर्शन, (३) चिन्ता-स्वप्नदर्शन, (४) तद्विपरीत-स्वप्नदर्शन और (५) अव्यक्त-स्वप्नदर्शन।

विवचेन—स्वप्नदर्शन : स्वरूप, प्रकार और लक्षण—सुप्त अवस्था में किसी भी अर्थ के विकल्प का प्राणी को जो अनुभव होता है, चलचित्र के देखने का-सा प्रत्यक्ष होता है, वह स्वप्नदर्शन कहलाता है। इसके पांच प्रकार हैं, जिनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) अहातच्चे : दो रूप : दो अर्थ—(१) यथातथ्य और **(२) यथातत्त्व**—स्वप्न में जिस अर्थ को देखा गया, जागृत होने पर उसी को देखना या उसके अनुरूप शुभाशुभ फल की प्राप्ति होना यथातथ्य-स्वप्नदर्शन है। इसके दो प्रकार हैं—**(१) दृष्टार्थाविसंवादी**—स्वप्न में देखे हुए अर्थ के अनुसार जागृत अवस्था में घटना घटित होना। जैसे—किसी व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि मेरे हाथ में किसी ने फल दिया। जागृत होने पर उसी प्रकार की घटना घटित हो, अर्थात्, कोई उसके हाथ में फल दे दे। **(२) फलाविसंवादी**—स्वप्न के अनुसार जिसका फल (परिणाम) अवश्य मिले, वह फलाविसंवादी स्वप्नदर्शन है। जैसे—किसी ने स्वप्न में अपने आपको हाथी आदि पर बैठे देखा, जागृत होने पर कालान्तर में उसे धनसम्पत्ति आदि की प्राप्ति हो।

(२) प्रतान-स्वप्नदर्शन—प्रतान का अर्थ है—विस्तार। विस्तारवाला स्वप्न देखना प्रतानस्वप्नदर्शन है, यह सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। **(३) चिन्ता-स्वप्नदर्शन**—जागृत अवस्था में जिस वस्तु की चिन्ता रही हो, अथवा जिस अर्थ का चिन्तन किया हो, स्वप्न में उसी को देखना, चिन्ता-स्वप्नदर्शन है। **(४) तद्विपरीत-स्वप्नदर्शन**—स्वप्न में जो वस्तु देखी हो, जागृत होने पर उसके विपरीत वस्तु की प्राप्ति होना, तद्विपरीत-स्वप्नदर्शन है। जैसे—किसी ने स्वप्न में अपने शरीर को विष्टा में लिपटा देखा, किन्तु जागृतावस्था में कोई पुरुष उसके शरीर को शुचि पदार्थ (चंदन आदि) में लिप्त करे। **(५) अव्यक्त-स्वप्नदर्शन**—स्वप्न में देखी हुई वस्तु का अस्पष्ट ज्ञान होना, अव्यक्त-स्वप्नदर्शन है।[१]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१०

सुप्त-जागृत-अवस्था में स्वप्नदर्शन का निरूपण

२. सुत्ते णं भंते ! सुविणं पासति, जागरे सुविणं पासति, सुत्तजागरे सुविणं पासति ?

गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासति, नो जागरे सुविणं पासति, सुत्तजागरे सुविणं पासति।

[२ प्र.] भगवन्! सोता हुआ प्राणी स्वप्न देखता है, जागता हुआ देखता है, अथवा सुप्त-जागृत (सोता-जागता) प्राणी स्वप्न देखता है ?

[२ उ.] गौतम! सोता हुआ प्राणी स्वप्न नहीं देखता, और न जागता हुआ प्राणी स्वप्न देखता है, किन्तु सुप्त-जागृत प्राणी स्वप्न देखता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र (२) में स्वप्नदर्शन-सम्बन्धी प्रश्न द्रव्यनिद्रा (द्रव्यतः सुप्त) की अपेक्षा से किया गया है। इस दृष्टि से स्वप्न दर्शन न तो द्रव्यनिद्रावस्था में होता है, और न द्रव्यजागृतावस्था में, किन्तु द्रव्यतः सुप्तजागृत अवस्था में होता है।[१]

जीवों तथा चौवीस दण्डकों में सुप्त, जागृत एवं सुप्त-जागृत का निरूपण

३. जीवा णं भंते ! किं सुत्ता, जागरा, सुत्तजागरा ?

गोयमा ! जीवा सुत्ता वि, जागरा वि, सुत्तजागरा वि।

[३ प्र.] भगवन्! जीव सुप्त हैं, जागृत हैं अथवा सुप्त-जागृत हैं ?

[३ उ.] गौतम ! जीव सुप्त भी हैं, जागृत भी हैं और सुप्त-जागृत भी हैं।

४. नेरतिया णं भंते ! किं सुत्ता० पुच्छा।

गोयमा ! नेरइया सुत्ता, नो जागरा, नो सुत्तजागरा।

[४ प्र.] भगवन्! नैरयिक सुप्त हैं, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[४ उ.] गौतम! नैरयिक सुप्त हैं, जागृत नहीं हैं और न वे सुप्त-जागृत हैं।

५. एवं जाव चउरिंदिया।

[५.] इसी प्रकार (भवनपतिदेवों से लेकर) यावत् (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और) चतुरिन्द्रिय तक कहना चाहिए।

६. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! किं सुत्ता० पुच्छा।

गोयमा ! सुत्ता, नो जागरा, सुत्तजागरा वि।

[६ प्र.] भगवन्! पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव सुप्त हैं, इत्यादि प्रश्न।

[६ उ.] गौतम! वे सुप्त है, जागृत नहीं हैं, सुप्त-जागृत भी हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति ७११

७. मणुस्सा जहा जीवा।

[७] मनुष्यों के सम्बन्ध में सामान्य जीवों के समान (तीनों) जानना चाहिए।

८. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरइया।

[८] वाणव्यंन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों का कथन नैरयिक जीवों के समान (सुप्त) जानना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. ३ से ८ तक) में सामान्य जीवों और चौबीस दण्डकों में भावतः सुप्त, जागृत एवं सुप्तजागृत की दृष्टि से निरूपण किया गया है।

द्रव्य और भाव से सुप्त आदि का आशय—सुप्त और जागृत दो प्रकार से कहा जाता है—द्रव्य की अपेक्षा से और भाव की अपेक्षा से। निद्रा लेना द्रव्य से सोना है और विरति-रहित अवस्था भाव से सोना है। स्वप्न सम्बन्धी प्रश्न द्रव्यसुप्त की अपेक्षा से है। प्रस्तुत में सुप्त, जागृत एवं सुप्त-जागृत-सम्बन्धी प्रश्न विरति (भाव) की अपेक्षा से है। जो जीव सर्वविरति से रहित हैं, वे भावतः सुप्त हैं। जो जीव सर्वविरत हैं, वे भाव से जागृत हैं और जो जीव देशविरत हैं, वे सुप्त-जागृत (भावतः सोते-जागते) हैं।[१]

संवृत आदि में तथारूप स्वप्न-दर्शन की तथा इनमें सुप्त आदि की प्ररूपणा

९. संवुडे णं भंते! सुविणं पासति, असंवुडे सुविणं पासति, संवुडासंवुडे सुविणं पासति?

गोयमा! संवुडे वि सुविणं पासति, असंवुडे वि सुविणं पासित, संवुडासंवुडे वि सुविणं पासति। संवुडे सुविणं पासति—अहातच्चं पासति। असंवुडे सुविणं पासति—तहा तं होज्जा, अन्नहा वा तं होज्जा। संवुडासंवुडे सुविणं पासति—एवं चेव।

[९ प्र] भगवन्! संवृत जीव स्वप्न देखता है, असंवृत जीव स्वप्न देखता है अथवा संवृतासंवृत जीव स्वप्न देखता है ?

[९ उ] गौतम! संवृत जीव भी स्वप्न देखता है, असंवृत भी स्वप्न देखता है और संवृतासंवृत भी स्वप्न देखता है। संवृत जीव जो स्वप्न देखता है, वह यथातथ्य देखता है। असंवृत जीव जो स्वप्न देखता है, वह सत्य (तथ्य) भी हो सकता है और असत्य (अतथ्य) भी हो सकता है। संवृतासंवृत जीव जो स्वप्न देखता है, वह भी असंवृत के समान (सत्य-असत्य दोनों प्रकार का) होता है।

१०. जीवा णं भंते! किं संवुडा, असंवुडा, संवुडासंवुडा ?

गोयमा! जीवा संवुडा वि, असंवुडा वि, संवुडासंवुडा वि।

[१० प्र.] भगवन्! जीव संवृत हैं, असंवृत हैं अथवा संवृतासंवृत हैं ?

---

१. (क) सर्वविरतिरूपनैश्चयिकप्रबोधाऽभावात् सुप्तः, सर्वविरतिरूपप्रवरजागरण-सद्भावात् जाग्रत, तथा अविरति-विरतिरूपप्रसुप्ति-प्रबुद्धतासद्भावात् सुप्त-जाग्रत् इति। -भगवती अ. वृत्ति, पत्र ७११

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २५५५

[१० उ.] गौतम! जीव संवृत भी हैं, असंवृत भी हैं और संवृतासंवृत भी हैं।

११. एवं जहेव सुत्ताणं दंडओ तहेव भाणियव्वो।

[११] जिस प्रकार सुप्त, (जागृत और सुप्त-जागृत) जीवों का दंडक (आलापक) कहा, उसी प्रकार इनका भी कहना चाहिए।

विवेचन—संवृत, असंवृत और संवृतासंवृत का स्वरूप और जागृत आदि में अन्तर—जिसने आश्रवद्वारों का निरोध कर दिया है, वह सर्वविरत श्रमण संवृत कहलाता है। जिसने आश्रवद्वारों का निरोध नहीं किया है, वह असंवृत है और जिसने आंशिक रूप से आश्रवद्वारों का निरोध किया है, आंशिक रूप से आश्रवद्वारों का निरोध नहीं किया है, वह संवृतासंवृत है। संवृत और जागृत में केवल शाब्दिक अन्तर है, अर्थ की अपेक्षा से नहीं। दोनों सर्वविरत कहलाते हैं। बोध की अपेक्षा से सर्वविरतियुक्त मुनि जागृत कहलाता है, जब कि तथाविधबोध से युक्त मुनि सर्वविरति की अपेक्षा से संवृत कहलाता है। इसी प्रकार असंवृत और अविरत तथा संवृतासंवृत और विरताविरत में भी अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। संवृत शब्द से यहाँ विशिष्टतर संवृतत्वयुक्त मुनि का ग्रहण किया गया है। वह प्राय: कर्मफल के क्षीण होने से तथा देवानुग्रह से युक्त होने से यथार्थ (सत्य) स्वप्न ही देखता है। दूसरे असंवृत और संवृतासंवृत जीव तो यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के स्वप्न देखते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—संवुडे—संवृत मुनि। **संवुडासंवुडे**—संवृतासंवृत—विरताविरत श्रावक।[२]

संवृत आदि की जागृत आदि से तुलना—भावसुप्त की तरह असंवृत भी भावत: सुप्त होता है, संवृत भावत: जागृत होता है। और संवृतासंवृत भावत: सुप्तजागृत होता है।[३]

स्वप्नों और महास्वप्नों की संख्या का निरूपण

१२. कति णं भंते! सुविणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! बायालीसं सुविणा पन्नत्ता।

[१२ प्र.] भगवन्! स्वप्न कितने प्रकार के होते हैं ?

[१२ उ.] गौतम! स्वप्न बयालीस प्रकार के कहे गये हैं।

१३. कति णं भंते महासुविणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! तीसं महासुविणा पन्नत्ता।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७११

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५५६

२. वही, पृ. २५५६

३. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ७६१-७६२

[१३ प्र.] भगवन्! महास्वप्न कितने प्रकार के कहे गए हैं?

[१३ उ.] गौतम! महास्वप्न तीस प्रकार के कहे गए हैं।

१४. कति णं भंते! सव्वसुविणा पन्नत्ता ?

गोयमा! बावत्तरिं सव्वसुविणा पन्नत्ता।

[१४ प्र.] भगवन्! सभी स्वप्न कितने प्रकार के कहे गए हैं?

[१४ उ.] गौतम! सभी स्वप्न बहत्तर प्रकार के कहे गए हैं।

विवेचन—विशिष्ट फलसूचक स्वप्नों की संख्या—वैसे तो स्वप्न असंख्य प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु विशिष्ट फलसूचक स्वप्नों की अपेक्षा ४२ हैं, तथा महत्तम फलसूचक होने से ३० महास्वप्न बतलाए गए हैं। कुल मिलकार दोनों प्रकार के स्वप्नों की संख्या ७२ बतलाई गई है।[१]

तीर्थंकरादि महापुरुषों की माताओं को गर्भ में तीर्थंकरादि के आने पर दिखाई देने वाले महास्वप्नों की संख्या का निरूपण

१५. तित्थयरमायरो णं भंते! तित्थगरंसि गब्भं वक्कममाणंसि कति महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति?

गोयमा ! तित्थगरमायरो णं तित्थगरंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुविणाणं इमे चोद्दस महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति, तं जहा—गय-वसभ-सीह जाव सिहिं च।

[१५ प्र.] भगवन्! तीर्थंकर का जीव जब गर्भ में आता है, तब तीर्थंकर की माताएँ कितने महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! जब तीर्थंकर का जीव गर्भ में आता है, तब तीर्थंकर की माताएँ इन तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं, यथा—गज, वृषभ, सिंह यावत् अग्नि।

१६. चक्कवट्टिमायरो णं भंते ! चक्कवट्टिंसि गब्भं वक्कममाणंसि कति महासुविणे जाव बुज्झंति?

गोयमा ! चक्कवट्टिमायरो चक्कवट्टिंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासु० एवं जहा तित्थगरमायरो जाव सिहिं च।

[१६ प्र.] भगवन्! जब चक्रवर्ती का जीव गर्भ में आता है, तब चक्रवर्ती की माताएँ कितने महास्वप्नों को देखकर जागृत होती हैं ?

[१६ उ.] गौतम! चक्रवर्ती का जीव गर्भ में आता है, तब चक्रवर्ती की माताएँ इन (पूर्वोक्त) तीस महास्वप्नों में से तीर्थंकर की माताओं के समान चौदह महास्वप्नों को देखकर जागृत होती हैं, यथा—गज, यावत् अग्नि।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७११

१७. वासुदेवमायरो णं पुच्छा।

गोयमा ! वासुदेवमायरो जाव वक्कममाणंसि एएसि चोद्दसण्हं अन्नयरे सत्त महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति।

[१७ प्र.] भगवन्! वासुदेव का जीव जब गर्भ में आता है, तब वासुदेव की माताएँ कितने महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं ?

[१७ उ.] गौतम! वासुदेव का जीव जब गर्भ में आता है, तब वासुदेव की माताएँ इन चौदह महास्वप्नों में से कोई भी सात महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं।

१८. बलदेवमायरो० पुच्छा।

गोयमा ! बलदेवमायरो जाव एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरे चत्तारि महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति।

[१८ प्र.] भगवन्! बलदेव का जीव जब गर्भ में आता है, तब बलदेव की माताएँ कितने स्वप्न............. इत्यादि पृच्छा ?

[१८ उ.] गौतम! बलदेव की माताएं, यावत् इन चौदह महास्वप्नों में से किन्हीं चार महास्वप्नों को देखकर जागृत होती हैं।

१९. मंडलियमायरो णं भंते ! मं० पुच्छा।

गोयमा ! मंडलियमायरो जाव एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरं एगं महासुविणं जाव पडिबुज्झंति।

[१९ प्र.] भगवन्! माण्डलिक का जीव गर्भ में आने पर माण्डलिक की माताएँ................ इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१९ उ.] गौतम! माण्डलिक की माताएँ यावत् इन चौदह महास्वप्नों में से किसी एक महास्वप्न को देखकर जागृत होती हैं।

विवेचन—विशिष्ट महापुरुषों के जगत् में आने के संकेत : महास्वप्नों द्वारा—तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि श्लाघ्य पुरुष जगत् में जब गर्भ में आते हैं उनके आने के शुभसंकेत उनकी माताओं को दिखाई देने वाले स्वप्नों से प्राप्त हो जाते हैं। किसकी माता को कितने महास्वप्न दिखाई देते हैं, उनकी यहाँ एक संक्षिप्त तालिका दी जाती है [१]—

१. तीर्थंकर की माता को १४

२. चक्रवर्ती की माता को १४

३. वासुदेव की माता को ७

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७६२-७६३

४. बलदेव की माता को ४

५. माण्डलिक की माता को १

कठिन शब्दार्थ—पासित्ताणं—देखकर। **पडिबुज्झंति**—जागृत होती हैं। **महासुविणाणं**—महास्वप्नों में से। **अन्नयर**—किन्हीं।[१]

विशेष—जब तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती का जीव नरक से निकल कर आता है तो उनकी माता 'भवन' देखती है और जब देवलोक से च्यव कर आता है तो 'विमान' देखती है।[२]

भगवान् महावीर को छद्मस्थावस्था की अन्तिम रात्रि में दिखाई दिये १० स्वप्न और उनका फल

२०. समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे, तं जहा—एगं च णं महं घोररूवदित्तधरं तालपिसायं सुविणे पराजियं पासित्ताणं पडिबुद्धे। एगं च णं महं सुक्किलपक्खगं पुंसकोइलं सुवणे पासित्ताणं पडिबुद्धे २ एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे ३। एगं च णं महं दामदुगं सव्वरयाणामयं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे ४। एगं च णं महं सेयं गोवग्गं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे५। एगं च णं महं पउमसरं सव्वतो समंता कुसुमियं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे ६। एगं च णं महं सागरं उम्मीवीयीसहस्सकालियं भुयाहिं तिण्णं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे ७। एगं च णं महं दिणकरं तेयसा जलंतं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे ८। एगं च णं महं हरिवेरुलियवण्णाभेणं नियोगेणं अंतेणं माणुसुत्तरं पव्वयं सव्वतो समंता आवेढियं परिवेढियं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे ९। एगं च णं महं मंदरे पव्वए मंदरचूलियाए उवरिं सीहासणवरगयं अप्पाणं सुविणे पाासित्ताणं पडिबुद्धे १०।

[२०.] श्रमण भगवान् महावीर अपने छद्मस्थ काल की अन्तिम रात्रि में इन दस महास्वप्नों को देखकर जागृत हुए। वे इस प्रकार हैं—(१) एक महान् घोर (भयंकर) और तेजस्वी रूप वाले ताड़वृक्ष के समान लम्बे पिशाच्र को स्वप्न में पराजित किया, ऐसा स्वप्न देखकर जागृत हुए। (२) श्वेत पांखों वाले एक महान् पुंस्कोकिल (नरजाति के कोयल) को स्वप्न में देखकर जागृत हुए। (३) चित्र-विचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर जागृत हुए। (४) स्वप्न में सर्वरत्नमय एक महान् मालायुगल को देखकर जागृत हुए। (५) स्वप्न में श्वेतवर्ण के एक महान् गोवर्ग को देखकर प्रतिबुद्ध हुए। (६) चारों ओर से पुष्पित एक महान् पद्मसरोवर को स्वप्न में देखकर जागृत हुए। (७) सहस्रों तरंगों (लहरों) और कल्लोलों से कलित (सुशोभित) एक महासागर को अपनी भुजाओं से तिरे, ऐसा स्वप्न देखकर जागृत हुए। (८) अपने तेज से जाज्वल्यमान एक महान् दिवाकर (सूर्य) को स्वप्न में देखकर जागृत हुए। (९) एक महान् (विशाल) मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्य मणि के समान अपने अन्तर भाग (आंतों) में चारों ओर से आवेष्टित-परिवेष्टित देखकर जागृत हुए।

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५५८

२. वही, भा. ५, पृ. २५५९

(१०) महान् मन्दर (सुमेरु) पर्वत की मन्दर-चूलिका पर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए अपने आपको देखकर जागृत हुए।

२१. ज णं समणे भगवं महावीरे एगं महं घोररुवदित्तधरं तालपिसायं सुविणे पराजियं पा० जाव पडिबुद्धे तं णं समणेणं भगवता महावीरेणं मोहणिज्जे कम्मे मूलओ उग्घातिए १। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सुक्किल जाव पडिबुद्धे तं णं समणे भगवं महावीरे सुक्कज्झाणोवगए विहरति २। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्त जाव पडिबुद्धे तं णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमय-परसमइयं दुवालसंग गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति दंसेति निदंसेति उवदंसेति, त जहा—आयारं सूयगडं जाव दिट्ठिवायं ३। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दामदुगं सव्वरयणामयं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे तं णं समणे भगवं महावीरे दुविहं धम्मं पन्नवेति, तं जहा—आगारधम्मं वा अणगारधम्मं वा ४। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सेयं गोवग्गं जाव पडिबुद्धे तं णं समणस्स भगवतो महावीरस्स चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे, तं जहा—समणा समणीओ सावगा सावियाओ ५। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं पउमसरं, जाव पडिबुद्धे तं णं समणे जाव वीरे चउव्विहे देवे पण्णवेति, तं जहा—भवणवासी वाणमंतरे जोतिसिए वेमाणिए ६। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं सागरं जाव पडिबुद्धे तं णं समणेणं भगवता महावीरेणं अणादीय अणवदग्गे जाव संसारकंतारे तिण्णे ७। जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं दिणकरं जाव पडिबुद्धे तं णं समणस्स भगवतो महावीरस्स अणंते अणुत्तरे जाव[1] केवलवरनाण-दंसणे समुप्पन्ने ८। जं णं समणे जाव वीरे एगं महं हरिवेरुलिय जाव पडिबुद्धे तं णं समणस्स भगवतो महावीरस्स ओराला कित्तवण्णसद्दसिलोया सदेवमणुयासुरे लोगे परितुवंति—'इति खलु समणे भगवं महावीरे, इति खलु समणे भगवं महावीरे' ९। जं णं समणे भगवं महावीरे मंदरे पव्वते मंदरचूलियाए, जाव पडिबुद्धे तं णं समणे भगवं महावीरे सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगए केवली धम्मं आधवेति चाव उवदंसेति १०।

[२१] प्रथम स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर ने जो एक महान् भयंकर और तेजस्वी रूप वाले ताड़वृक्षसम लम्बे पिशाच को पराजित किया हुआ देखा, उसका फल यह हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर ने मोहनीय कर्म को समूल नष्ट किया॥ १॥

दूसरे स्वप्न में जो श्रमण भगवान् महावीर श्वेत पंख वाले एक महान् पुंस्कोकिल को देखकर जागृत हुए, उसका फल यह है कि भगवान् महावीर शुक्लध्यान प्राप्त करके विचरे॥ २॥

तीसरे स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर जो चित्र-विचित्र पंखों वाले एक पुंस्कोकिल को देखकर जागृत हुए, उसका फल यह हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्वसमय-परसमय के विविध-विचार-युक्त (चित्र-विचित्र) द्वादशांग गणिपिटक का कथन किया, प्रज्ञप्त किया, प्ररूपित किया, दिखलाया, निदर्शित किया और उपदर्शित किया। यथा—आचार (आचारांग) सूत्रकृत (सूत्रकृतांग) यावत् दृष्टिवाद॥ ३॥

---

१. 'जाव' पद-सूचक पाठ—**विव्वाघाए, निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे।**

चौथे स्वप्न में भगवान् महावीर, जो एक सर्वरत्नमय महान् मालायुगल को देखकर जागृत हुए, उसका फल यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दो प्रकार का धर्म बतलाया। यथा—आगार-धर्म और अनगार-धर्म ॥ ४ ॥

पाँचवें स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर एक श्वेत महान् गोवर्ग देखकर जागृत हुए, उसका फल यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चातुर्वर्ण्य-युक्त (चार प्रकार का) श्रमण संघ हुआ, यथा—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका ॥ ५ ॥

छठे स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर एक कुसुमित पद्मसरोवर को देखकर जागृत हुए, उसका फल यह है कि श्रमण भगवान् महावीर ने चार प्रकार के देवों की प्ररूपणा की, यथा—भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥ ६ ॥

सातवें स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर हजारों तरंगों और कल्लोलों से व्याप्त एक महासागर को अपनी भुजाओं से तिरा हुआ देखकर जागृत हुए, उसका फल यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अनादि-अनन्त यावत् संसार-कान्तार को पार कर गए ॥ ७ ॥

आठवें स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर, तेज से जाज्वल्यमान एक महान् दिवाकर को देखकर जागृत हुए, उसका फल यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को अनन्त, अनुत्तर, निरावरण, निर्व्याघात, समग्र और प्रतिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

नौवें स्वप्न में भगवान् महावीर स्वामी ने एक महान् मानुषोत्तर पर्वत को नील वैडूर्यमणि के समान अपनी आंतों से चारों और आवेष्टित-परिवेष्टित किया हुआ देखा, उसका फल यह है कि देवलोक, असुरलोक और मनुष्यलोक में, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञान-दर्शन के धारक हैं, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ही केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक हैं, इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उदार कीर्त्ति, वर्ण (स्तुति), शब्द (सम्मान या प्रशंसा) और श्लोक (यश) को प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

दसवें स्वप्न में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एक महान् मेरुपर्वत की मन्दर-चूलिका पर अपने आपको सिंहासन पर बैठे हुए देखकर जागृत हुए उसका फल यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवलज्ञानी होकर देवों, मनुष्यों और असुरों की परिषद् के मध्य में धर्मोपदेश दिया यावत् (धर्म) उपदर्शित किया।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (२०-२१) में शास्त्रकार ने भगवान् महावीर द्वारा छद्मस्थ अवस्था की अन्तिम रात्रि में देखे गए दस स्वप्नों तथा उन दसों के क्रमशः फल का वर्णन किया है।

छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसि—दो अर्थ—इस पाठ के दो अर्थ मिलते हैं—(१) छद्मस्थावस्था की अंतिम रात्रि में अर्थात्—जिस रात्रि में ये स्वप्न देखे थे, उसके पश्चात् उसी रात्रि में भगवान् छद्मस्थावस्था से निवृत्त होकर केवलज्ञानी हो गए थे। (२) छद्मस्थावस्था की रात्रि के अंतिम भाग (पिछले प्रहर) में। यहाँ किसी रात्रिविशेष का निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु महापुरुषों द्वारा देखे हुए शुभस्वप्नों का फल तत्काल ही मिला करता है। अतः इन दोनों अर्थों में से पहला अर्थ ही उचित एवं संगत प्रतीत होता है।[१]

---

१. (क) 'रात्रेरन्तिमे भागे'—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७११

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २५६१

कठिन शब्दार्थ—**तालपिसायं**—ताड़ वृक्ष के समान लम्बा पिशाच। **सुक्किलपक्खगं**—सफेद पांखों वाले। **पुंसकोइलं**-पुंस्कोकिल-पुरुषजाति का कोयल। **दामदुगं**—माला-युगल। **सेयं**-श्वेत। **उम्मीवीयीसहस्स-कलियं**—हजारों तरंगों और वीचियों (छोटी तरंगों) से कलित (व्याप्त)। **ओवढियं**—चारों ओर से वेष्टित। **परिवेढियं**—बारंबार वेष्टित। **अंतेणं**—आंतों से, अथवा अंतरंगभागों से। **हरिवेरुलियवण्णाभेणं**—हरित (नील) वैडूर्यमणि के वर्ण के समान। **आघवेइ**—सामान्य-विशेषरूप से कथन करते हैं। **पन्नवेइ**—सामान्यरूप से प्रज्ञप्त करते हैं। **परूवेई**—प्रत्येक सूत्र का अर्थपूर्वक विवेचन करते हैं। **दंसेइ**—उसे सकल नय-युक्तियों से बतलाते हैं। **निदंसेई**—अनुकम्पा पूर्वक निश्चित वस्तुस्वरूप का पुनःपुनः कथन करते हैं या उदाहरण पूर्वक समझाते हैं। **चाउवण्णाइण्णे**—ज्ञानादिगुणों से आकीर्ण (व्याप्त) चातुवर्ण्य (चतुर्विध) संघ। **उग्घाइए**—नष्ट किया। **ओराला**—उदार।[१]

एक-दो भव से मुक्त होने वाले व्यक्तियों को दिखाई देने वाले १४ प्रकार के स्वप्नों का संकेत

२२. इत्थी व पुरिसे वा सुविणंते एगं महं हयपंतिं वा गयपंतिं वा जाव[२] उसभपंतिं वा पासमाणे पासति, दुरूहमाणे दुरूहति, दुरूढमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति जाव अंतं करेति।

[२२] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में एक महान् अश्वपंक्ति, गजपंक्ति अथवा यावत् वृषभ-पंक्ति का अवलोकन करता हुआ देखे, और उस पर चढ़ने का प्रयत्न करता हुआ चढ़े तथा अपने आपको उस पर चढ़ा हुआ माने ऐसा स्वप्न देख कर तुरन्त जागृत हो तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है।

२३. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं दामिणिं पाईणपडीणायतं दुहओ समुद्दे पुट्ठं पासमाणे पासति, संवेल्लेमाणे संवेल्लेइ, संवेल्लियमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव भवग्गहणेण जाव अंतं करेइ।

[२३] कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में, समुद्र को दोनों ओर से छूती हुई, पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत एक बड़ी रस्सी (गाय आदि को बांधने की रस्सी) को देखने का प्रयत्न करता हुआ देखे, अपने दोनों हाथों से उसे समेटता हुआ समेटे, फिर अनुभव करे कि मैंने स्वयं रस्सी को समेट लिया है, ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जागृत हो, तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है।

२४. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं रज्जुं पाईणपडीणायतं दुहतो लोगंते पुट्ठं पासमाणे पासति, छिंदमाणे छिंदइ, छिन्नमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव जाव अंतं करेइ।

[२४] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में, दोनों ओर लोकान्त का स्पर्श की हुई तथा पूर्व-पश्चिम

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७११

२. 'जाव' पद सूचक पाठ—'नरपंतिं वा किन्नर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्व त्ति।'

लम्बी एक बड़ा रस्सी को देखता हुआ देखे, उसे काटने का प्रयत्न करता हुआ काट डाले। (फिर) मैंने उसे काट दिया, ऐसा स्वयं अनुभव करे, ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जाग जाए तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है।

२५. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं किण्हसुत्तगं वा जाव सुक्किलसुत्तगं वा पासमाणे पासति, उग्गोवेमाणे उग्गोवेइ, उग्गोवितमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव जाव अंतं करेति।

[२५] कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में, एक बड़े काले सूत को या सफेद सूत को देखता हुआ देखे, और उसके उलझे हुए पिण्ड को सुलझाता हुआ सुलझा देता है और मैंने उसे सुलझाया है, ऐसा स्वयं को माने, ऐसा स्वप्न देखकर शीघ्र ही जागृत हो, तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है।

२६. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं अयरासिं वा तंबरासिं वा तउयरासिं वा सीसगरासिं वा पासमाणे पासति, दुरूहमाणे दुरूहति, दुरूढमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झइ, दोच्चे भवग्गहणे सिज्झति जाव अंतं करेति।

[२६] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में, एक बड़ी लोहराशि, तांबे की राशि, कथीर की राशि अथवा शीशे की राशि देखने का प्रयत्न करता हुआ देखे। उस पर चढ़ता हुआ चढ़े तथा अपने आपको (उस पर) चढ़ा हुआ माने। ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जागृत हो, तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है।

२७. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं हिरण्णरासिं वा सुवण्णरासिं वा रयणरासिं वा वइररासिं वा पासमाणे पासइ, दुरूहमाणे दुरूहइ, दुरूढमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति जाव अंतं करेति।

[२७] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में एक महान् चाँदी का ढेर, सोने का ढेर, रत्नों का ढेर अथवा वज्रों (हीरों) का ढेर देखता हुआ देखे, उस पर चढता हुआ चढ़े, अपने आपको उस पर चढ़ा हुआ माने, ऐसा स्वप्न देखकर तत्क्षण जागृत हो, तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

२८. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं तणरासिं वा जहा तेयनिसग्गे (स. १५ सु. ८२) जाव[१] अवकररासिं वा पासमाणे पासति, विक्खिरमाणे विक्खिरइ, विक्खिण्णमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव जाव अंतं करेति।

[२८] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में एक महान् तृणराशि (घास का ढेर) तथा तेजोनिसर्ग नामक पन्द्रहवें शतक के (सू. ८२ के) अनुसार यावत् कचरे का ढेर देखता हुआ देखे, उसे बिखेरता हुआ बिखेर दे, और मैंने बिखेर दिया है, ऐसा स्वयं को माने, ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जागृत हो तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

---

१. 'जाव' पद सूचक पाठ—'**पत्तरासीति तयारासीति भुसरासीति तुसरासीति वा गोमयरासीति वा.......**' –अ.वृ.पत्र ७१३

२९. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं सरथंभं वा वीरणथंभं वा वंसीमूलथंभं वा वल्लीमूलथंभं वा पासमाणे पासति, उम्मूलेमाणे उम्मूलेइ, उम्मूलितमिति अप्पाणं मन्नति तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव जाव अंतं करेति।

[२९] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में एक महान् सर-स्तम्भ, वीरण-स्तम्भ, वंशीमूल-स्तम्भ अथवा वल्लीमूल-स्तम्भ को देखता हुआ देखे, उसे उखाड़ता हुआ उखाड़ फेंके तथा ऐसा माने कि मैंने इनको उखाड़ फैंका है, ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है।

३०. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं खीरकुंभं वा दधिकुंभं वा घयकुंभं वा मधुकुंभ वा पासमाणे पासति, उप्पाडेमाणे[१] उप्पाडेति, उप्पाडितमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति तेणेव जाव अंतं करेति।

[३०] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में, एक महान् क्षीरकुम्भ, दधिकुम्भ, घृतकुम्भ, अथवा मधुकुम्भ देखता हुआ देखे और उसे उठाता हुआ उठाए तथा ऐसा माने कि स्वयं ने उसे उठा लिया है, ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो वह व्यक्ति उसी भव में सिद्ध हो जाता है, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है।

३१. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं सुरावियडकुंभं वा सोवीरगवियडकुंभं वा तेल्लकुंभं वा वसाकुंभं वा पासमाणे पासति, भिंदमाणे भिंदति, भिन्नमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति, दोच्छेणं भव० जाव अंतं करेति।

[३१] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में, एक महान् सुरारूप जल का कुम्भ, सौवीर (कांजी) रूप जल कुम्भ, तेलकुम्भ अथवा वसा (चर्बी) का कुम्भ देखता हुआ देखे, फोड़ता हुआ उसे फोड़ डाले तथा मैंने उसे स्वयं फोड़ डाला है, ऐसा माने, ऐसा स्वप्न देखकर शीघ्र जाग्रत हो तो वह दो भव में मोक्ष जाता है, यावत् सब दुःखों का अन्त कर डालता है।

३२. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं पउमसरं कुसुमियं पासमाणे पासति, ओगाहमाणे ओगाहति, ओगाढमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव० तेणेव जाव अंतं करेति।

[३२] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में, एक महान् कुसुमित पद्मसरोवर को देखता हुए देखे, उसमें अवगाहन (प्रवेश) करता हुआ अवगाहन करे तथा स्वयं मैंने इसमें अवगाहन किया है, ऐसा अनुभव करे तथा इस प्रकार का स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

३३. इत्थी वा जाव सुविणंते एगं महं सागरं उम्मी-वीयी जाव कलियं पासमाणे पासति, तरमाणे, तरति, तिण्णमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव० तेणेव जाव अंतं करेति।

---

१. पाठान्तर—'उग्घाडेमाणे, उग्घाडेति, उग्घाडित.........' (ढकना खोलता हुआ, खोलता है, खोल दिया......)

[३३] कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में, तरंगों और कल्लोलों से व्याप्त एक महासागर को देखता हुआ देखे, तथा तरता हुआ पार कर ले, एवं मैंने इसे स्वयं पार किया है, ऐसा माने, इस प्रकार का स्वप्न देखकर शीघ्र जाग्रत हो तो वह उसी भव में सिद्ध होता है, यावत् सर्वदु:खों का अन्त करता है।

३४. इत्थी वा जाव सुविणंते एगं महं भवणं सव्वरयणामयं पासमाणे पासति, अणुप्पविसमाणे अणुप्पविसति, अणुप्पविट्ठमिति अप्पाणं मन्नति० तेणेव जाव अंतं करेति।

[३४] कोई स्त्री या पुरुष, स्वप्न के अन्त में, सर्वरत्नमय एक महाभवन देखता हुआ देखे, उसमें प्रविष्ट होता हुआ प्रवेश करे तथा मैं इसमें स्वयं प्रविष्ट हो गया हूँ, ऐसा माने, इस प्रकार का स्वप्न देखकर शीघ्र जाग्रत हो तो, वह उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, यावत् सर्वदु:खों का अन्त कर देता है।

३५. इत्थी वा पुरिसे वा सुविणंते एगं महं विमाणं सव्वरयणामयं पासमाणे पासति, दुरूहमाणे दुरूहति, दुरूढमिति अप्पाणं मन्नति, तक्खणामेव बुज्झति, तेणेव जाव अंतं करेति।

[३५] कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में, सर्वरत्नमय एक महान् विमान को देखता हुआ देखता है, उस पर चढ़ता हुआ चढ़ता है, तथा मैं इस पर चढ़ गया हूँ, ऐसा स्वयं अनुभव करता है, ऐसा स्वप्न देखकर तत्क्षण जाग्रत होता है, तो वह व्यक्ति उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, यावत् सब दु:खों का अन्त करता है।

विवेचन—मोक्षगामी को दिखाई देने वाले स्वप्न—प्रस्तुत १४ सूत्रों (सू. २२ से ३५) में मोक्षगामी को दिखाई देने वाले १४ प्रकार के स्वप्नों के संकेत दिए हैं। इनमें से लोहराशि आदि तथा सुराजलकुम्भ आदि को स्वप्न में देखने वाला व्यक्ति दूसरे भव में, अर्थात्—मनुष्य सम्बन्धी दूसरे भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है, शेष बारह सूत्रों में कथित पदार्थों को तथारूप में स्वप्न में देखने वाला व्यक्ति उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।[१]

कठिन शब्दार्थ—सुविणंते—स्वप्न के अन्त में, अथवा स्वप्न के एक भाग में। **हयपंतिं**—घोड़ों की पंक्ति को। **पासमाणे पासति**—पश्यत्ता (देखने) के गुण से युक्त होकर देखता है, अर्थात् देखने की मुद्रा से युक्त या प्रयत्नशील होकर देखता है। **दुरूहमाणे दुरूहति**—ऊपर चढ़ता हुआ चढ़ता है। **तक्खणामेव**—तत्काल ही। **दामिणिं**—गाय आदि को बांधने की रस्सी। **पाईणपडीणायतं**—पूर्व-पश्चिम-लम्बा। **दुहओ समुद्दे पुट्ठं**—दोनों ओर से समुद्र को छूती हुई। **संवेल्लेइ**—हाथों से समेटे। **किण्हसुत्तगं-सुक्किलसुत्तगं**—काला सूत, सफेद सूत। **उग्गोवेमाणे**—सुलझाता हुआ। **अयरासिं**—लोहराशि को। **विक्खरइ**—बिखेर देता है। **उम्मूलेइ**—जड़ से उखाड़ फेंकता है। **सुरावियडकुंभं**—सुरा-मदिरा रूप विकट-जल के कुम्भ को। **सोवीर**—सौवीरक—कांजी। **ओगाहति**—अवगाहन करता—प्रवेश करता है।[२]

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २५७०

२. (क) वही, भा. ५, पृ. २५६६

(ख) भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ७१२-७१३

गन्ध के पुद्‌गल बहते हैं

३६. अहं भंते! कोट्ठपुडाण वा जाव[1] केयतिपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा जाव[2] ठाणाओ वा ठाणं संकामिज्जमाणाणं किं कोट्ठे वाति जाव केयती वाति ?

गोयमा ! नो कोट्ठे वाति जाव नो केयती वाति घाणसहगया पोग्गला वांति।

सेवं भंते ! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सोलसमे सए छट्ठो उद्देसओ समत्तो॥ १६-६॥

[३६ प्र.] भगवन् ! कोई व्यक्ति यदि कोष्ठपुटों (सुगन्धित द्रव्य के पुड़े) यावत् केतकीपुटों को खोले हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेकर जाता हो और अनुकूल हवा चलती हो तो क्या उसका गन्ध बहता (फैलता) है अथवा कोष्ठपुट यावत् केतकीपुट वायु में बहता है ?

[३६ उ.] गौतम ! कोष्ठपुट यावत् केतकीपुट नहीं बहते, किन्तु घ्राण-सहगामी गन्ध-गुणोपेत पुद्‌गल बहते हैं।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कहकर (गौतम स्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—कोष्ठपुट आदि बहते हैं या गन्ध-पुद्‌गल ?—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् ने यह निर्णय दिया है, कोष्ठपुट आदि सुगन्धित द्रव्य को खोलकर अनुकूल हवा की दिशा में ले जाया जा रहा हो तो कोष्ठपुट आदि नहीं बहते, किन्तु कोष्ठपुट आदि की सुगन्ध के पुद्‌गल हवा में फैलते (बहते) हैं, और वे घ्राणग्राह्य होते हैं।[3]

कठिन शब्दार्थ—कोट्ठपुडाण—वाससमूह जिस (कोष्ठ) में पकाया जाता हो, वह कोष्ठ कहलाता है। कोष्ठ के पुट अर्थात् पुड़ों को कोष्ठपुट कहते हैं।[4]

॥ सोलहवाँ शतक : छंठा उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. 'जाव' पद सूचक पाठ—'**पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वा**' इत्यादि।

२. 'जाव' पद सूचक पाठ—'**निब्भिज्जमाणाण वा, उक्किरिज्जमाणाण वा विक्किरिज्जमाणाण वा**' इत्यादि।

—भगवती अ. वृ. पत्र ७१३

३. वियाहपण्णत्ति भा. २, (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ७६६-७६७

४. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१३

सत्तमो उद्देसओ : 'उवओग'

सप्तम उद्देशक : 'उपयोग'

प्रज्ञापनासूत्र-अतिदेशपूर्वक उपयोग-भेद-प्रभेदनिरूपण

१. कतिविधे णं भंत्ते! उवओगे पन्नत्ते ?

गोयमा! दुविहे उवयोगे पन्नत्ते, एवं जहा उवयोगपयं पन्नवणाए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं पासणयापयं च निरवसेसं नेयव्वं।

सेवं भंते ! सेवं भंते! त्ति.।

॥ सोलसमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो॥ १६-७॥

[१ प्र.] भगवन्! उपयोग कितने प्रकार का कहा है ?

[१ उ.] गौतम! उपयोग दो प्रकार का कहा है। प्रज्ञापनासूत्र के उपयोग पद (२९ वें) में जिस प्रकार कहा है, वह सब यहाँ कहना चाहिए तथा (इसी प्रज्ञापनासूत्र का) तीसवाँ पश्यत्तापद भी यहाँ सम्पूर्ण कहना चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कहकर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—उपयोग और पश्यत्ता : स्वरूप, अन्तर और प्रकार—चेतनाशक्ति के व्यापार को उपयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग। साकारोपयोग के ८ भेद हैं—पांच ज्ञान और तीन अज्ञान। अनाकारोपयोग के चक्षुदर्शन आदि चार भेद हैं। इसका समग्र वर्णन प्रज्ञापना के २९ वें पद से समझना चाहिए। 'पश्यतो भाव: पश्यत्ता'। अर्थात्—उत्कृष्ट बोध का परिणाम पश्यत्ता है। इसके भी दो भेद हैं—साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता। साकारपश्यत्ता के ६ भेद हैं, यथा—मतिज्ञान को छोड़कर ४ ज्ञान और मति-अज्ञान को छोड़कर दो अज्ञान। अनाकारपश्यत्ता के ३ भेद हैं यथा—अचक्षुदर्शन को छोड़कर शेष तीन दर्शन। यद्यपि पश्यत्ता और उपभोग, ये दोनों साकार-अनाकार के भेद से तुल्य हैं, तथापि वर्तमानकालिक स्पष्ट या अस्पष्ट बोध को उपयोग और त्रैकालिक स्पष्ट बोध को पश्यत्ता कहते हैं। यह पश्यत्ता और उपयोग का अन्तर है।[१]

अचक्षुदर्शन अनाकारपश्यत्ता क्यों नहीं?—पश्यत्ता कहते हैं—प्रकृष्ट ईक्षण (प्रकर्षतायुक्त देखने) को। इस दृष्टि से पश्यत्ता चक्षुदर्शन में घटित हो सकती है, अचक्षुदर्शन में नहीं; क्योंकि प्रकृष्ट ईक्षण चक्षुरिन्द्रिय का ही होता है।[२]

OOO

१. (क) प्रज्ञापना (मूलपाठ टिप्पण) भा. १. (म. जै. विद्या.) सू. १९०८-३५, १९३६-६४, पृ. ४०७-९, ४१०-१२
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१३-७१४

२. वही, पत्र ७१४

अट्ठमो उद्देसओ : 'लोग'

अष्टम उद्देशक : 'लोक'

लोक के प्रमाण का तथा लोक के विविध चरमान्तों में जीवाजीवादि का निरूपण

१. कतिविधे णं भंते! लोए पन्नत्ते ?

गोयमा! महतिमहालए जहा बारसमसए (स.१२ उ.७ सु.२) तहेव जाव असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं।

[१ प्र.] भगवन् ! लोक कितना विशाल कहा गया है?

[१ उ.] गौतम! लोक अत्यन्त विशाल (महातिमहान्) कहा गया है। इसकी समस्त वक्तव्यता बारहवें शतक (के सातवें उद्देशक सू. २ में कहे) अनुसार यावत्—उस लोक का परिक्षेप (परिधि) असंख्येय कोटाकोटि योजन है, (यहाँ तक कहनी चाहिए।)

२. लोगस्स णं भंत्ते ! पुरत्थिमिल्ले चरिमंते किं जीवा, जीवदेसा, जीवदेसा अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपदेसा ?

गोयमा ! नो जीवा, जीवदेसा वि, जीवपदेसा वि, अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवपदेसा वि। जे जीवदेसा ते नियमं एगिंदियदेसा, अहवा एंगिदियदेसा य बेइंदियस्स य देसे। एवं जहा दसमसए अग्गेयी दिसा (स.१० उ.१ सु.९) तहेव, नवरं देसेसु अणिंदियाणं आदिल्लविरहिओ। जे अरूवी अजीवा ते छव्विहा, अद्धासमयो नत्थि। सेसं तं चेव सव्वं।

[२ प्र.] भगवन्! क्या लोक के पूर्वीय चरमान्त में जीव हैं, जीवदेश हैं, जीवप्रदेश हैं अजीव हैं, अजीव देश हैं और अजीव के प्रदेश हैं?

[२ उ.] गौतम! वहाँ जीव नहीं हैं, परन्तु जीव के देश हैं, जीव के प्रदेश हैं, अजीव हैं, अजीव के देश हैं और अजीव के प्रदेश भी हैं। वहाँ जो जीव के देश हैं, वे नियमत: एकेन्द्रिय जीवों के देश हैं, अथवा एकेन्द्रिय जीवों के देश हैं, अथवा एकेन्द्रिय जीवों के देश और द्वीन्द्रिय जीव का एक देश है। इत्यादि सब भंग दसवें शतक के (प्रथम उद्देशक के सू. ९) में कथित आग्नेयी दिशा की वक्तव्यता के अनुसार जानना चाहिए। विशेषता यह है कि 'बहुत देशों के विषय में अनिन्द्रियों से सम्बन्धित प्रथम भंग नहीं कहना चाहिए, तथा वहाँ जो अरूपी अजीव हैं, वे छह प्रकार के कहे गए हैं। वहाँ काल (अद्धासमय) नहीं है। शेष सभी उसी प्रकार जानना चाहिए।

३. लोगस्स णं भंते! दाहिणिल्ले चरिमंते किं जीवा० ?

एवं चेव।

[३ प्र.] भगवन्! क्या लोक के दक्षिणी चरमान्त में जीव हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[३ उ.] गौतम! (इस विषय में) पूर्वोक्त प्रकार से सब कहना चाहिए।

४. एवं पच्चत्थिमिल्ले वि, उत्तरिल्ले वि।

[४] इसी प्रकार पश्चिमी चरमान्त और उत्तरी चरमान्त के विषय में भी कहना चाहिए।

५. लोगस्स णं भंते ! उवरिल्ले चरिमंते किं जीवा० पुच्छा।

गोयमा ! नो जीवा, जीवदेसा वि जाव अजीवपएसा वि। जे जीवदेसा ते नियमं एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य, अहवा एगेंदियदेसा य अणिंदियदेसा य बेंदियस्स य देसे, अहवा एगिंदियदेसा य अणिंदियदेसा य बेइंदियाण य देसा। एवं मज्झिल्लविरहितो जाव पंचिंदियाणं। जे जीवप्पएसा ते नियमं एगिंदियप्पदेसा य अणिंदियप्पएसा य, अहवा एगिंदियप्पदेसा य अणिंदियप्पदेसा य बेइंदियस्स य पदेसा, अहवा एगिंदियपदेसा य अणिंदियपदेसा य बेइंदियाण य पदेसा। एवं आदिल्लविरहिओ जाव पचिंदियाणं। अजीवा जहा दसमसए तमाए (स. १०. उ. १ सु. १७) तहेव निरवसेसं।

[५ प्र.] भगवन्! लोक के उपरिम चरमान्त में जीव हैं, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[५ उ.] गौतम! वहाँ जीव नहीं हैं, किन्तु जीव के देश हैं, यावत् अजीव के प्रदेश भी हैं। जो जीव के देश हैं, वे नियमत: एकेन्द्रियों के देश और अनिन्द्रियों के देश हैं। अथवा एकेन्द्रियों के और अनिन्द्रियों के देश तथा द्वीन्द्रिय का एक देश है, अथवा एकेन्द्रियों के और अनिन्द्रियों के देश तथा द्वीन्द्रियों के देश हैं। इस प्रकार बीच के भंग को छोड़ कर द्विकसंयोगी सभी भंग यावत् पंचेन्द्रिय तक कहना चाहिए।

यहाँ जो जीव के प्रदेश हैं, वे नियमत: एकेन्द्रियों के प्रदेश हैं और अनिन्द्रियों के प्रदेश हैं। अथवा एकेन्द्रियों के प्रदेश, अनिन्द्रियों के प्रदेश और एक द्वीन्द्रिय के प्रदेश हैं। अथवा एकेन्द्रियों के और अनिन्द्रियों के प्रदेश तथा द्वीन्द्रियों के प्रदेश हैं। इस प्रकार प्रथम भंग के अतिरिक्त शेष सभी भंग यावत् पंचेन्द्रियों तक कहना चाहिए। दशवें शतक (के प्रथम उद्देशक सू. १७) में कथित तमादिशा की वक्तव्यता के अनुसार यहाँ पर अजीवों की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

६. लोगस्स णं भंते! हेट्ठिल्ले चरिमंते किं जीवा० पुच्छा।

गोयमा! नो जीवा, जीवदेसा वि जाव अजीवप्पएसा वि। जे जीवदेसा ते नियमं एगिंदियदेसा, अहवा एगिंदियदेसा य बेंदियस्स य देसे, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियाण य देसा। एवं मज्झिल्लविरहिओ जाव अणिंदियाणं, पदेसा आदिल्लविरहिया सव्वेसिं जहा पुरत्थिमिल्ले चरिमंते तहेव। अजीवा जहा उवरिल्ले चरिमंते तहेव।

[६ प्र.] भगवन्! क्या लोक के अधस्तन (नीचे के) चरमान्त में जीव हैं ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[६ उ.] गौतम! वहाँ जीव नहीं हैं, किन्तु जीव के देश हैं, यावत् अजीव के प्रदेश भी हैं। जो जीव के देश

हैं, वे नियमत: एकेन्द्रियों के देश हैं, अथवा एकेन्द्रियों के देश और द्वीन्द्रिय का एक देश है। अथवा एकेन्द्रियों के देश और द्वीन्द्रियों के देश हैं।

इस प्रकार बीच के भंग को छोड़कर शेष भंग, यावत्—अनिन्द्रियों तक कहने चाहिए। सभी प्रदेश के विषय में आदि के (प्रथम) भंग को छोड़कर पूर्वीय-चरमान्त की वक्तव्यता के अनुसार कहना चाहिए। अजीवों के विषय में उपरितन चरमान्त की वक्तव्यता के समान कहना चाहिए।

विवेचन—पूर्वीय चरमान्त में जीवादि के सद्भाव-असद्भाव का निरूपण—लोक की पूर्व दिशा का चरमान्त एक प्रदेश के प्रतररूप है। वहाँ असंख्यप्रदेशावगाही जीव का सद्भाव नहीं हो सकता। इसीलिए कहा गया है कि वहाँ जीव नहीं है। परन्तु वहाँ जीव के देश आदि का एक प्रदेश में भी अवगाह हो सकता है, इसलिए कहा गया है कि वहाँ जीव-देश, जीव-प्रदेश होते हैं। जो जीव के देश हैं, वे पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीवों के देश अवश्य होते हैं। यह असंयोगी प्रथम विकल्प है। अथवा द्विकसंयोगी विकल्प इस प्रकार है—एकेन्द्रिय जीवों के बहुत होने से एकेन्द्रिय जीवों के अनेक देश और द्वीन्द्रिय जीव वहां कादाचित्क होने से कदाचित् द्वीन्द्रिय का एक देश होता है। यद्यपि लोक के चरमान्त में द्वीन्द्रिय जीव नहीं होता, तथापि एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने वाला द्वीन्द्रिय जीव, मारणान्तिक समुद्घात द्वारा उत्पत्तिदेश को प्राप्त होता है, इस अपेक्षा से यह विकल्प बनता है। जिस प्रकार दसवें शतक में आग्नेयी दिशा की अपेक्षा से जो विकल्प कहे गए हैं, वे ही यहाँ पूर्व चरमान्त की अपेक्षा से कहने चाहिए यथा—(१) एकेन्द्रियों के देश और एक द्वीन्द्रिय का देश, (२) अथवा एकेन्द्रियों के देश और द्वीन्द्रियों के देश, (३) अथवा एकेन्द्रिय का देश और त्रीन्द्रिय का एक देश इत्यादि। विशेष यह है कि अनिन्द्रिय-सम्बन्धी देश के विषय में जो तीन भंग दशम शतक के आग्नेयी दिशा के विषय में कहे गए हैं, उनमें से प्रथम भंग—अथवा एकेन्द्रियों के देश और अनिन्द्रिय का देश नहीं कहना चाहिए, क्योंकि केवली-समुद्घात के समय आत्मप्रदेश कपाटाकार आदि अवस्था में होते हैं, तब पूर्व दिशा के चरमान्त में प्रदेशों की वृद्धि-हानि होने से लोक के दन्तक (दांतों के समान विषमस्थानों) में अनिन्द्रिय जीव (केवलज्ञानी) के बहुत देशों का सम्भव है, एक देश का नहीं, इसलिए उपर्युक्त भंग अनिन्द्रिय में लागू नहीं होता।

अरूपी अजीवों के छह प्रकार—(१) धर्मास्तिकाय-देश, (२) धर्मास्तिकाय-प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकाय-देश, (४) अधर्मास्तिकाय-प्रदेश, (५) आकाशास्तिकाय-देश और (६) आकाशास्तिकाय-प्रदेश। सातवें अद्धासयम (काल) का वहाँ अभाव है, क्योंकि वहाँ समयक्षेत्र नहीं है। इसी तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय का भी आग्नेयी दिशा (लोकान्त) में अभाव होने से वहाँ ६ प्रकार के अरूपी अजीवों का सद्भाव है।[१]

पूर्व दिशा के चरमान्त की तरह **दक्षिणदिशा, पश्चिमदिशा और उत्तरदिशा के चरमान्त** में भी जीवादि के सद्भाव के सम्बन्ध में कहना चाहिए।[२]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१५
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २५७७
२. (क) वही, (हिन्दी विवेचन) भा. ५, २५७७
   (ख) वियाहपण्णतिसुत्तं भा. २, पृ. ७६८

उपरितन चरमान्त में जीवादि का सद्भाव—लोक के उपरितन चरमान्त में सिद्ध हैं, इसलिए वहाँ एकेन्द्रिय देश और अनिन्द्रिय देश होते हैं। यहाँ यह एक द्विकसंयोगी विकल्प है, त्रिकसंयोगी दो-दो भंग कहने चाहिए। उनमें एकेन्द्रियों के और अनिन्द्रियों के देश तथा द्वीन्द्रिय के देश इस प्रकार का मध्यम भंग नहीं होता, क्योंकि द्वीन्द्रिय के देश, वहाँ असम्भव हैं, कारण द्वीन्द्रिय मारणान्तिक समुद्घात द्वारा मर कर ऊपर के चरमान्त में एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हो, तो वहाँ भी उसका एक देश संभावित है, पूर्व चरमान्त के समान अनेक देश संभावित नहीं। क्योंकि वहाँ प्रदेश की हानि-वृद्धि से होने वाला लोकदन्तक (विषम-भाग) प्रतररूप नहीं होता।

उपरितन चरमान्त की अपेक्षा जीव-प्रदेश प्ररूपणा में—एकेन्द्रियों के और अनिन्द्रियों के प्रदेश और द्वीन्द्रिय का एक प्रदेश, यह प्रथम भंग नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वहाँ द्वीन्द्रिय का एक प्रदेश असंभव है, क्योंकि केवलीसमुद्घात के समय लोकव्यापक अवस्था के अतिरिक्त जहाँ किसी भी जीव का एक प्रदेश होता है, वहाँ नियमत: उसके असंख्यात प्रदेश होते हैं। अजीवों के १० भेद होते हैं, यथा—रूपी अजीव के ४ भेद—स्कन्ध, देश प्रदेश और परमाणु पुद्गल, एवं अरूपी अजीव के ६ भेद—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेश, इस प्रकार अजीव के १० भेद हुए। उपरितन चरमान्त के विषय में अजीव-प्ररूपणा दशवें शतक के प्रथम उद्देशक में उक्त तमादिशा के विषय में अजीवों की वक्तव्यता के समान करनी चाहिए।[१]

अधस्तन चरमान्त—नीचे के चरमान्त में—एकेन्द्रियों के बहुत देश, यह असंयोगी एक भंग तथा द्विकसंयोगी दो भंग—(१) एकेन्द्रियों के बहुत देश और द्वीन्द्रिय का एक देश (२) एकेन्द्रियों के बहुत देश और द्वीन्द्रिय के देश, इस प्रकार का मध्यम भंग यहाँ नहीं घटित होता, क्योंकि वहाँ लोक-दन्तक का अभाव है। इस प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय के साथ दो-दो भंग होते हैं। इस प्रकार जीवदेश की अपेक्षा ११ भंग होते हैं। जीव प्रदेश-आश्रयी भंग इस प्रकार हैं, यथा—एकेन्द्रियों के प्रदेश एवं द्वीन्द्रिय के प्रदेश, एकेन्द्रिय के प्रदेश और द्वीन्द्रियों के प्रदेश। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय के प्रदेश के विषय में भंग जान लेने चाहिए। केवल—एकेन्द्रियों के बहुत प्रदेश और द्वीन्द्रिय का एक प्रदेश, यह प्रथम भंग असम्भावित होने से घटित नहीं होता। एकेन्द्रिय के बहुत प्रदेश, इस असंयोगी एक भंग को मिलाने से जीव-प्रदेश-आश्रयी कुल ११ भंग होते हैं।

उपरितन चरमान्त में कहे अनुसार अधस्तन चरमान्त में भी रूपी अजीव के चार और अरूपी अजीव के छह, ये सब मिलकर अजीवों के दस भेद होते हैं।[२]

नरक से लेकर वैमानिक एवं यावत् ईषत्प्राग्भार तक पूर्वादि चरमान्तों में जीवाजीवादि का निरूपण

७. इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते किं जीवा० पुच्छा।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१५
   (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५. पृ. २५७८

२. (क) वही. भा. ५, पृ. २५७८
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१६

गोयमा ! नो जीवा, एवं जहेव लोगस्स तहेव चत्तारि वि चरिमंता जाव उत्तरिल्ले उवरिल्ले जहा दसमसए विमला दिसा (स. १० उ. १ सु. १६) तहेव निरवसेसं। हेट्ठिल्ले चरिमंते जहेव लोगस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते (सु. ६) तहेव, नवरं देसे पंचेंदिएसु तियभंगो, सेसं तं चेव।

[७ प्र.] भगवन्! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वीय चरमान्त में जीव हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[७ उ.] गौतम! वहाँ जीव नहीं हैं। जिस प्रकार लोक के चार चरमान्तों के विषय में कहा गया, उसी प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के चार चरमान्तों के विषय में यावत् उत्तरीय चरमान्त तक कहना चाहिए। रत्नप्रभा के उपरितन चरमान्त के विषय में, दसवें शतक (उ. १ सू. १६) में (उक्त) विमला दिशा की वक्तव्यता के समान सम्पूर्ण कहना चाहिए। रत्नप्रभापृथ्वी के अधस्तन चरमान्त की वक्तव्यता लोक के अधस्तन चरमान्त के समान कहनी चाहिए। विशेषता यह है कि जीवदेश के विषय में पंचेन्द्रियों के तीन भंग कहने चाहिए। शेष सभी कथन उसी प्रकार करना चाहिए।

८. एवं जहा रयणप्पभाए चत्तारि चरिमंता भणिया एवं सक्करप्पभाए वि। उवरिमहेट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ले।

[८] जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के चार चरमान्तों के विषय में कहा गया, उसी प्रकार शर्कराप्रभापृथ्वी के भी चार चरमान्तों के विषय में कहना चाहिए तथा रत्नप्रभापृथ्वी के अधस्तन चरमान्त के समान, शर्कराप्रभापृथ्वी के उपरितन एवं अधस्तन चरमान्त की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

९. एवं जाव अहेसत्तमाए।

[९] इसी प्रकार यावत् अध:सप्तमपृथ्वी के चरमान्तों के विषय में कहना चाहिए।

१०. एवं सोहम्मस्स वि जाव अच्चुयस्स।

[१०] इसी प्रकार सौधर्मदेवलोक से लेकर अच्युतदेवलोक तक (के चरमान्तों के विषय में कहना चाहिए।)

११. गेविज्जविमाणाणं एवं चेव। नवरं उवरिम-हेट्ठिल्लेसु चरिमंतेसु देसेसु पंचेंदियाण वि मज्झिल्लविरहितो चेव, सेसं तहेव।

[११] ग्रैवेयकविमानों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इनमें उपरितन और अधस्तन चरमान्तों के विषय में, जीवदेशों के सम्बन्ध में पंचेन्द्रियों में भी बीच का भंग नहीं कहना चाहिए। शेष सभी कथन पूर्ववत् करना चाहिए।

१२. एवं जहा गेवेज्जविमाणा तहा अणुत्तरविमाणा वि, ईसिपब्भारा वि।

[१२] जिस प्रकार ग्रैवेयकों के चरमान्तों के विषय में कहा गया, उसी प्रकार अनुत्तरविमानों तथा ईषत्प्राग्भारापृथ्वी के चरमान्तों के विषय में कहना चाहिए।

विवेचन—रत्नप्रभापृथ्वी के चरमान्तों से सम्बन्धित व्याख्या—लोक के चार चरमान्तों के समान रत्नप्रभापृथ्वी के चार चरमान्तों का कथन करना चाहिए। रत्नप्रभापृथ्वी के उपरितन चरमान्त के विषय में दशवें शतक के प्रथम उद्देशक में उक्त विमला दिशा की वक्तव्यता के समान कहना चाहिए। यथा—वहाँ कोई जीव नहीं है, क्योंकि वह एक प्रदेश के प्रतररूप होने से उसमें जीव नहीं समा सकते परन्तु जीवदेश और जीवप्रदेश रह सकते हैं। उसमें जो जीव के देश हैं वे अवश्य ही एकेन्द्रिय जीव के देश होते हैं। अथवा (१) एकेन्द्रिय के बहुत देश और द्वीन्द्रिय का एक देश, (२) अथवा एकेन्द्रिय के बहुत देश और द्वीन्द्रिय के बहुत देश अथवा (३) एकेन्द्रिय के बहुत देश और द्वीन्द्रियों के बहुत देश; यों तीन भंग होते हैं। क्योंकि रत्नप्रभा में द्वीन्द्रिय होते हैं और वे एकेन्द्रियों की अपेक्षा थोड़े होते हैं, इसलिए इसके उपरितन चरमान्त में द्वीन्द्रिय का एक देश अथवा बहुत देश सम्भवित हैं। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय से लेकर अनिन्द्रिय तक प्रत्येक के तीन-तीन भंग जीवदेश की अपेक्षा से कहने चाहिए। वहाँ जो जीव के प्रदेश हैं, वे अवश्य ही एकेन्द्रिय के हैं, इसलिए—(१) एकेन्द्रिय के बहुत प्रदेश और द्वीन्द्रिय के बहुत प्रदेश हैं। (२) अथवा एकेन्द्रिय जीव के बहुत प्रदेश और द्वीन्द्रियों के बहुत प्रदेश हैं। इस प्रकार त्रीन्द्रिय से लेकर अनिन्द्रिय तक के भी दो-दो भंग जानने चाहिए।

वहाँ रूपी अजीव के ४ और अरूपी अजीव के ७ भेद होते हैं, क्योंकि समयक्षेत्र के अन्दर होने से वहाँ अद्धा समय (काल) भी होता है।

रत्नप्रभा के चरमान्ताश्रयी देश विषयक भंगों में अंसयोगी एक और द्विकसंयोगी पन्द्रह, यों कुल सोलह भंग होते हैं। प्रदेशापेक्षया असंयोगी एक और द्विकसंयोगी दस, ये कुल ग्यारह भंग होते हैं।

रत्नप्रभा के अधस्तन चरमान्त का कथन लोक के अधस्तन चरमान्तवत् करना चाहिए। विशेषता यह है कि लोक के नीचे के चरमान्त में जीवदेश सम्बन्धी दो-दो भंग द्वीन्द्रिय आदि के मध्यम भंग को छोड़ कर कहे गए हैं, परन्तु यहाँ पंचेन्द्रिय के तीन भंग कहने चाहिए। क्योंकि रत्नप्रभा के नीचे के चरमान्त में देवरूप पंचेन्द्रिय जीवों के गमनागमन से पंचेन्द्रिय का एक देश और पंचेन्द्रिय के बहुत देश सम्भवित होते हैं। इसलिए यहाँ पंचेन्द्रिय के तीन भंग कहने चाहिए। द्वीन्द्रिय आदि तो रत्नप्रभा के निचले चरमान्त में मरण-समुद्घात से जाते हैं। तभी उनका वहाँ सम्भव होने से वहाँ उनका एक देश ही सम्भवित है, बहुत देश सम्भवित नहीं, क्योंकि रत्नप्रभा के अधस्तन चरमान्त का प्रमाण एक प्रतररूप है, इसलिए वहाँ बहुत देशों का समावेश हो नहीं सकता।

शर्करादि छह नरकों से ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक के चरमान्तों का कथन—इनके पूर्वादि चार चरमान्तों का कथन रत्नप्रभा के पूर्वादि चार चरमान्तों के समान करना चाहिए।

जिस प्रकार रत्नप्रभा के नीचे का चरमान्त कहा गया है, उसी प्रकार शर्कराप्रभादि छह नरकों से लेकर अच्युतकल्प तक के ऊपर-नीचे के चरमान्त-सम्बन्धी जीवदेश-आश्रयी असंयोगी एक, द्विकसंयोगी ग्यारह, यों कुल १२ भंग होते हैं तथा प्रदेश की अपेक्षा से असंयोगी एक और द्विकसंयोगी दस, यों कुल ग्यारह-ग्यारह भंग होते हैं। अर्थात्—शर्कराप्रभा का उपरितन एवं अधस्तन चरमान्त रत्नप्रभा के अधस्तन चरमान्त के समान जानना चाहिए। यहाँ द्वीन्द्रिय आदि के दो-दो भंग जीवदेश की अपेक्षा मध्यम भंगरहित होते हैं तथा पंचेन्द्रिय के तीन

भंग होते हैं। जीवप्रदेश की अपेक्षा द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी के प्रथमभंगरहित शेष दो-दो भंग होते हैं। अजीव-आश्रयी रूपी अजीव के ४ और अरूपी अजीव के ६ भेद होते हैं। शर्कराप्रभा के समान शेष सभी नरक-पृथ्वियों की तथा सौधर्म से लेकर ईषत्प्राग्भारा तक की वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि जीवदेश की अपेक्षा से अच्युतकल्प तक देवों का गमनागमन सम्भव होने से (वहाँ तक) पंचेन्द्रिय के तीन भंग और द्वीन्द्रिय आदि के दो-दो भंग होते हैं। नौ ग्रैवेयक तथा अनुत्तर विमानों में तथा ईषत्प्राग्भारापृथ्वी में देवों का गमनागमन न होने से पंचेन्द्रिय के भी दो-दो भंग कहने चाहिए।[1]

कठिन शब्दार्थ—केमहालए—कितना बड़ा। **आइल्ल**—आदि (पहले) का। **अद्धासमयो**—काल। **पुरच्छिमिल्ले**—पूर्व दिशा का। **हेट्ठिल्ले**—नीचे का, अधस्तन। **दाहिणिल्ले**—दक्षिण दिशा का। **उवरिल्ले**—उपरितन, ऊपर का। **मज्झिल्लविरहिओ**—मध्यम भंग से रहित।[2]

परमाणु की एक समय में लोक के पूर्व-पश्चिमादि चरमान्त तक गति-सामर्थ्य

१३. परमाणुपोग्गले णं भंते। लोगस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चत्थिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति, पच्चत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ पुरत्थिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति, दाहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं जाव गच्छति, उत्तरिल्लाओ० दाहिणिल्लं जाव गच्छति, उवरिल्लाओ चरमंताओ हेट्ठिल्लं चरिमंतं एग० जाव गच्छति, हेट्ठिल्लाओ चरिमंताओ उवरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति ?

हंता, गोयमा ! परमाणुपोग्गले णं लोगस्स पुरत्थिमिल्ल० तं चेव जाव उवरिल्लं चरिमंतं गच्छति।

[१३ प्र.] भगवन्! क्या परमाणु-पुद्गल एक समय में लोक के पूर्वीय चरमान्त से पश्चिमीय चरमान्त में, पश्चिमीय चरमान्त से पूर्वीय चरमान्त में, दक्षिणी चरमान्त से उत्तरीय चरमान्त में, उत्तरीय चरमान्त से दक्षिणी चरमान्त में, ऊपर के चरमान्त से नीचे के चरमान्त में और नीचे के चरमान्त से ऊपर के चरमान्त में जाता है ?

[१३ उ.] हाँ गौतम! परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के पूर्वीय चरमान्त से पश्चिमीय चरमान्त में यावत् नीचे के चरमान्त से ऊपर के चरमान्त में जाता है।

विवेचन—परमाणु पुद्गल एक समय में सभी चरमान्तों तक इधर से उधर गति कर सकता है, यह तथ्य प्रस्तुत किया गया है।

वृष्टिनिर्णयार्थ करादि संकोचन-प्रसारण में लगने वाली क्रियाएँ

१४. पुरिसे णं भंते! वासं वासति, वासं नो वासतीति हत्थं वा पायं वा वाहु ऊरुं वा आउंटावेमाणे वा पसारेमाणे वा कतिकिरिए ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१५, ७१६, ७१७
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २५८२

२. वही, भा. ५, पृ. २५७५

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे वासं वासति, वासं नो वासतीति हत्थं वा जाव उरुं वा आउंटावेति वा पसारेति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे।

[१४ प्र.] भगवन्! वर्षा बरस रही है अथवा (वर्षा) नहीं बरस रही है ?—यह जानने के लिए कोई पुरुष अपने हाथ, पैर, बाहु या ऊरु (जांघ) को सिकोड़े या फैलाए तो उसे कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१४ उ.] गौतम! वर्षा बरस रही है या नहीं, यह जानने के लिए कोई पुरुष अपने हाथ यावत ऊरु को सिकोड़ता है या फैलाता है, तो उसे कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वर्षा का पता लगाने के लिए हाथ आदि अवयवों को सिकोड़ने और फैलाने में कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणतिपातकी, ये पांचों क्रियाएँ एक दूसरे प्रकार से लगती हैं, इस सिद्धान्त की प्ररूपणा की गई है।

महर्द्धिक देव का लोकान्त में रहकर अलोक में अवयव-संकोचन-प्रसारण-असामर्थ्य

१५. [१] देवे णं भंते! महिड्ढीए जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा पभू अलोगंसि हत्थं वा आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! क्या महर्द्धिक यावत् महासुखसम्पन्न देव लोकान्त में रह कर अलोक में अपने हाथ यावत् ऊरु को सिकोड़ने और पसारने में समर्थ है ?

[१५-१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'देवे णं महिड्ढीए जाव लोगंते ठिच्चा णो पभू अलोगंसि हत्थं वा जाव पसारेत्तए वा ?'

गोयमा ! जीवाणं आहारोवचिया पोग्गला, बोंदिचिया पोग्गला, कलेवरचिया पोग्गला, पोग्गलमेव पप्प जीवाण य अजीवाण या गतिपरियाए आहिज्जइ, अलोए णं नेवत्थि जीवा, नेवत्थि पोग्गला, से तेणट्ठेणं जाव पसारेत्तए वा।

सेवं भंते! सेवं भंते ! त्ति!

॥ सोलसमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो॥ १६-८॥

[१५-२ प्र.] भगवान्! क्या कारण है कि महर्द्धिक देव लोकान्त में रह कर अलोक में अपने हाथ यावत् ऊरु को सिकोड़ने और पसारने में समर्थ नहीं ?

[१५-२ उ.] गौतम! जीवों के अनुगत आहारोपचित पुद्गल, शरीरोपचित पुद्गल और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं तथा पुद्गलों के आश्रित ही जीवों और अजीवों की गतिपर्याय कही गई है। अलोक में न तो जीव हैं और न ही पुद्गल हैं। इसी कारण पूर्वोक्त देव यावत् सिकोड़ने और पसारने में समर्थ नहीं हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—लोक में रह कर अलोक में गति न होने का कारण—जीव के साथ रहे हुए पुद्गल आहाररूप में, शरीररूप में और कलेवररूप में तथा श्वासोच्छ्वास आदि के रूप में उपचित होते हैं। अर्थात् पुद्गल जीवानुगामी स्वभाव वाले होते हैं। जिस क्षेत्र में जीव होते हैं, वहीं पुद्गलों की गति होती है। इसी प्रकार पुद्गलों के आश्रित जीवों का और पुद्गलों का गतिधर्म होता है। यानी जिस क्षेत्र में पुद्गल होते हैं उसी क्षेत्र में जीवों और पुद्गलों की गति होती है। अलोक में धर्मास्तिकाय न होने से वहाँ न तो जीव और पुद्गल है और न उनकी गति होती है।[१]

॥ सोलहवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१७

नवमो उद्देसओ : 'बलि'

नौवाँ उद्देशक : बलि (वैरोचनेन्द्र-सभा)

बलि-वैरोचनेन्द्र की सुधर्मासभा से सम्बन्धित वर्णन

१. कहिं णं भंते! बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो सभा सुहम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जे. जहेव चमरस्स (स. २ उ.८ सु. १) जाव बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो रुयगिंदे नामं उप्पायपव्वए पन्नत्ते सत्तरस एक्कवीसे जोयणसए एवं पमाणं जहेव तिगिंछिकूडस्स, पासायवडेंसगस्स वि तं चेव पमाणं, सीहासणं सपरिवारं बलिस्स परियारेणं अट्ठो तहेव, नवरं रुयिगिंदप्पभाइं ३ कुमुयाइं। सेसं तं चेव जाव बलिचंचाए रायहाणीए अन्नेसिं च जाव निच्चे, रुयगिंदस्स णं उप्पायपव्वयस्स उत्तरेणं छक्कोडिसए तहेव जाव चत्तालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो बलिचंचा नामं रायहाणी पन्नत्ता; एगं जोयणसयसहस्सं पमाणं तहेव जाव बलिपेढस्स उववातो जाव आयरक्खा सव्वं तहेव निरवसेसं, नवरं सातिरेगं सागरोवमं ठिती पन्नत्ता। सेसं तं चेव जाव बली वइरोयणिंदे, बली वइरोयणिंदे।

सेवं भंते! सेवं भंते! जाव विहरित।

॥ सोलसमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो॥ १६-९॥

[१ प्र.] भगवन्! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि की सुधर्मा सभा कहाँ है ?

[१ उ.] गौतम! जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के उत्तर में तिरछे असंख्येय द्वीपसमुद्रों को उल्लंघ कर इत्यादि, जिस प्रकार (दूसरे शतक के ८ वें उद्देशक, सू. १में) चमरेन्द्र की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना, यावत् (अरुणवरद्वीप की बाह्य वेदिका से अरुणवर-द्वीप समुद्र में) बयालीस हजार योजन अवगाहन करने के बाद वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि का रुचकेन्द्र नामक उत्पात-पर्वत है। वह उत्पात पर्वत १७२१ योजन ऊँचा है। उसका शेष सभी परिमाण तिगिञ्छकूट पर्वत के समान जानना चाहिए। उसके प्रासादावतंसक का परिमाण उसी प्रकार जानना चाहिए। तथा बलीन्द्र के परिवार सहित सपरिवार सिंहासन का अर्थ भी उसी प्रकार जानना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ रुचकेन्द्र (रत्नविशेष) की प्रभा वाले कुमुद आदि हैं। शेष सभी उसी प्रकार हैं। यावत् वह बलिचंचा राजधानी तथा अन्यों का नित्य आधिपत्य करता हुआ विचरता है। उस रुचकेन्द्र उत्पात-पर्वत के उत्तर से छह सौ पचपन करोड़ पैंतीस लाख पचास हजार योजन तिरछा जाने पर नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी में पूर्ववत् यावत् चालीस हजार योजन जाने के पश्चात् वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि की बलिचंचा नामक राजधानी है। उस राजधानी का विष्कम्भ (विस्तार) एक लाख योजन है। शेष सभी प्रमाण पूर्ववत् (जानना चाहिए)

यावत् बलिपीठ (तक का परिमाण भी कहना चाहिए।) तथा उपपात से लेकर यावत् आत्मरक्षक तक सभी बातें पूर्ववत् कहनी चाहिए। विशेषता यह है कि (बलि-वैरोचनेन्द्र की) स्थिति सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है। शेष सभी बातें पूर्ववत् जाननी चाहिए। यावत् 'वैरोचनेन्द्र बलि है, वैरोचनेन्द्र बलि है' यहाँ तक कहना चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कह यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—चमरेन्द्र और बलीन्द्र की सुधर्मा सभा में प्रायः समानता—जिस प्रकार दूसरे शतक के आठवें उद्देशक में चमरेन्द्र की सुधर्मा सभा का वर्णन किया गया है, उस प्रकार यहाँ भी बलीन्द्र की सुधर्मा सभा के विषय में कहना चाहिए। वहाँ जिस प्रकार तिगिञ्छकूट नामक उत्पात पर्वत का परिमाण कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी रुचकेन्द्र नामक उत्पातपर्वत का परिमाण कहना चाहिए। तिगिञ्छकूट पर्वत पर स्थित प्रासादावतंसकों का जो परिमाण कहा गया है, वही परिमाण रुचकेन्द्र उत्पातपर्वत स्थित प्रासादावतंसकों का है। प्रासादावतंसकों के मध्य भाग में बलीन्द्र के सिंहासन तथा उसके परिवार के सिंहासनों का वर्णन भी चमरेन्द्र से सम्बन्धित सिंहासनों के समान जानना चाहिए। विशेष अन्तर यह है कि बलीन्द्र के सामानिक देवों के सिंहासन साठ हजार हैं, जब कि चमरेन्द्र के सामानिक देवों के सिंहासन ६४ हजार हैं तथा आत्मरक्षक देवों के आसन प्रत्येक के सामानिकों के सिंहासनों से चौगुने हैं। जिस प्रकार तिगिञ्छकूट में तिगिञ्छ रत्नों की प्रभा वाले उत्पलादि होने से उसका अन्वर्थक नाम तिगिञ्छकूट है उसी प्रकार रुचकेन्द्र में रुचकेन्द्र रत्नों की प्रभा वाले उत्पलादि होने के कारण उसका अन्वर्थक नाम रुचकेन्द्रकूट कहा गया है। बलिचंचा नगरी (राजधानी) का परिमाण कहने के पश्चात् उसके प्राकार, द्वार, उपकारिकालयन, (द्वार के ऊपर के गृह) प्रासादावतंसक, सुधर्मा सभा, सिद्धायतन (चैत्य-भवन) उपपातसभा, ह्रद, अभिषेकसभा, आलंकारिकसभा और व्यवसायसभा आदि का स्वरूप और प्रमाण बलिपीठ के वर्णन तक कहना चाहिए।[1]

॥ सोलहवाँ शतक : नौवां उद्देशक समाप्त॥१६-९॥

OOO

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१८-७१९

(ख) भगवती. (आगम प्र. स. ब्यावर) खण्ड १, श. २ उ. ८ पृ. २३५, २३७

दसमो उद्देसओ : 'ओही'

दसवाँ उद्देशक : 'अवधिज्ञान'

प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक अवधिज्ञान का वर्णन

१. कतिविधे णं भंते! ओही पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविधा ओही पन्नत्ता। ओहीपयं निरवसेसं भाणियव्वं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरित।

॥ सोलसमे सए—दसमो उद्देसओ समत्तो॥ १६-१०॥

[१ प्र.] भगवन्! अवधिज्ञान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! अवधिज्ञान दो प्रकार का कहा गया है। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का ३३वाँ अवधिपद सम्पूर्ण कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अवधिज्ञान : स्वरूप और भेद-प्रभेद—रूपी पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की मर्यादा को लिए होने वाला अतीन्द्रिय सम्यग्ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान, प्रज्ञापनासूत्र के ३३वें पद के अनुसार दो प्रकार का कहा गया है—भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। भवप्रत्ययिक अवधि (ज्ञान) दो प्रकार के जीवों का होता है—देवों और नारकों को। मनुष्यों और तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों को क्षायोपशमिक अवधि होता है। इसका विशेष विवरण प्रज्ञापनासूत्र के ३३वें अवधि पद से जान लेना चाहिए।[१]

॥ सोलहवाँ शतक : दशम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१९

(ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टिप्पण) सू. १९८२-२०३१ पृ. ४१५, ४१८

(श्री महावीर जैन विद्यालय से प्रकाशित)

एगारसमो उद्देसओ : 'दीव'

ग्यारहवाँ उद्देशक : द्वीपकुमार सम्बन्धी वर्णन

द्वीपकुमार देवों की आहार, श्वासोच्छ्वासादि की समानता-असमानता का निरूपण

१. दीवकुमारा णं भंत्ते! सव्वे समाहारा० निस्सासा ?

नो इणट्ठे समट्ठे। एवं जहा पढमसए बितियउद्देसए दीवकुमाराणं वत्तव्वया (स. १ उ. २ सु. ६) तहेव जाव समाउयासमुस्सासनिस्सासा।

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी द्वीपकुमार समान आहार वाले और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले हैं ?

[१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक (सू. ६) में जिस प्रकार द्वीपकुमारों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार की वक्तव्यता यहाँ भी, कितने ही सम-आयुष्य वाले और सम-उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं, तक कहनी चाहिए।

द्वीपकुमारों में लेश्या की तथा लेश्या एवं ऋद्धि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

२. दीवकुमाराणं भंते ! कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा।

[२ प्र.] भगवन्! द्वीपकुमारों में कितनी लेश्याएँ कही हैं ?

[२ उ.] गौतम! उनमें चार लेश्याएँ कही हैं, यथा—कृष्णलेश्या, यावत् तेजोलेश्या।

३. एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा!

गोयमा ! सव्वत्थोवा दीवकुमारा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया।

[३ प्र.] भगवन्! कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या वाले द्वीपकुमारों में कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं?

[३ उ.] गौतम! सबसे कम द्वीपकुमार तेजोलेश्या वाले हैं। कापोतलेश्या वाले उनसे असंख्यातगुणे हैं। उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं और उनसे कृष्णलेश्या वाले विशेषाधिक हैं।

४. एतेसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पिड्डिया या महिड्डया वा ?

गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो नीललेस्सा महिड्ढिया जाव सव्वमहिड्ढिया तेउलेस्सा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ सोलसमे सए : एगारसमो उद्देसओ समत्तो ॥१६-११ ॥

[१ प्र.] भगवन्! कृष्णलेश्या से लेकर यावत् तेजोलेश्या वाले द्वीपकुमारों में कौन किसके अल्पर्द्धिक हैं अथवा महर्द्धिक हैं ?

[१ उ.] गौतम! कृष्णलेश्या वाले द्वीपकुमारों से नीललेश्या वाले द्वीपकुमार महर्द्धिक हैं, (इस प्रकार उत्तरोत्तर महर्द्धिक हैं), यावत् तेजोलेश्या वाले द्वीपकुमार सभी से महर्द्धिक हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर (गौतम स्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १ से ४ तक) से भवनपति देवनिकाय के अन्तर्गत द्वीपकुमार देवों के आहार, उच्छ्वास-निश्वास, आयुष्य आदि की समानता-असमानता तथा उनमें पाई जाने वाली लेश्याएँ तथा किस लेश्या वाला किससे अल्प, बहुत आदि अल्पर्द्धिक-महर्द्धिक है ? इन तथ्यों का निरूपण किया गया है।

॥ सोलहवाँ शतक : ग्यारहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

बारसमो उद्देसओ : 'उदही'

बारहवाँ उद्देशक : उदधिकुमार-सम्बन्धी वक्तव्यता

उदधिकुमारों में आहारादि की समानता-असमानता का निरूपण

१. उदधिकुमारा णं भंते! सव्वे समाहारा० ?

एवं चेव ?

सेवं भंते ! सेवं भंते! ० ।

॥ सोलसमे सए : बारसमो उद्देसओ समत्तो ॥ १६-१२ ॥

[१ प्र.] भगवन्! सभी उदधिकुमार समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत् समग्र प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! सभी वक्तव्यता पूर्ववत् कहनी चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ सोलहवाँ शतक : बारहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

तेरसमो उद्देसओ : 'दिसा'

तेरहवाँ उद्देशक : दिशाकुमार-सम्बन्धी वक्तव्यता

दिशाकुमारों में आहारादि की समानता-असमानता का निरूपण

१. एवं दिसाकुमारा वि।

॥ सोलसमे सए : तेरसमो उद्देसओ समत्तो ॥१६-१३॥

[१] (जिस प्रकार द्वीपकुमारों के विषय में कहा गया था) उसी प्रकार दिशाकुमारों के (आहार, उच्छ्वास-निःश्वास, लेश्या आदि के) विषय में भी कहना चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत् (गौतम स्वामी) विचरते हैं।

॥ सोलहवाँ शतक : तेरहवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

चउदसमो उद्देसओ : 'थणिया'

चौदहवाँ उद्देशक : स्तनितकुमार-सम्बन्धी वक्तव्यता

स्तनितकुमारों में आहारादि की समानता-असमानता का निरूपण

१. एवं थणियकुमारा वि।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ सोलसमे सए : चउदसमो उद्देसओ समत्तो॥ १६-१४॥

॥ सोलसमं सयं समत्तं॥

[१] (जिस प्रकार द्वीपकुमारों के विषय में कहा गया था), उसी प्रकार स्तनितकुमारों के (आहार, उच्छ्वास-नि:श्वास, लेश्या आदि के) विषय में भी कहना चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर (गौतम स्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—चार उद्देशक : समान वक्तव्यता का अतिदेश—ग्यारहवें से लेकर चौदहवें उद्देशक तक सभी वक्तव्यताएं समान हैं, केवल उन देवों के नामों में अन्तर है। सभी भवनपति जाति के देव हैं।

॥ सोलहवाँ शतक : चौदहवाँ उद्देशक समाप्त॥

॥ सोलहवाँ शतक सम्पूर्ण॥

○○○

सत्तरसमं सयं : सत्तरहवाँ शतक

प्राथमिक

- व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र का यह सत्तरहवां शतक है।

- इसमें भविष्य में मोक्षगामी हाथियों का तथा संयत आदि की धर्म, अधर्म, धर्माधर्म में स्थिति का, शैलेशी अनगार के द्रव्य-भावकम्पन का, क्रियाओं का, ईशानेन्द्र सभा का, पांच स्थावरों के उत्पाद एवं आहारग्रहण में प्राथमिकता का तथा नागकुमार आदि भवनपतियों में आहारादि की समानता-असमानता का १७ उद्देशकों में प्रतिपादन किया गया है।

- **प्रथम उद्देशक** में कूणिक सम्राट् के उदायी और भूतानन्द नामक गजराजों की भावी गति तथा मोक्षगामिता का वर्णन है। तत्पश्चात् ताड़फल को हिलाने-गिराने तथा सामान्य वृक्ष के मूल, कन्द आदि को हिलाने-गिराने वाले व्यक्ति को, उक्त फलादि के जीव को, वृक्ष को तथा उसके उपकारक को लगने वाली क्रियाओं की तथा शरीर इन्द्रिय और योग को निष्पन्न करने वाले एक या अनेक पुरुषों को लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है। अन्त में, औदयिक आदि छह भावों का अनुयोगद्वार के अतिदेशपूर्वक वर्णन है।

- **द्वितीय उद्देशक** में संयत, असंयत, संयतासंयत, सामान्य जीव तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के धर्म, अधर्म या धर्माधर्म में स्थित होने की चर्चा की गई है। तदनन्तर इन्हीं जीवों के बाल, पण्डित या बाल-पण्डित होने की अन्यतीर्थिकमत की निराकरण पूर्वक विचारणा की गई है। फिर अन्यतीर्थिक की जीव और जीवात्मा के एकान्त भिन्नत्व की मान्यता का खण्डन करके कथंचित् भेदाभेद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, अन्त में, महर्द्धिक देव द्वारा मूर्त्त से अमूर्त्त बनाने अथवा अमूर्त्त से मूर्त्त आकार बनाने के सामर्थ्य का निषेध किया गया है।

- **तृतीय उद्देशक** में शैलेशी अनगार की निष्प्रकम्पता का प्रतिपादन करके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-एजना की तथा शरीर-इन्द्रिय-योग-चलना की चौवीसदण्डकों की अपेक्षा चर्चा की गई है। अन्त में संवेगादि धर्मों के अन्तिम फल—मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

- **चतुर्थ उद्देशक** में जीव तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीवों द्वारा प्राणातिपातादि क्रिया स्पर्श करके की जाने की तथा समय, देश, प्रदेश की अपेक्षा से ये ही क्रियाएँ स्पृष्ट से लेकर आनुपूर्वीकृत की जाती हैं, इस तथ्य की प्ररूपणा की गई है। अन्त में जीवों के दुःख एवं वेदना को वेदन के आत्मकर्तृत्व की प्ररूपणा की गई है।

- **पंचम उद्देशक** में में ईशानेन्द्र की सुधर्मासभा का सांगोपांग वर्णन है।

- **छठे उद्देशक से लेकर नौवें उद्देशक** तक में रत्नप्रभादि नरकपृथ्वियों में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प से यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक में पृथ्वीकायादि चार स्थावरों में उत्पन्न होने योग्य अधोलोकस्थ पृथ्वीकायादि में पहले उत्पन्न होते हैं, पीछे पुद्गल (आहार) ग्रहण करते हैं; अथवा पहले आहार (पुद्गल) ग्रहण करते हैं, पीछे उत्पन्न होते हैं? इसी प्रकार सौधर्मकल्पादि में मरण-समुद्घात करके रत्नप्रभादि सातों नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होने योग्य ऊर्ध्वलोकस्थ पृथ्वीकायादि के भी उत्पन्न होने और आहार (पुद्गल) ग्रहण करने की पहले-पीछे की चर्चा की गई है।

- **बारहवें उद्देशक** में एकेन्द्रियजीवों में आहार, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, शरीर आदि की समानता-असमानता की तथा इनमें पाई जाने वाली लेश्याओं की और लेश्या वालों के अल्पबहुत्व की विचारणा की गई है।

- **तेरहवें से सत्तरहवें उद्देशक** में इसी प्रकार क्रमशः नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार और अग्निकुमार देवों में आहार, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, शरीर आदि की समानता-असमानता की तथा उनमें पाई जाने वाली लेश्याओं की एवं उक्त लेश्या वालों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

- इस प्रकार सत्तरह उद्देशकों में कुल मिलाकर विभिन्न जीवों से सम्बन्धित अध्यात्मविज्ञान की विशद विचारणा की गई है।[१]

ooo

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ७७३ से ७९१ तक

सत्तरसमो सयं : सत्तरहवां शतक

सत्तरहवें शतक का मंगलाचरण

१. नमो सुयदेवयाए भगवतीए।

[१] भगवती श्रुतदेवता को नमस्कार हो।

विवेचन—श्रुतदेवता का स्वरूप—आवश्यकचूर्णि में श्रुतदेवता का स्वरूप इस प्रकार है—जिससे समग्र श्रुतसमुद्र (या जिनप्रवचन) अधिष्ठित है, जो श्रुत की अधिष्ठात्री देवी है, जिसकी कृपा से शास्त्रज्ञान पढ़ा-सीखा है, उस भगवती जिनवाणी या सरस्वती को श्रुतदेवता कहते हैं।[1]

उद्देशकों के नामों की प्ररूपणा

२. कुंजर १ संजय २ सेलेसिं ३ किरिय ४ ईसाण ५ पुढवि ६-७ दग ८-९ वाऊ १०-११।

एगिंदिय १२ नाग १३ सुवण्ण १४ विज्जु १५ वाय १६ अग्गि १७ सत्तरसे ॥ १॥

[२] (संग्रहणी-गाथार्थ)—(सत्तरहवें शतक में) सत्तरह उद्देशक (कहे गये) हैं। (उनके नाम इस प्रकार हैं)—(१) कुञ्जर, (२) संयत, (३) शैलेशी, (४) क्रिया, (५) ईशान, (६-७) पृथ्वी, (८-९) उदक, (१०-११) वायु, (१२) एकेन्द्रिय, (१३) नाग, (१४) सुवर्ण, (१५) विद्युत्, (१६) वायुकुमार और (१७) अग्निकुमार।

विवेचन—उद्देशकों के नामों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय—(१) प्रथम उद्देशक का नाम कुंजर है। कुंजर से आशय है—श्रेणिक राजा के पुत्र कूणिक राजा के उदायी एवं भूतानन्द नामक हस्तिराज। इसमें इन हस्तिराजों के विषय में प्रतिपादन है। (२) **संयत**—द्वितीय उद्देशक में संयत आदि के विषय का प्रतिपादन है। (३) **शैलेशी**—तीसरे उद्देशक में शैलेशी (योगों से रहित निष्कम्प) अवस्था प्राप्त अनगार विषयक कथन है। (४) चौथे **क्रिया** उद्देशक में क्रिया विषयक वर्णन है। (५) पाँचवें **ईशान** उद्देशक में, ईशानेन्द्र की सुधर्मा-सभा आदि का कथन है। (६-७) छठे-सातवें उद्देशक में **पृथ्वीकाय** विषयक वर्णन है। (८-९) आठवें-नौवें में **अप्काय**-विषयक वर्णन है। (१०-११) दसवें-ग्यारहवें उद्देशक में **वायुकाय**-विषयक वर्णन है। (१२) बारहवें उद्देशक में **एकेन्द्रिय जीव-स्वरूप** का प्रतिपादन है। (१३-१७) तेरहवें से लेकर सत्तरहवें उद्देशक में **नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, वायुकुमार और अग्निकुमार** से सम्बन्धित वक्तव्यता है। इस प्रकार सत्तरहवें शतक में सत्तरह उद्देशक कहे गए हैं।[2]

---

१. आवश्यक चूर्णि अ. ४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२९

पढमो उद्देसओ : 'कुंजर'

प्रथम उद्देशक : कुंजर (आदि-सम्बन्धी वक्तव्यता)

उदायी और भूतानन्द हस्तिराज के पूर्व और पश्चाद्भवों के निर्देशपूर्वक सिद्धिगमन-निरूपण

३. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[३] राजगृह नगर में यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

४. उदायी णं भंते ! हत्थिराया कओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता उदायिहत्थिरायत्ताए उववन्ने?

गोयमा! असुरकुमारेहिंतो देवेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता उदायिहत्थिरायत्ताए उववन्ने।

[४ प्र.] भगवन्! उदायी नामक प्रधान हस्तिराज, किस गति से मर कर विना अन्तर के (सीधा) यहाँ हस्तिराज के रूप में उत्पन्न हुआ?

[४ उ.] गौतम ! वह असुरकुमार देवों में से मर कर सीधा (निरन्तर) यहाँ उदायी हस्तिराज के रूप में उत्पन्न हुआ है।

५. उदायी णं भंते ! हत्थिराया कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! इमीसे णं रतणप्पभाए पुढवीए उक्कोससागरोवमट्ठितीयंसि नरगंसि नेरइयत्ताए उववज्जिहिति।

[५ प्र.] भगवन्! उदायी हस्तिराज यहाँ से काल के अवसर पर काल करके कहाँ जाएगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

[५ उ.] गौतम ! वह यहाँ से काल करके इस रत्नप्रभापृथ्वी के एक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नरकावास (नरक) में नैरयिक रूप से उत्पन्न होगा।

६. से णं भंते ! ततोहिंतो अणंतरं उव्वट्टिता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

[६ प्र.] भगवन्! (फिर वह) वहाँ (रत्नप्रभापृथ्वी) से अन्तररहित निकल कर कहाँ जाएगा? कहाँ उत्पन्न होगा ?

[६ उ.] गौतम! वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगा।

७. भूयाणंदे णं भंते ! हत्थिराया कतोहिंतो अणंतरं उव्वट्टिता भूयाणंद० ? एवं जहेव उदायी जाव अंतं काहिति।

[७ प्र.] भगवन्! भूतानन्द नामक हस्तिराज किस गति से मर कर सीधा भूतानन्द हस्तिराज रूप में यहाँ उत्पन्न हुआ?

[७ उ.] गौतम! जिस प्रकार उदायी नामक हस्तिराज की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार भूतानन्द हस्तिराज की भी वक्तव्यता, सब दु:खों का अन्त करेगा, तक जाननी चाहिए।

विवेचन—उदायी और भूतानन्द के भूत और भविष्य का कथन—उदायी और भूतानन्द श्रेणिक राजा के पुत्र कूर्णिक राजा के प्रधान हस्ती थे। प्रस्तुत ५ सूत्रों (सू. ३ से ७ तक) में इन दोनों के भूतकालीन भव (असुरकुमार देव भव) का और भविष्य में प्रथम नरक का आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का कथन किया है।[१]

कठिन शब्दार्थ—कओहिंतो—कहां से-किस गति से? **काहिइ**—करेगा।[२]

ताड़फल को हिलाने-गिराने आदि से सम्बन्धित जीवों को लगने वाली क्रिया

८. पुरिसे णं भंते! तालमारुभइ, तालं आरुभित्ता तालाओ तालफलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कतिकिरिए?

गोयमा! जाव च णं से पुरिसे तालमारुभति, तालमारुभित्ता तालाओ तालफलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले निव्वत्तिए तालफले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

[८ प्र.] भगवन्! कोई पुरुष, ताड़ के वृक्ष पर चढ़े और फिर उस ताड़ से ताड़ के फल को हिलाए अथवा गिराए तो उस पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं?

[८ उ.] गौतम! जब तक वह पुरुष, ताड़ के वृक्ष पर चढ़कर, फिर उस ताड़ से ताड़ के फल को हिलाता है अथवा नीचे गिराता है, तब तक उस पुरुष को कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीर से ताड़ का वृक्ष और ताड़ का फल उत्पन्न हुआ है, उन जीवों को भी कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

९. अहे णं भंते! से तालफले अप्पणो गरुययाए जाव पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेति तएणं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा! जावं च णं से पुरिसे तालफले अप्पणो गरुययाए जाव जीवियाओ ववरोवेति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठा। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो तालफले

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७७३-७७४

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२०

२. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २५९४

निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवतमाणस्स उवग्गहे वट्टंति ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

[९ प्र.] भगवन्! यदि (उस पुरुष के द्वारा ताड़ फल को हिलाते और नीचे गिराते समय), वह ताड़फल अपने भार (वजन) के कारण यावत् (स्वयं) नीचे गिरता है और उस ताड़फल के द्वारा जो जीव, यावत् जीवन से रहित हो जाते हैं, तो उससे उस (फल तोड़ने वाले) पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं?

[९ उ.] गौतम! जब तक वह पुरुष उस फल को तोड़ता है, और वह ताड़फल अपने भार के कारण नीचे गिरता हुआ जीवों को, यावत् जीवन से रहित करता है, तब तक वह पुरुष कायिकी आदि चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जिन जीवों के शरीर से ताड़वृक्ष निष्पन्न हुआ है, वे जीव भी कायिकी आदि चार क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं और जिन जीवों के शरीर से ताड़-फल निष्पन्न हुआ है, वे जीव कायिकी आदि पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं। जो जीव नीचे पड़ते हुए ताड़फल के लिए स्वाभाविक रूप से उपकारक (सहायक) होते हैं, उन जीवों को भी कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

विवेचन—ताड़वृक्ष को हिलाने और उसके फल को गिराने से सम्बन्धित जीवों को लगने वाली क्रियाएँ—(१) जो पुरुष ताड़वृक्ष को हिलाता है, अथवा उसके फल को नीचे गिराता है, वह ताड़फल के जीवों की और ताड़फल के आश्रित जीवों की प्राणातिपातक्रिया करता है और जो प्राणातिपातक्रिया करता है वह कायिकी आदि प्रारम्भ की चार क्रियाएँ अवश्य करता है। इस अपेक्षा से उस पुरुष को कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं। (२) ताड़वृक्ष और ताड़फल निर्वर्तक जीवों को भी पूर्वोक्त पांचों क्रियाएँ लगती हैं, क्योंकि वे स्पर्शादि द्वारा दूसरे जीवों का विघात करते हैं। (३) जब पुरुष ताड़फल को हिलाता है या तोड़ता है, तत्पश्चात् जब वह फल अपने भार से नीचे गिरता है और उसके द्वारा अन्य जीवों की हिंसा होती है, तब उस पुरुष को चार क्रियाएँ लगती हैं, क्योंकि ताड़फल को हिलाने में साक्षात् वधनिमित्त होते हुए भी ताड़फल के गिरने से होने वाले जीवों के वध से साक्षात् निमित्त नहीं है, परम्परानिमित्त है। इसलिए उसे प्राणातिपातिकी के अतिरिक्त शेष चार क्रियाएँ लगती हैं। (४) इसी प्रकार ताड़वृक्ष निष्पादक जीवों को भी चार क्रियाएँ लगती हैं। (५) ताड़फल के निष्पादक जीवों को पांचों क्रियाएँ लगती हैं, क्योंकि वे प्राणातिपात में साक्षात् निमित्त होते हैं। (६) नीचे गिरते हुए ताड़फल के जो जीव उपकारक होते हैं, उन्हें भी पांच क्रियाएँ लगती हैं, क्योंकि प्राणिवध में वे प्रायः निमित्त होते हैं। इस प्रकार फल के आश्रित ६ क्रियास्थान कहे गए हैं।

इन सूत्रों की विशेष व्याख्या पंचम शतक के छठे उद्देशक में उक्त धनुष फैंकने (चलाने) वाले व्यक्ति के प्रकरण से जान लेनी चाहिए।[१]

कठिन शब्दार्थ—तालमारुभइ—ताड़वृक्ष पर चढ़े। **पचालेमाणे**—चलाता (हिलाता) हुआ। **पवाडेमाणे**—नीचे गिराता हुआ। **णिव्वत्तिए**—निष्पन्न (उत्पन्न) हुआ। **गरुयत्ताए**—भारीपन से।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२१

(ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति खण्ड १ (आगम प्र. समिति) श. ५, उ. ६, सू. १० से १२, पृ. ४७०-४७१

ववरोवेइ—घात करता है। **पवाडेइ**—नीचे गिराता है।[१] **वीससाए**—स्वाभाविक रूप से।

वृक्ष के मूल, कन्द आदि को हिलाने आदि से सम्बन्धित जीवों को लगने वाली क्रिया प्ररूपणा

१०. पुरिसे णं भंते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे रुक्खस्स मूलं पचालेति वा पवाडेति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिए जाव बीए निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

[१० प्र.] भगवन्! कोई पुरुष वृक्ष के मूल को हिलाए या नीचे गिराए तो उसको कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१० उ.] गौतम! जब तक वह पुरुष वृक्ष के मूल को हिलाता या नीचे गिराता है, तब तक उस पुरुष को कायिकी से लेकर यावत् प्राणातिपातिकी तक पांचों क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीरों से मूल यावत् बीज निष्पन्न हुए हैं, उन जीवों को भी कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

११. अहे णं भंते ! से मूले अप्पणो गरुययाए जाव जीवियाओ ववरोवेति तओ णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से मूले अप्पणो जाव ववरोवेति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो कंदे निव्वत्तिए जाव बीए निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव चउहिं० पुट्ठा। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे वट्टंति ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

[११ प्र.] भगवन्! यदि वह मूल अपने भारीपन के कारण नीचे गिरे, यावत् जीवों का हनन करे तो (ऐसी स्थिति में) उस मूल को हिलाने वाले और नीचे गिराने वाले पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[११ उ.] गौतम! जब तक मूल अपने भारीपन के कारण नीचे गिरता है, यावत् अन्य जीवों का हनन करता है, तब तक उस पुरुष को कायिकी आदि चार क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीर से वह कन्द निष्पन्न हुआ है यावत् बीज निष्पन्न हुआ है, उन जीवों को कायिकी आदि चार क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीर से मूल निष्पन्न हुआ है, उन जीवों को कायिकी आदि पांच क्रियाएँ लगती हैं। तथा जो जीव नीचे गिरते हुए मूल के स्वाभाविक रूप से उपकारक होते हैं, उन जीवों को भी कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं।

१२. पुरिसे णं भंते! रुक्खस्स कंदं पचालेइ० ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहितो कंदे[२] निव्वत्तितए ते वि णं जीवा जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २५९७

२. पाठान्तर—'........ मूले निव्वत्तिते जाव बीए निव्वत्तिए।

[१२ प्र.] भगवन्! कोई पुरुष वृक्ष के कन्द को हिलाये तो कितनी क्रियाएँ लगती है ?

[१२ उ.] गौतम! जब तक वह पुरुष कन्द को हिलाता है या नीचे गिराता है, तब तक उसे कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीर से कन्द निष्पन्न हुआ है, वे जीव भी कायिकी आदि पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

१३. अहे णं भंते ! से कंदे अप्पणो जाव चउहिं० पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले निव्वत्तिते, खंधे निवत्तिते जाव चउहिं० पुट्ठा। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो कंदे निव्वत्तिते ते वि णं जाव पंचहिं० पुट्ठा। जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स जाव पंचहिं० पुट्ठा।

[१३ प्र.] भगवन्! यदि वह कन्द अपने भारीपन के कारण नीचे गिरे, यावत् जीवों का हनन करे तो उस पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१३ उ.] गौतम! उस पुरुष को कायिकी आदि चार क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीर से मूल, स्कन्ध आदि निष्पन्न हुए हैं, उन जीवों को कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती हैं। जिन जीवों के शरीर से कन्द निष्पन्न हुए हैं, उन जीवों को कायिकी आदि पांचों क्रियाएँ लगती है। जो जीव नीचे गिरते हुए उस कन्द के स्वाभाविकरूप से उपकारक होते हैं, उन जीवों को भी पांच क्रियाएँ लगती हैं।

१४. जहा कंदो एवं जाव बीयं।

[१४] जिस प्रकार कन्द के विषय में आलापक कहा, उसी प्रकार (स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल) यावत् बीज के विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पांचों सूत्रों (सू. १० से १४ तक) में वृक्ष के मूल और कन्द को हिलाते-गिराते समय हिलाने-गिराने वाले पुरुष को, तथा मूल एवं कन्द के जीव, वृक्ष, एवं उपकारक आदि को लगने वाली क्रियाओं का तथा इसी से सम्बन्धित स्कन्ध से बीज तक से सम्बन्धित क्रियाओं का अतिदेशपूर्वक निरूपण किया है।[१]

इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के विषय में पूर्वोक्त छह क्रियास्थानों का निर्देश समझना चाहिए।[२]

शरीर, इन्द्रिय और योग : प्रकार तथा इनके निमित्त से लगने वाली क्रिया

१५. कति णं भंते! सरीरगा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच सरीरगा पन्नत्ता, तं जहा—ओरालिए जाव कम्मए।

[१५ प्र.] भगवन्! शरीर कितने कहे गए हैं ?

[१५ उ.] गौतम! शरीर पांच कहे हैं, यथा—औदारिक यावत् कार्मण शरीर।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. ३, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७७४-७७५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२१

१६. कति णं भंते! इंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया पन्नत्ता, तं जहा—सोतिंदिए जाव फासिंदिए।

[१६ प्र.] भगवन्! इन्द्रियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१६ उ.] गौतम! इन्द्रियाँ पांच कही गई हैं, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय।

१७. कतिविधे णं भंते ! जोए पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविधे जोए पन्नत्ते, तं जहा—मणजोए वइजोए कायजोए।

[१७ प्र.] भगवन्! योग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१७ उ.] गौतम! योग तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

१८. जीवे णं भंते! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

[१८ प्र.] भगवन्! औदारिकशरीर को निष्पन्न करता (बांधता या बनाता) हुआ जीव कितनी क्रिया वाला होता है ?

[१८. उ.] गौतम! (औदारिकशरीर को बनाता हुआ जीव) कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

१९. एवं पुढविकाइए वि।

२०. एवं जाव मणुस्से।

[१९-२०] इसी प्रकार (औदारिकशरीर निष्पन्नकर्त्ता) पृथ्वीकायिक जीव से लेकर मनुष्य तक (को लगने वाली क्रियाओं के विषय में समझना चाहिए)

२१. जीवा णं भंते! ओरालियसरीरं निव्वत्तेमाणा कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि।

[२१ प्र.] भगवन्! औदारिक शरीर को निष्पन्न करते हुए अनेक जीव कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[२१. उ.] गौतम! वे कदाचित् तीन, कदाचित् चार और पांच क्रियाओं वाले भी होते हैं।

२२. एवं पुढविकाइया वि।

२३. एवं जाव मणुस्सा।

[२२-२३] इसी प्रकार (दण्डकक्रम से) अनेक पृथ्वीकायिकों से लेकर अनेक मनुष्यों तक पूर्ववत् कथन करना चाहिए।

२४. एवं वेउव्वियसरीरेण वि दो दंडगा. नवरं जस्स अत्थि वेउव्वियं ।

[२४] इसी प्रकार वैक्रियशरीर (निष्पन्नकर्ता) के विषय में भी एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से दो दण्डक कहने चाहिए। किन्तु उन्हीं के विषय में कहना चाहिए, जिन जीवों के वैक्रिय-शरीर होता है।

२५. एवं जाव कम्मगसरीरं।

[२५] इसी प्रकार (आहारक शरीर, तैजसशरीर) यावत् कार्मणशरीर तक कहना चाहिए।

२६. एवं सोतिंदियं जाव फासिंदियं।

[२६] इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय से (लेकर) यावत् स्पर्शेन्द्रिय तक (के निष्पन्नकर्ता के विषय में) कहना चाहिए।

२७. एवं मणजोगं, वइजोगं, कायजोगं, जस्स जं अत्थि तं भाणियव्वं। एते एगत्ते-पुहत्तेणं छव्वीसं दंडगा।

[२७] इसी प्रकार मनोयोग, वचनयोग और काययोग के (निष्पन्नकर्ता के) विषय में जिसके जो हो, उसके लिए उस विषय में कहना चाहिए। ये सभी मिल कर एकवचन-बहुवचन-सम्बन्धी छव्वीस दण्डक होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों (सू. १५ से २५ तक) में शरीर, इन्द्रिय और योग, इनके प्रकार तथा इनमें से प्रत्येक को निष्पन्न करने वाले जीव को एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है।[१]

षड्विध भावों का अनुयोगद्वार के अतिदेशपूर्वक निरूपण

२८. कतिविधे णं भंते ! भावे पन्नत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे भावे पन्नत्ते, तं जहा—उदइए उवसमिए जाव सन्निवातिए।

[२८ प्र.] भगवन्! भाव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! भाव छह प्रकार के कहे गए हैं यथा—औदयिक, औपशमिक यावत् सान्निपातिक।

२९. से किं तं उदइए भावे ? उदइए भावे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—उदइए य उदयनिप्फन्ने य। एवं एतेणं अभिलावेणं जहा अणुओगद्दारे छन्नामं तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव से त्तं सन्निवातिए भावे।

सेवं भंते ! सेव भंते! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-१ ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त, भा. २ (मूलपाट-टिप्पणयुक्त) पृ. ७७५-७७६

[२९ प्र.] भगवन्! औदयिक भाव किस प्रकार का कहा गया है?

[२९ उ.] गौतम! औदयिक भाव दो प्रकार का कहा गया है। यथा—उदय और उदयनिष्पन्न।

इस प्रकार इस अभिलाप द्वारा अनुयोगद्वार-सूत्रानुसार छह नामों की समग्र वक्तव्यता, यावत्—यह है वह सान्निपातिकभाव (तक) कहनी चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतम स्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—औदयिक आदि छह भाव—भाव छह प्रकार के हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। इनमें औदयिक का स्वरूप इसके भेदों से स्पष्ट है। वे दो भेद यों हैं—उदय और उदयनिष्पन्न। उदय का अर्थ है—आठ कर्मप्रकृतियों का फलप्रदान करना। उदयनिष्पन्न के दो भेद हैं। यथा—जीवोदयनिष्पन्न, और अजीवोदयनिष्पन्न। कर्म के उदय से जीव में होने वाला नारक, तिर्यंच आदि पर्याय जीवोदयनिष्पन्न कहलाते हैं। कर्म के उदय से अजीव में होने वाले पर्याय अजीवोदयनिष्पन्न कहलाते हैं, जैसे कि औदारिकादि शरीर तथा औदारिकादि शरीर में रहे हुए वर्णादि। ये औदारिकशरीरनामकर्म के उदय से पुद्गलद्रव्यरूप अजीव में निष्पन्न होने से 'अजीवोदयनिष्पन्न' कहलाते हैं। बाकी पांच भावों का स्वरूप अनुयोगद्वारसूत्र में उक्त षट्नाम की वक्तव्यता से जान लेना चाहिए।[१]

॥ सत्तरहवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २६०४

देखें—नंदिसुत्तं अणुओगद्दाराइं च (महावीर जैन विद्यालय-प्रकाशित) सू.२२३-५९, पृ. १०८-१६

बीओ उद्देसओ : संजय

द्वितीय उद्देशक : संयत

संयत आदि जीवों के तथा चौवीस दण्डकों के सयुक्तिक धर्म, अधर्म एवं धर्माधर्म में स्थित होने की चर्चा-विचारणा

१. से नूणं भंते ! संयतविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे धम्मे ठिए ? अस्संजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अधम्मे ठिए ? संजयासंजये धम्माधम्मे ठिए ?

हंता, गोयमा ! संजयविरय जाव धम्माधम्मे ठिए।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या संयत, प्राणातिपातादि से विरत, जिसने पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया है, ऐसा जीव धर्म में स्थित है? तथा असंयत, अविरत और पापकर्म का प्रतिघात एवं प्रत्याख्यान नहीं करने वाला जीव अधर्म में स्थित है एवं संयतासंयत जीव धर्माधर्म में स्थित होता है?

[१ उ.] हाँ, गौतम! संयत-विरत जीव धर्म में स्थित होता है, यावत् संयतासंयत जीव धर्माधर्म में स्थित होता है।

२. एयंसि णं भंते ! धम्मंसि वा अहम्मंसि वा धम्माधम्मंसि वा चक्किया केयि आसइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

(२ प्र.) भगवन्! क्या इस धर्म में, अधर्म में अथवा धर्माधर्म में कोई जीव बैठने या लेटने में समर्थ है ?

(२ उ.) गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

३. से केणं खाइं अट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ जाव धम्माधम्मे ठिए ?

गोयमा ! संजतविरत जाव पावकम्मे धम्मे ठिए धम्मं चेव उवसंपज्जित्ताणं विहरति। अस्संयत जाव पावकम्मे अधम्मे ठिए अधम्मं चेव उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। संजयासंजये धम्माधम्मे ठिए धम्माधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरति, से तेणट्ठेणं जाव ठिए।

[३ प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि यावत् धर्माधर्म में ····· समर्थ नहीं है ?

[३ उ.] गौतम! संयत, विरत और पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला जीव धर्म में स्थित होता है और धर्म को ही स्वीकार करके विचरता है। असंयत, यावत् पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं करने वाला जीव अधर्म में ही स्थित होता है और अधर्म को ही स्वीकार करके विचरता है, किन्तु संयतासंयत जीव, धर्माधर्म में स्थित होता है और धर्माधर्म (देश-विरति) को स्वीकार करके विचरता है। इसलिए हे गौतम!

उपर्युक्त रूप से कहा गया है ?

४. जीवा णं भंते ! किं धम्मे ठिया, अधम्मे ठिया धम्माधम्मे ठिया ?

गोयमा ! जीवा धम्मे वि ठिया, अधम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया।

[४ प्र.] भगवन्! क्या जीव धर्म में स्थित होते हैं, अधर्म में स्थित होते हैं और धर्माधर्म में स्थित होते हैं?

[४ उ.] गौतम! जीव, धर्म में भी स्थित होते हैं, अधर्म में भी स्थित होते हैं और धर्माधर्म में भी स्थित होते हैं।

५. नेरतिया णं पुच्छा।

गोयमा ! णेरतिया नो धम्मे ठिया, अधम्मे ठिया, नो धम्माधम्मे ठिया।

[५ प्र.] भगवन्! नैरयिक जीव, क्या धर्म में स्थित होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[५ उ.] नैरयिक न तो धर्म में स्थित हैं और न धर्माधर्म में स्थित होते हैं, किन्तु वे अधर्म में स्थित हैं।

६. एवं जाव चउरिंदियाणं।

[६] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों तक जानना चाहिए।

७. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया नो धम्मे ठिया, अधम्मे ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया।

[७ प्र.] भगवन्! पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव क्या धर्म में स्थित हैं ?......... इत्यादि प्रश्न।

[७ उ.] गौतम! पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव धर्म में स्थित नहीं हैं, वे अधर्म में स्थित हैं, और धर्माधर्म में भी स्थित हैं।

८. मणुस्सा जहा जीवा।

[८] मनुष्यों के विषय में जीवों (सामान्य जीवों) के समान जानना चाहिए।

९. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरइया।

[९] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में नैरयिकों के समान जानना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत नौ सूत्रों (सू. १ से ९ तक) में जीवों के संयत, असंयत एवं संयतासंयत होने की तथा नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के धर्म, अधर्म या धर्माधर्म में स्थित होने की चर्चा-विचारणा की गई है।

धर्म-अधर्म आदि पर बैठना, सोना आदि—धर्म, अधर्म और धर्माधर्म, ये तीनों अमूर्त पदार्थ हैं। सोना, बैठना आदि क्रियाएँ मूर्त्त आसन आदि पर ही हो सकती हैं। इसलिए अमूर्त्त धर्म, अधर्म आदि पर सोना-

बैठना आदि क्रियाएँ अशक्य बताई हैं।[1]

धर्म, अधर्म और धर्माधर्म का विवक्षित अर्थ—धर्म शब्द से यहाँ सर्वविरति चारित्रधर्म, अधर्म शब्द से अविरति और धर्माधर्म शब्द से विरति-अविरति या देशविरति अर्थ विवक्षित है। दूसरे शब्दों में इन्हें संयम, असंयम और संयमासंयम भी[2] कहा जा सकता है।

कठिन शब्दार्थ—**चक्किया**—समर्थ है। **आसइत्तए**—बैठने में। **तुयट्टित्तए**—करवट बदलने या लेटने में या सोने में।[3]

अन्यतीर्थिक मत के निराकरणपूर्वक श्रमणादि में, जीवों में तथा चौवीस दण्डकों में बाल, पण्डित और बाल-पण्डित की प्ररूपणा

१०. अन्नउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति—'एवं खलु समणा पंडिया, समणोवासया बालपंडिया; जस्स णं एगपाणाए वि दंडे अनिक्खित्ते से णं एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया' से कहमेयं भंते! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु समणा पंडिया, समणोवासगा बालपंडिया, जस्स णं एगपाणाए वि दंडे निक्खित्ते से णं नो एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया।

[१० प्र.] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि (हमारे मत में) ऐसा है कि श्रमण पण्डित हैं, श्रमणोपासक बाल पण्डित हैं और जिस मनुष्य ने एक भी प्राणी का दण्ड (वध) अनिक्षिप्त (छोड़ा हुआ नहीं) है, उसे 'एकान्त बाल' कहना चाहिए; तो हे भगवन् ! अन्यतीर्थिकों का यह कथन कैसे यथार्थ हो सकता है?

[१० उ.] गौतम! अन्यतीर्थिकों ने जो यह कहा है कि 'श्रमण पण्डित हैं ·········· यावत् 'एकान्त बाल कहा जा सकता है', उनका यह कथन मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूं, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि श्रमण पण्डित हैं, श्रमणोपासक बाल-पण्डित हैं, परन्तु जिस जीव ने एक भी प्राणी के वध को निक्षिप्त किया (त्यागा) है, उसे 'एकान्त बाल' नहीं कहा जा सकता; (अपितु उसे 'बाल-पण्डित' कहा जा सकता है)।

११. जीवा णं भंते! किं बाला, पंडिया, बालपंडिया ?

गोयमा ! जीवा बाला वि, पंडिया वि, बालपंडिया वि।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२३
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ.२६०७
२. वही भा. ५, पृ. २६०७
३. (क) वही, भा ५, पृ. २६०६
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२३

[११ प्र.] भगवन्! क्या जीव बाल हैं, पण्डित हैं अथवा बाल पण्डित हैं ?

[११ उ.] गौतम! जीव बाल भी हैं, पण्डित भी हैं और बाल-पण्डित भी हैं।

१२. नेरइया णं० पुच्छा।

गोयमा ! नेरइया बाला, नो पंडिया, नो बालपंडिया।

[१२ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक बाल हैं पण्डित हैं अथवा बालपण्डित हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! नैरयिक बाल हैं, वे पण्डित नहीं हैं और न बालपण्डित हैं।

१३. एवं जाव चउरिंदियाणं।

[१३] इसी प्रकार (दण्डकक्रम से) चतुरिन्द्रिय जीवों तक (कहना चाहिए।)

१४. पंचिंदियतिरिक्ख० पुच्छा।

गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया बाला, नो पंडिया, बालपंडिया वि।

[१४ प्र.] भगवन्! क्या पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव बाल हैं ? (इत्यादि पूर्ववत्) प्रश्न।

[१४ उ.] गौतम! पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक बाल हैं और बाल-पण्डित भी हैं, किन्तु पण्डित नहीं हैं।

१५. मणुस्सा जहा जीवा।

[१५] मनुष्य (सामान्य) जीवों के समान हैं।

१६. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरतिया।

[१६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक (इन तीनों का आलापक) नैरयिकों के समान (कहना चाहिए।)

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों (सू. १० से १६ तक) में अन्यतीर्थिकों के मत के निराकरणपूर्वक श्रमणादि में, सामान्य जीवों में तथा नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकों में बाल, पण्डित और बाल-पण्डित की प्ररूपणा की गई है।[१]

अन्यतीर्थिक मत कहां तक यथार्थ-अयथार्थ ?—'श्रमण सर्वविरति चारित्र वाले होने के कारण 'पण्डित' हैं और श्रमणोपासक देशविरति चारित्र वाले होने के कारण बाल-पण्डित हैं, यहाँ तक तो अन्यतीर्थिकों का मत ठीक हैं, किन्तु वे कहते हैं कि सभी जीवों के वध से विरति वाला होते हुए भी जिसने सापराधी आदि या पृथ्वीकायादि में से एक भी जीव का वध खुला रखा है, अर्थात् सब जीवों के वध का त्याग करके भी किसी एक जीव के वध का त्याग नहीं किया है, उसे भी 'एकान्त बाल' कहना चाहिए। श्रमण भगवान् महावीर इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता मिथ्या है। जिस जीव ने आंशिक रूप में

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७७८-७७९

भी प्राणी के वध की विरति की है, उस जीव को 'एकान्तबाल' न कह कर, बालपण्डित कहना चाहिए, क्योंकि वह देशविरत है। जो देशविरत हो, उसे 'एकान्तबाल' कहना यथार्थ नहीं है।[१]

कठिन शब्दार्थ—एगपाणाए—एक प्राणी के। **दंडे**—वध। **अनिक्खित्ते**—अनिक्षिप्त-छोड़ा नहीं है। **आहंसु**—कहा है।[२]

प्राणातिपात आदि में वर्तमान जीव और जीवात्मा की भिन्नता के निराकरणपूर्वक जैन-सिद्धान्तसम्मत जीव और आत्मा की कथंचित् अभिन्नता का प्रतिपादन

१७. अन्नउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति—"एवं खलु पाणाइवाए मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स अन्ने जीवे, अन्ने जीवाया। पाणातिवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे वट्टमाणस्स अन्ने जीवे, अन्ने जीवाया। उप्पत्तियाए जाव पारिणामियाए वट्टमाणस्स अन्ने जीवे, अन्ने जीवाया। उग्गहे ईहा—अवाये धारणाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया। उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमाणस्स जाव जीवाया। नेरइयत्ते तिरिक्खमणुस्स-देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया। नाणावरणिज्जे जाव अंतराइए वट्टमाणस्स जाव जीवाया। एवं कण्हलेस्साए जाव सुक्कलेस्साए, सम्मदिट्ठीए ३।[३] एवं चक्खुदंसणे ४[४], आभिणिबोहियनाणे ५[५], मतिअन्नाणे ३[६], आहारसन्नाए ४।[७] एवं ओरालियसरीरे ५।[८] एवं मणजोए ३।[९] सागारोवयोगे अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स अन्ने जीवे, अन्ने जीवाया" से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—'एवं खलु पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स से चेव जीवे, से चेव जीवाया जाव अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स से चेव जीवे, से चेव जीवाया।'

[१७ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य में प्रवृत्त (वर्त्तते) हुए प्राणी का जीव अन्य है और उस जीव से जीवात्मा अन्य (भिन्न) है। प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह-विरमण में, क्रोधविवेक (क्रोध-त्याग) यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-त्याग

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२३

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ७२३

३. ३ अंक-सूचित पाठ—'**मिच्छद्दिट्ठीए सम्मामिच्छद्दिट्ठीए।**'

४. ४ अंक-सूचित पाठ—'**अचक्खुदंसणे ओहिदंसणे केवलदंसणे**'

५. ५ अंक-सूचित पाठ—'**सुतनाणे ओहिनाणे मणपज्जवनाणे केवलनाणे।**'

६. ३ अंक-सूचित पाठ—'**सुतअन्नाणे विभंगनाणे।**'

७. ४ अंक-सूचित पाठ—'**भयसन्नाए परिग्गहसन्नाए मेहुणसन्नाए।**'

८. ५ अंक-सूचित पाठ—'**वेउव्वियसरीरे आहारगसरीरे तेयगसरीरे कम्मगसरीरे।**'

९. ३ अंक-सूचित पाठ—'**वइजोए कायजोए।**'

में प्रवर्तमान प्राणी का जीव अन्य है और जीवात्मा उससे भिन्न है। औत्पत्तिकी बुद्धि यावत् पारिणामिकी बुद्धि में वर्तमान प्राणी का जीव अन्य है और जीवात्मा उस जीव से भिन्न है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में वर्तमान प्राणी का जीव अन्य है और जीवात्मा उससे भिन्न है। उत्थान यावत् पराक्रम में वर्तमान प्राणी का जीव अन्य है, जीवात्मा उससे भिन्न है। नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देव में वर्तमान प्राणी का जीव अन्य है, जीवात्मा अन्य है। ज्ञानावरणीय से लेकर अन्तराय कर्म में वर्तमान प्राणी का जीव अन्य है, जीवात्मा भिन्न है। इसी प्रकार कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या तक में, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि में, इसी प्रकार चक्षुदर्शन आदि चार दर्शनों में, आभिनिबोधिक आदि पांच ज्ञानों में, मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानों में, आहारसंज्ञादि चार संज्ञाओं में एवं औदारिकशरीरादि पांच शरीरों में तथा मनोयोग आदि तीन योगों में और साकारोपयोग में एवं निराकारोपयोग में वर्तमान प्राणी का जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य है। भगवन् ! उनका यह मन्तव्य किस प्रकार सत्य हो सकता है ?

[१७ उ.] गौतम! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् वे मिथ्या कहते हैं। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ—प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में वर्तमान प्राणी जीव है और वही जीवात्मा है, यावत अनाकारोपयोग में वर्तमान प्राणी जीव है। और वही जीवात्मा है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अन्यतीर्थिकों के मत के—प्राणातिपातादि में वर्तमान जीव और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं, निराकरण-पूर्वक जैन सिद्धान्तसम्मत मत प्रस्तुत किया गया है।

वृत्तिकार ने यहाँ तीन मत जीव और जीवात्मा की पृथक्ता के सम्बन्ध में प्रस्तुत किए हैं—(१) **सांख्यदर्शन का मत**—प्राणातिपातादि में वर्तमान प्राणी से जीव अर्थात् प्राणों को धारण करने वाला 'शरीर' सांख्यदर्शन की भाषा में 'प्रकृति' भिन्न है। जीव यानी शरीर का सम्बन्धी—अधिष्ठाता होने से आत्मा—जीवात्मा, सांख्यदर्शन की भाषा में 'पुरुष' भिन्न है। सांख्यमतानुसार प्रकृति कर्ता है, पुरुष अकर्ता तथा भोक्ता है। उसका कहना है कि प्राणातिपातादि में प्रवृत्त होने वाला शरीर प्रत्यक्ष दृश्यमान है, इसलिए शरीर (प्रकृति) ही कर्ता है, आत्मा (पुरुष) नहीं। (२) **द्वितीयमत—द्वैतवादी दर्शन**—नारकादि पर्याय धारण करके जो जीता है, वह जीव हैं, वही प्राणातिपातादि में प्रवृत्त होता है, किन्तु जीवात्मा नारकादि सब भेदों का अनुगामी जीवद्रव्य है। द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न हैं, दोनों की भिन्नता का तथाविध प्रतिभास घट और पट की तरह होता है। इसलिए जीव और जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। **(३) तीसरा वेदान्त (औपनिषदिक) मत**—जीव (अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य) भिन्न है और जीवात्मा (ब्रह्म) भिन्न है। जीव का ही स्वरूप जीवात्मा है। उनके मतानुसार जीव और ब्रह्म का औपाधिक भेद है। जीव ही प्राणातिपातादि विभिन्न क्रियाएँ करता है, इसलिए वही कर्ता है, किन्तु जीवात्मा (ब्रह्म) अकर्ता है। सभी अवस्थाओं में जीव और जीवात्मा का भेद बताने के लिए ही प्राणातिपातादि क्रियाओं का कथन है।[१]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२४

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २६१२

जैनसिद्धान्त का मन्तव्य—जीव अर्थात्—जीव विशिष्ट शरीर और जीवात्मा (जीव), ये कथंचित् एक हैं, इन दोनों में अत्यन्त भेद नहीं है। अत्यन्त भेद मानने पर देह स्पृष्ट वस्तु का ज्ञान जीव को नहीं हो सकेगा तथा शरीर द्वारा किये हुए कर्मों का वेदन भी आत्मा को नहीं हो सकेगा। दूसरे के द्वारा किये हुए कर्मों का संवेदन दूसरे के द्वारा मानने पर अकृताभ्यागमदोष आएगा तथा अत्यन्त अभेद मानने पर परलोक का अभाव हो जाएगा। इसलिए जीव और आत्मा में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है।[१]

रूपी अरूपी नहीं हो सकता, न अरूपी रूपी हो सकता है

१८. [१] देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महेसक्खे पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू अरूविं विउव्वित्ताणं चिट्ठित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[१८-१ प्र.] भगवन्! क्या महर्द्धिक यावत् महासुख-सम्पन्न देव, पहले रूपी होकर (मूर्तरूप धारण करके) बाद में अरूपी (अमूर्तरूप) की विक्रिया करने में समर्थ है?

[१८-१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—देवे णं जाव नो पभू अरूविं विउव्वित्ताणं चिट्ठित्तिए ?

गोयमा ! अहमेयं जाणामि, अहमेयं पासामि, अहमेयं बुज्झामि, अहमेयं अभिसमन्नागच्छामि—मए एयं नायं, मए एयं दिट्ठं, मए एयं बुद्धं, मए एयं अभिसमन्नागयं जं णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेयगस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पण्णायति, तं जहा—कालत्ते वा जाव सुक्किलत्ते वा, सुब्भिगंधत्ते वा, दुब्भिगंधत्ते वा, तित्तत्ते वा जाव महुरत्ते वा, कक्खडत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव चिट्ठित्तए।

[१८-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं कि देव (पहले रूपी होकर) ········ यावत् अरूपीपन की विक्रिया करने में समर्थ नहीं है?

[१८-२ उ.] गौतम! मैं यह जानता हूँ, मैं यह देखता हूँ, मैं यह निश्चित जानता हूँ, मैं यह सर्वथा जानता हूँ, मैंने यह जाना है, मैंने यह देखा है, मैंने यह निश्चित समझ लिया है और मैंने यह पूरी तरह से जाना है कि तथा प्रकार के सरूपी (रूप वाले), सकर्म (कर्म वाले) सराग, सवेद (वेद वाले), समोह (मोहयुक्त) सलेश्य (लेश्या वाले), सशरीर (शरीर वाले) और उस शरीर से अविमुक्त जीव के विषय में ऐसा सम्प्रज्ञात होता है, यथा—उस शरीरयुक्त जीव में कालापन यावत् श्वेतपन, सुगन्धित्व या दुर्गन्धित्व, कटुत्व यावत् मधुरत्व, कर्कशत्व यावत् रूक्षत्व होता है। इस कारण, हे गौतम ! वह देव पूर्वोक्त प्रकार से यावत् विक्रिया करके रहने में समर्थ नहीं है।

१९. सच्चेव णं भंते ! से जीवे पुव्वामेव अरूवी भवित्ता पभू रूविं विउव्वित्ताणं चिट्ठित्तए ?

णो तिणट्ठे। जाव चिट्ठित्तए ?

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २६१२

गोयमा ! अहमेयं जाणामि, जाव जं णं तहागयस्स जीवस्स अरूविस्स अकम्मस्स अरागस्स अवेदस्स अमोहस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ विप्पमुक्कस्स णो एवं पन्नायति, तं जहा—कालत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा, से तेणट्ठेणं जाव चिट्ठित्त ए।

सेव भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो ॥ १७-२ ॥

[१९ प्र.] भगवन्! क्या वही जीव पहले अरूपी होकर, फिर रूपी आकार की विकुर्वणा करके रहने में समर्थ है ?

[१९ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भंते! क्या कारण है कि वह .... यावत् वैसा करके रहने में समर्थ नहीं है ?

[उ.] गौतम! मैं यह जानता हूँ, यावत् कि तथा-प्रकार के अरूपी, अकर्मी, अरागी, अवेदी, अमोही, अलेश्यी, अशरीरी और उस शरीर से विप्रमुक्त जीव के विषय में ऐसा ज्ञात नहीं होता कि जीव में कालापन यावत् रूक्षपन है। इस कारण, है गौतम ! वह देव पूर्वोक्त प्रकार से विकुर्वणा करने में समर्थ नहीं है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतम स्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. १८-१९) में दो प्रकार के सिद्धान्त को सर्वज्ञ प्रभु महावीर की साक्षी से प्रस्तुत किया गया है—

(१) कोई भी जीव (विशेषतः देव) पहले रूपी होकर फिर विक्रिया से अरूपित्व को प्राप्त करके नहीं रह सकता।

(२) कोई भी जीव (विशेषतः देव) पहले अरूपी होकर बाद में विक्रिया से रूपी आकार बना कर नहीं रह सकता।[१]

रूपी अरूपी क्यों नहीं हो सकता ?—कोई महर्द्धिक देव भी पहले रूपी (मूर्त) होकर फिर अरूपी (अमूर्त) कदापि नहीं हो सकता। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने इसी प्रकार इस तत्व को अपने केवलज्ञानालोक में देखा है। शरीरयुक्त जीव में ही कर्मपुद्गलों के सम्बन्ध से रूपित्व आदि का ज्ञान सामान्यजन को भी होता है। इसलिए रूपी, अरूपी नहीं हो सकता।

अरूपी भी रूपी क्यों नहीं हो सकता ?—कोई भी जीव, भले ही वह महर्द्धिक देव हो, पहले अरूपी (वर्णादिरहित) होकर फिर रूपी (वर्णादियुक्त) नहीं हो सकता, क्योंकि अरूपी जीव कर्मरहित, कायारहित, जन्ममरणरहित, वर्णादिरहित मुक्त (सिद्ध) होता है, और ऐसे मुक्त जीव को फिर से कर्मबन्ध नहीं होता।

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. ३, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ७८०

कर्मबन्ध के अभाव में शरीर की उत्पत्ति न होने से वर्णादि का अभाव होता है। अत: अरूपी होकर जीव फिर रूपी नहीं हो सकता। सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने अपने केवलज्ञानालोक में इस तत्व को इसी प्रकार देखा है।[१]

कठिन शब्दार्थ—**जाणामि**—विशेष रूप से जानता हूँ, **पासामि**—सामान्य रूप से जानता (देखता) हूँ। **बुज्झामि**—सम्यक् प्रकार से अवबोध करता हूँ, सम्यग्दर्शनयुक्त निश्चित ही जानता हूँ। **अभिसमन्नागच्छामि**—समस्त पहलुओं से संगतिपूर्वक सर्वथा जानता हूँ। **पण्णायति**—सामान्य जन द्वारा भी जाना जाता है।[२]

॥ सत्तरहवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२५

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २६१४-२६१५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२५

तइओ उद्देसओ : 'सेलेसी'

तृतीय उद्देशक : शैलेशी (अनगार की निष्कम्पता आदि)

शैलेशी-अवस्थापन्न अनगार में परप्रयोग के विना एजनादिनिषेध

१. सेलेसिं पडिवन्नए णं भंते ! अणगारे सदा समियं एयति वेयति जाव तं तं भावं परिणमति ?

नो इणट्ठे समट्ठे, नऽन्नत्थेगेणं परप्पयोगेणं।

[१ प्र.] भगवन् ! शैलेशी-अवस्था-प्राप्त अनगार क्या सदा निरन्तर कांपता है, विशेषरूप से कांपता है, यावत् उन-उन भावों (परिणमनों) में परिणमता है ?

[१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। सिवाय एक परप्रयोग के (शैलेशी-अवस्था में एजनादि सम्भव नहीं।)

विवेचन—शैलेशी अवस्था और एजनादि—शैलेश अर्थात् पर्वतराज सुमेरु, उसकी तरह निष्कम्प-निश्चल-अडोल अवस्था को शैलेशी-अवस्था कहते हैं। शैलेशी अवस्था में मन, वचन और काया के योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है, इसलिए शैलेशी-अवस्थापन्न अनगार मन-वचन-काया से सर्वथा निष्कम्प रहता है। किन्तु परप्रयोग से अर्थात् कोई शैलेशी-अवस्थापन्न अनगार की काया को कम्पित करे तो कम्पन सम्भव है। कुछ व्याख्याकार इसकी व्याख्या यों करते हैं—"शैलेशी अवस्था में कम्पन होता ही नहीं अर्थात् शैलेशी अवस्था में आत्मा अत्यन्त स्थिर रहती है, कम्पित नहीं होती। उस अवस्था में परप्रयोग नहीं होता और परप्रयोग के बिना कम्पन नहीं होता।" तत्त्वं केवलिगम्यम्।[१]

कठिन शब्दार्थ—समियं : दो अर्थ—(१) सतत—निरन्तर, अथवा (२) सम्यक्गत्-व्यवस्थित या प्रमाणोपेत। **एयति**—एजना करता है, कंपित होता है। **वेयति**—विशेषरूप से कंपित होता है।[२]

एजना के पांच भेद

२. कतिविधा णं भंते ! एयणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा एयणा पन्नत्ता, तं जहा—दव्वेयणा खेत्तेयणा कालेयणा भवेयणा भावेयणा।

---

१. (क) पाइअसद्दमहण्णवो में सेलसी शब्द, पृ. ९३१
(ख) **नन्नत्थेगेणं परप्पओगेणं**—योयंनिषेधः, सोऽन्यत्रैकस्मात् परप्रयोगात्।
एजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैकेन शैलेश्यामेजनादि भवति न कारणान्तरेणेति भावः।

—भगवती. अ. वृ., पत्र ७२६

(ग) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ५, पृ. २६१७

२. (क) 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' में समियं, समिअं शब्द, पृ. ८७१
(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ५, पृ. २६१६

[२ प्र.] भगवन्! एजना कितने प्रकार की कही गई है?

[२ उ.] गौतम! एजना पांच प्रकार की कही गई है। यथा—(१) द्रव्य-एजना, (२) क्षेत्र-एजना, (३) काल-एजना, (४) भव-एजना और (५) भाव-एजना।

विवेचन—एजना : स्वरूप, प्रकार और अर्थ—योगों द्वारा आत्मप्रदेशों का अथवा पुद्गल-द्रव्यों का चलना (कांपना) '**एजना**' कहलाती है। एजना के पांच भेद हैं। **द्रव्य-एजना**—मनुष्यादि जीव-द्रव्यों का, अथवा मनुष्यादि जीव-सम्पृक्त पुद्गल द्रव्यों का कम्पन। **क्षेत्र-एजना**—मनुष्यादि-क्षेत्र में रहे हुए जीवों का कम्पन। **काल-एजना**—मनुष्यादि-काल में रहे हुए जीवों का कम्पन। **भाव-एजना**—औदयिकादि भावों में रहे हुए नारकादि जीवों का, अथवा तद्गत पुद्गल द्रव्यों का कम्पन। **भव-एजना**—मनुष्यादि भव में रहे हुए जीव का कम्पन।[१]

द्रव्यैजनादि पांच एजनाओं की चारों गतियों की दृष्टि से प्ररूपणा

३. दव्वेयणा णं भंते ! कतिविधा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—नेरतियदव्वेयणा तिरिक्खजोणियदव्वेयणा मणुस्सदव्वेयणा देवदव्वेयणा।

[३ प्र.] भगवन्! द्रव्य-एजना कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] गौतम! द्रव्य-अजना चार प्रकार की कही गई है। यथा—नैरयिकद्रव्यैजना, तिर्यग्योनिकद्रव्यैजना, मनुष्यद्रव्यैजना और देवद्रव्यैजना।

४. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति नेरतियदव्वेयणा, नेरइयदव्वेयणा ?

गोयमा ! जं णं नेरतिया नेरतियदव्वे वट्टिंसु वा, वट्टंति वा, वट्टिस्संति वा तेणं तत्थ नेरतिया नेरतियदव्वे वट्टमाणा नेरतियदव्वेयणं एइंसु वा, एयंति वा एइस्संति वा, से तेणट्ठेणं जाव दव्वेयणा।

[४ प्र.] भगवन्! नैरयिकद्रव्य-एजना को नैरयिकद्रव्य-एजना क्यों कहा जाता है ?

[४ उ.] गौतम! क्योंकि नैरयिक, जीव, नैरयिकद्रव्य में वर्तित (वर्तमान) थे, वर्त्तते हैं और वर्त्तेंगे, इस कारण वहाँ नैरयिक जीवों ने, नैरयिकद्रव्य में वर्त्तते हुए, नैरयिकद्रव्य की एजना पहले भी की थी, अब भी करते हैं और भविष्य में भी करेंगे, इसी कारण से वह नैरयिकद्रव्यएजना कहलाती है।

५. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति तिरिक्खजोणियदव्वेयणा० ?

एवं चेव, 'नवरं तिरिक्खजोणियदव्वे' भाणियव्वं। सेसं तं चेव।

[५ प्र.] भगवन्! तिर्यग्योनिकद्रव्य-एजना तिर्यग्योनिकद्रव्य-एजना क्यों कहलाती है ?

[५ उ.] गौतम! पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए। विशेष यह है कि 'नैरयिकद्रव्य' के स्थान पर

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ५, पृ. २६१८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२६

तिर्यग्योनिकद्रव्य कहना चाहिए। शेष सभी कथन पूर्ववत्।

६. एवं जाव देवदव्वेयणा।

[६] इसी प्रकार (मनुष्यद्रव्य-एजना) यावत् देवद्रव्य-एजना के विषय में जानना चाहिए।

७. खेत्तेयणा णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—नेरतियखेत्तेयणा जाव देवखेत्तेयणा ?

[७ प्र.] भगवन्! क्षेत्र-एजना कितने प्रकार की कही गई है ?

[७ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार की कही गई है। यथा—नैरयिकक्षेत्र-एजना यावत् देवक्षेत्र-एजना।

८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—नेरइयखेत्तेयणा, नेरइयखेत्तेयणा ?

एवं चेव नवरं नेरतियखेत्तेयणा भाणितव्वा।

[८ प्र.] भगवन् ! इसे नैरयिकक्षेत्र-एजना क्यों कहा जाता है ?

[८ उ.] गौतम! नैरयिकद्रव्य-एजना के समान सारा कथन करना चाहिए। विशेष यह है कि नैरयिकद्रव्य-एजना के स्थान पर यहाँ नैरयिकक्षेत्र-एजना कहना चाहिए।

९. एवं जाव देवखेत्तेयणा।

[९] इसी प्रकार देवक्षेत्र-एजना तक पूर्ववत् कहना चाहिए।

१०. एवं कालेयणा वि। एवं भवेयणा वि, जाव देवभावेयणा।

[१०] इसी प्रकार काल-एजना, भव-एजना और भाव-एजना के विषय में समझ लेना चाहिए और इसी प्रकार नैरयिककालादि-एजना से लेकर देवभाव-एजना तक जानना चाहिए।

विवेचन—द्रव्यादि एजना : चतुर्विध गतियों की अपेक्षा से—नैरयिकद्रव्य-एजना इसलिए कहते हैं कि नैरयिकजीव नैरयिकशरीर में रहते हुए उस शरीर से एजना (हलचल या कम्पन) करते हैं, की है और भविष्य में करेंगे। इसी प्रकार तिर्यञ्च, मनुष्य और देवसम्बन्धी द्रव्य-एजना भी समझ लेनी चाहिए और इसी प्रकार क्षेत्रादि-एजना के विषय में समझ लेना चाहिए।[१]

कठिन शब्दों का भावार्थ—वट्टिंसु—वर्त्तते थे।[२]

चलना और उसके भेद-प्रभेद-निरूपण

११. कतिविहा णं भंते ! चलणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिविहा चलणा पन्नत्ता, तं जहा—सरीरचलणा इंदियचलणा जोगचलणा।

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ.२६१७

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२६

[११ प्र.] भगवन्! चलना कितने प्रकार की है?

[११ उ.] गौतम! चलना तीन प्रकार की है, यथा—शरीरचलना, इन्द्रियचलना और योगचलना।

१२. सरीरचलणा णं भंते ! कतिविहा पन्नता ?

गोयमा ! पंचविहा पन्नत्ता, तं जहा—ओरालियसरीरचलणा जाव कम्मगसरीरचलणा।

[१२ प्र.] भगवन्! शरीरचलना कितने प्रकार की है ?

[१२ उ.] गौतम! शरीरचलना पांच प्रकार की है, यथा—औदारिकशरीरचलना, यावत् कार्मणशरीरचलना।

१३. इंदियचलणा णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा! पंचविहा पन्नता, तं जहा—सोतिंदियचलणा जाव फासिंदियचलणा।

[१३ प्र.] भगवन्! इन्द्रियचलना कितने प्रकार की कही गई है ?

[१३ उ.] गौतम! इन्द्रियचलना पांच प्रकार की कही गई है, यथा—श्रोत्रेन्द्रियचलना यावत् स्पर्शेन्द्रियचलना।

१४. जोगचलणा णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—मणोजोगचलणा वइजोगचलणा कायजोगचलणा।

[१४ प्र.] भगवन्! योगचलना कितने प्रकार की कही गई है ?

[१४ उ.] गौतम! योगचलना तीन प्रकार की कही गई है, यथा—मनोयोगचलना, वचनयोगचलना और काययोगचलना।

विवेचन—त्रिविध चलना और उसके प्रभेद—सामान्य कम्पन या स्पन्दन को एजना कहते हैं और वही एजना विशेष स्पष्ट हो तो उसे चलना कहते हैं। चलना शरीर, इन्द्रिय और योग से होती है, इसलिए इसके मूलभेद तीन कहे गए हैं, और उत्तरभेद १३ हैं—(पांच शरीर, पांच इन्द्रिय और तीन योग)।[१]

शरीरचलना : स्वरूप—शरीर-औदारिकादिशरीर की चलना, अर्थात्—उसके योग्य पुद्गलों का तद्रूप-परिणमन में जो व्यापार हो, वह शरीरचलना है। इसी प्रकार इन्द्रिय-चलना और योगचलना का भी स्वरूप समझ लेना चाहिए।[२]

शरीरादि चलना के स्वरूप का सयुक्तिक निरूपण

१५. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२७

(ख) भगवती, (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. ६१९

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२७

गोयमा ! जं णं जीवा ओरालियसरीरे वट्टमाणा ओरालियसरीरपायोग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए परिणामेमाणा ओरालियसरीरचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं जाव ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा।

[१५ प्र.] भगवन्! औदारिकशरीर-चलना को औदारिकशरीर-चलना क्यों कहा जाता है ?

[१५ उ.] गौतम! जीवों ने औदारिकशरीर में वर्त्तते हुए, औदारिकशरीर के योग्य द्रव्यों को, औदारिकशरीर रूप में परिणमाते हुए भूतकाल में औदारिकशरीर की चलना की थी, वर्तमान में चलना करते हैं, और भविष्य में चलना करेंगे, इस कारण से हे गोतम ! औदारिकशरीर से सम्बन्धित चलना को औदारिकशरीर-चलना कहा जाता है।

१६. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—वेउव्वियसरीरचलणा, वेउव्वियसरीरचलणा ?

एवं चेव, नवरं वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा।

[१६ प्र.] भगवन्! वैक्रियशरीर-चलना को वैक्रियशरीर-चलना किस कारण कहा जाता है ?

[१६ उ.] पूर्ववत् (औदारिकशरीर-चलना के समान) समग्र कथन करना चाहिए। विशेष यह है—औदारिकशरीर के स्थान पर 'वैक्रियशरीर में वर्तते हुए' कहना चाहिए।

१७. एवं जाव कम्मगसरीरचलणा।

[१७] इसी प्रकार कार्मणशरीर चलना तक कहना चाहिए।

१८. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सोतिंदियचलणा, सोतिंदियचलणा ?

गोयमा ! जं णं जीवा सोतिंदिए वट्टमाणा सोतिंदियपायोग्गाइं दव्वाइं सोतिंदियत्ताए परिणामेमाणा सोतिंदियचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं जाव सोतिंदियचलणा सोतिंदियचलणा।

[१८ प्र.] भगवन्! श्रोत्रेन्द्रिय-चलना को श्रोत्रेन्द्रिय-चलना क्यों कहा जाता है ?

[१८ उ.] गौतम! चूंकि श्रोत्रेन्द्रिय को धारण करते हुए जीवों ने श्रोत्रेन्द्रिय योग्य द्रव्यों को श्रोत्रेन्द्रिय-रूप में परिणमाते हुए श्रोत्रेन्द्रियचलना की थी, वर्तमान में (श्रोत्रेन्द्रिय-चलना) करते हैं और भविष्य में करेंगे, इसी कारण श्रोत्रेन्द्रिय-चलना को श्रोत्रेन्द्रिय-चलना कहा जाता है।

१९. एवं जाव फासिंदियचलणा।

[१९] इसी प्रकार यावत् स्पर्शेन्द्रिय चलना तक जानना चाहिए।

२०. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—मणजोगचलणा, मणजोगचलणा ?

गोयमा! जं णं जीवा मणजोए वट्टमाणा मणजोगप्पायोग्गाइं दव्वाइं मणजोगत्ताए परिणामेमाणा

मणचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं जाव मणजोगचलणा, मणजोगचलणा।

[२० प्र.] भगवन्! मनोयोग-चलना को मनोयोग-चलना क्यों कहा जाता है ?

[२० उ.] गौतम! चूंकि मनोयोग को धारण करते हुए जीवों ने मनोयोग के योग्य द्रव्यों को मनोयोग रूप में परिणमाते हुए मनोयोग की चलना की थी, वर्तमान में मनोयोग-चलना करते हैं और भविष्य में भी चलना करेंगे, इसलिए हे गौतम ! मनोयोग से सम्बन्धित चलना को मनोयोग-चलना कहा जाता है।

२१. एवं वइजोगचलणा वि। एवं कायजोगचलणा वि।

[२१] इसी प्रकार वचनयोग-चलना एवं काययोग-चलना के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

विवेचन-प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. १५ से २१ तक) में औदारिकादि पांच शरीरचलनाओं, श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियचलनाओं एवं मनोयोगादि तीन योगचलनाओं का सहेतुक स्वरूप बताया गया है।[१]

संवेग निर्वेदादि उनचास पदों का अन्तिम फल : सिद्धि

२२. अह भंते! संवेगे निव्वेए गुरु-साधम्मियसुस्सूसणया आलोयणया निंदणया गरहणया खमावणया सुयसहायता विओसमणया, भावे अपडिबद्धया विणिवट्टणया विवित्तसयणासणसेवणया सोतिंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे जोगपच्चक्खाणे सरीरपच्चक्खाणे कसायपच्चक्खाणे संभोग-पच्चक्खाणे उवहिपच्चक्खाणे भत्तपच्चक्खाणे खमा विरागया भावसच्चे जोगसच्चे करणसच्चे मणसमन्नाहरणया वइसमन्नाहरणया कायसमन्नाहरणया कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, णाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्तसंपन्नया वेदणअहियासणया मारणंतियअहियासणया, एए णं भंते! पदा किंपज्जवसाणफला पन्नत्ता समणाउसो! ?

गोयमा ! संवेगे निव्वेए जाव मारणंतियअहियासणया, एए णं सिद्धिपज्जवसाणफला पन्नता समणाउसो!

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ सत्तरसमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो॥ १७-३॥

[२२ प्र.] भगवन्! संवेग, निर्वेद, गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषा, आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना, श्रुत-सहायता, व्युपशमना, भाव में अप्रतिबद्धता, विनिवर्त्तना, विविक्त-शयनासन-सेवनता, श्रोत्रेन्द्रिय-संवर यावत् स्पर्शेन्द्रिय-संवर, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, सम्भोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान, क्षमा, विरागता, भाव-सत्य, योगसत्य, करणसत्य, मन:समन्वाहरण, वचन-समन्वाहरण, काय-समन्वाहरण, क्रोध-विवेक, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक, ज्ञान-सम्पन्नता, दर्शन-सम्पन्नता, चारित्र-सम्पन्नता, वेदना-अध्यासनता और मारणान्तिक-अध्यासनता, इन पदों का अन्तिम फल क्या कहा गया है ?

---

१. विवाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ७८२-७८३

[२२ उ.] हे आयुष्मन् श्रमण गौतम! संवेद, निर्वेद आदि यावत्-मारणान्तिक अध्यासनता, इन सभी पदों का अन्तिम फल सिद्धि (मुक्ति) है।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर (गौतमस्वामी), यावत् विचरते हैं।

विवेचन—संवेगादि धर्मों का अन्तिम फल—प्रस्तुत सूत्र में संवेद आदि ४९ पदों का उल्लेख करके इनके आचरण का अन्तिम फल मोक्ष बताया गया है।

कठिन शब्दार्थ—संवेग—मोक्षाभिलाषा, **निर्वेद**—संसार से विरक्ति, **गुरुसाधर्मिक-शुश्रूषा**—दीक्षादि-प्रदाता आचार्य एवं साधर्मिक साधुवर्ग की शुश्रूषा-सेवा। **आलोचना**—गुरु के समक्ष समस्त दोषों का प्रकाशन करना। **निन्दना**—अपने द्वारा स्वकीय दोषों के लिए पश्चात्ताप, आत्मनिन्दा। **गर्हणा**—दूसरे (बड़ों या संघ) के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना। **क्षमापना**—अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगना। अपने प्रति किये गए अपराधों की दूसरों को क्षमा देना। **व्युपशमनता**—उपशान्तता, दूसरों को क्रोध से निवृत्त करते हुए स्वयं क्रोध का त्याग करना। **श्रुतसहायता**—शास्त्राध्ययन में सहयोग देना। अथवा जिस साधक के लिए श्रुत ही एकमात्र सहायक हो, उसकी श्रुत-सहायता-भावना। **भाव-अप्रतिबद्धता**—हास्यादि भावों के प्रति आसक्ति न रखना। **विनिवर्त्तना**—पापों अथवा असंयमस्थानों से विरति। **विविक्तशय्यासनसेवनता**—स्त्री-पशु-पंडक से असंसक्त शयन आसन—अथवा उपाश्रय का सेवन करना। **श्रोत्रादि इन्द्रिय-संवर**—अपने-अपने विषय में जाती हुई इन्द्रियों को रोकना। **योग-प्रत्याख्यान**—मन-वचन-काया के अशुभ व्यापारों को रोकना। **शरीर-प्रत्याख्यान**—शरीर में आसक्ति का त्याग करना। **कषाय-प्रत्याख्यान**—क्रोधादि का त्याग। **संभोग-प्रत्याख्यान**—एक (पंक्ति) मण्डली में बैठकर साधुओं का भोजनादि व्यवहार करना संभोग है, जिनकल्पादि साधना या उत्कृष्ट प्रतिमा धारणा करके उक्त सम्भोग को त्याग करना। **उपधि-प्रत्याख्यान**—अधिक उपधि का त्याग करना। **भक्त-प्रत्याख्यान**—संलेखना-संथारा करना अथवा उपवासादि करना। **क्षमा**—क्षान्ति। **विरागता**—वीतरागता, रागद्वेषविरतता। **भावसत्य**—शुद्ध अन्तरात्मता रूप पारमार्थिक भावों की यथार्थता। **योगसत्य**—मन-वचन-काया की एकरूपता। **करणसत्य**—प्रतिलेखनादि क्रियाएँ यथार्थ रूप से करना। मन, वचन काया को वश में रखना, क्रमशः **मनःसमन्वाहरण, वचन-समन्वाहरण और काय समन्वाहरण** है। क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक पापों का त्याग करना **क्रोधविवेक** यावत् **मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक** है। **वेदनाध्यासनता**—क्षुधादि वेदना को समभावपूर्वक सहन करना। **मारणान्तिकाध्यासनता**—मारणान्तिक कष्ट आने पर भी सहनशीलता रखना।[१]

॥ सत्तरहवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२७

(ख) विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये—उत्तराध्ययनसूत्र अ. २९ तथा उसकी पाई टीका।

चउत्थो उद्देसओ : 'किरिया'

चतुर्थ उद्देशक : क्रिया (आदि से सम्बन्धित वक्तव्यता)

जीव और चौवीस दण्डकों में प्राणातिपातादि पांच क्रियाओं की प्ररूपणा

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी—

[१] उस काल उस समय में राजगृह नगर में यावत् श्रीगौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

२. अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणातिवाएणं किरिया कज्जति ?

हंता, अत्थि।

[२ प्र.] भगवन्! क्या जीव प्राणातिपातक्रिया करते हैं ?

[२ उ.] हाँ, गौतम! करते हैं।

३. सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति, अपुट्ठा कज्जति ?

गोयमा ! पुट्ठा कज्जति, नो अपुट्ठा कज्जति। एवं जहा पढमसए छट्ठुद्देसए (स. १ उ. ६ सु. ७-११) जाव नो अणाणुपुव्विकडा ति वत्तव्वं सिया।

[३ प्र.] भगवन्! वह (प्राणातिपातक्रिया) स्पृष्ट (आत्मा के द्वारा स्पर्श करके) की जाती है या अस्पृष्ट की जाती है ?

[३ उ.] गौतम! वह स्पृष्ट की जाती है, अस्पृष्ट नहीं की जाती; इत्यादि समग्र वक्तव्यता प्रथम शतक के छठे उद्देशक (सू. ७-११) में कथित वक्तव्यता के अनुसार, 'वह क्रिया अनुक्रम से की जाती है, बिना अनुक्रम के नहीं', (यहाँ तक) कहना चाहिए।

४. एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं जीवाणं एगिंदियाण य निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं, सेसाणं नियमं छद्दिसिं।

[४] इसी प्रकार वैमानिकों तक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि (सामान्य) जीव और एकेन्द्रिय निर्व्याघात की अपेक्षा से, छह दिशा से आए हुए और व्याघात की अपेक्षा से कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार दिशाओं से और कदाचित् पांच दिशाओं से आए हुए कर्म करते हैं। शेष सभी जीव छह दिशा से आए हुए कर्म करते हैं।

५. अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जति ?

हंता, अत्थि।

[५ प्र.] भगवन्! क्या जीव मृषावाद-क्रिया करते हैं ?

[५ उ.] हाँ, गौतम! करते हैं।

६. सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति० ?

जहा पाणातिवाएणं दंडओ एवं मुसावातेण वि।

[६ प्र.] भगवन्! वह क्रिया स्पृष्ट की जाती है या अस्पृष्ट की जाती है ?

[६ उ.] गौतम! प्राणातिपात के दण्डक (आलापक) के समान मृषावाद-क्रिया का भी दण्डक कहना चाहिए।

७. एवं अदिण्णादाणेण वि, मेहुणेण वि, परिग्गहेण वि। एवं एए पंच दंडगा।

[७] इसी प्रकार अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह (की क्रिया) के विषय में भी जान लेना चाहिए। इस प्रकार (ये कुल) पांच दण्डक हुए।

विवेचन—प्राणातिपातादि पांच क्रियाएँ : स्वरूप तथा विश्लेषण—प्रस्तुत प्रकरण में प्रणातिपातादि क्रियाएँ कार्यकरणभावसम्बन्ध की अपेक्षा से कर्म (पापकर्म) अर्थ में हैं। जीव जो भी प्राणातिपातादि क्रिया (कर्म) करते हैं, वह स्पृष्ट अर्थात्—आत्मा का स्पर्श होकर की जाती है, अस्पृष्ट नहीं। अगर आत्मा से अस्पृष्ट ये क्रियाएँ की जाने लगें तो अजीव या मृतप्राणी के द्वारा भी की जाने लगेंगी। सभी जीवों की अपेक्षा नियमत: छह दिशा से की जाती हैं, किन्तु औधिक (सामान्य) जीव दण्डक में और एकेन्द्रिय जीवों में निर्व्याघात की अपेक्षा तो ये क्रियाएँ छहों दिशाओं से की जाती हैं। व्याघात की अपेक्षा से जब एकेन्द्रिय जीव, लोक के अन्त में रहे हुए होते हैं, तब ऊपर और आसपास की दिशाओं में अलोक होने से कर्म वर्गणाओं के आने की सम्भावना नहीं है। इसलिए वे यथासम्भव कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से आए हुए कर्म (उपार्जित) करते हैं। शेष जीव लोक के मध्यभाग में होने से नियमत: छह दिशाओं से आए हुए कर्म उपार्जित करते हैं, क्योंकि लोक के मध्य में व्याघात नहीं होता।

इस प्रकार प्राणातिपात आदि पांच पापकर्मों (क्रियाओं) के स्पृष्ट और अस्पृष्टविषयक पांच दण्डक हैं।[१]

'जाव अणाणुपुव्विकडा' : सूचित पाठ और अर्थ—यहाँ प्रथम शतक, छठे उद्देशक, सू. ७ के अनुसार 'पुट्ठा, कडा, अत्तकडा, आणपुव्विकडा' (अर्थात्—स्पृष्ट, कृत, आत्मकृत, आनुपूर्वीकृत) ये और इससे विपरीत—अस्पृष्ट, अकृत, अनात्मकृत, अनानूपूर्विकृत, ये पद सूचित हैं। तथा प्राणातिपात आदि पांच पापकर्मों के साथ प्रत्येक के पांच-पांच दण्डक सूचित किये गए हैं। इसका आशय यह है कि (१) ये क्रियाएँ जीव स्वयं करते हैं, बिना किये ये नहीं होतीं, (२) ये क्रियाएँ मन-वचन-काया से स्पृष्ट होती हैं, (३) ये क्रियाएँ करने से लगती हैं, बिना किये नहीं लगतीं, फिर भले ही ये क्रियाएँ मिथ्यात्व आदि किसी कारण से की जाती हैं। (४) ये क्रियाएँ स्वयं करने से (आत्मकृत) लगती हैं, ईश्वर, काल आदि दूसरे के करने से नहीं लगतीं।

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ७८४

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) अ. ५, पृ. २६२५

(५) ये क्रियाएँ अनुक्रम पूर्वक कृत होती हैं।[१]

समय, देश और प्रदेश की अपेक्षा से जीव और चौवीस दण्डकों में प्राणातिपातादि क्रिया-प्ररूपणा

८. जं समयं णं भंते ! जीवाणं पाणातिवाएणं किरिया कज्जति सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ?

एवं तहेव जाव वत्तव्वं सिया। जाव वेमाणियाणं।

[८ प्र.] भगवन् ! जिस समय जीव प्राणातिपातिकी क्रिया करते हैं, उस समय वे स्पृष्ट क्रिया करते हैं या अस्पृष्ट क्रिया करते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त प्रकार से—'अनानुपूर्वीकृत नहीं की जाती है,' (यहाँ तक) कहना चाहिए। इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए।

९. एवं जाव परिग्गहेणं। एते वि पंच दंडगा १०।

[९] इसी प्रकार पारिग्रहिकी क्रिया तक कहना चाहिए। ये पूर्ववत् पांच-दण्डक होते हैं॥ ५॥

१०. जं देसं णं भंते ! जीवाणं पाणातिवाएणं किरिया कज्जइ० ?

एवं चेव जाव परिग्गहेणं। एवं एते वि पंच दंडगा १५।

[१० प्र.] भगवन्! जिस देश (क्षेत्रविभाग) में जीव प्राणातिपातिकी क्रिया करते हैं, उस देश में वे स्पृष्ट क्रिया करते हैं या अस्पृष्ट क्रिया करते हैं ?

[१० उ.] गौतम! पूर्ववत् पारिग्रहिकी क्रिया तक जानना चाहिए। इसी प्रकार ये (पूर्ववत्) पांच दण्डक होते हैं॥ १५॥

११. जं पदेसं णं भंते! जीवाणं पाणातिवाएणं किरिया कज्जइ सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ० ?

एवं तहेव दंडओ।

[११ प्र.] भगवन्! जिस प्रदेश में जीव प्राणातिपातिकी क्रिया करते हैं, उस प्रदेश में स्पृष्ट क्रिया करते हैं या अस्पृष्ट क्रिया करते हैं ?

[११ उ.] गौतम! पूर्ववत् दण्डक कहना चाहिए।

१२. एवं जाव परिग्गहेणं। एवं एए वीसं दंडगा।

[१२] इस प्रकार पारिग्रहिकी क्रिया तक जानना चाहिए। यों ये सब मिला कर वीस दण्डक हुए।

---

१. भगवती. (व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र) खण्ड १ (श्री आगम प्र. समिति), पृ. ११०-१११

विवेचन—समय, देश और प्रदेश की अपेक्षा से प्राणातिपातादि क्रिया : व्याख्या—जिस समय से प्राणातिपात से क्रिया (पापकर्म) की जाती है उस समय में, जिस देश अर्थात्—क्षेत्रविभाग में प्राणातिपात से क्रिया की जाती है, उस देश में, तथा जिस प्रदेश—अर्थात् लघुतम क्षेत्रविभाग में प्राणातिपात से क्रिया की जाती है, उस प्रदेश में, यह इन तीनों सूत्रों का आशय है। इसी को व्यक्त करने के लिए यहाँ पाठ है—**'जं समयं' 'जं देसं' 'जं पएसं'**। प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक की पांचों क्रियाओं सम्बन्धी प्रत्येक के पांच-पांच दण्डक होते हैं। यों सब मिलाकर ये २० दण्डक होते हैं।[१]

जीव और चौवीस दण्डकों में दुःख, दुःखवेदन, वेदना, वेदनावेदन का आत्मकृतत्व-निरूपण

१३. जीवाणं भंते ! किं अत्तकडे दुक्खे, परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे ?

गोयमा! अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे दुक्खे, नो तदुभयकडे दुक्खे।

[१३ प्र.] भगवन्! जीवों का दुःख आत्मकृत है, परकृत है, अथवा उभयकृत है ?

[१३ उ.] गौतम! (जीवों का) दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं और न उभयकृत है।

१४. एवं जाव वेमाणियाणं।

[१४] इसी प्रकार (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक जानना चाहिए।

१५. जीवा णं भंते ! किं अत्तकडं दुक्खं वेदेंति, परकडं दुक्खं वेदेंति, तदुभयकडं दुक्खं वेदेंति ?

गोयमा ! अत्तकडं दुक्खं वेदेंति, नो परकडं दुक्खं वेदेंति, नो तदुभयकडं दुक्खं वेदेंति।

[१५ प्र.] भगवन् ! जीव क्या आत्मकृत दुःख वेदते हैं, परकृत दुःख वेदते हैं, या उभयकृत दुःख वेदते हैं ?

[१५ उ.] गौतम! जीव आत्मकृत दुःख वेदते हैं, परकृत दुःख नहीं वेदते और न उभयकृत दुःख वेदते हैं।

१६. एवं जाव वेमाणिया।

[१६] इसी प्रकार (नैरयिक से लेकर) वैमानिक तक समझना चाहिए।

१७. जीवाणं भंते! किं अत्तकडा वेयणा, परकडा वेयडा० ? पुच्छा।

गोयमा ! अत्तकडा वेयणा, णो परकडा वेयणा, णो तदुभयकडा वेदणा।

[१७ प्र.] भगवन्! जीवों को जो वेदना होती है, वह आत्मकृत है, परकृत है अथवा उभयकृत है ?

[१७ उ.] गौतम! जीवों की वेदना आत्मकृत है, परकृत नहीं, और न उभयकृत है।

१८. एवं जाव वेमाणियाणं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२८

[१८] इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए।

१९. जीवा णं भंते! किं अत्तकडं वेदणं वेदेंति, परकडं वेदणं वेदेंति, तदुभयकडं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! जीवा अत्तकडं वेदणं वेदेंति, नो परकडं वेदणं वेदेंति, नो तदुभयकडं वेदणं वेदेंति।

[१९ प्र.] भगवन्! जीव क्या आत्मकृत वेदना वेदते हैं, परकृत वेदना वेदते हैं, अथवा उभयकृत वेदना वेदते हैं?

[१९ उ.] गौतम! जीव आत्मकृत वेदना वेदते हैं, परकृत वेदना नहीं वेदते और न उभयकृत वेदना वेदते हैं।

२०. एवं जाव वेमाणिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो॥ १७-४॥

[२०] इसी प्रकार (नैरयिक से लेकर) वैमानिक तक कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कहकर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—जीवों के दुःख और वेदना से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत में दुःख शब्द से दुःख का अथवा मुख्यतया दुःख के हेतुभूत कर्मों का ग्रहण होता है। दुःख से सम्बन्धित दोनों प्रश्नों का आशय यह है—दुःख के कारणभूत कर्म या कर्म का वेदन (फलभोग) स्वयंकृत होता है या परकृत या उभयकृत ? जैनसिद्धान्त की दृष्टि से इसका उत्तर है—दुःख (कर्म) आत्मकृत है। इसी प्रकार वेदना शब्द से सुख और दुःख दोनों का या सुख-दुःख दोनों के हेतुभूत कर्मों का ग्रहण होता है। क्योंकि साता-असाता वेदना भी कर्मजन्य होती है। इसलिए वह एवं वेदना का वेदन दोनों ही आत्मकृत होते हैं।

इन प्रश्नों से ईश्वर, देवी-देव या किसी परनिमित्त को दुःख देने या एक के बदले दूसरे के द्वारा दुःख भोग लेने अथवा दूसरे द्वारा वेदना देने या वेदना भोग लेने की अन्य धर्मों की भ्रान्त मान्यता का निराकरण भी हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि संसार के समस्त प्राणियों के स्वकर्मजनित दुःख या वेदना है, एवं स्वकृत दुःख आदि का वेदन है।[१]

॥ सत्तरहवाँ शतक : चौथा उद्देशक सम्पूर्ण॥

०००

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२८

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५ पृ. २६२९

(ग) स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥ —सामायिकपाठ ३०

पंचमो उद्देसओ : 'ईसाण'

पंचम उद्देशक : ईशानेन्द्र (की सुधर्मासभा)

ईशानेन्द्र की सुधर्मासभा का स्थानादि की दृष्टि से निरूपण

१. कहि णं भंते! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सभा सुहम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिम० जहा ठाणपए जाव मज्झे ईसाणवडेंसए। से णं ईसाणवडेंसए महाविमाणे अड्ढतेरस जोयणसयसहस्साइं एवं जहा दसमसए (स. १० उ. ६ सु. १) सक्कविमाणवत्तव्वया, सा इह वि ईसाणस्स निरवसेसा भाणियव्वा जाव आयरक्ख त्ति। ठिती सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं। सेसं तं चेव जाव ईसाणे देविंदे देवराया, ईसाणे देविंदे देवराया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥ १७-५ ॥

[१ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान की सुधर्मा सभा कहाँ कही गई है ?

[१ उ.] गौतम! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत के उत्तर में इस रत्नप्रभा पृथ्वी के अत्यन्त सम रमणीय भूभाग से ऊपर चन्द्र और सूर्य का अतिक्रमण करके आगे जाने पर इत्यादि वर्णन ..... यावत् प्रज्ञापना सूत्र के 'स्थान' नामक द्वितीय पद में कथित वक्तव्यता के अनुसार, यावत्—मध्य भाग में ईशानावतंसक विमान है। वह ईशानावतंसक महाविमान साढ़े बारह लाख योजन लम्बा और चौड़ा है, इत्यादि यावत् दशवें शतक (के छठे उद्देशक सू.१) में कथित शक्रेन्द्र के विमान की वक्तव्यता के अनुसार ईशानेन्द्र से सम्बन्धित समग्र वक्तव्यता आत्मरक्षक देवों की वक्तव्यता तक कहना चाहिए।

ईशानेन्द्र की स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् 'यह देवेन्द्र देवराज ईशान है, यह देवेन्द्र देवराज ईशान है' तक जानना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत में ईशानेन्द्र की सुधर्मा सभा का वर्णन प्रज्ञापना के स्थानपद एवं भगवती के दशवें शतक के छठे उद्देशक सू. १ के अतिदेशपूर्वक किया गया है।[1]

॥ सत्तरहवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १, पद २, सू. १९८ पृ. ७१ (श्री महावीर जैन विद्यालय) में देखें।

(ख) देखें—भगवती सूत्र भा. ४ (हिन्दीविवेचन) शतक १० उ. ६, सू. १

छट्ठो उद्देसओ : 'पुढवी'

छट्ठा उद्देशक : पृथ्वीकायिक (-मरणसमुद्घात)

मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक जीवों की उत्पत्ति एवं पुद्गलग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ?

१. [१] पुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए, समोहणिणत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्ताए से णं भंते! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा, पुव्वि वा संपाउणित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ?

गोयमा! पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा, पुव्विं वा संपाउणित्ता पच्छा उववज्जेज्जा।

[१-१ प्र.] भगवन्! जो पृथ्वीकायिक जीव, इस रत्नप्रभापृथ्वी में मरण-समुद्घात करके सौधर्मकल्प में पृथ्वीकायिक रूप से उत्पन्न होने के योग्य हैं, वे पहले उत्पन्न होते हैं और पीछे आहार (पुद्गल) ग्रहण करते हैं, अथवा पहले आहार ग्रहण करते हैं और पीछे उत्पन्न होते हैं ?

[१-१ उ.] गौतम! वे पहले उत्पन्न होते हैं और पीछे पुद्गल ग्रहण करते हैं, अथवा पहले वे पुद्गल ग्रहण करते हैं और पीछे उत्पन्न होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव पच्छा उववज्जेज्जा ?

गोयमा! पुढविकाइयाणं तओ समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए। मारणंतियसमुग्घाएणं समोहण्णमाणे देसेण वा समोहण्णति सव्वेण वा समोहण्णति, देसेणं समोहन्नमाणे पुव्विं संपाउणित्ता पच्छा उववज्जिज्जा, सव्वेणं समोहण्णमाणे पुव्विं उववज्जेत्ता पच्छा संपाउणेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जिज्जा।

[१-२ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहा गया कि वे पहले ········ यावत् पीछे उत्पन्न होते हैं ?

[१-२ उ.] गौतम! पृथ्वीकायिक जीवों में तीन समुद्घात कहे गए हैं, यथा—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात और मारणान्तिकसमुद्घात। जब पृथ्वीकायिक जीव, मारणान्तिकसमुद्घात करता है, तब वह देश से भी समुद्घात करता है और सर्व से भी समुद्घात करता है। जब देश से समुद्घात करता है, तब पहले पुद्गल ग्रहण करता है और पीछे उत्पन्न होता है। जब सर्व से समुद्घात करता है, तब पहले उत्पन्न होता है और पीछे पुद्गल ग्रहण करता है। इस कारण पहले ········ यावत् पीछे उत्पन्न होता है।

२. पुढविकाइए णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव समोहए, समोहन्निता जे भविए ईसाणे

कप्पे पुढवि०।

एवं चेव ईसाणे वि।

[२ प्र.] भगवन्! जो पृथ्वीकायिक जीव, इस रत्नप्रभापृथ्वी में मरण-समुद्घात करके ईशानकल्प में पृथ्वीकायिक रूप में उत्पन्न होने के योग्य हैं, वे पहले .... ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२ उ.] गौतम! पूर्ववत् (सौधर्म के समान) ईशानकल्प में पृथ्वीकायिक रूप में उत्पन्न होने योग्य जीवों के विषय में जानना चाहिए।

३. एवं जाव अच्चुए।

[३] इसी प्रकार यावत् अच्युतकल्प के पृथ्वीकायिक के विषय में समझना चाहिए।

४. गेविज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिपब्भाराए य एवं चेव।

[४] ग्रैवेयकविमान, अनुत्तरविमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

५. पुढविकाइए णं भंते! सक्करप्पभाए पुढवीए समोहते, समोहन्नित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवि०।

एवं जहा रयणप्पभाए पुढविकाइओ उववातिओ एवं सक्करप्पभापुढविकाइओ वि उववाएयव्वो जाव ईसिपब्भाराए।

[५ प्र.] भगवन्! जो पृथ्वीकायिक जीव, शर्कराप्रभापृथ्वी में मरण-समुद्घात करके सौधर्मकल्प में पृथ्वीकायिक रूप में उत्पन्न होने योग्य है, इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् ?

[५ उ.] गौतम! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के पृथ्वीकायिक जीवों का उत्पाद कहा, उसी प्रकार शर्कराप्रभा के पृथ्वीकायिक जीवों का उत्पाद ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक जानना चाहिए।

६. एवं जहा रयणप्पभाए वत्तव्वता भणिया एवं जाव अहेसत्तमाए समोहतो ईसिपब्भाराए उववातेयव्वो। सेसं तं चेव।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ १७-६ ॥

[६] जिस प्रकार रत्नप्रभा के पृथ्वीकायिक जीवों की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में मरण-समुद्घात से समवहत जीव का ईषत्प्रग्भारापृथ्वी तक उत्पाद जानना चाहिए।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—मरण-समुद्घात और पुद्गल-ग्रहण—जब जीव मरण-समुद्घात करके, अपने शरीर

को सर्वथा छोड़कर, गेंद के समान एक साथ सभी आत्मप्रदेशों के साथ उत्पत्ति-स्थान में जाता है, तब पहले उत्पन्न होता है, पीछे पुद्गल ग्रहण करता है (आहार करता) है, किन्तु जब मरण-समुद्घात करके ईलिका गति से उत्पत्ति स्थान में जाता है, तब पहले आहार करता है और पीछे उत्पन्न होता है।[१]

कठिन शब्दार्थ—समोहए-समवहत—जिसने (मारणान्तिक) समुद्घात किया। **उववज्जित्ता**—उत्पाद क्षेत्र में जा कर। **संपाउणेज्ज**—पुद्गल ग्रहण करता है।[२]

॥ सत्तरहवां शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३०

सत्तमो उद्देसओ : 'पुढवी'

सप्तम उद्देशक : पृथ्वीकायिक

सौधर्मकल्पादि में मरणसमुद्घात द्वारा सप्तनरकों में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक जीव की उत्पत्ति और पुद्गलग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ?

१. पुढविकाइए णं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! किं पुव्विं० ?

सेसं तं चेव। जहा रयणप्पभापुढविकाइओ सव्वकप्पेसु जाव ईसिपब्भाराए ताव उववातिओ एवं सोहम्मपुढविकाइओ वि सत्तसु वि पुढवीसु उववातेयव्वो जाव अहेसत्तमाए। एवं जहा सोहम्म पुढविकाइओ सव्वपुढवीसु उववातिओ एवं जाव ईसिपब्भारापुढविकाइयो सव्वपुढवीसु उववातेयव्वो जाव अहेसत्तमाए।

सेवं भंते ! सेवं भंते। ०।

॥ सत्तरसमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो॥१७-७॥

[१ प्र.] भगवन्! जो पृथ्वीकायिक जीव, सौधर्मकल्प में मरण-समुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी में पृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य हैं, वे पहले उत्पन्न होते हैं और पीछे आहार (पुद्गल) ग्रहण करते हैं अथवा पहले आहार (पुद्गल) ग्रहण करते हैं और पीछे उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के पृथ्वीकायिक जीवों का सभी कल्पों में यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में उत्पाद कहा गया, उसी प्रकार सौधर्मकल्प के पृथ्वीकायिक जीवों का सातों नरक-पृथ्वियों में यावत् अध:सप्तमपृथ्वी तक उत्पाद जानना चाहिए।

इसी प्रकार सौधर्मकल्प के पृथ्वीकायिक जीवों के समान सभी कल्पों में, यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के पृथ्वीकायिक जीवों का सभी पृथ्वियों में अध:सप्तमपृथ्वी तक उत्पाद जानना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कहकर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सप्तम उद्देशक में सौधर्मकल्प आदि में मरण-समुद्घात करके रत्नप्रभादि नरकों में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक जीव पहले उत्पन्न होता है फिर आहार-पुद्गल ग्रहण करता है अथवा पहले आहार ग्रहण करता है और फिर उत्पन्न होता है, इसका समाधान पूर्ववत् प्रस्तुत किया गया है।

॥ सत्तरहवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त॥

OOO

अट्ठमो उद्देसओ : 'दग'

अष्टम उद्देशक : (अधस्तन) अप्कायिक सम्बन्धी

रत्नप्रभा में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्पादि में उत्पन्न होने योग्य अप्कायिक जीव की उत्पत्ति और पुद्गल-ग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ?

१. आउकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहते, समोहन्नित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए० ?

एवं जहा पुढविकाइओ तहा आउकाइओ वि सव्वकप्पेसु जाव ईसिपब्भाराए तहेव उववातेयव्वो।

[१ प्र.] भगवन्! जो अप्कायिक जीव, इस रत्नप्रभा पृथ्वी में मरण-समुद्घात करके सौधर्मकल्प में अप्कायिक-रूप में उत्पन्न होने के योग्य हैं....... इत्यादि प्रश्न ?

[१ उ.] गौतम! जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में कहा, उसी प्रकार अप्कायिक जीवों के विषय में सभी कल्पों में यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक (पूर्ववत्) उत्पाद कहना चाहिए।

२. एवं जहा रयणप्पभआउकाइओ उववातिओ तहा जाव अहेसत्तमआउकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिपब्भाराए।

सेवं भंते ! सेव भंते ! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-८॥

[२] रत्नप्रभापृथ्वी के अप्कायिक जीवों के उत्पाद के समान यावत् अध:सप्तमपृथ्वी के अप्कायिक जीवों तक का यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक उत्पाद जानना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कहकर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

नवमो उद्देसओ : 'दग'

नौवाँ उद्देशक : (ऊर्ध्व लोकस्थ) अप्कायिक (वक्तव्यता)

सौधर्मकल्प में मरणसमुद्घात करके सप्त नरकादि में उत्पन्न होने योग्य अप्कायिक जीव की उत्पत्ति और पुद्गलग्रहण में पहले क्या, पीछे क्या ?

१. आउकाइए णं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए, समोहन्नित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयेसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! ० ?

सेसं तं चेव।

[१ प्र.] भगवन्! जो अप्कायिक जीव, सौधर्मकल्प में मरण-समुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी के घनोदधिवलयों में अप्कायिक रूप से उत्पन्न होने के योग्य हैं,............ इत्यादि प्रश्न ?

[१ उ.] गौतम! शेष सभी पूर्ववत्, यावत् अध:सप्तमपृथ्वी तक जानना चाहिए।

२. एवं जाव अहेसत्तमाए।

जहा सोहम्मआउकाइओ एवं जाव ईसिपब्भाराआउकाइओ जाव अहेसत्तमाए उववातेयव्वो।

[२] जिस प्रकार सौधर्मकल्प के अप्कायिक जीवों का नरक-पृथ्वियों में उत्पाद कहा, उसी प्रकार ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक के अप्कायिक जीवों का उत्पाद अध:सप्तम पृथ्वी तक जानना चाहिए।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-९ ॥

भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कहकर, (गौतमस्वामी) विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

दसमो उद्देसओ : 'वाऊ'

दसवाँ उद्देशक : वायुकायिक (वक्तव्यता)

रत्नप्रभा में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में उत्पन्न होने योग्य वायुकायिक जीव पहले उत्पन्न होते हैं या पहले पुद्गल ग्रहण करते हैं ?

१. वाउकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए जाव जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं०?

जहा पुढविकाइओ तहा वाउकाइओ वि, नवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए जाव वेउव्वियसमुग्घाए। मारणंतियसमुग्घाएणं समोहण्णमाणे देसेणं वा समो०। सेसं तं चेव जाव अहेसत्तमाए समोहओ, ईसिपब्भाराए उववातेयव्वो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ सत्तरसमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-१०॥

[१ प्र.] भगवन्! जो वायुकायिक जीव, इस रत्नप्रभापृथ्वी में मरण-समुद्घात करके सौधर्मकल्प में वायुकायिक रूप में उत्पन्न होने के योग्य हैं, इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! पृथ्वीकायिक जीवों के समान वायुकायिक **जीवों का भी कथन** करना चाहिए। विशेषता यह है कि वायुकायिक जीवों में चार समुद्घात कहे गए हैं, यथा—वेदना-समुद्घात यावत् वैक्रियसमुद्घात। वे वायुकायिक जीव मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत हो कर देश से समुद्घात करते हैं, इत्यादि सब पूर्ववत् यावत् अध:सप्तमपृथ्वी में समुद्घात कर.......। वायुकायिक जीवों का उत्पाद ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक जानना चाहिए।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर, (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

एगारसमो उद्देसओ : 'वाऊ'

ग्यारहवाँ उद्देशक : (ऊर्ध्व)-वायुकायिक (वक्तव्यता)

सौधर्मकल्प में मरणसमुद्घात करके सप्त नरकादि पृथ्वियों में उत्पन्न होने योग्य वायुकाय की उत्पत्ति एवं आहारग्रहण में प्रथम क्या ?

१. वाउकाइए णं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए, समोहन्नित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए तणुवाए घणवायवलएसु तणुवायवलएसु वाउकाइयत्ताए उववज्जित्ताए से णं भंते ! ० ?

सेसं तं चेव। एवं सोहम्मवाउकाइओ सत्तसु वि पुढवीसु उववातिओ एवं जाव ईसिपब्भारा-वाउकाइओ अहेसत्तमाए जाव उववायेयव्वो।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ सत्तरसमे सए : एकारसमो उद्देसओ समत्तो ॥ १७-११ ॥

[१ प्र.] भगवन्! जो वायुकायिक जीव, सौधर्मकल्प में समुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी के घनवात, तनुवात, घनवातवलयों और तनुवातवलयों में वायुकायिक रूप में उत्पन्न होने योग्य है........... इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! शेष सब पूर्ववत् कहना चाहिए। जिस प्रकार सौधर्मकल्प के वायुकायिक जीवों का उत्पाद सातों नरकपृथ्वियों में कहा, उसी प्रकार ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक के वायुकायिक जीवों का उत्पाद अधःसप्तमपृथ्वी तक जानना चाहिए।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर; (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : ग्यारहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

बारसमो उद्देसओ : 'एगिंदिय'

बारहवाँ उद्देशक : एकेन्द्रिय जीवों के आहारादि की समता-विषमता

एकेन्द्रिय जीवों में समाहार आदि सप्त-द्वार-प्ररूपण

१. एगिंदिया णं भंते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समसरीरा ?

एवं जहा पढमसए बितियउद्देसए पुढविकाइयाणं वत्तव्वया भणिया (सू. १ उ. २ सु.७) सा चेव एगिंदियाणं इहं भाणियव्वा जाव समाउया समोववन्नगा।

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी एकेन्द्रिय जीव समान आहार वाले हैं, सभी समान शरीर वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक (सू. ७) में जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों की वक्तव्यता कही है, वही यहाँ एकेन्द्रिय जीवों के विषय में कहनी चाहिए; यावत् वे न तो समान आयुष्य वाले हैं और न ही एक साथ उत्पन्न हुए हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक (सू. ५-६-७) में उक्त जीवों के आहार, शरीर, उच्छ्वास-निःश्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया, आयुष्य एवं साथ उत्पन्न होना इत्यादि १० बातों के विषय में समानता-असमानता का प्रश्न उठा कर प्रथम शतक द्वितीय उद्देशक के अतिदेशपूर्वक समाधान किया गया है।[१]

एकेन्द्रियों में लेश्या की, तथा लेश्या एवं ऋद्धि की अपेक्षा से अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा

२. एगिंदियाणं भंते ! कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा।

[२ प्र.] भगवन्! एकेन्द्रिय जीवों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

[२ उ.] गौतम! चार लेश्याएँ कही गई हैं। यथा—कृष्णलेश्या यावत् तेजोलेश्या।

३. एतेसि णं भंते ! एगिंदियाणं कण्हलेस्साणं जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया।

---

१. भगवती. शतक १, उ. २, सू. ५ से ७ तक में देखिये
व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र खण्ड १ (आ. प्र. समिति), पृ. ४४-४६

[३ प्र.] भगवन्! कृष्णलेश्या (से लेकर) यावत् तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय में कौन किससे अल्प (बहुत, अधिक) यावत् विशेषाधिक हैं?

[३ उ.] गौतम! सबसे थोड़े एकेन्द्रिय जीव तेजोलेश्या वाले हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं और उनसे कृष्णलेश्या वाले एकेन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

४. एएसि णं भंते ! एगिंदियाणं कण्हलेस० इड्ढी ?

जहेव दीवकुमाराणं (स. १६ उ. ११ सु. ४)।

सेवं भंते ! सेवं भंते! ०।

॥ सत्तरसमे सए : बारसमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-१२॥

[४ प्र.] भगवन्! इन कृष्णलेश्या वालों से लेकर यावत् तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रियों (तक) में कौन अल्प ऋद्धि वाला है और कौन महाऋद्धि वाला है?

[४ उ.] गौतम! (सोलहवें शतक के ११ वें उद्देशक (सू. ४ में) जिस प्रकार द्वीपकुमारों की ऋद्धि कही गई है, उसी प्रकार यहाँ एकेन्द्रियों में भी कहना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र ३-४ में पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीवों में लेश्या तथा उक्त लेश्याओं वाले एकेन्द्रियों के अल्पबहुत्व आदि की तथा लेश्या की तथा ऋद्धि की समानता-असमानता का प्रतिपादन अतिदेशपूर्वक किया गया है।[१]

॥ सत्तरहवाँ शतक : बारहवाँ उद्देशक समाप्त॥

ooo

१. (क) भगवती. श. १६. उ. १ सू. ४ में देखिये

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ५, पृ. २६४१

तेरसमो उद्देसओ : 'नाग'

तेरहवाँ उद्देशक : नागकुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता)

नागकुमारों में समाहारादि सप्त द्वारों की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा से अल्पबहुत्व-प्ररूपणा

१. नागकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा ?

जहा सोलसमसए दीवकुमारुद्देसए (स. १६ उ. ११ सु. १-४) तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव इड्ढी।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ।

॥ सत्तरसमे सए : तेरसमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-१३ ॥

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी नागकुमार समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! जैसे सोलहवें शतक के (११ वें) द्वीपकुमार उद्देशक में (सूत्र १-४ में) कहा है, उसी प्रकार सब कथन, ऋद्धि तक कहना चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : तेरहवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

चोद्दसमो उद्देसओ : 'सुवण्ण'

चौदहवाँ उद्देशक : सुवर्णकुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता)

सुवर्णकुमारों में समाहारादि सप्त द्वारों की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा से अल्पबहुत्व-की प्ररूपणा

१. सुवण्णकुमारा णं० भंते ! सव्वे समाहारा० ?

एवं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०।

॥ सत्तरसमे सए : चोद्दसमो उद्देसओ समत्तो ॥१७-१४॥

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी सुवर्णकुमार समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! इसकी समस्त वक्तव्यता पूर्ववत् जाननी चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : चौदहवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

पण्णरसमो उद्देसओ : 'विज्जु'

पन्द्रहवाँ उद्देशक : विद्युत्कुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता)

विद्युत्कुमारों में समाहारादि की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

१. विज्जुकुमारा णं० भंते ! सव्वे समाहारा० ?

एवं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०।

॥ सत्तरसमे सए : पण्णरसमो उद्देसओ समत्तो ॥१७-१५ ॥

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी विद्युत्कुमार देव समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! (विद्युत्कुमार-सम्बन्धी सभी वक्तव्यता) पूर्ववत् (समझना चाहिए।)

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : पन्द्रहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

सोलसमो उद्देसओ : 'वायु'

सोलहवाँ उद्देशक : वायुकुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता)

वायुकुमारों में समाहारादि सप्त द्वारों की तथा लेश्या एवं लेश्या की अपेक्षा अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

१. वाउकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा० ?

एवं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०।

॥ सत्तरसमे सए : सोलसमो उद्देसओ समत्तो ॥१७-१६ ॥

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी वायुकुमार समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! पूर्ववत् (समग्र वक्तव्यता समझनी चाहिए।)

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : सोलहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

ООО

सत्तरसमो उद्देसओ : 'अग्गि'

सत्तरहवाँ उद्देशक : अग्निकुमार (सम्बन्धी वक्तव्यता)

अग्निकुमारों में समाहारादि सप्त द्वार तथा लेश्या एवं अल्पबहुत्वादि-प्ररूपणा

१. अग्गिकुमारा णं. भंते ! सव्वे समाहारा ?

एवं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०।

॥ सत्तरसमे सए : सत्तरसमो उद्देसओ समत्तो॥ १७-१७॥

॥ सत्तरसमं सयं समत्तं॥ १७॥

[१ प्र.] भगवन्! क्या सभी अग्निकुमार समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम! पूर्वोक्त प्रकार से सभी कथन समझना चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर (गौतमस्वामी) यावत् विचरते हैं।

॥ सत्तरहवाँ शतक : सत्तरहवाँ उद्देशक समाप्त॥

॥ सत्तरहवां शतक सम्पूर्ण॥

OOO

अट्ठारसमं सयं : अठारहवाँ शतक

प्राथमिक

- व्याख्याप्रज्ञप्ति का यह अठारहवाँ शतक है। इसमें दश उद्देशक हैं।
- **प्रथम उद्देशक** का नाम **'प्रथम'** है। इसमें १४ द्वारों की अपेक्षा से प्रथम-अप्रथम तथा चरम अचरम का निरूपण किया गया है। यह उद्देशक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जीव को जो भाव पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु पहली बार वह प्राप्त करता है, उसे प्रथम और जो भाव पहले भी प्राप्त हुआ है, वह अप्रथम कहलाता है। इसी प्रकार जिसका कभी अन्त होता है वह 'चरम' और जिसका कभी अन्त नहीं होता, वह 'अचरम' है।
- **दूसरे उद्देशक** का नाम **'विशाख'** है। इसमें भगवान् महावीर की सेवा में विशाखानगरी में उपस्थित देवेन्द्र शक्र के द्वारा सदलबल नाटक प्रदर्शित करने का वर्णन है। तत्पश्चात् शक्रेन्द्र के पूर्वभव का वृत्तान्त कार्तिक सेठ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शक्रेन्द्र के पूर्वभव के वृत्तान्त से यह स्पष्ट प्रेरणा भी मिलती है कि पूर्वजन्म में निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर निरतिचार महाव्रतादि का पालन करने से ही इतनी उच्च स्थिति आगामी भव में प्राप्त होती है।
- **तीसरे उद्देशक** में माकन्दिकपुत्र अनगार द्वारा भगवान् से किये गए निम्नोक्त प्रश्नों का यथोचित समाधान अंकित किया गया है—(१) कृष्ण-नील-कापोतलेश्यी पृथ्वी अप्-वनस्पतिकायिक जीव मर कर अन्तररहित मनुष्यभव से केवली होकर सिद्ध हो सकता है या नहीं ? (२) सर्वकर्मों का वेदन—निर्जरण करते तथा समस्त मरण से मरते हुए आदि विशेषण युक्त भावितात्मा अनगार के चरम निर्जरा के सूक्ष्म पुद्गल क्या समग्र लोक का अवगाहन करके रहे हुए हैं? (३) उन चरमनिर्जरा-पुद्गलों को छद्मस्थ, मनुष्य या देव आदि जान सकते हैं या नहीं? (४) बन्ध के प्रकार तथा भेदाभेद तथा आठों कर्मों के भाव बन्ध-सम्बन्धी प्रश्न हैं। (५) जीव के भूतकालीन तथा भविष्यत् कालीन पाप कर्म में कुछ भेद है या नहीं ? है तो किस कारण से? (६) आहार रूप से ग्रहीत पुद्गलों में से नैरयिक कितना भाग ग्रहण करता है, कितना त्यागता है ? तथा उन त्यागे हुए पुद्गलों पर कोई बैठ, उठ या सो सकता है?
- **चौथे उद्देशक** में 'प्राणातिपात' सम्बन्धी कुछ प्रश्न हैं, जिनका समाधान किया गया है—(१) प्राणातिपात आदि ४८ जीव-अजीवरूप द्रव्यों में से कितने परिभोग्य हैं, कितने अपरिभोग्य ? (२) कषाय और उनसे आठों कर्मों की निर्जरा कैसे होती है ? (३) चार प्रकार के युग्म तथा उनकी परिभाषा क्या है ? नैरयिकादि में किन में कौन-सा युग्म है ? (४) अन्धकवह्नि जीव जितने अल्पायु हैं, क्या उतने ही दीर्घायु हैं ?
- **पंचम** 'असुर' उद्देशक में चतुर्विध देवनिकायों में से एक ही निकाय के एक आवास में उत्पन्न दो देवों की सुन्दरता आदि में तथा एक ही नरकावास में उत्पन्न दो नारकों की वेदना में तारतम्य का कारण बताया गया

है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि जो प्राणी जिस गति-योनि में उत्पन्न होने वाला है, वह उसके आयुष्य का उदयाभिमुख कर लेता है, वेदन तो वह उसी गति-योनि का करता है, जहाँ वह अभी है। उसके बाद एक ही आवास में उत्पन्न दो देवों में से एक स्वेच्छानुकूल विकुर्वणा करता और दूसरा स्वेच्छाप्रतिकूल, इसका कारण बताया गया।

- **छठे उद्देशक 'गुल'** में—गुड़ आदि प्रत्येक वस्तु के वर्णादि का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् परमाणु से लेकर सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक में पाए जाने वाले वर्ण गन्धादि विषयक विकल्पों की प्ररूपणा है।
- **सप्तम उद्देशक 'केवली'** में सर्वप्रथम अन्यतीर्थिकों की केवली-सम्बन्धी विपरीत मान्यता का निराकरण किया गया है। तत्पश्चात् उपधि और परिग्रह के प्रकार तथा किस जीव में कितनी उपधि या परिग्रह पाया जाता है, इसका निरूपण है। फिर नैरयिकों से वैमानिकों तक में प्रणिधानत्रय की प्ररूपणा है। उसके पश्चात् मद्रुक श्रावक द्वारा अन्यतीर्थिकों के पंचास्तिकाय विषयक समाधान तथा श्रावक व्रत ग्रहण करने का प्रतिपादन है। फिर वैक्रियकृत शरीर का सम्बन्ध एक जीव से है या अनेक जीवों से, तथा कोई उन शरीरों के अन्तराल के छेदन-भेदनादि द्वारा पीडा पहुँचा सकता है? देवासुरसंग्राम में दोनों किन शस्त्रों का प्रयोग करते हैं ? महर्द्धिक देव लवणसमुद्र धातकीखण्ड आदि के चारों ओर चक्कर लगाकर वापिस शीघ्र आ सकते हैं ? इत्यादि प्रश्न हैं। उसके बाद देवों के कर्मांशों को क्षय का कालमान दिया गया है।
- **आठवें उद्देशक 'अनगार'** में भावितात्मा अनगार को साम्परायिक क्रिया क्यों नहीं लगती, इसका समाधान है। फिर अन्यतीर्थिकों के इस आक्षेप का—'तुम असंयत, अविरत यावत् एकान्त बाल हो', का गौतम स्वामी द्वारा निराकरण किया गया है। तत्पश्चात् छद्मस्थ मनुष्य द्वारा तथा अवधिज्ञानी, परम अवधिज्ञानी एवं केवलज्ञानी द्वारा परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को जानने-देखने की शक्ति का वर्णन किया गया है।
- **नौवें उद्देशक 'भविए'** में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के भव्यद्रव्यत्व का निरूपण किया गया है। भव्यद्रव्य नैरयिकादि की स्थिति का कालमान भी बताया गया है।
- **दसवें उद्देशक 'सोमिल'** में सर्वप्रथम भावितात्मा अनगार की वैक्रियलब्धि के सामर्थ्य सम्बन्धी १० प्रश्न हैं। तत्पश्चात् परमाणु पुद्गलादि क्या वायुकाय से स्पृष्ट हैं या वायुकाय परमाणु पुद्गलादि से स्पृष्ट है? क्या नरकादि के नीचे वर्णादि अन्योन्यबद्ध आदि हैं? इसके पश्चात् सोमिल द्वारा यात्रा, यापनीय अव्यावाध और प्रासुकविहार सम्बन्धी पूछे गए प्रश्नों तथा सरिसव, मास, कुलत्था के भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी एवं एक-अनेकादि प्रश्नों का समाधान है। तत्पश्चात् सोमिल के प्रबुद्ध होने तथा श्रावकव्रत अंगीकार करने का वर्णन है।

OOO

अट्ठारसमं सयं : अठारहवाँ शतक

अठारहवें शतक के उद्देशकों का नाम-निरूपण

१. पढमा १ विसाह २ मायंदिए य ३ पाणातिवाय ४ असुरे य ५।

गुल ६ केवलि ७ अणगारे ८ भविए ९ तह सोमिलट्ठारसे १०॥ १॥

[१] अठारहवें शतक में दस उद्देशक हैं। यथा—(१) प्रथम, (२) विशाखा, (३) माकन्दिक, (४) प्राणातिपात, (५) असुर, (६) गुड़, (७) केवली, (८) अनगार, (९) भाविक तथा (१०) सोमिल।

विवेचन—दस उद्देशकों में प्रतिपाद्य विषय—

(१) **प्रथम उद्देशक** में जीवादि के विषय में विविध पहलुओं से प्रथम-अप्रथम आदि का निरूपण है।

(२) **द्वितीय उद्देशक** में विशाखा नगरी में भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित कार्तिक सेठ के पूर्वभव के रूप में शक्रेन्द्र का वर्णन है।

(३) **तीसरा उद्देशक** माकन्दीपुत्र अनगार की पृच्छारूप है।

(४) **चौथा उद्देशक** प्राणातिपात आदि पाप और उनसे निवृत्ति के विषय में है।

(५) **पाँचवें उद्देशक** में असुरकुमार देव सम्बन्धी वक्तव्यता है।

(६) **छठे उद्देशक** में निश्चय-व्यवहार से गुड़ आदि के वर्णादि का प्रतिपादन है।

(७) **सातवें उद्देशक** में केवली आदि से सम्बन्धित विविध विषयों का प्रतिपादन है।

(८) **आठवें उद्देशक** में अनगार से सम्बन्धित अन्यतीर्थिकों के आक्षेपों का निराकरण है।

(९) **नौवें उद्देशक** में भव्य-द्रव्यनैरयिक आदि के विषय में चर्चा है।

(१०) **दसवें उद्देशक** में सोमिल ब्राह्मण के प्रश्नों का समाधान है।

इस प्रकार अठारहवें शतक के अन्तर्गत दश उद्देशक हैं।

पढमो उद्देसओ : 'पढमा'

प्रथम उद्देशक : 'प्रथम-अप्रथम'

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्ध में जीवत्व-सिद्धत्व की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव एवं वयासी—[१]

[२] उस काल और उस समय में राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

३. जीवे णं भंते ! जीवभावेणं किं पढमे, अपढमे ?

गोयमा! नो पढमे, अपढमे।

(३ प्र.) भगवन्! जीव, जीवभाव से प्रथम है, अथवा अप्रथम है ?

(३ उ.) गौतम ! (जीव, जीवभाव की अपेक्षा से) प्रथम नहीं, अप्रथम है।

४. एवं नेरइए जाव वेमाणिए।

[४] इस प्रकार नैरयिक से लेकर वैमानिक तक जानना चाहिए।

५. सिद्धे णं भंते ! सिद्धाभावेणं किं पढमे, अपढमे ?

गोयमा! पढमे, नो अपढमे।

[५ प्र.] भगवन्! सिद्ध-जीव, सिद्धभाव की अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम है ?

[५ उ.] गौतम! (सिद्धजीव, सिद्धत्व की अपेक्षा से) प्रथम है, अप्रथम नहीं है।

६. जीवा णं भंते ! जीवभावेणं किं पढमा, अपढमा ?

गोयमा! नो पढमा, अपढमा।

[६ प्र.] भगवन्! अनेक जीव, जीवत्व की अपेक्षा से प्रथम हैं अथवा अप्रथम हैं ?

---

१. प्रस्तुत उद्देशक के प्रारम्भ में उद्देशक के द्वारों से सम्बन्धित निम्नोक्त गाथा अभयदेववृत्ति आदि में अंकित है—

जीवाहारग-भव-सण्णि-लेसा-दिट्ठी य संजय कसाए।
णाणे जोगुवओगे वेए य सरीर-पज्जत्ती॥

अर्थात्—प्रस्तुत उद्देशक में चौदह द्वार हैं—(१) जीवद्वार, (२) आहारकद्वार, (३) भवीद्वार, (४) संज्ञीद्वार, (५) लेश्याद्वार, (६) दृष्टिद्वार, (७) संयतद्वार, (८) कषायद्वार, (९) ज्ञानद्वार, (१०) योगद्वार, (११) उपयोगद्वार, (१२) वेदद्वार, (१३) शरीरद्वार, (१४) पर्याप्तिद्वार।

[६ उ.] गौतम! (अनेक जीव, जीवत्व की अपेक्षा से) प्रथम नहीं, अप्रथम हैं।

७. एवं जाव वेमाणिया।

[७] इस प्रकार नैरयिक (से लेकर) अनेक वैमानिकों तक (जानना चाहिए)।

८. सिद्धा णं० पुच्छा।

गोयमा ! पढमा, नो अपढमा।

[८ प्र.] भगवन्! सभी सिद्ध जीव, सिद्धत्व की अपेक्षा से प्रथम हैं या अप्रथम हैं ?

[८ उ.] गौतम! वे सिद्धत्व की अपेक्षा से प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।

विवेचन—(१) जीवद्वार—प्रस्तुत ७ सूत्रों (सू.२ से ८ तक) में जीवद्वार में एक जीव, चौवीस दण्डकवर्ती जीव, अनेक जीव, एक सिद्ध जीव और अनेक सिद्ध जीवों के विषय में प्रथम-अप्रथम की चर्चा की गई है।

प्रथमत्व-अप्रथमत्व का स्पष्टीकरण—प्रथमत्व और अप्रथमत्व की प्रतिपादक गाथा इस प्रकार है—

''जो जेण पत्तपुव्वो भावो, सो तेण अपढमो होइ।
सेसेसु होइ पढमो, अपत्तपुव्वेसु भावेसु॥''

अर्थात्—जिस जीव ने जो भाव पहले भी प्राप्त किया है, उसकी अपेक्षा से वह भाव 'अप्रथम' है। जैसे—जीव को जीवत्व (जीवपन) अनादिकाल से प्राप्त होने के कारण जीवत्व की अपेक्षा से जीव अप्रथम है, प्रथम नहीं, किन्तु जो भाव जीव को पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है उसे प्राप्त करना, उस भाव की अपेक्षा से 'प्रथम' है। जैसे—सिद्धत्व अनेक या एक सिद्ध की अपेक्षा से प्रथम है, क्योंकि वह (सिद्धभाव) जीव को पहले कदापि प्राप्त नहीं हुआ था। द्वितीय प्रश्न का आशय यह है कि जीवत्व पहले नहीं था, और प्रथम यानी पहले-पहल प्राप्त हुआ है, अथवा जीवत्व अप्रथम है, अर्थात्—अनादिकाल से अवस्थित है ?[१]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में आहारकत्व-अनाहारकत्व की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व का निरूपण

९. आहारए णं भंते ! जीवे आहारभावेणं किं पढमे, अपढमे ?

गोयमा ! नो पढमे, अपढमे।

[९ प्र.] भगवन्! आहारकजीव, आहारकभाव से प्रथम है अथवा अप्रथम है ?

[९ उ.] गौतम! वह आहारकभाव की अपेक्षा से प्रथम नहीं, अप्रथम है।

१०. एवं जाव वेमाणिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३३

[१०] इसी प्रकार नैरयिक से लेकर वैमानिक तक जानना चाहिए।

११. पोहत्तिए एवं चेव।

[११] बहुवचन में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

१२. अणाहारए णं भंते ! जीवे अणाहारभावेणं० पुच्छा।

गोयमा ! सिय पढमे, सिय अपढमे।

[१२ प्र.] भगवन्! अनाहारक जीव, अनाहारकभाव की अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम है ?

[१२ उ.] गौतम! (अनाहारकजीव, अनाहारकत्व की अपेक्षा से) कदाचित् प्रथम होता है, कदाचित् अप्रथम होता है।

१३. नेरतिए णं भंते !० ?

एवं नेरतिए जाव वेमाणिए नो पढमे, अपढमे।

[१३. प्र.] भगवन्! नैरयिक जीव, अनाहारकभाव से प्रथम है या अप्रथम है ?

[१३. उ.] गौतम! वह प्रथम नहीं, अप्रथम है। इसी प्रकार नैरयिक से लेकर वैमानिक तक (अनाहारकभाव की अपेक्षा से) प्रथम नहीं, अप्रथम जानना चाहिए।

१४. सिद्धे पढमे, नो अपढमे।

[१४] सिद्धजीव, अनाहारकभाव की अपेक्षा से प्रथम है, अप्रथम नहीं है।

१५. अणाहारगा णं भंते ! जीवा अणाहारभावेणं० पुच्छा।

गोयमा ! पढमा वि, अपढमा वि।

[१५ प्र.] भगवन्! अनेक अनाहारकजीव, अनाहारकभाव की अपेक्षा से प्रथम हैं या अप्रथम हैं ?

[१५ उ.] गौतम! वे प्रथम भी हैं और अप्रथम भी हैं।

१६. नेरतिया जाव वेमाणिया णो पढमा, अपढमा।

[१६] इसी प्रकार अनेक नैरयिकजीवों से लेकर अनेक वैमानिकों तक (अनाहारकभाव की अपेक्षा से) प्रथम नहीं, अप्रथम हैं।

१७. सिद्धा पढमा, नो अपढमा। एक्केक्के पुच्छा भाणियव्वा।

[१७] सभी सिद्ध (अनाहारकभाव की अपेक्षा से) प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक दण्डक के विषय में इसी प्रकार पृच्छा (करके समाधान) कहना चाहिए।

विवेचन—(२) आहारकद्वार—प्रस्तुत नौ सूत्रों (९ से १७ तक) में आहारक एवं आनाहारकभाव की अपेक्षा से शंका-समाधान प्रस्तुत किया गया है।

आहारक-अनाहारकभाव की अपेक्षा का आशय—सभी सिद्धजीव सदैव अनाहारक रहते हैं, इसलिए उनके विषय में आहारकभाव की अपेक्षा से एकवचन-बहुवचन-परक प्रश्न नहीं किया गया है। संसारी जीव विग्रहगति में अनाहारक रहते हैं, शेष समय में आहारक। इसलिए एक या अनेक आहारकजीव या संसारी सभी जीव आहारकभाव की अपेक्षा से प्रथम नहीं हैं, क्योंकि अनादिभवों में अनन्त वार उन्होंने आहारकभाव प्राप्त किया है। संसारी जीव विग्रहगति में ही अनाहारक होता है, इसलिए जब एक या अनेक संसारी जीव विग्रहगति में होते हैं, तब वह अप्रथम होते हैं। क्योंकि उन्हें विग्रहगति में अनाहारकपन पहले अनन्त बार प्राप्त हो चुका है। किन्तु जब एक या अनेक संसारी जीव सिद्ध होते हैं, तब अनाहारकभाव की अपेक्षा से उन्हें अनाहारकत्व पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था, इसलिए उन्हें प्रथम कहा गया है। १२ वें सूत्र में इसी दृष्टि से कहा गया है '**सिय पढमे, सिय अपढमे।**' किन्तु नैरयिक से वैमानिक तक के जीव विग्रहगति में अनन्त बार अनाहारकत्व प्राप्त कर चुके हैं, इस अपेक्षा से उन्हें अप्रथम कहा गया है। किन्तु एक या अनेक सिद्धजीव अनाहारकभाव की अपेक्षा से प्रथम होते हैं, क्योंकि उन्हें पहले कभी अनाहारकत्व प्राप्त नहीं हुआ था।[१]

भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक तथा नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक के विषय में भवसिद्धिकत्वादि दृष्टि से प्रथम-अप्रथम प्ररूपण

१८. भवसिद्धीए एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए (सु. ९-११)।

[१८] भवसिद्धिक जीव (भवसिद्धिकपन की अपेक्षा से) एकत्व-अनेकत्व दोनों प्रकार से (सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान प्रथम नहीं, अप्रथम है, इत्यादि कथन करना चाहिए।

१९. एवं अभवसिद्धीए वि।

[१९] इसी प्रकार अभवसिद्धिक एक या अनेक जीव के विषय में भी जान लेना चाहिए।

२०. नोभवसिद्धीए-नोअभवसिद्धीए णं भंते! जीवे नोभव० पुच्छा।

गोयमा ! पढमे, नो अपढमे।

[२० प्र.] भगवन्! नो-भवसिद्धिक-नो-अभवसिद्धिक जीव नोभवसिद्धिक-नो-अभवसिद्धिकभाव की अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम है ?

[२० उ.] गौतम! वह प्रथम है, अप्रथम नहीं है।

२१. नोभवसिद्धीय-नोअभवसिद्धीये णं भंते ! सिद्धे नोभव० ?

एवं चेव।

[२१ प्र.] भगवन्! नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक सिद्धजीव नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिकभाव की

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३४

अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम है ?

[२१ उ.] पूर्ववत् समझना चाहिए।

२२. एवं पुहत्तेण वि दोण्ह वि।

[२२] इसी प्रकार (जीव और सिद्ध) दोनों के बहुवचन-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर भी समझ लेने चाहिए।

विवेचन—(३) भवसिद्धिकद्वार—इसमें ५ सूत्रों (सू. १८ से २२ तक) में एक या अनेक भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक जीव तथा एक-अनेक नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव और सिद्ध के विषय में क्रमशः भवसिद्धिकभाव अभवसिद्धिकभाव तथा नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिकभाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व की चर्चा की गई है।

परिभाषा—भवसिद्धिक का अर्थ है—भवान्त (संसार का अन्त) करके सिद्धत्व प्राप्त करने के स्वभाव वाला, भव्यजीव। अभवसिद्धिक का अर्थ है—अभव्य जो कदापि संसार का अन्त करके सिद्धत्व प्राप्त नहीं करेगा। नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक का अर्थ है—जो न तो भव्य रहे हैं, न अभव्य, अर्थात् जो सिद्धत्व प्राप्त कर चुके हैं—सिद्ध जीव।

भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक अप्रथम क्यों ?—भवसिद्धिक का भव्यत्व और अभवसिद्धिक का अभव्यत्व अनादिसिद्ध पारिणामिक भाव है, इसलिए दोनों क्रमशः भव्यत्व व अभव्यत्व की अपेक्षा से प्रथम नहीं, अप्रथम हैं।

दो सूत्र क्यों ?—जब नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक से सिद्ध जीव का ही कथन है, तब एक ही सूत्र से काम चल जाता, दो सूत्रों में उल्लेख क्यों ? वृत्तिकार इसका समाधान करते हैं कि यहाँ पहला सूत्र केवल समुच्चय जीव की अपेक्षा से है, नारकादि की अपेक्षा से नहीं, और दूसरा सूत्र **सिद्ध की** अपेक्षा से। इसलिए दोनों पृच्छा-सूत्रों के उत्तर के रूप में इनको प्रथम बताया गया है।[१]

जीव, चौवीस दण्डक एवं सिद्धों में संज्ञी-असंज्ञी-नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

२३. सण्णी णं भंते! जीवे सण्णिभावेणं किं० पुच्छा।

गोयमा ! नो पढमे, अपढमे।

[२३ प्र.] भगवन्! संज्ञीजीव, संज्ञीभाव की अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम ?

[२३ उ.] गौतम! (वह) प्रथम नहीं, अप्रथम है।

२४. एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए।

---

१. भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्र ७३४

[२४] इसी प्रकार विकलेन्द्रिय (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) को छोड़ कर वैमानिक तक जानना चाहिए।

२५. एवं पुहत्तेण वि।

[२५] इनकी बहुवचन-सम्बन्धी वक्तव्यता भी इसी प्रकार जान लेनी चाहिए।

२६. असण्णी एवं चेव एगत्त-पुहत्तेणं, नवरं जाव वाणमंतरा।

[२६] असंज्ञीजीवों की एकवचन-बहुवचन-सम्बन्धी (वक्तव्यता भी इसी प्रकार समझनी चाहिए)। विशेष इतना है कि यह कथन वाणव्यन्तरों तक ही (जानना चाहिए)।

२७. नोसण्णी नोअसण्णी जीवे मणुस्से सिद्धे पढमे, नो अपढमे।

[२७] नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव, मनुष्य और सिद्ध, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञीभाव की अपेक्षा प्रथम है, अप्रथम नहीं है।

२८. एवं पुहत्तेण वि।

[२८] इसी प्रकार बहुवचन-सम्बन्धी (वक्तव्यता भी कहनी चाहिए)।

विवेचन—(४) संज्ञीद्वार—प्रस्तुत द्वार में सू. २३ से २८ तक में संज्ञी, विकलेन्द्रिय को छोड़ कर वैमानिक के जीव, असंज्ञी तथा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव, मनुष्य और सिद्ध के विषय में एकवचन-बहुवचन-सम्बन्धी वक्तव्यता क्रमशः संज्ञी-असंज्ञी भाव एवं नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भाव की अपेक्षा से कही गई है।

फलितार्थ—संज्ञीजीव संज्ञी भाव की अपेक्षा से अप्रथम है, क्योंकि संज्ञीपन अनन्त वार प्राप्त हो चुका है तथा एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रय तक को छोड़ कर दण्डक क्रम से नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीव भी संज्ञीभाव की अपेक्षा से अप्रथम हैं। असंज्ञीजीव, एक हो या अनेक, असंज्ञीभाव की अपेक्षा से अप्रथम हैं, क्योंकि नैरयिक से लेकर वाणव्यन्तर तक संज्ञी होने पर भी भूतपूर्वगति की अपेक्षा से तथा नारक आदि में उत्पन्न होने पर कुछ देर तक वहाँ (नरकादि में) असंज्ञित्व रहता है। असंज्ञीजीवों का उत्पाद वाणव्यन्तर तक होता है। पृथ्वीकाय आदि असंज्ञी जीव तो असंज्ञीभाव की अपेक्षा से अप्रथम हैं ही। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव सिद्ध ही होते हैं, परन्तु यहाँ समुच्चय जीव और मनुष्य जो सिद्ध होने वाले हैं, इसलिए उनको भी नोसंज्ञी-नोअसंज्ञित्व की अपेक्षा से प्रथम कहा गया है। क्योंकि यह भाव उन्हें पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था।[१]

सलेश्यी, कृष्णादिलेश्यी एवं अलेश्यी जीव के विषय में सलेश्यादि भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व, अप्रथमत्व निरूपण

२९. सलेसे णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा! जहा आहारए।

[२९ प्र.] भगवन्! सलेश्यी जीव, सलेश्यभाव से प्रथम है, अथवा अप्रथम है ?

---

१. भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्र ७३४

[२९ उ.] गौतम! (सू. ९ में उल्लिखित) आहारकजीव के समान (वह अप्रथम है)।

३०. एवं पुहत्तेण वि।

[३०] बहुवचन की वक्तव्यता भी इसी प्रकार समझनी चाहिए।

३१. कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा एवं चेव, नवरं जस्स जा लेस्सा अत्थि।

[३१] कृष्णलेश्यी से लेकर शुक्ललेश्यी तक के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेषता यह है कि जिस जीव के जो लेश्या हो, वही कहनी चाहिए।

३२. अलेसे णं जीव-मणुस्स-सिद्धे जहा नोसण्णीनोअसण्णी (सु. २७)।

[३२] अलेश्यीजीव, मनुष्य और सिद्ध के सम्बन्ध में (सू. २७ में उल्लिखित) नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी के समान (प्रथम) कहना चाहिए।

विवेचन—(५) लेश्याद्वार—प्रस्तुतद्वार में (सू. २९ से ३२ तक में) सलेश्यी, कृष्णलेश्यी से लेकर शुक्ललेश्यी तक तथा अलेश्यी जीव, मनुष्य सिद्ध आदि के विषय में क्रमशः सलेश्यभाव एवं अलेश्यभाव की अपेक्षा से अतिदेशपूर्वक कथन किया गया है।

सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि एवं मिश्रदृष्टि जीवों के विषय में एक-बहुवचन से सम्यग्दृष्टि भावादि की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

३३. सम्मदिट्ठीए णं भंते ! जीवे सम्मदिट्ठिभावेणं किं पढमे० पुच्छा।

गोयमा! सिय पढमे, सिय अपढमे।

[३३ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दृष्टिभाव की अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम है ?

[३३ उ.] गौतम! वह कदाचित् प्रथम होता है और कदाचित् अप्रथम होता है।

३४. एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए।

[३४] इसी प्रकार एकेन्द्रियजीवों के सिवाय (नैरयिक से लेकर) वैमानिक तक समझना चाहिए।

३५ सिद्धे पढमे, नो अपढमे।

[३५] सिद्धजीव प्रथम है, अप्रथम नहीं।

३६. पुहत्तिया जीवा पढमा वि, अपढमा वि।

[३६] बहुवचन से सम्यग्दृष्टिजीव (सम्यग्दृष्टित्व की अपेक्षा से) प्रथम भी हैं, अप्रथम भी हैं।

३७. एवं जाव वेमाणिया।

[३७] इसी प्रकार (बहुवचन सम्बन्धी) वैमानिकों तक कहना चाहिए।

३८. सिद्धा पढमा, नो अपढमा।

[३८] बहुवचन से (सभी) सिद्ध प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।

३९. मिच्छादिट्ठिए एकत्त-पुहत्तेणं जहा आहारगा (सु. ९-११)।

[३९] मिथ्यादृष्टिजीव एकवचन और बहुवचन से, मिथ्यादृष्टिभाव की अपेक्षा से (सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीवों के समान (अप्रथम कहना चाहिए)।

४०. सम्मामिच्छद्दिट्ठीए एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मद्दिट्ठी (सु. ३३-३७), नवरं जस्स अत्थि सम्मामिच्छत्तं।

[४०] सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के विषय में एकवचन और बहुवचन से सम्यग्मिथ्यादृष्टिभाव की अपेक्षा से (सू. ३३-३७ में उल्लिखित) सम्यग्दृष्टि के समान (कहना चाहिए)। विशेष यह है कि जिस जीव के सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो, (उसी के विषय में यह आलापक कहना चाहिए)।

विवेचन—(६) दृष्टिद्वार—प्रस्तुत द्वार में (सू. ३३ से ४० तक) एक या अनेक सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि के विषय में सम्यग्दृष्टिभावादि की अपेक्षा से अतिदेश पूर्वक प्रथमत्व-अप्रथमत्व की प्ररूपणा की गई है।

सभी सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम अप्रथम किस अपेक्षा से ?—कोई सम्यग्दृष्टि जीव, जब पहली बार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है तब वह प्रथम है, और कोई सम्यग्दर्शन से गिर कर दूसरी-तीसरी बार पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, तब वह अप्रथम है। एकेन्द्रिय जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, इसलिए एकेन्द्रियों के पांच दण्डक छोड़कर शेष १६ दण्डकों के विषय में यहाँ कहा गया है।

सिद्धजीव, सम्यग्दृष्टिभाव की अपेक्षा से प्रथम हैं, क्योंकि सिद्धत्वानुगत सम्यक्त्व उन्हें मोक्षगमन के समय ही प्राप्त होता।

मिथ्यादृष्टि जीव अप्रथम क्यों ?—मिथ्यादर्शन अनादि है, इसलिए सभी मिथ्यादृष्टिजीव मिथ्यादृष्टिभाव की अपेक्षा से अप्रथम हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टिवत् क्यों ?—जो जीव पहली बार मिश्रदृष्टि प्राप्त करता है, उस अपेक्षा से वह प्रथम है और मिश्रदृष्टि से गिरकर दूसरी तीसरी बार पुनः मिश्रदृष्टि प्राप्त करता है, उस अपेक्षा से वह अप्रथम है। मिश्रदर्शन नारक आदि के होता है, इसलिए मिश्रदृष्टिवाले दण्डकों के विषय में ही यहाँ प्रथमत्व-अप्रथमत्व का विचार किया गया है।[1]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकत्व-बहुत्व से संयतभाव की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

४१. संजए जीवे मणुस्से य एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मद्दिट्ठी (सु. ३३-३७)।

[४१] संयत जीव और मनुष्य के विषय में, एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा, सम्यग्दृष्टि जीव (की

१. भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्र ७३४

वक्तव्यता सू. ३३-३७ में उल्लिखित) के समान (जानना चाहिए)।

४२. अस्संजए जहा आहारए (सु. ९-११)।

[४२] असंयतजीव के विषय में (सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान (समझना चाहिए)।

४३. संजयासंजये जीवे पंचिंदियतिरिक्खजोणिय-मणुस्सा एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मद्दिट्ठी (सु. ३३-३७)।

[४३] संयतासंयत जीव, पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक और मनुष्य, (इन तीन पदों) में एकवचन और बहुवचन में (सू. ३३-३७ में उल्लिखित) सम्यग्दृष्टि के समान (कदाचित् प्रथम और कदाचित् अप्रथम) समझना चाहिए।

४४. नोसंजए नोअसंजए नोसंजयासंजये जीवे सिद्धे य एगत्त-पुहत्तेणं पढमे, नो अपढमे।

[४४] नोसंयत-नोअसंयत और नोसंयतासंयत जीव, तथा सिद्ध, एकवचन और बहुवचन से प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।

विवेचन—(७) संयतद्वार—प्रस्तुत द्वार में (सू. ४१ से ४४ तक में) एक और अनेक संयत, असंयत, नोसंयत-नोअसंयत, नोसंयतासंयत जीव, मनुष्य और सिद्ध के विषय में अतिदेशपूर्वक प्रथमत्व-अप्रथमत्व का निरूपण किया गया है।

संयतपद—जीवपद और मनुष्यपद दो ही पद आते हैं। सम्यग्दृष्टित्व की तरह संयत्व भी प्रथम और अप्रथम दोनों हैं। प्रथम संयमप्राप्ति की अपेक्षा से प्रथम है और संयम से गिरकर अथवा अनेक बार मनुष्यजन्म में पुन: पुन: प्राप्त होने की अपेक्षा से अप्रथम है।

असंयत—एक जीव या बहुजीवों की अपेक्षा से अनादि होने के कारण आहारकवत् अप्रथम हैं।

संयतासंयत—जीवपद, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चपद और मनुष्यपद में ही होता है, अत: एक जीव या बहुजीवों की अपेक्षा से यह भी सम्यग्दृष्टिवत् देशविरति की प्राप्ति की दृष्टि से प्रथम भी है, अप्रथम भी है।

नोसंयत-नोअसंयत—जीव और सिद्ध होता है, यह भाव एक ही बार आता है, इसलिए प्रथम ही होता है।[१]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकत्व-बहुत्व की दृष्टि से यथायोग्य सकषायादि भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

४५. सकसायी कोहकसायी जाव लोभकसायी, एए एगत्त-पुहत्तेणं जहा—आहारए (सू. ९-११)।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्र ७३४-७३५

[४५] सकषायी, क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी, ये सब एकवचन और बहुवचन से (सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक के समान जानना चाहिए।

४६. अकसायी जीवे सिय पढमे, सिय अपढमे।

[४६] (एक) अकषायी जीव कदाचित् प्रथम और कदाचित् अप्रथम होता है।

४७. एवं मणुस्से वि।

[४७] इसी प्रकार (एक अकषायी) मनुष्य भी (समझना चाहिए)।

४८. सिद्धे पढमे, नो अपढमे।

[४८] (अकषायी एक) सिद्ध प्रथम है, अप्रथम नहीं।

४९. पुहत्तेणं जीवा मणुस्सा वि पढमा वि, अपढमा वि।

[४९] बहुवचन से अकषायी जीव प्रथम भी हैं, अप्रथम भी हैं।

५०. सिद्धा पढमा, नो अपढमा।

[५०] बहुवचन से अकषायी सिद्धजीव प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।

विवेचन—(८) कषायद्वार—प्रस्तुत द्वार में (सू. ४५ से ५० तक में) एक अनेक सकषायी और अकषायी जीव, मनुष्य एवं सिद्धों में सकषायादि भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व अप्रथमत्व का निरूपण किया गया है।

सकषायी अप्रथम क्यों ?—क्योंकि सकषायित्व अनादि है, इसलिए यह आहारकवत् अप्रथम है।

अकषायी जीव, मनुष्य और सिद्ध—एक हो या अनेक, यदि यथाख्यात चारित्री हैं, तो वे प्रथम हैं, क्योंकि यह इन्हें पहली बार ही प्राप्त होता है, बार-बार नहीं। किन्तु अकषायी सिद्ध, एक हों या अनेक, वे प्रथम हैं, क्योंकि सिद्धत्वानुगत अकषाय भाव प्रथम बार ही प्राप्त होता है।[१]

जीव चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य ज्ञानी-अज्ञानीभाव की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

५१. णाणी एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मद्दिट्ठी (सु. ३३-३७)।

[५१] ज्ञानी जीव, एकवचन और बहुवचन से, (सू. ३३-३७ में उल्लिखित) सम्यग्दृष्टि के समान कदाचित् प्रथम और कदाचित् अप्रथम होते हैं।

५२. आभिणिबोहियनाणी जाव मणपज्जवनाणी एगत्त-पुहत्तेणं एवं चेव, नवरं जस्स जं अत्थि।

[५२] आभिनिबोधिकज्ञानी यावत् मन पर्यायज्ञानी, एकवचन और बहुवचन से, इसी प्रकार हैं। विशेष

---

१. भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

यह है जिस के जो ज्ञान हो, वह कहना चाहिए।

५३. केवलनाणी जीवे मणुस्से सिद्धे य एगत्त-पुहत्तेणं पढमा, नो अपढमा।

[५३] केवलज्ञानी जीव, मनुष्य और सिद्ध, एकवचन और बहुवचन से, प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।

५४. अन्नाणी, मतिअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी य एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए (सु. ९-११)।

[५४] अज्ञानी जीव, मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी; ये सब, एकवचन और बहुवचन से (सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान (जानने चाहिए)।

विवेचन—(९) ज्ञानद्वार—प्रस्तुत द्वार में (सू. ५१ से ५४ तक में) ज्ञानी, मतिज्ञानी आदि, तथा केवलज्ञानी जीव, मनुष्य और सिद्धों में एकवचन और बहुवचन से, यथायोग्य प्रथमत्व-अप्रथमत्व का निरूपण किया गया है।

ज्ञानी आदि प्रथम-अप्रथम दोनों क्यों ?—ज्ञानद्वार में समुच्चयज्ञानी या चार ज्ञान तक पृथक्-पृथक् या सम्मिलित ज्ञानधारक अकेवली प्रथमज्ञानप्राप्ति में प्रथम होते हैं, अन्यथा, पुन: प्राप्ति में अप्रथम किन्तु केवली केवलज्ञान की अपेक्षा प्रथम हैं।

अज्ञानी प्रथम क्यों ?—अज्ञानी अथवा मति-श्रुत-विभंगरूप-अज्ञानी आहारकजीव की तरह अप्रथम है, क्योंकि अज्ञान अनादि रूप से और अनन्त बार प्राप्त होते रहते हैं।[१]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकत्व-बहुत्व को लेकर यथायोग्य सयोगी-अयोगिभाव की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्व कथन

५५. सयोगी, मणयोगी वइजोगी कायजोगी एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए (सु. ९-११), नवरं जस्स जो जोगो अत्थि।

[५५] सयोगी, मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव, एकवचन और बहुवचन से (सू. ९-११ में प्रतिपादित) आहारक जीवों के समान अप्रथम होते हैं। विशेष यह है कि जिस जीव के जो योग हो, वह कहना चाहिए।

५६. अजोगी जीव-मणुस्स-सिद्धा एगत्त-पुहत्तेणं पढमा, नो अपढमा।

[५६] अयोगी जीव, मनुष्य और सिद्ध, एकवचन और बहुवचन से प्रथम होते हैं, अप्रथम नहीं होते हैं।

विवेचन—(१०) योगद्वार : प्रस्तुत द्वार में (सू. ५५-५६ में) सभी सयोगी और सभी अयोगी जीवों के सयोगित्व-अयोगित्व की अपेक्षा से अप्रथमत्व एवं प्रथमत्व का प्ररूपण किया गया है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

सयोगी अप्रथम और अयोगी प्रथम क्यों ?—योग सभी संसारी जीवों के होता ही है, फिर तीनों में से चाहे एक हो, दो हों तीनों हों, अत: अप्रथम होते हैं, क्योंकि ये अनादि काल में, अनन्त बार प्राप्त हुए हैं, होंगे और हैं। किन्तु अयोगी केवली जीव मनुष्य या सिद्ध की अयोगावस्था प्रथम बार ही प्राप्त होती है, अतएव उसे प्रथम कहा गया है।[१]

जीव, चौवीस दण्डक एवं सिद्धों में एकवचन और बहुवचन से साकारोपयोग-अनाकारोपयोग भाव की अपेक्षा प्रथमत्व-अप्रथमत्व कथन

५७. सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता एगत्त-पुहत्तेणं जहा अणाहारए (सु. १२-१७)।

[५७] साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त जीव, एकवचन और बहुवचन से (सू. १२-१७ में उल्लिखित) अनाहारक जीवों के समान हैं।

विवेचन—(११) उपयोगद्वार—प्रस्तुत द्वार (सू. १७) में बताया गया है कि साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) तथा अनाकारोपयोग (दर्शनोपयोग) वाले जीव, अनाहारक के समान, कथंचित् प्रथम और कथंचित् अप्रथम जानना चाहिए।

प्रथम और अप्रथम किस अपेक्षा से ?—यह जीवपद में सिद्ध जीव की अपेक्षा प्रथम और संसारी जीव की अपेक्षा अप्रथम हैं। अर्थात्—नैरयिक से लेकर वैमानिक दण्डक तक चौवीस दण्डकवर्ती संसारी जीवों में संसारीजीवत्व की अपेक्षा से दोनों उपयोग प्रथम नहीं, अप्रथम हैं। सिद्धपद में सिद्धत्व की अपेक्षा से सिद्धजीवों में ये दोनों उपयोग प्रथम हैं, अप्रथम नहीं। क्योंकि साकारोपयोग-अनाकारोपयोग-विशिष्ट सिद्धत्व की प्राप्ति प्रथम ही होती है।[२]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन और बहुवचन से सवेद-अवेद भाव की अपेक्षा से यथायोग्य प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

५८. सवेदगो जाव नपुंसगवेदगो एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए (सु. ९-११), नवरं जस्स जो वेदो अत्थि।

[५८] सवेदक यावत् नपुंसकवेदक जीव, एकवचन और बहुवचन से, (सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान हैं। विशेष यह है कि, जिस जीव के जो वेद हो, (वह कहना चाहिए)।

५९. अवेदओ एगत्त-पुहत्तेणं तिसु वि पएसु जहा अकसायी (सु. ४६-५०)।

[५९] एकवचन और बहुवचन से, अवेदक जीव, तीनों पदों अर्थात् जीव, मनुष्य और सिद्ध में (सू. ४६-५० में उल्लिखित) अकषायी जीव के समान हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

विवेचन—(१२) **वेद-द्वार**—प्रस्तुत द्वार (सू. ५८-५९) में सवेदक एवं अवेदक जीवों के वेदभाव-अवेदभाव की अपेक्षा से यथायोग्य प्रथमत्व-अप्रथमत्व की चर्चा की गई है।

सवेदी अप्रथम और अवेदी प्रथम क्यों ?—संसारी जीवों के वेद अनादि होने से वे आहारक जीव के समान अप्रथम हैं, किन्तु विशेष यही है कि नारक आदि जिस जीव का नपुंसक आदि वेद हैं, वह कहना चाहिए। अवेदक जीव, जीवपद और मनुष्यपद में, अकषायी की तरह, कदाचित् प्रथम है और कदाचित् अप्रथम है। सिद्धपद में सिद्धत्व की अपेक्षा प्रथम ही है, अप्रथम नहीं है।[१]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य सशरीर-अशरीर भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

६०. ससरीरी जहा आहारए (सु. ९-११)। एवं जाव कम्मगसरीरी, जस्स जं अत्थि सरीरं, नवरं आहारगसरीरी एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मद्दिट्ठी (सू. ३३-३७)।

[६०] सशरीरी जीव, (सू ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान है। इसी प्रकार यावत् कार्मणशरीरी जीव के विषय में भी जान लेना चाहिए। किन्तु आहारक-शरीरी के विषय में एकवचन और बहुवचन से, (सू. ३३-३७ में उल्लिखित) सम्यग्दृष्टि जीव के समान कहना चाहिए।

६१. असरीरी जीवे सिद्धे एगत्त-पुहत्तेणं पढमा, नो अपढमा।

[६१] अशरीरी जीव और सिद्ध, एकवचन और बहुवचन से प्रथम हैं, अप्रथम नहीं।

विवेचन—(१३) **शरीरद्वार**—प्रस्तुत द्वार (सू. ६०-६१) में समस्त सशरीरी और अशरीरी जीवों के सशरीरत्व-अशरीरत्व की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व का निरूपण किया गया है।

सशरीरी जीव—आहारकशरीरी को छोड़कर औदारिकादि शरीरधारी जीव को आहारक जीववत् अप्रथम समझना चाहिए। आहारक शरीरी एक या अनेक जीव, सम्यग्दृष्टि के समान कदाचित् प्रथम और कदाचित् अप्रथम हैं।

अशरीरी जीव—जीव और सिद्ध एकवचन से हो या बहुवचन से, प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।[२]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में एकवचन और बहुवचन से, यथायोग्य पर्याप्त भाव की अपेक्षा से प्रथमत्व-अप्रथमत्व निरूपण

६२. पंचहिं पज्जत्तीहिं, पंचहिं अपज्जत्तीहिं, एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए (सू. ९-११)। नवरं जस्स जा अत्थि, जाव वेमाणिया, नो पढमा, अपढमा।

[६२] पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त और पांच अपर्याप्तियों से अपर्याप्त जीव, एकवचन और बहुवचन से,

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

(सू. ९-११ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान हैं। विशेष यह है कि जिसके जो पर्याप्ति हो, वह कहनी चाहिए। इस प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक जानना चाहिए। अर्थात्—ये सब प्रथम नहीं, अप्रथम हैं।

विवेचन—(१४) पर्याप्तिद्वार—इस द्वार में (सू. ६२ में) चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में पर्याप्तभाव-अपर्याप्तभाव की अपेक्षा से एकवचन-बहुवचन में आहारकजीवों के अतिदेशपूर्वक प्रथमत्व अप्रथमत्व का यथायोग्य निरूपण किया गया है। अर्थात्—पर्याप्तक और अपर्याप्तक सभी जीव अप्रथम हैं, प्रथम नहीं हैं।[१]

प्रथम-अप्रथम-लक्षण निरूपण

६३. इमा लक्खणगाहा—

जो जेण पत्तपुव्वो भावो सो तेणऽपढमओ होति॥
सेसेसु होइ पढमो अपत्तपुव्वेसु भावेसु॥ १॥

[६३] यह लक्षण गाथा है—

(गाथार्थ-) जिस जीव को जो भाव (अवस्था) पूर्व (पहले) से प्राप्त है, (तथा जो अनादिकाल से है,) उस भाव की अपेक्षा से वह जीव 'अप्रथम' है, किन्तु जिन्हें जो भाव पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है, अर्थात्—जो भाव प्रथम बार ही प्राप्त हुआ है, उस भाव की अपेक्षा से वह जीव प्रथम कहलाता है।

विवेचन—सेसेसु : भावार्थ—यहाँ 'शेषेषु' का भावार्थ है—जिन्हें जो भाव पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है, अर्थात्—जो भाव जिन्हें प्रथम बार ही प्राप्त हुआ है।[२]

जीव, चौवीस दण्डक और सिद्धों में, पूर्वोक्त चौदह द्वारों के माध्यम से जीवभावादि की अपेक्षा से, एकवचन-बहुवचन से यथायोग्य चरमत्व-अचरमत्व निरूपण

६४. जीवे णं भंते ! जीवभावेणं किं चरिमे, अचरिमे ?

गोयमा ! नो चरिमे, अचरिमे।

[६४ प्र.] भगवन्! जीव, जीवभाव (जीवत्व) की अपेक्षा से चरम है या अचरम है ?

[६४ उ.] गौतम! चरम नहीं, अचरम है।

६५. नेरतिए णं भंते ! नेरतियभावेणं॰ पुच्छा।

गोयमा ! सिय चरिमे, सिय अचरिमे।

[६५ प्र.] भगवन्! नैरयिक जीव, नैरयिकभाव की अपेक्षा से चरम है या अचरम है ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७३५

२. भगवती. अ. वृत्ति पत्र ७३५

[६५ उ.] गौतम! वह (नैरयिकभाव से) कदाचित् चरम है और कदाचित् अचरम है।

६६. एवं जाव वेमाणिए।

[६६] इसी प्रकार वैमानिक तक जानना चाहिए।

६७. सिद्धे जहा जीवे।

[६७] सिद्ध का कथन जीव के समान जानना चाहिए।

६८. जीवा णं० पुच्छा।

गोयमा ! नो चरिमा, अचरिमा।

[६८ प्र.] अनेक जीवों के विषय में चरम-अचरम-सम्बन्धी प्रश्न ?

[६८ उ.] गौतम! वे चरम नहीं, अचरम हैं।

६९. नेरतिया चरिमा वि, अचरिमा वि।

[६९] नैरयिकजीव, नैरयिकभाव से चरम भी हैं, अचरम भी हैं।

७०. एवं जाव वेमाणिया।

[७०] इसी प्रकार वैमानिक तक समझना चाहिए।

७१. सिद्धा जहा जीवा।

[७१] सिद्धों का कथन जीवों के समान है।

७२. आहारए सव्वत्थ एगत्तेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे। पुहत्तेणं चरिमा वि, अचरिमा वि।

[७२] आहारकजीव सर्वत्र एकवचन से कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम होता है। बहुवचन से आहारक चरम भी होते हैं और अचरम भी होते हैं।

७३. अणाहारओ जीवो सिद्धो य, एगत्तेण वि पुहत्तेण वि नो चरिमा, अचरिमा।

[७३] अनाहारक जीव और सिद्ध, एकवचन और बहुवचन से भी चरम नहीं हैं, अचरम हैं।

७४. सेसट्ठाणेसु एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारओ (सु. ७२)।

[७४] शेष (नैरयिक आदि) स्थानों में (अनाहारक) एकवचन और बहुवचन से, (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान (कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम) जानना चाहिए।

७५. भवसिद्धीओ जीवपदे एगत्त-पुहत्तेणं चरिमे, नो अचरिमे।

[७५] भवसिद्धिकजीव, जीवपद में, एकवचन और बहुवचन से चरम हैं, अचरम नहीं हैं।

७६. सेसट्ठाणेसु जहा आहारओ।

[७६] शेष स्थानों में आहारक के समान हैं।

७७. अभवसिद्धीओ सव्वत्थ एगत्त-पुहत्तेणं नो चरिमे, अचरिमे।

[७७] अभवसिद्धिक सर्वत्र एकवचन और बहुवचन से चरम नहीं, अचरम हैं।

७८. नोभवसिद्धीय-नोअभवसिद्धीयजीवा सिद्धा य एगत्त-पुहत्तेणं जहा अभवसिद्धीओ।

[७८] नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव और सिद्ध, एकवचन और बहुवचन से अभवसिद्धिक के समान हैं।

७९. सण्णी जहा आहारओ (सु. ७२)।

[७९] संज्ञी जीव (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक जीव के समान हैं।

८०. एवं असण्णी वि।

[८०] इसी प्रकार असंज्ञी भी (आहारक के समान है)।

८१. नोसन्नी-नोअसन्नी जीवपदे सिद्धपदे य अचरिमो, मणुस्सपदे चरिमो, एगत्त-पुहत्तेणं।

[८१] नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीवपद और सिद्धपद में अचरम हैं, मनुष्यपद में, एकवचन और बहुवचन से चरम हैं।

८२. सलेस्सो जाव सुक्कलेस्सो जहा आहारओ (सु. ७२), नवरं जस्स जा अत्थि।

[८२] सलेश्यी, यावत् शुक्ललेश्यी की वक्तव्यता आहारकजीव (सू. ७२ में वर्णित) के समान है। विशेष यह है कि जिसके जो लेश्या हो, वही कहनी चाहिए।

८३. अलेस्सो जहा नोसण्णी-नोअसण्णी।

[८३] अलेश्यी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी के समान हैं।

८४. सम्मद्दिट्ठी जहा अणाहारओ (सू. ७३-७४)।

[८४] सम्यग्दृष्टि, (सू. ७३-७४ में उल्लिखित) अनाहारक के समान हैं।

८५. मिच्छादिट्ठी जहा आहारओ (सु. ७२)।

[८५] मिथ्यादृष्टि, (सू. ७२ में उल्लिखित) अनाहारक के समान हैं।

८६. सम्मामिच्छद्दिट्ठी एगिंदिय-विगलिंदियवज्जं सिय चरिमे, सिय अचरिमे, पुहत्तेणं चरिमा वि, अचरिमा वि।

[८६] सम्यगमिथ्यादृष्टि, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़कर (एकवचन से) कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम हैं। बहुवचन से वे चरम भी हैं और अचरम भी हैं।

८७. संजओ जीवो मणुस्सो य जहा आहारओ (सु. ७२)।

[८७] संयत जीव और मनुष्य, (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक के समान हैं।

८८. असंजतो वि तहेव।

[८८] असंयत भी उसी प्रकार है।

८९. संजयासंजतो वि तहेव; नवरं जस्स जं अत्थि।

[८९] संयतासंयत भी उसी प्रकार है। विशेष यह है कि जिसको जो भाव हो, वह कहना चाहिए।

९०. नोसंजय-नोअसंजय नोसंजयासंजओ जहा नोभवसिद्धीय-नोअभवसिद्धीयो (सू. ७८)।

[९०] नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक के समान (सू. ७८ के अनुसार) जानना चाहिए।

९१. सकसायी जाव लोभकसायी सव्वट्ठाणेसु जहा आहारओ (सु. ७२)।

[९१] सकषायी यावत् लोभकषायी, इन सभी स्थानों में, आहारक के समान (सू. ७२ के अनुसार) हैं।

९२. अकसायी जीवपए सिद्धे य नो चरिमो, अचरिमो। मणुस्सपदे सिय चरिमो, सिय अचरिमो।

[९२] अकषायी, जीवपद और सिद्धपद में, चरम नहीं, अचरम हैं। मनुष्यपद में कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम होता है।

९३. [१] णाणी जहा सम्मद्दिट्ठी (सु. ८४) सव्वत्थ।

[९३-१] ज्ञानी सर्वत्र (सू. ८४ में उल्लिखित) सम्यग्दृष्टि के समान है।

[२] आभिणिबोहियनाणी जाव मणपज्जवनाणी जहा आहारओ (सू. ७२), जस्स जं अत्थि।

[९३-२] आभिनिबोधिक ज्ञानी यावत् मन:पर्यवज्ञानी (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक के समान हैं। विशेष यह है कि जिसके जो ज्ञान हो, वह कहना चाहिए।

[३] केवलनाणी जहा नोसण्णी-नोअसण्णी (सु. ८१)।

[९३-३] केवलज्ञानी (सू. ८१ के अनुसार) नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी के समान है।

९४. अण्णाणी जाव विभंगनाणी जहा आहारओ (सु. ७२)।

[९४] अज्ञानी, यावत् विभंगज्ञानी (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक के समान हैं।

९५. सजोगी जाव कायजोगी जहा आहारओ (सु. ७२), जस्स जो जोगो अत्थि।

[९५] सयोगी, यावत् काययोगी, (सू. ७२ के अनुसार) आहारक के समान हैं। विशेष—जिसके जो योग हो, वह कहना चाहिए।

९६. अजोगी जहा नोसण्णी-नोअसण्णी (सु. ८१)।

[९६] अयोगी, (सु. ८१ में उल्लिखित) नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी के समान हैं।

९७. सागारोवउत्तो अणागारोवउत्तो य जहा अणाहारओ (सु. ७३-७४)।

[९७] साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी (सू. ७३-७४ में उल्लिखित) अनाहारक के समान हैं।

९८. सवेदओ जाव नपुंसगवेदओ जहा आहारओ (सु. ७२)।

[९८] सवेदक, यावत् नपुंसकवेदक (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक के समान हैं।

९९. अवेदओ जहा अकसायी (सु. ९२)।

[९९] अवेदक (सू. ९२ में उल्लिखित) अकषायी के समान हैं।

१००. ससरीरी जाव कम्मगसरीरी जहा आहारओ (सु. ७२), नवरं जस्स जं अत्थि।

[१००] सशरीरी यावत् कार्मणशरीरी, (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक के समान हैं। विशेष यह है कि जिसके जो शरीर हो, वह कहना चाहिए।

१०१. असरीरी जहा नोभवसिद्धीय-नोअभवसिद्धीओ (सु. ७८)।

[१०१] अशरीरी के विषय में (सू. ७८ में उल्लिखित) नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक के समान (कहना चाहिए)।

१०२. पंचहिं पज्जत्तीहिं पंचहिं अपज्जत्तीहिं जहा आहारओ (सु. ७२)। सव्वत्थ एगत्तपुहत्तेणं दंडगा भाणियव्वा।

[१०२] पांच पर्याप्तियों से पर्याप्तक और पांच अपर्याप्तियों से अपर्याप्तक के विषय में (सू. ७२ में उल्लिखित) आहारक के समान कहना चाहिए।

सर्वत्र (ये पूर्वोक्त चौदह ही) दण्डक, एकवचन और बहुवचन से कहने चाहिए।

विवेचन—चरम-अचरम के चौदह द्वार—पूर्वोक्त १४ द्वारों के माध्यम से, उस-उस भाव की अपेक्षा से, एकवचन और बहुवचन से, चरमत्व-अचरमत्व का प्रतिपादन किया गया है।

चरम-अचरम का पारिभाषिक अर्थ—जिसका कभी अन्त होता है, वह 'चरम' कहलाता है, और जिसका कभी अन्त नहीं होता, वह 'अचरम' कहलाता है। जैसे—जीवत्वपर्याय की अपेक्षा से जीव का कभी अन्त नहीं होता, इसलिए वह चरम नहीं, अचरम है।

नैरयिकादि उस-उस भाव की अपेक्षा चरम-अचरम दोनों—जो नैरयिक, नरकगति से निकलकर फिर नैरयिकभाव से नरक में न जाए और मोक्ष चला जाए, वह नैरयिक भाव का सदा के लिए अन्त कर देता है, वह 'चरम' कहलाता है, इससे विपरीत अचरम। इसी प्रकार वैमानिक तक २४ दण्डकों में चरम-अचरम दोनों

समझने चाहिए।

सिद्धत्व का कभी अन्त (विनाश) नहीं होता, इसलिए वह अचरम है।

आहारक आदि सभी पदों में जीव कदाचित् चरम होता है, और कदाचित् अचरम। जो जीव मोक्ष चला जाता है, वह चरम है, उससे भिन्न आहारकादि अचरम हैं। अनाहारकत्व जीव और सिद्ध दोनों पदों में होता है।

भवसिद्धिकादि में चरमाचरमत्व-कथन—'भव्य अवश्यमेव मोक्ष जाता है, यह सिद्धान्तवचन है। मोक्ष प्राप्त होने पर भवसिद्धिक (भव्यत्व) का अन्त हो जाता है। अत: भव्यत्व की अपेक्षा से भवसिद्धिक अचरम है। अभवसिद्धिक का अन्त नहीं होता, क्योंकि वह कभी मोक्ष नहीं जाता, इसलिए अभवसिद्धिक अचरम है। नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक सिद्ध होते हैं, उनमें सिद्धत्व-पर्याय का कभी अन्त नहीं होता, इसलिए अभवसिद्धिकवत् वे अचरम हैं।'

सम्यग्दृष्टि आदि में चरमाचरमत्व-कथन—सम्यग्दर्शन जीव और सिद्ध दोनों पदों में होता है। इनमें से जीव अचरम है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन से गिर कर पुन: सम्यग्दर्शन को अवश्य प्राप्त करता है, किन्तु सिद्ध चरम हैं, क्योंकि वे सम्यग्दर्शन से कभी गिरते ही नहीं हैं।

जो सम्यग्दृष्टि नैरयिक आदि, नारकत्वादि के साथ सम्यग्दर्शन को पुन: प्राप्त नहीं करेंगे, वे चरम हैं और उनसे भिन्न अचरम हैं। मिथ्यादृष्टिजीव, आहारक की तरह कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम होते हैं। जो मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि का सदा के लिए अन्त करके मोक्ष में चले जाते हैं वे मिथ्यादृष्टित्व की अपेक्षा से चरम हैं और उनसे भिन्न अचरम हैं। मिथ्यादृष्टि नैरयिक आदि जो मिथ्यात्वसहित नैरयिकादिपन पुन: प्राप्त नहीं करेंगे, वे चरम हैं, उनसे भिन्न अचरम हैं। मिश्रदृष्टि की वक्तव्यता में एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों कभी मिश्रदृष्टि नहीं होते। सिद्धान्तानुसार एकेन्द्रिय कदापि सम्यक्त्वी-यहाँ तक कि सास्वादन सम्यक्त्वी भी नहीं होते। इसलिए सम्यग्दृष्टि की वक्तव्यता में एकेन्द्रिय का कथन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जिसमें जो पर्याय सम्भव न हो, उसमें उसका कथन नहीं करना चाहिए। यथा—संज्ञीपद में एकेन्द्रिय का और असंज्ञीपद में ज्योतिष्क आदि का कथन करना संगत नहीं है।

संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी में चरमाचरमत्व—संज्ञी समुच्चयजीव १६ दण्डकों में, असंज्ञी समुच्चयजीव २२ दण्डकों में एक जीव की अपेक्षा कदाचित् चरम कदाचित् अचरम हैं। बहुजीवापेक्षया चरम भी हैं, अचरम भी हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी समुच्चयजीव और सिद्ध एक जीवापेक्षया अथवा बहुजीवापेक्षया अचरम हैं। मनुष्य (केवली की अपेक्षा से) एकवचन-बहुवचन से चरम हैं, अचरम नहीं।

लेश्या की अपेक्षा से चरमाचरमत्व कथन—सलेश्यी समुच्चयजीव २४ दण्डक, कृष्ण-नील-कापोतलेश्यी समुच्चयजीव २२ दण्डक, तेजोलेश्यी समुच्चयजीव १८ दण्डक, पद्मलेश्यी शुक्ललेश्यी समुच्चयजीव ३ दण्डक, एकजीवापेक्षया कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम हैं। बहुजीवापेक्षया चरम भी हैं, अचरम भी हैं। अलेश्यी, समुच्चयजीव और सिद्ध, एकजीवापेक्षया-बहुजीवापेक्षया अचरम हैं, चरम नहीं। अलेश्यी मनुष्य, एकजीव-बहुजीवापेक्षया चरम हैं, अचरम नहीं।

संयतादि में चरमाचरमत्वकथन—संयत समुच्चयजीव और मनुष्य ये दोनों चरम और अचरम दोनों होते हैं। जिसको पुन: संयम (संयतत्व) प्राप्त नहीं होता, वह चरम है, उससे भिन्न अचरम है। समुच्चयजीवों में भी मनुष्य को संयम प्राप्त होता है, अन्य किसी जीव को नहीं। असंयती समुच्चयजीव (२४ दण्डकों में) संयतत्व की अपेक्षा से एक जीव की दृष्टि से कदाचित् चरम, कदाचित् अचरम होता है। बहुजीवों की दृष्टि से चरम भी हैं, अचरम भी। संयतासंयतत्व (देशविरतिपन), जीव, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य, इन तीनों में ही होता है। इसलिए संयतासंयत का कथन भी इसी प्रकार है। नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत (सिद्ध) अचरम होते हैं, क्योंकि सिद्धत्व नित्य होता है, इसलिए वह चरम नहीं होता।

कषाय की अपेक्षा से चरमाचरमत्व—सकषायी भेदसहित जीवादि स्थानों में कदाचित् चरम होते हैं, कदाचित् अचरम। जो जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे, वे चरम हैं शेष अचरम हैं। नैरयिकादि जो नारकादियुक्त सकषायित्व को पुन: प्राप्त नहीं करेंगे, वे चरम हैं, शेष अचरम हैं। अकषायी (उपशान्तमोहादि) तीन होते हैं—

समुच्चयजीव, मनुष्य और सिद्ध। अकषायी जीव और सिद्ध, एकजीव-बहुजीवापेक्षया अचरम हैं, चरम नहीं, क्योंकि जीव का अकषायित्व से प्रतिपतित होने पर भी मोक्ष अवश्यम्भावी है, सिद्ध कभी प्रतिपतित नहीं होता। अकषायिभाव से युक्त मनुष्यत्व को जो मनुष्य पुन: प्राप्त नहीं करेगा, वह चरम है, जो प्राप्त करेगा, वह अचरम है।

ज्ञानद्वार में चरमाचरमत्व कथन—ज्ञानी, जीव और सिद्ध सम्यग्दृष्टि के समान अचरम हैं, क्योंकि जीव ज्ञानावस्था से गिर भी जाए तो भी वह उसे पुन: अवश्य प्राप्त कर लेता है, अत: अचरम है। सिद्ध सदा ज्ञानावस्था में ही रहते हैं, इसलिए अचरम हैं। शेष जिन जीवों को ज्ञानयुक्त नारकत्वादि की पुन: प्राप्ति नहीं होगी वे चरम हैं, शेष अचरम हैं। सर्वत्र से यहाँ तात्पर्य है, जिन जीवों में 'सम्यग्ज्ञान' सम्भव है, उन सब में अर्थात्- एकेन्द्रिय को छोड़कर शेष जीवादि पदों में। जो जीव आभिनिबोधिक आदि ज्ञान को केवलज्ञान हो जाने के कारण पुन: प्राप्त नहीं करेंगे, वे चरम हैं, शेष अचरम हैं। केवलज्ञानी अचरम होते हैं। अज्ञानी, मतिअज्ञानी आदि कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम हैं, क्योंकि जो जीव पुन: अज्ञान को प्राप्त नहीं करेगा, वह चरम है, जो अभव्यजीव ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा, वह अचरम है।

आहारक का अतिदेश—जहाँ-जहाँ आहारक का अतिदेश किया गया है, वहाँ-वहाँ कदाचित् चरम और कदाचित् अचरम हैं, यों कहना चाहिए।[१]

चरम-अचरम-लक्षण-निरूपण

१०३. इमा लक्खणगाहा—

जो जं पाविहिति पुणो भावं सो तेण अचरिमो होइ।
अच्चंतवियोगो जस्स जेण भावेण सो चरिमो॥ १॥

---

१. भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्र ७३६-७३७

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ० जाव विहरति।

अट्ठारहसमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो॥ १८-१ ॥

[१०३] यह लक्षण-गाथा (चरम-अचरमस्वरूप प्रतिपादक) है।

[गाथार्थ—] जो जीव, जिस भाव को पुनः प्राप्त करेगा, वह जीव उस भाव की अपेक्षा से 'अचरम' होता है, और जिस जीव का जिस भाव के साथ सर्वथा वियोग हो जाता है, वह जीव उस भाव की अपेक्षा 'चरम' होता है॥ १ ॥

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है'—कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—सू. १०३ में चरम और अचरम के लक्षण को स्पष्ट करने वाली गाथा प्रस्तुत की गई है। गाथा का भावार्थ स्पष्ट है।

॥ अठारहवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त॥

OOO

बीओ उद्देसओ : 'विसाह'

द्वितीय उद्देशक : 'विशाख'

विशाखा नगरी में भगवान् का समवसरण

१. तेणं कालेणं तेणं समयेणं विसाहा नामं नगरी होत्था। वन्नओ। बहुपुत्तिए चेतिए। वण्णओ। सामी समोसढे जाव पज्जुवासति।

[१] उस काल एवं उस समय में विशाखा नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिकसूत्र के नगरीवर्णन के समान जानना चाहिए। वहाँ बहुपुत्रिक नामक चैत्य (उद्यान) था। उसका वर्णन भी औपपातिकसूत्र से जान लेना चाहिए। एक बार वहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ, यावत् परिषद् पर्युपासना करने लगी।

विवेचन—विशाखा नगरी : विशाखा नगरी आज कहाँ है ? यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। आज आन्ध्रप्रदेश में समुद्रतट पर 'विशाखापट्टनम्' नगर बसा हुआ है। दूसरा 'वसाढ' है, जो उत्तर बिहार में मुजफ्फरपुर के निकट है। विशाखानगरी में भगवान् का पदार्पण हुआ था। वहीं इस उद्देशक में वर्णित शक्रेन्द्र के पूर्वभव के सम्बन्ध में संवाद हुआ था।

शक्रेन्द्र का भगवान् के सान्निध्य में आगमन और नाट्य प्रदर्शित करके पुनः प्रतिगमन

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे एवं जहा सोलसमसए वितिए उद्देसए (स. १६ उ. २ सु. ८) तहेव दिव्वेण जाणविमाणेण आगतो; नवरं एत्थ आभियोगा वि अत्थि, जाव बत्तीसतिविहं नट्टविहिं उवदंसेति, उव० २ जाव पडिगते।

[२] उस काल और उस समय में देवेन्द्र देवराज शक्र, वज्रपाणि, पुरन्दर इत्यादि सोलहवें शतक के द्वितीय उद्देशक (सू. ८) में शकेन्द्र का जैसा वर्णन है, उस प्रकार से यावत् वह दिव्य यान-विमान में बैठकर वहाँ आया। विशेष बात यह थी, यहाँ आभियोगिक देव भी साथ थे, यावत् शकेन्द्र ने बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधि प्रदर्शित की। तत्पश्चात् वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

विवेचन—सोलहवें शतक के द्वितीय उद्देशक का अतिदेश—सोलहवें शतक के द्वितीय उद्देशक सू. ८ में शक्रेन्द्र का वर्णन है। वहाँ शक्रेन्द्र जिस तैयारी के साथ, दलबल सहित सजधज कर श्रमण भगवान् महावीर के समीप आया था, उसी प्रकार से वह यहाँ (विशाखा में भगवान् के समीप) आया। अन्तर इतना ही है कि वहाँ वह आभियोगिक देवों को साथ लेकर नहीं आया था, यहाँ आभियोगिक देव भी उसके साथ आए थे।

यान-विमान—वैमानिक देवों के विमान दो प्रकार के होते हैं, एक तो उनके सपरिवार आवास करने का होता है, दूसरा सवारी के काम में आने वाला विमान होता है, यहाँ दूसरे प्रकार के विमान का उल्लेख है।

नाट्यविधि—नाट्यकला के बत्तीस प्रकारों का विधि-विधानपूर्वक प्रदर्शन।

गौतम द्वारा शक्रेन्द्र के पूर्वभव से सम्बन्धित प्रश्न, भगवान् द्वारा कार्तिक श्रेष्ठी के रूप में परिचयात्मक उत्तर

३. [१] 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं जाव एवं वदासी—जहा ततियसते ईसाणस्स (स.३ उ. १ सू. ३४-३५) तहेव कूडागारदिट्ठंतो, तहेव पुव्वभवपुच्छा जाव अभिसमन्नागया ?

'गोयमा' ई समणे भगवं महावीरे भगवं गौतमं एवं वदासी—"एवं खलु गोयमा ! "

"तेणं कालेणं तेण समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणापुरे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। सहस्संबवणे उज्जाणे। वण्णओ।"

"तत्थ णं हत्थिणापुरे नगरे कत्तिए नामं सेट्ठी परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए णेगमपढमासणिए, णेगमट्ठसहस्सस्स बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य कोडुंबेसु य एवं जहा रायपसेणइज्जे, चित्ते जाव चक्खुभूते, णेगमट्ठसहस्सस्स सयस्स य कुडुंबस्स आहेवच्चं जाव करेमाणे पालेमाणे समणोवासए अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरति।"

[३-१ प्र] 'भगवन् !' इस प्रकार (सम्बोधित कर) भगवान् गौतम ने, श्रमण भगवान् महावीर से पूछा—जिस प्रकार तृतीय शतक (के प्रथम उद्देशक के सू. ३४-३५) में ईशानेन्द्र के वर्णन में कूटागारशाला के दृष्टान्त के विषय में तथा (उसके) पूर्वभव के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, उसी प्रकार यहाँ भी, यावत् 'यह ऋद्धि कैसे सम्प्राप्त हुई',—तक (प्रश्न का उल्लेख करना चाहिए।)

[३-१ उ.] 'गौतम ! ' इस प्रकार सम्बोधन कर श्रमण भगवान् महावीर ने, भगवान् गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—

हे गौतम ! ऐसा है कि उस काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर था। उसका वर्णन (कहना चाहिए)। वहाँ सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। उसका वर्णन (करना चाहिए)।

उस हस्तिनापुर नगर में कार्तिक नाम का एक श्रेष्ठी (सेठ) रहता था, जो धनाढ्य यावत् किसी से पराभव न पाने (नहीं दबने) वाला था। उसे वणिकों में अग्रस्थान प्राप्त था। वह उन एक हजार आठ व्यापारियों (नैगमों—वणिकों) के बहुत से कार्यों में, कारणों में और कौटुम्बिक व्यवहारों में पूछने योग्य था, जिस प्रकार राजप्रश्नीयसूत्र में चित्त सारथि का वर्णन है, उसी प्रकार यहाँ भी, यावत् चक्षुभूत था, यहाँ तक जानना चाहिए।[१] वह कार्तिक श्रेष्ठी, एक हजार आठ व्यापारियों का आधिपत्य करता हुआ, यावत् पालन करता हुआ रहता था। वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता यावत् श्रमणोपासक था।

विवेचन—कार्तिक सेठ का सामान्य परिचय—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् ने कार्तिक सेठ का सामान्य

---

१. देखिए रायप्पसेणइय-सुत्तं (गुर्जरग्रन्थ.) कण्डिका १४५, पृ. २७७-२७८

परिचय देते हुए कहा कि वह हस्तिनापुर निवासी था, वह आढ्य, दीप्त, वित्त (विज्ञात या विख्यात) यावत् अपराभूत यानी किसी से दबने वाला नहीं था। वह नगर के १००८ व्यापारियों में अग्रगण्य था, मेढी (केन्द्रीय स्तम्भ), प्रमाण, आधार और आलम्बन यावत् चक्षुरूप (नेता) था।

'कज्जेसु' इत्यादि शब्दों का भावार्थ—कज्जेसु—गृहनिर्माण तथा स्वजनसम्मान आदि कार्यों के, **कारणेसु**—अभीष्ट बातों के कारणों में, कृषि, पशुपालन, वाणिज्यादि अभीष्ट वस्तुओं के विषय में, **कोडुंबेसु**—कौटुम्बिक मनुष्यों के विषय में।

राजप्रश्नीय पाठ का स्पष्टीकरण—मंतेसु—मंत्रणाएँ करने या विचार-विमर्श करने में। **गुज्झेसु**—लज्जायोग्य गुप्त या गोपनीय बातों के विषय में। **रहस्सेसु**—सामाजिक या कौटुम्बिक रहस्यमय या एकान्त के योग्य बातों में। **ववहारेसु**—पारस्परिक व्यवहारों में, लेनदेन में। **निच्छएसु**—निश्चयों में—कई बातों का निर्णय करने में।

आपुच्छणिज्जे—एक बार पूछने योग्य। **पडिपुच्छणिज्जे**—बार-बार पूछने योग्य।

मेढ़ी : आशय—जिस प्रकार भूसे में से धान निकालने के लिए खलिहान के बीच में एक स्तम्भ गाड़ा जाता है, जिसको केन्द्र में रखकर उसके चारों ओर धान्य को गाहने के लिए बैल चक्कर लगाते हैं; इसी प्रकार जिसको केन्द्र में रखकर सभी कुटुम्बीजन और व्यापारीगण विवेचना करते थे, विचारविमर्श करते थे।

पमाणं—प्रत्यक्षादि प्रमाणवत् उसकी बात अविरुद्ध (प्रमाणित) होती थी। इसलिए उसको प्रमाणभूत मानकर उचित कार्य में प्रवृत्ति या अनुचित से निवृत्ति की जाती थी।

आहारे:आधार—जैसे आधार, आधेय का उपकारक होता है, वैसे ही वह आधार लेने वाले लोगों के सर्व कार्यों में उपकारी होता था।

आलंबणं—आलम्बन : सहारा—जैसे रस्सी आदि गिरते हुए के लिए आलम्बन (सहारा) होती है, वैसे ही वह विपत्ति में या पतन के गड्ढे में पड़ते हुए के लिए आलम्बन था।

चक्खू : चक्षु—नेत्रवत् पथ-प्रदर्शक। जैसे नेत्र विविध कार्यों को या मार्ग को दिखाते हैं, वैसे ही वह प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप विविध कार्यों में पथ-प्रदर्शक था।

चक्खुभूए इत्यादि : अभिप्राय—मेढी आदि पदों के आगे लगाया हुआ 'भूत' शब्द उपमार्थक है। यानी मेढ़ी के तुल्य यावत् चक्षु के समान।[१]

णेगमट्ठसहस्सस्स—एक हजार आठ नैगमों अर्थात् वणिकों का।

मुनिसुव्रतस्वामी से धर्मकथा-श्रवण और प्रव्रज्या ग्रहण की इच्छा

३. [२] तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वये अरहा आदिगरे जहा सोलसमसए (स. १६ उ. ५

---

१. भगवतीसूत्र . अ. वृत्ति, पत्र ७३९

सु. १६) तहेव जाव समोसढे जाव परिसा पज्जुवासति।

''तए णं से कत्तिए सेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ० एवं जहा एक्कारसमसते सुदंसणे (स. ११ उ. ११ सु. ४) तहेव निग्गओ जाव पज्जुवासति।''

''तए णं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियस्स सेट्ठिस्स धम्मकहा जाव परिसा पडिगता।''

''तए णं से कत्तिए सेट्ठी मुणिसुव्वय० जाव निसम्म हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ मुणिसुव्वयं जाव एवं वदासी—'एवमेयं भंते! जाव से जहेयं तुब्भे वदह। जं नवरं देवाणुप्पिया ! नेगमट्ठसहस्सं आपुच्छामि, जेट्ठपुत्तं च कुडुंबे ठावेमि, तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं पव्वयामि। अहासुहं जाव मा पडिबंधं'।''

[३-२] उस काल उस समय धर्म की आदि करने वाले अर्हत् श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर वहाँ (हस्तिनापुर में) पधारे; यावत् समवसरण लगा। इसका समग्र वर्णन जैसे सोलहवें शतक (के पंचम उद्देशक, सू. १६) में है, उसी प्रकार (यहाँ समझना;) यावत् परिषद् पर्युपासना करने लगी।

उसके पश्चात् वह कार्तिक श्रेष्ठी भगवान् के पदार्पण का वृतान्त सुनकर हर्षित और सन्तुष्ट हुआ; इत्यादि। जिस प्रकार ग्यारहवें शतक (उ. ११ के सू. ४) में सुदर्शन-श्रेष्ठी का वन्दनार्थ निर्गमन का वर्णन है, उसी प्रकार वह भी वन्दन के लिए निकला, यावत् पर्युपासना करने लगा।

तदनन्तर तीर्थंकर मुनिसुव्रत अर्हत् ने कार्तिक सेठ (तथा उस विशाल परिषद्) को धर्मकथा कही, यावत् परिषद् लौट गई।

कार्तिक सेठ, भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी से धर्म सुनकर यावत् अवधारण करके अत्यन्त हृष्ट-तुष्ट हुआ, फिर उसने खड़े होकर यावत् सविनय इस प्रकार कहा—'भगवन् ! जैसा आपने कहा, वैसा ही यावत् है। हे देवानुप्रिय प्रभो ! विशेष यह कहना है, मैं एक हजार आठ व्यापारी मित्रों से पूछूंगा और अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपूंगा और तब मैं आप देवानुप्रिय के पास प्रव्रजित होऊंगा।

[भगवान्—] देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो, किन्तु (इस कार्य में) विलम्ब मत करो।

विवेचन—कार्तिक श्रेष्ठी द्वारा धर्मकथाश्रवण और प्रव्रज्याग्रहण की इच्छा—प्रस्तुत परिच्छेद में कार्तिक सेठ द्वारा मुनिसुव्रत तीर्थंकर के धर्मश्रवण का अतिदेशपूर्वक वर्णन है। उसके मन में भगवान् के निकट दीक्षा ग्रहण करने का विचार हुआ, उसका निरूपण है।

व्यापारियों से पूछने का आशय—दीक्षा-ग्रहण से पूर्व कार्तिक सेठ अपना कौटुम्बिक भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपे और कौटुम्बिक जनों से अनुमति ले, यह तो उचित था, किन्तु अपने एक हजार आठ व्यापारिक मित्रों से पूछे, इसके पीछे आशय यह है कि वह इन सभी का अत्यन्त विश्वस्त, प्रामाणिक और आधारभूत व्यक्ति था, चुपचाप दीक्षा ले लेने से सबको आघात और विश्वासघात लगता, इसलिए उनसे पूछना

सेठ ने आवश्यक समझा।

एक हजार आठ व्यापारी-मित्रों से परामर्श, तथा उनकी भी प्रव्रज्या ग्रहण की तैयारी

३. [३] "तए णं से कत्तिए सेट्ठी जाव पडिनिक्खमइ, प० २ जेणेव हत्थिणापुरे नगरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ णेगमट्ठसहस्सं सद्दावेइ, स० २ एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं धम्मे निसंते, से वि य मे धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुयिते। तए णं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभयुव्विग्गे जाव पव्वयामि। तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! किं करेह ? किं ववसह ? के भे हिदइच्छिए ? के भे सामत्थे ?"

"तए णं तं णेगमट्ठसहस्सं तं कत्तियं सेट्ठिं एवं वदासी—जदि णं देवाणुप्पिया संसारभयुव्विग्गा जाव पव्वइस्संति अम्हं देवाणुप्पिया ! किं अन्ने आलंबणे वा आहारे वा पडिबंधे वा ? अम्हे वि णं देवाणुप्पिया! संसारभउव्विग्गा भीता जम्मण-मरणाणं देवाणुप्पिएहिं सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वयामो।"

"तए णं से कत्तिए सेट्ठी तं नेगमट्ठसहस्सं एवं वयासी—'जदि णं देवाणुप्पिया ! संसारभयुव्विग्गा भीया जम्मण-मरणाणं मए सद्धिं मुणिसुव्वयस्स जाव पव्वयह, तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सएसु गिहेसु०[१] जेट्ठेपुत्ते कुडंबे ठावेह, जेट्ठे० ठा० २[२] पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरुहह, पुरिस. दुरु० २[३] अकालपरिहीणं चेव मम अंतियं पादुब्भवह'।"

"तए णं तं नेगमट्ठसहस्सं पि कत्तियस्स सेट्ठिस्स एतमट्ठं विणएणं पडिसुणेति, प० २ जेणेव साइं साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छइ, उवा० २ विपुलं असण जाव उवक्खडावेति, उ० २ मित्तनाति० जाव तस्सेव मित्तनाति० जाव पुरतो जेट्ठपुत्ते कडुंबे ठावेति, जे० ठा० २ तं मित्तनाति जाव जेट्ठपुत्ते व आपुच्छति, आ० २ पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूहति, प० दुरू० २ मित्तणाति० जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेहि य समणुगम्ममाणमग्गा (? ग्गे) सव्विड्ढीए जाव रवेणं अकालपरिहीणं चेव कत्तियस्स सेट्ठिस्स अंतियं पाउब्भवति।"

[३-३] तदनन्तर वह कार्तिक श्रेष्ठी यावत् (उस धर्म-परिषद् से) निकला और वहाँ से हस्तिनापुर नगर में जहाँ अपना घर था वहाँ आया। फिर उसने उन एक हजार आठ व्यापारी मित्रों को बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! बात ऐसी है कि मैंने अर्हन्त भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी से धर्म सुना है। वह धर्म मुझे इष्ट, अभीष्ट और रुचिकर लगा। हे देवानुप्रियो ! उस धर्म को सुनने के पश्चात् मैं संसार (जन्ममरणरूप चातुर्गतिक संसार) के भय से उद्विग्न हो गया हूँ और यावत् में तीर्थंकर के पास प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ। तो हे

यहाँ कुछ प्रतियों में अधिक पाठ मिलता है—

१. 'विपुलं असणं उवक्खडावेह, मित्तनाइ० जाव पुरओ......।'

२. '........मित्तनाइ जाव जेट्ठपुत्ते आपुच्छह आपु० २...........।'

३ '....... मित्तनाइ जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेहि य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढीए जाव रवेणं....।'

देवानुप्रियो ! तुम सब क्या करोगे? क्या प्रवृत्ति करने का विचार है? तुम्हारे हृदय में क्या इष्ट है? और तुम्हारी क्या करने की क्षमता (शक्ति) है?

यह सुन कर उन एक हजार आठ व्यापारी मित्रों ने कार्तिक सेठ से इस प्रकार कहा—यदि आप संसारभय से उद्विग्न (विरक्त) होकर गृहत्याग कर यावत् प्रव्रजित होंगे, तो फिर, देवानुप्रिय ! हमारे लिए (आपके सिवाय) दूसरा कौन-सा आलम्बन है? या कौन-सा आधार है? अथवा (यहाँ) कौन-सी प्रतिबद्धता रह जाती है? अतएव, हे देवानुप्रिय ! हम भी संसार के भय से उद्विग्न हैं, तथा जन्ममरण के चक्र से भयभीत हो चुके हैं। हम भी आप देवानुप्रिय के साथ अगारवास का त्याग कर अर्हन्त मुनिसुव्रतस्वामी के पास मुण्डित होकर अनगार-दीक्षा ग्रहण करेंगे।

व्यापारी-मित्रों का अभिमत जान कर कार्तिक श्रेष्ठी ने उन १००८ व्यापारी-मित्रों से इस प्रकार कहा—'यदि तुम सब देवानुप्रिय संसारभय से उद्विग्न और जन्ममरण से भयभीत होकर मेरे साथ भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी के समीप प्रव्रजित होना चाहते हो तो अपने-अपने घर जाओ, (प्रचुर अशनादि चतुर्विध आहार तैयार कराओ, फिर अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन आदि को बुलाओ, यावत् उनके समक्ष अपने) ज्येष्ठपुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दो। [फिर उन मित्र-ज्ञातिजन यावत् ज्येष्ठपुत्र को इस विषय में पूछ लो] तब एक हजार पुरुषों द्वारा उठाने योग्य शिविका में बैठकर [और मार्ग में मित्रादि एवं ज्येष्ठपुत्र द्वारा अनुगमन किये जाते हुए, समस्त ऋद्धि से युक्त यावत् वाद्यों के घोषपूर्वक] कालक्षेप (विलम्ब) किये बिना मेरे पास आओ।'

तदनन्तर कार्तिक सेठ का यह कथन उन एक हजार आठ व्यापारी-मित्रों ने विनयपूर्वक स्वीकार किया और अपने-अपने घर आए। फिर उन्होंने विपुल अशनादि तैयार कराया और अपने मित्र-ज्ञातिजन आदि को आमन्त्रित किया। यावत् उन मित्र-ज्ञातिजनादि के समक्ष अपने ज्येष्ठपुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपा। फिर उन मित्र-ज्ञाति-स्वजन यावत् ज्येष्ठपुत्र से (दीक्षाग्रहण करने के विषय में) अनुमति प्राप्त की। फिर हजार पुरुषों द्वारा उठाने योग्य (पुरुष-सहस्रवाहिनी) शिविका में बैठे। मार्ग में मित्र ज्ञाति, यावत् परिजनादि एवं ज्येष्ठपुत्र के द्वारा अनुगमन किये जाते हुए यावत् सर्वऋद्धि-सहित, यावत् वाद्यों के निनादपूर्वक अविलम्ब कार्तिक सेठ के समीप उपस्थित हुए।

विवेचन—प्रस्तुत परिच्छेद (सू. ३-३) में कार्तिक सेठ द्वारा व्यापारी मित्रों से परामर्श, उनकी भी दीक्षा ग्रहण करने की मन:स्थिति एवं तत्परता जान कर उन्हें उसकी तैयारी करने के निर्देश तथा व्यापारीगण द्वारा उस प्रकार की तैयारी के साथ उपस्थित होने का वर्णन है।

कठिन शब्दार्थ—**उवक्खडावेह**—तैयार कराओ। **कुडुंबे ठावेह**—कुटुम्ब के उत्तरदायी के रूप में स्थापित करो—कुटुम्ब का भार सौंपो। **रवेणं**—वाद्यों के घोषपूर्वक। **अकाल-परिहीणं**—अधिक समय नष्ट न करके अर्थात् विलम्ब किये बिना। **पाउब्भवह**—प्रकट होओ—उपस्थित होओ।[१]

एक हजार आठ व्यापारियों सहित दीक्षाग्रहण तथा संयमसाधना

[३-४] "तए णं से कत्तिए सेट्ठी विपुलं असण ४ जहा गंगदत्तो (स. १६ उ. ५ सु. १६) जाव

१. भगवती. सूत्र भाग ६ (पं. घेवरचन्दजी सम्पादित) पृ. २६७०

मित्तनाति० जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेणं णेगमट्ठसहस्सेण य समणगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव रवेणं हत्थिणापुरं नगरं मज्झंमज्झेणं जहा गंगदत्तो (स. १६ उ. ५ सु. १६) जाव आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते ! लोए, जाव आणुगामियत्ताए भविस्सति, तं इच्छामि णं भंते! णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावियं जाव धम्ममाइक्खितं।''

''तए णं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियं सेट्ठिं णेगमट्ठसुहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावेइ जाव धम्ममाइक्खइ—एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं, एवं चिट्ठियव्वं जाव संजमियव्वं।''

''तए णं से कत्तिए सेट्ठी नेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ इमं एयारूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं संपडिवज्जति तमाणाए तहा गच्छति जाव संजमति।''

''तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं अणगारे जाए इरियासमिए जाव गुत्तबंभचारी।''

[३-४] तदन्तर कार्तिक श्रेष्ठी ने (शतक १६ उ. ५ सू. १६ में उल्लिखित) गंगदत्त के समान विपुल अशनादि आहार तैयार करवाया, यावत् मित्र ज्ञाति यावत् परिवार, ज्येष्ठपुत्र एवं एक हजार आठ व्यापारीगण के साथ उनके आगे-आगे समग्र ऋद्धिसहित यावत् वाद्य-निनाद-पूर्वक हस्तिनापुर नगर के मध्य में से होता हुआ, (शतक १६ उ. ५ सू. १६ में वर्णित) गंगदत्त के समान गृहत्याग करके वह भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के पास पहुँचा यावत् इस प्रकार बोला—भगवन्! यह लोक चारों ओर से जल रहा है, भन्ते ! यह संसार अतीव प्रज्वलित हो रहा है; (इसमें धर्म ही एकमात्र इहलोक परलोक के लिए हितकर, श्रेयस्कर, मोक्ष ले जाने में समर्थ, एवं) यावत् परलोक में अनुगामी होगा। अत: मैं (ऐसे प्रज्वलित संसार का त्याग कर) एक हजार आठ वणिकों सहित आप स्वयं के द्वारा प्रव्रजित होना और यावत् आप से धर्म का उपदेश-निर्देश प्राप्त करना चाहता हूँ।

इस पर श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर ने एक हजार आठ वणिक्-मित्रों सहित कार्तिक श्रेष्ठी को स्वयं प्रव्रज्या प्रदान की और यावत् धर्म का उपदेश-निर्देश किया कि—देवानुप्रियो ! अब तुम्हें इस प्रकार चलना चाहिए, इस प्रकार खड़े रहना चाहिए आदि, यावत् इस प्रकार संयम का पालन करना चाहिए।

एक हजार आठ व्यापारी मित्रों सहित कार्तिक सेठ ने भगवान् मुनिसुव्रत अर्हन्त के इस धार्मिक उपदेश को सम्यक् रूप से स्वीकार किया तथा उन (भगवान्) की आज्ञा के अनुसार सम्यक् रूप से चलने लगा, यावत् संयम का पालन करने लगा।

इस प्रकार एक हजार आठ वणिकों के साथ वह कार्तिक सेठ अनगार बना, तथा ईर्यासमिति आदि समितियों से युक्त यावत् गुप्त ब्रह्मचारी बना।

विवेचन—प्रस्तुत परिच्छेद (३-४) में कार्तिक सेठ द्वारा व्यापारीगण सहित अभिनिष्क्रमण, हस्तिनापुर के बाहर जहाँ भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी विराजमान थे, वहाँ पहुँचने और अपनी संसार से विरक्ति के उद्गारपूर्वक भगवान् से दीक्षा तथा मुनिधर्म का निर्देश करने की प्रार्थना, भगवान् द्वारा दिये गए मुनिधर्म में यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने के निर्देश तथा तदनुसार धर्मोपदेश का सम्यक् स्वीकार एवं अनगार धर्म की सम्यक् रूप से साधना का वर्णन है।

कार्तिक अनगार द्वारा अध्ययन, तप, संलेखनापूर्वक समाधिमरण एवं सौधर्मेन्द्र के रूप में उत्पत्ति

[३-५] ''तए णं से कत्तिए अणगारे मुणिसुव्वयस्स अरहओ तहारूवाणं थेराणं अंतियं सासाइयमाइयाइं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जइ, सा० अ० २ बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठस० जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणति, ब० पा० २ मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसेइ, मा० झो० १ सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, स० छे० २ आलोइय जाव कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि जाव सक्के देविंदत्ताए उववन्ने।''

''तए णं से सक्के देविंदे देवराया अहुणोववन्ने०।''

सेसं जहा गंगदत्तस्स (स. १६ उ. ५ सु. १६) जाव अंतं काहिति, नवरं ठिती दो सागरोवमाइं सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठारसमे सए : बीओ उद्देसो समत्तो॥ १८-२॥

[३-५] इसके पश्चात् उस कार्तिक अनगार ने तथारूप स्थविरों के पास सामायिक से लेकर चौदह पूर्वों तक का अध्ययन किया। साथ ही बहुत से चतुर्थ (उपवास), छट्ठ (बेले), अट्ठम (तेले) आदि तपश्चरण से आत्मा को भावित करते हुए पूरे बारह वर्ष तक श्रामण्य-पर्याय का पालन किया। अन्त में, उसने एक मास की संल्लेखना द्वारा अपने शरीर को झूषित (कृश) किया, अनशन से साठ भक्त का छेदन किया और आलोचना प्रतिक्रमण आदि करके आत्मशुद्धि की, यावत् काल के समय कालधर्म को प्राप्त कर वह सौधर्मकल्प देवलोक में, सौधर्मावतंसक विमान में रही हुई उपपात सभा में देवशय्या में यावत् शक्र देवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

इसी से कहा गया था—'शक्र देवेन्द्र देवराज अभी-अभी उत्पन्न हुआ है।'

शेष वर्णन शतक १६ उ. ५ सू. १६ से प्रतिपादित गंगदत्त के वर्णन के समान यावत्—'वह सभी दुःखों का अन्त करेगा,' (यहाँ तक जानना चाहिए)। विशेष यह है कि उसकी स्थिति दो सागरोपम की है। शेष सब वर्णन गंगदत्त के (वर्णन के) समान है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—इस परिच्छेद (३-५) में कार्तिक अनगार के अध्ययन, तपश्चरण तथा श्रामण्य-पर्याय के पालन की अवधि एवं अन्त में, एकमासिक संल्लेखना द्वारा अपनी आत्मशुद्धिपूर्वक समाधिमरण का और *आगामी (इस) भव में देवेन्द्र शक्र देवराज के रूप में उत्पन्न होने का तथा उसकी स्थिति का संक्षेप में वर्णन है।*

गंगदत्त और कार्तिक श्रेष्ठी—हस्तिनापुर में कार्तिक सेठ तो बाद में श्रेष्ठी हुए, उनसे बहुत पहले से

गंगदत्त श्रेष्ठी बने हुए थे। इन दोनों में प्राय: ईर्ष्याभाव रहता था। दोनों ने तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के पास दीक्षा अंगीकार की थी। किन्तु श्रमणत्व की साधना में तारतम्य होने से गंगदत्त का जीव सातवें महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न हुआ, जबकि कार्तिक सेठ का जीव शक्रेन्द्र बना।[१]

कठिन शब्दार्थ—उववायसभाए—उपपात सभा (देवों के उत्पन्न होने के सभागार) में। **देवसयणिज्जंसि**—देंवशय्या में (जहाँ देव उत्पन्न होते हैं)। **पाउणइ**—पालन करता है। **अहुणोववन्ने**—तत्काल उत्पन्न हुआ है।[२]

॥ अठारहवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवतीसूत्र. भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २६७४

२. वही, पृ. २६७३

तइओ उद्देसओ : 'मायंदिए'

तृतीय उद्देशक : माकन्दिक

माकन्दीपुत्र द्वारा पूछे गए कापोतलेश्यी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिकों को मनुष्य भवानन्तर सिद्धिगतिसम्बन्धी प्रश्न के भगवान् द्वारा उत्तर-माकन्दीपुत्र द्वारा तथ्य प्रकाशन पर संदिग्ध श्रमणनिर्ग्रन्थों का भगवान् द्वारा समाधान, उनके द्वारा क्षमापना

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। गुणसिलए चेतिए। वण्णओ। जाव परिसा पडिगया।

[१] उस काल और उस समय में राजगृह नाम का नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ गुणशील नामक चैत्य (उद्यान) था। उसका भी वर्णन करना चाहिए। यावत् परिषद् वन्दना करके वापिस लौट गई।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जाव अंतेवासी मांगदियपुत्ते नामं अणगारे पगतिभद्दए जहा मंडियपुत्ते (स. ३ उ. ३ सु. १) जाव[१] पज्जुवासमाणे एवं वयासी—से नूणं भंते ! काउलेस्स पुढविकाइएट्टकाउलेस्सेहिंतो पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभति, मा० ल० २ केवलं बोहिं बुज्झइ, केव० बु० २ तओ पच्छा सिज्झति जाव[२] अंतं करेति ?

हंता, मागंदियपुत्ता! काउलेस्से पुढविकाइए जाव अंतं करेति।

[२ प्र.] उस काल एवं उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी यावत् प्रकृतिभद्र माकन्दिकपुत्र नामक अनगार ने, (शतक ३, उद्देशक १ सू. १ में वर्णित) मण्डितपुत्र अनगार के समान यावत् पर्युपासना करते हुए (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) इस प्रकार पूछा—भगवन्! क्या कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिकजीव, कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिकजीवों में से मरकर अन्तररहित (सीधा) मनुष्य शरीर प्राप्त करता है ? फिर (उस मनुष्यभव में ही) केवलज्ञान उपार्जित करता है ? तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है यावत् सर्वदु:खों का अन्त करता है ?

[२ उ.] हाँ, माकन्दिकपुत्र! वह कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक जीव यावत् सब दु:खों का अन्त करता है।

३. से नूणं भंते ! काउलेस्से आउकाइए, काउलेस्सेहिंतो आउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभति, माणुस्सं विग्गहं लभित्ता केवलं बोहिं बुज्झति जाव अंतं करेति ?

हंता, मागंदियपुत्ता! जाव अंतं करेति।

[३ प्र.] भगवन्! क्या कापोतलेश्यी अप्कायिकजीव कापोतलेश्यी अप्कायिकजीवों में से मर कर अन्तररहित

---

१. 'जाव' पद सूचित पाठ—'पगइ-उवसंते, पगइपयणुकोह-माण-माया-लोभे इत्यादि।'

२. जाव पद-सूचक पाठ—बुज्झति, मुच्चति सव्वदुक्खाणं........।

मनुष्यशरीर प्राप्त करता है ? फिर केवलज्ञान प्राप्त करके यावत् सब दु:खों का अन्त करता है ?

[३ उ.] हाँ, माकन्दिकपुत्र! वह यावत् सब दु:खों का अन्त करता है।

४. से नूणं भंते ! काउलेस्से वणस्सइकाइए० ?

एवं चेव जाव अंतं करेति।

[४ प्र] भगवन्! कापोतलेश्यी वनस्पतिकायिकजीव के सम्बन्ध में भी वही प्रश्न है ?

[४ उ.] हाँ, माकन्दिकपुत्र! वह भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् सब दु:खों का अन्त करता है।

५. 'सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति मागंदियपुत्ते अणगारे समणं भगवं महावीरं जाव नमंसित्ता जेणेव समणे निग्गंथे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ समणे निग्गंथे एवं वदासी—'एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से पुढविकाइए तहेव जाव अंतं करेति। एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से आउक्काइए जाव अंतं करेति। एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से वणस्सतिकाइए जाव अंतं करेति।'

[५] 'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है' यों कहकर माकन्दिकपुत्र अनगार श्रमण भगवान् महावीर को यावत् वन्दन-नमस्कार करके जहाँ श्रमण निर्ग्रन्थ थे, वहाँ उनके पास आए और उनसे इस प्रकार कहने लगे—आर्यो! कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक जीव पूर्वोक्त प्रकार से यावत् सब दु:खों का अन्त करता है, इसी प्रकार हे आर्यो! कापोतलेश्यी अप्कायिक जीव भी यावत् सब दु:खों का अन्त करता है, और इसी प्रकार कापोतलेश्यी वनस्पतिकायिक जीव भी, यावत् सभी दु:खों का अन्त करता है।

६. तए णं ते समणा निग्गंथा मागंदियपुत्तस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति ३, एयमट्ठं असद्दहमाणा ३ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, ते०उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ एवं वयासी—एवं खलु भंते ! मागंदियपुत्ते अणगारे अम्हं एवमाइक्खइ जाव परूवेइ—'एवं खलु अज्जो !' काउलेस्से पुढविकाइए जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! काउलेस्से आउकाइए जाव अंतं करेति, एवं वणस्सतिकाइए वि जाव अंतं करेति। से कहमेयं भंते !' 'एवं ? अज्जो !' त्ति समणे भगवं महावीरे ते समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी—जं णं अज्जो ! मागंदियपुत्ते अणगारे तुब्भे एवमाइक्खइ जाव परूवेइ—एवं खल्लु अज्जो! काउलेस्से पुढविकाइए जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो! काउलेस्से आउकाइए जाव अंतं करेति, एवं खलु वणस्सइकातिए वि जाव अंतं करेति, सच्चे णं एसमट्ठे अहं पि णं अज्जो! एवमाइक्खामि ४ एवं खलु अज्जो ! कण्हलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेहिंतो पुढविकाइएहिंतो जाव अंतं करेति, एवं खलु अज्जो ! नीललेस्से पुढविकाइए जाव अंतं करेति, एवं काउलेस्से वि, जहा पुढविकाइए एवं आउकाइए वि, एवं वणस्सतिकाइए वि, सच्चे णं एसमट्ठे।

[६] तदनन्तर उन श्रमण निर्ग्रन्थों ने माकन्दिकपुत्र अनगार की इस प्रकार की प्ररूपणा, व्याख्या यावत् मान्यता पर श्रद्धा नहीं की, न ही उसे मान्य किया।

[प्र.] वे इस मान्यता के प्रति अश्रद्धालु बनकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास आए। फिर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! माकन्दीपुत्र अनगार ने हमसे कहा यावत् प्ररूपणा की कि कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक, कापोतलेश्यी अप्कायिक और कापोतलेश्यी वनस्पतिकायिक जीव, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है। हे भगवन्! ऐसा कैसे हो सकता है ?'

[उ] आर्यो! इस प्रकार सम्बोधन करके, श्रमण भगवान् महावीर ने उन श्रमण निर्ग्रन्थों से इस प्रकार कहा—'आर्यो! माकन्दिकपुत्र अनगार ने जो तुमसे कहा है, यावत् प्ररूपणा की है, कि आर्यो ! कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक, कापोतलेश्यी अप्कायिक और कापोतलेश्यी वनस्पतिकायिक, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है यह कथना सत्य है। हे आर्यो! मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ। इसी प्रकार कृष्णलेश्यी पृथ्वीकायिकजीव, कृष्णलेश्यी पृथ्वीकायिकों में से मर कर, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है। इसी प्रकार हे आर्यो ! नीललेश्यी पृथ्वीकायिक भी······· यावत् सब दुःखों का अन्त करता है, इसी प्रकार कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक भी यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है। जिस प्रकार पृथ्वीकायिक के विषय में कहा है, उसी प्रकार अप्कायिक और वनस्पतिकायिक भी, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करता है। यह कथन सत्य है।

७. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति समणा निग्गंथा समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वं० २ जेणेव मागंदियपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ मागंदियपुत्तं अणगारं वंदंति नमंसंति, वं० २ एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति।

[७] हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है। यों कहकर उन श्रमण-निर्ग्रन्थों ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया, और वे जहाँ माकन्दीपुत्र अनगार थे, वहाँ आए। उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। फिर उन्होंने (उनके कथन पर श्रद्धा न करने के कारण) उनसे सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना की।

विवेचन—माकन्दीपुत्र अनगार के प्रश्नों का समाधान—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १ से ४ तक) में माकन्दीपुत्र अनगार द्वारा पूछे गए कापोतलेश्यी पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक जीव अपने-अपने काय से मर कर अन्तररहित मनुष्य शरीर पाकर केवलज्ञानी बनकर सिद्ध हो सकते हैं या नहीं? इन प्रश्नों का स्वीकृतिसूचक समाधान भगवान् द्वारा किया गया है, तत्पश्चात् सू० ५ से ७ तक में माकन्दीपुत्र द्वारा उसी तथ्य का प्ररूपण श्रमणनिर्ग्रन्थों के समक्ष करने, किन्तु उनके द्वारा मान्य न करने और भगवान् महावीर के समक्ष शंका व्यक्त करने पर उसी (पूर्वोक्त) समाधान को सत्य प्रमाणित करने पर श्रमण निर्ग्रन्थों द्वारा माकन्दीपुत्र से क्षमायाचाना करने का प्रतिपादन है।

फलितार्थ—कृष्ण-नील-कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव अपने-अपने काय से निकलकर सीधे मनुष्यभव प्राप्त करके उसी भव से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है। तेजस्काय और वायुकाय से निकला हुआ जीव मनुष्यभव प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए यहाँ उनकी अन्तक्रिया सम्बन्धी पृच्छा

नहीं की गई है।[१]

८. तए णं से मागंदियपुत्ते अणगारे उट्ठाए उट्ठेइ, उ० २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वदासी—अणगारस्स णं भंते! भावियप्पणो सव्वं कम्मं वेदेमाणस्स, सव्वं कम्मं निज्जरेमाणस्स, सव्वं मारं मरमाणस्स, सव्वं सरीरं विप्पजहमाणस्स, चरिमं कम्मं वेदेमाणस्स, चरिमं कम्मं निज्जरेमाणस्स, चरिमं मारं मरमाणस्स, चरिमं सरीरं विप्पजहमाणस्स, मारणंतियं कम्मं वेदेमाणस्स, मारणंतियं कम्मं निज्जरेमाणस्स, मारणंतियं मारं मरमाणस्स, मारणंतियं सरीरं विप्पजहमाणस्स जे चरिमा निज्जरापोग्गला, सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो! सव्वं लोगं पि णं ते ओगाहित्ताणं चिट्ठंति ?

हंता, मागंदियपुत्ता! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव ओगाहित्ताणं चिट्ठंति।

[८ प्र.] तत्पश्चात् माकन्दिकपुत्र अनगार अपने स्थान से उठे और श्रमण भगवान् महावीर के पास आए। उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार पूछा—भगवन्! सभी कर्मों को वेदते (भोगते) हुए, सर्वकर्मों की निर्जरा करते हुए, समस्त मरणों से मरते हुए, सर्वशरीर को छोड़ते हुए तथा चरम कर्म को वेदते हुए, चरम कर्म की निर्जरा करते हुए, चरम मरण से मरते हुए, चरमशरीर को छोड़ते हुए एवं मारणान्तिक कर्म को वेदते हुए, निर्जरा करते हुए, मारणान्तिक मरण से मरते हुए, मारणान्तिक शरीर को छोड़ते हुए भावितात्मा अनगार के जो चरमनिर्जरा के पुद्गल हैं, क्या वे पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं? हे आयुष्मन् श्रमणप्रवर ! क्या वे पुद्गल समग्र लोक का अवगाहन करके रहे हुए हैं ?

[८ उ.] हाँ, माकन्दिकपुत्र ! तथाकथित (पूर्वोक्त) भावितात्मा अनगार के यावत् वे चरम निर्जरा के पुद्गल समग्र लोक का अवगाहन करके रहे हुए हैं।

विवेचन—भावितात्मा अनगार का अर्थ है—ज्ञानादि से जिसकी आत्मा वासित है। यहाँ केवली से तात्पर्य है। **सर्व कर्म-वेदन-निर्जरण, सर्वमार-मरण, सर्वशरीरत्याग का तात्पर्य**—केवली के सर्व कर्म भवोपग्राही चार (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) कर्म होते हैं। इन्हीं सर्व कर्मों का वेदन अर्थात्—अनुभव करना-भोगना। सभी भवोपग्राही कर्मों का निर्जरण अर्थात्—आत्मप्रदेशों से पृथक् होना। सभी आयुष्य के पुद्गलों की अपेक्षा से अन्तिम मरण सर्वमार है। सर्व अर्थात् औदारिक समस्त शरीरों को छोड़ना-सर्वशरीरत्याग है। **चरम कर्म-वेदन-निर्जरण, चरममारमरण एवं चरमशरीरत्याग का तात्पर्य**—चरमकर्म वेदन एवं निर्जरण का अर्थ है—आयुष्य के चरम समय में वेदन करने योग्य कर्म का वेदन एवं चरमकर्मों को आत्मप्रदेश से दूर करना कर्मनिर्जरण है। चरममारमरण का अर्थ है—आयुष्य के पुद्गलों के क्षय की अपेक्षा से चरम (अन्तिम) मरण से मृत्यु को प्राप्त। चरमशरीरत्याग—चरमावस्था में जो शरीर है, उसे छोड़ना। मारणान्तिक कर्म **वेदन एवं निर्जरण**—समस्त आयुष्यक्षयरूप मरण के अन्त यानी समीप को मरणान्त कहते हैं, अर्थात्—आयुष्य का चरमसमय। मरणान्त में होने वाला मारणान्तिक, जो भवोपग्राहीत्रयरूप कर्म है, उसका वेदन एवं

१. (क) भगवती सूत्र. अ. वृत्ति, पत्र ७४०

(ख) भगवती सूत्र (पं. घेवरचन्दजी) भाग-६, पृ. २६७९

निर्जरा। मारणान्तिकमार—मृत्यु के अन्तिम क्षणों के आयुर्दलिक की अपेक्षा से जो मार अर्थात् मरण हो, वह। मारणान्तिक—शरीरत्याग—आयुष्य के अन्तिम समय में जो शरीर हो वह मारणान्तिक शरीर है, उसको छोड़ना मारणान्तिक शरीरत्याग है।

चरिमा निज्जरापोग्गला : अर्थ—केवली के सर्वान्तिम जो निर्जीर्ण किये हुए कर्मदलिक हैं, वे चरम निर्जरा-पुद्गल हैं। इन पुद्गलों को भगवान् ने सूक्ष्म कहा है। ये सम्पूर्ण लोक को अभिव्याप्त करके रहते हैं।[१]

९ [१] छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं किंचि आणत्तं वा णाणत्तं वा० ?

एवं जहा इंदियउद्देसए पढमे जाव वेमाणिया जाव तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति आहारेंति, से तेणट्ठेणं निक्खेवो भाणियव्वो त्ति ण पासंति, आहारेंति।[२]

[९-१ प्र.] भगवन्! क्या छद्मस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के अन्यत्व और नानात्व को जानता देखता है ?

[९-१ उ.] हे माकन्दिकपुत्र! प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम इन्द्रियोद्देशक के अनुसार वैमानिक तक जानना चाहिए। यावत्—इनमें जो उपयोगयुक्त हैं, वे (उन निर्जरापुद्गलों को) जानते, देखते और आहाररूप में ग्रहण करते हैं, इस कारण से हे माकन्दिकपुत्र ! यह कहा जाता है कि .... यावत् जो उपयोगरहित हैं, वे उन पुद्गलों को जानते-देखते नहीं, किन्तु उन्हें आहरण-ग्रहण करते हैं, इस प्रकार (यहाँ समग्र) निक्षेप (प्रज्ञापनासूत्र-गत वह पाठ) कहना चाहिए।

[२] णेरइया णं भंते! णिज्जरापोग्गला ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति ?

एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं।

[९-२ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक उन निर्जरापुद्गलों को नहीं जानते, नहीं देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं?

[९-२ उ.] हाँ, वे उन निर्जरापुद्गलों को जानते-देखते नहीं, किन्तु ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकों तक जानना चाहिए।

३. मणुस्सा णं भंते! णिज्जरापोग्गले किं जाणंति पासंति आहारेंति, उदाहु ण जाणंति ण पासंति णाहारेंति ?

गोयमा ! अत्थेइया जाणंति ३, अत्थेगइया ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति।

[९-३ प्र.] भगवन्! क्या मनुष्य उन निर्जरापुद्गलों को जानते-देखते हैं और ग्रहण करते हैं, अथवा वे नहीं जानते-देखते, और न ही आहरण करते हैं?

[९-३ उ.] गौतम! कई मनुष्य उन पुद्गलों को जानते-देखते हैं और ग्रहण करते हैं, कई मनुष्य नहीं जानते-देखते, किन्तु उन्हें ग्रहण करते हैं।

---

१ भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति पत्र ७४१

२. यहाँ मौलिक सूत्र यहीं तक है। किन्तु वृत्तिकार ने इससे आगे का प्रज्ञापनासूत्रीय पाठ मूलवाचना में स्वीकृत किया है।-सं.

[४] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'अत्थेगइया जाणंति ३, अत्थेगइया न जाणंति, न पासंति, आहारेंति ?'

गोयमा ! मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सण्णीभूया य असण्णीभूया य। तत्थ णं जे ते असण्णीभूया, ते न् जाणंति, न पासंति, आहारेंति। तत्थ णं जे ते सण्णीभूया, ते दुविहा प० तं०—उवउत्ता अणुवउत्ता य। तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता, ते न जाणंति, न पासंति, आहारेंति। तत्थ णं जे ते उवउत्ता, ते जाणंति ३। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति, अत्थेगइया जाणंति ३ ।

[९-४ प्र.] भगवन्! आप यह किस कारण से कहते हैं कि कई मनुष्य जानते-देखते और ग्रहण करते हैं, जब कि कई मनुष्य जानते-देखते नहीं, किन्तु ग्रहण करते हैं ?

[९-४ उ.] गौतम! मनुष्य दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत। उनमें जो असंज्ञीभूत हैं, वे (उन पुद्गलों को) नहीं जानते-देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं। जो संज्ञीभूत मनुष्य हैं, वे दो प्रकार के हैं, यथा—उपयोगयुक्त और उपयोगरहित। उनमें जो उपयोगरहित हैं वे उन पुद्गलों को नहीं जानते-देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं। मगर जो उपयोगयुक्त हैं, वे जानते-देखते हैं, और ग्रहण करते हैं। इस कारण से हे गौतम! ऐसा कहा गया है कि कई मनुष्य नहीं जानते-देखते, किन्तु आहाररूप से ग्रहण करते हैं, तथा कई जानते-देखते हैं और ग्रहण करते हैं।

[५] वाणमंतर-जोइसिया जहा णेरइया।

[१-५] वाणव्यन्तर और ज्योतिष्कदेवों का कथन नैरयिकों के समान जानना चाहिए।

[५] वेमाणिया णं भंते ! ते णिज्जरा पोग्गले किं जाणंति ३ ?

गोयमा ! जहा मणुस्सा, णवरं वेमाणिया दुविहा प० तं०—माइमिच्छदिट्ठि-उववण्णगा य अमाइसम्मदिट्ठी-उववण्णगा य। तत्थ णं जे ते माइमिच्छदिट्ठि-उववण्णगा ते णं ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति। तत्थ णं जे ते अमाइसम्मदिट्ठी-उववण्णगा ते दुविहा प० तं०—अणंतरोववण्णगा य, परंपरोववण्णगा य। तत्थ णं जे ते अणंतरोववण्णगा, ते णं ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति। तत्थ णं जे ते परंपरोववण्णगा ते दुविहा प० तं०—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति। तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते दुविहा प०तं०—उवउत्ता य अणुवउत्ता य। तत्थ णं जे ते अणुवउत्तगा, ते ण जाणंति, ण पासंति, आहारेंति। [तत्थ णं जे ते उवउत्ता, ते णं जाणंति, पासंति, आहारेंति य]।[१]

१. यह पाठ प्रज्ञापनासूत्र का है, किन्तु कई प्रतियों में भगवतीसूत्र के मूलपाठ के रूप में माना गया है। इस सम्बन्ध में दो अभिप्राय वृत्तिकार लिखते हैं कि यह पाठ **प्रज्ञापनासूत्र** से उद्धृत किया हुआ है, और प्रज्ञापनासूत्र की रचना-शैली प्राय: गौतमस्वामी के प्रश्न और उत्तररूप होने से यहाँ प्रश्नकर्त्ता माकन्दिकपुत्र होने पर भी श्री गौतमस्वामी को सम्बोधित करके उत्तर दिया गया है। अत: [ ] कोष्ठकान्तर्गत पाठ प्रज्ञापना के उस संलग्न पाठ का ग्रहण किया हुआ समझना चाहिए। दूसरा मत यह है कि प्रश्नकार माकन्दिकपुत्र है। अतएव 'गौतम' शब्द से यहाँ 'माकन्दिकपुत्र' का ही ग्रहण समझना चाहिए। — सं.

[९-६ प्र.] भगवन्! वैमानिकदेव उन निर्जरापुद्गलों को जानते-देखते और उनका आहरण करते हैं या नहीं करते हैं ?

[९-६ उ.] गौतम! मनुष्यों के समान समझना चाहिए। विशेष यह है कि वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। यथा—मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। उनमें से जो मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक हैं, वे नहीं जानते-देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं, तथा उनमें से जो अमायी-सम्यग्दृष्टि उपपन्नक हैं, वे भी दो प्रकार के हैं, यथा—अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक। जो अनन्तरोपपन्नक होते हैं, वे नहीं जानते-देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं तथा जो परम्परोपपन्नक हैं, वे दो प्रकार के हैं, यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्त। उनमें जो अपर्याप्तक हैं, वे उन पुद्गलों को नहीं जानते-देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं। उनमें जो पर्याप्तक हैं, वे दो प्रकार के हैं, यथा उपयोगयुक्त और उपयोगरहित। उनमें से जो उपयोगरहित हैं, वे नहीं जानते-देखते, किन्तु ग्रहण करते हैं। [तथा जो उपयोगयुक्त हैं, वे जानते-देखते और ग्रहण करते हैं।]

विवेचन—निर्जरापुद्गलों के जानने-देखने और आहरण करने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र का फलितार्थ यह है कि केवली तो उक्त सूक्ष्म निर्जरापुद्गलों को, जो कि समग्रलोक को व्याप्त करके रहते हैं, जानते हैं, देखते हैं, इसलिए उनके विषय में यहाँ प्रश्न नहीं पूछा गया है। प्रश्न पूछा गया है—छद्मस्थ के जानने आदि के विषय में। जिसके लिए प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें पद के प्रथम इन्द्रिय-उद्देशक का अतिदेश किया गया है।

फलितार्थ—छद्मस्थों में भी जो विशिष्ट अवधिज्ञानादि-उपयोगयुक्त हैं, वे ही सूक्ष्म कार्मण (निर्जरा) पुद्गलों को जानते-देखते हैं, परन्तु जो विशिष्ट अवधिज्ञानादि के उपयोग से रहित हैं वे नहीं जानते-देखते। यही कारण है कि नैरयिक से लेकर दश भवनपति, पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय तक के जीव तथा वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देव विशिष्ट अवधिज्ञानादि उपयोगयुक्त न होने से उक्त सूक्ष्म कार्मण (निर्जरा) पुद्गलों को जान-देख नहीं सकते।

मनुष्यसूत्र में—असंज्ञीभूत एवं अनुपयुक्त मनुष्य सूक्ष्म कार्मण पुद्गलों को जान-देख नहीं सकते किन्तु जो मनुष्य संज्ञीभूत हैं, अर्थात् विशिष्ट अवधिज्ञानी हैं, तथा जो उपयोगयुक्त हैं, वे उन निर्जरा-पुद्गलों को जान-देख सकते हैं।

वैमानिकसूत्र में—जो वैमानिक देव अमायी-सम्यग्दृष्टि हैं, परम्परोपपन्नक हैं, पर्याप्तक हैं तथा जो विशिष्ट अवधिज्ञानी उपयोगयुक्त हैं, वे ही उन सूक्ष्म कार्मण पुद्गलों को जान-देख सकते हैं। जो मायी-मिथ्यादृष्टि हैं, वे विपरीतद्रष्टा होने से उन पुद्गलों को जान-देख नहीं सकते।

आहाररूप से ग्रहण—आहार तीन प्रकार के हैं—ओज-आहार, लोम-आहार और प्रक्षेप-आहार। त्वचा के स्पर्श से लोम-आहार होता है, और मुख में डालने से प्रक्षेप-आहार होता है, किन्तु कार्मणशरीर द्वारा पुद्गलों का ग्रहण करना ओज-आहार कहलाता है। यहाँ ओज-आहार का ग्रहण समझना चाहिए, जिसे

चौवीस दण्डकवर्ती जीव ग्रहण करते हैं।[१]

आणत्तं णाणत्तं : आशय—आणत्तं—अन्यत्व—दो अनगारों सम्बन्धी पुद्‌गलों की पारस्परिक भिन्नता-पृथक्ता। णाणत्तं—नानात्व-वर्णादिकृत विविधता।[२]

बन्ध के मुख्य दो भेदों के भेद-प्रभेदों का तथा चौवीस दण्डकों एवं ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्म की अपेक्षा भावबन्ध के प्रकार का निरूपण

१०. कतिविधे णं भंते बंधे पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता! दुविहे बंधे पन्नत्ते, तं जहा—दव्वबंधे य भावबंधे य।

[१० प्र.] भगवन्! बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] माकन्दिकपुत्र! बन्ध दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—द्रव्यबन्ध और भावबन्ध।

११. दव्वबंधे णं भंते! कतिविधे पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता ! दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—पयोगबंधे य वीससाबंधे य।

[११ प्र.] भगवन्! द्रव्यबन्ध कितने प्रकार का गया है ?

[११ उ.] माकन्दिकपुत्र! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध।

१२. वीससाबंधे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता! दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—सादीयवीससाबंधे य अणादीयवीससाबंधे य।

[१२ प्र.] भगवन्! विस्रसाबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१२ उ.] माकन्दिकपुत्र! वह भी दो प्रकार का कहा गया है, यथा—सादि विस्रसाबन्ध और अनादि विस्रसाबन्ध।

१३. पयोगबंधे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—सिढिलबंधणबंधे य घणियबंधणबंधे य।

[१३ प्र.] भगवन्! प्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१३ उ.] माकन्दिकपुत्र! वह भी दो प्रकार का कहा गया है, यथा—शिथिलबन्धनबन्ध और गाढ (घन) बन्धनबन्ध।

---

१. (क) भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्र ७४२

(ख) **सरीरेणोयाहारो, तया या फासेण लोम आहारो। पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो॥**

२. भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ७४२

१४. भावबंधे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—मूलपगडिबंधे य उत्तरपगडिबंधे य।

[१४ प्र.] भगवन्! भावबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है?

[१४ उ.] माकन्दिकपुत्र! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध।

१५. नेरइयाणं भंते ! कतिविहे भावबंध पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता ! दुविहे भावबंधे पन्नत्ते, तं जहा—मूलपगडिबंधे य उत्तरपगडिबंधे य।

[१५ प्र.] भगवन्! नैरयिक जीवों का कितने प्रकार का भावबन्ध कहा गया है ?

[१५ उ.] माकन्दिकपुत्र! उनका भावबन्ध दो प्रकार का कहा गया है, यथा—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध।

१६. एवं जाव वेमाणियाणं।

[१६] इसी प्रकार वैमानिकों तक (के भावबन्ध के विषय में कहना चाहिए)।

१७. नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कतिविहे भावबंधे पन्नत्ते ?

मागंदियपुत्ता ! दुविहे भावबंधे पन्नत्ते, तं जहा—मूलपगडिबंधे य उत्तरपगडिबंधे य।

[१७ प्र.] भगवन्! ज्ञानावरणीयकर्म का भावबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है।

[१७ उ.] माकन्दिकपुत्र! ज्ञानावरणीयकर्म का भावबन्ध दो प्रकार का कहा गया है, यथा—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध।

१८. नेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स कतिविधे भावबंधे पण्णत्ते ?

मागंदियपुत्ता! दुविहे भावबंधे पन्नत्ते, तं जहा—मूलपगडिबंधे य उत्तरपगडिबंधे य।

[१८ प्र.] भगवन्! नैरयिक जीवों के ज्ञानावरणीयकर्म का भावबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१८ उ.] माकन्दिकपुत्र! उनके ज्ञानावरणीयकर्म का भावबन्ध दो प्रकार का कहा गया है, यथा मूलप्रकृतिकबन्ध और उत्तरप्रकृतिकबन्ध।

१९. एवं जाव वेमाणियाणं।

[१९] इसी प्रकार वैमानिकों तक के ज्ञानावरणीयकर्मसम्बन्धी भावबन्ध के लिये कहना चाहिए।

२०. जहा नाणावरणिज्जेणं दंडओ भणिओ एवं जाव अंतराइएणं भाणियव्वो।

[२०] जिस प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म-सम्बन्धी दण्डक कहा है, उसी प्रकार अन्तरायकर्म तक (दण्डक) कहना चाहिए।

विवेचन—द्रव्यबन्ध, भावबन्ध और उसके भेद-प्रभेद—प्रस्तुत ११ सूत्रों (सू. १० से २० तक) में बन्ध के दो भेद—द्रव्य और भावबन्ध करके उनके भेद-प्रभेद तथा भावबन्धजनित प्रकारों का निरूपण किया गया है।

द्रव्यबन्ध : यहाँ कौन-सा ग्राह्य है ?—द्रव्यबन्ध आगम, नोआगम आदि के भेद से अनेक प्रकार का है, किन्तु यहाँ केवल 'उभय-व्यतिरिक्त', द्रव्यबन्ध का ग्रहण करना चाहिए। तेल आदि स्निग्ध पदार्थों या रस्सी आदि द्रव्य का परस्पर बन्ध होना द्रव्यबन्ध है।

भावबन्ध : स्वरूप, प्रकार और ग्राह्यभावबन्ध—भाव अर्थात् मिथ्यात्व आदि भावों के द्वारा अथवा उपयोग भाव से अतिरिक्त भाव का जीव के साथ बन्ध होना भावबन्ध कहलाता है—भावबन्ध के आगमतः और नो-आगमतः, ये दो भेद हैं। यहाँ नो-आगमतः भावबन्ध का ग्रहण विवक्षित है।

प्रयोगबन्ध, विस्रसाबन्ध : स्वरूप और प्रकार—जीव के प्रयोग से द्रव्यों का बन्ध होना प्रयोगबन्ध है और स्वाभाविक रूप से बन्ध होना विस्रसाबन्ध है। विस्रसाबन्ध के दो भेद हैं—सादि-विस्रसाबन्ध और अनादि-विस्रसाबन्ध। बादलों आदि का परस्पर बन्ध होना (मिल जाना-जुड़ जाना) सादि-विस्रसाबन्ध है और धर्मास्तिकाय आदि का परस्पर बन्ध, अनादि-विस्रसाबन्ध कहलाता है। प्रयोगबन्ध के दो भेद हैं—शिथिलबन्ध और गाढबन्ध। घास के पूले आदि का बन्ध शिथिलबन्ध है और रथचक्रादि का बन्ध गाढबन्ध है।

भावबन्ध के भेद—भावबन्ध के दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्ध के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि ८ भेद हैं तथा उत्तरप्रकृतिबन्ध के कुल १४८ भेद हैं। उनमें से १२० प्रकृतियों का बन्ध होता है। जिस दण्डक में जितनी प्रकृतियों का बन्ध होता हो, वह कहना चाहिए। यही भेद नैरयिकों के मूल-उत्तरप्रकृतिबन्ध के समझने चाहिए।[१]

जीव एवं चौवीस दण्डकों द्वारा किये गए, किये जा रहे तथा किये जाने वाले पापकर्मों के नानात्व (विभिन्नत्व) का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण

२१. [१] जीवाणं भंते ! पावे कम्मे जे य कडे जाव जे य कज्जिस्सइ अत्थि याइं तस्स केयि णाणत्ते ?

हंता, अत्थि।

[२१-१ प्र.] भगवन्! जीव ने जो पापकर्म किया है, यावत् करेगा क्या उनमें परस्पर कुछ भेद (नानात्व) है ?

[२१-१ उ.] हाँ, माकन्दिकपुत्र! (उनमें परस्पर भेद) है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७४३

(ख) भगवती. उपक्रम (पं. मुनि श्री जनकरायजी तथा जगदीशमुनिजी म.) पृ. ३७५

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जीवाणं पावे कम्मे जे य कडे जाव जे य कज्जिस्सति अत्थि याइं तस्स णाणत्ते ?

मागंदियपुत्त ! से जहानामए—केयि पुरिसे धणुं परामुसति, धणुं प० २ उसु परामुसति, उसुं प० २ ठाणं ठाति, ठा० २ आयतकण्णायतं उसुं करेति, आ० क० २ उड्ढं वेहासं उव्विहइ। से नूणं मागंदियपुत्ता! तस्स उसुस्स उड्ढं वेहासं उव्वीढस्स समाणस्स एयति वि णाणत्तं, जाव तं तं भावं परिणमति वि णाणत्तं ?

हंता, भगवं ! एयति वि णाणत्तं, जाव परिणमति वि णाणत्तं।

से तेणट्ठेणं मागंदियपुत्ता ! एवं वुच्चति जाव तं तं भावं परिणमति वि णाणत्तं।

[२१-२ प्र.] भगवन्! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि जीव ने जो पापकर्म किया है, यावत् करेगा, उनके परस्पर कुछ भेद हैं ?

[२१-२ उ.] माकन्दिकपुत्र! जैसे कोई पुरुष धनुष को (हाथ में) ग्रहण करे, फिर वह बाण को ग्रहण करे और अमुक प्रकार की स्थिति (आकृति) में खड़ा रहे, तत्पश्चात् बाण को कान तक खींचे और अन्त में, उस बाण को आकाश में ऊँचा फैंके, तो हे माकन्दिकपुत्र ! आकाश में ऊँचे फैंके हुए उस बाण के कम्पन में भेद (नानात्व) है, यावत्—वह उस-उस रूप में परिणमन करता है। उसमें भेद है न? (उत्तर—) हाँ भगवन्! उसके कम्पन में, यावत् उसके उस-उस रूप के परिणाम में भी भेद है। (भगवान् ने कहा—) हे माकन्दिकपुत्र ! इसी कारण ऐसा कहा जाता है कि उस कर्म के उस-उस रूपादि-परिणाम में भी भेद (नानात्व) है।

२२. नेरतियाणं भंते ! पावे कम्मे जे य कडे० ?

एवं चेव।

[२२ प्र.] भगवन्! नैरयिकों ने (अतीत में) जो पापकर्म किया है, यावत् (भविष्य में) करेंगे, क्या उनमें परस्पर कुछ भेद है ?

[२२ उ.] (हाँ, माकन्दिकपुत्र! उनमें परस्पर भेद है।) वह उसी प्रकार (पूर्ववत् समझना चाहिए।)

२३. एवं जाव वेमाणियाणं।

[२२] इसी प्रकार वैमानिकों तक (जान लेना चाहिए।)

विवेचन—कृत पापकर्म के भूत-वर्तमान-भविष्यत्कालिक परिणामों में भेद का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों (२१-२२-२३) में जीवों के द्वारा किये गए, किये जा रहे तथा भविष्य में किये जाने वाले पापकर्मों के परिणामों में परस्पर भेद को धनुष-बाण फैंकने के दृष्टान्त द्वारा सिद्ध किया गया है।

स्पष्टीकरण—जैसे किसी पुरुष द्वारा धनुष और बाण के अलग-अलग समय में ग्रहण करने, फिर अमुक स्थिति में खड़े रह कर बाण को कान तक खींचने और तत्पश्चात् उसे ऊपर फैंकने के विभिन्न कम्पनों में,

उसके प्रयत्न की विशेषता से भेद होता है, इसी प्रकार जीव द्वारा किये हुए भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल के कर्मों में भी तीव्र-मन्दादि परिणामों के भेद से तदनुरूप कार्यकारित्व रूप नानात्व-विभिन्नता समझ लेना चाहिए।[१]

कठिन शब्दार्थ—**धणु**—धनुष। **उसु**—बाण। **परामुसइ**—ग्रहण करता है। **ठाणं ठाइ**—अमुक स्थिति (आकृति) में खड़ा होता है। **उड्ढं वेहासं**—ऊपर आकाश में। **उव्विहइ**—फैंकता है। **णाणत्तं**—नानात्व-विभिन्नत्व, भेद। **एयति**—कम्पन होता है।[२]

चौवीस दण्डकों द्वारा आहार रूप में गृहीत पुद्गलों में से भविष्य में ग्रहण एवं त्याग का प्रमाण-निरूपण

२४. नेरतिया ण भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेसि णं भंते ! पोग्गलाणं सेयकालंसि कतिभागं आहारेंति, कतिभागं निज्जरेंति?

मागंदियपुत्ता ! असंखेज्जइभागं आहारेंति, अणंतभागं निज्जरेंति।

[२४ प्र.] भगवन्! नैरयिक, जिन पुद्गलों को आहार रूप से ग्रहण करते हैं, भगवन् ! उन पुद्गलों का कितना भाग भविष्यकाल में आहार रूप से गृहीत होता है और कितना भाग निर्जरता (त्यागा जाता) है?

[२४ उ.] माकन्दिकपुत्र! (उनके द्वारा आहार रूप से गृहीत पुद्गलों के) असंख्यातवें भाग का आहार रूप से ग्रहण होता है और अनन्तवें भाग का निर्जरण होता है।

२५. चक्किया णं भंते ! केयि तेसु निज्जरापोग्गलेसु आसइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा ?

नो इणट्ठे समट्ठे, अणाहरणमेयं बुइयं समणाउसो!

[२५ प्र.] भगवन्! क्या कोई जीव (उन निर्जरा पुद्गलों पर बैठने, यावत् सोने—करवट बदलने) में समर्थ है ?

[२५ उ.] माकन्दिकपुत्र! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। आयुष्मन् श्रमण ! ये निर्जरा पुद्गल अनाधार रूप कहे गए हैं (अर्थात् ये कुछ भी धारण करने में असमर्थ हैं।)

२६. एवं जाव वेमाणियाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति० ।

॥ अट्ठारसमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो॥ १८-३ ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७४३

२. (क) वही, पत्र ७४३

(ख) भगवती, (विवेचन—पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २६८९

[२६] इसी प्रकार वैमानिकों तक कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है।' यों कह कर माकन्दिकपुत्र यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—आहार रूप से गृहीत पुद्गलों के ग्रहण और त्याग एवं उन पुद्गलों की धारणशक्ति का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों में इन दो तथ्यों का निरूपण किया गया है।

आहार रूप से गृहीत पुद्गलों का कितना भाग ग्राह्य और त्याज्य होता है ?—आहार रूप में गृहीत पुद्गलों का असंख्यातवाँ सार भाग ग्रहण किया जाता है और अनन्तवाँ भाग मलमूत्रादिवत् त्याग दिया जाता है।

निर्जरा पुद्गलों का सामर्थ्य—निर्जरा किये हुए पुद्गल अनाधारणरूप होते हैं, अर्थात् वे किसी भी वस्तु को धारण करने में समर्थ नहीं होते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—सेयकालंसि—भविष्यत्काल में, अर्थात्—ग्रहण करने के अनन्तर काल में। **निज्जरेंति**—निर्जरण करते हैं—मूत्रादिवत् त्याग करते हैं। **चक्किया**—शक्य। **आसइत्तए**—बैठने में। **तुयट्टित्तए**—करवट बदलने या सोने में।[२]

॥ अठारहवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवती. अ. **वृत्ति, पत्र** ७४३

२. (क) वही, **पत्र** ७४३

(ख) भगवती सूत्र भा. ६, (विवेचन—पं. घेवरचन्दजी) पृ. २६९०

चउत्थो उद्देसओ : 'पाणातिवाय'

चतुर्थ उद्देशक : 'प्राणातिपात'

जीव और अजीव द्रव्यों में से जीवों के लिए परिभोग्य अपरिभोग्य द्रव्यों का निरूपण

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव भगवं गोयमे एवं वयासि—

[१] उस काल और उस समय में राजगृह नगर में यावत् गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

२. [१] अह भंते ! पाणातिवाए मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, पाणातिवायवेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणे, पुढविकाए जाव वणस्सतिकाये, धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थि-काये जीवे असरीरपडिबद्धे, परमाणुपोग्गले, सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे, सव्वे य बादरबोंदिधरा कलेवरा, एए णं दुविहा जीवदव्वा य अजीवदव्वा य जीवाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवाए जाव एए णं दुविहा जीवदव्वा य अजीवदव्वा य अत्थेगतिया जीवाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अत्थेगतिया जीवाणं जाव नो हव्वमागच्छंति।

[२-१ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य और प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक (त्याग) तथा पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक एवं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीर-प्रतिबद्ध (शरीररहित) जीव, परमाणु पुद्गल, शैलेशी अवस्था-प्रतिपन्न अनगार और सभी स्थूलकाय धारक (स्थूलाकार) कलेवर, ये सब (मिलकर) दो प्रकार के हैं—(इनमें से कुछ) जीवद्रव्य रूप (हैं) और (कुछ) अजीवद्रव्य रूप। प्रश्न यह है कि क्या ये सभी जीवों के परिभोग में आते हैं ?

[२-१ उ.] गौतम! प्राणातिपात से लेकर सर्वस्थूलकायधर कलेवर तक जो जीवद्रव्यरूप और अजीवद्रव्यरूप हैं, इनमें से कई तो जीवों के परिभोग में आते हैं और कई जीवों के परिभोग में नहीं आते।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'पाणाइवाए जाव नो हव्वमागच्छंति ?'

गोयमा ! पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, पुढविकाइए जाव वणस्सतिकाइए सव्वे य बादरबोंदिधरा कलेवरा, एए णं दुविहा—जीवदव्वा य अजीवदव्वा य, जीवाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। पाणातिवायवेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, धम्मत्थिकाये अधम्मत्थिकाये जाव परमाणुपोग्गले, सेलेसि पडिवन्नए, अणगारे, एए णं दुविहा जीवदव्वा य अजीवदव्वा य जीवाणं परिभोगत्ताए नो हव्वमागच्छंति। से तेणट्ठेणं जाव नो हव्वमागच्छंति।

[२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि प्राणातिपातादि जीव-अजीवद्रव्यरूप में से यावत्

कई तो जीवों के परिभोग में आते हैं और कई जीवों के परिभोग में नहीं आते हैं ?

[२-२ उ.] गौतम! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य, पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक और सभी स्थूलाकार कलेवरधारी (द्वीन्द्रियादि जीव), ये सब मिलकर जीवद्रव्यरूप और अजीवद्रव्यरूप—दो प्रकार के हैं, ये सब, जीवों के परिभोग में आते हैं तथा प्राणातिपातविरमण, यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, यावत् परमाणु-पुद्गल एवं शैलेशीअवस्था प्राप्त अनगार, ये सब मिलकर जीवद्रव्यरूप और अजीवद्रव्यरूप—दो प्रकार के हैं। ये सब जीवों के परिभोग में नहीं आते। इसी कारण ऐसा कहा जाता है कि कई द्रव्य जीवों के परिभोग में आते हैं और कई द्रव्य परिभोग में नहीं आते हैं।

विवेचन—प्राणातिपातादि ४८ द्रव्यों में से जीवों के लिए कितने परिभोग्य, कितने अपरिभोग्य ?— प्राणातिपात आदि १८ पापस्थान, अठारह पापस्थानों का त्याग, पांच स्थावर, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी जीव, परमाणु पुद्गल, शैलेशी अवस्थापन्न अनगार, स्थूलाकार वाले त्रसकाय कलेवर, ये ४८ द्रव्य सामान्यतया दो प्रकार के हैं। इनमें से कितने ही जीव रूप हैं और कितने ही अजीव रूप हैं, किन्तु प्रत्येक दो प्रकार के नहीं हैं। इनमें से पृथ्वीकायादि जीव द्रव्य हैं और धर्मास्तिकायादि अजीव द्रव्य हैं। प्राणातिपातादि अशुद्धस्वभावरूप और प्राणातिपातादि-विरमण शुद्धस्वभाव रूप जीव के धर्म हैं। इसलिए ये जीव रूप कहे जा सकते हैं। जब जीव प्राणातिपातादि का प्रवृत्ति रूप से सेवन करता है, तब चारित्रमोहनीय कर्म उदय में आता है। उसके द्वारा चारित्रमोहनीयकर्मदलिक भोग के कारण होने से प्राणातिपात आदि जीव के परिभोग में आते हैं। पृथ्वीकायादि का परिभोग तो गमन-शौचादि द्वारा स्पष्ट ही है। प्राणातिपात-विरमणादि जीव के शुद्ध स्वरूप होने से चारित्रमोहनीयकर्म के उदय के हेतुभूत नहीं होते। वधादि के विरति-रूप होने से ये प्राणातिपातविरमणादि जीव रूप हैं। इसलिए वे जीव के परिभोग में नहीं आते। धर्मास्तिकायादि चार द्रव्य अमूर्त्त हैं, परमाणु सूक्ष्म हैं और शैलेशीप्राप्त अनगार उपदेशादि द्वारा प्रेरणा नहीं करते, इसलिए ये १८ + ४ + १ + १ = २४ द्रव्य अनुपयोगी होने से जीव के परिभोग में नहीं आते। शेष २४ (अठारह पाप, पांच स्थावर और बादर कलेवर) जीव के परिभोग में आते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—जीवे असरीरप्रतिबद्धे—शरीररहित केवल शुद्ध जीव (आत्मा)। **बादरबोंदिधरा कलेवरा**—स्थूलशरीरधारी जीवों (द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों) के कलेवर।[२]

कषाय : प्रकार तथा तत्सम्बद्ध कार्यों का कषायपद के अतिदेशपूर्वक निरूपण

३. कति णं भंते ! कसाया पन्नता ?

गोयमा! चत्तारि कसाया पन्नत्ता, तं जहा—कसायपयं निरवसेसं भाणियव्वं जाव निज्जरिस्संति लोभेण।

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्र ७४५

२. (क) वही, पत्र ७४५

(ख) भगवती. विवेचन, भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २६९३

[३ प्र.] भगवान्! कषाय कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम! कषाय चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—इत्यादि प्रज्ञापनासूत्र का चौदहवाँ समग्र कषाय पद, लोभ के वेदन द्वारा अष्टविध कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करेंगे, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—नैरयिकों आदि की चार कषायों से निर्जरा—प्रस्तुत सूत्र ३ में प्रज्ञापनासूत्र के चौदहवें कषाय पद का अतिदेश किया गया है। इसमें सारभूत तथ्य यह है कि नैरयिकादि जीवों के आठों ही कर्मप्रकृतियों की निर्जरा क्रोधादि चार कषायों के वेदन द्वारा होती है, क्योंकि नैरयिकादि जीवों के आठों ही कर्म उदय में रहते हैं और उदय में आए हुए कर्मों की निर्जरा अवश्य होती है। नैरयिकादि कषाय के उदय वाले हैं। कषाय का उदय होने पर उसके वेदन के पश्चात् कर्मों की निर्जरा होती है। जैसा कि प्रज्ञापनासूत्र में कहा है—क्रोधादि के द्वारा वैमानिकों आदि के आठों कर्मों की निर्जरा होती है।[१]

युग्म : कृतयुग्मादि चार और स्वरूप

४ [१] कति णं भंते ! जुम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पन्नता, तं जहा—कडजुम्मे तेयोए दावरजुम्मे कलिओए।

[४-१ प्र.] भगवन्! युग्म (राशियाँ) कितने कहे गए हैं ?

[४-१ उ.] गौतम! युग्म चार कहे गए हैं, यथा—कृतयुग्म, त्र्योज, द्वारपयुग्म और कल्योज।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—जाव कलिओए ?

गोयमा ! जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए से त्तं कडजुम्मे। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए से त्तं तेयोए। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए से त्तं दावरजुम्मे। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए से त्तं कलिओये, से तेणट्ठेणं गोतमा ! एवं वुच्चति जाव कलिओए।

[४-२ प्र] भगवन्! आप किस कारण से कहते हैं कि यावत् कल्योज-पर्यन्त चार राशियाँ कही गई हैं ?

[४-२ उ.] गौतम! जिस राशि में से चार-चार निकालने पर, अन्त में चार शेष रहें, वह राशि है 'कृतयुग्म'। जिस राशि में से चार-चार निकालते हुए अन्त में तीन शेष रहें, वह राशि 'त्र्योज' कहलाती है। जिस राशि में से चार-चार निकालने पर अन्त में दो शेष रहे, वह राशि 'द्वापरयुग्म' कहलाती है और जिस राशि में से

---

१. (क) भगवती. सूत्र अ. वृत्ति, पत्र ७४५

(ख) 'वेमाणिया णं भंते! कइहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपयडीओ निज्जरिस्संति ?'

'गोयमा! चउहिं ठाणेहिं, तं जहा—कोहेणं जाव लोभेणं ति।'।

—प्रज्ञापना, पद १४, भा. १, पृ. २३४-२३६

चार-चार निकालते हुए अन्त में एक शेष रहे वह राशि 'कल्योज' कहलाती है। इस कारण से ये राशियाँ ('कृतयुग्म' से लेकर) यावत् 'कल्योज' कही जाती हैं।

विवेचन—युग्म तथा चतुर्विध युग्मों की परिभाषा—गणितशास्त्र की परिभाषा के अनुसार समराशि का नाम 'युग्म' है और विषमराशि का नाम 'ओज' है। यहाँ जो राशि (युग्म) के चार भेद कहे गए हैं, उनमें से दो युग्म राशियाँ हैं और दो ओज राशियाँ हैं। तथापि यहाँ युग्म शब्द शास्त्रीय पारिभाषिक होने से युग्म शब्द से चारों प्रकार की राशियाँ विवक्षित हुई हैं। इसलिए चार युग्म अर्थात्—चार राशियाँ कही गई हैं। अगले प्रश्न (४-२) का आशय यह है कि कृतयुग्म आदि ऐसा नाम क्यों रखा गया? इन चारों पदों का अन्वर्थक नाम किस प्रकार से है? जिस राशिविशेष में से चार-चार कम करते-करते अन्त में चार ही बचें, उसका नाम **कृतयुग्म** है। जैसे १६, ३२ इत्यादि इन संख्याओं में से चार-चार कम करने पर अन्त में चार ही बचते हैं। जिस राशि में से चार-चार घटाने पर अन्त में तीन बचते हैं, वह राशि **त्र्योज** है, जैसे १५, २३ इत्यादि संख्याएँ। जिस राशि में से चार-चार कम करने पर अन्त में दो बचते हैं, वह राशि **द्वापरयुग्म** राशि है, जैसे—६, १० इत्यादि संख्या। जिस राशि में से चार-चार कम करने पर अन्त में एक बचता है, वह राशि **कल्योज** कहलाती है, जैसे—१३, १७ इत्यादि। कृतयुग्म आदि सब पारिभाषिक नाम हैं।[१]

चौवीस दण्डक सिद्ध और स्त्रियों में कृतयुग्मादिराशि प्ररूपणा

५. नेरतिया णं भंते ! किं कडजुम्मा तेयोया दावरजुम्मा कलिओया ?

गोयमा! जहन्नपए कडजुम्मा, उक्कोसपए तेयोया, अजहन्नमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा जाव सय कलियोया।

[५ प्र.] भगवन्! नैरयिक क्या कृतयुग्म हैं, त्र्योज हैं, द्वापरयुग्म हैं, अथवा कल्योज हैं?

[५ उ.] गौतम! वे जघन्यपद में कृतयुग्म हैं, उत्कृष्टपद में त्र्योज हैं तथा अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) पद में कदाचित् कृतयुग्म यावत् कल्योज हैं।

६. एवं जाव थणियकुमारा।

[६] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक (के विषय में भी) (कहना चाहिए।)

७. वणस्सतिकाइया णं पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नपदे अपदा, उक्कोसपदे अपदा, अजहन्नमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा।

[७ प्र] भगवन्! वनस्पतिकायिक कृतयुग्म हैं, (अथवा) यावत् कल्योज रूप हैं ?

[७ उ.] वे जघन्यपद की अपेक्षा अपद हैं और उत्कृष्टपद की अपेक्षा भी अपद हैं। अजघन्योत्कृष्टपद

१. (क) भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति. पत्र ७४५

(ख) भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १३, पृ. १७-१८

की अपेक्षा कदाचित् कृतयुग्म यावत् कदाचित कल्योज रूप हैं।

८. बेइंदिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नपए कडजुम्मा, उक्कोसपए दावरजुम्मा, अजहन्नमणुक्कोसपए सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा।

[८ प्र.] भगवन्! द्वीन्द्रियजीवों के विषय में भी इसी प्रकार का प्रश्न है।

[८ उ.] गौतम! (द्वीन्द्रियजीव) जघन्यपद में कृतयुग्म हैं और उत्कृष्टपद में द्वापरयुग्म हैं, किन्तु अजघन्योत्कृष्ट पद में कदाचित् कृतयुग्म, यावत् कदाचित् कल्योज हैं।

९. एवं जाव चतुरिंदिया।

[९] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय पर्यन्त कहना चाहिए।

१०. सेसा एगिंदिया जहा बेंदिया।

[१०] शेष एकेन्द्रियों की वक्तव्यता, द्वीन्द्रिय की वक्तव्यता के समान समझना चाहिए।

११. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जाव वेमाणिया जहा नेरतिया।

[११] पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से लेकर वैमानिकों तक का कथन नैरयिकों के समान (जानना चाहिए।)

१२. सिद्धा जहा वणस्सतिकाइया।

[१२] सिद्धों का कथन वनस्पतिकायिकों के समान जानना चाहिए।

१३. इत्थीओ णं भंते ! किं कडजुम्माओ० पुच्छा। गोयमा ! जहन्नपदे कडजुम्माओ, उक्कोसपए कडजुम्माओ, अजहन्नमणुक्कोसपए सिय कडजुम्माओ जाव सिय कलियोगाओ।

[१३ प्र] भगवन्! क्या स्त्रियाँ कृतयुग्म हैं? इत्यादि प्रश्न।

[१३ उ.] गौतम! वे जघन्यपद में कृतयुग्म हैं और उत्कृष्टपद में भी कृतयुग्म हैं, किन्तु अजघन्योत्कृष्टपद में कदाचित् कृतयुग्म हैं और यावत् कदाचित् कल्योज हैं।

१४. एवं असुरकुमारित्थीओ वि जाव थणियकुमारित्थीओ।

[१४] असुरकुमारों की स्त्रियों (देवियों) से लेकर स्तनितकुमार-स्त्रियों तक इसी प्रकार (पूर्ववत्) (समझना चाहिए।)

१५. एवं तिरिक्खजोणित्थीओ।

[१५] तिर्यञ्चयोनिक स्त्रियों का कथन भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

१६. एवं मणुस्सित्थीओ।

[१६] मनुष्य स्त्रियों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

१७. एवं जाव वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियदेवित्थीओ।

[१७] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की देवियों के विषय के भी इसी प्रकार (कहना चाहिए।)

विवेचन—नारक से वैमानिक तक तथा उनकी स्त्रियों और सिद्धों में कृतयुग्मादि राशि-परिमाण-निरूपण—प्रस्तुत १३ सूत्रों (सू. ५ से १७ तक) में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक तथा उनकी स्त्रियों और सिद्धों में कृतयुग्मादिराशि का प्रतिपादन किया गया है।

फलितार्थ—प्रश्न का आशय यह है कि नारक से वैमानिक तक तथा उनकी स्त्रियाँ क्या कृतयुग्मादि रूप हैं ? अर्थात् इनका परिमाण क्या कृतयुग्म-रूप है या अन्य प्रकार का है ? इसके उत्तर का आशय यह है कि जघन्यपद और उत्कृष्टपद, ये दोनों पद निश्चित संख्यारूप होते हैं। इसी से ये दोनों पद नियतसंख्या वाले नारकादि में ही सम्भव हैं, अनियत संख्या वाले वनस्पतिकायिकों एवं सिद्धों में नहीं। इसका एक कारण यह भी है कि नारकादिकों में जघन्यपद और उत्कृष्ट पद कालान्तर में सम्भव है, जब कि वनस्पतिकायिक जीवों के विषय में कालान्तर में भी जघन्य और उत्कृष्ट पद संभवित नहीं होता। अत: निश्चित संख्या वाले नैरयिक आदि की राशि का परिमाण इन पारिभाषिक शब्दों में करते हुए कहते हैं कि जब वे अत्यन्त अल्प होते हैं, तब कृतयुग्म होते हैं, जब उत्कृष्ट होते हैं तब त्र्योज होते हैं, तथा मध्यमपद में चारों राशि वाले होते हैं। इसी प्रकार तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, मनुष्य, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव ये सब जघन्यपद में कृतयुग्मराशि-परिमित हैं और उत्कृष्टपद में त्र्योजराशि-परिमित हैं। मध्यमपद में कदाचित् कृतयुग्म, कदाचित् त्र्योज, कदाचित् द्वापरयुग्म और कदाचित् कल्योज हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पृथ्वी-अप्-तेजो-वायु रूप जीव जघन्यपद में कृतयुग्म रूप एवं उत्कृष्टपद में द्वारपयुग्मपरिमित हैं, मध्यमपद में चारों राशि वाले होते हैं। वनस्पतिकाय की संख्या निश्चित न होने से उनमें जघन्य और उत्कृष्ट पद घटित नहीं हो सकता, क्योंकि वनस्पतिकायिक जीव अनन्त हैं। यद्यपि जितने जीव परम्परा से मोक्ष में चले जाते हैं, उतने जीव उनमें से घटते ही हैं, तथापि उसका अनन्तत्व कायम रहने से वह राशि अनिश्चित संख्यारूप मानी जाती है। वनस्पतिकाय के समान सिद्धजीवों में भी जघन्यपद और उत्कृष्ट पद सम्भव नहीं होता, क्योंकि सिद्ध जीवों की संख्या बढ़ती जाती है, तथा अनन्त होने से उनका परिमाण अनियत रहता है।

नारक सभी नपुंसक होने से उनमें स्त्रियाँ सम्भव नहीं हैं। असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक की स्त्रियाँ (देवियाँ), तिर्यंचयोनिक स्त्रियाँ, मनुष्यस्त्रियाँ तथा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की स्त्रियाँ जघन्य और उत्कृष्ट दोनों पदों में कृतयुग्म-परिमित हैं। मध्यमपद में कृतयुग्म आदि चारों राशियों वाली हैं।[१]

---

१ (क) भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति पत्र ७४५

(ख) भगवती. भाग १३, (प्रमेयचन्द्रिय टीका) पृ. २२-२३

अन्धकवह्नि जीवों में अल्पबहुत्व परिमाण निरूपण

१८. जावतिया णं भंते ! वरा अंधगवण्हिणो जीवा तावतिया परा अंधगवण्हिणो जीवा ?

हंता गोयमा ! जावतिया वयरा अंधगवण्हिणो जीवा तावतिया परा अंधगवण्हिणो जीवा।

सेवं भंते ! सेव भंते! त्ति० ।

॥ अट्ठारसमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ १८-४ ॥

[१८ प्र.] भगवन्! जितने अल्प आयुष्य वाले अन्धकवह्नि जीव हैं, उतने ही उत्कृष्ट आयुष्यवाले अन्धकवह्नि जीव हैं ?

[१८ उ.] हाँ, गौतम! जितने अल्पायुष्क अन्धकवह्नि जीव हैं, उतने ही उत्कृष्टायुष्क अन्धकवह्नि जीव हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अन्धकवह्नि : दो विशेषार्थ—(१) वृत्तिकार के अनुसार—अन्धक की संस्कृत-छाया 'अंह्रिप' होती है, जो वृक्ष का पर्यायवाची शब्द है। अत: अंह्रिप यानी वृक्ष को आश्रित करके रहने वाले अंह्रिपविह्नि अर्थात्—बादर तेजस्कायिकजीव। (२) अन्य आचार्यों के मतानुसार—अन्धक अर्थात् सूक्ष्मनामकर्म के उदय से अप्रकाशक (प्रकाश न करने वाली) वह्नि—अग्नि, अर्थात्—सूक्ष्म अग्निकायिक जीव। ये जितने अल्पायुष्य वाले हैं, उतने ही जीव दीर्घायुष्य वाले हैं।

कठिन शब्दार्थ—जावइया—जितने परिमाण में, **तावइया**—उतने परिमाण में। **वरा**—अवर यानी आयुष्य की अपेक्षा अर्वाग्भागवर्ती—अल्प आयुवाले। **परा**—प्रकृष्ट यानी स्थिति से उत्कृष्ट (दीर्घ) आयुष्य वाले।

॥ अठारहवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७४५-७४६

पंचमो उद्देसओ : 'असुरे'

पंचम उद्देशक : 'असुर'

एक निकाय के दो देवों में दर्शनीयता-अदर्शनीयता आदि के कारणों का निरूपण

१. [१] दो भंते ! असुरकुमारा एगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारदेवत्ताए उववन्ना। तत्थ णं एगे असुरकुमारे देवे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, एगे असुरकुमारे देवे से णं नो पासादीए नो दरिसणिज्जे नो अभिरूवे नो पडिरूवे, से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! असुरकुमारा देवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—वेउव्वियसरीरा य अवेउव्वियसरीरा य। तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं पासादीए जाव पडिरूवे। तत्थ णं जे से अवेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं नो पासादीए जाव नो पडिरूवे।

[१-१ प्र.] भगवन्! दो असुरकुमारदेव, एक ही असुरकुमारावास में असुरकुमारदेवरूप में उत्पन्न हुए। उनमें से एक असुरकुमारदेव प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला (प्रासादीय), दर्शनीय, सुन्दर और मनोरम होता है, जबकि दूसरा असुरकुमारदेव न तो प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला होता है, न दर्शनीय, सुन्दर और मनोरम होता है, भगवन् ऐसा क्यों होता है?

[१-१ उ.] गौतम! असुरकुमारदेव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—वैक्रियशरीर वाले (विभूषितशरीर वाले) और अवैक्रियशरीर वाले (अविभूषितशरीर वाले)। उनमें से जो वैक्रियशरीर वाले असुरकुमारदेव होते हैं, वे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, दर्शनीय, सुन्दर और मनोरम होते हैं, किन्तु जो अवैक्रियशरीर वाले हैं, वे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले यावत् मनोरम नहीं होते।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे तं चेव जाव नो पडिरूवे?' 'गोयमा ! से जहानामए इहं मणुयलोगंसि दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे अलंकियविभूसिए, एगे पुरिसे अणलंकियविभूसिए, एएसिं णं गोयमा ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे पासादीए जाव पडिरूवे ? कयरे पुरिसे नो पासादीए जाव नो पडिरूवे ? जे वा से पुरिसे अलंकियविभूसिए, जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए ?'

'भगवं ! तत्थ णं जे से पुरिसे अलंकियविभूसिए से णं पुरिसे पासादीये जाव पडिरूवे, तत्थ णं जे से पुरिसे अणलंकियविभूसिए से णं पुरिसे नो पासादीए जाव नो पडिरूवे।' से तेणट्ठेणं जाव नो पडिरूवे।

[१-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं कि वैक्रियशरीर वाले देव प्रसन्नता-उत्पादक यावत् मनोरम होते हैं, अवैक्रियशरीर वाले नहीं होते हैं?

[१-२ उ.] गौतम! जैसे, इस मनुष्यलोक में दो पुरुष हों, उनमें से एक पुरुष आभूषणों से अलंकृत और विभूषित हो और एक पुरुष अलंकृत और विभूषित न हो, तो हे गौतम ! (यह बताओ कि) उन दोनों पुरुषों में कौन-सा पुरुष प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला, यावत् मनोरम्य लगता है और कौन-सा प्रसन्नता उत्पादक यावत् मनोरम्य नहीं लगता ? जो पुरुष अलंकृत और विभूषित है वह, अथवा जो पुरुष अलंकृत और विभूषित नहीं है वह ?

(गौतम—) भगवन्! उन दोनों में से जो पुरुष अलंकृत और विभूषित है, वही प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला यावत् मनोरम्य है, और जो पुरुष अलंकृत और विभूषित नहीं है, वह प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला, यावत् मनोरम्य नहीं है।

(भगवान्—) हे गौतम! इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि यावत् (जो अविभूषित शरीर वाले असुरकुमार हैं) वे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले यावत् मनोरम्य नहीं हैं।

२. दो भंते ! नागकुमारा देवा एगंसि नागकुमारावासंसि० ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन्! दो नागकुमारदेव एक नागकुमारावास में नागकुमाररूप में उत्पन्न हुए इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२ उ.] गौतम! पूर्वोक्तरूप से समझना चाहिए।

३. एवं जाव थणियकुमारा।

[३] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक (जानना चाहिए)।

४. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया एवं चेव।

[४] वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में भी इसी प्रकार (समझना चाहिए)।

विवेचन—एक ही निकाय के दो देवों में परस्पर अन्तर—प्रस्तुत चार सूत्रों (१-४) में चारों प्रकार के देवों में से एक ही आवास में उत्पन्न होने वाले दो देवों में प्रसन्नता, सुन्दरता और मनोरमता में अन्तर का कारण क्रमशः वैक्रियशरीर सम्पन्नता और अवैक्रियशरीरयुक्तता बताया गया है। वैसे तो प्रत्येक देव के वैक्रियशरीर भवधारणीय (जन्म से) होता है, किन्तु यहाँ अवैक्रियशरीरयुक्त कहने का तात्पर्य है—अविभूषित शरीरयुक्त और वैक्रियशरीरयुक्त कहने का अर्थ है—विभूषित शरीर वाला। आशय यह है कि कोई भी देव जब देवशय्या में उत्पन्न होता है, तब सर्वप्रथम वह अलंकार आदि विभूषा से रहित होता है। इसके पश्चात् क्रमशः वह अलंकार आदि धारण करके विभूषित होता है। अतः यहाँ वैक्रियशरीर का अर्थ विभूषित शरीर है और अवैक्रियशरीर का अर्थ है—अविभूषित शरीर।[१]

---

१. भगवतीसूत्र विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. २७०२

चौवीस दण्डकों में स्वदण्डकवर्ती दो जीवों में महाकर्मत्व-अल्पकर्मत्वादि के कारणों का निरूपण

५. दो भंते ! नेरइया एगंसि नेरतियावासंसि नेरतियत्ताए उववन्ना। तत्थ णं एगे नेरइए महाकम्मतराए चेव जाव महावेदणतराए चेव, एगे नेरइए अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेदणतराए चेव, से कहमेयं भंते! एवं ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नगा य, अमायिसम्मद्दिट्ठिउववन्नगा य। तत्थ णं जे से मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नए नेरतिए से णं महाकम्मतराए चेव जाव महावेदणतराए चेव, तत्थ णं जे से अमायिसम्मद्दिट्ठिउयवउववन्नए नेरइए से णं अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेदणतराए चेव।

[५ प्र.] भगवन्! दो नैरयिक एक ही नरकवास में नैरयिकरूप से उत्पन्न हुए। उनमें से एक नैरयिक महाकर्म वाला यावत् महावेदना वाला और एक नैरयिक अल्पकर्मवाला यावत् अल्पवेदना वाला होता है; तो भगवन् ! ऐसा क्यों होता है ?

[५ उ.] गौतम! नैरयिक दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—मायिमिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायिसम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। इनमें से जो मायिमिथ्यादृष्टि-उपपन्नक नैरयिक है वह महाकर्म वाला यावत् महावेदना वाला है, और उनमें जो अमायिसम्यग्दृष्टि-उपपन्नक नैरयिक है, वह अल्पकर्म वाला यावत् अल्पवेदना वाला होता है।

६. दो भंते ! असुरकुमारा० ?

एवं चेव।

[६ प्र.] भगवन्! दो असुरकुमारों के महाकर्म-अल्पकर्मादि विषयक प्रश्न ?

[६ उ.] हे गौतम! यहाँ भी उसी प्रकार (पूर्ववत्) समझना चाहिए।

७. एवं एगिंदिय-विगलिंदियवज्जा जाव वेमाणिया।

[७] इसी प्रकार एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़कर वैमानिकों तक समझना चाहिए।

विवेचन—नैरयिक से वैमानिक तक महाकर्मादि एवं अल्पकर्मादि का कारण—महाकर्म आदि चार पद हैं। यथा—महाकर्म, महाक्रिया, महा-आश्रव और महावेदना। इन चारों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। महाकर्मता आदि का कारण मायिमिथ्यादृष्टित्व है, और अल्पकर्मता आदि का कारण अमायिसम्यग्दृष्टित्व है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में इस प्रकार का अन्तर नहीं होता, क्योंकि उनमें एकमात्र मायिमिथ्यादृष्टि ही होते हैं, अमायिसम्यग्दृष्टि नहीं। इसलिए यहाँ एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़कर सभी दण्डकों में दो-दो प्रकार के जीव बताए हैं।[१]

---

१. भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २७०३

चौवीस दण्डकों में वर्तमानभव और आगामीभव की अपेक्षा आयुष्यवेदन का निरूपण

८. नेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कयरं आउयं पडिसंवेदेति ?

गोयमा ! नेरइयाउयं पडिसंवेदेति, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ।

[८ प्र.] भगवन्! जो नैरयिक मर कर अन्तर-रहित (सीधे) पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने के योग्य है, भगवन् ! वह किस आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है ?

[८ उ.] गौतम! वह नारक नैरयिक-आयुष्य का प्रतिसंवेदन (अनुभव) करता है, और पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक के आयुष्य के उदयाभिमुख—(पुरःकृत) करके रहता है।

९. एवं मणुस्सेसु वि, नवरं मणुस्साउए से पुरतो कडे चिट्ठति।

[९] इसी प्रकार (अन्तररहित) मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य जीव के विषय में समझना चाहिए। विशेष यह है कि वह मनुष्य के आयुष्य को उदयाभिमुख करके रहता है।

१०. असुरकुमारे णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए० पुच्छा।

गोयमा ! असुरकुमाराउयं पडिसंवेदेति, पुढविकाइयाउए से पुरतो कडे चिट्ठइ।

[१० प्र.] भगवन्! जो असुरकुमार मर कर अन्तररहित पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य है, उसके विषय में पूर्ववत् प्रश्न है।

[१० उ.] गौतम! वह असुरकुमार के आयुष्य का प्रतिसंवेदन (अनुभव) करता है और पृथ्वीकायिक के आयुष्य को उदयाभिमुख करके रहता है।

११. एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरतो कडं चिट्ठति, जत्थ ठिती तं पडिसंवेदेति जाव वेमाणिए। नवरं पुढविकाइओ पुढविकाइएसु उववज्जंतओ पुढविकाइयाउयं पडिसंवेदेति, अन्ने य से पुढविकाइयाउए पुरतो कडे चिट्ठति। एवं जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो, परट्ठाणे तहेव।

[११] इस प्रकार जो जीव जहाँ उत्पन्न होने के योग्य है, वह उसके आयुष्य को उदयाभिमुख करता है, और जहाँ रहा हुआ है, वहाँ के आयुष्य का वेदन (अनुभव) करता है। इस प्रकार वैमानिक तक जानना चाहिए। विशेष यह है कि पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिकों में ही उत्पन्न होने योग्य है, वह अपने उसी पृथ्वीकायिक के आयुष्य का वेदन करता है और अन्य पृथ्वीकायिक के आयुष्य को उदयाभिमुख (पुरःकृत) करके रहता है। इसी प्रकार मनुष्य तक स्वस्थान में उत्पाद के विषय में कहना चाहिए। परस्थान में उत्पाद के विषय में पूर्वोक्तवत् समझना चाहिए।

विवेचन—कौन किस आयु का वेदन करता है ?—सू. ८ से ११ तक में सैद्धान्तिक तथ्य प्रस्तुत किया गया है कि जो जीव जब तक जिस आयु सम्बन्धी शरीर को धारण करके रहा हुआ है, वह तब तक उसी

के आयुष्य का वेदन करता है, किन्तु वह मर कर जहाँ उत्पन्न होने के योग्य है उसके आयुष्य को उदयाभिमुख करता है तथा उस शरीर को छोड़ देने के बाद ही वह जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ के आयुष्य का वेदन करता है। जैसे एक नैरयिक जब तक नैरयिक का शरीर धारण किये हुए है, तब तक वह नरक के आयुष्य का वेदन करता है, किन्तु वह मरकर यदि अन्तर रहित पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकों में उत्पन्न होने योग्य है तो उसके आयुष्य को उदयाभिमुख कर रहता है, किन्तु नैरयिक शरीर को छोड़ देने के बाद जब वह तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में उत्पन्न होता है तो वहाँ के आयुष्य का वेदन करता है।[१]

चतुर्विध देवनिकायों में देवों की स्वेच्छानुसार विकुर्वणाकरण-अकरण-सामर्थ्य के कारणों का निरूपण

१२. दो भंते ! असुरकुमारा एगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारदेवत्ताए उववन्ना। तत्थ णं एगे असुरकुमारे देवे 'उज्जुयं विउव्विस्सामी' ति उज्जुयं विउव्वइ, 'वंकं विउव्विस्सामी' ति वंकं विउव्वइ, जं जहा इच्छति, तं तहा विउव्वइ। एगे असुरकुमारे देवे 'उज्जुयं विउव्विस्सामी' ति वंकं विउव्वति, 'वंकं विउव्विस्सामो' ति उज्जुयं विउव्वति, जं जहा इच्छति णो तं तहा विउव्वति। से कहमेयं भंते ! एवं?

गोयमा ! असुरकुमारा देवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नगा य अमायि-सम्मद्दिट्ठिउववन्नगा य। तत्थ णं जे से मायिमिच्छद्दिट्ठिउववन्नए असुरकुमारे देवे से णं 'उज्जुयं विउव्विस्सामी' ति वंकं विउव्वति जाव णो तं तहा विउव्वइ, तत्थ णं जे से अमायिसम्मद्दिट्ठिउववन्नए असुरकुमारे देवे से 'उज्जुयं विउव्विस्सामी' ति उज्जुयं विउव्वति जाव तं तहा विउव्वइत्ति।

[१२ प्र.] भगवन्! दो असुरकुमार, एक ही असुरकुमारावास में असुरकुमार रूप में उत्पन्न हुए, उनमें से एक असुरकुमार देव यदि वह चाहे कि मैं ऋजु (सरल) रूप से विकुर्वणा करूंगा, तो वह ऋजु-विकुर्वणा कर सकता है और यदि वह चाहे कि मैं वक्र (टेढे) रूप में विकुर्वणा करूंगा, तो वह वक्र-विकुर्वणा कर सकता है। अर्थात् वह जिस रूप की, जिस प्रकार से विकुर्वणा करना चाहता है, उसी रूप की, उसी प्रकार से विकुर्वणा कर सकता है, जब कि एक असुरकुमारदेव चाहता है कि मैं ऋजु-विकुर्वणा करूं, परन्तु वक्ररूप की विकुर्वणा हो जाती है और वक्ररूप की विकुर्वणा करना चाहता है, तो ऋजुरूप की विकुर्वणा हो जाती है। अर्थात् वह जिस रूप की, जिस प्रकार से विकुर्वणा करना चाहता है, वह उस रूप की उस प्रकार से विकुर्वणा नहीं कर पाता, तो भगवन् ! ऐसा क्यों होता है ?

[१२ उ.] गौतम! असुरकुमार देव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—मायिमिथ्यादृष्टिउपपन्नक और अमायिसम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। इनमें से जो मायिमिथ्यादृष्टि-उपपन्नक असुरकुमार देव है, वह ऋजुरूप की विकुर्वणा करना चाहे तो वक्ररूप की विकुर्वणा हो जाती है, यावत् जिस रूप की, जिस प्रकार से विकुर्वणा करना चाहता है, उस रूप की उस प्रकार से विकुर्वणा नहीं कर पाता किन्तु जो अमायिसम्यग्दृष्टि-उपपन्नक असुरकुमारदेव

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७०५

है, वह ऋजुरूप की विकुर्वणा करना चाहे तो ऋजुरूप की विकुर्वणा कर सकता है, यावत् जिस रूप की जिस प्रकार से विकुर्वणा करना चाहता है, उस रूप की उस प्रकार से विकुर्वणा कर सकता है।

१३. दो भंते ! नागकुमारा०?

एवं चेव।

[१३ प्र.] भगवन्! दो नागकुमारों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न है ?

[१३ उ.] गौतम! उसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

१४. एवं जाव थणियकुमारा।

[१४] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक के विषय में (जानना चाहिए)।

१५. वाणमंतरा-जोतिसिय-वेमाणिया एवं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठारसमे सए : पंचम उद्देसओ समत्तो॥ १८-५॥

[१५] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में भी इसी प्रकार (कथन करना चाहिए।)

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—स्वेच्छानुसार या स्वेच्छाविपरीत विकुर्वणा करने का कारण—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवों में से कितने ही देव स्वेच्छानुकूल सीधी या टेढ़ी विकुर्वणा (विक्रिया) कर सकते हैं, इसका कारण यह है कि उन्होंने ऋजुतायुक्त सम्यग्दर्शन निमित्तक तीव्र रस वाले वैक्रियनामकर्म का बन्ध किया है और जो देव अपनी इच्छानुकूल सीधी या टेढ़ी विकुर्वणा नहीं कर सकते, उसका कारण यह है कि उन्होंने माया-मिथ्यादर्शन-निमित्तक मन्द रस वाले वैक्रियनामकर्म का बन्ध किया है। इसलिए प्रस्तुत चार सूत्रों (१२ से १५ तक) में यह सिद्धान्त प्ररूपित किया गया है कि अमायिसम्यग्दृष्टि देव स्वेच्छानुसार रूपों की विकुर्वणा कर सकते हैं जबकि मायिमिथ्यादृष्टि देव स्वेच्छानुसार रूपों की विकुर्वणा नहीं कर सकते।[१]

॥ अठारहवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१ (क) भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति पत्र ७४७

(ख) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २७०७

छट्ठो उद्देसओ : 'गुल'

छट्ठा उद्देशक : 'गुड़' (आदि के वर्णादि)

फाणित-गुड़, भ्रमर, शुक-पिच्छ, रक्षा, मंजीठ आदि पदार्थों में व्यवहार-निश्चयनय की दृष्टि से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श प्ररूपणा

१. फाणियगुले णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—नेच्छयियनए य वावहारियनए य। वावहारियनयस्स गोड्डे फाणियगुले, नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे पन्नत्ते।

[१ प्र.] भगवन्! फाणित (गीला) गुड़ कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श वाला कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम! इस विषय में दो नयों (का आश्रय लिया जाता) है, यथा—नैश्चयिक नय और व्यावहारिक नय। व्यावहारिक नय की अपेक्षा से फाणित-गुड़ मधुर (गौल्य) रस वाला कहा गया है और नैश्चयिक नय की दृष्टि से गुड़ पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाला कहा गया है।

२. भमरे णं भंते ! कतिवण्णे० पुच्छा।

गोयमा ! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—नेच्छइयनए य वावहारियनए य। वावहारियनयस्स कालए भमरे, नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे जाव अट्ठफासे पन्नत्ते।

[२ प्र.] भगवन्! भ्रमर कितने वर्ण-गन्धादि वाला है ? इत्यादि प्रश्न।

[२ उ.] गौतम! व्यावहारिक नय से भ्रमर काला है और नैश्चयिनक नय से भ्रमर पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाला है।

३. सुयपिंछे णं भंते ! कतिवण्णे० ?

एवं चेव, नवरं वावहारियनयस्स नीलए सुयपिच्छे, नेच्छइयनयस्स पंचवण्णए० सेसं तं चेव।

[३ प्र.] भगवन्! तोते की पांखें कितने वर्ण वाली हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३ उ.] गौतम! व्यावहारिक नय से तोते की पांखें हरे रंग की हैं और नैश्चयिक नय से पांच वर्ण वाली इत्यादि पूर्वोक्त रूप से जानना चाहिए।

४. एवं एएणं अभिलावेणं लोहिया मंजिट्ठी पीतिया हलिद्दा, सुक्किलए संखे, सुब्भिगंधे कोट्ठे, दुब्भिगंधे मयगसरीरे, तित्ते निंबे, कडुया सुंठी, कसाएतुरए कविट्ठे, अंबा अंबलिया, महुरे खंडे, कक्खडे वइरे, मउए नवणीए, गरुए अये, लहुए उलयपत्ते, सीए हिमे, उसिणे अगणिकाए, णिद्धे तेल्ले।

[४] इसी प्रकार इसी अभिलाप द्वारा, मजीठ लाल है, हल्दी पीली है, शंख शुक्ल (सफेद) है, कुष्ठ (कुट्ठ)—पटवास (कपड़े में सुगन्ध देने की पत्ती) सुरभिगन्ध (सुगन्ध) वाला है, मृतकशरीर (शव) दुर्गन्धित है, नीम (निम्ब) तिक्त (कड़वा है, सूंठ कटुक (तीखी-चरपरी) है, कपित्थ (कवीठ) कसैला है, इमली खट्टी है; खांड (शक्कर) मधुर है; वज्र कर्कश (कठोर) है, नवनीत (मक्खन) मृदु (कोमल) है, लोह भारी है; उलुकपत्र (बोरड़ी का पत्ता) हल्का है, हिम (बर्फ) ठण्डा है, अग्निकाय उष्ण (गर्म) है, तेल स्निग्ध (चिकना) है, किन्तु नैश्चयिनक नय से इन सब में पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श हैं।

५. छारिया णं भंते० पुच्छा।

गोयमा ! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—नेच्छइयनए य वावहारियनए य। वावहारियनयस्स लुक्खा छारिया, नेच्छइनयस्स पंचवण्णा जाव अट्ठ फासा पन्नत्ता।

[५ प्र.] भगवन्! राख कितने वर्ण वाली है?, इत्यादि प्रश्न।

[५ उ.] गौतम! व्यावहारिक नय से राख रूक्ष स्पर्श वाली है और नैश्चयिक नय से राख पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाली है।

विवेचन—प्रत्येक वस्तु के वर्णादि का व्यावहारिक एवं नैश्चयिक नय की दृष्टि से निरूपण—व्यवहारनय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है। वस्तुत: व्यवहारनय व्यवहारमात्र को बताने वाला है। वस्तु के अनेक अंशों में से उतने ही अंश को ग्रहण करता है, जितने अंश से व्यवहार चलाया जा सकता है, शेष अन्य अंशों के प्रति वह उपेक्षाभाव रखता है। नैश्चयिकनय वस्तु के मूलभूत स्वभाव को स्वीकार करता है। इसी दृष्टि से यहाँ गुड़, भ्रमर, शुकपिच्छ, राख तथा मजीठ, हल्दी आदि के विषय में दोनों नयों कीं अपेक्षा से उत्तर दिया गया है। उदाहरणार्थ भौंरा और हल्दी व्यवहारनय की दृष्टि से काला और पीली है किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से उनमें पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—फाणियगुले—गीला गुड़—राब। **सुयपिच्छे**—तोते की पांख। **छारिया**—राख। **गोड्डे**—गौल्य अर्थात्—गौल्य (मधुर) रस से युक्त। **उलुयपत्ते**—दो रूप दो अर्थ—(१) उलुकपत्र—बेर के पत्ते (२) उलूकपुत्र—उल्लू के पत्र यानी पंख।[२]

परमाणु पुद्गल एवं द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श निरूपण

६. परमाणुपोग्गले णं भंते ! कइवण्णे जाव कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! एगवण्णे एगगंधे एगरसे दुफासे पन्नत्ते।

[६ प्र.] भगवन्! परमाणुपुद्गल कितने वर्ण वाला यावत् कितने स्पर्शवाला कहा गया है ?

---

१. भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका), भा. १३, पृ. ६८-७१

२. (क) भगवतीसूत्र—विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७०९
(ख) भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १३, पृ. ७०

[६ उ.] गौतम! वह एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श वाला कहा गया है।

७. दुपदेसिए णं भंते ! खंधे कतिवण्णे० पुच्छा।

गोयमा ! सिये एगवण्णे सिय दुवण्णे, सिय एगगंधे सिय दुगंधे, सिय एगरसे सिय दुरसे, सिय दुफासे, सिय तिफासे, सिय चउफासे पन्नत्ते।

[७ प्र.] भगवन्! द्विप्रदेशिक स्कन्ध कितने वर्ण आदि वाला है ? इत्यादि प्रश्न।

[७ उ.] गौतम! वह कदाचित् (अथवा कोई-कोई) एक वर्ण, कदाचित् दो वर्ण, कदाचित् एक गन्ध या दो गन्ध, कदाचित् एक रस या दो रस, कदाचित् दो स्पर्श, तीन स्पर्श और कदाचित् चार स्पर्श वाला कहा गया है।

८. एवं तिपदेसिए वि०, नवरं सिय एगवण्णे, सिय दुवण्णे, सिय तिवण्णे। एवं रसेसु वि। सेसं जहा दुपदेसियस्स।

[८] इसी प्रकार त्रिप्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष बात यह है कि वह कदाचित् एक वर्ण, कदाचित् दो वर्ण और कदाचित् तीन वर्ण वाला होता है। इसी प्रकार रस के विषय में भी; यावत् तीन रस वाला होता है। शेष सब द्विप्रदेशिक स्कन्ध के समान (जानना चाहिए।)

९. एवं चउपदेसिए वि, नवरं सिय एगवण्णे जाव सिय चउवण्णे। एवं रसेसु वि। सेसं तं चेव।

[९] इसी प्रकार चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष यह है कि वह कदाचित् एक वर्ण, यावत् कदाचित् चार वर्ण वाला होता है। इसी प्रकार रस के विषय में भी (जानना चाहिए।) शेष सब पूर्ववत् है।

१०. एवं पंचपदेसिए वि, नवरं सिय एगवण्णे जाव सिय पंचवण्णे। एवं रसेसु वि। गंधफासा तहेव।

[१०] इसी प्रकार पंचप्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष यह है कि वह कदाचित् एक वर्ण, यावत् कदाचित् पांच वर्ण वाला होता है। इसी प्रकार रस के विषय में भी (समझना चाहिए), गन्ध और स्पर्श के विषय में भी पूर्ववत् (जानना चाहिए)।

११. जहा पंचपएसिओ एवं जाव असंखेज्जपएसिओ।

[११] जिस प्रकार पंचप्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार यावत् असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध तक कहना चाहिए।

१२. सुहुमपरिणए णं भंते ! अणंतपदेसिए खंधे कतिवण्णे० ?

जहा पंचपदेसिए तहेव निरवसेसं।

[१२ प्र.] भगवन्! सूक्ष्मपरिणाम वाला अनन्तप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है?, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१२ उ.] गौतम! जिस प्रकार पंचप्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहा है, उसी प्रकार समग्र (कथन इस विषय में करना चाहिए)।

१३. बादरपरिणए णं भंते! अणंतपएसिए खंधे कतिवण्णे० पुच्छा।

गोयमा! सिय एगवण्णे जाव सिय पंचवण्णे, सिय एगगंधे सिय दुगंधे, सिय एगरसे जाव सिय पंचरसे, सिय चउफासे जाव सिय अट्ठफासे पन्नत्ते।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ अट्ठारसमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो॥ १८-६॥

[१३ प्र.] भगवन्! बादर (स्थूल) परिणाम वाला अनन्तप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण, गन्ध आदि वाला है? इत्यादि प्रश्न।

[१३ उ.] भगवन्! वह कदाचित् एक वर्ण, यावत् कदाचित् पाँच वर्ण वाला, कदाचित् एक गन्ध या दो गन्ध वाला, कदाचित् एक रस यावत् पांच रस वाला, तथा चार स्पर्श यावत् कदाचित् आठ स्पर्श वाला होता है।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—परमाणु एवं द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों में वर्णादि का निरूपण—प्रस्तुत ८ सूत्रों (सू. ६ से १३ तक) में परमाणुपुद्गल से लेकर बादर परिणामवाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श का निरूपण किया गया है।

परमाणु में वर्णादि विकल्प—परमाणुपुद्गल में वर्णविषयक ५ विकल्प होते हैं, अर्थात् पांच वर्णों में से कोई एक कृष्ण आदि वर्ण होता है। गन्धविषयक दो विकल्प, या तो सुगन्ध या दुर्गन्ध। रसविषयक पांच विकल्प होते हैं, अर्थात्—पांच रसों में से कोई एक रस होता है। और स्पर्शविषयक चार विकल्प होते हैं। अर्थात्—स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण, इन चार स्पर्शों में से कोई भी दो अविरोधी स्पर्श पाए जाते हैं। यथा—शीत और स्निग्ध, शीत और रूक्ष, उष्ण और स्निग्ध या उष्ण और रूक्ष।

द्विप्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि विकल्प—द्विप्रदेशी स्कन्ध में यदि एक वर्ण हो तो पांच विकल्प, और दो वर्ण (अर्थात् प्रत्येक प्रदेश में पृथक्-पृथक् वर्ण) हो तो दस विकल्प होते हैं। इसी प्रकार गन्धादि के विषय में समझ लेना चाहिए। द्विप्रदेशी स्कन्ध जब शीत, स्निग्ध आदि दो स्पर्श वाला होता है, तब पूर्वोक्त ४ विकल्प होते हैं। जब तीन स्पर्श वाला होता है, तब भी चार विकल्प होते हैं। यथा—दो प्रदेश शीत हों, वहाँ एक स्निग्ध और दूसरा रूक्ष होता है। इसी प्रकार दो प्रदेश उष्ण हों, तब दूसरा विकल्प होता है। दोनों प्रदेश स्निग्ध हों, तब उनमें एक शीत और एक उष्ण हो, तब तीसरा विकल्प बनता है। इसी प्रकार दोनों प्रदेश रूक्ष हों, तब चतुर्थ विकल्प बनता है। जब द्विप्रदेशी स्कन्ध चार स्पर्श वाला होता है, तब एक विकल्प बनता है। इसी प्रकार तीन प्रदेशी आदि

स्कन्धों के विषय में स्वयं ऊहापोह करके घटित कर लेना चाहिए।

सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में चार स्पर्श—पूर्वोक्त शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, ये चार स्पर्श पाए जाते हैं।

बादर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में चार से आठ स्पर्श तक—चार हों तो मृदु और कर्कश में से कोई एक, गुरु और लघु में से कोई एक, शीत और उष्ण में से कोई एक और स्निग्ध एवं रूक्ष में से कोई एक, इस प्रकार चार स्पर्श पाए जाते हैं। पांच स्पर्श हों तो चार में से किसी भी युग्म के दो औंर शेष तीन युग्मों में से एक-एक। छह स्पर्श हों तो दो युग्मों के दो-दो, और शेष दो युग्मों में से एक-एक, यों ६ स्पर्श पाए जाते हैं। सात स्पर्श हों तो तीन युग्मों के दो-दो और एक युग्म में से एक, और आठ स्पर्श हों तो चारों के दो-दो स्पर्श पाए जाते हैं।[१]

॥ अठारहवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७४८-७४९

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७१३

सत्तमो उद्देसओ : 'केवली'

सप्तम उद्देशक : 'केवली'

केवली के यक्षाविष्ट होने तथा दो सावद्य भाषाएँ बोलने के अन्यतीर्थिक आक्षेप का भगवान् द्वारा निराकरणपूर्वक यथार्थ समाधान

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

२. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति—एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइस्सति, एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासइ, तं जहा—मोसं वा सच्चामोसं वा। से कहमेयं भंते ! एवं?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया जाव जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४—नो खलु केवली जक्खाएसेणं आइस्सति, नो खलु केवली जक्खाएसेणं आइट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासइ, तं जहा—मोसं वा सच्चामोसं वा। केवली णं असावज्जाओ अपरोवघातियाओ आहच्च दो भासाओ भासति, तं जहा—सच्चं वा असच्चामोसं वा।

[२ प्र.] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि केवली यक्षावेश से आविष्ट होते हैं और जब केवली यक्षावेश से आविष्ट होते हैं तो वे कदाचित् (कभी-कभी) दो प्रकार की भाषाएँ बोलते हैं—(१) मृषाभाषा और (२) सत्या-मृषा (मिश्र) भाषा। तो हे भगवन् ! ऐसा कैसे हो सकता है?

[२ उ.] गौतम! अन्यतीर्थिकों ने यावत् जो इस प्रकार कहा है, वह उन्होंने मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि केवली यक्षावेश से आविष्ट ही नहीं होते। केवली न तो कदापि यक्षाविष्ट होते हैं, और न ही कभी मृषा और सत्या-मृषा इन दो भाषाओं को बोलते हैं। केवली जब भी बोलते हैं, तो असावद्य और दूसरों का उपघात न करने वाली, ऐसी दो भाषाएँ बोलते हैं। वे इस प्रकार हैं—सत्यभाषा या असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा।

विवेचन—केवली यक्षाविष्ट नहीं होते न सावद्य भाषाएँ बोलते हैं—केवली अनन्त-वीर्य-सम्पन्न होने से किसी भी देव के आवेश से आविष्ट नहीं होते। और जब वे कदापि यक्षाविष्ट नहीं होते, तब उनके द्वारा मृषा और सत्यामृषा इन दो प्रकार की सावद्य भाषाएँ बोलने का सवाल ही नहीं उठता। फिर केवली तो राग-द्वेष-मोह से सर्वथा रहित, सदैव अप्रमत्त होते हैं, वे सावद्यभाषा बोल ही नहीं सकते।[१]

---

१ (क) भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति पत्र ७४९

(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्र (गुजराती अनुवाद), पं. भगवानदास दोशी), खण्ड ४, पृ. ६५

कठिन शब्दार्थ—जक्खाएसेण—यक्ष के आवेश से। **आइट्ठे**—आविष्ट—अधिष्ठित। **आहच्च**—कदाचित् या कभी-कभी। **असावज्जाओ**—असावद्य—निरवद्य (पाप-दोष-रहित)। **अपरोवघातियाओ**-अपरोपघातिक-दूसरों को आघात नहीं पहुँचाने वाली। **असच्चामोसं**—असत्यामृषा—जो न तो सत्य हो, न मृषा हो, ऐसी आदेशादिवाचक व्यवहारभाषा।[१]

उपधि एवं परिग्रह : प्रकारत्रय तथा नैरयिकादि में उपधि एवं परिग्रह की यथार्थ प्ररूपणा

३. कतिविधे णं भंते ! उवही पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविहे उवही पन्नत्ते, तं जहा—कम्मोवही सरीरोवही बाहिरभंडमत्तोवगरणोवही।

[३ प्र.] भगवन्! उपधि कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] गौतम! उपधि तीन प्रकार की कही गई है। यथा—(१) कर्मोपधि, (२) शरीरोपधि और (३) बाह्यभाण्डमात्रोपकरणउपधि।

४. नेरइयाणं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! दुविहे उवही पन्नत्ते, तं जहा—कम्मोवही य सरीरोवही य।

[४ प्र.] भगवन्! नैरयिकों के कितने प्रकार की उपधि होती है ?

[४ उ.] गौतम! उनके दो प्रकार की उपधि कही गई है वह इस प्रकार—(१) कर्मोपधि और (२) शरीरोपधि।

५. सेसाणं तिविहा उवही एगिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं।

[५] एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर वैमानिक तक शेष सभी जीवों के (पूर्वोक्त) तीन प्रकार की उपधि होती है।

६. एगिंदियाणं दुविहे, तं जहा—कम्मोवही य सरीरोवही य।

[६] एकेन्द्रिय जीवों के दो प्रकार की उपधि होती है यथा—कर्मोपधि और शरीरोपधि।

७. कतिविधे णं भंते ! उवही पन्नते।

गोयमा ! तिविहे उवही पन्नत्ते, तं जहा—सच्चित्ते अचित्ते मीसए।

[७ प्र.] भगवन्! (प्रकारान्तर से) उपधि कितने प्रकार की कही गई है ?

[७ उ.] गौतम! (प्रकारान्तर से) उपधि तीन प्रकार की कही गई है यथा—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

८. एवं नेरइयाण वि।

---

१. भगवती, विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७१४

[८] इसी प्रकार नैरयिकों के भी तीन प्रकार की उपधि होती है।

९. एवं निरवसेसं जाव वेमाणियाणं।

[९] इसी प्रकार अवशिष्ट सभी जीवों के, यावत् वैमानिकों तक के तीनों प्रकार की उपधि होती है।

१०. कतिविधे णं भंते ! परिग्गहे पन्नत्ते ?

गोयमा! तिविहे परिग्गहे पन्नत्ते, तं जहा—कम्मपरिग्गहे सरीरपरिग्गहे बाहिरगभंडमत्तोवगरण-परिग्गहे।

[१० प्र.] भगवन्! परिग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] गौतम! परिग्रह तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) कर्म-परिग्रह, (२) शरीर-परिग्रह और (३) बाह्यभाण्डमात्रोपकरण-परिग्रह।

११. नेरतियाणं भंते ! ०?

एवं जहा उवहिणा दो दंडगा भणिया तहा परिग्गहेण वि दो दंडगा भाणियव्वा।

[११ प्र.] भगवन्! नैरयिकों में कितने प्रकार का परिग्रह कहा गया है ?

[११ उ.] गौतम! जिस प्रकार (नैरयिकों आदि की) उपधि के विषय में दो दण्डक कहे गए हैं, उसी प्रकार परिग्रह के विषय में भी दो दण्डक कहने चाहिए।

विवेचन—उपधि और परिग्रह : स्वरूप प्रकार और चौवीस दण्डकों में प्ररूपणा—उपधि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है—**'उपधीयते—उपष्टभ्यते आत्मा येन स उपधिः'** अर्थात्—जिससे आत्मा शुभाशुभ गतियों में स्थिर की जाती है, वह उपधि है। उपधि की परिभाषा है—जीवननिर्वाह में उपयोगी शरीर, कर्म एवं वस्त्रादि। यह दो प्रकार की है। आभ्यन्तर और बाह्य। कर्म और शरीर आभ्यन्तर उपधि है जबकि वस्त्र पात्रादि वस्तुएँ बाह्य उपधि हैं। उपधि के तीन भेदों में एकेन्द्रिय को छोड़कर शेष १९ दण्डकवर्ती जीवों के शरीररूप, कर्मरूप और बाह्यभाण्डमात्रोपकरणरूप उपधि होती है। एकेन्द्रिय के बाह्यभाण्डमात्रोपकरणउपधि नहीं होती।

नैरयिकादि जीवों के सचित्त उपधि शरीर आदि है, अचित्त उपधि उत्पत्तिस्थान है और मिश्रउपधि श्वासोच्छ्वासादिपुद्गलों से युक्त शरीर है, जो सचेतन-अचेतन दोनों रूप होने से मिश्रउपधि है।[१]

उपधि और परिग्रह में अन्तर—इतना ही है कि जीवन-निर्वाह में उपकारक कर्म, शरीर और वस्त्रादि उपधि कहलाते हैं, और वे ही जब ममत्वबुद्धि से गृहीत होते हैं, तब परिग्रह कहलाते हैं। उपधि के सम्बन्ध में जैसी प्ररूपणा की गई है, वैसी ही प्ररूपणा परिग्रह के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।[२]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५०
   (ख) भगवतीसूत्र (गुजराती अनुवादः पं. भगवानदास दोशी) खण्ड ४, पृ. ६४

२. वही, (पं. भगवानदास दोशी) खण्ड ४, पृ. ६५

प्रणिधान : तीन प्रकार तथा नैरयिकादि में प्रणिधान की प्ररूपणा

१२. कतिविधे णं भंते ! पणिहाणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा—मणपणिहाणे वइपणिहाणे कायपणिहाणे।

[१२ प्र.] भगवन्! प्रणिधान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१२ उ.] गौतम! प्रणिधान तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) मनः प्रणिधान, (२) वचनप्रणिधान और (३) कायप्रणिधान।

१३. नेरतियाणं भंते ! कतिविहे पणिहाणे पन्नत्ते ?

एवं चेव।

[१३ प्र.] भगवन्! नैरयिकों के कितने प्रणिधान कहे गए हैं ?

[१३ उ.] गौतम! इसी प्रकार (पूर्ववत्) (तीनों प्रणिधान इनमें होते हैं।)

१४. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[१४] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए।

१५. पुढविकाइयाणं० पुच्छा

गोयमा ! एगे कायपणिहाणे पन्नत्ते।

[१५ प्र.] भंते! पृथ्वीकायिक जीवों के प्रणिधान के विषय में प्रश्न ?

[१५ उ.] गौतम! इनमें एकमात्र कायप्रणिधान ही होता है।

१६. एवं जाव वणस्सतिकाइयाणं।

[१६] इसी प्रकार वनस्पतिकायिकों तक जानना चाहिए।

१७. बेइंदियाणं० पुच्छा।

गोयमा ! दुविहे पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा—वइपणिहाणे य कायपणिहाणे य।

[१७ प्र.] भगवन्! द्वीन्द्रियजीवों के विषय में प्रश्न ?

[१७ उ.] गौतम! उनमें दो प्रकार का प्रणिधान होता है, यथा—वचनप्रणिधान और कायप्रणिधान।

१८. एवं जाव चउरिंदियाणं।

[१८] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों तक कहना चाहिए।

१९. सेसाणं तिविहे वि जाव वेमाणियाणं।

[१९] शेष सभी जीवों के वैमानिकों तक के तीनों प्रकार के प्रणिधान होते हैं।

विवेचन—प्रणिधान : स्वरूप, प्रकार एवं जीवों में प्रणिधान की प्ररूपणा—मन, वचन और काययोग को किसी भी एक पदार्थ या निश्चित विषय-आलम्बन में स्थिर करना प्रणिधान है। वह तीन प्रकार का है। एकेन्द्रिय जीवों में एक कायप्रणिधान और विकलेन्द्रिय जीवों में दो—वचनप्रणिधान और कायप्रणिधान तथा पंचेन्द्रिय जीवों में तीनों-मन-वचन-कायप्रणिधान पाए जाते हैं।[१]

दुष्प्रणिधान एवं सुप्रणिधान के तीन-तीन भेद तथा नैरयिकादि में दुष्प्रणिधान-सुप्रणिधान-प्ररूपणा

२०. कतिविधे णं भंते ! दुप्पणिहाणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविहे दुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे जहेव पणिहाणेणं दंडगो भणितो तहेव दुप्पणिहाणेण वि भाणियव्वो।

[२० प्र.] भगवन्! दुष्प्रणिधान कितने प्रकार का कहा गया है?

[२० उ.] गौतम! दुष्प्रणिधान तीन प्रकार का कहा गया है यथा—मनो-दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान और काय-दुष्प्रणिधान। जिस प्रकार प्रणिधान के विषय में दण्डक कहा गया है, उसी प्रकार दुष्प्रणिधान के विषय में भी कहना चाहिए।

२१. कतिविधे णं भंते ! सुप्पणिहाणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविधे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते, तं जहा—मणसुप्पणिहाणे वतिंसुप्पणिहाणे कायसुप्पणिहाणे।

[२१ प्र.] भगवन्! सुप्रणिधान कितने प्रकार का कहा गया है?

[२१ उ.] गौतम! सुप्रणिधान तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—मनःसुप्रणिधान, वचनसुप्रणिधान और कायसुप्रणिधान।

२२. मणुस्साणं भंते ! कतिविधे सुप्पणिहाणे पन्नत्ते ?

एवं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

[२२ प्र.] भगवन्! मनुष्यों के कितने प्रकार का सुप्रणिधान कहा गया है?

[२२ उ.] गौतम! मनुष्यों के तीनों प्रकार का सुप्रणिधान होता है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५०

प्रकर्षेण नियते आलम्बने धानं-धरणं मनःप्रभृतेरिति प्रणिधानम्।

(ख) भगवती. चतुर्थ खण्ड (पं. भगवानदास दोशी), पृ. ६५

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यह कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—दुष्प्रणिधान और सुप्रणिधान : स्वरूप, प्रकार और किन जीवों में कितने-कितने ? —मन-वचन-काया की दुष्प्रवृत्ति की एकाग्रता को दुष्प्रणिधान और सुप्रवृत्ति की एकाग्रता को सुप्रणिधान कहते हैं। दुष्प्रणिधान तो चौवीस ही दण्डकों में पाया जाता है, किन्तु सुप्रणिधान केवल मनुष्य (संयत—साधु) में ही पाया जाता है।[१]

अन्यतीर्थिकों द्वारा भगवत्प्ररूपित अस्तिकाय के विषय में पारस्परिक जिज्ञासा

२३. तए णं समणे भगवं महावीरे जाव बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[२३] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् बाह्य जनपदों में विहार किया।

२४. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था। वण्णओ। गुणसिलए चेतिए। वण्णओ, जाव पुढविसिलावट्टओ।

[२४] उस काल उस समय राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ गुणशील नामक उद्यान था। उसका भी वर्णन करना चाहिए। यावत् वहाँ एक पृथ्वीशिलापट्ट था।

२५. तस्स णं गुणसिलस्स चेतियस्स अदूरसामंते बहवे अन्नउत्थिया परिवसंति, तं जहा—कालोदाई सेलोदाई एवं जहा सत्तमसते अन्नउत्थिउद्देसए (स. ७ उ. १० सु. १-३) जाव से कहमेयं मन्ने एवं ?

[२५] उस गुणशील उद्यान के समीप बहुत-से अन्यतीर्थिक रहते थे, यथा—कालोदायी, शैलोदायी इत्यादि समग्र वर्णन सातवें शतक के अन्यतीर्थिक उद्देशक के (उ. १० सू. १-३ में कथित) वर्णन के अनुसार, यावत्—'यह कैसे माना जा सकता है ?' यहाँ तक समझना चाहिए।

विवेचन—अन्यतीर्थिकों की भगवत्प्ररूपित अस्तिकायविषयक-जिज्ञासा—राजगृह नगर के बाहर गुणशील उद्यान के निकट कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक और सेहस्ती नामक अन्यतीर्थिक रहते थे। एक दिन वे सब एकत्र होकर धर्मचर्चा कर रहे थे कि प्रसंगवश भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित अस्तिकाय की चर्चा छिड़ गई। वह इस प्रकार—ज्ञातपुत्र महावीर पंचास्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं, यथा—धर्मास्तिकाय आदि। इनमें से जीवास्तिकाय सचेतन है, शेष चार अचेतन हैं। इनमें से पुद्गलास्तिकाय रूपी है, शेष चार अरूपी हैं। ज्ञातपुत्र महावीर के इस मत को कैसे यथार्थ माना जा सकता है ? क्योंकि ये अदृश्य होने के कारण असम्भव हैं। आशय यह है कि इस पंचास्तिकाय को सचेतनाचेतनरूप या रूपी-अरूपी-आदिरूप कैसे माना जा सकता है।[२]

---

१. भगवती. विवेचन, (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६. पृ. २७२०

२. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७२६ (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५२

राजगृह में भगवत्पदार्पण सुनकर मद्रुकश्रावक का उनके दर्शन-वन्दनार्थ प्रस्थान

२६. तत्थ णं रायगिहे नगरे मद्दुए नामं समणोवासए परिवसति अड्ढे जाव अपरिभूए अभिगय० जाव विहरइ।

[२६] उस राजगृह नगर में धनाढ्य यावत् किसी से पराभूत न होने वाला, तथा जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, यावत् मद्रुक नामक श्रमणोपासक रहता था।

२७. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नदा कदायि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव समोसढे। परिसा जाव पज्जुवासइ।

[२७] तभी अन्यदा किसी दिन पूर्वानुपूर्वीक्रम से विचरण करते हुए श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे। वे समवसरण में विराजमान हुए। परिषद यावत् पर्युपासना करने लगी।

२८. तए णं मद्दुए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हिदए ण्हाए जाव सरीरे साओ गिहाओ पडिनिक्खमति, सा० प० २ पायविहारचारेण रायगिहं नगरं जाव निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता तेसिं अन्नउत्थियाणं अदूरसामंतेणं वीतीवयति।

[२८] मद्रुक श्रमणोपासक ने जब श्रमण भगवान् महावीर के आगमन का यह वृत्तान्त जाना तो वह हृदय में अतीव हर्षित एवं यावत् सन्तुष्ट हुआ। उसने स्नान किया, यावत् समस्त अलंकारों से विभूषित होकर अपने घर से निकला। उसने पैदल चलते हुए राजगृह नगर के मध्य में होकर प्रस्थान किया। चलते-चलते वह उन अन्यतीर्थिकों के निकट से होकर जाने लगा।

विवेचन—मद्रुक श्रमणोपासक और भगवद्दर्शनार्थ उसकी पदयात्रा—राजगृहनिवासी मद्रुक श्रमणोपासक केवल धनाढ्य ही नहीं, सामाजिक एवं धार्मिकजनों में अग्रणी, प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित था, जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों का ज्ञाता था, किसी से दबने वाला नहीं था। भगवान् महावीर के प्रति उसकी अनन्य श्रद्धा-भक्ति थी। जब उसने सुना कि भगवान् मेरे नगर में पधारे हैं तो वह हृष्ट-तुष्ट होकर सब प्रकार से सुसज्जित होकर सात्त्विक वेशभूषा में स्वयं पैदल चल कर भगवान् के दर्शनों तथा प्रवचनादि श्रवण के लिए घर से निकला। राजगृह नगर के बीचों-बीच होकर उन अन्यतीर्थिकों के निवास के निकट होकर जाने लगा, जहाँ वे बैठे धर्मचर्चा कर रहे थे। इस पाठ से मद्रुक की धर्मनिष्ठा, तत्त्वज्ञता, सामाजिकता तथा भगवान् के प्रति अनन्यभक्ति परिलक्षित होती है।[1]

मद्रुक को भगवद्दर्शनार्थ जाते देख अन्यतीर्थिकों की उससे पञ्चास्तिकाय सम्बन्धी चर्चा करने की तैयारी, उनके प्रश्न का मद्रुक द्वारा अकाट्य युक्तिपूर्वक उत्तर

२९. तए णं ते अन्नउत्थिया मद्दुयं समणोवासयं अदूरसामंतेणं वीयीवयमाणं पासंति, पा० २ अन्नमन्नं सद्दावेंति, अन्नमन्नं सद्दावेत्ता एवं वदासि—एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमा कहा अवि

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ८१७-८१८ के आधार से

उप्पकडा, इमं च णं मद्दुए समणोवासए अम्हं अदूरसामंतेणं वीयीवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं मद्दुयं समणोवासयं एयमट्ठं पुच्छित्तएत्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति अन्नमन्नस्स० प० २ जेणेव मद्दुए समणोवासए तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ मद्दुयं समणोवासयं एवं वदासी—एवं खलु मद्दुया ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे णायपुत्ते पंच अत्थिकाये पन्नवेइ जहा सत्तमे सते अन्नउत्थिउद्देसए (स.७ उ. १० सु. ६ [१] जाव से कहमेयं मद्दुया ! एवं ?

[२९] तभी उन अन्यतीर्थिकों ने मद्रुक श्रमणोपासक को अपने निकट से जाते हुए देखा। उसे देखते ही उन्होंने एक दूसरे को बुला कर इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! यह मद्रुक श्रमणोपासक हमारे निकट से होकर जा रहा है। हमें यह बात (पंचास्तिकायसम्बन्धी तत्त्व) अविदित है, अत: देवानुप्रियो! इस बात को मद्रुक श्रमणोपासक से पूछना हमारे लिए श्रयेस्कर है। ऐसा विचार कर वे परस्पर सहमत हुए और सभी एकमत होकर मद्रुक श्रमणोपासक के निकट आए। फिर उन्होंने मद्रुक श्रमणोपासक से इस प्रकार पूछा—हे मद्रुक ! बात ऐसी है कि तुम्हारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पांच अस्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं, इत्यादि सारा कथन सातवें शतक के अन्यतीर्थिक उद्देशक (उ. १० सू. ६-१) के समान समझना, यावत्—'हे मद्रुक! यह बात कैसे मानी जाए ?'

३०. तए णं से मद्दुए समणोवासए ते अन्नउत्थिए एवं वयासि—जति कज्जं कज्जति जाणामो पासामो; अह कज्जं न कज्जति न जाणामो न पासामो।

[३०] यह सुनकर मद्रुक श्रमणोपासक ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—यदि वे धर्मास्तिकायादि कार्य करते हैं तभी उस पर से हम उन्हें जानते-देखते हैं, यदि वे कार्य न करते तो कारणरूप में हम उन्हें नहीं जानते-देखते।

३१. तए णं ते अन्नउत्थिया मद्दुयं समणोवासयं एवं वयासी—केस णं तुमं मद्दुया ! समणोवासगाणं भवसि जेण तुमं एयमट्ठं न जाणसि न पाससि ?

[३१] इस पर उन अन्यतीर्थिकों ने (आक्षेपपूर्वक) मद्रुक श्रमणोपासक से कहा कि—हे मद्रुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है कि तू इस तत्त्व (पंचास्तिकाय) को न तो जानता है और न प्रत्यक्ष देखता है (फिर भी मानता है) ?

३२. तए णं मद्दुए समणोवासए ते अन्नउत्थिए एवं वयासि 'अत्थि णं आउसो! वाउयाए वाति ?'

हंता, अत्थि।

तुब्भे णं आउसो ! वाउयायस्स वायमाणस्स रूवं पासह ?

णो तिण०।

अत्थि णं आउसो ! घाणसहगया पोग्गला ?

हंता, अत्थि।

तुब्भे णं आउसो ! घाणसहगयाणं पोग्गलाणं रूवं पासह ?

णो ति०।

अत्थि णं आउसो ! अरणिसहगते अगणिकाए ?

हंता, अत्थि।

तुब्भे णं आउसो ! अरणिसहगयस्स अगणिकायस्स रूवं पासह ?

णो ति०।

अत्थि णं आउसो ! समुद्दस्स पारगयाइं रूवाइं ?

हंता, अत्थि।

तुब्भे णं आउसो ! समुद्दस्स पारगयाइं रूवाइं पासह ?

णो ति०।

अत्थि णं आउसो ! देवलोगगयाइं रूवाइं ?

हंता, अत्थि।

तुब्भे णं आउसो ! देवलोगगयाइं रूवाइं पासह ?

णो ति०।

एवामेव आउसो ! अहं वा तुब्भे वा अन्नो वा छउमत्थो जइ जो जं न जाणति न पासति तं सव्वं न भवति एवं भे सुबहुलोए ण भविस्सतीति, कट्टु ते अन्नउत्थिए एवं पडिहणइ, एवं प० २ जेणेव गुणसिलए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उ० २ समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं जाव पज्जुवासति।

[३२] तभी (इस आक्षेप का उत्तर देते हुए) मद्रुक श्रमणोपासक ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—

[प्र.] आयुष्मन्! यह ठीक है न कि हवा बहती (चलती) है ?

[उ] हाँ, यह ठीक है।

[प्र.] हे आयुष्मन्! क्या तुम बहती (चलती) हुई हवा का रूप देखते हो ?

[उ.] यह (वायु का रूप देखना) अर्थ शक्य नहीं है।

[प्र.] आयुष्मन्! नासिका के सहगत गन्ध के पुद्गल हैं न ?

[उ.] हाँ, हैं।

[प्र.] आयुष्मन्! क्या तुमने उन घ्राण सहगत गन्ध के पुद्गलों का रूप देखा है ?

[उ.] यह बात (गन्ध का रूप देखना) भी शक्य नहीं है।

[प्र.] आयुष्मन्! क्या अरणि की लकड़ी के साथ में रहा हुआ अग्निकाय है ?

[उ.] हाँ, है।

[प्र.] आयुष्मन्! क्या तुम अरणि की लकड़ी में रही हुई उस अग्नि का रूप देखते हो ?

[उ.] यह बात तो शक्य नहीं है।

[प्र.] आयुष्मन्! समुद्र के उस पार रूपी पदार्थ हैं न ?

[उ.] हाँ, हैं।

[प्र.] आयुष्मन्! क्या तुम समुद्र के उस पार रहे हुए पदार्थों के रूप को देखते हो ?

[उ.] यह देखना शक्य नहीं है।

[प्र.] आयुष्मन्! क्या देवलोकों में रूपी पदार्थ हैं ?

[उ.] हाँ, हैं।

[प्र.] आयुष्मन्! क्या तुम देवलोकगत पदार्थों के रूपों को देखते हो ?

[उ.] यह बात (देवलोकगत पदार्थों का रूप देखना) शक्य नहीं है।

(मद्रुक ने कहा—) इसी तरह, हे आयुष्मन् ! यदि मैं, तुम, या अन्य कोई भी छद्मस्थ मनुष्य, जिन पदार्थों को नहीं जानता या नहीं देखता, उन सब का अस्तित्व नहीं होता, ऐसा माना जाए तो तुम्हारी मान्यतानुसार लोक में बहुत-से पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, (अर्थात्-उन पदार्थों का अभाव हो जाएगा); यों कहकर मद्रुक श्रमणोपासक ने उन अन्यतीर्थिकों को प्रतिहत (हतप्रभ) कर दिया। उन्हें निरुत्तर करके वह गुणशील उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जहाँ विराजमान थे, वहाँ उनके निकट आया और पांच प्रकार के अभिगम से श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में पहुँच कर यावत् पर्युपासना करने लगा।

विवेचन—मद्रुक श्रावक ने अन्यतीर्थिकों को निरुत्तर किया—मद्रुक के समक्ष उन अन्यतीर्थिकों ने यह शंका प्रस्तुत की कि ज्ञातपुत्र-प्ररूपित पंचास्तिकाय को सचेतन-अचेतन या रूपी-अरूपी कैसे माना जाए, जबकि वह अदृश्यमान होने के कारण अस्तित्वहीन हैं ? क्या तुम धर्मास्तिकायादि को जानते-देखते हो ? मद्रुक ने कहा—किसी भी पदार्थ को हम उसके कार्य से जान-देख पाते हैं, जो पदार्थ कुछ भी कार्य न करे, निष्क्रिय रहे, उसे हम नहीं जान सकते। इतने पर भी अन्यतीर्थिकों ने आक्षेप करते हुए कहा—'तुम भला कैसे श्रमणोपासक हो, जो धर्मास्तिकायादि को प्रत्यक्ष जानते-देखते नहीं हो, फिर भी मानते हो ?'

इसका मद्रुक ने अकाट्य युक्तियों के साथ उत्तर दिया—अच्छा, आप यह बताइये कि हवा चलती है, परन्तु क्या आप हवा का रूप देखते हैं ?, इसी प्रकार गन्धगत पुद्गल, अरणि में रही हुई अग्नि, समुद्र के उस पार रहे हुए पदार्थ, देवलोक के पदार्थों आदि को क्या आप प्रत्यक्ष जानते-देखते हैं ? नहीं जानते-देखते, फिर भी आप उन पदार्थों को मानते हैं। यदि आपके मतानुसार जिन चीजों को हम, आप या अन्य छद्मस्थ मनुष्य प्रत्यक्ष नहीं जानते-देखते उन्हें न मानें, तब तो संसार के बहुत-से पदार्थों का अभाव हो जाएगा। अत: छद्मस्थ के धर्मास्तिकायादि को प्रत्यक्ष नहीं जानने-देखने मात्र से उनका अभाव सिद्ध नहीं होता, अपितु धर्मास्तिकायादि के

कार्यों पर से (अनुमान प्रमाण से) उनके अस्तित्व को मानना और जानना चाहिए।

इस प्रकार उन अन्यतीर्थियों को हतप्रभ एवं निरुत्तर कर दिया।[1]

कठिन शब्दार्थ—घाणसहगया—घ्राणसहगत—गन्धयुक्त। **पडिहणइ**—प्रतिहत—निरुत्तर।[2]

मद्रुक द्वारा अन्यतीर्थिकों को दिए गए युक्तिसंगत उत्तर की भगवान् द्वारा प्रशंसा, मद्रुक द्वारा धर्मश्रवण करके प्रतिगमन

३३. 'मद्दुया !' इ समणे भगवं महावीरे मद्दुयं एवं समणोवासयं एवं वयासि—सुट्ठु णं मद्दुया ! तुमं ते अन्नउत्थिए एवं वयासि, साहु णं मद्दुया ! तुमं ते अन्नउत्थिए एवं वयासि, जे णं मद्दुया! अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा अण्णातं अदिट्ठं अस्तुतं अमयं अविण्णायं बहुजणमज्झे आघवेति पण्णवेति जाव उवदंसेति से णं अरहंताणं आसायणाए वट्टति, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए वट्टति, केवलीणं आसायणाए वट्टति, केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए वट्टति। तं सुट्ठु णं तुमं मद्दुया ! ते अन्नउत्थिए एवं वयासि, साहु णं तुमं मद्दुया ! जाव एवं वयासि।

[३३] 'हे मद्रुक !' इस प्रकार सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने मद्रुक श्रमणोपासक से इस प्रकार कहा—हे मद्रुक! तुमने उन अन्यतीर्थिकों को जो उत्तर दिया, वह समीचीन है, मद्रुक! तुमने उन अन्यथीर्थिकों को यथार्थ उत्तर दिया है। हे मद्रुक ! जो व्यक्ति बिना जाने, बिना देखे तथा बिना सुने किसी (अमुक) अज्ञात, अदृष्ट, असम्मत एवं अविज्ञात अर्थ, हेतु, प्रश्न या विवेचन (व्याकरण-व्याख्या) का उत्तर बहुत-से मनुष्यों के बीच में कहता है, बतलाता है यावत् उपदेश देता है, वह अरहन्त भगवन्तों की आशातना में प्रवृत्त होता है, वह अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आशातना करता है, वह केवलियों की आशातना करता है, वह केवलि-प्ररूपित धर्म की भी आशातना करता है। हे मद्रुक! तुमने उन अन्यतीर्थिकों को इस प्रकार का उत्तर देकर बहुत अच्छा कार्य किया है। मद्रुक! तुमने बहुत उत्तम कार्य किया, यावत् इस प्रकार का उत्तर दिया (और अन्यतीर्थिकों को निरुत्तर कर दिया)।

३४. तए णं मद्दुए समणोवासए समणेणं भगवया महावीरेण एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ णच्चासन्ने जाव पज्जुवासति।

[३४] श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर हृष्ट-तुष्ट यावत् मद्रुक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और न अतिनिकट और न अतिदूर बैठकर यावत् पर्युपासना करने लगा।

३५. तए णं समणे भगवं महावीरे मद्दुयस्स समणोवासगस्स तीसे य जाव परिसा पडिगया।

[३५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने मद्रुक श्रमणोपासक तथा उस परिषद् को धर्मकथा कही। यावत् परिषद् लौट गई।

---

१. भगवती. विवेचन, भाग ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २७२७

२. वही, भाग ६, पृ. २७२३

३६. तए णं मद्दुए समणोवासए समणस्स भगवओ जाव निसम्म हट्ठतुट्ठ० पसिणाइं पुच्छति, प० पु० २ अट्ठाइं परियाइयति, अ० प० २ उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसइ जाव पडिगए।

[३६] तत्पश्चात् मद्रुक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान् महावीर से यावत् धर्मोपदेश सुना, और उसे अवधारण करके अतीव हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। फिर उसने भगवान् से प्रश्न पूछे, अर्थ जाने (ग्रहण किये), और खड़े होकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया यावत् अपने घर लौट गया।

विवेचन—भगवान् द्वारा मद्रुक की प्रशंसा एवं नवसिद्धान्त निरूपण—भगवान् ने मद्रुक द्वारा अन्यतीर्थिकों को दिए गए युक्तिसंगत उत्तर के लिए मद्रुक की प्रशंसा की, उसके प्रशंसनीय और धर्मप्रभावक कार्य को प्रोत्साहन दिया, साथ ही एक अभिनव सिद्धान्त का भी प्रतिपादन कर दिया कि जो व्यक्ति बिना जाने-सुने-देखे ही किसी अविज्ञात-अश्रुत-असम्मत अर्थ, हेतु और प्रश्न का उत्तर बहुजन समूह में देता है, वह अर्हन्तों, केवलियों तथा अर्हन्प्ररूपित धर्म की आशातना करता है। इसका आशय यह है कि बिना जाने-सुने मनमाना उत्तर दे देने से कई बार धर्मसंघ एवं संघनायक के प्रति लोगों में गलत धारणाएँ हो जाती हैं। वृत्तिकार इस कथन का रहस्य इस प्रकार बताते हैं कि भगवान् ने कहा—हे मद्रुक ! तुमने अच्छा किया कि अस्तिकाय को प्रत्यक्ष न जानते हुए, 'नहीं जानते', ऐसा सत्य-सत्य कहा। यदि तुमने नहीं जानते हुए भी, 'हम जानते हैं', ऐसा कहा होता तो अर्हन्त आदि के तुम आशातनाकर्ता हो जाते।[१]

कठिन शब्दार्थ—अण्णातं—अज्ञात। **अदिट्ठं**—नहीं देखे हुए। **अस्सुतं**—नहीं सुने हुए। **अमयं** असम्मत-अमान्य। **अविण्णायं**—अविज्ञात। **आसायणाए वट्टति**—आशातना करने में प्रवृत्त होता है—आशातना करता है। **अट्ठाइं परियाइयति**—अर्थों को ग्रहण करता है।[२]

गौतम द्वारा पूछे गए मद्रुक की प्रव्रज्या एवं मुक्ति से सम्बद्ध प्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान

३७. 'भंते!' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वयासि—पभू णं भंते! मद्दुए समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतियं जाव पव्वइत्तए ?

णो तिणट्ठे समट्ठे। एवं जहेव संखे (स. १२ उ. १ सु. ३१) तहेव अरूणाभे जाव अंतं काहिति।

[३७] 'भगवन्!' इस प्रकार सम्बोधित कर, भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार पूछा—भगवन् ! क्या मद्रुक श्रमणोपासक आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित होकर यावत् प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ है ?

[३७] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। इत्यादि सब वर्णन (शतक १२, उ. १ सू. ३१ में वर्णित) शंख

---

१. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७२६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५३

२. भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १३, पृ. १२७-१३१

श्रमणोपासक के समान समझना चाहिए। यावत्—अरुणाभ विमान में देवरूप में उत्पन्न होकर, यावत् सर्वदुःख का अन्त करेगा।

विवेचन—गौतम स्वामी द्वारा मद्रुक की प्रवज्या एवं मुक्ति आदि से सम्बद्ध प्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान—प्रस्तुत सू. ३७ में मद्रुक श्रमणोपासक द्वारा प्रव्रज्या-ग्रहण में असमर्थ होने पर भी मद्रुक के उज्ज्वल भविष्य का कथन किया गया है।

महर्द्धिक देवों द्वारा संग्रामनिमित्त सहस्त्ररूपविकुर्वणासम्बन्धी प्रश्न का समाधान

३८. देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महासोक्खे[1] रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू अन्नमन्नेणं सद्धिं संगामं संगामित्तए ?

हंता पभू।

[३८ प्र.] भगवन्! महर्द्धिक यावत् महासुख वाला देव, हजार रूपों की विकुर्वणा करके परस्पर एक दूसरे के साथ संग्राम करने में समर्थ है?

[३८ उ.] हाँ गौतम! (वह ऐसा करने में) समर्थ है।

३९. ताओ णं भंते ! बोंदीओ किं एगजीवफुडाओ, अणेगजीवफुडाओ ?

गोयमा ! एगजीवफुडाओ, णो अणेगजीवफुडाओ।

[३९ प्र.] भगवन्! वैक्रियकृत वे शरीर, एक ही जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, या अनेक जीवों के साथ सम्बद्ध ?

[३९ उ.] गौतम! (वे सभी वैक्रियकृत शरीर) एक ही जीव से सम्बद्ध होते हैं, अनेक जीवों के साथ नहीं।

४०. ते णं भंते ! तेसिं बोंदीणं अंतरा किं एगजीवफुडा अणेगजीवफुडा?

गोयमा ! एगजीवफुडा, नो अणेगजीवफुडा।

[४० प्र.] भगवन्! उन (वैक्रियकृत) शरीरों के बीच का अन्तराल-भाग क्या एक जीव से सम्बद्ध होता है, या अनेक जीवों से सम्बद्ध ?

[४० उ.] गौतम! उन शरीरों के बीच का अन्तराल भाग एक ही जीव से सम्बद्ध होता है, अनेक जीवों से सम्बद्ध नहीं।

विवेचन—महर्द्धिक देव द्वारा वैक्रियकृत अनेक शरीर : एक जीव से सम्बद्ध—देवों के द्वारा परस्पर संग्राम के निमित्त वैक्रियशक्ति से बनाए हुए हजारों शरीर केवल एक ही जीव (वैक्रियकर्त्ता) से सम्बन्धित होते हैं।

---

१. पाठन्तर-महेसक्खे

कठिन शब्दार्थ—महासोक्खे—महान् सौख्यसम्पन्न। **बोंदी**—शरीर। **एगजीवफुडाओ**—एक ही जीव से स्पृष्ट-सम्बद्ध। **बोंदीणं अंतरा**—विकुर्वित शरीरों के बीच का अन्तराल।[१]

उन छिन्नशरीरों के अन्तर्गतभाग को शस्त्रादि द्वारा पीडित करने की असमर्थता

४१. पुरिसे णं भंते ! अंतरे हत्थेण वा ?

एवं जहा अट्ठमसए ततिए उद्देसए (स. ८ उ. ३ सु. ६ (२)) जाव नो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[४१ प्र.] भगवन्! कोई पुरुष, उन वैक्रियकृत शरीरों के अन्तरालों को अपने हाथ या पैर से स्पर्श करता हुआ, यावत् तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन करता हुआ कुछ भी पीड़ा उत्पन्न कर सकता है ?

[४१ उ.] गौतम! (इसका उत्तर) आठवें शतक के तृतीय उद्देशक (सू. ६-२ में कथित कथन) के अनुसार समझना, यावत्—उन पर शस्त्र नहीं लग (चल) सकता।

विवेचन—वैक्रियकृतशरीरों के छेदने-भेदनादि द्वारा पीडा पहुंचाने की असमर्थता—प्रस्तुत सू. ४१ में पूर्वोक्त शरीरों के अन्तराल पर हाथ-पैर आदि या शस्त्रादि द्वारा पीडा पहुंचाने के सामर्थ्य का अष्टम शतक के तृतीय उद्देशक के अतिदेशपूर्वक निषेध किया गया है।

देवासुर-संग्राम में प्रहरण-विकुर्वणा-निरूपण

४२. अत्थि णं भंते ! देवासुराणं संगामो, देवासुराणं संगामो ?

हंता, अत्थि।

[४२ प्र.] भगवन्! क्या देवों और असुरों में (कभी) देवासुर-संग्राम होता है ?

[४२ उ.] हाँ गौतम! होता है।

४३. देवासुरेसु णं भंते ! संगामेसु वट्टमाणेसु किं णं तेसिं देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणति ?

गोयमा ! जं णं ते देवा तणं वा कट्ठं वा पत्तं वा सक्करं वा परामुसंति तं णं तेंसि देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणमति।

[४३ प्र.] भगवन्! देवों और असुरों में संग्राम छिड़ जाने (प्रवृत्त हो जाने) पर कौन-सी वस्तु, उन देवों के श्रेष्ठ प्रहरण (शस्त्र) के रूप में परिणत होती है ?

[४३ उ.] गौतम! वे देव, जिस तृण (तिनका), काष्ठ, पत्ता या कंकर आदि को स्पर्श करते हैं, वही वस्तु उन देवों के शस्त्ररत्न के रूप में परिणत हो जाती है।

४४. जहेव देवाणं तहेव असुरकुमाराणं ?

---

१. भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भाग. १३, पृ. १३५

णो इणट्ठे समट्ठे ? असुरकुमाराणं देवाणं निच्चं निउव्विया पहरणरयणा पन्नत्ता।

[४४ प्र.] भगवन्! जिस प्रकार देवों के लिए कोई भी वस्तु स्पर्शमात्र से शस्त्ररत्न के रूप में परिणत हो जाती है, क्या उसी प्रकार असुरकुमारदेवों (भवनपति-असुरों) के भी होती है ?

[४४ उ.] गौतम! उनके लिए यह बात शक्य नहीं है। क्योंकि असुरकुमारदेवों के तो सदा वैक्रियकृत शस्त्ररत्न होते हैं।

विवेचन—देवासुर-संग्राम और उनमें दोनों ओर से प्रयुक्त शस्त्रों का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों (४२ से ४४ तक) में देवासुरों के संग्राम से सम्बद्ध चर्चा है।

देव और असुर कौन ?—प्रस्तुत में देव शब्द से ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का और असुर शब्द से भवनपति और वाणव्यन्तर देवों का ग्रहण किया गया है।[१]

देवासुर-संग्राम क्यों और किन शस्त्रों से ?—सनातन धर्म के ग्रन्थों में देवासुर-संग्राम अथवा देवदानव-संग्राम अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैनशास्त्रों में यद्यपि सभी जाति के देवों के लिए 'देव' शब्द ही प्राय: प्रयुक्त है, किन्तु यहाँ असुर शब्द नीची जाति के देवों के लिए है। वे ईर्ष्या, द्वेष आदि के वश उच्चजातीय देवों के साथ युद्ध करते रहते हैं। संग्राम शस्त्रसाध्य है। इसलिए यहाँ प्रश्न किया गया है कि देवों और असुरों में संग्राम छिड़ जाने पर उनके पास शस्त्र कहाँ से आते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि देवों के अतिशय पुण्य के कारण जिस वस्तु का, यहाँ तक कि तिनके या पत्ते का भी वे शस्त्रबुद्धि से स्पर्श करते हैं, वही उनके शस्त्ररूप में परिणत हो जाता है, अर्थात् वही तीक्ष्ण शस्त्र का कार्य करता है। किन्तु उसकी अपेक्षा असुरों (भवनपति वाणव्यन्तर देवों) के मन्दतर पुण्य होने से उनके शस्त्र पहले से नित्य विकुर्वित होते हैं, वे ही काम में आते हैं, अन्य कोई भी वस्तु उनके छूने से शस्त्ररूप में परिणत नहीं होती।[२]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५३ (ख) भगवती. (विवेचन) भा.६, (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २७३०

२ (क) भगवती. वृत्ति, पत्र ७५३

(ख) "वर्तमान में भी कई आध्यात्मिक या दैवीशक्तिसम्पन्न व्यक्ति हैं, जो फूल की नाजुक पंखुड़ी या कागज के टुकड़े को भी शस्त्र के रूप में परिणत कर उससे ऑपरेशन कर सकते हैं। रमन बाबा उर्फ रमन बच्चन मुजफ्फरपुर (बिहार) के निवासी हैं। वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से फूल की नाजुक पंखुड़ी या फिर कागज के टुकड़े से जिस्म का कोई भी हिस्सा काट कर ऑपरेशन कर सकते हैं। एक 'अलौकिक शक्ति' भगवती द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक शक्ति के जरिए वे इस तरीके से ऑपरेशन करते हैं। रमन बाबा का कहना है कि इस तरीके से उन्होंने लगभग ८००० ऑपरेशन किये हैं। और वे भी सिर्फ दस मिनट में। इसमें मरीज को कोई दर्द नहीं हुआ और ऑपरेशन का निशान भी कुछ ही देर में गायब हो गया। डाक्टरों ने जिन्हें लाइलाज कह दिया था, ऐसे कैंसर, लकवा, अल्सर, ब्रेनहेमरेज आदि रोगों से पीड़ित रोगियों को ठीक किया है इस स्प्रीच्युअल सर्जरी से।" —नवभारत टाइम्स ३.१.१९८५

जब दैवी शक्ति सम्पन्न मनुष्य भी ऑपरेशन के शस्त्र के रूप में कागज या फूल की पंखुड़ी को प्रयुक्त कर सकते हैं, तब अतिशय पुण्यसम्पन्न देवों के लिए तृण, काष्ठ आदि को छूने से शस्त्र बन जाना असम्भव नहीं है। —सं०

महर्द्धिकदेवों का लवणसमुद्रादि तक चक्कर लगाकर आने का सामर्थ्य-निरूपण

४५. देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महासोक्खे [1] पभू लवणसमुद्दं अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छित्तए ?

हंता, पभू।

[४५ प्र.] भगवन्! महर्द्धिक यावत् महासुखसम्पन्न देव लवणसमुद्र के चारों ओर चक्कर लगाकर शीघ्र आने (अनुपर्यटन करने) में समर्थ हैं ?

[४५ उ.] हाँ, गौतम! (वे ऐसा करने में) समर्थ हैं।

४६. देवे णं भंते ! महिड्ढीए एवं धातइसंडं दीवं जाव।

हंता, पभू।

[४६. प्र,] भगवन्! महर्द्धिक यावत् महासुखी देव धातकीखण्ड द्वीप के चारों ओर चक्कर लगाकर शीघ्र आने में समर्थ हैं ?

[४६ उ.] हाँ, गौतम! वे समर्थ हैं।

४७. एवं जाव रुयगवरं दीवं जाव ?

हंता, पभू। तेण परं वीतीवएज्जा नो चेव णं अणुपरियट्टेज्जा।

[४७. प्र.] भगवन् ! क्या इसी प्रकार वे देव रुचकवर द्वीप तक चारों ओर चक्कर लगा कर आने में समर्थ हैं ?

[४७ उ.] हाँ, गौतम! समर्थ हैं। किन्तु इससे आगे के द्वीप-समुद्रों तक देव जाता है, किन्तु उसके चारों ओर चक्कर नहीं लगाता।

विवेचन—महर्द्धिक देवों का अनुपर्यटन-सामर्थ्य—महर्द्धिक देव, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, रुचकवरद्वीप आदि के चारों ओर चक्कर लगाकर शीघ्र आ सकते हैं, किन्तु इससे आगे के द्वीप-समुद्रों तक वे जा सकते हैं, मगर उनके चारों ओर चक्कर नहीं लगाते, क्योंकि तथाविध-प्रयोजन का अभाव है।[2]

सभी देवों द्वारा अनन्त कर्मांशों को क्षय करने के काल का निरूपण

४८. अत्थि णं भंते ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहन्नेणं एक्केणं वा दोहि वा तीहि वा, उक्कोसेणं पंचहिं वाससएहिं खवयंति ?

हंता, अत्थि।

[४८ प्र.] भगवन्! क्या इस प्रकार के भी देव हैं, जो अनन्त (शुभकर्मप्रकृतिरूप) कर्मांशों को जघन्य

---

१. पाठान्तर—'महसक्खे'

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ८२१

एक सौ, दो सौ या तीन सौ और उत्कृष्ट पांच सौ वर्षों में क्षय कर देते हैं ?

[४८ उ.] हाँ, गौतम! (ऐसे देव) हैं।

४९: अत्थि णं भंते ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहन्नेणं एक्केणं वा दोहि वा तीहि वा, उक्कोसेणं पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति ?

हंता, अत्थि।

[४९ प्र.] भगवन्! क्या ऐसे देव भी है, जो अनन्त कर्मांशों को जघन्य एक हजार, दो हजार या तीन हजार और उत्कृष्ट पांच हजार वर्षों में क्षय कर देते हैं।

[४९ उ.] हाँ, गौतम! (ऐसे देव) हैं।

५०. अत्थि णं भंते ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहन्नेणं एक्केणं वा दोहि वा तीहि वा, उक्कोसेणं पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति?

[५० प्र.] भगवन्! क्या ऐसे देव भी हैं, जो अनन्त कर्मांशों को जघन्य एक लाख, दो लाख या तीन लाख वर्षों में और उत्कृष्ट पांच लाख वर्षों में क्षय कर देते हैं?

[५० उ.] हाँ गौतम! (ऐसे देव भी) हैं।

५१. कयरे णं भंते ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहन्नेणं एक्केणं वा जाव पंचहिं वाससतेहिं खवयंति ? कयरे णं भंते ! ते देवा जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति ? कयरे णं भंते ! ते देवा जाव पंचहिं वाससतसहस्सेहिं खवयंति ?

गोयमा ! वाणमंतरा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससएणं खवयंति, असुरिंदवज्जिया भवणवासी देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससएहिं खवयंति, असुरकुमारा (? रिंदा) देवा अणंते कम्मंसे तीहिं वाससएहिं खवयंति, गह-नक्खत्त-तारारूवा जोतिसिया देवा अणंते कम्मंसे चतुवास जाव खवयंति, चंदिम-सूरिया जोतिसिंदा जोतिसरायाणो अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससएहिं खवयंति। सोहम्मीसाणगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससहस्सेणं जाव खवयंति, सणंकुमार-माहिंदगा देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससहस्सेहिं खवयंति, एवं एएणं अभिलावेणं बंभलोग-लंतगा देवा अणंते कम्मंसे तीहिं वाससहस्सेहिं खवयंति, महासुक्क-सहस्सारगा देवा अणंते० चउहिं वाससह०, आणय-पाणय-आरण-अच्चुयगा देवा अणंते० पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति। हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससयसहस्सेणं खवयंति, मज्झिमगेवेज्जगा देवा अणंते० दोहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति, उवरिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससयसह० जाव खवंयति, विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियगा देवा अणंते० चउहिं वास० जाव खवयंति, सव्वट्ठसिद्धगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससयसहस्सेहि खवयंति। एए णं गोयमा ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहन्नेणं एक्केणं वा दोहि तीहि वा उक्कोसेणं पंचहि वाससएहिं खवयंति। एए णं गोयमा ! ते देवा जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति।

एए णं गोयमा ! ते देवा जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठारसमे सए : सप्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ १८-७ ॥

[५१ प्र.] हे भगवन्! ऐसे कौन-से देव हैं, जो अनन्त कर्मांशों को जघन्य एक सौ वर्ष, यावत्—पांच सौ वर्षों में क्षय करते हैं ? भगवन् ! ऐसे कौन-से देव हैं, जो यावत् पांच हजार वर्षों में अनन्त कर्मांशों का क्षय कर देते हैं ? और हे भगवन्! ऐसे कौन-से देव हैं, जो अनन्त कर्मांशों को यावत् पांच लाख वर्षों में क्षय कर देते हैं ?

[५१ उ.] गौतम! वे वाणव्यन्तर देव हैं, जो अनन्त कर्मांशों को एक-सौ वर्षों में क्षय कर देते हैं। असुरेन्द्र को छोड़ कर शेष सब भवनपति देव अनन्त कर्मांशों को दो सौ वर्षों में, तथा असुरकुमार देव अनन्त कर्मांशों को तीन सौ वर्षों में; ग्रह, नक्षत्र और तारारूप ज्योतिष्क देव चार सौ वर्षों में और ज्योतिषीन्द्र, ज्योतिष्कराज चन्द्र और सूर्य अनन्त कर्मांशों को पाँच सौ वर्षों में क्षय कर देते हैं।

सौधर्म और ईशानकल्प के देव अनन्त कर्मांशों को यावत् एक हजार वर्षों में खपा देते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प के देव अनन्त कर्मांशों को दो हजार वर्षों में खपा देते हैं। इस प्रकार आगे इसी अभिलाप के अनुसार—ब्रह्मलोक और लान्तककल्प के देव अनन्त कर्मांशों को तीन हजार वर्षों में खपा देते हैं। महाशुक्र और सहस्रार देव अनन्त कर्मांशों को चार हजार वर्षों में, आनतप्राणत, आरण और अच्युतकल्प के देव अनन्त कर्मांशों को पांच हजार वर्षों में क्षय कर देते हैं। अधस्तन ग्रैवेयकत्रय के देव अनन्त कर्मांशों को एक लाख वर्ष में, मध्यम ग्रैवेयकत्रय के देव अनन्त कर्मांशों को दो लाख वर्षों में, और उपरिम ग्रैवेयकत्रय के देव अनन्त कर्मांशों को तीन लाख वर्षों में क्षय कर देते हैं। विजय, वैजयंत, जयन्त और अपराजित देव अनन्त कर्मांशों को चार लाख वर्षों में क्षय करते हैं और सर्वार्थसिद्ध देव, अपने अनन्त कर्मांशों को पाँच लाख वर्षों में क्षय कर देते हैं।

इसीलिए हे गौतम! ऐसे देव हैं, जो अनन्त कर्मांशों को जघन्य एक सौ, दो सौ या तीन सौ वर्षों में, यावत् पांच लाख वर्षों में क्षय करते हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरने लगे।

विवेचन—देवों द्वारा अनन्त कर्मांशों को क्षय करने का कालमान—प्रस्तुत ४ सूत्रों (४८ से ५१ तक) में चारों जाति के देवों के द्वारा अनन्त कर्मांशों को क्षय करने का कालमान बताया गया है। नीचे इसकी सारिणी दी जाती है—

देवों का नाम	कर्मक्षय करने का कालमान
१. वाणव्यन्तर देव	१०० वर्षों में
२. असुरकुमार के सिवाय भवनपतिदेव	२०० वर्षों में
३. असुरकुमार देव	३०० वर्षों में

४. ग्रह-नक्षत्र-तारारूप ज्योतिष्कदेव	४०० वर्षों में
५. ज्योतिषीन्द्र चन्द्र-सूर्य	५०० वर्षों में
६. सौधर्म-ईशानकल्प के देव	१००० वर्षों में
७. सनत्कुमार-माहेन्द्र देव	२००० वर्षों में
८. ब्रह्मलोक लान्तक देव	३००० वर्षों में
९. महाशुक्र-सहस्रार देव	४००० वर्षों में
१०. आनत-प्राणत-आरण-अच्युतकल्प देव	५००० वर्षों में
११. अधस्तन ग्रैवेयक देव	एक लाख वर्षों में
१२. मध्यम ग्रैवेयक देव	दो लाख वर्षों में
१३. उपरितन ग्रैवेयक देव	तीन लाख वर्षों में
१४. विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित देव	चार लाख वर्षों में
१५. सर्वार्थसिद्ध देव	पांच लाख वर्षों में[१]

अनन्तकर्मांश क्षय का तात्पर्य—यह है कि देवों के पुण्यकर्म प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम रस वाले होते हैं। अत: यहाँ अनन्तकर्मांशों के क्षय करने का जो कालक्रम बताया है, वह उत्तरोत्तर प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम रसवाले कर्मों के क्षय का समझना चाहिए।[२]

जैसे व्यन्तरों के अनन्तकर्मपुद्गल अल्पानुभागवाले होने से शीघ्र खप जाते हैं। उनकी अपेक्षा भवनपतियों के अनन्त कर्मपुद्गल प्रकृष्ट अनुभाग वाले होने से अधिक काल यानी २०० वर्षों में खपते हैं।

॥ अठारहवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त॥

०००

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ८२१-८२२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५३-७५४

अट्ठमो उद्देसओ : 'अणगारे'

आठवाँ उद्देशक : 'अनगार'

भावितात्मा अनगार के पैर के नीचे दबे कुर्कुटादि के कारण ईर्यापथिक क्रिया का सकारण निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से यावत् इस प्रकार पूछा—

२. [१] अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोते वा वट्टापोते वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति, नो संपराइया किरिया कज्जति।

[२-१ प्र.] भगवन्! सम्मुख और दोनों ओर युगमात्र (गाड़ी के जुए प्रमाण) भूमि को देख-देख कर ईर्यापूर्वक गमन करते हुए भावितात्मा अनगार के पैर के नीचे मुर्गी का बच्चा, बतख (वर्त्तक) का बच्चा अथवा कुलिंगच्छाय (चींटी जैसा सूक्ष्म जीव) आ (या दब) कर मर जाए तो, भगवन् ! उक्त अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है या साम्परायिकी क्रिया लगती है ?

[२-१ उ.] गौतम! यावत् उस (पूर्वकथित) भावितात्मा अनगार को, यावत् ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

जहा सत्तमसए सत्तुद्देसए (स. ७ उ. ७ सु. १ (२)) जाव अट्ठो निक्खित्तो।

सेवं भंते ! ० जाव विहरति।

[२-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं कि पूर्वोक्त भावितात्मा अनगार को यावत् साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती ?

[२-२ उ.] गौतम! सातवें शतक के सप्तम उद्देशक (के सू. १-२) के अनुसार जानना चाहिए। यावत् अर्थ का निक्षेप (निगमन) करना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—भावितात्मा अनगार को साम्परायिक क्रिया क्यों नहीं लगती ?—जिस भावितात्मा अनगार के क्रोधादि कषाय नष्ट हो गये हैं, उसके पैर के नीचे आकर यदि कोई जन्तु अकस्मात् मर जाता है तो उसे ईर्यापथिकी क्रिया ही लगती है, साम्परायिकी क्रिया नहीं, क्योंकि साम्परायिकी क्रिया सकषायी जीवों को लगती है, अकषायी को नहीं। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—'**सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः**'।[१]

पुरओ दुहओ : विशेषार्थ : पुरओ—आगे-सामने, **दुहओ**—पीठ पीछे और दोनों पार्श्व (अगल-बगल) में।

भगवान् का जनपद-विहार, राजगृह में पदार्पण और गुणशील चैत्य में निवास

३. तए णं समणे भगवं महावीरे बहिया जाव विहरइ।

[३] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बाहर के जनपद में यावत् विहार कर गए।

४. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव पुढविसिलावट्टए।

[४] उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर में (गुणशीलक नामक चैत्य था) यावत् पृथ्वीशिलापट्ट था।

५. तस्स णं गुणसिलस्स चेतियस्स अदूरसामंते बहवे अन्नउत्थिया परिवसंति।

[५] उस गुणशीलक उद्यान के समीप बहुत से अन्यतीर्थिक निवास करते थे।

६. तए णं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे जाव परिसा पडिगया।

[६] उन दिनों में (एक बार) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे, यावत् परिषद् (धर्मोपदेश श्रवण कर, वन्दना करके) वापिस लौट गई।

विवेचन—भगवान् का मुख्य रूप से विचरणक्षेत्र, निवासस्थान और पट्ट आदि—भगवान् का मुख्यतया विचरणक्षेत्र उन दिनों राजगृह नगर था। भगवान् वहाँ गुणशीलक उद्यान में निवास करते थे और मुख्यरूप से पृथ्वीशिला के बने हुए पट्ट पर विराजते थे। देवों द्वारा समवसरण की रचना की जाती थी। भगवान् समवसरण में विराज कर धर्मोपदेश देते थे।

अन्यतीर्थिकों द्वारा श्रमणनिर्ग्रन्थों पर हिंसापरायणता, असंयतता एवं एकान्तबालत्व के आक्षेप का गौतम स्वामी द्वारा समाधान, भगवान् द्वारा उक्त यथार्थ उत्तर की प्रशंसा

७. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती नामं अणगारे जाव उड्ढंजाणू जाव विहरइ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५४

(ख) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २७३६-२७३७

[७] उस काल और उस समय में, श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (पट्टशिष्य) श्री इन्द्रभूति नामक अनगार यावत्, ऊर्ध्वजानु (दोनों घुटने ऊँचे करके) यावत् तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

८. तए णं ते अन्नउत्थिया जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छंति, उवा० २ भगवं गोयमं एवं वयासि—तुब्भे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव एगंतबाला यावि भवह।

[८] एक दिन वे अन्यतीर्थिक, श्री गौतम स्वामी के पास आकर कहने लगे—आर्य! तुम त्रिविध-त्रिविध से (तीन करण और तीन योग से) असंयत, अविरत यावत् एकान्त बाल हो।

९. तए णं ते गोयमे अन्नउत्थिए एवं वयासि—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव एगंतबाला यावि भवामो ?

[९] इस पर भगवान् गौतम स्वामी ने उन (आक्षेपकर्त्ता) अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—'हे आर्यो! किस कारण से हम तीन करण तीन योग से असंयत, अविरत, यावत् एकान्तबाल हैं ?'

१०. तए णं ते अन्नउत्थिया भगवं गोयमं एवं वदासी—तुब्भे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह अभिहणह जाव उवद्दवेह। तए णं तुब्भे पाणे पेच्चेमाणा जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतबाला यावि भवह।

[१०] तब वे अन्यतीर्थिक, भगवान् गौतम से इस प्रकार कहने लगे—हे आर्य ! तुम गमन करते हुए जीवों को आक्रान्त करते (दबाते) हो, मार देते हो, यावत्—उपद्रवित (भयाक्रान्त) कर देते हो। इसलिए प्राणियों को आक्रान्त यावत् उपद्रुत करते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत, यावत् एकान्तबाल हो।

११. तए णं भगवं गोयमे ते अन्नउत्थिए एवं वदासि—नो खलु अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेमो जाव उवद्दवेमो, अम्हे णं अज्जो रीयं रीयमाणा कायं च जोयं च रीयं च पडुच्च दिस्स दिस्स पदिस्स पदिस्स वयामो। तए णं अम्हे दिस्स दिस्स वयमाणा पदिस्स पदिस्स वयमाणा णो पाणे पेच्चेमो जाव णो उवद्दवेमो। तए णं अम्हे पाणे अपच्चेमाणा जाव अणोद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतपंडिया यावि भवामो। तुब्भे णं अज्जो! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं जाव एगंतबाला यावि भवह।

[११] यह सुनकर भगवान् गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—आर्यो! हम गमन करते हुए न तो प्राणियों को कुचलते हैं, न मारते हैं और न भयाक्रान्त करते हैं, क्योंकि आर्यो! हम गमन करते समय काया (शरीर की शक्ति को), योग को (संयम व्यापार को) और धीमी-धीमी गति को ध्यान में रख कर देख-भाल कर विशेष रूप से निरीक्षण करके चलते हैं। अत: हम देख-देख कर एवं विशेष रूप से निरीक्षण करते हुए चलते हैं, इसलिए हम प्राणियों को न तो दबाते-कुचलते हैं, यावत् न उपद्रवित करते (पीडा पहुँचाते) हैं। इस प्रकार प्राणियों को आक्रान्त न करते हुए, यावत् पीड़ित न करते हुए हम तीन करण और तीन योग से यावत् एकान्त पण्डित हैं। हे आर्यो ! तुम स्वयं ही त्रिविध-त्रिविध से असंयत, अविरत यावत् एकान्त बाल हो।

१२. तए णं ते अन्नउत्थिया भगवं गोयमं एवं वदासि—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं जाव भवामो ?

[१२] इस पर वे अन्यतीर्थिक भगवान् गौतम से इस प्रकार बोले—आर्य ! किस कारण से हम त्रिविध-त्रिविध से यावत् एकान्त बाल हैं ?

१३. तए णं भगवं गोयमे ते अन्नउत्थिए एवं वयासि—तुब्भे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह जाव उवद्दवेह। तए णं तुब्भे पाणे पेच्चेमाणा जाव उवद्दवेमाणा तिविहं जाव एगंतबाला यावि भवह।

[१३] तब भगवान् गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—हे आर्यो! तुम चलते हुए प्राणियों को आक्रान्त करते हो, यावत् पीड़ित करते हो। जीवों को आक्रान्त करते हुए यावत् पीड़ित करते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध से असंयत, अविरत यावत् एकान्त बाल हो।

१४. तए णं भगवं गोयमे ते अन्नउत्थिए एवं पडिहणइ, प० २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ णच्चासन्ने जाव पज्जुवासति।

[१४] इस प्रकार गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थिकों को निरुत्तर कर दिया। तत्पश्चात् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर के समीप पहुँचे और उन्हें वन्दन-नमस्कार करके न तो अत्यन्त दूर और न अतीव निकट यावत् पर्युपासना करने लगे।

१५. 'गोयमा!' ई समणे भगवं महीवीरे भगवं गोयमं एवं वयासि—सुट्ठु णं तुमं गोयमा ! ते अन्नउत्थिए एवं वयासि, साहु णं तुमं गोयमा! ते अन्नउत्थिए एवं वयासि, अत्थि णं गोयमा ! ममं बहवे अंतेवासी समणा निग्गंथा छउमत्था जे णं नो पभू एयं वागरणं वागरेत्तए जहा णं तुमं, तं सुट्ठु णं तुमं गोयमा ! ते अन्नउत्थिए एवं वयासि, साहु णं तुमं गोयमा ! ते अन्नउत्थिए एवं वदासि।

[१५] 'गौतम!' इस नाम से सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—हे गौतम! तुमने उन अन्यतीर्थिकों को अच्छा कहा, तुमने उन अन्यतीर्थिकों को यथार्थ कहा। गौतम ! मेरे बहुत से शिष्य श्रमण निर्ग्रन्थ छद्मस्थ हैं, जो तुम्हारे समान उत्तर देने में समर्थ नहीं है। जैसा कि तुमने उन अन्यतीर्थिकों को ठीक कहा; उन अन्यतीर्थिकों को बहुत ठीक कहा।

विवेचन—'कायं च जोयं च रीयं च पडुच्च दिस्स……वयामो' : तात्पर्य—गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थिकों के आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा कि हम प्राणियों को कुचलते, मारते या पीड़ित करते हुए नहीं चलते, क्योंकि हम (**कायं**) **शरीर** को देख कर चलते हैं, अर्थात्—शरीर स्वस्थ हो, सशक्त हो, चलने में समर्थ हो, तभी चलते हैं, तथा हम नंगे पैर चलते हैं, किसी वाहन का उपयोग नहीं करते, इसलिए किसी भी जीव को कुचलते-दबाते या मारते नहीं। फिर हम **योग**—अर्थात्—संयमयोग की अपेक्षा से ही गमन करते हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के प्रयोजन से ही गमन करते हैं, गोचरी आदि जाना हो, ग्रामानुग्राम विहार करना हो, या दया

या सेवा का कोई कार्य हो, तभी चलते हैं, बिना प्रयोजन गमन नहीं करते और चलते समय भी चपलता, हड़बड़ी और शीघ्रता से रहित **ईर्यापथशोधनपूर्वक** दायें-बाएं, आगे-पीछे देख कर चलते हैं।[1]

कठिन शब्दार्थ—पेच्चेह—कुचलते हो, **अभिहणह**—मारते हो, टकराते हो, **उवद्दवेह**—पीड़ित करते हो। **दिस्स दिस्स**—देख-देख कर। **पदिस्स पदिस्स**—विशेष रूप से देख कर।[2]

छद्मस्थ मनुष्य द्वारा परमाणु द्विप्रदेशिकादि स्कन्ध को जानने और देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा

१६. तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवता महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वदासि—छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं किं जाणइ पासइ, उदाहु न जाणइ न पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगतिए जाणति, न पासति; अत्थेगतिए न जाणइ, न पासइ।

[१६ प्र.] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हृष्ट-तुष्ट होकर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार पूछा—

भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य परमाणु-पुद्गल को जानता-देखता है अथवा नहीं जानता-नहीं देखता है?

[१६ उ.] गौतम! कोई (छद्मस्थ मनुष्य) जानता है, किन्तु देखता नहीं, और कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं।

१७. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे दुपएसियं खंधं किं जाणति पासइ ?

एवं चेव।

[१७ प्र.] भगवन्! क्या छद्मस्थ मनुष्य द्विप्रदेशी स्कन्ध को जानता-देखता है, अथवा नहीं जानता, नहीं देखता है?

[१७ उ.] गौतम! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

१८. एवं जाव असंखेजपएसियं।

[१८] इसी प्रकार यावत् असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध तक (को जानने देखने के विषय में) कहना चाहिए।

१९. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे अणंतपएसियं खंधं किं० पुच्छा ?

गोयमा ! अत्थेगतिए जाणइ पासइ; अत्थेगतिए जाणइ, न पासइ; अत्थेगतिए न जाणइ, पासइ;

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५५
(ख) भगवती. अ. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७४०

२. (क) वही, भा. ६, पृ. २७३८-२७३९
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५५

अत्थेगतिए न जाणइ न पासइ।

[१९ प्र.] भगवन्! क्या छद्मस्थ मनुष्य अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को जानता देखता है? इत्यादि प्रश्न।

[१९ उ.] गौतम! १. कोई जानता है और देखता है, २. कोई जानता है, किन्तु देखता नहीं, ३. कोई जानता नहीं, किन्तु देखता है और ४. कोई जानता भी नहीं और देखता भी नहीं।

विवेचन—परमाणु एवं द्विप्रदेशिकादि स्कन्ध को जानने-देखने की छद्मस्थ की शक्ति—छद्मस्थ शब्द से यहाँ निरतिशय ज्ञानी (जो अतिशय ज्ञानधारी नहीं है, ऐसा) विवक्षित है। ऐसे छद्मस्थ मनुष्य को परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थविषयक ज्ञान एवं दर्शन होते हैं या नहीं होते हैं ? यह प्रश्न का आशय है। इसके उत्तर का आशय यह है कि कई छद्मस्थ मनुष्यों को सूक्ष्म पदार्थविषयक ज्ञान तो होता है, किन्तु दर्शन नहीं होता। क्योंकि '**श्रुतोपयुक्तः श्रुतज्ञानी, श्रुतदर्शनाभावात्**'—श्रुतज्ञानी जिन सूक्ष्मादि पदार्थों को श्रुत के बल से जानता है, उन पदार्थों का दर्शन यानी प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव उसे नहीं होता। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि कितने ही छद्मस्थ मनुष्य परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान तो शास्त्र के आधार से कर लेते हैं, परन्तु उनके साक्षात् दर्शन से रहित होते हैं। '**श्रुतोपयुक्तातिरिक्तस्तु न जानाति, न पश्यति**' इस नियम के अनुसार जो छद्मस्थ श्रुतज्ञानी मनुष्य श्रुतोपयोग से रहित होते हैं, वे सूक्ष्मादि पदार्थों को न तो जान पाते हैं और न ही देख पाते हैं। इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध (द्व्यणुक अवयव) से लेकर असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध (तीन, चार, पाँच, छह, सात और आठ, नौ, दश और संख्यात एवं असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध) तक के विषय में भी समझना चाहिए।[1]

अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को जानने-देखने के विषय में चौभंगी—इस विषय में चार भंग बताए गए हैं, यथा—(१) कोई छद्मस्थ मनुष्य स्पर्श आदि से उसे जानता है और चक्षु से देखता है। (२) कोई छद्मस्थ स्पर्शादि द्वारा उसे जानता तो है, परन्तु नेत्र के अभाव में उसे देख नहीं पाता। (३) कोई छद्मस्थ मनुष्य स्पर्शादि का अविषय होने से उसे नहीं जान पाता, किन्तु चक्षु से उसे देखता है। यह तृतीय भंग है; जैसे दूरस्थ पर्वत आदि को कोई छद्मस्थ मनुष्य चक्षु के द्वारा देखता है, पर स्पर्शादि द्वारा उसे जानता नहीं तथा (४) इन्द्रियों का अविषय होने से कोई छद्मस्थ मनुष्य न तो जान पाता है, और न ही देख पाता है, जैसे अन्धा मनुष्य।[2]

अवधिज्ञानी परमावधिज्ञानी और केवली द्वारा परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को जानने-देखने के सामर्थ्य का निरूपण

२०. आहोहिए णं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं० ? जहा छउमत्थे एवं आहोहिए वि जाव अणंतपएसियं।

[२० प्र.] भगवन्! क्या आधोऽवधिक (अवधिज्ञानी) मनुष्य, परमाणुपुद्गल को जानता देखता है ?

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ७५५
   (ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १२, पृ. १८१

२. (क) वही, भाग. १२, पृ. १८२
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५६

इत्यादि प्रश्न।

[२० उ.] जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य के विषय में कथन किया है, उसी प्रकार आधोऽवधिक मनुष्य के विषय में समझना चाहिए। इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक कहना चाहिए।

२१. [१] परमाहोहिए णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासति, जं समयं पासति तं समयं जाणति? णो तिणट्ठे समट्ठें।

[२१-१ प्र.] भगवन्! क्या परमावधिज्ञानी मनुष्य परमाणु-पुद्गल को जिस समय जानता है, उसी समय देखता है? और जिस समय देखता है, उसी समय जानता है।

[२१-१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—परमाहोहिए णं मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ नो तं समयं पासइ, जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ ? गोयमा ! सागारे से नाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति, से तेणट्ठेणं जाव नो तं समयं जाणइ।

[२१-२ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि परमावधिज्ञानी मनुष्य परमाणुपुद्गल को जिस समय जानता है, उसी समय देखता नहीं है और जिस समय देखता है, उस समय जानता नहीं है ?

[२१-२ उ.] गौतम! परमावधिज्ञानी का ज्ञान साकार (विशेष-ग्राहक) होता है और दर्शन अनाकार (सामान्य-ग्राहक) होता है। इसलिए ऐसा कहा गया है कि यावत् जिस समय देखता है उस समय जानता नहीं।

२२. एवं जाव अणंतपएसियं।

[२२] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक कहना चाहिए।

२३. केवली णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं० ! जहा परमाहोहिए तहा केवली वि जाव अणंतपएसियं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठारसमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ १८-८ ॥

[२३ प्र.] भगवन्! क्या केवलज्ञानी जिस समय परमाणुपुद्गल को जानता है, उस समय देखता है ? इत्यादि प्रश्न।

[२३ उ.] गौतम! जिस प्रकार परमावधिज्ञानी के विषय में कहा है, उसी प्रकार केवलज्ञानी के लिए भी कहना चाहिए। और इसी प्रकार (का कथन) यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक (समझना चाहिए।)

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—अवधिज्ञानी, परमावधिज्ञानी और केवलज्ञानी के युगपत् ज्ञान-दर्शन की शक्ति विषयक प्ररूपणा—आधोऽवधिक का अर्थ है—सामान्य अवधिज्ञानी, परमावधिक का अर्थ है—उत्कृष्ट अवधिज्ञानी। परमावधिक को अन्तर्मुहूर्त में अवश्यमेव केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। परस्पर विरुद्ध दो धर्म वालों का एक ही काल में एक स्थान में होना संभव नहीं होता तथा ज्ञान और दर्शन दोनों की क्रिया एक ही समय में नहीं होती, क्योंकि समय सूक्ष्मतम काल है, आँख की पलक झपकने में असंख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। जैसे कमल के सौ पत्तों को सूई से भेदने की प्रतीति तो एक साथ एक ही काल की होती है, परन्तु कमल के सौ पत्तों के एक साथ भेदने में भी असंख्यात समय लग जाते हैं।[१]

॥ अठारहवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त ॥

OOO

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ७५३

(ख) प्रमाणनयतत्त्वालोक परि. १

नवमो उद्देसओ : 'भविए'

नौवाँ उद्देशक : भव्य (द्रव्यनैरयिकादि)

नैरयिकादि चौवीस दण्डकों में भव्य-द्रव्यसम्बन्धित प्रश्न का यथोचित युक्तिपूर्वक समाधान

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार पूछा—

२. [१] अत्थि णं भंते ! भवियदव्वनेरइया, भवियदव्वनेरइया ?

हंता, अत्थि।

[२-१ प्र.] भगवन्! क्या भव्य-द्रव्य-नैरयिक—'भव्य-द्रव्य-नैरयिक' है ?

[२-१ उ.] हाँ, गौतम! है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—भवियदव्वनेरइया, भवियदव्वनेरइया ?

गोयमा ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा नेरइएसु उववज्जित्तए, से तेणट्ठेणं०।

[२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि भव्य-द्रव्य-नैरयिक—'भव्य-द्रव्य-नैरयिक' है ?

[२-२ उ.] गौतम! जो कोई पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक या मनुष्य (भविष्य में) नैरयिकों में उत्पन्न होने के योग्य है, वह भव्य-द्रव्य-नैरयिक कहलाता है। इस कारण से ऐसा यावत् कहा गया है।

३. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[३] इसी प्रकार स्तनितकुमारों पर्यन्त जानना चाहिए।

४. [१] अत्थि णं भंते ! भवियदव्वपुढविकाइया, भवियदव्वपुढविकाइया ?

हंता, अत्थि।

[४-१ प्र.] भगवन्! क्या भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक—'भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक' है ?

[४-१ उ.] हाँ, गौतम! (वह ऐसा ही) है।

[२] से केणट्ठेणं ? गोयमा ! जे भविए तिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवे वा पुढविकाइएसु उववज्जित्तए, से तेणट्ठेणं०।

[४-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं, कि भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक—'भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक' है।

[४-२ उ.] गौतम! जो तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य अथवा देव पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने के योग्य है, वह

भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक कहलाता है।

५. आउकाइय-वणस्सतिकाइयाणं एवं चेव।

[५] इसी प्रकार अप्कायिक और वनस्पतिकायिक के विषय में समझना चाहिए।

६. तेउ-वाउ-बेंदिय-तेइंदिया चउरिंदियाण य जे भविए तिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा।

[६] अग्निकाय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पर्याय में जो कोई तिर्यञ्च या मनुष्य उत्पन्न होने के योग्य हो, वह भव्य-द्रव्य-अग्निकायिकादि कहलाता है।

७. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जे भविए नेरइए वा तिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवे वा पंचेदियतिरिक्खजोणिए वा।

[७] जो कोई नैरयिक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य या देव, अथवा पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य होता है, वह भव्य-द्रव्य-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक कहलाता है।

८. एवं मणुस्साण वि।

[८] इसी प्रकार मनुष्यों के विषय में (समझ लेना चाहिए)।

९. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा नेरइया।

[९] वाणव्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिकों के विषय में नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

विवेचन—भव्य और द्रव्य का पारिभाषिक अर्थ—मुख्यतया भविष्यत्काल की पर्याय का जो कारण है, वह 'द्रव्य' कहलाता है। कभी-कभी भूतकाल की पर्याय वाला भी 'द्रव्य' कहलाता है। जैसे—भूतकाल में जो राजा था वर्तमान में नहीं है, फिर भी वह 'राजा' कहलाता है। वह द्रव्य राजा है। इसी प्रकार भविष्य में जो राजा होगा, वर्तमान में नहीं, वह भी 'राजा' के नाम से कहा जाता है। वह भी 'द्रव्य राजा' है। यहाँ मुख्यतया भविष्यकाल की पर्याय के कारण को 'भव्य-द्रव्य' कहा गया है। किन्तु **'भवितु योग्याः भव्याः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भूतपर्याय वाले जीवों को भव्यद्रव्य नहीं कहा गया है। इसलिए भविष्यकाल में जो जीव नारक-पर्याय में उत्पन्न होने वाला है, चाहे वह पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो, चाहे मनुष्य हो, वह जीव भव्य-द्रव्य-नैरयिक कहलाता है। वर्तमान पर्याय में जो नैरयिक है, वह द्रव्यनैरयिक नहीं, भावनैरयिक है। भव्यद्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) एकभविक, (२) बद्धायुष्क और (३) अभिमुखनामगोत्र। जो जीव विवक्षित एक—अमुक भव के अनन्तर ही अमुक दूसरे भव में उत्पन्न होने वाले हैं, वे **'एकभविक'** हैं। जिन्होंने पूर्वभव की आयु का तीसरा भाग आदि के शेष रहते ही अमुक भव का आयुष्य बांध लिया है, वे **'बद्धायुष्क'** हैं तथा जो पूर्वभव का त्याग करने के अनन्तर, अमुक भव के आयुष्य, नाम और गोत्र का साक्षात् वेदन करते हैं, वे **'अभिमुखनामगोत्र'** कहलाते हैं।[१]

---

१. भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १२, पृ. १९७-१९८

चौवीस दण्डकों में भव्य-द्रव्य-नैरयिकादि की स्थिति का निरूपण

१०. भवियदव्वनेरइयस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

[१० प्र.] भगवन्! भव्य-द्रव्य-नैरयिक की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[१० उ.] गौतम! उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) पूर्वकोटि वर्ष (करोड़ पूर्व वर्ष) की कही गई है।

११. भवियदव्वअसुरकुमारस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं।

[११ प्र.] भगवन्! भव्य-द्रव्य-असुरकुमार की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[११ उ.] गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की कही गई है।

१२. एवं जाव थणियकुमारस्स।

[१२] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए।

१३. भवियदव्वपुढविकाइयस्स णं पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं।

[१३ प्र.] भगवन्! भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१३ उ.] गौतम! (उसकी स्थिति) जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की कही गई है।

१४. एवं आउकाइयस्स वि।

[१४] इसी प्रकार अप्कायिक की स्थिति (के विषय में कहना चाहिए)।

१५. तेउ-वाऊ जहा नेरइयस्स।

[१५] भव्य-द्रव्य-अग्निकायिक एवं भव्य-द्रव्य-वायुकायिक की स्थिति नैरयिक के समान है।

१६. वणस्सइकाइयस्स जहा पुढविकाइयस्स।

[१६] वनस्पतिकायिक की स्थिति पृथ्वीकायिक के समान समझनी चाहिए।

१७. बेइंदिय-तेइंदिय-चतुरिंदियस्स जहा नेरइयस्स।

[१७] (भव्य-द्रव्य-) द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय की स्थिति भी नैरयिक के समान जाननी चाहिये।

१८. पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

[१८] (भव्य-द्रव्य-) पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम काल की है।

१९. एवं मणुस्सस्स वि।

[१९] (भव्य-द्रव्य-) मनुष्य की स्थिति भी इसी प्रकार है।

२०. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियस्स जहा असुरकुमारस्स।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ अट्ठारसमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो॥ १८-९ ॥

[२०] (भव्य-द्रव्य-) वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देव की स्थिति असुरकुमार के समान है।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—भव्य-द्रव्य-नारकादि की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति—जो संज्ञी या असंज्ञी अन्तर्मुहुर्त की आयु वाला जीव मर कर नरकगति में जाने वाला है, उसकी अपेक्षा भव्य-द्रव्य-नैरयिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कही गई है। उत्कृष्ट करोड़ पूर्व वर्ष की आयु वाला जीव मर कर नरकगति में जाए उसकी अपेक्षा से उत्कृष्ट स्थिति करोड़ पूर्व वर्ष की कही गई है।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले मनुष्य या तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय की अपेक्षा से भव्य-द्रव्य-असुरकुमारादि की जघन्य स्थिति जाननी चाहिए तथा देवकुरु-उत्तरकुरु के यौगलिक मनुष्य की अपेक्षा से तीन पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिए।

भव्य-द्रव्य-पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट स्थिति ईशानकल्प (देवलोक) की अपेक्षा कुछ अधिक दो सागरोपम की है।

भव्य-द्रव्य-अग्निकायिक और वायुकायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व वर्ष की है, क्योंकि देव और यौगलिक मनुष्य अग्निकाय और वायुकाय में उत्पन्न नहीं होते। भव्य-द्रव्य-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की बताई है, वह सातवें नरक के नारकों की अपेक्षा से समझनी चाहिए और भव्य-द्रव्य-मनुष्य की ३३ सागरोपम की स्थिति सर्वार्थसिद्ध से च्यवकर आने वाले देवों की अपेक्षा समझनी चाहिए।[१]

॥ अठारहवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५३-७५७

दसमो उद्देसओ : 'सोमिल'

दसवाँ उद्देशक : 'सोमिल'

भावितात्मा अनगार के लब्धि-सामर्थ्य से असि-क्षुरधारा-अवगाहनादि का अतिदेशपूर्वक निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१] राजगृह नगर में भगवान् महावीर स्वामी से गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

२. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?

हंता, ओगाहेज्जा।

[२-१ प्र.] भगवन्! क्या भावितात्मा अनगार (वैक्रियलब्धि के सामर्थ्य से) तलवार की धार पर अथवा उस्तरे की धार पर रह सकता है ?

[२-१ उ.] हाँ, गौतम! (वह) रह सकता है।

[२] से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे। णो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[२-२] (भगवन्!) क्या वह वहाँ (तलवार या उस्तरे की धार पर) छिन्न या भिन्न होता है ?

[२-२ उ.] (गौतम!) यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं। क्योंकि उस (भावितात्मा) पर शस्त्र संक्रमण नहीं करता (नहीं चलता)।

३. एवं जहा पंचमसते (स. ५ उ. ७ सु. ६-८) परमाणुपोग्गलवत्तव्वता जाव अणगारे णं भंते ! भावियप्पा उदावत्तं वा जाव नो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[३] इत्यादि सब पंचम शतक के सप्तक उद्देशक (के सू. ६-८) में कही हुई परमाणु-पुद्गल की वक्तव्यता, यावत्—हे भगवन्! क्या भावितात्मा अनगार उदकावर्त्त (जल के भंवरजाल) में यावत् प्रवेश करता है ? इत्यादि (प्रश्न तक तथा उत्तर में) वहाँ शस्त्र संक्रमण नहीं करता, (यहाँ तक कहना चाहिए)।

विवेचन—भावितात्मा अनगार का वैक्रियलब्धि-सामर्थ्य—यहाँ तीन सूत्रों (१-३) में भावितात्मा अनगार के द्वारा वैक्रियलब्धि के सामर्थ्य से खड्ग आदि शस्त्र पर चलने और प्रवेशादि करने का पंचम शतक के अतिदेशपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्नोत्तर—इस प्रकरण में भावितात्मा अनगार के वैक्रियलब्धि सामर्थ्य से सम्बद्ध निम्नोक्त प्रश्नोत्तर हैं—

प्रश्न	उत्तर
१. तलवार या उस्तरे की धार पर रह सकता है?	हाँ।
२. क्या वह वहाँ छिन्न-भिन्न होता है ?	नहीं।
३. क्या वह अग्निशिखा में से निकल सकता है ?	हाँ।
४. अग्निशिखा से निकलता हुआ जल जाता है ?	नहीं जलता।
५. पुष्कर-संवर्त मेघ के बीच में से निकल सकता है ?	हाँ।
६. इसके बीच में से निकलते हुए क्या वह भीग जाता है ?	नहीं भीगता।
७. गंगा-सिंधु नदियों के प्रतिस्रोत (उल्टे प्रवाह) में से होकर निकल सकता है ?	हाँ।
८. उदकावर्त (पानी के भंवरजाल) में या उदकबिन्दु में प्रवेश कर सकता है ?	हाँ।
९. प्रतिस्रोत में से निकलता हुआ क्या वह स्खलित होता है ?	नहीं।
१०. प्रवेश करते हुए क्या उसे जल का शस्त्र लगता है, यानी वह भीग जाता है ?	नहीं।[१]

परमाणु, द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध तथा वस्ति का वायुकाय से परस्पर स्पर्शास्पर्श निरूपण

४. परमाणुपोग्गले णं भंते ! वाउयाएणं फुडे, वाउयाए वा परमाणुपोग्गलेणं फुडे ?

गोयमा ! परमाणुपोग्गले वाउयाएणं फुडे, नो वाउयाए परमाणुपोग्गलेणं फुडे।

[४ प्र.] भगवन्! परमाणु-पुद्गल, वायुकाय से स्पृष्ट (व्याप्त) है, अथवा वायुकाय परमाणु-पुद्गल से स्पृष्ट है।

[४ उ.] गौतम! परमाणु-पुद्गल वायुकाय से स्पृष्ट है, किन्तु वायुकाय परमाणु-पुद्गल से स्पृष्ट नहीं है।

५. दुपएसिस णं भंते ! खंधे वाउयाएणं० ?

एवं चेव।

[५ प्र.] भगवन्! द्विप्रदेशिक-स्कन्ध वायुकाय से स्पृष्ट है या वायुकाय द्विप्रदेशिक-स्कन्ध से स्पृष्ट है ?

[५ उ.] गौतम! इसी प्रकार (पूर्ववत् जानना चाहिए।)

६. एवं जाव असंखेज्जपएसिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५७
(ख) भगवती. उपक्रम पृ. ३९२
(ग) भगवती सूत्र के थोकड़े छठा भाग, पृ. ३७, थोकड़ा नं. १४३

[६] इसी प्रकार यावत् असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिए।

७. अणंतपएसिए णं भंते ? खंधे वाउ० पुच्छा।

गोयमा ! अणंतपएसिए खंधे वाउयाएणं फुडे, वाउयाए अणंतपएसिएणं खंधेणं सिय फुडे, सिय नो फुडे।

[७ प्र.] भगवन्! अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध वायुकाय से स्पृष्ट है, अथवा वायुकाय अनन्तप्रदेशी स्कन्ध से स्पृष्ट है ?

[७ उ.] गौतम! अनन्तप्रदेशी स्कन्ध वायुकाय से स्पृष्ट है तथा वायुकाय अनन्तप्रदेशी स्कन्ध से कदाचित् स्पृष्ट होता है और कदाचित् स्पृष्ट नहीं होता।

८. बत्थी णं भंते ! वाउयाएणं फुडे, वाउयाए बत्थिणा फुडे ?

गोयमा ! बत्थी वाउयाएणं फुडे, नो वाउयाए बत्थिणा फुडे।

[८ प्र.] भगवन्! वस्ति (मशक) वायुकाय से स्पृष्ट है, अथवा वायुकाय वस्ति से स्पृष्ट है ?

[८ उ.] गौतम! वस्ति वायुकाय से स्पृष्ट है, किन्तु वायुकाय, वस्ति से स्पृष्ट नहीं है।

विवेचन—परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशिकादि स्कन्ध एवं वस्ति वायुकाय से तथा वायुकाय की इनसे स्पृष्टास्पृष्ट होने की प्ररूपणा—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ४ से ८ तक) में परमाणु आदि का वायु से तथा, वायु का परमाणु आदि से स्पृष्ट (व्याप्त)-अस्पृष्ट होने की प्ररूपणा की गई है। **वायु परमाणु-पुद्गल से स्पृष्ट-व्याप्त नहीं है,** क्योंकि वायु महान् (बड़ी) है, और परमाणु प्रदेशरहित होने से अतिसूक्ष्म है, इसलिए वायु उसमें व्याप्त (बीच में क्षिप्त) नहीं हो सकती, वह उसमें समा नहीं सकती। यही बात द्विप्रदेशी से असंख्यप्रदेशी स्कन्ध के विषय में समझ लेनी चाहिए।

अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में—अनन्तप्रदेशी स्कन्ध वायु से व्याप्त होता है, क्योंकि वह वायु की अपेक्षा सूक्ष्म है। जब वायुस्कन्ध की अपेक्षा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध महान् होता है, तब वायु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध से व्याप्त होती है, अन्यथा नहीं। इसलिए मूलपाठ में कहा गया है कि अनन्तप्रदेशी स्कन्ध वायु से व्याप्त होता है, और वायु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध से कदाचित् व्याप्त होती है, कदाचित् नहीं।

मशक, वायु से व्याप्त है, वायु मशक से व्याप्त नहीं—मशक में जब हवा भरी जाती है, तब मशक वायु से व्याप्त होती है, क्योंकि वह समग्ररूप से उसके भीतर समाई हुई है। किन्तु वायुकाय, मशक में व्याप्त नहीं है। वह वायुकाय के ऊपर चारों ओर परिवेष्टित है।

कठिन शब्दार्थ—फुडे—स्पृष्ट—व्याप्त या मध्य में क्षिप्त। **बत्थी**—वस्ति—मशक।[१]

---

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ७५७

(ख) भगवती. विवेचन भा. ६, (पं. घेवरचंदजी) पृ. २७५१-२७५३

सात नरक, बारह देवलोक, पांच अनुत्तरविमान तथा ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे परस्पर बद्धादि पुद्‌गल द्रव्यों का निरूपण

९. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे दव्वाइं वण्णओ काल-नील-लोहिय-हालिद्द-सुक्किलाइं, गंधओ सुब्भिगंधाइं, दुब्भिगंधाइं रसओ तित्त-कडु-कसाय-अंबिल-महुराइं, फासतो कक्खड-मउय-गरुय-लहुय-सीय-उसिण-निद्ध-लुक्खाइं अन्नमन्नबद्धाइं अन्नमन्नपुट्ठाइं जाव [१] अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ?

हंता, अत्थि।

[९ प्र.] भगवन्! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे वर्ण से—काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत, गन्ध से—सुगन्धित और दुर्गन्धित; रस से—तिक्त, कटुक, कसैला, अम्ल (खट्टा) और मधुर; तथा स्पर्श से—कर्कश (कठोर), मृदु (कोमल), गुरु (भारी), लघु (हल्का), शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—इन बीस बोलों से युक्त द्रव्य क्या अन्योन्य (परस्पर) बद्ध, अन्योन्य स्पृष्ट, यावत् अन्योन्य सम्बद्ध हैं ?

[९ उ.] हाँ गौतम! (ये द्रव्य इसी प्रकार अन्योन्यबद्ध आदि) हैं।

१०. एवं जाव अहेसत्तमाए।

[१०] इसी प्रकार यावत् अध:सप्तमपृथ्वी तक जानना चाहिए।

११. अत्थि णं भंते ! सोहम्मस्स अप्पस्स अहे० ?

एवं चेव।

[११ प्र.] भगवन्! सौधर्मकल्प के नीचे वर्ण से—इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न ?

[११ उ.] गौतम! (इसका उत्तर भी) उसी प्रकार (पूर्ववत्) है।

१२. एवं जाव ईसिपब्भाराए पुढवीए।

सेवं भंते ! सेवं भंते! जाव विहरइ।

[१२] इसी प्रकार यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—चतुःसूत्री द्वारा, नरक, देवलोक एवं सिद्धशिला के नीचे के द्रव्यों का विश्लेषण— सात नरकभूमियों, बारह देवलोकों, नौ ग्रैवेयकों एवं पांच अनुत्तर विमानों तथा ईषत्प्राग्भारापृथ्वी के नीचे स्थित, तथाकधित वर्णादियुक्त परस्परबद्ध आदि द्रव्यों का निरूपण सू. ९ से १२ तक में किया गया है।[२]

---

१. जाव पद सूचक पाठ—............ **अन्नमन्नओगाढाइं अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धाइं** इत्यादि पाठ।

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ८२८

कठिन शब्दार्थ—अन्नमन्नबद्धाइं—परस्पर गाढ आश्लेष से बद्ध। **अन्नमन्न-पुट्ठाइं**—एक दूसरे से स्पृष्ट अर्थात्—चारों ओर से गाढ रूप से श्लिष्ट। **अन्नमन्नओगाढाइं**—एक क्षेत्राश्रित रहे हुए। **अन्नमन्नघडत्ताए**—परस्पर सामूहिक रूप से घटित—जुड़े हुए।[१]

वाणिज्यग्राम नगरवासी सोमिल ब्राह्मण द्वारा पूछे गए यात्रादि सम्बन्धित चार प्रश्नों का भगवान् द्वारा सामधान

१३. तए णं समणे भगवं महावीरे जाव बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[१३] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने यावत् बाहर के जनपदों में विचरण किया।

१४. तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। दूतिपलासए चेतिए। वण्णओ।

[१४] उस काल उस समय में वाणिज्यग्राम नामक नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ द्युतिपलाश नाम का उद्यान (चैत्य) था। उसका वर्णन करना चाहिए।

१५. तत्थ णं वाणियग्गामे नगरे सोमिले नामं माहणे परिवसति अड्ढे जाव अपरिभूए रिव्वेद जाव सुपरिनिट्ठिए पंचण्हं खंडियसयाणं सयस्स य कुडुंबस्स आहेवच्चं जाव विहरइ।

[१५] उस वाणिज्यग्राम नगर में सोमिल नामक ब्राह्मण (माहन) रहता था, जो आढ्य यावत् अपराभूत था तथा ऋग्वेद यावत् अथर्ववेद, तथा शिक्षा, कल्प आदि वेदांगों में निष्णात था। वह पांच-सौ शिष्यों (खण्डिकों) और अपने कुटुम्ब पर आधिपत्य करता हुआ यावत् सुखपूर्वक जीवनयापन करता था।

१६. तए णं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे। जाव परिसा पज्जुवासइ।

[१६] उन्हीं दिनों में (वाणिज्यग्राम के द्युतिपलाश नामक उद्यान में) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यावत् पधारे। यावत् परिषद् भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

१७. तए णं तस्स सोमिलस्स माहणस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे णायपुत्ते पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं जाव इहमागए जाव दूतिपलासए चेतिए अहापडिरूवं जाव विहरति। तं गच्छामि णं समणस्स नायपुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामि, इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं जाव वागरणाइं पुच्छिस्सामि, तं जइ मे से इमाइं एयारूवाइं अट्ठाइं जाव वागरणाइं वागरेहिति तो णं वंदीहामि नमंसीहामि जाव पज्जुवासीहामि। अह मे से इमाइं अट्ठाइं जाव वागरणाइं नो वागरेहिति तो णं एतेहिं चेव अट्ठेहि य जाव वागरणेहि य निप्पट्ठपसिणवागरणं करिस्सामि' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, ए० सं० २ ण्हाए जाव सरीरे साओ गिहाओ पडिनिक्खमति, पडि० २ पादविहारचारेणं एगेणं खंडियसएणं सद्धिं संपरिवुडे वाणियग्गामं नगरं

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५८

मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, नि० २ जेणेव दूतिपलासए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति उवा० २ समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वदासि—जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं अव्वाबाहं फासुयविहारं ?

सोमिला ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं पि मे, अव्वाबाहं पि मे, फासुयविहारं पि मे।

[१७] जब सोमिल ब्राह्मण को भगवान् महावीर स्वामी के आगमन की बात मालूम हुई तो उसके मन में इस प्रकार का यावत् विचार उत्पन्न हुआ 'पूर्वानुपूर्वी (अनुक्रम) से विचरण करते हुए तथा ग्रामानुग्राम सुखपूर्वक पदार्पण करते हुए ज्ञातपुत्र श्रमण (महावीर) यावत् यहाँ आए हैं, यावत् द्युतिपलाश उद्यान में यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके विराजमान हैं। अत: मैं श्रमण ज्ञातपुत्र के पास जाऊँ और वहाँ जाकर इन और ऐसे अर्थ (बातें) यावत् व्याकरण (प्रश्नों के उत्तर) उनसे पूछूं। यदि वे मेरे इन और ऐसे अर्थों यावत् प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देंगे तो मैं उन्हें वन्दन-नमस्कार करूंगा, यावत् उनकी पर्युपासना करूंगा। यदि वे मेरे इन और ऐसे अर्थों और प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकेंगे तो मैं उन्हें इन्हीं अर्थों और उत्तरों से निरुत्तर कर दूंगा।' ऐसा विचार किया। तत्पश्चात् उसने स्नान किया, यावत् शरीर को वस्त्र और सभी अलंकारों से विभूषित किया। फिर वह अपने घर से निकला और अपने एक सौ शिष्यों के साथ (घिरा हुआ) पैदल चल कर वाणिज्यग्राम नगर के मध्य में होकर जहाँ द्युतिपलाश-उद्यान ! था और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके पास आया और श्रमण भगवान् महावीर से न अतिदूर, न अतिनिकट खड़े होकर उसने उन्हें इस प्रकार पूछा—

[१७ प्र.] भंते! आपके (धर्म में) यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुकविहार है ?

[१७ उ.] सोमिल! मेरे (धर्म में) यात्रा भी है, यापनीय भी है, अव्याबाध भी है और प्रासुकविहार भी है।

१८. किं ते भंते ! जत्ता ?

सोमिला ! जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणावस्सगमादीएसु जोएसु जयणा से त्तं जत्ता।

[१८ प्र.] भंते! आपके यहाँ यात्रा कैसी है ?

[१८ उ.] सोमिल! तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों में जो मेरी यतना (प्रवृत्ति) है, वह मेरी यात्रा है।

१९. किं ते भंते ! जवणिज्जं ?

सोमिला ! जवणिज्जे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—इंदियजवणिज्जे य नोइंदियजवणिज्जे य।

[१९ प्र.] भगवन्! आपके यापनीय क्या है ?

[१९ उ.] सोमिल! यापनीय दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) इन्द्रिय-यापनीय और (२) नो-इन्द्रिययापनीय।

२०. से किं तं इंदियजवणिज्जे ?

इंदियजवणिज्जेजं मे सोतिंदिय—चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति, से त्तं इंदियजवणिज्जे।

[२० प्र.] भगवन्! वह इन्द्रिय-यापनीय क्या है ?

[२० उ.] सोमिल! श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय, ये (मेरी) पांचों इन्द्रियाँ निरुपहत (उपघातरहित) और वश में (रहती) हैं, यह मेरा इन्द्रिय-यापनीय है।

२१. से किं तं नोइंदियजवणिज्जे ?

नोइंदियजवणिज्जे—जं मे कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिन्ना, नो उदीरेंति, से त्तं नोइंदिय-जवणिज्जे। से त्तं जवणिज्जे।

[२१ प्र.] भंते! वह नोइन्द्रिय-यापनीय क्या है ?

[२१ उ.] सोमिल! जो मेरे क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय व्युच्छिन्न (नष्ट) हो गए हैं, और उदयप्राप्त नहीं हैं; यह मेरा नोइन्द्रिय-यापनीय है। इस प्रकार मेरे ये यापनीय हैं।

२२. किं ते भंते ! अव्वाबाहं ?

सोमिला ! जं मे वातिय-पित्तिय-सेंभिय-सन्निवातिया विविहा रोगायंका सरीरगया दोसा उवसंता, नो उदीरेंति, से त्तं अव्वाबाहं।

[२२ प्र.] भगवन्! आपके अव्याबाध क्या है ?

[२२ उ.] सोमिल! मेरे वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातजन्य तथा अनेक प्रकार के शरीर सम्बन्धी रोग, आतंक एवं शरीरगत दोष उपशान्त हो गए हैं, वे उदय में नहीं आते। यही मेरा अव्याबाध है।

२३. किं ते भंते ! फासुयविहारं ?

सोमिल ! जं णं आरामेसु उज्जाणेसु देवकुलेसु सभासु पवासु इत्थी-पसु-पंडगविवज्जियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि, से त्तं फासुयविहारं।

[२३ प्र.] भगवन्! आपके प्रासुकविहार कौन-सा है ?

[२३ उ.] सोमिल! आराम (बगीचे), उद्यान (बाग), देवकुल (देवालय), सभा और प्रपा (प्याऊ) आदि स्थानों में स्त्री-पशु-नपुंसकवर्जित वसतियों (आवासस्थानों) में प्रासुक, एषणीय पीठ (पीढा-बाजोट), फलक (तख्ता), शय्या, संस्तारक आदि स्वीकार (ग्रहण) करके मैं विचरता हूँ, यही मेरा प्रासुकविहार है।

विवेचन—सोमिल ब्राह्मण (माहन) के द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के भगवान् द्वारा उत्तर—सोमिल ब्राह्मण परीक्षाप्रधान बनकर भगवान् के समीप पहुँचा था। वह यह संकल्प लेकर चला था कि अगर श्रमण ज्ञातपुत्र ने मेरे प्रश्नों के यथार्थ उत्तर दिये तो मैं उन्हें वन्दन-नमस्कार एवं पर्युपासना करूंगा, अन्यथा नहीं। उसका अनुमान था कि मैं जिन गम्भीर अर्थ वाले शब्दों के अर्थ पूछूंगा, श्रमण ज्ञातपुत्र को उनके अर्थों का ज्ञान

नहीं होगा। इसलिए उसने भगवान् की योग्यता की परीक्षा करने हेतु यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुकविहार के सम्बन्ध में प्रश्न किये थे, जिनके समीचीन उत्तर भगवान् ने दिये।[१]

यात्रा आदि की परिभाषा—संयम के विषय में प्रवृत्ति—यात्रा है, मोक्ष की साधना में तत्पर पुरुषों द्वारा, इन्द्रिय आदि की वश्यतारूप धर्म को '**यापनीय**' कहते हैं। शारीरिक-मानसिक बाधा-पीड़ा न होना **अव्याबाध** है और निर्दोष एवं प्रासुक शयन आसन स्थानादि का ग्रहण—उपभोग करना '**प्रासुकविहार**' की परिभाषा है।[१]

सरिसव-भक्ष्याभक्ष्यविषयक सोमिलप्रश्न का भगवान् द्वारा यथोचित समाधान

२४. [१] सरिसवा ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ?

सोमिल ! सरिसवा मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि।

[२४-१ प्र] भगवन्! आपके लिए 'सरिसव' भक्ष्य हैं या अभक्ष्य ?

[२४-१] सोमिल! 'सरिसव' मेरे लिए भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ सरिसवा मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि ?

से नूणं सोमिला ! बंभण्णएसु नएसु दुविहा सरिसवा पण्णत्ता, तं जहा—मित्तसरिसवा य धन्नसरिसवा य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—सहजायए सहवड्डियए सहपंसुकीलियए, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा ते दुविहा पन्नत्ता तं जहा—सत्थपरिणया य असत्थपरिणया य। तत्थ णं जे ते असत्थपरिणया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—एसणिज्जा य अणेसणिज्जा य। तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—जाइया य अजाइया य। तत्थ णं जे ते अजाइता ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते जायिया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—लद्धा य अलद्धा य। तत्थ णं जे ते अलद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया। से तेणट्ठेणं सोमिला ! एवं वुच्चइ जाव अभक्खेया वि।

[२४-२ प्र.] भगवन्! यह आप कैसे कहते हैं कि 'सरिसव' भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी ?

[२४-२ उ.] सोमिल! तुम्हारे ब्राह्मण नयों (शास्त्रों) में दो प्रकार के 'सरिसव' कह गए हैं, यथा—मित्र-सरिसव (समान वय वाला मित्र) और धान्य-सरिसव (सर्षप—सरसों)। उनमें से जो मित्र सरिसव हैं, वह तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(१) सहजात (एक साथ जन्मे हुए), (२) सहवर्धित (एक साथ बड़े हुए)

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७५९

१. (क) भगवती. विवेचन, पृ. २७५९

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७५९

और सहपांशुक्रीडित (एक साथ धूल में खेले हुए)। ये तीनों प्रकार के सरिसव श्रमणों निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। उनमें से जो धान्यसरिसव हैं, वह भी दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत। जो अशस्त्रपरिणत हैं, वे श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। जो शस्त्रपरिणत हैं, वह भी दो प्रकार के हैं, यथा—एषणीय (निर्दोष) और अनेषणीय (सदोष)। अनेषणीय सरिसव तो श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। एषणीय सरिसव दो प्रकार के हैं, यथा—याचित (मांग कर लिये हुए) और अयाचित (बिना मांगे हुए)। अयाचित श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। याचित भी दो प्रकार के हैं, यथा—लब्ध (मिले हुए) और अलब्ध (नहीं मिले हुए)। अलब्ध श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं और जो लब्ध हैं, वह श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं। इस कारण से, हे सोमिल ! ऐसा कहा गया है कि—'सरिसव' मेरे लिए भक्ष्य भी हैं, और अभक्ष्य भी हैं।

विवेचन—'सरिसव' किस दृष्टि से भक्ष्य हैं, किस दृष्टि से अभक्ष्य ?—प्रस्तुत सू. २४ में सोमिल ब्राह्मण द्वारा छलपूर्वक उपहास करने की दृष्टि से भगवान् से पूछे गये 'सरिसव'-भक्ष्याभक्ष्य विषयक प्रश्न का विभिन्न पहलुओं से दिया गया उत्तर अंकित है।

'सरिसव' शब्द का विश्लेषण—'सरिसव' प्राकृतभाषा का श्लिष्ट शब्द है। संस्कृत में इसके दो रूप होते हैं—(१) सर्षप और (२) सदृशवया। सर्षप का अर्थ है—सरसों (धान्य) और सरिसवया का अर्थ है—समवयस्क—हमजोली मित्र या सहजात, सहक्रीडित। ये तीनों प्रकार के मित्रसरिसव श्रमणनिर्ग्रन्थ के लिए अभक्ष्य हैं। अब रहे सर्षपधान्य, वे भी अशस्त्रपरिणत, अनेषणीय, अयाचित और अलब्ध हों तो श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए अकल्पनीय-अग्राह्य (अग्राह्य) होने से अभक्ष्य हैं, किन्तु जो सर्षप एषणीय (निर्दोष), शस्त्रपरिणत, याचित और लब्ध हैं, वे श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं।१

मास एवं कुलत्था के भक्ष्याभक्ष्यविषयक सोमिलप्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान

२५. [१] मासा ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ?

सोमिला ! मासा मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि।

[२५-१ प्र.] भगवन्! आपके मत में 'मास' भक्ष्य है या अभक्ष्य है ?

[२५-२ उ.] सोमिल! 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

[२] से केणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि ?

से नूणं सोमिला ! बंभण्णएसु नएसु दुविहा मासा पन्नत्ता, तं जहा—दव्वमासा य कालमासा य। तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं सावणादीया आसाढपज्जवसाणा दुवालस, तं जहा—सावणे भद्दवए आसोए कत्तिए मग्गसिरे पोसे माहे फग्गुणे चेत्ते वइसाहे जेट्ठामूले आसाढे। ते णं समणाणं

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६०

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७६१

निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते दव्वमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थमासा य धण्णमासा य। तत्थ णं जे ते अत्थमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुवण्णमासा य रुप्पमासा य; ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सत्थपरिणया य असत्थपरिणया य। एवं जहा धन्नसरिसवा जाव से तेणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि।

[२५-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं कि 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी ?

[२५-२ उ.] सोमिल! तुम्हारे ब्राह्मण-नयों (शास्त्रों) में 'मास' दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—द्रव्यमास और कालमास। उनमें से जो कालमास हैं, वे श्रावण से लेकर आषाढ-मास-पर्यन्त बारह हैं, यथा—श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, और आषाढ। ये (बारह मास) श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। द्रव्य-मास दो प्रकार का है। यथा—(१) अर्थमाष और (२) धान्यमाष। उनमें से अर्थमाष (सोना-चाँदी तोलने का माशा) दो प्रकार का है, यथा—(१) स्वर्णमाष और (२) रौप्यमाष। ये दोनों माष श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। धान्यमाष दो प्रकार का है यथा—(१) शस्त्रपरिणत और (२) अशस्त्रपरिणत। इत्यादि सभी आलापक धान्य-सरिसव के समान कहने चाहिए, यावत् इसी कारण से हे सोमिल ! कहा गया है कि 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

२६. [१] कुलत्था ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ?

सोमिला ! कुलत्था मे भक्खेया वि, अभक्खेया वि।

[२६-१ प्र.] भगवन्! आपके लिए 'कुलत्थ' भक्ष्य हैं अथवा अभक्ष्य हैं ?

[२६-१ उ.] सोमिल! 'कुलत्थ' मेरे लिए भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि ?

से नूणं सोमिला ! बंभण्णएसु नएसु दुविहा कुलत्था पन्नत्ता, तं जहा—इत्थिकुलत्था य धन्नकुलत्था य। तत्थ णं जे ते इत्थिकुलत्था ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा—कुलवधू ति वा कुलमाउया ति वा कुलधूया ति वा; ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा जाव से तेणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि।

[२६-२ प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं कि कुलत्थ········· यावत् अभक्ष्य भी हैं ?

[२६-२ उ.] सोमिल! तुम्हारे ब्राह्मणनयों (शास्त्रों) में कुलत्था दो प्रकार की कही गई हैं, यथा—(१) स्त्रीकुलत्था (कुलस्था—कुलांगना) और (२) धान्यकुलत्था (कुलथी धान)। स्त्रीकुलत्था तीन प्रकार की कही गई है, यथा—(१) कुलवधू या (२) कुलमाता, अथवा (३) कुलकन्या। ये तीनों श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। उनमें से जो धान्यकुलत्था है, उसके सभी आलापक धान्य-सरिसव के समान हैं, यावत्—'हे सोमिल! इसलिए कहा गया है कि 'धान्यकुलत्था भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है', यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—'मास' और 'कुलत्था' भक्ष्य कैसे और अभक्ष्य कैसे ? 'मास' शब्द का विश्लेषण— 'मास' प्राकृतभाषा का श्लिष्ट शब्द है। संस्कृत में इसके दो रूप होते हैं। माष और मास। इन्हें ही दूसरे शब्दों में

द्रव्यामाष और कालमास कहा जाता है। कालरूप मास श्रवण से लेकर आषाढ तक १२ महीनों का है, वह श्रमणों के लिए अभक्ष्य है। द्रव्यमान में जो सोना-चाँदी तोलने का माशा है (१२ माशे का एक तोला), वह अभक्ष्य है, किन्तु धान्यरूपमाष (उड़द) शस्त्र-परिणत, एषणीय, याचित और लब्ध हो तो श्रमणों के लिए भक्ष्य है, किन्तु जो शस्त्रपरिणत, अनेषणीय, अयाचित और अलब्ध हैं, वे अभक्ष्य-अग्राह्य हैं।[1]

'कुलत्था' शब्द का विश्लेषण—'कुलत्था' प्राकृतभाषा का शब्द है, संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—(१) कुलस्था और (२) कुलत्था। इन्हें ही दूसरे शब्दों में स्त्रीकुलस्था और धान्यकुलत्था कहते हैं। स्त्री कुलस्था तीन प्रकार की हैं, जो श्रमण के लिए अभक्ष्य हैं। धान्यकुलत्था कुलथी नामक धान को कहते हैं। वह अशस्त्रपरिणत, अनेषणीय, अयाचित और अलब्ध हो तो श्रमणों के लिए अकल्पनीय अग्राह्य (सदोष) होने से अभक्ष्य है। किन्तु यदि वह शस्त्रपरिणत, एषणीय (निर्दोष), याचित और लब्ध हो तो भक्ष्य है।[2]

सोमिल द्वारा पूछे गए एक, दो, अक्षय, अव्यय, अवस्थित तथा अनेकभूत-भाव-भविक आदि तात्त्विक प्रश्नों का समाधान

२७. [१] **एगे भवं, दुवे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूय-भावभविए भवं ?**

सोमिल ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं।

[२७-१ प्र.] भगवन्! आप एक हैं, या दो हैं, अथवा अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं अथवा अनेक-भूत-भाव-भविक हैं?

[२७-१ उ.] सोमिल! मैं एक भी हूँ, यावत् अनेक-भूत-भाव-भविक (भूत और भविष्यत्काल के अनेक परिणामों के योग्य) भी हूँ।

[२] **से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव भविए वि अहं ?**

सोमिल ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाण-दंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं। से तेणट्ठेणं जाव भविए वि अहं।

[२७-२ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि मैं एक भी हूँ यावत् अनेक भूत-भाव-भविक भी हूँ?

[२७-२ उ.] सोमिल! मैं द्रव्यरूप से (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से) एक हूँ, ज्ञान और दर्शन की दृष्टि

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६०
   (ख) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २७६३
२. (क) भगवती अ. वृत्ति, पृ. २७६४
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६०

से दो हूँ। आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित (कालत्रय स्थायी—नित्य) हूँ, तथा (विविध विषयों के) उपयोग की दृष्टि से मैं अनेकभूत-भाव-भविक (भूत और भविष्य के विविध परिणामों के योग्य) भी हूँ।

हे सोमिल ! इसी दृष्टि से (कहा था कि मैं एक भी हूँ,) यावत् अनेकभूत-भाव-भविक भी हूँ।

विवेचन—सोमिल के एक-अनेकादि-विषयक प्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान—इस-सूत्र में छल, उपहास एवं अपमान आदि भाव छोड़कर सोमिल द्वारा तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा से प्रेरित हो कर पूछे गए प्रश्न का समाधान अंकित है। **एक हैं या दो ?**—सोमिल के द्विविधाभरे प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने स्याद्वादशैली का आश्रय लेकर उत्तर दिया। आशय यह है कि मैं जीव (आत्मा) द्रव्य की अपेक्षा से एक हूँ, प्रदेशों की अपेक्षा से नहीं। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से मैं दो हूँ, एक ही पदार्थ किसी एक स्वभाव की अपेक्षा एक हो सकता है, वही पदार्थ दूसरे दो स्वभावों की अपेक्षा दो हो सकता है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जैसे—देवदत्तादि कोई एक पुरुष एक ही समय में उन-उन अपेक्षाओं से पिता, पुत्र, भ्राता, भतीजा, भानजा आदि कहला सकता है। इसीलिए भगवान् ने एक अपेक्षा से स्वयं को एक और दूसरी अपेक्षा से दो कहा।[१]

अक्षय, अव्यय आदि किस दृष्टि से हैं ?—आत्मा के नित्यत्व अनित्यत्व पक्ष को लेकर सोमिल द्वारा पूछा गया था कि आप अक्षय आदि हैं अथवा यावत् अनेकभूतभाव-भविक हैं ? अक्षय, अव्यय, अवस्थित आदि आत्मा के नित्य पक्ष से सम्बन्धित हैं और अनेक भूत-भाव-भविक अनित्यपक्ष से सम्बन्धित हैं। भगवान् ने दोनों पक्षों को स्वीकार करके स्वाद्वाद शैली से उत्तर दिया है; जिसका आशय यह है कि आत्मप्रदेशों का सर्वथा क्षय न होने से मैं अक्षय हूँ, तथा आत्मा असंख्यप्रदेशात्मक होने से मैं अक्षत भी हूँ। कतिपयप्रदेशोंका व्यय न होने से मैं अव्यय भी हूँ। आत्मा यद्यपि विविध गतियों एवं योनियों में जाता है, इस अपेक्षा से कथंचित् अनित्य मानने पर भी उसकी असंख्यप्रदेशिता कदापि नष्ट नहीं होती, इस दृष्टि से आत्मा अवस्थित (कालत्रयस्थायी) है, अर्थात् नित्य है। विविध विषयों के उपयोग वाला होने से आत्मा अनेक-भूतभाव-भाविक भी है। आशय यह है कि अतीत और अनागतकाल के अनेक विषयों का बोध आत्मा से कथंचित् अभिन्न होने से भूत भावी एवं सत्ता के परिणामों (पर्यायों) की अपेक्षा से आत्मा का अनित्यपक्ष भी दोषापत्तिजनक नहीं है।[२]

सोमिल द्वारा श्रावकधर्म का स्वीकार

२८. एत्थ णं से सोमिले माहणे संबुद्धे समणं भगवं महावीरं जहा खंदओ (स. २ उ. १ सु. ३२-३४) जाव से जहेयं तुब्भे वदह। जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतियं बहवे राईसर एवं जहा रायप्पसेणइज्जे चित्तो जाव दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ, प० २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ जाव पडिगए। तए णं से सोमिले माहणे समणोवासए जाव अभिगय० जाव विहरइ।

[२८] भगवान् की अमृतवाणी सुनकर वह सोमिल ब्राह्मण सम्बुद्ध हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर

१-२. भगवतीसूत्र . अ. वृत्ति, पत्र ७६०

को वन्दन-नमस्कार किया, इत्यादि सारा वर्णन (द्वितीय शतक, प्रथम उद्देशक के सू. ३२-३४ में उल्लिखित) स्कन्दक के समान जानना चाहिए, यावत्—उसने कहा—भगवन्! जैसा आपने कहा, वह वैसा ही है। जिस प्रकार आप देवानुप्रिय के सान्निध्य में बहुत से राजा-महाराजा आदि, हिरण्यादि का त्याग करके मुण्डित होकर अगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होते हैं, उस प्रकार करने में मैं अभी समर्थ नहीं हूँ, इत्यादि सारा वृतान्त राजप्रश्नीयसूत्र (सूत्र २२० से २२२ तक पृ. १४२-१४४, आ. प्र. स.) में उल्लिखित चित्त सारथि के समान कहना, यावत्—बारह प्रकार के श्रावकधर्म को स्वीकार किया। श्रावकधर्म को अंगीकार करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके यावत् अपने घर लौट गया। इस प्रकार सोमिल ब्राह्मण श्रमणोपासक हो गया। अब वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता होकर यावत् विचरने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत सू. १८ में वर्णन है कि भगवान् के द्वारा किये गये समाधान से सन्तुष्ट सोमिल ब्राह्मण प्रतिबुद्ध हुआ। उसने भगवान् से श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म स्वीकार किया। समग्र वृत्तान्त द्वितीय शतक में कथित स्कन्दक एवं राजप्रश्नीय सूत्र में कथित चित्तसारथि के अतिदेशपूर्वक संक्षेप में प्रतिपादित किया गया है।

सोमिल के प्रव्रजित होने आदि के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का भगवान् द्वारा समाधान

२९. 'भंते!' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वं० २ एवं वदासि—पभू णं भंते ! सोमिल माहणे देवाणुप्पियाणं अंतियं मुंडे भवित्ता ?

जहेव संखे (स. १२ उ. १ सु. ३१) तहेव निरवसेसं जाय अंतं काहिति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ अट्ठारसमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो॥ १८-१०॥

॥ अट्ठारहसमं सयं समत्तं॥ १८॥

[२९ प्र.] 'भगवन्!' इस प्रकार सम्बोधित कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन्! क्या सोमिल ब्राह्मण आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित होकर अगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होने से समर्थ है ?' इत्यादि।

[२९ उ.] (इसके उत्तर में—) शतक १२ उ. १ सू. ३१ में कथित शंख श्रमणोपासक के समान समग्र वर्णन, सर्वदु:खों का अन्त करेगा, (यहाँ तक कहना चाहिए)।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—सोमिल ब्राह्मण के भविष्य में प्रव्रजित होने इत्यादि के सम्बन्ध में श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का प्रस्तुत सू. २१ में १२ वें शतक के अतिदेशपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

॥ अठारहवाँ शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त॥

॥ अठारहवाँ शतक सम्पूर्ण॥

OOO

एगूणवीसइमं सयं : उन्नीसवाँ शतक

प्राथमिक

- भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के इस उन्नीसवें शतक में दश उद्देशक हैं।

- **प्रथम उद्देशक** का नाम—'लेश्या' है। इसमें प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशानुसार लेश्या का स्वरूप, लेश्या का कारण, लेश्या का प्रभाव, सामर्थ्य, तथा सम्बध्यमान लेश्या और अवस्थित लेश्या, इन दोनों लेश्याओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

- **द्वितीय उद्देशक** का नाम 'गर्भ' है। इसमें बताया गया है कि एक लेश्या वाला दूसरी लेश्या वाले गर्भ का उत्पादन करता है। जिस जीव के जितनी लेश्याएं हों, उसके उतनी लेश्याओं से लेश्यान्तर वाले के गर्भ में परिणमन होना बताया है।

- **तृतीय उद्देशक** का नाम 'पृथ्वी' है। इसमें सर्वप्रथम स्यात्, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान आदि बारह द्वारों के माध्यम से पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् अप्-तेजो वायु तथा वनस्पतिकायिकों के साधारण शरीरादि के विषय में पूर्वोक्त १२ द्वारों के माध्यम से कथन किया गया है। फिर पांच स्थावरों की अवगाहना की दृष्टि से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। तदनन्तर पांच स्थावरों में सूक्ष्म-सूक्ष्मतर तथा बादर-बादरतर का प्रतिपादन है। फिर पृथ्वीकाय के शरीर की महती अवगाहना का माप दृष्टान्तपूर्वक प्रदर्शित किया गया है।

- **चतुर्थ उद्देशक** 'महास्रव' है। इसमें नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में महास्राव, महाक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा इन चारों के १६ भंगों में से पाए जाने वाले भंगों का निरूपण है।

- **पंचम उद्देशक** का नाम 'चरम' है। इसमें सर्वप्रथम नैरयिकादि चौवीस दण्डकों में चरमत्व एवं परमत्व की प्ररूपणा है, साथ ही चरम नैरयिक आदि की अपेक्षा से परम नैरयिकादि महास्रवादि चतुष्क वाले हैं, तथा परम नैरयिकादि की अपेक्षा चरम नैरयिकादि अल्पास्रवादि चतुष्क वाले हैं, इत्यादि प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् निदा और अनिदा, ये वेदना के दो प्रकार बताकर इनका चौबीस दण्डकों में प्ररूपण किया गया है।

- **छठे उद्देशक** का नाम 'द्वीप' है। इसमें जम्बूद्वीप आदि द्वीपों और लवणसमुद्र आदि समुद्रों के संस्थान, लम्बाई, चौड़ाई, दूरी इनमें जीवों की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में जीवाभिगमसूत्र के अतिदेशपूर्वक

वर्णन है।

- **सप्तम उद्देशक** का नाम 'भवन' है। इसमें चारों प्रकार के देवों में १० भवनपतियों के भवनावास, वाणव्यन्तरों के भूमिगत नगरावास, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विमानावासों की संख्या, स्वरूप, किंम्मयता आदि का संक्षिप्त वर्णन है।

- **अष्टम उद्देशक** का नाम 'निर्वृत्ति' है। इसमें जीव, कर्म, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन, कषाय, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान, संज्ञा, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग—इन १९ बोलों की निर्वृत्ति (निष्पत्ति) के भेद तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में उनकी प्ररूपणा की गई है।

- **नौवाँ उद्देशक** 'करण' है। इसमें सर्वप्रथम करण के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये ५ भेद किये गये हैं। तदनन्तर शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन, कषाय, समुद्घात, संज्ञा, लेश्या, दृष्टि, वेद आदि करणों के भेदों की तथा किस जीव में कौन-सा करण कितनी संख्या में पाया जाता है, इसका लेखा-जोखा दिया गया है। तत्पश्चात् पंचविध पुद्गलकरण के भेद-प्रभेदों का निरूपण है।

- **दसवें उद्देशक** ता नाम 'वनचरसुर' (वाणव्यन्तर देव) है। इसमें वाणव्यन्तर देवों के आहार, शरीर और श्वासोच्छ्वास की समानता की चर्चा की गई है। तदनन्तर उनमें पाई जाने वाली आदि की चार लेश्याओं की तथा किस लेश्या वाला वाणव्यन्तर किस लेश्या वाले से अल्पर्द्धिक या महर्द्धिक है, इत्यादि चर्चा की गई है।

- कुल मिलाकर इस शतक में जीवों से सम्बन्धित लेश्या, गर्भपरिणमन आदि की ज्ञातव्य चर्चा की गई है।

OOO

एगूणवीसइमं सयं : उन्नीसवाँ शतक

उन्नीसवें शतक के उद्देशक के नाम

१. लेस्सा य १ गब्भ २ पुढवी ३ महासवा ४ चरम ५ दीव ६ भवणा ७ य।

निव्वत्ति ८ करण ९ वणचरसुरा १० य एगूणवीसइमे॥१॥

[१ गाथार्थ—] उन्नीसवें शतक में ये दस उद्देशक हैं—(१) लेश्या, (२) गर्भ, (३) पृथ्वी, (४) महाश्रव, (५) चरम, (६) द्वीप, (७) भवन, (८) निर्वृत्ति, (९) करण और (१०) वनचर-सुर।

विवेचन—दश उद्देशक—उन्नीसवें शतक में १० उद्देशक इस प्रकार हैं—

(१) **प्रथम उद्देशक** लेश्याविषयक है।

(२) **द्वितीय उद्देशक** गर्भविषयक है।

(३) **तीसरे उद्देशक** में पृथ्वीकायिक आदि जीवों के विषय में शरीर-लेश्यादि का वर्णन है।

(४) **चौथे उद्देशक** में महाश्रवादिविषयक वर्णन है।

(५) **पांचवें उद्देशक** में जीवों के चरम, परमादि-विषयक वर्णन है।

(६) **छठे उद्देशक** में द्वीप-समुद्र-विषयक वर्णन है।

(७) **सप्तम उद्देशक** में भवन-विमानावासादि का वर्णन है।

(८) **आठवें उद्देशक** में जीव आदि की निर्वृत्ति का वर्णन है।

(९) **नौवाँ उद्देशक** करणविषयक है।

(१०) **दसवाँ उद्देशक** वनचर-सुर (वाणव्यन्तर देव)-विषयक है।[१]

OOO

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६१

पढमो उद्देसओ : 'लेश्या'

प्रथम उद्देशक : 'लेश्या'

प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेश पूर्वक लेश्यातत्त्व निरूपण

२. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[२] राजगृह नगर में (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से गौतम स्वामी ने) यावत् इस प्रकार पूछा—

३. कति णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा, एवं पन्नवणाए चउत्थो लेसुद्देसओ भाणियव्वो निरवसेसो।

सेवं भंते ! सेवं भंते !०।

॥ एगूणवीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो॥ १९-१ ॥

[३ प्र.] भगवन्! लेश्याएं कितनी कही गई हैं ?

[३ उ.] गौतम! लेश्याएँ छह कही गई हैं, वे इस प्रकार हैं—इत्यादि, इस विषय में यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के सत्तरहवें पद का चौथा लेश्योद्देशक सम्पूर्ण कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', ऐसा कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रज्ञापना-निर्दिष्ट लेश्या का तात्त्विक विश्लेषण—कृष्णादि द्रव्य के सम्बन्ध में आत्मा का परिणाम-विशेष लेश्या है। लेश्या वस्तुत: योगान्तर्गत द्रव्य रूप है। अर्थात्—मन-वचन-काय के योग के अन्तर्गत शुभाशुभ परिणाम के कारणभूत कृष्णादि वर्ण वाले पुद्गल ही द्रव्यलेश्या हैं। यह योगान्तर्गत पुद्गलों का ही सामर्थ्य है, जो आत्मा में कषायोदय को बढ़ाते हैं, जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है। अत: वही द्रव्यलेश्या, जहाँ तक कषाय है, वहाँ तक उसके उदय को बढ़ाती है। जब तक योग रहते हैं, तब तक लेश्या रहती है। योग के अभाव में (१४वें गुणस्थान में) लेश्या नहीं होती।

यहाँ विचारणीय यह है कि लेश्या योगान्तर्गत द्रव्यरूप है या योगनिमित्तक कर्मद्रव्यरूप है ? यदि इसे योगनिमित्तक कर्मद्रव्यरूप मानें तो प्रश्न उठता है कि यह घातीकर्मद्रव्यरूप है या अघातीकर्मद्रव्यरूप ? यदि इसे घातीकर्मद्रव्यरूप मानते हैं तो सयोगीकेवली के घातीकर्म न होते हुए भी लेश्या क्यों होती है ? अत: घातीकर्मद्रव्यरूप तो इसे नहीं माना जा सकता। इसे अघातीकर्मद्रव्यरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अयोगी केवली के अघाती कर्म होते हुए भी लेश्या नहीं होती। अत: लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्यरूप मानना चाहिए।

योग-द्रव्यों के सामर्थ्य के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार ब्राह्मी ज्ञानावरण के क्षयोपशम का और मद्यपान ज्ञानावरणोदय का निमित्त होता है; वैसे ही योगजनित बाह्य द्रव्य भी कर्म के उदय या क्षयोपशमादि में निमित्त बनें, इसमें किसी शंका को अवकाश नहीं है।[१]

सम्बध्यमान लेश्या और अवस्थित लेश्या—कृष्णलेश्यादि-द्रव्य जब नीललेश्यादि द्रव्यों के साथ मिलते हैं तब वे नीललेश्यादि के स्वभाव रूप में तथा वर्णादि रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे दूध में छाछ डालने से वह दही रूप में तथा वस्त्र को किसी रंग के घोल में डालने से वह उस वर्ण के रूप में परिणत हो जाता है। परन्तु लेश्या का यह परिणाम सिर्फ तिर्यञ्च और मनुष्य की लेश्या की अपेक्षा से जानना चाहिए। देवों और नारकों में स्व-स्व-भव-पर्यन्त लेश्याद्रव्य अवस्थित होने से अन्य लेश्याद्रव्यों का सम्बन्ध होने पर भी अवस्थित लेश्या अन्य लेश्या के रूप में सर्वथा परिणत नहीं होती। अर्थात्—अवस्थित लेश्या अन्य लेश्या रूप में बिलकुल परिणत नहीं होती, अपितु अपने मूल वर्णादि स्वभाव को छोड़े बिना अन्य (सम्बध्यमान) लेश्या की छायामात्र धारण करती है। जैसे वैडूर्यमणि में लाल डोरा पिरोने पर वह अपने नीलवर्ण को छोड़े बिना लाल छाया को धारण करती है, इसी प्रकार कृष्णादि द्रव्य, अन्य लेश्याद्रव्यों के सम्बन्ध में आने पर अपने पर अपने मूल स्वभाव या वर्णादि को छोड़े बिना, उसकी छाया (आकारमात्र) को धारण करते हैं।[२]

॥ उन्नीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. इसके विशेष वर्णन के लिए देखिए—प्रज्ञापना. १७ वाँ पद, टीका, पत्र ३३०

२. देखिये—प्रज्ञापना. १७ वाँ पद, टीका, पत्र ३५४-३६८

बीओ उद्देसओ : 'गब्भ'

प्रथम उद्देशक : 'गर्भ'

एक लेश्या वाले मनुष्य से दूसरी लेश्यावाले गर्भ की उत्पत्ति विषयक निरूपण

१. कति णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

एवं जहा पन्नवणाए गब्भुद्देसो सो चेव निरवसेसो भाणियव्वो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ एगूणवीसइमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो॥ १९-२॥

[१ प्र.] भगवन्! लेश्याएं कितनी कही गई हैं ?

[२ उ.] इसके विषय में प्रज्ञापनासूत्र के सत्तरहवें पद का छठा समग्र गर्भोद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—किस लेश्या वाला, किस लेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है?—प्रज्ञापनानिर्दिष्ट चिन्तन—प्रस्तुत उद्देशक में बताया गया है कि कृष्णलेश्या वाला जीव कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है, इसी तरह नीललेश्या वाला जीव कृष्णादिलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। इसी तरह कृष्णलेश्या वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाली स्त्री से कृष्णलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है। इस प्रकार समस्त कर्मभूमिक एवं अकर्मभूमिक मनुष्यों के सम्बन्ध में जानना चाहिए। केवल इतना ही विशेष है कि अकर्मभूमिक मनुष्य के प्रथम की चार लेश्याएँ होने से चार का ही कथन करना चाहिए।[१]

॥ उन्नीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—प्रज्ञापना. पद १७, उ. ५, पृ. ३७३

(ख) श्रीमद् भगवतीसूत्र, खण्ड ४ (गुज. अनु.) (पं. भगवानदास दोशी) पृ. ८०

तइओ उद्देसओ : 'पुढवी'

तृतीय उद्देशक : पृथ्वी (कायिकादि)

बारह द्वारों के माध्यम से पृथ्वीकायिकजीव से सम्बन्धित प्ररूपणा

१. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[१] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

२. सियं भंते ! जाव चत्तारि पंच पुढविकाइया एगयओ साधारणसरीरं बंधंति, एग० बं० २ ततो पच्छा आहारेंति वा परिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति ?

नो तिणट्ठे समट्ठे, पुढविकाइया णं पत्तेयाहारा, पत्तेयपरिणामा, पत्तेयं सरीरं बंधंति प० बं० २ ततो पच्छा आहारेंति वा, पारिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति।

[२ प्र.] भगवन्! क्या कदाचित् दो यावत् चार-पांच पृथ्वीकायिक मिल कर साधारण शरीर बांधते हैं, बांध कर पीछे आहार करते हैं, फिर उस आहार का परिणमन करते हैं और फिर इसके बाद शरीर का बन्ध (आहारित एवं परिणत किए गए पुद्गलों से पूर्व-बन्ध की अपेक्षा विशिष्ट बन्ध) करते हैं ?

[२ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (यथार्थ) नहीं है। क्योंकि पृथ्वीकायिक जीव प्रत्येक—पृथक्-पृथक् आहार करने वाले हैं और उस आहार को पृथक् पृथक् परिणत करते हैं, इसलिए वे पृथक्-पृथक् शरीर बांधते हैं। इसके पश्चात् वे आहार करते हैं, उसे परिणमाते हैं और फिर शरीर बांधते हैं।

३. तेसिं णं भंते ! जीवाणं कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पन्नत्ताओ। तं जहा—कण्ह० नील० काउ० तेउ०।

[३ प्र.] भगवन्! उन (पृथ्वीकायिक) जीवों के कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

[३ उ.] गौतम! उनमें चार लेश्याएँ कही गई हैं, यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या तथा तेजोलेश्या।

४. ते णं भंते ! जीवा किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ?

गोयमा! नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, नो सम्मामिच्छादिट्ठी।

[४ प्र.] भगवन्! वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं ?

[४ उ.] गौतम! वे जीव सम्यग्दृष्टि नहीं है, मिथ्यादृष्टि हैं, वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं हैं।

५. ते णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी, नियमा दुअन्नाणी, तं जहा—मतिअन्नाणी व सुयअन्नाणी य।

[५ प्र.] भगवन्! वे जीव ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी हैं ?

[५ उ.] गौतम! वे ज्ञानी नहीं हैं, अज्ञानी हैं। उनमें दो अज्ञान निश्चित रूप से पाए जाते हैं—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

६. ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?

गोयमा ! नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी।

[६ प्र.] भगवन्! क्या वे जीव मनोयोगी हैं, वचनयोगी हैं, अथवा काययोगी हैं ?

[६ उ.] गौतम! वे न तो मनोयोगी हैं, न वचनयोगी हैं, किन्तु काययोगी हैं।

७. ते णं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि।

[७ प्र.] भगवन्! वे जीव साकारोपयोगी हैं या अनाकारोपयोगी हैं ?

[७ उ.] गौतम! वे साकारोपयोगी भी हैं और अनाकारोपयोगी भी हैं।

८. ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं एवं जहा पन्नवणाए पढमे आहारुद्देसए जाव सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति।

[८ प्र.] भगवन्! वे (पृथ्वीकायिक) जीव क्या आहार करते हैं ?

[८ उ.] गौतम! वे द्रव्य से—अनन्तप्रदेशी द्रव्यों का आहार करते हैं, इत्यादि वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के (२८ वें पद के) प्रथम आहारोद्देशक के अनुसार—सर्व आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं, यहाँ तक (जानना चाहिए)।

९. ते णं भंते ! जीवा जमाहारेंति तं चिज्जइ, जं नो आहारेंति तं नो चिज्जइ, चिण्णे वा से उद्दाति पलिसप्पति वा ?

हंता, गोयमा! ते णं जीवा जमाहारेंति तं चिज्जइ, जं नो जाव पलिसप्पति वा।

[९ प्र.] भगवन्! वे जीव जो आहार करते हैं, क्या उसका चय होता है, और जिसका आहार नहीं करते, उसका चय नहीं होता? जिस आहार का चय हुआ है, वह आहार (असारभागरूप में) बाहर निकलता है? और (साररूप भाग) शरीर-इन्द्रियादि रूप में परिणत होता है ?

[९ उ.] गौतम! वे जो आहार करते हैं, उसका चय होता है, और जिसका आहार नहीं करते, उसका चय नहीं होता, यावत् सारभागरूप आहार शरीर, इन्द्रियादिरूप में परिणत होता है।

१०. तेसिं णं भंते ! जीवाणं एवं सन्ना ति वा पन्ना ति वा मणो ति वा वई ति वा 'अम्हे णं आहारमाहारेमो ?'

णो तिणट्ठे समट्ठे, आहारेंति पुण ते ।

[१० प्र.] भगवन्! उन जीवों को—'हम आहार करते हैं', ऐसी संज्ञा, प्रज्ञा, मन और वचन होते हैं।

[१० उ.] हे गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात्—उन जीवों को हम आहार करते हैं, ऐसी संज्ञा, प्रज्ञा आदि नहीं होते। फिर भी वे आहार तो करते हैं।

११. तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सन्ना ति वा जाव वयी ति वा अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो ?

नो तिणट्ठे समट्ठे, पडिसंवेदेंति पुण ते।

[११ प्र.] भगवन्! क्या उन जीवों को यह संज्ञा यावत् वचन होता है कि हम इष्ट या अनिष्ट स्पर्श का अनुभव करते हैं?

[११ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है, फिर भी वे वेदन (अनुभव) तो करते ही हैं।

१२. ते णं भंते ! जीवा किं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति, मुसावाए अदिण्णा० जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति ?

गोयमा ! पाणातिवाए वि उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले वि उवक्खाइज्जंति, जेसिं पि णं जीवाणं ते जीवा 'एवमाहिज्जंति' तेसिं पि णं जीवाणं नो विण्णाए नाणत्ते।

[१२ प्र.] भगवन्! क्या वे (पृथ्वीकायिक) जीव प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में रहे हुए हैं?

[१२ उ.] गौतम! वे जीव प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में रहे हुए हैं तथा वे जीव, दूसरे जिन पृथ्वीकायिकादि जीवों की हिंसादि करते हैं, उन्हें भी, ये जीव हमारी हिंसादि करने वाले हैं, ऐसा भेद ज्ञात नहीं होता।

१३. ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति ?

एवं जहा वक्कंतीए पुढविकाइयाणं उववातो तहा भाणितव्वो।

[१३ प्र.] भगवन्! ये पृथ्वीकायिक जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं? क्या ये नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, इत्यादि प्रश्न ?

[१३ उ.] गौतम! जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद में पृथ्वीकायिक जीवों का उत्पाद कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।

१४. तेसिं णं भंते ! जीवाणं केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ।

[१४ प्र.] भगवन्! उन पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१४ उ.] गौतम! उनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की, उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की है।

१५. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! तओ समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए।

[१५ प्र.] भगवन्! उन जीवों के कितने समुद्घात कहे गए हैं ?

[१५ उ.] गौतम! उनके तीन समुद्घात कहे गए हैं, यथा—वेदनासमुद्घात, कषाय समुद्घात और मारणान्तिकसमुद्घात।

१६. ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति, असमोहया मरंति ?

गोयमा ! समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति।

[१६ प्र.] भगवन्! क्या वे जीव मारणान्तिकसमुद्घात करके मरते हैं या मारणान्तिकसमुद्घात किये बिना ही मरते हैं ?

[१६ उ.] गौतम! वे मारणान्तिकसमुद्घात करके भी मरते हैं और समुद्घात किये बिना भी मरते हैं।

१७. ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ?

एवं उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए।

[१७ प्र.] भगवन्! वे (पृथ्वीकायिक) जीव मरकर अन्तररहित कहाँ जाते हैं, कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[१७ उ.] (गौतम!) यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र के छठे) व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार उनकी उद्वर्तना कहनी चाहिए।

विवेचन—बारह द्वारों के माध्यम से पृथ्वीकायिकों के विषय में प्ररूपणा—प्रस्तुत १७ सूत्रों (१ से १७ तक) में पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में बारह पहलुओं से प्ररूपणा की गई। वृत्तिकार ने प्रारम्भ में एक गाथा भी बारह द्वारों के नामनिर्देश की सूचित की है—

सिय-लेस-दिट्ठि-नाणे-जोगुवओगे तहा किमाहारो।
पाणाइवाय-उप्पाय-ठिई-समुग्घाय-उव्वट्टी॥

अर्थात्—(१) स्याद्द्वार, (२) लेश्याद्वार, (३) दृष्टिद्वार, (४) ज्ञानद्वार, (५) योगद्वार, (६) उपयोगद्वार, (७) किमाहारद्वार, (८) प्राणातिपातद्वार (९) उत्पादद्वार, (१०) स्थितिद्वार, (११) समुद्घातद्वार और (१२) उद्वर्तनाद्वार।

स्याद्द्वार का स्पष्टीकरण—यहाँ स्याद्द्वार की अपेक्षा से प्रथम प्रश्न किया गया है कि क्या कदाचित् अनेक पृथ्वीकायिक मिल कर साधारण (एक) शरीर बाँधते हैं ? बाद में आहार करते हैं ? तथा उसका परिणमन करते हैं। और फिर शरीर का बन्ध करते हैं ? सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो सभी संसारी जीव प्रतिसमय

निरन्तर आहार (पुद्गल) ग्रहण करते हैं, इसलिए प्रथम सामान्य शरीरबन्ध के समय भी आहार तो चालू ही है, तथापि पहले शरीर बांधने और पीछे आहार करने का जो प्रश्न किया गया है, वह विशेष आहार की अपेक्षा से किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ है—जीव उत्पत्ति के समय पहले ओज-आहार करता है, फिर शरीर-स्पर्श द्वारा लोम-आहार करता है। तदुपरान्त उसे परिणमाता है और उसके बाद विशेष शरीरबन्ध करता है। उत्तर में पृथ्वीकायिक जीवों के साधारण शरीर बांधने का स्पष्ट निषेध किया गया है, क्योंकि वे प्रत्येकशरीरी ही हैं, इसलिए पृथक्-पृथक् शरीर बांधते हैं, आहार भी पृथक्-पृथक् करते हैं और पृथक् ही परिणमाते हैं। इसके बाद वे विशेष आहार, विशेष परिणमन और विशेष शरीरबन्ध करते हैं।

किमाहारद्वार—पृथ्वीकायिक जीवों के आहार के विषय में प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाईसवें पद के प्रथम आहारोद्देशक का अतिदेश किया गया है। उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—**द्रव्य से**—अनन्तप्रदेशी द्रव्यों का, **क्षेत्र से**—असंख्यातप्रदेशों में रहे हुए, **काल से**—जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले और **भाव से**—वर्ण गन्ध, रस तथा स्पर्श वाले पुद्गलस्कन्धों का आहार करते हैं।

संज्ञादि का निषेध—पृथ्वीकायिक जीवों में संज्ञा अर्थात्—व्यावहारिक अर्थ को ग्रहण करने वाली अवग्रहरूप बुद्धि, प्रज्ञा—अर्थात् सूक्ष्म अर्थ को विषय करने वाली बुद्धि, मन (मनोद्रव्यस्वभाव) तथा वाक्—(द्रव्यश्रुतरूप) नहीं होती। यही कारण है कि वे इस भेद को नहीं जानते कि हम वध्य (मारे जाने वाले) हैं और ये वधिक (मारने वाले) हैं। परन्तु उनमें प्राणातिपात क्रिया अवश्य होती है। क्योंकि प्राणातिपात से वे विरत नहीं हुए। इसी प्रकार पृथ्वीकायिकादि जीवों में वचन का अभाव होने पर भी मृषावाद आदि की अविरति के कारण ये मृषावाद आदि में रहे हुए हैं।

उत्पादद्वार में विशेष ज्ञातव्य—यह है कि पृथ्वीकायिकादि नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, वे तिर्यञ्च, मनुष्य या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं। उद्वर्तन भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

कठिन शब्दार्थ—चिज्जंति—चय करते हैं। **चिण्णे वा से उद्दाइ**—चीर्ण यानी आहारित वह पुद्गलसमूह मलवत् नष्ट, (अपद्रव) हो जाता है। इसका सारभाग शरीर, इन्द्रियरूप में परिणत होता है। **पलिसप्पति**—बाहर निकल जाता है, बिखर जाता है। **सव्वप्पणयाए**—सभी आत्मप्रदेशों से। **सण्णा इ**—संज्ञा, **पण्णा इ**—प्रज्ञा।

पूर्वोक्त बारह द्वारों के माध्यम से अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिकों में प्ररूपणा

१८. सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच आउक्काइया एगयओ साहारणसरीरं बंधंति, एग० बं० २ ततो पच्छा आहारेंति ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६३-७६४

(ख) भगवती भा. ६, विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २७७४-२७७८

(ग) भगवतीसूत्र खण्ड ४ (गुजराती अनुवाद) पं. भगवानदास दोशी, पृ. ८२

(घ) प्रज्ञापना (पण्णवणासुत्तं) भा. १, सू. ६५०, ६६९, पृ. १७४-७६, १८०

एवं जो पुढविकाइयाणं गमो सो चेव भाणियव्वो जाव उव्वट्टंति, नवरं ठिती सत्तवाससहस्साइं उक्कोसेणं, सेसं तं चेव।

[१८ प्र.] भगवन्! क्या कदाचित् दो, तीन, चार या पांच अप्कायिक जीव मिल कर एक साधारण शरीर बांधते हैं और इसके पश्चात् आहार करते हैं?

[१८ उ.] गौतम! पृथ्वीकायिकों के विषय में जैसा आलापक कहा गया है, वैसा ही यहाँ उद्वर्त्तना-द्वार तक जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि अप्कायिक जीवों की स्थिति उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। शेष सब पूर्ववत्।

१९. सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच तेउक्काइया० ?

एवं चेव, नवरं उववाओ ठिती उव्वट्टणा य जहा पन्नवणाए, सेसं तं चेव।

[१९ प्र.] भगवन्! कदाचित् दो, तीन, चार या पांच तेजस्कायिक जीव मिलकर एक साधारण शरीर बांधते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१९ उ.] गौतम! इनके विषय में भी पूर्ववत् समझना चाहिए। विशेष यह है कि उनका उत्पाद, स्थिति और उद्वर्त्तना प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार जानना चाहिए। शेष सब बातें पूर्ववत् हैं।

२०. वाउकाइयाणं एवं चेव, नाणत्तं—नवरं चत्तारि समुग्घाया।

[२०] वायुकायिक जीवों का कथन भी इसी प्रकार है। विशेष यह है कि वायुकायिक जीवों में चार समुद्घात होते हैं।

२१. सियं भंते ! जाव चत्तारि पंच वणस्सतिकाइया० पुच्छा।

गोयमा ! जो इणट्ठे समट्ठे। अणंता वणस्सतिकाइया एगयओ साधारणसरीरं बंधंति, एग० बं० २ ततो पच्छा आहारेंति वा परिणामेंति वा, आ० प० २ सेसं जहा तेउक्काइयाणं जाव उव्वट्टंति। नवरं आहारो नियमं छद्दिसिं, ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं सेसं तं चेव।

[२१ प्र.] भगवन्! क्या कदाचित् दो, तीन, चार या पांच आदि वनस्पतिकायिक जीव एकत्र मिलकर साधारण शरीर बांधते हैं? इत्यादि प्रश्न।

[२१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अनन्त वनस्पतिकायिक जीव मिलकर एक साधारण शरीर बांधते हैं, फिर आहार करते हैं और परिणमाते हैं, इत्यादि सब अग्निकायिकों के समान उद्वर्त्तन करते हैं, तक (जानना चाहिए) विशेष यह है कि उनका आहार-नियमत: छह दिशा का होता है। उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। शेष सब पूर्ववत् समझना चाहिए।

विवेचन—पूर्वोक्त बारह द्वारों के माध्यम से अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिकों के साधारण शरीरादि के विषय में निरूपण—अप्कायिक जीवों के विषय में स्थिति (उत्कृष्ट ७ हजार वर्ष) को छोड़ कर

अन्य सब बातें पृथ्वीकायिक जीवों के समान हैं। अग्निकायिक जीवों के विषय में भी उत्पाद स्थिति और उद्वर्त्तना को छोड़ कर अन्य सब बातें पृथ्वीकायिकवत् हैं। अग्निकायिक जीव तिर्यञ्च और मनुष्य में से आकर उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्कृष्ट स्थिति तीन अहोरात्र की होती है। अग्निकाय से निकल (-उद्वर्त्तन) कर जीव तिर्यचों में ही उत्पन्न होते हैं। वायुकायिक और अग्निकायिक जीवों की शेष बातें पृथ्वीकायिकवत् हैं। विशेष यह है कि पृथ्वीकायिक जीवों में आदि की चार लेश्याएँ होती हैं, जबकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों में आदि की तीन अप्रशस्त लेश्याएँ होती हैं। पृथ्वीकायिक जीवों में आदि के तीन समुद्घात (वेदना, कषाय और मारणान्तिक) होते हैं, जबकि वायुकाय में वैक्रियशरीर के सम्भव होंने से वेदना, कषाय, मारणान्तिक और वैक्रिय, ये चार समुद्घात होते हैं। वनस्पतिकायिकों में अनन्त वनस्पतिकायिक जीव मिलकर एक साधारण शरीर बांधते हैं, फिर आहार करते हैं। यहाँ वनस्पतिकायिक जीवों का आहार नियमत: छह दिशाओं का बताया है, वह बादर निगोद (साधारण) वनस्पतिकाय की अपेक्षा सम्भवित है। सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव लोकान्त के निष्कुटों (कोणों) में भी होते हैं, उनके तीन, चार या पांच दिशाओं का आहार भी सम्भवित है। बादर निगोद वनस्पतिकायिक जीव लोकान्त के निष्कुटों में नहीं होते, किन्तु वे लोक के मध्यभाग में होते हैं।[१]

एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा अल्पबहुत्व

२२. एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाय० वाउका० वणस्सतिकाइयाणं सुहुमाणं बादराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं जाव जहन्नुक्कोसियाए ओगाहणाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिओयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा ? सुहुमवाउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा २। सुहुमतेउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३। सुहुमआउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४। सुहुमपुढविका० अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ५। बादरवाउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ६। बादरतेउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ७। बादरवाउ० अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ८। बादरपुढविकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ९। पत्तेयसरीरबादर-वणस्सइकाइयस्स बादरनिओयस्स य, एएसि णं अपज्जत्तगाणं जहन्निया ओगाहणा दोण्ह वि तुल्ला असंखेज्जगुणा १०-११। सुहुमनिगोयस्स पज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा १२। तस्सेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १३। तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १४। सुहुमवाउकाइयस्स पज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा १५। तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १६। तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया०

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६४

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७८०-८१

१७। एवं सुहुमतेउकाइयस्स वि १८-१९-२०। एवं सुहुमआउकाइयस्स वि २१-२२-२३। एवं सुहुमपुढविकाइयस्स वि २४-२५-२६। एवं बादरवाउकाइयस्स वि २७-२८-२९। एवं बायरतेउकाइयस्स वि ३०-३१-३२। एवं बादरआउकाइयस्स वि ३३-३४-३५। एवं बादरपुढविकाइयस्स वि ३६-३७-३८। सव्वेसिं तिविहेणं गमेणं भाणियव्वं। बादरनिगोदस्स पज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३९। तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४०। तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४१। पत्तेयसरीर बादरवणस्सतिकाइयस्स पज्जत्तगस्स जहन्निया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४२। तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४३। तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४४।

[२२ प्र.] भगवन्! इन सूक्ष्म-बादर, पर्याप्तक-अपर्याप्तक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहनाओं में से किसकी अवगाहना किसकी अवगाहना से अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक होती है?

[२२ उ.] गौतम ! १. सबसे अल्प, अपर्याप्त सूक्ष्मनिगोद की जघन्य अवगाहना है। २. उससे असंख्यगुणी है—अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकायिक की जघन्य अवगाहना। ३. उससे अपर्याप्त सूक्ष्म अग्निकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यगुणी है। ४. उससे अपर्याप्त सूक्ष्म अप्कायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यगुणी है। ५. उससे अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यगुणी है। ६. उससे अपर्याप्त बादर वायुकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यगुणी है। ७. उससे अपर्याप्त बादर अग्निकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यगुणी है। ८. उससे अपर्याप्तक बादर अप्कायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। ९. उससे अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। १०-११. उससे अपर्याप्त प्रत्येकशरीरी बादर वनस्पतिकायिक की और बादर निगोद की जघन्य अवगाहना दोनों की परस्पर तुल्य और असंख्यातगुणी है। १२. उससे पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। १३. उससे अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। १४. उससे पर्याप्तक सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। १५. उससे पर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। १६. उससे अपर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। १७. उससे पर्याप्तक सूक्ष्म वायुकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। १८-१९-२०. उससे पर्याप्त सूक्ष्म अग्निकायिक की जघन्य, अपर्याप्त सूक्ष्म अग्निकायिक की उत्कृष्ट तथा पर्याप्त सूक्ष्म अग्निकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी एवं विशेषाधिक है। २१-२२-२३. उससे पर्याप्त सूक्ष्म अप्कायिक की जघन्य, अपर्याप्त सूक्ष्म अप्कायिक की उत्कृष्ट तथा पर्याप्त सूक्ष्म अप्कायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी एवं विशेषाधिक है। २४-२५-२६. इसी प्रकार से उससे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक की जघन्य, उससे अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट तथा उससे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यगुणी तथा विशेषाधिक होती है। २७-२८-२९. उससे पर्याप्त बादर वायुकायिक की जघन्य, अपर्याप्त बादर वायुकायिक की उत्कृष्ट एवं पर्याप्त बादर वायुकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी तथा विशेषाधिक है। ३०-३१-३२. उससे पर्याप्त बादर अग्निकायिक की

जघन्य, अपर्याप्त बादर अग्निकायिक की उत्कृष्ट एवं पर्याप्त बादर अग्निकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यगुणी एवं विशेषाधिक है। ३३-३४-३५. इसी प्रकार उससे पर्याप्त बादर अप्कायिक की जघन्य, अपर्याप्त बादर अप्कायिक की उत्कृष्ट एवं पर्याप्त बादर अप्कायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी एवं विशेषाधिक है। ३६-३७-३८. उससे पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक की जघन्य, अपर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट तथा पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी तथा विशेषाधिक है। ३९. उससे पर्याप्त बादर निगोद की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। ४०. अपर्याप्त बादर निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है, और ४१. पर्याप्त बादर निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। ४२. उससे पर्याप्त प्रत्येकशरीरी बादर वनस्पतिकायिक की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। ४३. उससे अपर्याप्त प्रत्येकशरीरी बादर वनस्पतिकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी है और ४४. उससे पर्याप्त प्रत्येकशरीरी बादर वनस्पतिकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी है।

विवेचन—फलितार्थ—पृथ्वीकायिक, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और निगोद वनस्पतिकाय, इन पांचों के सूक्ष्म और बादर दो-दो भेद होते हैं। इनमें प्रत्येकशरीरी वनस्पति को मिलाने से ग्यारह भेद होते हैं। इनके प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से २२ भेद हो जाते हैं। इनकी जघन्य अवगाहना और उत्कृष्ट अवगाहना के भेद से ४४ भेद होते हैं। इन्हीं ४४ स्थावर जीवभेदों की अवगाहना का अल्पबहुत्व यहाँ (प्रस्तुत सूत्र २२ में) बताया गया है।

पृथ्वी आदि की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होने पर भी उसके असंख्येय भेद होते हैं। इसलिए अंगुल के असंख्यातवें भाग की परस्परापेक्षा से असंख्येयगुणत्व में कोई विरोध नहीं आता। प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना सहस्र योजन से कुछ अधिक की समझनी चाहिए।[1]

एकेन्द्रिय जीवों में सूक्ष्म-सूक्ष्मतरनिरूपण

२३. एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स तेउकाइयस्स वाउकाइयस्स वणस्सइकाइयस्स य कयरे काये सव्वसुहुमे ?, कयरे काये सव्वसुहुमतराए ?

गोयमा ! वणस्सतिकाए सव्वसुहुमे, वणस्सतिकाए सव्वसुहुमतराए।

[२३ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, इन पाँचों में कौन-सी काय सब से सूक्ष्म है और कौन-सी सूक्ष्मतर है।

[२३ उ.] गौतम! (इन पांचों कायों में से) वनस्पतिकाय सबसे सूक्ष्म है, सबसे सूक्ष्मतर है।

२४. एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स तेउकाइयस्स वाउकाइयस्स य कयरे काये सव्वसुहुमे ?, कयरे काये सव्वसुहुमतराए ?

गोयमा ! वाउकाये सव्वसुहुमे, वाउकाये सव्वसुहुमतराए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६५

[२४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक (इन चारों में से) कौन सी काय सबसे सूक्ष्म है, कौन-सी सूक्ष्मतर है ?

[२४ उ.] गौतम ! (इन चारों में से) वायुकाय सबसे सूक्ष्म है, वायुकाय ही सबसे सूक्ष्मतर है।

२५. एतस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउकाइयस्स तेउकाइयस्स य कयरे काये सव्वसुहुमे ? कयरे काये सव्वसुहुमतराए ?

गोयमा ! तेउकाय सव्वसुहुमे, तेउकाये सव्वसुहुमतराए ।

[२५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और अग्निकायिक, (इन तीनों में से) कौन सी काय सबसे सूक्ष्म है, कौन-सी सूक्ष्मतर है ?

[२५ उ.] गौतम ! (इन तीनों में से) अग्निकाय सबसे सूक्ष्म है, अग्निकाय ही सर्व सूक्ष्मतर है।

२६. एतस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउक्काइयस्स य कयरे काये सव्वसुहुमे ?, कयरे काये सव्वसुहुमतराए ?

गोयमा ! आउकाये सव्वसुहुमे, आउकाए सव्वसुहुमतराए ।

[२६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक और अप्कायिक इन दोनों में से कौन-सी काय सबसे सूक्ष्म है, कौन-सी सर्वसूक्ष्मतर है ?

[२६ उ.] गौतम ! (इन दोनों कायों में से) अप्काय सबसे सूक्ष्म है, और अप्काय ही सर्वसूक्ष्मतर है।

विवेचन—फलितार्थ—पृथ्वीकायादि पांचों कायों में सबसे सूक्ष्म वनस्पतिकाय है। वनस्पति के सिवाय शेष चार कायों में सर्वसूक्ष्म वायुकाय है। वायुकाय को छोड़ कर शेष तीनों कायों में सर्वसूक्ष्म अग्निकाय है और अग्निकाय को छोड़कर शेष दो कायों में सर्वसूक्ष्म अप्काय है। इस प्रकार सूक्ष्मता का तारतम्य यहाँ बताया गया है।[१]

सव्वसुहुमतराए : अर्थ—सबसे अधिक सूक्ष्म।[२]

एकेन्द्रिय जीवों में सर्वबादर सर्वबादरतरनिरूपण

२७. एयस्स णं भंते ! पुढविकाइयस्स आउ० तेउ० वाउ० वणस्सतिकाइयस्स य कयरे काये सव्वबादरे ?, कयरे काये सव्वबादरतराए ?

गोयमा ! वणस्सतिकाये सव्वबादरे, वणस्सतिकाये सव्वबादरतराए।

[२७ प्र.] भगवन् ! इन पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक में से कौनसी काय सबसे बादर (स्थूल) है, कौन-सी काय सर्वबादरतर है ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ८३७-८३८

२. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचंदजी) भा. ६, पृ. २७८६

[२७ उ.] गौतम! (इन पांचों में से) वनस्पतिकाय सर्वबादर है, वनस्पतिकाय ही सबसे अधिक बादर है।

२८. एयस्स णं भंते ! पुढविकायस्स आउक्का० तेउक्का० वाउकायस्स य कयरे काये सव्वबायरे ?, कयरे काये सव्वबादरतराए?

गोयमा ! पुढविकाए सव्वबादरे, पुढविकाए सव्वबादरतराए।

[२८ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक, इन चारों में से कौन-सी काय सबसे बादर है, कौन सी बादरतर है?

[२८ उ.] गौतम! (इन चारों में से) पृथ्वीकाय सबसे बादर है, पृथ्वीकाय ही बादरतर है।

२९. एयस्स णं भंते ! आउकायस्स तेउकायस्स वाउकायस्स य कयरे काये सव्वबायरे ?, कयरे काए सव्वबादरतराए ?

गोयमा ! आउकाये सव्वबायरे, आउकाए सव्वबादरतराए।

[२९ प्र.] भगवन्! अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इन तीनों में से कौन-सी काय सर्वबादर है, कौन सी बादरतर है?

[२९ उ.] गौतम! (इन तीनों में से) अप्काय सर्वबादर है, अप्काय ही बादरतर है।

३०. एयस्स णं भंते ! तेउकायस्स वाउकायस्स य कयरे काये सव्वबादरे ?, कयरे काये सव्वबादरतराए?

गोयमा! तेउकाए सव्वबादरे, तेउकाए सव्वबादरतराए।

[३० प्र.] भगवन्! अग्निकाय और वायुकाय, इन दोनों कायों में से कौन-सी काय सबसे बादर है, कौन-सी बादरतर है?

[३० उ.] गौतम! इन दोनों में से अग्निकाय सर्वबादर है, अग्निकाय ही बादरतर है।

विवेचन—पांच स्थावरों में बादर-बादरतर कौन ?—पांच स्थावरों में सबसे अधिक बादर प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा वनस्पतिकाय है, वनस्पतिकाय को छोड़कर शेष चार स्थावरों में सर्वाधिक बादर है—पृथ्वीकाय। फिर पृथ्वीकाय के सिवाय शेष तीन स्थावरों में सर्वाधिक बादर है—अप्काय। और अप्काय को छोड़कर शेष दो स्थावरों में सर्वाधिक बादर है—अग्निकाय। इस प्रकार बादर का तारतम्य बताया गया है।[१]

पृथ्वीशरीर की महाकायता का निरूपण

३१. केमहालए णं भंते ! पुढविसरीरे पन्नत्ते ?

गोयमा ! अणंताणं सुहुमवणस्सतिकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे। असंखेज्जाणं सुहुमवाउसरीराणं जावतिया सरीरा से एगे सुहुमतेउसरीरे। असंखेज्जाणं सुहुमतेउकाइयसरीराणं जावतिया

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ८३८-८३९

सरीरा से एगे सुहुमे आउसरीरे। असंखेज्जाणं सुहुमआउकाइयसरीराणं जावतिया सरीरा से एगे पुढविसरीरे। असंखेज्जाणं सुहुमपुढविकाइयाणं जावतिया सरीरा से एगे बायरवाउसरीरे असंखेज्जाणं बादरवाउकाइयाणं जावतिया सरीरा से एगे बादरतेउसरीरे। असंखेज्जाणं बादरतेउकाइयाणं जावतिया सरीरा से एगे बायरआउसरीरे। असंखेज्जाणं बादरआउकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे बादरपुढविसरीरे, एमहालए णं गोयमा ! पुढविसरीरे पन्नत्ते।

[३१ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर कितना बड़ा (महाकाय) कहा गया है।

[३१ उ.] गौतम! अनन्त सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवों के जितने शरीर होते हैं, उतना एक सूक्ष्म वायुकाय का शरीर होता है। असंख्यात सूक्ष्म वायुकायिक जीवों के जितने शरीर होते हैं, उतना एक सूक्ष्म अग्निकाय का शरीर होता है। असंख्य सूक्ष्म अग्निकाय के जितने शरीर होते हैं, उतना एक सूक्ष्म अप्काय का शरीर होता है। असंख्य सूक्ष्म अप्काय के जितने शरीर होते हैं, उतना एक सूक्ष्म पृथ्वीकाय का शरीर होता है, असंख्य सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जितने शरीर होते हैं, उतना एक बादर वायुकाय का शरीर होता है। असंख्य बादर वायुकाय के जितने शरीर होते हैं, उतना एक बादर अग्निकाय का शरीर होता है। असंख्य बादर अग्निकाय के जितने शरीर होते हैं, उतना एक बादर अप्काय शरीर होता है। असंख्य बादर अप्काय के जितने शरीर होते हैं, उतना एक बादर पृथ्वीकाय का शरीर होता है। हे गौतम ! (अप्काय आदि अन्य कायों की अपेक्षा) इतना बड़ा (महाकाय) पृथ्वीकाय का शरीर होता है।

विवेचन—पृथ्वीकाय के शरीर की महाकायता का माप—प्रस्तुत सू. ३१ में पृथ्वीकाय का शरीर दूसरे अप्कायादि की अपेक्षा कितना बड़ा है ? इसका सदृष्टान्त निरूपण किया गया है।

मापकयंत्र—१-असंख्य सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों के शरीर—एक सूक्ष्म वायुशरीर,

२-असंख्य सूक्ष्म वायुकायिक-शरीर—एक सूक्ष्म अग्निशरीर,

३-असंख्य सूक्ष्म अग्निशरीर—एक सूक्ष्म अप्काय शरीर,

४-असंख्य सूक्ष्म अप्कायशरीर—एक सूक्ष्म पृथ्वीशरीर,

५-असंख्य सूक्ष्म पृथ्वीशरीर—एक बादर वायुशरीर,

६-असंख्य बादर वायुशरीर—एक बादर अग्निशरीर,

७-असंख्य बादर अग्निशरीर—एक बादर अप्कायशरीर,

८-असंख्य बादर अप्कायशरीर—एक बादर पृथ्वीशरीर।

पृथ्वीकाय के शरीर की अवगाहना

३२. पुढविकायस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स वण्णगपेसिया सिया तरुणी बलवं जुगवं

जुवाणी अप्पातंका, वण्णओ, जाव निउणसिप्पोवगया, नवरं 'चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयणिचितगत्तकाया' न भण्णति, सेसं तं चेव जाव निउणसिप्पोवगया, तिक्खाए वइरामईए सण्हकरणीए तिक्खेणं वइरामएणं वट्टावरएणं एगं महं पुढविकायं जउगोलासमाणं गहाय पडिसाहरिय पडिसाहरिय पडिसंखिविय पडिसंखिविय जाव 'इणामेव' त्ति कट्टु तिसत्तखुत्तो ओपीसेज्जा। तत्थ णं गोयमा ! अत्थेगइया पुढविकाइया आलिद्धा, अत्थेगइया नो आलिद्धा, अत्थेगइया संघट्टिया, अत्थेगइया नो संघट्टिया, अत्थेगइया परियाविया, अत्थेगइया नो परियाविया, अत्थेगइया उद्दविया, अत्थेगइया नो उद्दविया, अत्थेगइया पिट्ठा, अत्थेगइया नो पिट्ठा; पुढविकाइयस्स णं गोयमा ! एमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता।

[३२ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकाय के शरीर की कितनी बड़ी (महती) अवगाहना कही गई है?

[३२ उ.] गौतम! जैसे कोई तरुणी, बलवती, युगवती, युवावय-प्राप्त, रोगरहित इत्यादि वर्णन-युक्त यावत् कलाकुशल, चातुरन्त (चारों दिशाओं के अन्त तक जिसका राज्य हो, ऐसे) चक्रवर्ती राजा की चन्दन घिसने वाली दासी हो। (विशेष यह है कि यहाँ चर्मेष्ट, द्रुघण, मौष्टिक आदि व्यायाम-साधनों ने सुदृढ़ बने हुए शरीर वाली, इत्यादि विशेषण नहीं कहने चाहिए। क्योंकि इन व्यायामयोग्य साधनों की प्रवृत्ति स्त्री के लिए अनुचित एवं अयोग्य होती है।) ऐसी शिल्पनिपुण दासी, चूर्ण पीसने की वज्रमयी कठोर (तीक्ष्ण) शिला पर वज्रमय तीक्ष्ण (कठोर) लोढ़े (बट्टे) से लाख के गोले के समान, पृथ्वीकाय (मिट्टी) का एक बड़ा पिण्ड लेकर बार-बार इकट्ठा करती और समेटती (संक्षिप्त करती) हुई—'मैं अभी इसे पीस डालती हूँ', यों विचार कर उसे इक्कीस बार पीस दे तो हे गौतम ! कई पृथ्वीकायिक जीवों का उस शिला और लोढ़े (शिलापुत्रक) से स्पर्श होता है और कई पृथ्वीकायिक जीवों का स्पर्श नहीं होता। उनमें से कई पृथ्वीकायिक जीवों का घर्षण होता है और कई पृथ्वीकायिकों का घर्षण नहीं होता। उनमें से कुछ को पीड़ा होती है, कुछ को पीडा नहीं होती। उनमें से कई मरते (उपद्रवित होते) हैं, कई नहीं होते तथा कई पीसे जाते हैं और कई नहीं पीसे जाते। गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव के शरीर की इतनी बड़ी (या सूक्ष्म) अवगाहना होती है।

विवेचन—पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर की अवगाहना—प्रस्तुत सूत्र ३२ में जो प्रश्न पूछा गया है, उसका शब्दशः अर्थ होता है—पृथ्वीकायिक जीव की शरीरावगाहना कितनी बड़ी होती है? इस प्रश्न का समाधान दिया गया है कि चक्रवर्ती की बलिष्ठ एवं सुदृढ़ शरीर वाली तरुणी द्वारा वज्रमय शिला पर पृथ्वी का बड़ा सा गोला पूरी शक्ति लगा कर २१ बार पीसने पर भी बहुत से पृथ्वीकण यों के यों रह जाते हैं; शिला पर उनका चूर्ण नहीं होता, वे घर्षणविहीन रह जाते हैं, इत्यादि वर्णन पर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पृथ्वीकाय के जीव अत्यन्त सूक्ष्म अवगाहना वाले होते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—वण्णग-पेसिया—चंदन पीसने वाली दासी। **जुगवं**—युगवती—उस युग में यानी चौथे आरे में पैदा हुई हो, ऐसी। **जुवाणी**—युवावस्था-प्राप्त। **अप्पातंका**—आतंक अर्थात् दुःसाध्य रोग से

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६७ (ख) भगवती. विवेचन, (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७९१

रहित। **निउणसिप्पोवगया**—शिल्प में निपुणता-प्राप्त। **तिक्खाए वइरामइए सण्हकरणीय**—तीक्ष्ण-कठोर वज्रमय पीसने की शिला से। **वट्टावरएणं**—प्रधान शिलवट्टे (शिलापुत्र—लोढ़े) से। **जउगोलासमाणं**—लाख के गोले के समान। **पडिसाहरिय**—बारंबार पिण्डरूप में इकट्ठा करती हुई। **पडिसंखिविय**—समेटती हुई। **ति-सत्तक्खुत्तो**—२१ बार। **उप्पीसेज्जा**—जोर से (पूरी ताकत लगा कर) पीसे। **आलिद्धा**—लगते-चिपटते हैं, या स्पर्श करते हैं। **संघट्टिया**—रगड़े जाते हैं, संघर्षित होते हैं। **परियाविया**—पीड़ित होते हैं। **उद्दविया**—मारे जाते हैं या उपद्रवित होते हैं। **पिट्ठा**—पिस जाते हैं। **एमहालिया**—इतनी महती-अतिसूक्ष्म। **चम्मेट्ठ-दुहण-मुट्ठिय-समाहयणिचित्त गत्तकाया**—चर्मेष्ट, द्रुघण और मौष्टिकादि व्यायाम-साधनों से सुदृढ हुए शरीरयुक्त।

एकेन्द्रिय जीवों की अनिष्टतरवेदनानुभूति का सदृष्टान्त निरूपण

३३. पुढविकाइए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरति ?

गोयमा ! से जहानामए केयि पुरिसे तरुणे बलवं जाव निउणसिप्पोवगए एगं पुरिसं जुण्णं जराजज्जरियदेहं जाव दुब्बलं किलंतं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणिज्जा, से णं गोयमा ! पुरिसे तेणं पुरिसेणं जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहए समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ ?

'अणिट्ठं समणाउसो!'

तस्स णं गोयमा ! पुरिसस्स वेदणाहिंतो पुढविकाए अक्कंते समाणे एत्तो अणिट्ठतरियं चेव अकंततरियं जाव अमणामतरियं चेव वेयणं पंच्चणुभवमाणे विहरइ।

[३३ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव को आक्रान्त करने (दबाने या पीड़ित करने) पर वह कैसी वेदना (पीडा) का अनुभव करता है ?

[३३ उ.] गौतम! जैसे कोई तरुण, बलिष्ठ यावत् शिल्प में निपुण हो, वह किसी वृद्धावस्था से जीर्ण, जराजर्जरित देह वाले यावत् दुर्बल, ग्लान (क्लान्त) के सिर पर मुष्टि से प्रहार करे (मुक्का मारे) तो उस पुरुष द्वारा मुक्का मारने पर वृद्ध कैसी पीड़ा का अनुभव करता है ?

[गौतम—] आयुष्मन् श्रमणप्रवर ! भगवन् ! वह वृद्ध अत्यन्त अनिष्ट पीड़ा का अनुभव करता है।

[भगवान्—] इसी प्रकार, हे गौतम! पृथ्वीकायिक जीव को आक्रान्त किये जाने पर, वह उस वृद्धपुरुष को होने वाली वेदना की अपेक्षा अधिक अनिष्टतर (अप्रिय) यावत् अमनामतर (अत्यन्त अमनोज्ञ) पीड़ा का अनुभव करता है।

३४. आउयाए णं भंते ! संघट्टिए समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ ?

गोयमा ! जहा पुढविकाए एवं चेव।

[३४ प्र.] भगवन्! अप्कायिक जीव को स्पर्श या घर्षण (संघट्ट) किये जाने पर वह कैसी वेदना का अनुभव करता है?

[३४ उ.] गौतम! पृथ्वीकायिक जीवों के समान अप्काय के जीवों के विषय में समझना चाहिए।

३५. एवं तेउयाए वि।

[३५] इसी प्रकार अग्निकाय के विषय में भी जानना।

३६. एवं वाउकाए वि।

[३६] वायुकायिक जीवों के विषय में भी पूर्ववत् जानना।

३७. एवं वणस्सतिकाए वि जाव विहरइ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एगूणवीसइमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो॥ १९-३ ॥

[३७] इसी प्रकार वनस्पतिकाय भी पूर्ववत् यावत् पीड़ा का अनुभव करता है।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—पांच स्थावर जीवों की पीड़ा का सदृष्टान्त निरूपण—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ३३ से ३७ तक) में पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों की पीड़ा की बलिष्ठ युवक द्वारा सिर पर मुष्टि प्रहार से आहत जराजीर्ण अशक्त वृद्ध की पीड़ा से तुलना करके समझाया गया है। वह इसलिए कि पृथ्वीकायिकादिं एकेन्द्रिय जीवों को किस प्रकार की पीड़ा होती है, यह छद्मस्थ पुरुषों के इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता और न उनके ज्ञान का विषय हो सकता है। इसलिए भगवान् ने जराजीर्ण वृद्ध पुरुष का दृष्टान्त देकर बतलाया है। वस्तुतः पृथ्वीकायादि के जीव तो उक्त वृद्ध पुरुष की अपेक्षा भी अतीव अनिष्टतर अमनोज्ञ महावेदना का अनुभव करते हैं।[१]

कठिन शब्दार्थ—अक्कंते—आक्रान्त, आक्रमण होने पर। **जमलपाणिणा**—मुष्टि से, दोनों हाथों से। **मुद्धाणंसि**—मस्तक पर। **एत्तोवि**—इससे भी।[२]

॥ उन्नीसवाँ शतक-तृतीय उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७९३
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६७

२. (क) वही, पत्र ७६७
   (ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २७९२

चउत्थो उद्देसओ : 'महासवा'

चतुर्थ उद्देशक : 'महास्त्रव'

नैरयिकों में महास्त्रवादि पदों की प्ररूपणा

१. [1] सिय भंते ! नेरइया महस्सवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ?

णो इणट्ठे-समट्ठे १।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव महास्त्रव, महाक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं ?

[१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (यथार्थ) नहीं है।

२. सियं भंते ! नेरइया महस्सवा महाकिरिया महावेदणा अप्पनिज्जरा ?

हंता, सिया २।

[२ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक जीव महास्त्रव, महाक्रिया, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[२ उ.] हाँ, गौतम! ऐसे होते हैं।

३. सिय भंते ! नेरइया महस्सवा महाकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ३।

[३ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक जीव महास्त्रव, महाक्रिया, अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं ?

[३ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

४. सिय भंते ! नेरइया महस्सवा महाकिरिया अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ४।

[४ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक महास्त्रव, महाक्रिया, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[४ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

५. सिय भंते ! नेरइया महस्सवा अप्पकिरिया महावेदणा महानिज्जरा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ५।

[५ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक, महास्त्रव, अल्पक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं ?

---

१. **अधिक पाठ**—उद्देशक के प्रारम्भ में किसी प्रति में इस प्रकार का पाठ है—

— **'तेण कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी'**

[५ उ.] गौतम! यह समर्थ नहीं है।

६. सिय भंते ! नेरइया महस्सवा अप्पकिरिया महावेदणा अप्पनिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ६।

[६ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक महास्रव, अल्पक्रिया, महावेदना तथा अल्पनिर्जरा वाले होते हैं ?

[६ उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है।

७. सिय भंते ! नेरइया महस्सवा अप्पकिरियां अप्पवेदणा महानिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ७।

[७ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक, महास्रव, अल्पक्रिया, अल्पवेदना एवं महानिर्जरा वाले होते हैं ?

[७ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

८. सिय भंते ! नेरतिया महस्सवा अप्पकिरिया अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ८।

[८ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक महास्रव, अल्पक्रिया, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं ?

[८ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

९. सिय भंते ! नेरइया अप्पस्सवा महाकिरिया महावेदणा महानिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ९।

[९ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक अल्पास्रव, महाक्रिया, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[९ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१०. सिय भंते ! नेरइया अप्पस्सवा महाकिरिया महावेदणा अप्पनिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे १० ।

[१० प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक अल्पास्रव, महाक्रिया, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[१० उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

११. सिय भंते ! नेरइया अप्पस्सवा महाकिरिया अप्पवेयणा महानिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ११।

[११ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक अल्पास्रव, महाक्रिया, अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं ?

[११ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१२. सिय भंते ! नेरइया अप्पस्सवा महाकिरिया अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?

णो इणट्ठे समट्ठे १२ ।

[१२ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक अल्पास्रव, महाक्रिया, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं ?

[१२ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१३. सिय भंते ! नेरइया अप्पस्सवा अप्पकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे १३ ।

[१३ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक अल्पास्रव, अल्पक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं ?

[१३ उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४. सिय भंते ! नेरतिया अप्पस्सवा अप्पकिरिया महावेदणा अप्पनिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे १४ ।

[१४ प्र.] भगवन्! क्या नैरयिक अल्पास्रव, अल्पक्रिया, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[१४ उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१५. सिय भंते ! नेरइया अप्पसवा अप्पकिरिया अप्पवेदणा महानिज्जरा ?

नो इणट्ठे समट्ठे १५ ।

[१५ प्र.] भगवन्! नैरयिक अल्पास्रव, अल्पक्रिया, अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं ?

[१५ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१६. सिय भंते ! नेरतिया अप्पस्सवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ?

णो इणट्ठे समट्ठे १६ । एते सोलस भंगा।

[१६ प्र.] भगवन्! नैरयिक कदाचित् अल्पास्रव, अल्पक्रिया, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[१६ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

ये सोलह भंग (विकल्प) हैं।

विवेचन—महास्रवादि चतुष्क के सोलह भंगों में नैरयिक का भंग—प्रस्तुत १६ सूत्रों में महास्रवादि चतुष्क के १६ भंग दिये गए हैं। जीवों के शुभाशुभ परिणामों के अनुसार आस्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा, ये चार बातें होती हैं। परिणामों की तीव्रता के कारण ये चारों महान् रूप में और परिणामों की मन्दता के कारण ये चारों अल्प रूप में परिणत होती हैं। किन जीवों में किस की महत्ता और किस की अल्पता पाई जाती है ? यह बताने हेतु आस्रवादि चार के सोलह भंग बनते हैं। सुगमता से समझने के लिए रेखाचित्र दे रहे हैं—

('म' से महा और 'अ' से अल्प समझना)

१ म. म. म. म.	५ म. अ. म. म.	९. अ. म. म. म.	१३ अ. अ. म. म.
२ म. म. म. अ.	६ म. अ. म. अ.	१०. अ. म. म. अ.	१४ अ. अ. म. अ.
३ म. म. अ. म.	७ म. अ. अ. म.	११. अ. म. अ. म.	१५ अ. अ. अ. म.
४ म. म. अ. अ.	८ म. अ. अ. अ.	१२. अ. म. अ. अ.	१६ अ. अ. अ. अ.

नैरयिकों में इन सोलह भंगों में से दूसरा भंग ही पाया जाता है, क्योंकि नैरयिकों के कर्मों का बन्ध बहुत होता है, इसलिए वे **महास्रवी** हैं। उनके कायिकी आदि बहुत क्रियाएँ होती हैं, इसलिए वे महाक्रिया वाले हैं। उनके असातावेदनीय का तीव्र उदय है, इस कारण वे महावेदना वाले हैं। उनमें अविरति परिणामों के होने से सकामनिर्जरा तो होती नहीं, अकामनिर्जरा होती है, पर वह अत्यल्प होती है। इसलिए वे अल्पनिर्जरा वाले हैं। इस प्रकार नैरयिकों में महास्रव, महाक्रिया, महावेदना और अल्पनिर्जरा, यह द्वितीय भंग ही पाया जाता है।[1]

असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक में महास्रव आदि चारों पदों की प्ररूपणा

१७. सिय भंते ! असुरकुमारा महस्सवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ?

णो इणट्ठे समट्ठे। एवं चउत्थो भंगो भाणियव्वो। सेसा पण्णरस भंगा खोडेयव्वा।

[१७ प्र.] भगवन्! क्या असुरकुमार महास्रव, महाक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं ?

[१७ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

इस प्रकार यहाँ (पूर्वोक्त सोलह भंगों में से) केवल चतुर्थ भंग कहना चाहिए, शेष पन्द्रह भंगों का निषेध करना चाहिए।

१८. एवं जाव थणियकुमारा।

[१८] इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक समझना चाहिए।

१९. सियं भंते ! पुढविकाइया महस्सवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ?

हंता, सिया।

[१९ प्र.] भगवन्! क्या पृथ्वीकायिक जीव कदाचित् महास्रव, महाक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं ?

[१९ उ.] हाँ, गौतम! कदाचित् होते हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६७

(ख) भगवती भा. ६, विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २७९८-९९

२०. एवं जाव सिय भंते ! पुढविकाइया अप्पस्सवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ?

हंता, सिया १६।

[२० प्र.] भगवन्! क्या इसी प्रकार पृथ्वीकायिक यावत् सोलहवें भंग—अल्पास्रव, अल्पक्रिया, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले—कदाचित् होते हैं ?

[२० उ.] हाँ, गौतम! वे कदाचित् सोलहवें भंग तक होते हैं।

२१. एवं जाव मणुस्सा।

[२१] इसी प्रकार मनुष्यों तक जानना चाहिए।

२२. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एगूणवीसइमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो॥ १९-४॥

[२२] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों के विषय में असुरकुमारों के समान जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक महास्रवादि-प्ररूपणा—सूत्र १७ से २२ तक का फलितार्थ यह है कि भवनपति (असुरकुमारादि दश प्रकार के), वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में—महास्रव, महाक्रिया, अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा—यह चौथा भंग पाया जाता है, शेष १५ भंग नहीं पाए जाते, क्योंकि ये चारों प्रकार के देव विशिष्ट अविरति से युक्त होने से महास्रव और महाक्रिया वाले होते हैं, तथा इन चारों में असातावेदनीय का उदय प्राय: नहीं होता, इसलिए वेदना अल्प होती है और निर्जरा भी प्राय: अशुभ परिणाम होने से अल्प होती है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य इन सभी दण्डकों में परिणामानुसार कदाचित् पूर्वोक्त १६ ही भंग पाये जाते हैं।[१]

खोडेयव्वा—निषेध करना चाहिए।[२]

॥ उन्नीसवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. (क) फलितार्थगाथा—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६८

(ख) '**बीएण उ नेरइया होंति, चउत्थेण सुरगणा सव्वे।**

ओरालसरीरा पुण सव्वेहिं पएहिं भणियव्वा॥'

२. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २८००

पंचमो उद्देसओ : 'चरम'

पंचम उद्देशक : 'चरम' (परम-वेदनादि)

चरम और परम आधार पर चौवीस दण्डकों में महाकर्मत्व-अल्पकर्मत्व आदि का निरूपण

१. अत्थि णं भंते ! चरमा वि नेरतिया, परमा वि नेरतिया ?

हंता, अत्थि।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक चरम (अल्पायुष्क) भी हैं और परम (अधिक आयुष्य वाले) भी हैं ?

[१ उ.] हाँ, गौतम! (वे चरम भी हैं, परम भी) हैं

२. [१] से नूणं भंते! चरमेहिंतो नेरइएहिंतो परमा नेरतिया महाकम्मतरा चेव, महाकिरियतरा चेव, महस्सवतरा चेव, महावेयणतरा चेव, परमेहिंतो वा नेरइएहिंतो चरमा नेरतिया अप्पकम्मतरा चेव, अप्पकिरियतरा चेव, अप्पस्सवतरा चेव, अप्पवेयणतरा चेव ?

हंता गोयमा ! चरमेहिंतो नेरइएहिंतो परमा जाव महावेयणतरा चेव; परमेहिंतो वा नेरइएहिंतो चरमा नेरइया जाव अप्पवेयणतरा चेव।

[२-१ प्र.] भगवन्! क्या चरम नैरयिकों की अपेक्षा परम नैरयिक महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महास्रव वाले और महावेदना वाले हैं ? तथा परम नैरयिकों की अपेक्षा चरम नैरयिक अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्पास्रव और अल्पवेदना वाले हैं ?

[२-१ उ.] हाँ, गौतम! चरम नैरयिकों की अपेक्षा परम नैरयिक यावत् महावेदना वाले हैं और परम नैरयिकों की अपेक्षा चरम नैरयिक यावत् अल्पवेदना वाले हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव अप्पवेयणतरा चेव ?

गोयमा ! ठितिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अप्पवेयणतरा चेव।

[२-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि परम नैरयिकों की अपेक्षा चरम नैरयिक यावत् अल्पवेदना वाले हैं ?

[२-२ उ.] गौतम! स्थिति (आयुष्य) की अपेक्षा से (ऐसा है।) इसी कारण, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि ······ यावत्—'अल्पवेदना वाले हैं।'

३. अत्थि णं भंते ! चरमा वि असुरकुमारा, परमा वि असुरकुमारा ?

एवं चेव, नवरं विवरीयं भाणियव्वं—परमा अप्पकम्मा चरमा महाकम्मा, सेसं तं चेव। जाव थणियकुमारा ताव एमेव।

[३ प्र.] भगवन्! क्या असुरकुमार चरम भी हैं और परम भी हैं ?

[३ उ.] हाँ, गौतम! वे दोनों हैं, किन्तु विशेष यह है कि यहाँ (परम एवं चरम के सम्बन्ध में) पूर्वकथन से विपरीत कहना चाहिए। (जैसे कि—) परम असुरकुमार (अशुभकर्म की अपेक्षा) अल्पकर्म वाले हैं और चरम असुरकुमार महाकर्म वाले हैं। शेष पूर्ववत् स्तनितकुमार-पर्यन्त इसी प्रकार जानना चाहिए।

४. पुढविकाइया जाव मणुस्सा एए जहा नेरइया।

[४] पृथ्वीकायिकों से लेकर मनुष्यों तक नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

५. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[५] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के सम्बन्ध में असुरकुमारों के समान कहना चाहिए।

विवेचन—नैरयिकादि का चरम, परम के आधार पर अल्पकर्मत्वादि का निरूपण—प्रस्तुत ५ सूत्रों (१से ५ तक) में नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चरम और परम के आधार पर महाकर्मत्व अल्पकर्मत्व आदि का निरूपण किया गया है।

'चरम' और 'परम' की परिभाषा—ये दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। इनका क्रमश: अर्थ है—अल्प स्थिति (आयुष्य) वाले और दीर्घ स्थिति (लम्बी आयु) वाले।

चरम की अपेक्षा परम नैरयिक महाकर्मादि वाले क्यों ?—जिन नैरयिकों की स्थिति अल्प होती है, उनकी अपेक्षा दीर्घ स्थिति वाले नैरयिकों के अशुभकर्म अधिक होते हैं, इस कारण उनकी क्रिया, आस्रव और वेदना भी अधिकतर होती है। इसीलिए कहा गया है कि चरम की अपेक्षा परम नैरयिक महाकर्म, महाक्रिया, महास्रव और महावेदना वाले होते हैं।

परम की अपेक्षा चमर नैरयिक अल्पकर्मादि वाले क्यों ?—परम नैरयिक दीर्घ स्थिति वाले होते हैं, अत: उनकी अपेक्षा अल्प स्थिति वाले चरम नैरयिकों के अशुभकर्मादि अल्प होने से वे अल्पकर्मादि वाले होते हैं। पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय से लेकर मनुष्यों तक इसी प्रकार समझना चाहिए।

चारों प्रकार के देवों में इनसे विपरीत—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में परम (दीर्घ स्थिति वालों) की अपेक्षा चरम (अल्प स्थिति वाले) देव महाकर्मादि वाले हैं, चरम देवों की अपेक्षा परम देव अल्पकर्मादि वाले हैं, क्योंकि उनके (दीर्घ स्थिति वालों के) असाता वेदनीयादि अशुभकर्म अल्प होते हैं, इस कारण उनमें कायिकी आदि क्रियाएँ भी अल्प होती हैं, अशुभकर्मों का आस्रव भी कम होता है और उन्हें पीड़ा अत्यल्प होने से उनके वेदना भी अल्प होती है। चरम (अल्प स्थिति वाले) देव के अशुभ कर्म भी अधिक, क्रिया भी अधिक, आस्रव और वेदना भी अधिक होती है। इसीलिए कहा गया है—परम की अपेक्षा चरम देव

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६९

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचंदजी) भा. ६, पृ. २८०४

महाकर्मादि वाले होते हैं।[1]

वेदना : दो प्रकार तथा उनका चौवीस दण्डकों में निरूपण

६. कतिविधा णं भंते ! वेयणा पन्नत्ता !

गोयमा ! दुविहा वेयणा पन्नत्ता, तं जहा—निदा य अनिदा य।

[६ प्र.] भगवन्! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[६ उ.] गौतम! वेदना दो प्रकार की कही गई है, यथा—निदा वेदना और अनिदा वेदना।

७. नेरइया णं भंते ! किं निदायं वेयणं वेएंति, अनिदायं ?

जहा पन्नवणाए जाव वेमाणिय त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ एगूणवीसइमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो॥ १९-५॥

[७ प्र.] भगवन्! नैरयिक निदा वेदना वेदते हैं या अनिदा वेदना वेदते हैं ?

[७ उ.] गौतम! (इसका उत्तर) प्रज्ञापनासूत्र के (पैंतीसवें पद में उल्लिखित कथन) के अनुसार वैमानिकों तक जानना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—नैरयिकादि में दो प्रकार की वेदना—प्रस्तुत दो सूत्रों में वेदना के दो प्रकार तथा नैरयिकादि में प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक उनकी प्ररूपणा की गई है।

निदा और अनिदा वेदना—ये दोनों शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द हैं। निदा के मुख्य अर्थ यहाँ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) निदा-ज्ञान, सम्यग्विवेक आभोग, उपयोग तथा (२) निदा अर्थात्—जीव का नियत दान यानी शोधन (शुद्धि)। इन दोनों अर्थ वाली निदा से युक्त वेदना भी निदा वेदना है। अर्थात्—सम्यग्विवेकपूर्वक, ज्ञानपूर्वक या उपयोगपूर्वक (आभोगपूर्वक) वेदी जाने वाली वेदना को निदा वेदना कहते हैं। यही वेदना निश्चित रूप से जीव की शुद्धि करने वाली है। इसके विपरीत अज्ञानपूर्वक अनाभोग—(अनजानपन में) वेदी जाने वाली वेदना को अनिदा वेदना कहते हैं।[2]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६९

से नूणं भंते ! चरमेहिंतो असुरकुमारेहिंतो परमा असुरकुमारा अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेवेत्यादि।

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्र ७६९

(ख) भगवती. खंड ४ (गुजराती अनुवाद) (पं. भगवानदास दोशी) पृ. ८९

प्रज्ञापनानिर्दिष्ट तथ्य का संक्षिप्त निरूपण—नैरयिक जीवों को दोनों प्रकार की वेदना होती है। जो संज्ञी जीवों से जाकर उत्पन्न होते हैं, वे निदा वेदना वेदते हैं और असंज्ञी से जाकर उत्पन्न होने वाले अनिदा वेदना वेदते हैं। इसी प्रकार असुरकुमार आदि देवों के विषय में भी जानना चाहिए। पृथ्वीकायिक आदि से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक केवल 'अनिदा' वेदना वेदते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य और वाणव्यन्तर, ये नैरयिकों के समान दोनों प्रकार की वेदना वेदते हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक भी दोनों प्रकार की वेदना वेदते हैं। किन्तु दूसरों की अपेक्षा उनके कारण में अन्तर है। जो मायी-मिथ्यादृष्टि देव हैं, वे अनिदा वेदना वेदते हैं जबकि अमायी-सम्यग्दृष्टि देव निदा वेदना वेदते हैं।[१]

॥ उन्नीसवाँ शतक : पञ्चम उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र पद-३५, पत्र ५५६-५५७

(ख) भगवतीसूत्र, खण्ड ४, (गुजराती अनुवाद) (पं. भगवानदासजी), पृ. ८९

छट्ठो उद्देसओ : 'दीव'

छठा उद्देशक : द्वीप (-समुद्र-वक्तव्यता)

जीवाभिगमसूत्र-निर्दिष्ट-द्वीप-समुद्र-सम्बन्धी वक्तव्यता

१. कहि णं भंते ! दीव-समुद्दा ?, केवतिया णं भंते ! दीव-समुद्दा ?, किसंठिया णं भंते ! दीव-समुद्दा ?

एवं जहा जीवाभिगमे दीव-समुद्दुद्देसो सो चेव इह वि जोतिसमंडिउद्देसगवज्जो भाणियव्वो जाव परिणामो जीवउववाओ जाव अणंतखुत्तो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति.।

॥ एगूणवीसइमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो॥ १९-६ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! द्वीप और समुद्र कहाँ हैं ? भगवन्! द्वीप और समुद्र कितने हैं ? भगवन्! द्वीप-समुद्रों का आकार (संस्थान) कैसा कहा गया है ?

[१ उ.] (गौतम!) यहाँ जीवाभिगमसूत्र की तृतीय प्रतिपत्ति में, ज्योतिष्क-मण्डित उद्देशक को छोड़कर, द्वीप-समुद्र-उद्देशक (में उल्लिखित वर्णन) यावत् परिणाम, जीवों का उत्पाद और यावत् अनन्त बार तक कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—द्वीप-समुद्र कहाँ, कितने और किस आकार के ?—प्रस्तुत उद्देशक में द्वीप-समुद्र सम्बन्धी वक्तव्यता जीवाभिगमसूत्र तृतीय प्रतिपत्ति के अतिदेशपूर्वक प्रतिपादन की गई है। जीवाभिगम में द्वीपसमुद्रोद्देशक में वर्णित 'ज्योतिष्कमण्डित' प्रकरण को छोड़ देना चाहिए तथा परिणाम और उत्पाद तक का जो वर्णन द्वीप-समुद्र से सम्बन्धित है, वही यहाँ जानना चाहिए।

द्वीप-समुद्रों का संक्षिप्त परिचय—स्वयम्भूरमणसमुद्र तक असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। जम्बूद्वीप इनमें से विशिष्ट द्वीप है, जिसका संस्थान (आकार) चन्द्रमा या थाली के समान गोल है। शेष सब द्वीप-समुद्रों का संस्थान चूड़ी के समान वलयाकार गोल है। क्योंकि ये एक दूसरे को चारों ओर से घेरे हुए हैं। इनमें जीव पहले अनेक बार या अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं।

परिणाम और उपपात से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—[प्र.] (१) भगवन् ! क्या सभी द्वीप-समुद्र पृथ्वी के परिणामरूप हैं ? (२) भगवन्! क्या द्वीप-समुद्रों में सर्वजीव पहले पृथ्वीकायादिरूप में कई बार उत्पन्न हुए हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने कहा—हाँ, गौतम ! सभी जीव अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं।[१]

॥ उन्नीसवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७६९-७७०

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २८०६

(ग) जीवाभिगम प्रतिपत्ति ३, पत्र १७६-२७३, सू. १२३-१९० (आगमोदय.)

सत्तमो उद्देसओ : 'भवणा'

सप्तम उद्देशक : भवन (-विमानावाससम्बन्धी)

चतुर्विध देवों के भवन-नगर-विमानावास-संख्यादि-निरूपण

१. केवतिया णं भंते ! असुरकुमारभवणावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चोयट्ठिं असुरकुमारभवणावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने लाख भवनावास कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम! असुरकुमारों के चौसठ लाख भवनावास कहे गए हैं।

२. ते णं भंते! किंमया पन्नत्ता ?

गोयमा ! सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा। तत्थ णं बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति, सासया णं ते भवणा दव्वट्ठयाए, वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासया।

[२ प्र.] भगवन्! वे भवनावास किससे बने हुए हैं ?

[२ उ.] गौतम! वे भवनावास रत्नमय हैं, स्वच्छ, श्लक्ष्ण (चिकने या कोमल) यावत् प्रतिरूप (सुन्दर) हैं। उनमें बहुत-से जीव और पुद्गल उत्पन्न होते हैं, विनष्ट होते हैं, च्यवते हैं और पुन: उत्पन्न होते हैं। वे भवन द्रव्यार्थिक रूप से शाश्वत हैं, किन्तु वर्णपर्यायों, यावत् स्पर्शपर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत हैं।

३. एवं जाव थणियकुमारावास।

[३] इसी प्रकार स्तनितकुमारावासों तक जानना चाहिए।

४. केवतिया णं भंते ! वाणमंतरभोमेज्जनगरावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरभोमेज्जनगरावाससयसहस्सा पन्नत्ता।

[४ प्र.] भगवन्! वाणव्यन्तर देवों के भूमिगत नगरावास कितने लाख कहे गए हैं ?

[४ उ.] गौतम! वाणव्यन्तर देवों के भूमि के अन्तर्गत असंख्यात लाख नगरावास कहे गए हैं।

५. ते णं भंते ! किंमया पन्नत्ता ?

सेसं तं चेव।

[५ प्र.] भगवन्! वाणव्यन्तरों के वे नगरावास किससे बने हुए हैं ?

[५ उ.] गौतम! समग्र वक्तव्यता पूर्ववत् समझनी चाहिए।

६. केवतिया णं भंते ! जोतिसियविमाणावाससयसहस्सा० पुच्छा ?

गोयमा ! असंखेज्जा जोतिसियविमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता।

[६ प्र.] भगवन्! ज्योतिष्क देवों के विमानावास कितने लाख कहे गए हैं ?

[६ उ.] गौतम! (उनके विमानावास) असंख्येय लाख कहे गए हैं।

७. ते णं भंते ! किंमया पन्नत्ता ?

गोयमा ! सव्वफालिहामया अच्छा, सेसं तं चेव।

[७ प्र.] भगवन्! वे विमानावास किस वस्तु से निर्मित हैं ?

[७ उ.] गौतम! वे विमानावास सर्वस्फटिकरत्नमय हैं और स्वच्छ हैं; शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए।

८. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे केवतिया विमाणावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा! बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा०।

[८ प्र.] भगवन्! सौधर्मकल्प में कितने लाख विमानावास कहे गए हैं ?

[८ उ.] गौतम! उसमें बत्तीस लाख विमानावास कहे गए हैं।

९. ते णं भंते ! किंमया पन्नत्ता ?

गोयमा ! सव्वरयणामया अच्छा, सेसं तं चेव।

[९ प्र.] भगवन्! वे विमानावास किस वस्तु के बने हुए हैं ?

[९ उ.] गौतम! वे सर्वरत्नमय हैं, स्वच्छ हैं, शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

१०. एवं जाव अणुत्तरविमाणा, नवरं जाणियव्वा जत्तिया भवणा विमाणा वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ एगूणवीसइमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो॥ १९-७॥

[१०] इसी प्रकार (का वर्णन ईशानकल्प से लेकर) अनुत्तरविमान तक कहना चाहिए। विशेष यह है कि जहाँ जितने भवन या विमान (शास्त्र-निर्दिष्ट) हों, (उतने कहने चाहिए।)

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—देवों के भवनावासों और विमानावासों की संख्यादि—प्रस्तुत १० सूत्रों (सू. १ से १० तक) में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के भवनावास, नगरावास एवं विमानावासों की संख्या कितनी-कितनी है? किस वस्तु से वे निर्मित हैं तथा वे कैसे हैं? इत्यादि सब वर्णन इस उद्देशक में किया गया है।

नीचे लिखे रेखाचित्र से इस उद्देशक का वक्तव्य सरलता से समझ में आ जाएगा—

देव-नाम	भवनावास, विमानावास या नगरावास कथंचित् शाश्वत आश्वत	किंमय	कैसे ?	कितने ?
भवनपति देव	भवनावास	सर्व रत्न मय	स्वच्छ, श्लक्ष्ण, निर्मल कोमल, घृष्ट मृष्ट, कान्ति-	६४ लाख
वाणव्यन्तर देव	भूमिगत नगरावास	सर्व रत्न मम	मय, मलविहीन, उद्योत	असंख्यात लाख
ज्योतिष्क देव	विमानावास	सर्व स्फटिक मय	सहित, प्रसन्नताजनक	असंख्यात लाख
वैमानिक सौधर्मकल्प देव	विमानावास	सर्व रत्न मय	दर्शनीय, अतिरम्य	बत्तीस लाख
ईशानकल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	२८ लाख
सनत्कुमारकल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	१२ लाख
माहेन्द्रकल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	८ लाख
ब्रह्मलोककल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	४ लाख
लान्तककल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	५० हजार
महाशुक्रकल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	४० हजार
सहस्रारकल्प	,, ,,	,, ,,	,, ,,	६ हजार
आणत-प्राणत	,, ,,	,, ,,	,, ,,	४००
आरण-अच्युत	,, ,,	,, ,,	,, ,,	३००
नौ ग्रैवेयक अनुत्तर विमान	,, ,,	,, ,,	,, ,,	क्रमशः ९ और १

कठिन शब्दार्थ—दव्वट्ठयाए—द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से। **किंमया**—किससे बने हैं, कैसे हैं। **सव्वफालिहामया**—सर्वस्फटिकरत्नमय।

वक्कमंति : विशेषार्थ—जो पहले वहाँ कभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, वे उत्पन्न होते हैं।

विउक्कमंति—(१) विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, (२) विनष्ट होते हैं।

चयंति—च्यवते हैं, मरते हैं, च्युत होते हैं—निकलते हैं।

उववज्जंति—पुनः उत्पन्न होते हैं।

॥ उन्नीसवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त॥

OOO

१. (क) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. १३, पृ. ४१२-४१३

(ख) वियाहपण्णत्ति भा. २, मू.पा.टि. पृ. ८४५

२. (क) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. २८०७-८

(ख) भगवती. भा. १३, (प्र.चं.टिका), पृ. ४०७

अट्ठमो उद्देसओ : 'निव्वत्ति'

आठवाँ उद्देशक : निर्वृत्ति

जीव-निर्वृत्ति के भेद-अभेद का निरूपण

१. कतिविधा णं भंते ! जीवनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा जीवनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—एगिंदियजीवनिव्वत्ती जाव पंचिंदिय-जीवनिव्वत्ती।

[१ प्र.] भगवन् ! जीवनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[१ उ.] गौतम! जीवनिर्वृत्ति पांच प्रकार की कही गई है। यथा—एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति यावत् पंचेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति।

२. एगिंदियजीवनिव्वत्ती णं भंते ! कतिविधा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविधा पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइयएगिंदियजीवनिव्वत्ती जाव वणस्सइकाइय-एगिंदियजीवनिव्वत्ती।

[२ प्र.] भगवन्! एकेन्द्रियजीव-निर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[२ उ.] गौतम! वह पांच प्रकार की कही गई है, यथा—पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति यावत् वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति।

३. पुढविकाइयएगिंदियजीवनिव्वत्ती णं भंते ! कतिविधा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइयएगिंदियजीवनिव्वत्ती य बायरपुढवि०।

[३ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] गौतम! वह दो प्रकार की कही गई है। यथा—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति और बादरपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति।

४. एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहा वड्डगबंधे (स. ८ उ. ९ सु. ९०-९१) तेयगसरीरस्स जाव-

सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववातियकप्पातीतवेमाणियदेवपंचेंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववातिय जाव देवपंचेंदिय-जीवनिव्वत्ती य अपज्जगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव देवपंचेंदियजीवनिव्वत्ति य।

[४] इस अभिलाप द्वारा आठवें शतक के नौवें उद्देशक के (सू. ९०-९१ में) वृहद् बन्धाधिकार में

कथित तैजसशरीर के भेदों के समान यहाँ भी जानना चाहिए, यावत्—

[४ प्र.] भगवन्! सर्वार्थसिद्धअणुत्तरौपपातिकवैमानिकदेव-पंचेन्द्रियजीवनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[४ उ.] गौतम! यह निर्वृत्ति दो प्रकार की कही गई है, यथा—पर्याप्तसर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपपातिक-वैमानिक-देवपंचेन्द्रियजीवनिर्वृत्ति और अपर्याप्तसर्वार्थसिद्धअनुत्तरौपपातिकवैमानिक-देवपंचेन्द्रियजीवनिर्वृत्ति।

विवेचन—निर्वृत्ति और जीवनिर्वृत्ति : स्वरूप और भेद-प्रभेद—निर्वृत्ति का अर्थ है—निष्पत्ति, रचना, बनावट की पूर्णता। जीवों की एकेन्द्रियादि पर्याय रूप से निष्पत्ति या पूर्ण रचना होना जीवनिर्वृत्ति है। एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से पृथ्वीकायिकादि रूप से जीव की निर्वृत्ति होना एकेन्द्रिय-जीवनिर्वृत्ति है। शेष स्पष्ट है।[१]

कर्म-शरीर-इन्द्रिय आदि १८ बोलों की निर्वृत्ति के भेदसहित चौवीस दण्डकों में निरूपण

५. कतिविधा णं भंते ! कम्मनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! अट्ठविहा कम्मनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—नाणावरणिज्जकम्मनिव्वत्ती, जाव अंतराइयकम्मनिव्वत्ती।

[५ प्र.] भगवन्! कर्मनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[५ उ.] गौतम! कर्मनिर्वृत्ति आठ प्रकार की कही गई है, यथा—ज्ञानावरणीयकर्मनिर्वृत्ति यावत् अन्तरायकर्मनिर्वृत्ति।

६. नेरतियाणं भंते ! कतिविधा कम्मनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! अट्ठविहा कम्मनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—नाणावरणिज्जकम्मनिव्वत्ती, जाव अंतराइयकम्मनिव्वत्ती।

[६ प्र.] भगवन्! नैरयिकों की कितने प्रकार की कर्मनिर्वृत्ति कही गई है ?

[६ उ.] गौतम! उनकी आठ प्रकार की कर्मनिर्वृत्ति कही गई है, यथा—ज्ञानावरणीयकर्मनिर्वृत्ति, यावत् अन्तरायकर्मनिर्वृत्ति।

७. एवं जाव वेमाणियाणं।

[७] इसी प्रकार वैमानिकों तक की कर्मनिर्वृत्ति के विषय में जान लेना चाहिए।

८. कतिविधा णं भंते ! सरीरनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविधा सरीरनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—ओरालियसरीरनिव्वत्ती जाव कम्मग-

---

१. भगवती. हिन्दीविवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २८१२

सरीरनिव्वत्ति।

[८ प्र.] भगवन्! शरीरनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[८ उ.] गौतम! शरीरनिर्वृत्ति पांच प्रकार की कही गई है, यथा औदारिकशरीरनिर्वृत्ति यावत् कार्मणशरीरनिर्वृत्ति।

९. नेरतियाणं भंते! ०

एयं चेव।

[९ प्र.] भगवन्! नैरयिकों की कितने प्रकार की शरीरनिर्वृत्ति कही गई है ?

[९ उ.] गौतम! पूर्ववत् जानना चाहिए।

१०. एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं नायव्वं जस्स जति सरीराणि।

[१०] इसी प्रकार वैमानिकों पर्यन्त कहना चाहिए। विशेष यह है कि जिसके जितने शरीर हों, उतनी निर्वृत्ति कहनी चाहिए।

११. कतिविधा णं भंते ! सव्विंदियनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा सव्विंदियनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—सोतिंदियनिव्वत्ती जाव फासिंदिय-निव्वत्ती।

[११ प्र.] भगवन्! सर्वेन्द्रियनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[११ उ.] गौतम! सर्वेन्द्रियनिर्वृत्ति पांच प्रकार की कही गई है, यथा—श्रोत्रेन्द्रियनिर्वृत्ति यावत् स्पर्शेन्द्रियनिर्वृत्ति।

१२. एवं जाव नेरइया जाव थणिकुमाराणं।

[१२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर स्तनितकुमारों पर्यन्त जानना चाहिए।

१३. पुढविकाइयाणं पुच्छा ?

गोयमा ! एगा फासिंदियसव्विंदियनिव्वत्ती पन्नत्ता।

[१३ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवों की कितनी इन्द्रियनिर्वृत्ति कही गई है ?

[१३ उ.] गौतम! उनकी एक मात्र स्पर्शेन्द्रियनिर्वृत्ति कही गई है।

१४. एवं जस्स जति इंदियाणि जाव वेमाणियाणं।

[१४] इसी प्रकार जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों उतनी इन्द्रियनिर्वृत्ति वैमानिकों पर्यन्त कहनी चाहिए।

१५. कतिविधा णं भंते ! भासानिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा भासानिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—सच्चभासानिव्वत्ती, मोसभासानिव्वत्ती, सच्चामोसभासानिव्वत्ती, असच्चामोसभासानिव्वत्ती।

[१५ प्र.] भगवन्! भाषानिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[१५ उ.] गौतम! भाषानिर्वृत्ति चार प्रकार की कही गई है, यथा—सत्यभाषानिर्वृत्ति, मृषाभाषानिर्वृत्ति, सत्यामृषाभाषानिर्वृत्ति और असत्यामृषाभाषानिर्वृत्ति।

१६. एवं एगिंदियवज्जं जस्स जा भासा जाव वेमाणियाणं।

[१६] इस प्रकार एकेन्द्रिय को छोड़ कर वैमानिकों तक, जिसके जो भाषा हो, उसके उतनी भाषानिर्वृत्ति कहनी चाहिए।

१७. कतिविहा णं भंते ! मणनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा! चउव्विहा मणनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—सच्चमणनिव्वत्ती जाव असच्चामोसमणनिव्वत्ती।

[१७ प्र.] भगवन्! मनोनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[१७ उ.] गौतम! मनोनिर्वृत्ति चार प्रकार की कही गई है, यथा—सत्यमनोनिर्वृत्ति, यावत् असत्यामृषामनोनिर्वृत्ति।

१८. एवं एगिंदिय-विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं।

[१८] इसी प्रकार एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़कर वैमानिकों तक कहना चाहिए।

१९. कतिविहा णं भंते ! कसायनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा! चउव्विहा कसायनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—कोहकसायनिव्वत्ती जाव लोभ कसायनिव्वत्ती।

[१९ प्र.] भगवन्! कषाय-निर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९ उ.] गौतम! कषायनिर्वृत्ति चार प्रकार की कही गई है, यथा—क्रोधकषायनिर्वृत्ति यावत् लोभकषायनिर्वृत्ति।

२०. एवं जाव वेमाणियाणं।

[२०] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों पर्यन्त कहना चाहिए।

२१. कतिविधा णं भंते ! वणनिव्वत्ति पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा वण्णनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—कालवण्णनिव्वत्ती जाव सुक्किलवण्णनिव्वत्ती।

[२१ प्र.] भगवन्! वर्णनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[२१ उ.] गौतम! वर्णनिर्वृत्ति पांच प्रकार की कही गई है, यथा—कृष्णवर्णनिर्वृत्ति, यावत् शुक्लवर्णनिर्वृत्ति।

२२. एवं निरवसेसं जाव वेमाणियाणं।

[२२] इस प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त समग्र वर्णनिर्वृत्ति कहनी चाहिए।

२३. एवं गंधनिव्वत्ती दुविहा जाव वेमाणियाणं।

[२३] इसी प्रकार दो प्रकार की गन्ध-निर्वृत्ति वैमानिकों तक कहनी चाहिए।

२४. रसनिव्वत्ती पंचविहा जाव वेमाणियाणं।

[२४] इसी तरह पांच प्रकार की रस-निर्वृत्ति, वैमानिकों तक कहनी चाहिए।

२५. फासनिव्वत्ति अट्ठविहा जाव वेमाणियाणं।

[२५] आठ प्रकार की स्पर्श-निर्वृत्ति भी वैमानिकों पर्यन्त कहनी चाहिए।

२६. कतिविधा णं भंते ! संठाणनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा संठाणनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—समचउरंससंठाणनिव्वत्ती जाव हुंडसंठाण-निव्वत्ति।

[२६ प्र.] भगवन्! संस्थान-निर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[२६ उ.] गौतम! संस्थान-निर्वृत्ति छह प्रकार की कही गई है, यथा—समचतुरस्रसंस्थान-निर्वृत्ति यावत् हुण्डकसंस्थान-निर्वृत्ति।

२७. नेरतियाणं पुच्छा।

गोयमा ! एगा हुंडसंठाणनिव्वत्ती पन्नत्ता।

[२७ प्र.] भगवन्! नैरयिकों के संस्थान-निर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[२७ उ.] गौतम! उनके एकमात्र हुण्डकसंस्थाननिर्वृत्ति कही गई है।

२८. असुरकुमाराणं पुच्छा।

गोयमा ! एगा समचउरंससंठाणनिव्वत्ती पन्नत्ता।

[२८ प्र.] भगवन्! असुरकुमारों के कितने प्रकार की संस्थाननिर्वृत्ति कही गई है ?

[२८ उ.] गौतम! उनके एकमात्र समचतुरस्रसंस्थान-निर्वृत्ति कही गई है।

२९. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[२९] इसी प्रकार स्तनितकुमारों पर्यन्त कहना चाहिए।

३०. पुढविकाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! एगा मसूरचंदासंठाणनिव्वत्ती पन्नत्ता।

[३० प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवों के संस्थाननिर्वृत्ति कितनी है ?

[३० उ.] गौतम! उनके एकमात्र मसूरचन्द्र-(मसूर की दाल के समान)-संस्थान-निर्वत्ति कही गई है।

३१. एवं जस्स जं संठाणं जाव वेमाणियाणं।

[३१] इस प्रकार जिसके जो संस्थान हो, तदनुसार निर्वृत्ति वैमानिकों तक कहनी चाहिए।

३२. कतिविधा णं भंते ! सन्नानिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा सन्नाणिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—आहारसन्नानिव्वत्ती जाव परिग्गह-सन्नानिव्वत्ती।

[३२ प्र.] भगवन्! संज्ञानिवृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[३२ उ.] गौतम! संज्ञानिर्वृत्ति चार प्रकार की कही गई है, यथा—आहारसंज्ञानिर्वृत्ति यावत् परिग्रह-संज्ञानिर्वृत्ति।

३३. एवं जाव वेमाणियाणं।

[३३] इस प्रकार (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक, (संज्ञानिर्वृत्ति का कथन करना चाहिए)।

३४. कतिविधा णं भंते ! लेस्सानिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा लेस्सानिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—कण्हलेस्सानिव्वत्ती जाव सुक्कलेस्सा निव्वत्ती।

[३४ प्र.] भगवन्! लेश्यानिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[३४ उ.] गौतम! लेश्यानिर्वृत्ति छह प्रकार की कही गई है, यथा—कृष्णलेश्यानिर्वृत्ति यावत् शुक्ललेश्यानिर्वृत्ति।

३५. एवं जाव वेमाणियाणं, जस्स जति लेस्साओ।

[३५] इस प्रकार (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों पर्यन्त (लेश्यानिर्वृत्ति यथायोग्य कहनी चाहिए।) परन्तु जिसके जितनी लेश्याएँ हों, उतनी ही लेश्यानिर्वृत्ति कहनी चाहिए।

३६. कतिविधा णं भंते ! दिट्ठिनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिविहा दिट्ठिनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठिनिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिनिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिनिव्वत्ती।

[३६ प्र.] भगवन्! दृष्टिनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[३६ उ.] गौतम! दृष्टिनिर्वृत्ति तीन प्रकार की कही गई है यथा—सम्यग्दृष्टिनिर्वृत्ति, मिथ्यादृष्टिनिर्वृत्ति

और सम्यग्मिथ्यादृष्टिनिर्वृत्ति।

३७. एवं जाव वेमाणियाणं, जस्स जतिविधा दिट्ठी।

[३७] इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त (दृष्टिनिर्वृत्ति कहनी चाहिए)। परन्तु, जिसके जो दृष्टि हो, (तदनुसार दृष्टिनिर्वृत्ति कहना चाहिए।)

३८. कतिविहा णं भंते ! नाणनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा नाणनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—आभिणिबोहियनाणनिव्वत्ती जाव केवलनाणनिव्वत्ती।

[३८ प्र.] भगवन्! ज्ञाननिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[३८ उ.] गौतम! ज्ञान-निर्वृत्ति पांच प्रकार की कही गई है, यथा—आभिनिबोधिक-ज्ञान-निर्वृत्ति, यावत् केवलज्ञान-निर्वृत्ति।

३९. एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं, जस्स जति नाणा।

[३९] इस प्रकार एकेन्द्रिय को छोड़कर जिसमें जितने ज्ञान हों, तदनुसार उसमें उतनी ज्ञाननिर्वृत्ति (कहनी चाहिए।)

४०. कतिविधा णं भंते ! अन्नाणनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिविहा अन्नाणनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—मइअन्नाणनिव्वत्ती सुयअन्नाणनिव्वत्ती विभंगनाणनिव्वत्ती।

[४० प्र.] भगवन्! अज्ञाननिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[४० उ.] गौतम ! अज्ञाननिर्वृत्ति तीन प्रकार की कही गई है, यथा—मति-अज्ञाननिर्वृत्ति, श्रुत-अज्ञाननिर्वृत्ति और विभंगज्ञाननिर्वृत्ति।

४१. एवं जस्स जति अन्नाणा जाव वेमाणियाणं।

[४१] इस प्रकार वैमानिकों पर्यन्त, जिसके जितने अज्ञान हों, (तदनुसार अज्ञाननिर्वृत्ति कहनी चाहिए।)

४२. कतिविधा णं भंते ! जोगनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिविहा जोगनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—मणजोगनिव्वत्ती, वइजोगनिव्वत्ती, कायजोग-निव्वत्ती।

[४२ प्र.] भगवन्! योगनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई है ?

[४२ उ.] गौतम! योगनिर्वृत्ति तीन प्रकार की कही गई है, यथा—मनोयोगनिर्वृत्ति, वचनयोगनिर्वृत्ति और काययोगनिर्वृत्ति।

४३. एवं जाव वेमाणियाणं, जस्स जतिविधो जोगा।

[४३] इस प्रकार वैमानिकों तक जिसके जितने योग हों, (तदनुसार उतनी योगनिर्वृत्ति कहनी चाहिए।)

४४. कतिविधा णं भंते ! उवयोगनिव्वत्ती पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा उवयोगनिव्वत्ती पन्नत्ता, तं जहा—सागारोवयोगनिव्वत्ती, अणागारोवयोगनिव्वत्ती।

[४४ प्र.] भगवन्! उपयोगनिर्वृत्ति कितने प्रकार की कही गई हैं ?

[४४ उ.] गौतम! उपयोगनिर्वृत्ति दो प्रकार की कही गई है, यथा—साकारोपयोग-निर्वृत्ति और अनाकारोपयोग-निर्वृत्ति।

४५. एवं जाव वेमाणियाणं।[१]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ एगूणवीसइमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो॥ १९-८॥

[४५] इस प्रकार उपयोगनिर्वृत्ति (का कथन) वैमानिकों पर्यन्त (करना चाहिए)।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—कर्म, शरीर आदि १८ बोलों की निर्वृत्ति के भेद तथा चौवीस दण्डकों में पाई जाने वाली उस-उस निर्वृत्ति की यथायोग्य प्ररूपणा—प्रस्तुत ४१ सूत्रों (सू. ५ से ४५ तक) में निर्वृत्ति के कुल १९ बोलों (द्वारों) में से प्रथम बोल—जीवनिर्वृत्ति को छोड़ कर शेष निम्नोक्त १८ बोलों की निर्वृत्ति के भेद तथा चौवीस दण्डकों में पाई जाने वाली उस-उस निर्वृत्ति का संक्षेप में कथन किया गया है।

२. कर्मनिर्वृत्ति—जीव के राग-द्वेषादिरूप अशुभभावों से जो कार्मण वर्गणाएँ ज्ञानावरणीयादि रूप परिणाम को प्राप्त होती हैं, उनका नाम कर्मनिर्वृत्ति है। यह कर्मसम्पादनरूप है और आठ प्रकार की है, जो चौवीस दण्डकों में होती है।

३. शरीरनिर्वृत्ति—विभिन्न शरीरों की निष्पति शरीरनिर्वृत्ति है। नारकों और देवों के वैक्रिय, तैजस और

---

१. **अधिक पाठ**—उद्देशक की परिसमाप्ति पर अन्य प्रतियों में निम्नोक्त दो द्वार-संग्रहणीगाथाएँ मिलती हैं—

जीवाणं निव्वत्ती कम्मप्पगडी-सरीर-निव्वत्ती।

सव्विंदिय-निव्वत्ती भासा य मणे कसाया य॥ १॥

वण्णे गंधे रसे फासे संठाणविही य होइ बोद्धव्वो।

लेसा दिट्ठी णाणे उवओगे चेव जोगे य॥ २॥

अर्थ—१. जीव, २. कर्म प्रकृति, ३. शरीर, ४. सर्वेन्द्रिय, ५. भाषा, ६. मन, ७. कषाय, ८. वर्ण, ९. गंध, १०. रस, ११. स्पर्श, १२. संस्थान, १३. संज्ञा, १४. लेश्या, १५. दृष्टि, १६. ज्ञान, १७. अज्ञान, १८. उपयोग और १९. योग; इन सबकी निर्वृत्ति का कथन इस उद्देशक में किया गया है।

कार्मण शरीरों की तथा मनुष्यों और तिर्यञ्चों के (जन्मत:) औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों की निर्वृत्ति होती है।

४. **सर्वेन्द्रियनिर्वृत्ति**—समस्त इन्द्रियों की आकार के रूप में रचना सर्वेन्द्रिय-निर्वृत्ति है। यह पांच प्रकार की है, जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों में होती है।

५. **भाषानिर्वृत्ति**—एकेन्द्रिय जीव के भाषा नहीं होती, उसके सिवाय जिस जीव के ४ प्रकार की भाषाओं में जो भाषा होती है, उस जीव के उस भाषा की निर्वृत्ति कहनी चाहिए।

६. **मनोनिर्वृत्ति**—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के सिवाय वैमानिकों पर्यन्त शेष समस्त संज्ञी पंचेन्द्रिय (समनस्क) जीवों के चार प्रकार की मनोनिवृत्ति होती है।

७. **कषायनिर्वृत्ति**—यह क्रोधादिचतुष्क कषायनिर्वृत्ति सभी संसारी जीवों के होती है।

८-९-१०-११. **वर्णादिचतुष्टयनिर्वृत्ति**—ये चारों निर्वृत्तियाँ चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के होती हैं।

१२. **संस्थाननिर्वृत्ति**—संस्थान अर्थात् शरीर के आकारविशेष की निर्वृत्ति। यह छ: प्रकार की होती है। जिस जीव के जो संस्थान होता है, उसके वैसी संस्थाननिर्वृत्ति होती है। यथा—नारकों और विकलेन्द्रियों के हुण्डकसंस्थान होता है, भवनपति आदि चारों प्रकार के देवों के समचतुरस्रसंस्थान होता है, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य के छहों प्रकार के संस्थान होते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के मसूर की दाल के आकार का, अप्कायिक जीवों में जलबुद्‌बुद्‌सम, तेजस्कायिक जीवों के सूचीकलाप जैसा, वायुकायिक जीवों के पताका जैसा और वनस्पतिकायिक जीवों के नानाविध संस्थान होता है। तदनुसार उसकी निर्वृत्ति समझनी चाहिए।

१३. **संज्ञानिर्वृत्ति**—आहारादि संज्ञाचतुष्टय निर्वृत्ति चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के होती है।

१४. **लेश्यानिर्वृत्ति**—जिस जीव में जो-जो लेश्याएँ हों उसके उतनी लेश्यानिर्वृत्ति कहनी चाहिए।

१५. **दृष्टिनिर्वृत्ति**—त्रिविध दृष्टिनिर्वृत्तियों में से जिन जीवों में जितनी दृष्टियाँ पाई जाती हों उनके उतनी दृष्टिनिर्वृत्ति कहनी चाहिए।

१६.-१७. **ज्ञान-अज्ञान निर्वृत्ति**—आभिनिबोधिकादि रूप से जो ज्ञान की परिणति होती है उसे ज्ञाननिर्वृत्ति कहते हैं। यों तो एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय नारकों से लेकर वैमानिकों तक के सब जीवों में ज्ञाननिर्वृत्ति होती है परन्तु समस्त ज्ञाननिर्वृत्तियां सबको नहीं होती। किसी को एक, किसी को दो, तीन या चार ज्ञान तक होते हैं। अत: जिसे जो ज्ञान हो, उसी की निर्वृत्ति उस जीव के होती है। अज्ञाननिर्वृत्ति भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिए।

१८. **योगनिर्वृत्ति**—त्रिविध योगों में से जिस जीव के जो योग हो, उसी की निर्वृत्ति होती है।

१९. **उपयोगनिर्वृत्ति**—द्विविध है, जो समस्त संसारी जीवों के होती है।[१]

॥ उन्नीसवां शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त॥

OOO

---

१. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भाग १३, पृ. ४२५ से ४४७ तक के आधार पर

नवमो उद्देसओ : 'करण'

नौवाँ उद्देशक : करण

द्रव्यादि पंचविध करण और नैरयिकादि में उनकी प्ररूपणा

१. कतिविधे णं भंते ! करणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे करणे पन्नत्ते, तं जहा—दव्वकरणे खेत्तकरणे कालकरणे भवकरणे भावकरणे।

[१ प्र.] भगवन् ! करण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम! करण पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—(१) द्रव्यकरण, (२) क्षेत्रकरण, (३) कालकरण, (४) भवकरण और (५) भावकरण।

२. नेरतियाणं भंते! कतिविधे करणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे करणे पन्नत्ते, तं जहा—दव्वकरणे जाव भावकरणे।

[२ प्र.] भगवन्! नैरयिकों के कितने करण कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम! उनके पांच प्रकार के करण कहे गए हैं, यथा—द्रव्यकरण यावत् भावकरण।

३. एवं जाव वेमाणियाणं।

[३] (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक इसी प्रकार (का कथन करना चाहिए।)

विवेचन—करण : स्वरूप, प्रकार और चौवीस दण्डकों में करणों का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों में करणों के प्रकार और नैरयिकादि में पाए जाने वाले करणों का निरूपण किया गया है।

जिसके द्वारा कोई क्रिया की जाए अथवा क्रिया के साधन को करण कहते हैं। अथवा कार्य या करने रूप क्रिया को भी करण कहते हैं। वैसे तो निर्वृत्ति भी क्रिया रूप है, परन्तु निर्वृत्ति और करण में थोड़ा-सा अन्तर है। क्रिया के प्रारम्भ को करण कहते हैं और क्रिया की निष्पत्ति (समाप्ति—पूर्णता) को निर्वृत्ति कहते हैं।

द्रव्यकरण—दांतली (हंसिया) और चाकू आदि द्रव्यरूप करण द्रव्यकरण है। अथवा तृणशलाकाओं (तिनके की सलाइयों) (द्रव्य) से करण अर्थात् चटाई आदि बनाना द्रव्यकरण है। पात्र आदि द्रव्य में किसी वस्तु को बनाना भी द्रव्यकरण है।

क्षेत्रकरण—क्षेत्ररूप करण (बीज बोने का क्षेत्र—खेत) क्षेत्रकरण है। अथवा शालि आदि धान का क्षेत्र आदि बनाना क्षेत्रकरण है। अथवा किसी क्षेत्र से अथवा क्षेत्रविशेष में स्वाध्यायादि करना भी क्षेत्रकरण है।

कालकरण—कालरूप करण, या काल के द्वारा, अथवा किसी काल में करना, या काल—अवसरादि का करना कालकरण है।

भवकरण—नारकादि रूप भव करना या नारकादि भव से या भव का अथवा भव में करना भवकरण है।

भावकरण—भावरूप करण, अथवा किसी भाव में, भाव से या भाव का करना भावकरण है।

चौवीस दण्डकों में ये पांचों ही करण पाए जाते हैं।[१]

शरीरादि करणों के भेद और चौवीस दण्डकों में उनकी प्ररूपणा

४. कतिविधे णं भंते ! सरीरकरणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे सरीरकरणे पन्नत्ते, तं जहा—ओरालियसरीरकरणे जाव कम्मगसरीरकरणे।

[४ प्र.] भगवन्! शरीरकरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४ उ.] गौतम! शरीरकरण पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—औदारिकशरीरकरण यावत् कार्मणशरीरकरण।

५. एवं जाव वेमाणियाणं, जस्स जति सरीराणि।

[५] इसी प्रकार (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक जिसके जितने शरीर हों उसके उतने शरीरकरण कहने चाहिए।

६. कतिविधे णं भंते ! इंदियकरणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे इंदियकरणे पन्नत्ते, तं जहा—सोतिंदियकरणे जाव फासिंदियकरणे।

[६ प्र.] भगवन्! इन्द्रियकरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[६ उ.] गौतम! इन्द्रियकरण पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—श्रोत्रेन्द्रियकरण यावत् स्पर्शेन्द्रियकरण।

७. एवं जाव वेमाणियाणं, जस्स जति इंदियाइं।

[७] इसी प्रकार (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों उसके उतने इन्द्रियकरण कहने चाहिए।

८. एवं एएणं कमेणं भासाकरणे चउव्विहे। मणकरणे चउव्विहे। कसायकरणे चउव्विहे। समुग्घायकरणे सत्तविधे। सण्णाकरणे चउव्विहे। लेस्साकरणे छव्विहे। दिट्ठिकरणे तिविधे। वेयकरणे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा—इत्थिवेयकरणे पुरिसवेयकरणे नपुंसगवेयकरणे। एए सव्वे नेरइयाई दंडगा जाव वेमाणियाणं। जस्स जं अत्थि तं तस्स सव्वं भाणियव्वं।

[८.] इसी प्रकार क्रम से चार प्रकार का भाषाकरण है। चार प्रकार का मन:करण है। चार प्रकार का कषायकरण है। सात प्रकार का समुद्घातकरण है। चार प्रकार का संज्ञाकरण है। छह प्रकार का लेश्याकरण है। तीन प्रकार का दृष्टिकरण है। तीन प्रकार का वेदकरण कहा गया है, यथा—स्त्रीवेदकरण, पुरुषवेदकरण और नपुंसकवेदकरण।

नैरयिक आदि से लेकर वैमानिकों पर्यन्त चौवीस दण्डकों में इन सब करणों की प्ररूपणा करनी चाहिए,

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७३

विशेष यह है कि जिसके जो और जितने करण हों, वे सब कहने चाहिए।

विवेचन—शरीरादि करणों की प्ररूपणा—शरीर पांच हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इन्द्रियां पांच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। चार प्रकार की भाषा—सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्रभाषा और व्यवहारभाषा। चार प्रकार का मन—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, मिश्रमनोयोग और व्यवहारमनोयोग। चार प्रकार का कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। चार संज्ञाएँ—आहारसंज्ञा, भय संज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। सात प्रकार का समुद्घात—वेदनीय, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और केवली। छह लेश्याएँ—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। तीन दृष्टियाँ—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि। तीन वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। इस प्रकार शरीर से लेकर वेद करण तक द्रव्यकरण के अन्तर्गत हैं।[१]

प्राणातिपातकरण : पांच भेद, चौवीस दण्डकों में निरूपण

९. कतिविधे णं भंते ! पाणातिवायकरणे पन्नत्ते ?

गोयमा! पंचविधे पाणातिवायकरणे पन्नत्ते, तं जहा—एगिंदियपाणातिवायकरणे जाव पंचेंदियपाणातिवायकरणे।

[९ प्र.] भगवन्! प्राणातिपातकरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९ उ.] गौतम! प्राणातिपातकरण पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—एकेन्द्रिय-प्राणातिपातकरण यावत् पंचेन्द्रियप्राणातिपातकरण।

१०. एवं निरवसेसं जाव वेमाणियाणं।

[१०] इसी प्रकार (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक (चौवीस दण्डकों में इन सब पंचविध प्राणातिपात करण का कथन करना चाहिए)।

विवेचन—पंचविध प्राणातिपातकरण—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव पांच प्रकार के हैं, इसलिए इनके प्राणातिपातरूप करण भी पांच प्रकार के बताए हैं। ये पंचविध प्राणातिपातकरण समग्र संसारी जीवों में पाए जाते हैं। ये भावकरण के अन्तर्गत हैं।[२]

पुद्गलकरण : भेद-प्रभेद-निरूपण

११. कइविधे णं भंते ! पोग्गलकरणे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पोग्गलकरणे पन्नत्ते, तं जहा वण्णकरणे गंधकरणे रसकरणे फासकरणे संठाणकरणे।

[११ प्र.] भगवन्! पुद्गलकरण कितने प्रकार का कहा गया है ?

---

१. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भाग. १३, पृ. ४५६-४५७

२. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका. भाग. १३, पृ. ४६२

[११ उ.] गौतम! पुद्गलकरण पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—वर्णकरण, गन्धकरण, रसकरण, स्पर्शकरण और संस्थानकरण।

१२. वण्णकरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—कालवण्णकरणे जाव सुक्किलवण्णकरणे।

[१२ प्र.] भगवन्! वर्णकरण कितने प्रकार का कहा गया है?

[१२ उ.] गौतम! वर्णकरण पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—कृष्णवर्णकरण यावत् शुक्लवर्णकरण।

१३. एवं भेदो—गंधकरणे दुविधे, रसकरणे पंचविधे फासकरणे अट्ठविधे।

[१३] इसी प्रकार पुद्गलकरण के वर्णादि-भेद कहने चाहिए यथा—दो प्रकार का गन्धकरण, पांच प्रकार का रसकरण एवं आठ प्रकार का स्पर्शकरण।

१४. संठाकरणे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—परिमंडलसंठाणकरणे जाव आयतसंठाणकरणे।[१]

सेवं भंते ! सेवं भंते! त्ति जाव विहरति।

॥ एगूणवीसइमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो॥ १९-९॥

[१४ प्र.] भगवन्! संस्थानकरण कितने प्रकार का कहा गया है?

[१४ उ.] गौतम! वह पांच प्रकार का कहा गया है यथा—परिमण्डलसंस्थानकरण यावत्—आयतसंस्थानकरण।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—पुद्गलकरण के भेद-प्रभेदों का निरूपण—इन चार सूत्रों में पुद्गलों के २५ भेदों को करण रूप में निरूपित किया गया है। पुद्गल के भेद सुगम हैं।

॥ उन्नीसवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त।

OOO

---

१. करणभेद-प्रभेददर्शिनीगाथाद्वय नवम-उद्देशक की समाप्ति के बाद मिलती है—

दव्वे खेत्ते काले भवे य भावे सरीरकरणे य। इंदियकरणे भासामणे कसाए समुग्घाए॥१॥

सन्ना लेसा दिट्ठि वेए पाणाइवायकरणे य। पोग्गलकरणे वन्नेगंधेरसे य फासे य संठाणे॥२॥

दसमो उद्देसओ : 'वर्णचरसुरा'

दसवाँ उद्देशक : 'वाणव्यन्तर देव'

वाणव्यन्तरों में समाहारादि-द्वार निरूपण

१. वाणमंतरा णं भंते ! सव्वे समाहारा० ?

एवं जहा सोलसमसए दीवकुमारुद्देसओ (स.१६ उ. ११) जाव अप्पिड्ढीय त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ एगूणवीसइमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो॥ १९-१०॥

॥ एगूणवीसइमं सयं समत्तं॥ १९॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या सभी वाणव्यन्तर देव समान आहार वाले होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ?

[१ उ.] गौतम! (इसका उत्तर) सोलहवें शतक के (११ वें उद्देशक) द्वीपकुमारोद्देशक के अनुसार अल्पर्द्धिक-पर्यन्त जानना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', इस प्रकार कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करने लगे।

विवेचन—प्रश्न और उत्तर का स्पष्टीकरण—यहाँ प्रश्न इस प्रकार से है—'क्या सभी वाणव्यन्तर समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान श्वासोच्छ्वास वाले हैं ?, इसके उत्तर में १६ वें शतक के ११ वें उद्देशक में कहा गया है—यह अर्थ समर्थ (यथार्थ) नहीं है। इसके पश्चात् इसी उद्देशक में प्रश्न है—वाणव्यन्तर देवों के कितनी लेश्याएँ होती हैं ? उत्तर है—कृष्णलेश्या यावत् तेजोलेश्या तक चार लेश्याएं होती हैं। फिर प्रश्न किया गया है—भगवन्! कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक वाले इन वाणव्यन्तर देवों में किस लेश्यावाला व्यन्तर किस लेश्या वाले व्यन्तर से अल्पर्द्धिक या महर्द्धिक है ? उत्तर दिया गया है—कृष्णलेश्या वाले वाणव्यन्तरों की अपेक्षा नीललेश्या वाले वाणव्यन्तर महर्द्धिक हैं, यावत्—इनमें सबसे अधिक महाऋद्धिवाले तेजोलेश्या वाले वाणव्यन्तर हैं। इसी तरह तेजोलेश्यावाले वाणव्यन्तरों से कापोतलेश्या वाले वाणव्यन्तर अल्पर्द्धिक हैं, कापोतलेश्या वालों से नीललेश्या वाले और नीललेश्या वालों से कृष्णलेश्या वाले वाणव्यन्तर अल्पर्द्धिक हैं। इस प्रकार १६ वें शतक के द्वीपकुमारोद्देशक की वक्तव्यता का यहाँ तक ही ग्रहण करना चाहिए।[१]

॥ उन्नीसवाँ शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त॥

॥ उन्नीसवाँ शतक सम्पूर्ण॥

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७३

(ख) भगवती. भाग १३, (प्रमेयचन्द्रिका टीका) पृ. ४६६-४७०

OOO

अनध्यायकाल

[स्व. आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म. द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा — उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा — अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुचिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे। — **स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०**

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा — आसाढपाडिवए, इंदमहपाडिवए कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा — पढिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे अड्ढरत्ते। कप्पई निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा — पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे। — **स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २**

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे —

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन — यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह — जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित — बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत — बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह गर्जन और विद्युत प्राय: ऋतु स्वभाव से ही होता है। अत: आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात — बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक — शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया की सन्ध्या, चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त — कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े-थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत: आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण — कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत — शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्‌घात — वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी, मांस और रुधिर — पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से वह वस्तुएँ उठाई न जाएँ, तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश: सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि — मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान — श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण — चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण — सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश: आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन — किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनै: शनै: स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्‌ग्रह — समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर — उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा — आषाढपूर्णिमा, आश्विनपूर्णिमा, कार्तिकपूर्णिमा और चैत्रपूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रात: सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि — प्रात: सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगम प्रकाशन-समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नाराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्जी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलाल मिश्रीलाल चेसती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्द ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरूदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गदिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

[सदस्य-नामावली]

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीलचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सा० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी मेहता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के.पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०.श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११.श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२.श्री नथमलजी मोहनलाल जी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशलपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी अमरचन्दजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलाल अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचन्दजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं., जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचंदजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचंदजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रांसपोर्ट कं.), जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड संस, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गांदिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता,
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़तासिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचंदजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चंदनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंद कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचंदजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचंदजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचंदजी अमरचंदजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुंदनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलोर
९५. श्री श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगचंदजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी, सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़तासिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचंदजी माणकचंदजी खाबिया, (कुडाकोर), मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरडिया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़

◆◆

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर द्वारा

प्रकाशित आगम-सूत्र

नाम	अनुवादक-सम्पादक
आचारांगसूत्र [दो भाग	श्री चन्द्र सुराना 'कमल'
उपासकदशांगसूत्र	डॉ. छगनलाल शास्त्री (एम. ए. पी-एच. डी.)
ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र	पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल
अन्कृद्दशांगसूत्र	साध्वी दिव्यप्रभा (एम. ए., पी-एच. डी)
अनुत्तरोववाइयसूत्र	साध्वी मुक्तिप्रभा (एम. ए., पी-एच. डी)
स्थानांगसूत्र	पं. हीरालाल शास्त्री
समवायांगसूत्र	पं. हीरालाल शास्त्री
सूत्रकृतांगसूत्र	श्री चन्द्र सुराना 'सुराणा'
विपाकसूत्र	अनु. पं. रोशनलाल शास्त्री
	सम्पा. पं. शोभाचन्द भारिल्ल
नन्दीसूत्र	अनु. साध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'
	सम्पा. कमला जैन 'जीजी' एम. ए.
औपपातिकसूत्र	डॉ. छगनलाल शास्त्री
व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र [चार भाग]	श्री अमरमुनि
राजप्रश्नीयसूत्र	वाणीभूषण रतनमुनि, सं. देवकुमार जैन
प्रज्ञापनासूत्र [तीन भाग]	जैनभूषण ज्ञानमुनि
प्रश्नव्याकरणसूत्र	अनु. मुनि प्रवीणऋषि
	सम्पा. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल
उत्तराध्ययनसूत्र	श्री राजेन्द्रमुनि शास्त्री
निर यावलिकासूत्र	श्री देवकुमार जैन
दशवैक लिकसूत्र	महासती पुष्पवती
आवश्यकसू	महासती सुप्रभा (एम. ए. पीएच. डी.)
जम्बूद्वीपप्रज्ञ प्तिसूत्र	डॉ. छगनलाल शास्त्री
अनुयोगद्वारसूत्र	उपाध्याय श्री केवलमुनि, सं. देवकुमार जैन,
	सम्पा. मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञ प्तिसूत्र	श्री राजेन्द्र मुनि
जीवाजीवाभिगमसूत्र [दो भाग]	मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल', श्री तिलोकमुनि
निशीथसूत्र	मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल', श्री तिलोकमुनि
त्रीणिछेदसूत्राणि	उपाध्याय मुनि श्री प्यारचंद जी महाराज
श्री कल्पसूत्र (पत्राकार)	उपाध्याय मुनि श्री प्यारचंदजी महाराज
श्री अन्तकृद्दशांगसूत्र (पत्राकार)	

विशे ष जानकारी के लिये सम्पर्कसूत्र

आगम प्रकाशन समिति

श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भ वन, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५९०१

दि डायमण्ड जुबिली प्रेस, अजमेर ☎ 431898